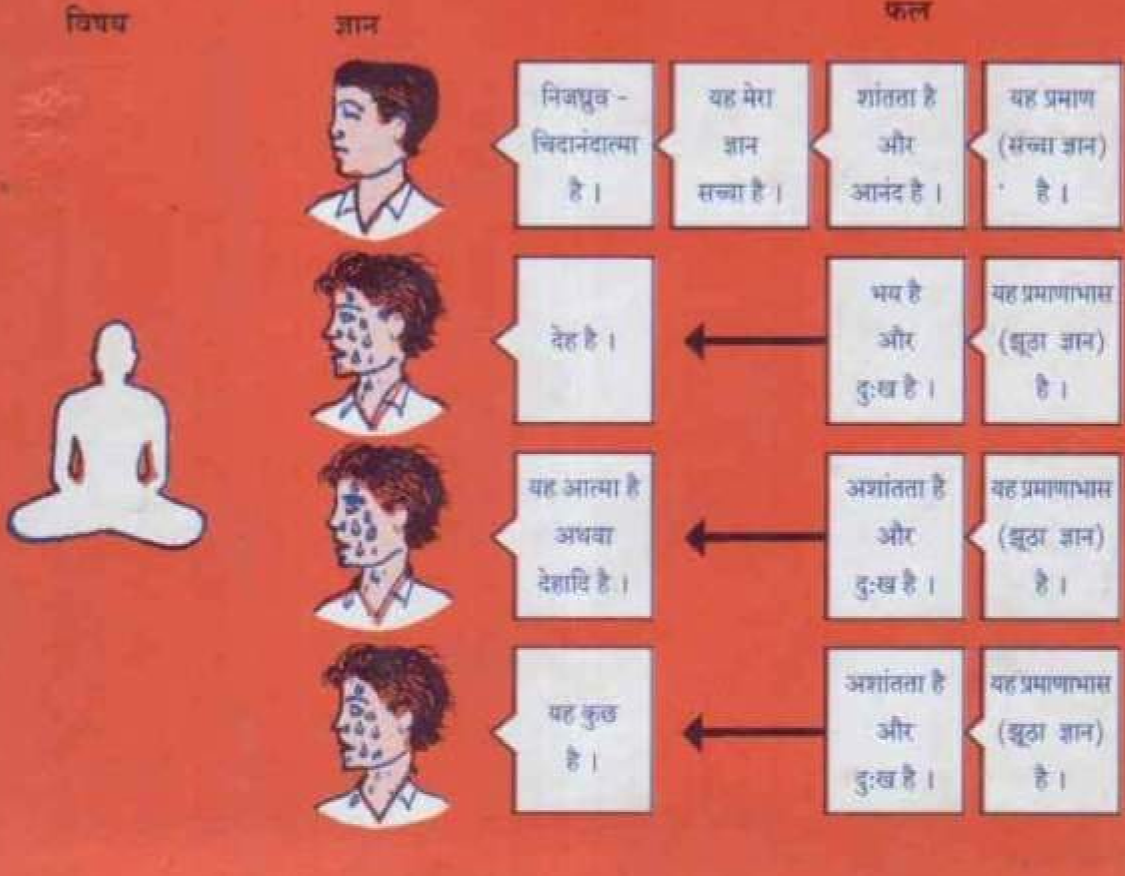
श्री अभिनव धर्मभूषणयति विरचिता

न्यायदीपिका



ॐ

श्री वीतरागाय नमः

श्रीमदभिनव धर्मभूषण यति विरचिता

न्यायदीपिका

का

हिन्दी भावानुवाद

अध्यात्मन्यायदीपिका

(अतींद्रिय सत्यानंद प्राप्तिका अमोघ मंत्र/उपाय)

हिन्दी भावानुवाद

अध्यात्मयोगी प. पू. १०८ वीरसागरजी महाराज

संस्कृत न्यायदीपिका का संपादन

और संस्कृत टिप्पणियों के कर्ता

श्री. पं. दरबारीलाल कोठिया जैन, बीना

प्रकाशक और प्राप्तिस्थान
सुभाष गांधी
रविवार पेठ, फलटण- ४१५५२३

द्वितीय आवृत्ती
एप्रिल २०००

मुद्रक
आनंद लाटकर
कॉम्प-प्रिन्ट कल्पना प्रा. लि.
४६१/४ सदाशिव पेठ, पुणे ४११०३०

मूल्य ५० रुपये



प. पू. अध्यात्मयोगी १०८ वीरसागरजी महाराज

प्रस्तावना

जीवनकी सबसे श्रेष्ठ निधि

लेखिका—श्री. क्षु. १०५ चंद्रमती माताजी

कोई भी जीव हो वह सुख शांतिसे ही जीवन जीना चाहता है। सम्यक् आनंद का मतलब ही निराकुल आनंद है और जो नित्य हमेशा सदैव आनंदरूप ही रहे, आकुलता जिसका फल कभी भी न हो, वही सच्चे आनंदकी पहचान/लक्षण है।

अतींद्रिय आनंद और वैषयिक आनंद इन दोनों में यही जमीन-आसमान का मूलभूत भेद अत्यंत प्रखरतासे हैं। वैषयिक सुख सदैव अनाकुलता याने सच्ची सुख-शांति देनेमें नियमसे असमर्थ है। पूरे के पूरे पंचेंद्रिय भोगों का फल नियमसे थकान ही मिलता है। अतः वह सच्चा निराकुल सदैव सुखशांति देनेवाला अतींद्रिय सुख का फल सदैव एकमात्र आनंद ही है। अतः अपना कल्याण चाहनेवाले जीवको वैषयिक और अतींद्रिय आनंद इन दोनों की परीक्षारूप पहचान भी अवश्य करनी चाहिये।

उसी तरह से अतींद्रिय आनंदसे जीनेका निर्णय करनेपर भी शुद्धात्मानुभव का विषय सच है या झूठ इसकी परीक्षा करनी होगी और अपना यह शुद्ध अनुभव का हुआ ध्यान सच है या झूठ है इसकी भी परीक्षा करनी होगी।

यदि परीक्षा न की जाय तो आनंदाभास अर्थात् असत्य आनंद में और असत्य ध्यानमें उलझना होगा। और जीवनकी बरबादी मात्र हाथ आयेगी। लौकिक व्यवहार में भी हम देखते हैं कि, जब सत्य-असत्य की परीक्षा नहीं करते तो घाटेसे नहीं बचते। अगर परीक्षाके बगैर भी कभी अनायास ही सत्य का पक्ष लिया गया हो तो भी सुनिश्चित साध्य-साधनके अविनाभावका यथार्थ सच्चा ज्ञान न होनेसे हमेशाके लिए घाटेसे नहीं बच पाते। दूसरी बार तो गलती हो ही सकती है, अतः जब अनायास सत्य का पक्ष भी लेना हुआ हो तो भी सुनिश्चित गम्य-गमक भावका ज्ञान न होनेसे शांति, सुखका तो लाभ नियमसे नहीं होता और इसी वजहसे मात्र अपने अज्ञानसे दुनियामें अशांतिका साम्राज्य फैला है। अतः सम्यक् शांति, सुख का तो एकमात्र यही उपाय है कि, सुनिश्चित कार्य-कारणभावका ज्ञान अवश्य करना चाहिये।

यह सुनिश्चित कार्य-कारणभावका (अविनाभावका) बोध कराने में न्यायदीपिका पूरी तौरसे समर्थ है, जिससे सम्यक् आनंदका भोग हरेक जीव अवश्य लूट सकता है। इसमें शंकाकी कोई गुंजाइश ही नहीं रहती। इस न्यायदीपिकाके इस कार्यकारणभावकी कुंजीसे लौकिक तथा आध्यात्मिक जीवन शांति, सुखसे आपूर्ण हो ही जाता है, इस विधानकी सत्यताका निर्णय प्रत्यक्ष अपने अनुभवके बलसे ही करना योग्य होगा। किसीके कहनेसे क्या मतलब!

सम्यक् आनंदसे, पूर्ण शांतिसे जीवन बिताना हो तो निम्नोक्त ३ बातोंका ज्ञान होना परम आवश्यक है।

(१) सम्यक् आनंदका योग्य भोग्य विषय.

(२) सम्यक् आनंद लुटनेका योग्य साधन (उपाय)

(३) सम्यक् आनंद के ही फल की प्राप्ति होनेका सुनिश्चित व्याप्तिज्ञान.

(१) सम्यक् आनंदका भोग्य विषय तो अनंत चतुष्टयकी नित्य समर्थता रखनेवाला स्वाधीन निजध्रुवभगवान आत्मा-यह एकमेव है।

(२) सम्यक् आनंद लुटनेका एकमात्र साधन तो हर एक जीवकी अपनी अपनी आत्मसन्मुख होनेवाली शुद्धोपयोगरूप स्वाधीन पर्याय है।

(३) और उपरोक्त साध्य-साधनका फल नियमसे सम्यक् आनंदकी प्राप्ति होना ही है। इसमें शंकाके लिये कोई गुंजाइश ही नहीं है।

अपनी **ज्ञानपर्यायही** तो **ध्यान** है। इससे अलग कोई ध्यान है ही नहीं। देखो इसके लिये प्रमाण **श्लोकवार्तिक/अ.९/सूत्र २७/ कारिका ४ की टीका ''सर्वस्य ध्यानस्य ज्ञानात्मकत्वप्रसिद्धेः।''**

अतः यह सिद्ध हुआ कि, ज्ञानके ही एकार्थक नाम ध्यान, प्रमाण, विचार है। आत्मा विषयी है। ध्येय के या ध्यानयोग्य विषयके एकार्थक नाम ही तो प्रमेय, ज्ञेय या विषयरूप आत्मतत्त्व है।

अतः शुद्धात्मा के ध्यान का मतलब ही शुद्धात्मा का ज्ञान है, और शुद्ध ज्ञानसे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति, सम्यक् आनंदकी प्राप्ति नियमसे होती है, ऐसा तो **समयसार-१८६ गाथामें** भी साक्षात् कुंदकुंद जैसे शुद्धात्म-अनुभवी जैन जगतके सर्वमान्य भावलिंगी मुनिने बताया है, और वैसी ही वास्तवमें अविनाभावी कार्य-कारणभाव की व्यवस्था होनेसे आरातीय सर्व न्याय (परीक्षा) मर्मज्ञोंने एक मुखसे मान्य भी किया है, इसके लिये पूरा जैन आगम प्रमाण है। उसीमें जैन न्याय ग्रंथोंकी शाखा तो एकमात्र इसी प्रमेय-प्रमाण-प्रमितिको उजागर करने मात्र के लिये हैं।

अतः सम्यक् आनंदका जीवनमें प्रतिसमय भोग लेना अत्यंत स्वाधीन तथा आसान बात है। सम्यक् आनंदमें ज्ञानानंद, निर्विकल्प, शाश्वत शुद्ध विषयको ज्ञानपर्याय **अनुभवशील** होनेसे आत्मसिद्धिस्वरूप मोक्षफल की ही अवश्यमेव प्राप्ति होती है। निर्विकल्पदशा होनेसे मोहरागद्वेष परिणति वहां रहती ही नहीं है, अतः मोहरागद्वेष मिट जाते हैं, उन्हें मिटानेका अलग पुरुषार्थ नहीं करना पडता।

आनंद याने हितकी प्राप्ति और अहित का, मोहरागद्वेष का अभाव युगपत् ही होता है। मोहरागद्वेषको मिटाने के लिए कोई स्वतंत्र परिश्रम नहीं करने पडते। अतः सम्यक् आनंद लुटनेकी कला कष्ट-परिश्रम से एकदम परे हैं और प्रति समय में करने के लिए शक्य है।

अगर सम्यक् आनंद इतना आसान और नियमसे फलदायी ही है, तो इस मौकेको गमाना कोई बुद्धिमानी तो है नहीं। अतः यह न्यायदीपिका दीखनेमें भले ही छोटी हो परंतु सम्यक् आनंदका प्रति-पल प्रकाश उजागर करनेमें पूर्ण समर्थ है। अतः सम्यक् आनंदका तंत्र इस न्यायदीपिकासे सीखनेके लिये इसका अवश्य लगनसे अभ्यास करना ही चाहिये और यह अपूर्व अवसर हाथसे मत खोना चाहिये। इतना ही क्यों? यदि ऐसा कहा जाय तो भी कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि **तद् ज्ञानं यत् प्रतिसमये सम्यक् आनन्दायते।** अर्थात् वही ज्ञान है जो जीवनको प्रतिपल सम्यक् आनंदकी बरसातमे तृप्त करे, इससे रहित ज्ञान, ज्ञान ही नहीं है।

इति अलं विस्तरेण।

समाधिशतक-श्लोक नं. ७३

ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासोऽनात्मदर्शिनाम्।
दृष्टात्मानं निवासस्तु विविक्तात्मैव निश्चलः॥

भावार्थ : अज्ञानी का निवास के बारेमें यह विकल्प रहता है, यह गांव है या यह जंगल/अरण्य है। परंतु ज्ञानी/सम्यग्दृष्टि परसे भिन्न अचल परमात्मा को ही अपना निवासस्थान (अवबोध सौध) मानता है।

अध्ययन करो न्यायग्रन्थों का

लेखिका–क्षु. सुशीलमती माताजी

(१) ॐ=अ+उ+म्=अत्यय/व्यय/DEFORMATION-उत्पाद/FORMATION-मध्य/केंद्रभूत/ध्रुव। विश्व में रहनेवाली वस्तुव्यवस्था इस ॐ में बतायी है। हरेक द्रव्य उत्पादव्यय- ध्रौव्ययुक्त है। यह विश्वव्यवस्था/वस्तुव्यवस्था बतानेवाला यह ॐकार है। यह जानकर **ध्रुववान स्वभाव का अनुभव करने से अतींद्रिय आनंद/सम्यग्दर्शन/मोक्षमार्ग को** प्राप्त कर सकते हैं।

(२) ॐ - यहाँ **३ का** अंक **रत्नत्रय** का वाचक है। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र का अवलंबन लेनेसे सिद्धशिला/मोक्ष/पूर्णानंद को प्राप्त हो सकते हैं। अज्ञानसे आज तक मिथ्यादर्शन- ज्ञान- चारित्र में रहनेसे दुःखी हुए। या हटावो - मिटाओ - जुटाओ इस मिथ्यारत्नत्रय में रहकर दुःखी हुए। या शरीर, पैसा, पादत्राणों में/ मिथ्या रत्नत्रय में रहकर दुःखी हुए। इस दुःख से छुटकारा पाने के लिये स्वज्ञानानंदस्वभाव को जानकर अभेदरत्नत्रय प्राप्त करना चाहिए।

(३) **अ** – अरिहंत - अनंतचतुष्टय युक्त शुद्धात्मा।
अ – अशरीरी/सिद्ध - स्वशुद्धात्मा।
आ – आचार्य-आचरण करने के योग्य शुद्धात्मा।
उ – उपाध्याय - उत्कृष्ट शुद्धात्मा या उपाध्याय = उप + आ + ध्याय (ध्यै चिंतायाम्) उप याने उपहत/नाश होना, आ याने चहुं ओरसे, ध्याय याने चिंता - निजज्ञानानंद ध्रुव स्वभाव को जानने से चिंता का नाश हो जाता है।
म् – मुनि - मंगल शब्द से कहा जानेवाला शुद्धात्मा।

अ + अ = आ।
आ + आ = आ।
आ + उ = ओ।
ओ + म् = ओम्।

इसतरह अंगप्रविष्ट भाषासे ॐ शुद्धात्मा का वाचक है।
अंगबाह्य भाषा से ॐ पंचपरमेष्ठी का वाचक है।

ॐ काररूप दिव्यध्वनि/जिनवाणी निजवाणी ही है। जनवाणी की रुचि होने से आजतक जिनवाणी का अध्ययन न करने से अतींद्रिय आनंद/मोक्षमार्ग/ सम्यग्दर्शन से दूर रहे।

अंगप्रविष्ट भाषा – अंगप्रविष्ट = अंग + प्र + विष्ट = आत्मा में + प्रकर्ष से + प्रवेश करके याने ध्रुवस्वभाव की मुख्यता से कथन करने को '**अंगप्रविष्ट भाषा**' कहते हैं।

अंगबाह्य भाषा – अंगबाह्य = अंग + बाह्य = ध्रुव आत्मा से + बाह्य पर्याय और परद्रव्यका कथन '**अंगबाह्य भाषा**' कही जाती है।

आजतक न्यायग्रंथों का पठन-पाठन परमत का खंडन और स्वमत का मंडन, इस ढंग से/अंगबाह्य पद्धति

से तो चल रहा है। इस ढंग के पठन-पाठन से अतींद्रिय आनंद/शांति तो नहीं मिल रही है। इसलिए यह न्यायग्रंथों का अध्ययन जीवन के लिए अनावश्यक/कालबाह्य या पंडितों के पांडित्य प्रदर्शन का एक अंग है, ऐसा प्रचलन अब हो रहा है।

लेकिन **प.पू.श्री. १०८ वीरसागरजी महाराजजी** ने इस झूठी मान्यतापर आघात पहुंचाया है। **विज्ञानयुग के सत्यशोधक प्रकृतिवाले इस महात्मा** के हाथ में **न्यायग्रंथ** पड़े और अंगप्रविष्ट पद्धति से अभ्यास शुरू हुआ तो **न्यायग्रंथों के सिद्धान्त** अनूठे तो हैं ही। साथ ही साथ **अतींद्रिय आनंद की परमदिव्यकला** बतानेवाले हैं। **न्यायसिद्धान्त जीवन का अविभाज्य अंग** है। इसे जानने से ही वस्तुव्यवस्था तर्क की कसोटी पर कसने के बाद **प्रत्यक्ष प्रामाण्यसहित अतींद्रिय आनंद का सम्यक् भोग** लेकर हम हमारा **जीवन शांति से** जी सकते हैं, अन्यथा नहीं। अमृतचंद्राचार्य की टीकायें – न्यायशैली से ओतप्रोत हैं। न्याय समझने से समयसारादि द्रव्यानुयोग के अध्यात्म ग्रंथों के मर्म तक हम पहुंच सकते हैं, अन्यथा नहीं। उदाहरण के तौरपर देखें – **समयसारजी, गाथा नं. १८** की अमृतचंद्राचार्य टीका में **रत्नत्रय की सिद्धि** में **अन्यथानुपपत्तिरूप बलवान हेतु** का प्रयोग किया है। जैसे **जयसेनाचार्यजी** की टीका में **चारों अनुयोगों का मिलान करके अध्यात्मन्याय** दिखाया है। उसी तरह पू. **महाराजजीने न्यायदीपिका** पर जो **अध्यात्मन्यायदीपिका – हिंदी टीका** लिखी है, उसमें **चारों अनुयोगों का मिलान करके अध्यात्मन्याय** दिखाया है और **आत्मानुभूति/ सम्यग्दर्शन अभी/ इस पंचमकालमें अव्रती गृहस्थों को सहज, सुलभ हो सकती है,** यह डंके की चोटपर कहा। कोई कहते हैं, सदाचारादि पालन करनेपर आत्मानुभव/सम्यग्दर्शन होता है; या कोई कहते हैं, पंचमकाल है, आत्मानुभव नहीं होता है; या कोई कहते हैं मुनियों को अनुभव होगा, श्रावकों को नहीं क्योंकि श्रावक असंयमी है। तो प्रमाण-प्रामाण्य के विषयपर चिंतन करके महाराजजीने यह नवनीत निकाला है कि, प्रमाण का प्रामाण्य (सचाई) विषयपर निर्भर है, न कि सदाचार, संयम, पंचमकाल आदि पर। इस कठोर सत्य को कोई स्वीकार करे या न करे, लेकिन यह तो अबाधित सत्य है! **इस सत्य का स्रोत है न्यायदीपिका!** न्यायदीपिका में कहा है– **प्रतिभातविषयाव्यभिचारित्वम्।** प्रतिभासित होनेवाले विषय से जो ज्ञान सुसंगत रहता है वह प्रमाण है; और जैसा विषय नहीं है वैसा जान लिया तो यह हमारा ज्ञान अप्रमाण/झूठा है। तो बाह्य विषय जानने की आदत होने से वह ज्ञान सही है, ऐसा निर्णय झट करते हैं। लेकिन स्वभाव को आजतक नहीं जानने से यह जानना कठिन लगता है। **समयसार गाथा ४ में** कहा है– कामभोगबंध की कथा आजतक सुनी है, उसका ही परिचय किया है, अनुभव किया है। एकत्व-विभक्त आत्मा की कथा आजतक न तो सुनी है, न परिचय किया है, न अनुभव किया है। इसलिए यह आत्मानुभव कठिन लगता है। न्यायग्रंथों से प्रमाण-प्रामाण्य-व्यवस्था की गुत्थी सुलझ जाने से तो आत्मानुभव सहज, सुलभ है, यह ज्ञात हो जाता है।

आजतक यह ही सुनने में आता था कि, न्यायग्रंथों का चारों अनुयोगों के साथ, अध्यात्म के साथ कुछ संबंध नहीं है। लेकिन संपूर्ण जिनवाणीका कथन न्यायपूर्ण ही है, यह तथ्य अध्यात्मन्यायदीपिका से उजागर होता है।

श्रीसमन्तभद्राय नमः।

अंगप्रविष्ट भाषा से—**समन्तभद्र=समन्त+भद्र=चहुँ ओर से + कल्याणप्रद ऐसी श्री याने अनंतगुणमय लक्ष्मी** को जानना, आत्मवैभव का सम्यक् भोग करना ही अद्वैत नमस्कार है। **अंगबाह्य** भाषा से– विद्वान, तार्किक, परमतवादी को सिंहसमान ऐसे समंतभद्र नामक स्वामी को नमस्कार किया है, यह व्यवहारनय से (उपचरित असद्भूत व्यवहार से) द्वैत नमस्कार है।

न्याय=नि+आय=निश्चयनयसे + आत्मवैभव को जानना ही न्याय है।

['इण् गतौ' धातु से 'आय' बना है। गत्यर्थक धातु ज्ञानार्थक होते हैं।]

दीपिका = छोटा दीया। जैसे झंझावात में बड़े-बड़े वृक्ष तो मूल से उखड़ जाते हैं। लेकिन छोटे-छोटे पौधे अपनी नम्रता के कारण अपना अस्तित्व टिकाये रखते हैं। उसी तरह बड़े बड़े आगमग्रंथों से छोटे होने पर भी सरलता से युक्त कथनशैलीवाला यह छोटा दीया **आनंदमार्गदर्शक** के रूप में **जिनागमरूप सागर** में टिका रहता है।

अन्याय, अभक्ष्य, अनीति के सेवन से अनादिकाल से अनंतकाल दुःख/अशांति में बिताया है। चिंतारूपी चितापर हम जल रहे हैं। तो **आनंदमय स्वरूप को अभी जान लेने से ही इनकी रुचि सहज ही छूट जाती है।**

आत्मस्वरूप को न जानना ही स्वयं का स्वयंपर किया हुआ '**अन्याय**' है। पुण्य-पाप की रुचि/सेवन करना ही '**अभक्ष्य**' सेवन हैं। निजज्ञानानंदस्वभाव को जानना ही नीति है। इसे भूलकर पर्याय, परद्रव्य में एकत्वबुद्धि से परिणत होना ही **अनीति** है। तो स्वयं को जानने से यह दुराचार समाप्त हो जाता है। संसार-भ्रमंति का अंत हो जाता है।

लौकिक में थोड़ा सा भी अन्याय हुआ तो हम बरदाश्त नहीं करते हैं। झट ही हम नारे लगाते हैं, WE WANT JUSTICE वैसे यहाँ भी अन्याय बरदाश्त नहीं करना चाहिए। स्थूल रूप से सोचे तो, चार पुरुषार्थ हैं तो उनके लिए २४ घंटों का विभाजन किया जाय तो हरेक को ६ घंटे मिलते हैं। याने संसाररूप काम, अर्थ को १२ घंटे और धर्म, मोक्ष रूप आनंदमार्ग को १२ घंटे। आधा/एक घंटा स्वाध्यायादि किया तो हमें लगता है कि हमने बहुत पराक्रम किया है। लेकिन वास्तव में यह पुरुषार्थ नगण्य है, सागर में खसखस जैसा तुच्छ है। तो अभी चेत जाना जरूरी है।

चेतो चेतन! निजमें आओ। अंतरात्मा बुला रही है॥

वास्तव में तो पुरुष की परिभाषा **जीवकांड** -गाथा २७३ में दी है–

पुरुष = पुरु + ष = '...यो जीवः पुरुगुणे सम्यग्ज्ञानाधिकगुणसमूहे शेते-स्वामित्वेन प्रवर्तते.....स.... जीवः पुरुषः......।' जो जीव पुरुगुण याने ज्ञानदर्शन उत्तम गुण में स्वामीरूपसे रहता है, उसे पुरुष कहा जाता है। इस पुरुष को जानना ही सच्चा पुरुषार्थ है। इस आत्मिक पुरुषार्थ को छोड़कर अन्य सब कार्य हेय, तुच्छ हैं। इसलिए अमृतचंद्राचार्य कहते हैं– **अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्।**

अरे! (मरण आये तो भी ठीक) एकबार मरकर भी (क्यों न हो) तत्त्वका कुतूहल जागृत करो।' तत्त्व का कुतूहल याने शाब्दिक पांडित्य को जानना, ऐसा अर्थ यहाँ नहीं है। तो, ९ तत्त्वों में जो एकत्व स्वरूप निजात्मा है, वह ही तत्त्व है। **तत्त्व** = तत् + त्व = वह-वह+पना। ध्रुवज्ञानानंदस्वभाव ही तत्त्व है, उसे जानना ही तत्त्वकुतूहल कहा जाता है।

प्रकाश = अध्याय →

अन्यत्र अध्याय कहने की परिभाषा है, लेकिन यहाँ अध्याय को प्रकाश ऐसा कहा है। **प्रकाश = प्र+काश = प्रकर्षेण+काशते/द्योतते इति प्रकाशः। = प्रकर्ष/प्रकृष्ट रूपसे जो प्रकाशित किया जाता है, दिखाया जाता है, उसे प्रकाश कहते हैं।** जैसे अंधेरे में रखी चीज को ढूँढना हो तो दीया जलाया जाता है, वैसे अनादिकाल से अज्ञानांधकार में पड़ी निजनिधि को जानना हो तो ये तीन प्रकाश अत्युपयोगी

है, जिसे जानने से सहज ही मोक्षमार्ग की (अतींद्रियानंद की) कुंजी हस्तगत की जाती है।

* **प्रथम प्रकाश-प्रमाणसामान्य का वर्णन करनेवाला है।**

प्रमाण = प्र+माण=प्रकृष्ट+मा/ज्ञानलक्ष्मी।

* **दूसरा प्रकाश – प्रत्यक्षप्रमाण का वर्णन करनेवाला है।**

* **तीसरा प्रकाश – परोक्ष प्रमाण का वर्णन करनेवाला है।**

शंका : मंगलाचरण का व्युत्पत्ति अर्थ कहकर उसके भेद कहिए।

समाधान : (१) मंगलाचरण = मं+गल+आ+चरण=मं याने पाप का गलना, आ याने चहुँ ओर से स्वभाव में चरण करना याने फिरना/स्वभाव को जानना। स्वभाव को जानने से सहज ही शुद्धोपयोग प्रकट होता है और शुभाशुभास्रवभाव/पाप एवंभूतनय से उसी क्षण में नष्ट हो जाता है।

(२) **मंगलाचरण – मंगं लाति इति मंगल:।** मंग् याने पवित्रता को प्राप्त कर, चहुँ ओर से उसका आचरण करे याने स्वभाव को जाने उसे मंगलाचरण कहते हैं।

मंगलाचरण के २ भेद है – (१) निबद्ध मंगलाचरण (२) अनिबद्ध मंगलाचरण।

(१) निबद्ध मंगलाचरण – ग्रंथकार द्वारा जो मंगल-पाठ श्लोक रूप से स्वयं रचकर ग्रंथ में निबद्ध लिखा जाता है, उसे निबद्ध मंगल कहते हैं।

(२) अनिबद्ध मंगलाचरण – जो अन्य रचित मंगलपाठ ग्रंथ में लिखा जाता है, या मौखिक किया जाता है, उसे अनिबद्ध मंगलाचरण कहते हैं। (धवला पु. १, पान नं. ४२)

अनुभूति लेकर ग्रंथारंभ किया जाता है, तो **अनुभूति** को **अनिबद्ध मंगलाचरण कहते हैं।**

शंका – मंगलाचरण में बाल शब्दसे क्या अर्थ अभिप्रेत है?

समाधान – मंगलाचरणमें **बाल** शब्द **बुद्धिकृत बालत्व** का वाचक है। याने **क्षयोपशम पर्याय** का वाचक है, न कि वयकृत या शरीरकृत बालत्व का वाचक है।

शंका – मंगलाचरण में नमस्कार किसे किया है?

समाधान – मंगलाचरण में व्यवहारनय से वर्धमान स्वामी को नमस्कार किया है और निश्चयनय से स्व स्वभाव को जाननेरूप निश्चय नमस्कार हो जाता है। **वर्धमान=अव+ऋध्+मान=**चहुँ ओर से/ असंख्यात प्रदेशमय आत्मा में+अनंतगुणसहित + ज्ञान। इसका भावार्थ यह है कि, **वर्धमान याने निजज्ञानानंद ध्रुवस्वभाव। आत्मस्वभाव को जानने से सच्चा नमस्कार/ सम्यग्दर्शन** प्रकट हो जाता है।

शंका – नमस्कार के प्रकार कितने है?

समाधान – संक्षेप में नमस्कार के २ प्रकार है।

(१) **अद्वैत नमस्कार –** जहाँ वंद्य-वंदकभाव नहीं है, वह **अद्वैत नमस्कार** है। याने **स्वज्ञानानंदस्वभाव की अनुभूति होना ही अद्वैत नमस्कार है।** इसे **निश्चय/भावनमस्कार** कहते हैं।

(२) **द्वैत नमस्कार –** जहाँ वंद्य-वंदकभाव का द्वैत/ दोपना है, वहाँ **द्वैत नमस्कार** है। **भगवान वंद्य और मैं वंदक ऐसा द्वैत/** भेदरूप विकल्प **द्वैत नमस्कार** में होता है। इसे **व्यवहार नमस्कार** कहा जाता है।

विस्तार से नमस्कार के पांच भेद है –

(१) **शक्तिरूप नमस्कार –** जो ध्रुव स्वभाव जैसा है वैसा है, उसे **शक्तिरूप नमस्कार** कहा जाता है।

(२) **एकदेश भावनमस्कार :-** साधक अवस्था में चतुर्थादि गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक जो आत्मानुभूति/शुद्धोपयोग प्रकट होता है, उसे एकदेश भावनमस्कार कहा जाता है।

(३) **पूर्णदेश भावनमस्कार :-** अरिहंत, सिद्ध पूर्णरूप से स्वभाव में ही रहते हैं, पूर्ण अतींद्रियानंद को प्राप्त होते हैं, उसे पूर्णदेश भावनमस्कार कहते हैं।

(४) **द्रव्य नमस्कार :-** 'मैं भगवान को नमस्कार करता हूं' ऐसे शुभभाव को द्रव्य नमस्कार कहते हैं।

(५) **जड़ नमस्कार :-** नमस्कार करते समय जड़ शरीर की हाथ जोड़ने - सिर नमाने की क्रिया को जड़ नमस्कार कहा है।

आजतक एकदेश भावनमस्कार न करने से सम्यग्दर्शन से वंचित रहे हैं, चतुर्गति भ्रमण कर रहे हैं।

शंका—न्यायग्रंथ का पठन-पाठन आज नहीं हो रहा है, इसका क्या कारण है?

समाधान—न्यायग्रंथ का पठन-पाठन आजतक परमत का खंडन और स्व-मत का मंडन- इस पद्धति से ही हो रहा है। एक काल ऐसा था कि दार्शनिकों में विजिगीषु कथा होती थी; और इस के लिए न्याय-ग्रंथों का अध्ययन प्रचुरतासे होता था। लेकिन आज ऐसी परिस्थिति न होने से इन का अध्ययन कम हो रहा है या नहीं ही हो रहा हैं।

शंका—न्याय ग्रंथों का अध्ययन किस दृष्टि से होना चाहिए?

समाधान—न्याय-ग्रंथ युक्ति से भरा हुआ है। वस्तुव्यवस्था का ठोस निर्णय करने के लिए परीक्षाप्रधान दृष्टि से बुद्धिरूपी कसोटी पर युक्ति से कसकर ही तत्त्व का निर्णय करना चाहिए। इस से आगमभाषा (निरीक्षण पद्धति) से वस्तुका निश्चयनय और व्यवहारनय से ठीक निर्णय हो पाता है; और अध्यात्मभाषा (परीक्षण पद्धति) से उस वस्तु में प्रयोजनभूत ध्रुव ही है, न कि पर्याय या परद्रव्य। न्याय में कहे हुए सिद्धान्त बेजोड़, अकाट्य है। लक्षण, ज्ञान का प्रामाण्य, हेतु आदि के स्वरूप की मीमांसा न्याय-ग्रंथों में अच्छी रीति से की है, जिससे अतींद्रिय आनंद का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। अमृतचंद्राचार्यजी की समयसारादि ग्रंथों की टीका-न्यायगर्भित शैली से समृद्ध है। न्याय ग्रंथों में गणितीय पद्धति से कथन किया जाता है। जैसे गणित में २+२=४ ही उत्तर आता है, न कि चार पाईंट १ या चार को १ पॉईंट-कम! वैसे ही न्याय के सिद्धान्त ठोस हैं।

आज अन्य-मती दार्शनिकोंके साथ विजिगीषु कथा का प्रसंग न होने पर भी न्याय-ग्रंथों के अध्ययन की अत्यंत उपयोगिता है। कैसे? तो हमारे अंतरंग में वस्तुव्यवस्था के विरुद्ध जो-जो विचार उत्पन्न होते हैं वे ही अन्य मत हैं। उनका खंडन करनेपर ही अतींद्रिय आनंद का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। तो अंतरंग झूठी विचारधारा का खंडन करके वस्तुनिष्ठ -विज्ञान का मंडन करता है।

न्यायग्रंथ में अध्यात्म लबालब भरा हुआ है। लेकिन इस दृष्टि से अध्ययन न होने से न्यायग्रंथ का पठन अनावश्यक है। ऐसी चर्चा विद्वान भी कर रहे हैं। जैसे कहा है—

यस्य नास्ति स्वयं विद्या, शास्त्रं तस्य करोति किम्?
लोचनाभ्यां विहीनस्य, दर्पणः किं करिष्यति॥

न्यायग्रंथ उपादान दृष्टि के ही समर्थक है।

उदा. परीक्षामुख सूत्र में कहा है— 'नार्थालोकौ कारणम्'।

ज्ञान का साधकतम (सुनिश्चित) साधन ज्ञान ही है, न कि पदार्थ, प्रकाश या इंद्रियाँ। इस से निमित्ताधीन दृष्टि का अभाव हो जाता है, परावलंबन छूट जाता है।

अन्वयानुपपत्ति लक्षणवाला हेतु बलवान होता है, इस का प्रयोग **अमृतचंद्राचार्यदेव ने समयसार गाथा १८ की आत्मख्याति** टीका में किया है।

प्रमाण-प्रामाण्य व्यवस्था, विषय-साधन-फल समझने से अतींद्रिय-आनंद का भोग/सम्यग्दर्शन सहज, सुलभ, सरलता से ले सकते हैं। इस का भी निर्णय हो जाता है।

न्याय-ग्रंथों में भरा हुआ **अध्यात्म** देखने के लिए हमारी **दृष्टि ही अध्यात्मपूर्ण** होनी चाहिए। यहाँ तो SAMPLE /नमुनारूप से कुछ ही बातों का निर्देश किया है।

शंका – अन्य न्यायग्रंथ उपलब्ध होनेपर भी न्यायदीपिका की रचना क्यों हो गयी ?

समाधान – पूर्व में रचे गये राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक आदि न्यायग्रंथ उपलब्ध हैं, तो भी वे ग्रंथ विस्तृत हैं या गहनगंभीर हैं। उसमें अल्पबुद्धिवालों का प्रवेश होने के लिए न्यायदीपिका रची गयी है। अल्पबुद्धिवाले जीवों के लिए **वस्तु-व्यवस्था का निर्णय वस्तुनिष्ठ ढंग से होवे और अतींद्रिय आनंद की प्राप्ति (अनुभूति) सहजता से कर के सम्यग्दर्शन प्राप्त होवे इस पवित्र भावना से आप्लावित धर्मभूषण यति द्वारा विकल्प की भूमिका में यह ग्रंथरचना सहज ही हो गयी।**

शंका – मंगलाचरण में प्रयुक्त '**बालानाम् प्रबुद्धये**' का अभिप्राय स्पष्ट करो।

समाधान – यहाँ **बाल शब्द से मतिकृत बालत्व याने क्षयोपशम पर्याय** अभिप्रेत है, न कि शरीरकृत या उमरकृत बालत्व। बाल याने अल्पबुद्धिवाले जनों को (जन याने उत्पन्न होनेवाली पर्याय को) ज्ञान कराने के लिए न्यायदीपिका की रचना हो गयी है।

शंका – '**प्रमाणनयैरधिगमः**' यह सूत्र विषय की अपेक्षा से है या साधन की अपेक्षा से है या फल की अपेक्षा से है ? सकारण स्पष्टीकरण कीजिए।

समाधान – '**प्रमाणनयैरधिगमः**' यह सूत्र साधन (करण) की अपेक्षा से है। क्यों कि '**प्रमाणनयैः**' यह तृतीयान्त पद करणवाची है। प्रमाण और नय के द्वारा जीवादि तत्त्व जाने जाते हैं।

शंका – तीन प्रकार के प्रकरण की प्रवृत्ति कहकर उसका जीवन में क्या लाभ है ?

समाधान – (१) **उद्देश**–विवेचनीय वस्तु के केवल नामोल्लेख करने को उद्देश कहते हैं।

(२) **लक्षणनिर्देश–परस्परव्यतिकरे सति येनाऽन्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम्। राजवार्तिक-अध्याय २, सूत्र ८, वार्तिक २** में कहा है कि, "परस्पर मिली हुई वस्तुओं में से कोई एक वस्तु जिसके द्वारा व्यावृत्त (अलग) की जाती है, उसे **लक्षण** कहते हैं।

(३) **परीक्षा**–परि (समन्तात्) +ईक्षा=चहुँ ओरसे + देखना। विरोधी नाना युक्तियों की प्रबलता और दुर्बलता का निर्णय करने के लिए प्रवृत्त हुए विचार को **परीक्षा** कहते हैं। 'यदि ऐसा हो तो ऐसा होना चाहिए और यदि ऐसा हो तो ऐसा नहीं होना चाहिए' इस प्रकार से वह **परीक्षा** व्यवहारनय से प्रवृत्त होती है; और **निश्चयनय से ध्रुवस्वभाव को चहुँ ओर से देखना याने जानना (आत्मानुभव करना)** ही परीक्षा कही जाती है।

इन का **जीवन में लाभ** देखना है →

(१) **उद्देश**–समझने से हमारे जीवन का उद्देश **अतींद्रिय आनंद से जीना है,** यह हम निर्धारित कर सकते हैं। उद्देश के बिना हमारा जीवन दिशाहीन नौका की तरह व्यर्थ खोते हैं।

(२) **लक्षणनिर्देश**–समझने से हमारे **अतींद्रिय आनंदी जीवन का लक्षण आत्मानुभूति/शुद्धोपयोग है।** स्वस्वभाव को जानने से ही जीवन शाश्वत आनंद से जी सकते हैं, अन्यथा नहीं।

(३) **परीक्षा**– खुद एकत्वविभक्तनिजात्मा को प्रत्यक्ष प्रामाण्यसहित जानने से आनंद है, निर्विकल्प ज्ञान है, शुद्धोपयोग है, शुद्धात्मानुभव है, सम्यग्दर्शन है। पर्याय और परद्रव्य को जानने से दुःख, अशांति है। इस तरह **अतींद्रिय आनंद/सम्यग्दर्शन की परीक्षा** करने से हरेक समय का सदुपयोग कर सकते हैं। **सदुपयोग** याने **सत् / ध्रुवज्ञानानंद स्वभाव को जानने के लिए उपयोग करना।**

शंका–लक्षण के भेद बताकर उनका जीवन में लाभ बताना।

समाधान–लक्षण के दो भेद हैं: (१) आत्मभूत लक्षण (२) अनात्मभूत लक्षण।

(१) **आत्मभूत लक्षण : जो वस्तु के स्वरूप में अनुप्रविष्ट है, वह आत्मभूत लक्षण है।** जैसे-अग्नि का लक्षण उष्णता। **जीवद्रव्य का लक्षण ज्ञान-दर्शन/ चेतना।** पुद्‌गलद्रव्य का लक्षण स्पर्श, रस, गंध, वर्ण। धर्मद्रव्य का लक्षण गतिहेतुत्व। अधर्मद्रव्य का लक्षण स्थितिहेतुत्व। आकाशद्रव्य का लक्षण अवगाहनहेतुत्व। कालद्रव्य का लक्षण परिवर्तनहेतुत्व।

(२) **अनात्मभूत लक्षण :** जो वस्तु के स्वरूप में अनुप्रविष्ट (अंगभूत/तादात्म्य) नहीं है, वह अनात्मभूत लक्षण है। उदा. पुरुष का लक्षण दंड। सम्यग्दर्शन का लक्षण शुद्धात्मानुभव ज्ञानपर्याय है। जीव का लक्षण सम्यग्दर्शन है।

ये लक्षण के भेद समझकर हम भेदविज्ञान कर सकते हैं। कैसे ? तो आत्मभूत लक्षण ही सच्चा लक्षण/शाश्वत लक्षण है। अजीव द्रव्यों से जीवद्रव्य चेतना लक्षण से भिन्न हो जाता है। चेतना यह आत्मभूत लक्षण जीव से नित्य तादात्म्यरूप है। यह **शाश्वत चैतन्यस्वरूप ही परमशुद्धनिश्चयनय/ अभेदवृत्ति** का विषय है। **इस विषय** को हम हमारे **प्रमाणात्मक मति-श्रुतज्ञान से जानने पर हमें अतींद्रिय आनंद/ सच्चा धर्म/ शुद्धोपयोग/ सम्यग्दर्शन** प्राप्त होता है।

अनात्मभूत लक्षण वस्तु में प्रविष्ट न होने से कादाचित्क/तावत्काल है। यह हमारा शाश्वत स्वरूप न होने से आश्रय करने के योग्य नहीं है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि, **तत्त्वार्थसूत्र** में **'उपयोगो लक्षणम्'** सूत्र में **उपयोग पद से त्रिकाल ध्रुववान** अभिप्रेत है। पर्यायरूप अर्थ यहाँ अभिप्रेत नहीं है। ऐसा ही **समयसारजी गाथा १८१ की तात्पर्यवृत्तिमें कहा है– 'ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणत्वादभेदनयेनात्मैवोपयोगः...' अर्थ–ज्ञानदर्शनोपयोग लक्षण होनेसे अभेदनय से आत्मा ही उपयोग है।**

शंका–नैयायिक वा हेमचंद्राचार्य का किया हुआ लक्षण का लक्षण 'असाधारणधर्मत्व' ठीक है क्या ?

समाधान–लक्षण का लक्षण असाधारणधर्मत्व करना ठीक नहीं है। क्यों कि इसमें अव्याप्त, अतिव्याप्त और असंभव दोष आते हैं। और जीवन में इसका कुछ भी लाभ नहीं है। क्योंकि गुणभेद या पर्यायभेद असाधारण हैं, तो भी वे अनुभूति का विषय नहीं हो सकते हैं। **केवल आत्मभूत लक्षण का विषय ही अनुभूति का विषय** हो सकता है।

शंका–लक्षणाभास का स्वरूप और भेद कहो।

समाधान–जो **लक्षण जैसा दिखता है लेकिन दोषयुक्त** होता है, उसे **लक्षणाभास** कहते हैं। लक्षणाभास के तीन भेद हैं। (१) अव्याप्त दोष (२) अतिव्याप्त दोष (३) असंभव दोष।

(१) **अव्याप्त दोष :– ...लक्ष्यैकदेशवृत्त्यव्याप्तम्....** जो लक्षण लक्ष्य के एक देश (भाग) में रहता

है, वह **अव्याप्त लक्षणाभास** है। उदा. जैसे गाय का लक्षण शावलेयत्व। जीव का लक्षण मुक्त या संसारी या सम्यग्दर्शन या पूजा करना, अव्याप्त दोष से युक्त है।

(२) **अतिव्याप्त दोष :– ...लक्ष्यालक्ष्यवृत्त्यतिव्याप्तम्......** लक्ष्य और अलक्ष्य में लक्षण के रहने को **अतिव्याप्त लक्षणाभास** कहते हैं। उदा. जैसे गाय का लक्षण पशुत्व (पशुपना) करना। जीव का लक्षण अमूर्तिक या असंख्यात प्रदेशी या क्रियावती शक्ति या उत्पादव्ययध्रुव करने से **अतिव्याप्ति दोष** आता है।

(३) **असंभव लक्षणाभास/दोष :– ...बाधितलक्ष्यवृत्त्यसम्भवि...** जिस की लक्ष्य में वृत्ति बाधित हो अर्थात् जो लक्ष्य में बिलकुल ही न रहे, वह असंभवी लक्षणाभास है। उदा. जैसे कर्मभूमिज और उत्कृष्ट भोगभूमिज मनुष्य का लक्षण सींग।

* जीव का लक्षण स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि।

* जीव की शोभा घर, पैसा, आभूषणादि से मानना।

वास्तवमें **जीव की शोभा रत्नत्रय से ही है। [चैतन्य रत्नाकर-पान नं. २१ से ५४ तक देखना]**

शंका–प्रमाण किसे कहते हैं?

समाधान–प्रमाण के अनेक अर्थ हैं। यहां **प्रमाण का अर्थ 'धर्मीधर्मसमूह'** प्रकरणवश प्राप्त होता है। **[प्रमाण से भावाभाव युगपत् (एकसाथ) जाना जाता है।]**

शंका–नय किसे कहते हैं?

समाधान–प्रमाण से ग्रहण किये हुए **वस्तु के एक अंश को ग्रहण करनेवाला** नय होता है।

शंका–प्रमाण और नय में प्रधान/पूज्य कौन है?

समाधान–प्रमाण और नय में **प्रमाण ही पूज्य** है। क्योंकि **प्रमाण में प्रकृष्ट विशुद्धि** है या **प्रमाण = प्र+माण=प्रकर्ष से (भावाभावात्मक अखंड वस्तु को युगपत्)+जानता है। अनुभूति के समय प्रमाण साधन** ही होता है, नय साधन नहीं!

शंका–प्रमाण का लक्षण क्या है?

समाधान–प्रमाण का लक्षण **सम्यग्ज्ञान** है।

शंका–सम्यग्ज्ञान में जो सम्यक् पद है, उसका प्रयोजन कहना?

समाधान–सम्यक् पद संशय, विपर्यय, अनध्यवसायरूप अप्रमाण ज्ञानों का निराकरण करता है।

शंका–संशय किसे कहते है? इसका जीवन में क्या लाभ है?

समाधान–विरुद्धानेककोटिस्पर्शिज्ञानं संशयः, ... विरुद्ध अनेक कोटि को स्पर्श करनेवाले ज्ञान को संशयज्ञान कहते हैं।

उदा. (१) स्थाणु (ठूंठ) है अथवा पुरुष है? (२) मैं जीव हूँ या शरीर? (३) अनुभूति का विषय ध्रुव अंश है या ध्रुववान है? (४) पंचमकाल में चतुर्थ गुणस्थानवर्ती को आत्मानुभव होता है या नहीं?

संशय याने 'EITHER OR'

जब तक वस्तुव्यवस्था के विषय में संशय है, तब तक पदार्थों का निश्चय न होने से दोलायमान या डावाँडौल याने चलितचित्त/चंचलता होने से निजध्रुवशुद्ध एकत्वविभक्त भगवान आत्मा को निर्णयरूप से न जानने से सतत व्यग्रता/ TENTION आती है, शुद्धात्मानुभव नहीं होता है। जब तक संशय है तबतक न

संसारकार्य कर सकते हैं और न धर्म/ अतींद्रिय आनंद का भोग कर सकते हैं। संशय प्रमाणाभास / झूठा ज्ञान है।

शंका–विपर्यय किसे कहते हैं? इसका जीवन में क्या लाभ है?

समाधान–विपरीतैककोटिनिश्चयो विपर्यय:,....... विपरीत एक पक्ष का निश्चय करनेवाले ज्ञान को विपर्ययज्ञान कहते हैं।

उदा. जैसे सीप में 'यह चांदी है' इस प्रकार का ज्ञान होना विपरीतज्ञान/विपर्ययज्ञान है।

* शुभ भाव को ही सम्यग्दर्शन का कारण मानना।
* इंद्रियजनित आनंद को ही अतींद्रिय आनंद मानना।
* रोमांच हो जाना, प्रकाश दिखने को ही आनंद या शुद्धोपयोग मानना। पर को जानकर मोक्षमार्गस्थ हो सकता हूँ। भगवान की भक्ति से मोक्षमार्गस्थ हो सकता हूँ। यह सब विपरीतज्ञान है। जब तक **कारणविपर्यास, भेदाभेदविपर्यास, स्वरूपविपर्यास** का ज्ञान है, तब तक **मिथ्यादृष्टि, दु:खी है। वस्तुव्यवस्था विज्ञाननिष्ठ ढंग से जानकर आत्मानुभव करने से विपर्ययज्ञान (प्रमाणाभास ज्ञान)** छूट जाता है।

शंका - अनध्यवसाय किसे कहते हैं? इसका जीवन में क्या लाभ है?

समाधान–किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसाय:,......। 'कुछ है' ऐसे आलोचनमात्र को (ज्ञान को/जानने को) अनध्यवसाय ज्ञानपर्याय कहते हैं।

अनध्यवसाय = अन् + अधि + अवसाय = नहीं + आधार से + निर्णय = निर्णय नहीं।

उदा.–जैसे मार्ग में चलते हुए तृण, कंटक आदि के स्पर्श हो जाने पर 'कुछ है' ऐसा ज्ञान होना।

* निर्विकल्पज्ञान/शुद्धोपयोग में 'कुछ है' ऐसी जानकारी होती है। अनुभूति रहस्यमय कुछ है। वस्तुव्यवस्था कुछ है। ऐसा अनध्यवसायात्मक प्रमाणाभास ज्ञान जबतक है, तबतक अशांति, दु:ख है। स्व को जानने से यह अप्रमाण ज्ञान लय/नाश को प्राप्त होता है।

शंका–प्रमातादि का अर्थ क्या है?
समाधान–प्रमाता = जाननेवाला।
प्रमिति = जानने का फल।
प्रमेय = ज्ञेय/विषय/ध्येय/अनुभाव्य/जाना जानेवाला।
प्रमाण = ज्ञान।

शंका–प्रमाण के लक्षणरूप सम्यग्ज्ञान में जो ज्ञान शब्द है, उसका अर्थ क्या है?

समाधान–ज्ञान पद से प्रमाता, प्रमिति और प्रमेय की व्यावृत्ति की है। ज्ञान शब्द करण/साधन की दृष्टि से क्रिया है। **ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम्।** जिसके द्वारा जाना जाता है, उसे ज्ञान कहते हैं। **ज्ञान** का व्युत्पत्ति अर्थ देखिए– ज्ञा + अनट् [अनट् प्रत्यय 'करणाधारे चानट्' ऐसा जैनेंद्रव्याकरण में कहा है। यहाँ 'ट्' इत् है, निकल जाता है। ज्ञा + अन = ज्ञान।]

ज्ञान ही ज्ञान का साधकतम (सुनिश्चित) साधन है। इंद्रिय, पदार्थ, प्रकाश आदि जानने के साधन नहीं है। यह जानने से **स्वतंत्रता प्राप्त** होती है, **पराधीनता** छूट जाती है।

अत: **आत्मानुभूति** के लिये प्रत्येक जीव को **अध्यात्म न्यायदीपिका** तथा **अन्य न्याय ग्रन्थों** का **अवश्य स्वाध्याय करना** ही चाहिये।

शुद्धात्मानुभव की पगडंडी - न्यायदीपिका

लेखक- मन्नूलाल जैन वकील, सागर (मध्य प्रदेश)

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत् करोति किम्।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्।।

एकत्वविभक्त निज ध्रुव शुद्ध चिदानन्द आत्मा का प्रत्यक्ष-प्रामाण्यसहित शुद्धात्मानुभव करना ही सम्यग्दर्शन है- सम्यग्ज्ञान है- सम्यक्चारित्र है। यही परम मंगल कार्य है। इस परम मंगल कार्य द्वारा निश्चय सम्यग्ज्ञानादि का उत्पाद, मिथ्याज्ञान-मिथ्यादर्शन-मिथ्याचारित्र का व्यय होकर मोक्षमार्ग का अवतरण होता है। इसी को निर्विकल्प शुद्धात्मोपलब्धि, स्वसंवित्ति, शुद्धोपयोग, स्वानुभव आदि नामों से भी अभिहित किया जाता है।

अनादिनिधन विश्व में छह जाति के द्रव्य हैं- जीव (चेतना), पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश और काल (५ अचेतन)। जीव, अजीव (धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल), आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष- ये सात तत्त्व कहे गये हैं। इन्हीं सात तत्त्वों में पुण्य और पाप को शामिल करके गिनने पर ९ पदार्थ कहे जाते हैं।

मति-श्रुत प्रमाणज्ञान हैं

पदार्थों को जानने के उपाय सम्पूर्ण जिनागम में सभी आचार्यों ने प्रमाणज्ञान और नयज्ञान बताये हैं। जीव ज्ञानस्वरूप है। शेष पांच द्रव्य (पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल) अचेतन ज्ञान रहित हैं। आस्रव, बंध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात जीव और पुद्गल (कर्म) की अवस्थायें हैं- अवस्थाओं के नाम हैं। आस्रव, बंध, पुण्य और पाप को संयोगी, विकारी, अशुद्ध, औपाधिक, औदयिक, संसारी अवस्था कहते हैं। संवर, निर्जरा को एक देश शुद्ध अवस्था कहते हैं। मोक्ष को असंयोगी, अविकारी, शुद्ध, निरुपाधिक, क्षायिक, मुक्त अवस्था कहते हैं।

जीव द्रव्य चेतन है। उसमें ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, श्रद्धान, चारित्र, जीवत्व, चैतन्य, स्वच्छत्व, असंकुचित-विकासत्व, त्यागोपादानशून्यत्व, उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व, अगुरुलघुत्व, सूक्ष्मत्व, अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रदेशवत्त्व, प्रमेयत्व, प्रकाशत्व, अमूर्तत्व, नियतप्रदेशत्व, भावशक्ति आदि अनंत गुण-शक्तियाँ-स्वभाव-धर्म हैं।

जीवद्रव्य अनादि से ही अपने स्वरूप को भूला होने से ज्ञानावरणादि कर्म के साथ संबंधवाला है और दुखी है। जब यह जीव अपने चैतन्यस्वरूप का परिज्ञान करके आत्मस्थ हो जाता है तो कर्म का संयोग दूर होकर सहज सिद्ध शुद्ध अवस्था को प्राप्त होकर सुखी हो जाता है - यह निष्कर्म अवस्था है। संसार अवस्था चतुर्गति भ्रमणरूप दुखमय है। सिद्ध-मुक्त-शुद्ध अवस्था चतुर्गति के अभावरूप सुखमय है, पूर्णज्ञानमय है और वीतरागतामय है।

सुखी होने का मार्ग जिनवाणी में सम्यग्दर्शन - सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता को बताया गया है।

जीव वस्तु अनेकान्त स्वरूप अनंत धर्मात्मक है, उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व सहित सत्तारूप है, एक-अनेकरूप

है, नित्यानित्यात्मक है, द्रव्य- गुण-पर्यायात्मक है, ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य आदि अनंत गुणमय है। जीव वस्तु को समझने के लिये उसके दो अंश या भेद करते हैं - नित्य अंश और अनित्य अंश। नित्य अंश ध्रुव-त्रिकाल एकरूप रहनेवाला कारणपरमात्मा परमपरिणामिकभाव स्वरूप कारणतत्त्व है। अनित्य अंश प्रतिसमय परिणमन करनेवाला उत्पाद-व्यय पर्याय स्वरूप कार्यतत्त्व है।

जैसा कि पहले कह आये हैं कि पदार्थों को जानने के उपाय **प्रमाणज्ञान** और **नयज्ञान** हैं। **प्रमाण और नय ज्ञान पर्यायें अर्थात् जानने के साधन हैं, विषय नहीं।** सम्पूर्ण जिनागम जीवों को अपना हित-सच्चा सुख प्राप्त करने के लिये नयों की भाषा में लिखा गया है। नयों का सम्यक् ज्ञान किये बिना जिनागम का मर्म समझ पाना तो दूर रहो, उसमें प्रवेश करना भी संभव नहीं है।

सिद्धान्तग्रंथों के सच्चे ज्ञाता मुनि नयवाद में तो निपुण होते ही हैं-होना ही चाहिये। नयदृष्टिविहीन व्यक्ति वस्तु के स्वरूप से अनजान ही रहते हैं- वे सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं? नहीं हो सकते हैं। अनेकान्तस्वरूप आत्मवस्तु का ज्ञान प्रथम नयों द्वारा ही किया जाता है। द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु दोनों नयों-द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक, निश्चय-व्यवहार द्वारा ही भलीभांति निर्णीत होती है- ज्ञान में समझी जाती है। अतः सुयोग्य गुरु के निर्देशन में विधिपूर्वक दुःसाध्य और तीक्ष्ण धारवाला नयचक्र का संचालन सीखना ही चाहिये।

जब हम नयों के सामान्यस्वरूप पर दृष्टिपात करते हैं तो देखते हैं कि **स्यात् पद से मुद्रित परमागमरूप श्रुतज्ञान प्रमाण है,** और उसके भेद नय हैं। आगम के आलोक में ही हमें ज्ञात होता है कि **प्रमाण ज्ञान के द्वारा गृहीत वस्तु के एक अंश को ग्रहण करनेवाला ज्ञान नय है।** प्रमाणज्ञान द्वारा प्रकाशित पदार्थ का विशेष निरूपण करनेवाला नय है। ऐसा भी कहा गया है कि प्रमाण से नयों की उत्पत्ति होती है। नय, तो प्रमाण का एकदेश है, जब कि प्रमाण का विषय अनेक धर्मात्मक वस्तु है। जो अनिर्वचनीय है और गुणपर्यायवान है वही तत्त्व है- यह प्रमाण से प्रमाणित है।

जैनदर्शन चार अनुयोगरूप है- प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग, और द्रव्यानुयोग। द्रव्यानुयोग को समझे बिना मोक्षमहल के प्रवेशद्वार की कुंजी हाथ में नहीं आती है; न्यायग्रन्थों का अध्ययन किये बिना द्रव्यानुयोग का रहस्य ग्रहण नहीं हो पाता है; प्रथमानुयोग का स्वाध्याय किये बिना जीवन में चरणानुयोग की महिमा नहीं आती; चरणानुयोग को अपनाये बिना करणानुयोग का ज्ञान पूर्ण नहीं हो पाता; और करणानुयोग के बिना यथार्थ वैराग्य परिणति प्रगट नहीं होती। राजमार्ग तो यही है।

न्यायग्रंथों का महत्व

जैनदर्शन के न्यायग्रन्थों-सिद्धान्त शास्त्रों का महल जिस अचल शिलावाक्य पर आधारित है वह है- आचार्य कुंदकुंद के पट्टशिष्य आचार्य उमास्वामी रचित तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय का छठवाँ सूत्र- "**प्रमाणनयैरधिगमः।**" इस सूत्र का अर्थ है- पदार्थों का ज्ञान प्रमाण और नयों द्वारा होता है। इस छोटे से सूत्र की पुष्ट नींव पर जैनागम के न्याय का भव्य प्रासाद अत्यन्त दृढ़ता के साथ अवस्थित है। इस नींव के शिलाखण्ड पर आप्तमीमांसा, अष्टशती, अष्टसहस्री, सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, आप्तपरीक्षा, सिद्धिविनिश्चय, लघीयस्त्रय, न्यायकुमुदचन्द्र आदि ग्रन्थों के रूप में दिग्गज दिगम्बर महान जैनाचार्यों ने अपनी लेखनी द्वारा जो महान शिल्प निर्माण किया है- न्यायविद्यारूपी अमृत को निकाला है, अध्यात्मविद्या की पुष्टि के आधार के लिये '**सर्वज्ञ की सिद्धि**' जिन सशक्त तर्कों द्वारा की है, शुद्धात्मानुभव के लिये जो भावों की अभिव्यक्ति समर्पित की है उसके लिये यह युग सदियों तक उनका कृतज्ञ रहेगा।

उक्त सूत्र की सुगठित देहयष्टि दृढ़, सुन्दर, सुडौल और विश्वसनीय होने से उत्तमोत्तम दिगम्बर आचार्यों

ने न्यायदीपिका, न्यायविनिश्चय, न्यायविनिश्चय-विवरण, सिद्धिविनिश्चय, लघीयस्त्रय, परीक्षामुखसूत्र, प्रमेयरत्नमाला, प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रमेयरत्नाकर प्रभृति ग्रन्थों में भी अपनी लेखनी के स्पर्श द्वारा जैन न्याय के वटवृक्ष को पल्लवित, पुष्पित, सज्जित और सुशोभित किया है।

उपरोक्त ग्रन्थों के रचयिता श्रेष्ठ दिगम्बर जैनाचार्यों की दीर्घकालीन लम्बी परम्परा में हुए आचार्य श्री गृद्धपिच्छ उमास्वामी, समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंकदेव, विद्यानंद, माणिक्यनंदी, प्रभाचन्द्र, अनंतवीर्य, धर्मभूषण आदि को इस स्थल पर स्मरण करते हुए हम अपने श्रद्धासुमन अर्पित किये बिना नहीं रह सकते हैं। आचार्य अकलंकदेव की सुस्पष्ट, परिमार्जित और व्यवस्थित लेखनक्रिया के कारण तो एक युग से जैन न्याय को **अकलंक न्याय** (अकलंक द्वारा स्थापित अथवा कलंकरहित निर्दोष) ही कहा जाने लगा है। सभी उक्त दिगम्बर जैन आचार्यों एवं अन्य भी अनेक आचार्यों की कृतियाँ सूर्य के समान न्याय-आकाश में जाज्वल्यमानरूप से ससम्मान प्रतिष्ठित हैं।

इन्हीं न्यायग्रन्थों की छाया हमें आचार्यवर श्री कुन्दकुन्द के परमागमों की टीका करनेवाले आचार्य श्री अमृतचन्द्र एवं श्री जयसेन की आत्मख्याति, तत्त्वप्रदीपिका, तात्पर्यवृत्ति आदि टीकाओं में स्थान-स्थान पर परिलक्षित होती है। इन टीकाओं में गाथा-गाथा में देखें, जैसे - **साधकतमं करणम्, अन्यथा अनुपपत्ति, शुद्धात्मप्राप्तिरूपं फलम्, स्वतंत्र: कर्ता, निर्मलानुभूते: साधक:, शुद्धबुद्धैकस्वभावेन परमात्मना प्राप्यं व्याप्यमहमेक एव कर्मकारकमस्मि, शुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मन: साध्यं... सुखामृतरसास्वादपरिणतिरूपमहमेक एव फलं चास्मि**, (प्रवचनसार ता.वृ.गा.टी. १२६); **साध्यसिद्धेस्तथान्यथोपपत्त्यनुपपत्तिभ्याम्** (आ.ख्या.गा. १८ टीका) **ज्ञानतादात्म्यानुपपत्ते: । .... एवं सति य: आत्मानं जानाति स श्रुतकेवली..** (आ.ख्या. गा. १० टीका) - ... **आत्मनो भावश्रुतज्ञानेन स्वसंवेदनान्निश्चयश्रुतकेवली भवति।** (प्रव. ता. वृ. गा. ३३ टी.) इस प्रकार न्याय के आधार से समस्त कथनों की सिद्धि पग-पग पर दिखाई देती है।

कहने का अभिप्राय यह है कि संसार से पार ले जानेवाले सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र स्वरूप मोक्षमार्ग को प्रगट करने की रुचि कराने, महिमा लाने, प्रेरणा देनेवाले और प्रगट प्रसिद्धि करानेवाले तो वास्तव में परम अध्यात्मग्रन्थ समयसार, प्रवचनसार, परमात्मप्रकाश आदि हैं ही; किन्तु बृहद्द्रव्यसंग्रह, न्यायदीपिका, परीक्षामुख और आप्तमीमांसा आदि मूलग्रन्थ तथा इन ग्रन्थों पर लिखी गई ग्रन्थाकाररूप विशालकाय टीकायें भी मुक्तिमार्ग के पथिक के लिये मार्ग-शोधक, शक्ति-प्रदाता, पौरुष एवं पाथेय का कार्य करती हैं।

वर्तमान में श्री समयसारजी और शुद्धात्मानुभूतिरूप सम्यग्दर्शन की अलख जगानेवाले युगपुरुष के रूप में विख्यात अविरत गृहस्थ सत्पुरुष श्री पंडित कहानजी ने उपरोक्त सभी एवं अन्य अनेक ज्ञात-अज्ञात दिगम्बर जैनाचार्यों के प्रति अपनी अजेय निष्ठा व्यक्त की है। वे कहते थे कि - हम तो दिगम्बर भावलिंगी सन्तों के दासानुदास हैं। उन्होंने अपनी विशिष्ट प्ररूपण पद्धति द्वारा अध्यात्म के प्रति जनसामान्य में जो उत्कण्ठा जगाई है, उसकी जैन साहित्य के इतिहास में उपमा प्राप्त होना अत्यंत कठिन है।

उपरोक्त ग्रन्थों में श्री अभिनव धर्मभूषणयति विरचित **न्यायदीपिका** ग्रन्थ ऐसा है, कि जो अपने में समस्त न्यायग्रन्थों का सार समेटे हुए है, किन्तु उस पर अभी तक संस्कृत या हिन्दी भाषा में कोई टीका नहीं लिखी गई थी। **मुनिवर स्व. श्री. वीरसागरजी महाराज** ने सोलापूर में इस न्यायदीपिका पर भावानुवाद के रूप में विशाल टीका करके (इस कमी की पूर्ति करके) महान स्तुत्य कार्य किया है। न्यायदीपिका जैसे अत्यन्त क्लिष्ट न्यायग्रन्थ पर टीका लिखकर इस युग के अल्पबुद्धि, अल्प-स्वाध्यायी, संस्कृत-व्याकरणादि का अल्प ज्ञान रखनेवाले मुमुक्षुओं के लिये शुद्धात्मानुभूतिरूप सम्यग्दर्शन प्रगट करने की अत्यन्त सरल और सहज विधि बतलाकर इस विषयांधता पोषक कलिकाल में अनुपम दीपस्तंभ की स्थापना की है।

प्राय: सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज में यह एक विपरीत धारणा घर कर चुकी है कि न्यायग्रन्थों के स्वाध्याय से कोई लाभ नहीं है, उनमें तो केवल अन्यमतों का खण्डन और स्वमत-मण्डन ही है; हमें किसी के खण्डन-मण्डन से कुछ लेना-देना नहीं है; अत: न्यायग्रन्थों को पढ़ने की- पढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु श्री वीरसागरजी मुनिवर ने इस कल्पित झूठी मान्यता पर कठोरता से आघात किया और इस बीसवीं सदी के रोबो-काम्प्युटर विज्ञान के युग में एम.बी.बी.एस. डाक्टर होते हुए मुनिदीक्षा लेकर सत्यशोधक महान आत्मा के रूप में न्यायग्रन्थों का स्वाध्याय स्वयं किया और दूसरों को भी इन्हें पढ़ने की पावन प्रेरणा दी।

लगभग ७५ वर्ष पूर्व एक ऐसा समय आया था जब सम्पूर्ण उत्तरभारत, मध्यभारत, राजस्थान आदि प्रदेशों में जैनदर्शन की शिक्षा के लिये श्री गणेशप्रसादजी वर्णी जैसे अद्भुत प्रतिभाशाली महात्मा ने अजैन कुल में जन्म लेकर जैनधर्म अंगीकार कर के जैनधर्म के प्रचार हेतु पाठशालायें स्थापित करने का बीड़ा उठा रखा था। लगभग ५० पाठशालायें स्थापित करके भी प्रयत्न चालू बनाये रखा। फलस्वरूप विद्वानों की पीढ़ियां तैयार हो गई और सारे देश में जैन विद्वान दिखायी देने लगे। उन पाठशालाओं से तैयार हुए विद्वानों ने जैनसाहित्य के प्रचार, विकास, लेखन, सम्पादन, संशोधन आदि का बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया है जिसके आकलन के लिये अलग से ही एक पुस्तकाकार निबन्ध की आवश्यकता है।

उक्त पीढ़ी के अनेक विद्वान अपने स्वतंत्र व्यवसाय, लेखन आदि में लग गये तथा अनेक विद्वान पुरानी पाठशालाओं में ही अध्यापन कार्य तथा जिनवाणी प्रकाशन आदि कार्य करते रहे। ऐसा कोई विरला ही विद्वान हुआ होगा जिसने नई पाठशाला-विद्यालय आदि स्थापित किये हों। जयपुर के पं. चैनसुखदासजी अवश्य इस कार्य में अग्रणी रहे। धीरे-धीरे ऐसा अवसर आया कि सारे देश की जैन समाज यह तो अनुभव करने लगी कि विद्वानों की संख्या कम होती जा रही है, किन्तु इसके लिये कोई ठोस मूर्तरूप योजना को आकार देने के बारे में नहीं सोचा गया।

आज से ५० वर्ष पूर्व फिर एक ऐसा समय भी आया कि जब गुजरात के क्षितिज पर सत्पुरुष श्री कहानजी का उदय हुआ और जैनदर्शन के मूल विषय-**निजध्रुव शुद्ध कारणपरमात्मा** की चर्चा सुनाई पड़ने लगी। किन्तु परिस्थितियों वश योग ऐसा बना कि समाज के विद्वानों ने उस गर्जना की ओर कोई ध्यान न देकर उसी के विरोध में सारी शक्ति लगा दी। विद्वानों ने एवं समाज ने स्वयं ही पाठशालाओं में अपनी सन्तानों को नहीं पढ़ाया, बल्कि विश्वविद्यालयों, मेडिकल कॉलेजों और इंजिनियरिंग आदि कॉलेजों में पाश्चात्य शिक्षा लेने की ओर ही प्रेरित किया। फलत: अधिकांश पाठशालायें बंद हो गई।

लेकिन गुजरात के सत्पुरुष के शक्तिशाली प्रयास से जयपूर में श्री पूरनचंदजी गोदिका द्वारा **टोडरमल स्मारक ट्रस्ट** और **सिद्धान्त महाविद्यालय** स्थापित हुआ जो आज लगभग २० वर्षों से सफलतापूर्वक दिन प्रतिदिन प्रगति करता हुआ डा. हुकमचंद भारिल्ल के निर्देशन में संचालित हो रहा है। इस विद्यालय से लगभग २०० विद्वान तैयार होकर सारे देश में चारों दिशाओं में फैल चुके हैं; तथा जिनवाणी के प्रकाशन और तत्त्वप्रचार का कार्य जोर-शोर के साथ चल रहा है। इस अकेली एक संस्था ने ही सम्पूर्ण देश में पंडितों का अकाल और जिनवाणी का सूखा मिटाकर लहलहाती हरीभरी आत्मकल्याणकारी पंडितों और जिनवाणी की पौष्टिक फसल उत्पन्न करने की विशाल योजना अपने हाथों में ले रखी है।

कहने का तात्पर्य यह है कि अब नये विद्वानों को तथा समाज को चाहिये कि श्री वीरसागरजी मुनिराज का महान चिन्तन टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के माध्यम से समझने का प्रयास करे। अब यह अच्छी तरह से जान लेना चाहिये कि समाज को न्यायग्रन्थों के स्वाध्याय की बहुत अधिक आवश्यकता है। हमें न केवल अपने शुद्धात्मा के अनुभवन के लिये बल्कि देश में सभी धर्मों की समन्वित समझ बनाने के लिये भी अन्यमत

के मन्तव्यों को समझकर न्यायग्रन्थों के आधार से उनके समुचित समाधान की आवश्यकता है। न्यायग्रन्थों के स्वाध्याय की आज पहले से कहीं अधिक आवश्यकता है क्योंकि हम जैन कुल में जन्म लेकर जिनवाणी का स्वाध्याय करते हुए भी सहीरूप में जैन नहीं बन पा रहे हैं।

अन्यमत परीक्षा

मैं नीचे कुछ प्रश्न दे रहा हूँ जिनके परिप्रेक्ष्य में आप अपने को पहिचानने का प्रयास करें कि क्या आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिये आप अभी वास्तव में जैन हैं? क्या कुल परिपाटी से चली आई कुछ मान्यतायें- क्रियायें मात्र कर लेने से आप जैन बन जाते हैं? इस ग्रन्थ का स्वाध्याय करके आप अपने आपको देखिये-परखिये-

१. प्रमाणज्ञान को जैसे अन्यमतवाले नहीं मानते हैं, वैसे ही हममें से बहुत से भाई नहीं मानते हैं।
२. प्रत्यक्ष अतींद्रिय ज्ञान-मतिश्रुतज्ञान (आ ५) को जैसे अन्यमती नहीं मानते हैं वैसे ही हममें से बहुत से भाई नहीं मानते हैं।
३. निजशुद्धात्मा का ध्यान करना जैसे अन्यमती नहीं मानते हैं, वैसे ही हम...
४. निजध्रुव को छोड़कर जैसे अन्य लोग परमत खण्डन में लगे रहते हैं, वैसे ही हम...
५. शुभभाव और शारीरिक क्रियाओं मात्र से जैसे अन्यमती भला मानते हैं, वैसे ही हम...
६. शारीरिक सुविधायें जुटाने में जैसे अन्यमती व्यस्त रहते हैं, वैसे ही हम...
७. क्षणिक सुख की प्राप्ति में जैसे अन्यमती लोग अभ्यस्त रहते हैं, वैसे ही हम...
८. सांसारिक प्रतिकूलताओं से जैसे अन्यमती लोग त्रस्त रहते हैं, वैसे ही हम...
९. युक्ति और न्याय को जैसे सभी अन्यमती नहीं मानते हैं, वैसे ही हम...
१०. विषय, साधन और फल को जैसे सभी अन्यमती नहीं मानते हैं वैसे ही हम...
११. आगम आधार को जैसे अन्यमती सभी नहीं मानते हैं, वैसे ही हम...
१२. सर्वज्ञ की सत्ता जैसे सभी अन्यमती नहीं मानते हैं, वैसे ही हम...
१३. सर्वज्ञ को अविरोधी-सच्चा वक्ता जैसे सभी अन्यमती नहीं मानते हैं, वैसे ही हम...
१४. साधकतम साधन से कार्य होना जैसे सभी अन्यमती नहीं मानते हैं, वैसे ही हम...
१५. जैसे ईश्वर को कर्ता माननेवाले एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्ता मानते हैं, वैसे ही हममें से भी बहुत से भाई अपने को परद्रव्य की पर्याय का कर्ता मानते हैं।
१६. चार्वाक पंचेन्द्रिय के विषय-भोगों में सुख मानता है, क्या हम भी वैसा मानते हैं? यदि हां, तो हम चार्वाकमती ही हैं।
१७. बौद्ध ज्ञेयों में से- पदार्थों में से ज्ञान और सुख मानते हैं, क्या हम भी...
१८. नैयायिक असाधारण धर्मवचन को पदार्थ का लक्षण मानते हैं, क्या हम भी...
१९. सांख्य इंद्रियव्यापार को प्रमाण मानते हैं, क्या हम भी...
२०. बौद्ध अविसंवादी-कल्पना अपोढ ज्ञान ही प्रमाण मानते हैं, क्या हम भी...
२१. नैयायिक कारकसाकल्य से कार्य माननेवाले निमित्तवादी हैं, क्या हम भी...
२२. वैशेषिक सन्निकर्ष से कार्य माननेवाले निमित्तवादी हैं, क्या हम भी...
२३. मीमांसक परपदार्थों से ज्ञातृ-व्यापार माननेवाले निमित्तवादी हैं, क्या हम भी...
२४. वेदान्ती ज्ञान को नहीं, ज्ञान के निमित्तों को ज्ञान करानेवाला मानते हैं, क्या हम भी...
२५. चार्वाक केवल इंद्रिय प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं, क्या हम भी...

२६. वैयाकरण शब्द को ही ज्ञान मानते हैं, क्या हम भी...
२७. सांख्य बाह्य क्रिया से चारित्र-धर्म मानते हैं, क्या हम भी...
२८. सांख्य अकेले ज्ञान से कुछ भी नहीं होना मानते हैं, क्या हम भी...
२९. नैयायिक समवायों से कार्य होना मानते हैं, क्या हम भी...
३०. वैशेषिक व्यक्तिविशेष को प्रमाण मानते हैं, क्या हम भी...
३१. नैयायिक कारणों की अतिनिकटता से कार्य होना मानते हैं, क्या हम भी...
३२. मीमांसक प्रामाण्य और अप्रामाण्य की उत्पत्ति स्वत: मानते हैं, क्या हम भी...
३३. अन्य सभी मतवाले केवल इंद्रिय प्रत्यक्ष और अनुमान को प्रमाण मानते हैं, क्या हम भी...
३४. अन्य मतवाले नयज्ञानों को नहीं मानते हैं, क्या हम भी...
३५. कुछ लोगों ने नयों से ही कार्य होना माना है, क्या हम भी...
३६. बौद्धमती तदुत्पत्ति, तदाकार और तदध्यवसायरूप ज्ञान को मानते हैं, क्या हम भी...
३७. धर्म के क्षेत्र में सभी अन्यमती देव, शास्त्र, गुरु को परीक्षा किये बिना ही मानते हैं, क्या हम भी...
३८. क्या सर्वज्ञ की जय बोलना मात्र या भक्ति करना मात्र ही वास्तव में सर्वज्ञ को मानना है?
३९. क्या सम्यग्ज्ञानरूप कार्य की उत्पत्ति सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष जैसे परोक्ष ज्ञानों से होती है?
४०. क्या हम अतीन्द्रिय ज्ञान का स्वरूप, उसका साधन, उसका कार्य और उसका फल जानते हैं?
४१. सभी लौकिक कार्य विषय-साधन-फल का निर्णय करने के पश्चात् किये जाते हैं। क्या आत्मानुभवरूप कार्य के पहले हमने उसके विषय-साधन-फल का निर्णय किया है?
४२. क्या हम प्रमाण ज्ञानों और नय ज्ञानों का स्वरूप जानते हैं?
४३. क्या हम प्रत्यक्षज्ञानों और परोक्षज्ञानों का स्वरूप जानते हैं?
४४. क्या हम जानते हैं कि इंद्रियज्ञान और नयज्ञान परोक्षज्ञान हैं?
४५. क्या हम जानते हैं कि पर द्रव्यों को हमारा जानना हमारे परोक्ष ज्ञान का कार्य है?
४६. क्या हम जानते हैं कि आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है?
४७. क्या हम जिनवाणी के चारों अनुयोगों में से किसी अनुयोग को हमारे काम का नहीं मानते हैं?
४८. क्या हम पूर्वाग्रह रखकर निर्णय करते हैं, युक्तियों से नहीं?
४९. क्या हम अन्यमत की मान्यतायें केवल दूसरों में ही खोजते हैं, अपने में नहीं?
५०. क्या यथार्थ आत्मकल्याण की इच्छा से, अपने में पात्रता लाकर हम जिनवाणी का स्वाध्याय करते हैं, या केवल दूसरों के दोषमात्र देखने के लिये?

इन प्रश्नों का उत्तर इस ग्रन्थ से हमें केवल दूसरों के दोष देखने के लिये नहीं खोजना है।

अध्यात्मन्यायदीपिका का विषय

लोकेषणा और ख्याति से दूर रहनेवाले मुनिवर श्री. वीरसागरजी ने इस न्यायदीपिका टीका की रचना १९८७ में सोलापूर (महाराष्ट्र) में की है जिसका नाम '**अध्यात्मन्यायदीपिका**' है। इस टीका की विशेषताओं पर क्रम से प्रकाश डालने के पहिले यह लिखना आवश्यक मानता हूँ कि उन्होंने शास्त्रोक्त **ध्यानपद्धति** को विकसित करके आत्मानुभूति प्रगट करने की- **परम आनंद की दिव्यकला** न केवल स्वयं ही प्राप्त की, किन्तु बहुत से स्त्री-पुरुषों को प्राप्त करने की पावन प्रेरणा भी दी है। उनके चरणचिन्हों पर अग्रसर उनकी दो शिष्याओं **क्षु. सुशीलमतीजी** एवं **क्षु. सुव्रताजी** आज भी सम्पूर्णरूप से आगमानुकूल चर्या में रत होकर आत्मानुभूति

में संपन्न होकर इसी पथ को आलोकित कर रही हैं।

श्री. वीरसागरजी मुनिराज ने इस न्यायदीपिका टीका में सर्वप्रथम तो आगमग्रन्थों के शताधिक उद्धरण देते हुए यह सिद्ध करने का सक्षम सफल प्रयास किया है कि अविरती गृहस्थ भी शुद्धोपयोगरूप आत्मानुभव-निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकता है। यही कथन परमश्रेष्ठ आचार्यवर श्री कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार ग्रन्थ की गाथा १९४ में किया है तथा उसी की टीका तात्पर्यवृत्ति में आचार्य श्री जयसेन ने भी स्पष्ट घोषित किया है। गाथा देखिए-

जो एवं जाणित्ता झादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा।
सागारोऽणागारो खवेदि सो मोहदुग्गंठिं॥१९४॥

अर्थ – जो ऐसा जानकर विशुद्धात्मा होता हुआ परम आत्मा का ध्यान करता है, वह सागार हो या अनागार, मोह दुर्ग्रन्थि का क्षय करता है।

तात्पर्यवृत्ति टीका – ध्यायति यः कर्ता। कम्। निजात्मानम्। कथंभूतम्। परमानन्तज्ञानादिगुणाधारत्वात्परमुत्कृष्टम्। किं कृत्वा पूर्वम्। एवं पूर्वोक्त (ध्रुवः शाश्वतः निजात्मा) प्रकारेण स्वात्मोपलम्भलक्षणस्वसंवेदनज्ञानेन ज्ञात्वा। कथंभूतः सन् ध्यायति। ख्यातिपूजालाभादिसमस्तमनोरथजालरहितत्वेन विशुद्धात्मा सन्। पुनरपि कथंभूतः। सागारोऽनागारः। अथवा साकारानाकारः। सहाकारेण विकल्पेन वर्तते साकारो ज्ञानोपयोगः, अनाकारो निर्विकल्पो दर्शनोपयोगस्ताभ्यां युक्तः साकारानाकारः। अथवा साकारः सविकल्पो गृहस्थः, अनाकारो निर्विकल्पस्तपोधनः। अथवा सहाकारेण लिङ्गेन चिन्हेन वर्तते साकारो यतिः, अनाकारश्चिन्हरहितो गृहस्थः। य एवं गुणविशिष्टः क्षपयति स मोहदुर्ग्रन्थिम्। मोह एव दुर्ग्रन्थिः मोहदुर्ग्रन्थिः शुद्धात्मरुचिप्रतिबन्धको दर्शनमोहस्तम्। ततः स्थितमेतत्- आत्मोपलम्भस्य मोहग्रन्थिविनाश एव फलम्।१९४।

भावार्थ – जो निजध्रुवशुद्धात्मा को विशुद्धात्मा जानता हुआ, जो परम अनन्त ज्ञानादि गुणों का आधार होने से परम उत्कृष्ट है उसे स्वात्मोपलम्भ जिसका लक्षण है ऐसे स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा जानकर ध्यान करता है, ख्याति-पूजा-लाभ आदि समस्त मन के विकल्पजाल से रहित विशुद्धात्मा होकर अथवा विकल्परूप ज्ञानोपयोगी हो या निर्विकल्परूप दर्शनोपयोगी हो, साकार हो या अनाकार हो, अथवा गृहस्थ हो या तपोधन हो, अथवा साकार यति हो या अनाकार गृहस्थ हो, वह इस प्रकार गुणविशिष्ट होकर शुद्धात्मरुचि की प्रतिबन्धक दर्शनमोहरूप अत्यन्त दृढ़ मोहदुर्ग्रन्थि का विनाश करता है।

इसी बात को श्री जयसेनाचार्य जी प्रवचनसार की गाथा १०१ की टीका में लिखते हैं- शुद्धात्मलाभ शुद्धनय के अवलंबन से होता है। मैं पर का नहीं होता हूँ, पर मेरे नहीं होते हैं, समस्त पर द्रव्यों में मन-वचन-काय से और कृत-कारित-अनुमोदना से स्व-स्वामी संबंध को स्वानुभूति जिसका लक्षण है ऐसे निश्चयनय के बल से छोड़ता हूँ। मैं तो एक ज्ञान हूँ, भावकर्म-द्रव्यकर्म-नोकर्म रहित होने से मैं तो एक सकल विमल केवलज्ञान ही हूँ- इसप्रकार इन वाक्यों का अभिप्राय जानकर जो ऐसा ध्यान करता है- चिंतन करता है- भावना भाता है वह निज शुद्धात्मा में स्थित होकर आत्मा का ध्यान करनेवाला होता है, वह चिदानन्द एक स्वभाव परमात्मा का ध्याता होता है, वही परम आत्मध्यान से परमात्मा पर्याय को प्राप्त करता है। क्यों? क्योंकि उपादान कारण के सदृश ही कार्य होता है- ऐसा शास्त्र वचन होने से।

श्री जयसेनाचार्य जी इसी बात को प्रवचनसार की गाथा १९६ की टीका में फिर लिखते हैं कि- निजशुद्धात्मा में एकाग्रता लक्षण है जिसका ऐसा ध्यान आत्मा को अत्यन्त विशुद्धिमय कर देता है। आशय यह है कि मोहकलुष रहित जीव स्वात्मसंवित्ति से उत्पन्न सुखसुधारसस्वाद के द्वारा विषयों से विरक्त होकर जो निजपरमात्मद्रव्य

के स्वभाव में सम्यक् प्रकार से निश्चल अवस्थित हो जाता है वह अपनी आत्मा का ध्याता पुरुष है। वहीं पर उन्होंने ध्यान, ध्यान-सन्तान, ध्यान-चिन्ता और ध्यान-अन्वय-सूचन का लक्षण-स्वरूप वर्णन भी किया है जो वास्तव में स्वत: पढ़ने योग्य है।

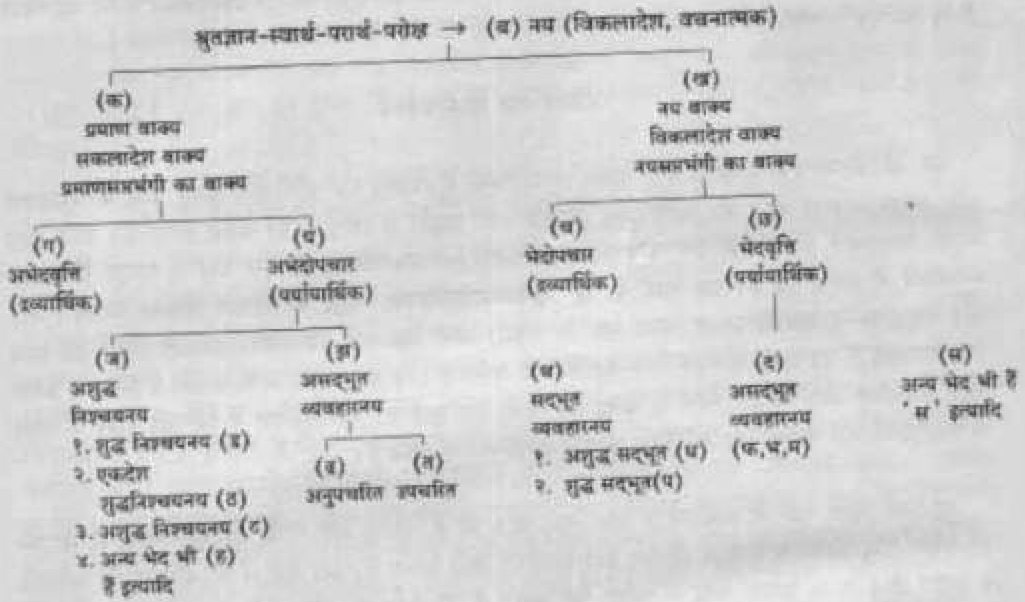
टीका की विशेषतायें

स्व. श्री वीरसागरजी मुनिराज ने अध्यात्म न्यायदीपिका में लगभग ६० चार्टों द्वारा मुमुक्षु जीवों को शुद्धात्मा और उसका अनुभव करने की विधि बहुत सरलता और स्पष्टता से समझाने का प्रयास किया है। उनके द्वारा बनाया गया चार्ट नं. ७ एक अमूल्य शोधरूप स्वाध्याय का सफलीकरण है। इस चार्ट में सम्पूर्ण जिनवाणी प्रतीकरूप में समाई हुई है। यह चार्ट नं. ७ '**प्रमाणनयैरधिगम:**' सूत्र को आधार मानकर प्रमाण (आ) और नय (ब) के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि अभी तक नयों का वर्णन करनेवाले जितने भी ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं उन सभी में भिन्न-भिन्न पद्धतियों से वर्णन होने से पाठक को उनके कथनों में समन्वय करना बहुत श्रमसाध्य और बोझिल कार्य हो जाता है। किन्तु इस चार्ट की यह विशेषता है कि उसे देखने के साथ ही प्रमाणज्ञान और नयज्ञान का वर्गीकरण पूर्णरूप से सामने आ जाता है।

यह चार्ट चूंकि नयों से संबंधित है अत: कुछ क्लिष्ट तो है, किन्तु यदि किसी विशिष्ट व्यक्ति से समझने का प्रयास करें, तो आधे घन्टे में ही सब कुछ समझ में आने लगता है। इस चार्ट में श्री वीरसागरजी मुनिराज ने प्रमाण ज्ञान के ५ प्रत्यक्ष और २ परोक्ष भेद बताये हैं जो बहुत ही उचित और आगमानुकूल हैं। इसमें केवलज्ञान पूर्ण प्रत्यक्ष (आ २), मन:पर्ययज्ञान (आ ३), अवधिज्ञान (आ ४) एकदेश प्रत्यक्ष; और श्रुतज्ञान और मतिज्ञान (आ ५) भी एकदेश प्रत्यक्ष कहे हैं। इनका आधार द्रव्यसंग्रह की गाथा ५ की श्री ब्रह्मदेव सूरि की टीका तथा पं. रामजीभाई की तत्त्वार्थसूत्र की टीका पृ. ५२ देखना चाहिए। श्लोकवार्तिक भी द्रष्टव्य है। मोक्षमार्गप्रकाशक के अंत में छपी पं. टोडरमलजी द्वारा लिखित रहस्यपूर्ण चिट्ठी भी अवश्य पढ़नी चाहिये। न्यायदीपिका (मूल) के दूसरे अध्याय के पैराग्राफ क्रमांक १३ से २० तक अवश्य ही देखना चाहिये। इसका स्पष्टीकरण आगे किया जा रहा है।

> **मेरे ज्ञान-दर्शन-आनंद-चरित्रादि गुणोंका निधि कोई लूटनेवाला नहीं है। अथवा बाहरसे आकरके कोई मिलाता नहीं है। अत: समाधिशतक के २५ वे श्लोकमें कहा है– 'बोधात्मानं तत: कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रिय:॥' ज्ञानस्वरूप आत्माको कोई शत्रु नहीं है और मित्र नहीं है। ज्ञान गुणकी मुख्यतासे अखण्ड आत्मा अभेदवृत्तिसे जाननेपर हम शांतिको प्राप्त हो जाते हैं। अत: ज्ञानानन्द स्वभावको जानो। निजस्वभावका वरण करो।**
>
> **सम्यक्-अर्चना - पृ. ६१**

नयज्ञान का वर्गीकरण तो आश्चर्यमिश्रित आल्हाद उत्पन्न कर देता है। संक्षेप में वह वर्गीकरण देखिये-



कृपया इनकी परिभाषाओं पर भी ध्यान दीजिये:

१. **अभेदवृत्ति नय** = एक गुण के द्वारा अखण्ड द्रव्य का कथन करनेवाला **नयात्मक प्रमाणवाक्य।**

२. **अभेदोपचारनय** = एक पर्याय (शुद्ध, एकदेश शुद्ध, अशुद्ध, पर द्रव्यादि) के द्वारा अखण्ड द्रव्य का कथन करनेवाला **नयात्मक प्रमाणवाक्य।**

३. **भेदोपचारनय** = एक गुण के द्वारा ध्रुव के अंश याने गुण या ध्रुव अंश का कथन करनेवाला **नयवाक्य।**

४. **भेदवृत्तिनय** = एक पर्याय के द्वारा पर्याय का ही कथन करनेवाला **नयवाक्य।**

५. **प्रमाणवाक्य** = सम्पूर्ण द्रव्य के संबंध में एक धर्म के द्वारा कथन करनेवाला नयवाक्य।

६. **नयवाक्य** = द्रव्य के अंश के संबंध में एक धर्म के द्वारा कथन करनेवाला नयवाक्य।

जो व्यक्ति पूर्वाग्रहरहित निष्पक्ष दृष्टि से इस चार्ट नं ७ को समझने का प्रयास करेगा उसे सम्पूर्ण वर्गीकरण आगम के अनुकूल और निज-हित-ज्ञापक दिखाई देगा। चार्ट के सब से नीचे नैगम आदि ७ नयों का प्रयोग भी दिखाया गया है जो बहुत ही मार्मिक है।

इस चार्ट नं. ७ में जो मति-श्रुतज्ञान (आ५) को ज्ञानात्मक (स्वार्थ), एकदेश प्रत्यक्ष तथा अतींद्रिय कहा गया है, वह ऊपर कहे द्रव्यसंग्रह की गाथा ५ की टीका एवं अन्य ग्रन्थों-समयसार, प्रवचनसार, श्लोकवार्तिक आदि के आधार से ही कहा गया है। जिस मतिज्ञान-श्रुतज्ञान में निजध्रुवस्वभावरूप आत्मद्रव्य का एकदेश अतींद्रिय प्रत्यक्ष- शुद्धात्मानुभव- शुद्धोपयोग- आत्मानुभूति-सम्यग्दर्शन-स्वसंवित्ति-स्वसंवेदन-निजानंद- अतीन्द्रियानंद होता है वह ज्ञान प्रमाण है, नय नहीं है। उस प्रमाण ज्ञानरूप मति-श्रुत ज्ञान का विषय-निश्चयनय

द्वारा निश्चित विषय-निजध्रुव शुद्ध चिदानंद आत्मा है, एकत्वविभक्त निजपरमात्मा है। इसी को जानने-अनुभवने का नाम प्रत्यक्ष प्रामाण्यसहित प्रतीति करना है। यही **निज ज्ञानानंदस्वभाव** को विषय करके अपने **प्रमाणात्मक मति-श्रुतज्ञान साधन से प्रत्यक्ष प्रामाण्यसहित जानकर अतींद्रिय आनंद की प्राप्ति करना है- यही परम आनंद की दिव्यकला है।**

ध्यान की आवश्यकता

यदि कोई ऐसा मानता है कि 'स्वानुभूति का मार्ग बतानेवाला एकमात्र ग्रन्थाधिराज परमागम श्री समयसार का स्वाध्याय ही है; अन्य किसी ग्रन्थ के स्वाध्याय से स्वानुभूति होती ही नहीं है' तो वह सत्य नहीं है। सत्य तो यह है कि जिनवाणी के चारों अनुयोगों के किसी भी ग्रन्थ का उचित गुरु के निर्देशन में नयों का सम्यक्रीत्या ज्ञान कर स्वाध्याय करनेसे ही स्वानुभूति प्राप्त की जा सकती है। **स्वानुभूति प्राप्त करना इस जीवन का सबसे सरल और सर्वोत्कृष्ट कार्य है,** पर्याय में मोक्षमार्ग का मंगल पदार्पण है। हमारा यह कथन ग्रन्थाधिराज समयसारजी की महिमा किंचित् भी न्यून करने का नहीं है; हमारा अभिप्राय तो सम्पूर्ण जिनवाणी को एकसमान आदरणीय मानकर उसके प्रति अत्यधिक बहुमान बनाये रखने का है। श्रीसमयसारजी परमागम की तो गाथा-गाथा, दोनों टीकाओं के सभी वाक्य स्वानुभूति की उत्पत्ति क्षमता से ओतप्रोत हैं- लबालब भरे हुए हैं।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने समयसार की प्रथम और अंतिम गाथा तो ध्यान के लिये समर्पित की ही है, साथ ही गाथा क्रमांक २, ६, ११, १४, १८, ३८, ४९, ७३, ७७, १४२, १४३, १४४, १५१, १८३, १८६, १८७, १८८, १८९, २०३, २०४, २०५, २०६, २९३, २९४, २९५, २९६, २९७, ३२०, ३२४, ४०३, ४०७, और ४१२, कुल ३४ गाथाओं में भिन्न-भिन्न प्रकार से ध्यान करने का ही आदेश दिया है।

इसी प्रकार नियमसार का परमसमाधि अधिकार और उसकी गाथा १२२ से १३३ तक ११ गाथायें ध्यान के लिये ही समर्पित की गई हैं, जहां पर सामायिक, धर्मध्यान और समाधि को समानार्थी भी कहा है। गाथा ९६ तो बहुत ही स्पष्ट रूप से ध्यान को समर्पित है।

प्रवचनसार की गाथा क्रमांक ८२, १९१, १९४, १९६ भी द्रष्टव्य हैं। भावपाहुड की गाथा ६० एवं मोक्षपाहुड की गाथा २६ तो आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने ध्यान के लिये ही पूर्णतः समर्पित की हैं।

द्रव्यसंग्रह में श्री ब्रह्मदेवसूरि ने एवं आचार्य माघनंदी ने ध्यानसूत्र द्वारा ध्यान की बहुत ही स्पष्ट रूप से सूत्र रचना करके ध्यान करने की पावन प्रेरणा दी है। ज्ञानार्णव, योगसार, समाधितंत्र, इष्टोपदेश आदि अनेक ग्रंथ ध्यान की प्रक्रिया और प्रेरणा से भरे हुए हैं। यदि **दृष्टि** प्राप्त हो जाये तो सम्पूर्ण न्यायशास्त्रों और करणानुयोग में से भी आप ध्यानसूत्र निकालकर देख सकते हैं।

यदि कोई ऐसा कहता है कि-

(१) वर्तमानकाल में गृहस्थों को ध्यान नहीं हो सकता है;

(२) जैन धर्म में ध्यान करने को नहीं, सामायिक करने को कहा गया है;

(३) ध्यान अलग से कुछ नहीं किया जाता है, वह तो जानते रहने का नाम ही ध्यान है;

(४) ध्यान तो सातवें गुणस्थान से ऊपर की अवस्था में होता है, निचली दशा में तो सामायिक होती है अथवा विकल्पात्मक निर्णयमात्र होता है;

(५) ध्यान तो चारित्र की दशा का नाम है; पहले तो चौथे गुणस्थान में सम्यग्दर्शन होता है, फिर सम्यग्ज्ञान होता है, अंत में सम्यक्चारित्र होता है- ध्यान होता है;

(६) हमें तो सिर्फ सम्यग्दर्शन अर्थात् आत्मा की निश्चयनय से प्रतीति करना चाहिये, ज्ञान और चारित्र या ध्यान तो अपने आप ही हो जाते हैं;

(७) पहले सम्यग्दर्शन होता है, फिर सम्यग्ज्ञान होता है, फिर सम्यक्चारित्र होता है, अत: ध्यान याने चारित्र तो बहुत बाद में होता है, उसे प्रथम करने को कहना तो विरुद्ध-क्रमविपरीत उपदेश देना है;

(८) सम्यग्दर्शन को कारण और सम्यग्ज्ञान को कार्य कहा गया है, सम्यक् चारित्र तो उनका फल है, अत: चारित्र अर्थात् ध्यान को प्रथम करने को नहीं कहना चाहिये;

(९) इसी प्रकार के अन्य और भी कई प्रश्न हो सकते हैं।

उक्त सभी प्रश्नों के समाधान में हम यह कहते हैं कि प्रथम तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तीनों आज भी गृहस्थ को एकदेशरूप से एकसाथ ध्यान के काल में ही प्रगट हो सकते हैं। इसके विस्तृत उत्तर के लिये श्री स्व. वीरसागरजी मुनिराज की लिखी हुई पुस्तक- **'निजध्रुवशुद्धात्मानुभव'** को पढ़ें और उसमें दिये गये आगम के उद्धरणों के भावार्थरूप आलोक में अपनी मति को व्यवस्थित कर पुनर्विचार करें और ध्यान के अभ्यास को प्रारंभ कर रत्नत्रय प्राप्त करने का पुरुषार्थ करें।

बहुत से लोग ऐसे हो सकते हैं कि जो अनेक वर्षों से किसी ज्ञानी गुरु के सान्निध्य में रहते हुए भी तथा अनेक ग्रन्थों का स्वाध्याय करते हुए भी स्वानुभूति से दूर ही हों। उन्हें स्वयं अंतरंग में विचार करना चाहिये कि-

(१) तीव्र रुचि, जिज्ञासा, सदाचार, सत्समागम और स्वाध्याय करते हुए भी शुद्धात्मानुभूति क्यों नहीं प्राप्त हो रही है?

(२) काललब्धि, भवितव्य, निमित्त, पुरुषार्थ और स्वभाव रूप पांच समवायों में से किस की कमी रह गई है?

(३) क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण-इन पाँच लब्धियों में से किस-किसकी कमी रह गई है?

(४) देव-शास्त्र-गुरु, आप्त-आगम-पदार्थ के श्रद्धान में से किस के श्रद्धान की कमी रह गई है?

उपरोक्त सभी बातों पर जब हम शान्ति से धैर्यपूर्वक विचार करते हैं तो यह निर्णय होता है कि **पुरुषार्थ तो ज्ञानरूप ही होता है**, श्रद्धान या चारित्ररूप नहीं; और वह ज्ञानरूप पुरुषार्थ प्रत्यक्ष-प्रमाण ज्ञानसाधन से उन्होंने नहीं किया है।

इस अध्यात्म न्यायदीपिका में स्व. श्री वीरसागरजी मुनिराज ने **विषय** अर्थात् शुद्ध निश्चयनय के द्वारा निर्णीत एक निजध्रुव तत्त्व; **साधन** अर्थात् निज मतिज्ञान-श्रुतज्ञानरूप प्रत्यक्ष प्रमाणात्मक ज्ञानपर्याय; और **फल** अर्थात् अतींद्रिय आनंद का साक्षात् प्रामाण्यसहित अनुभवन-वेदन का बहुत विस्तार से अनेक उदाहरणों और चार्टों के माध्यम से वर्णन किया है और **शुद्धात्मानुभव करना सरल रीति से सिखाया है।**

जब आत्मज्ञान होगा तब ही सच्चे अर्थसे पूजा, अर्थ से पूजा, यात्रा, जप, तप, सामायिक इत्यादि कर सकते हैं, अन्यथा सब व्यर्थ है।

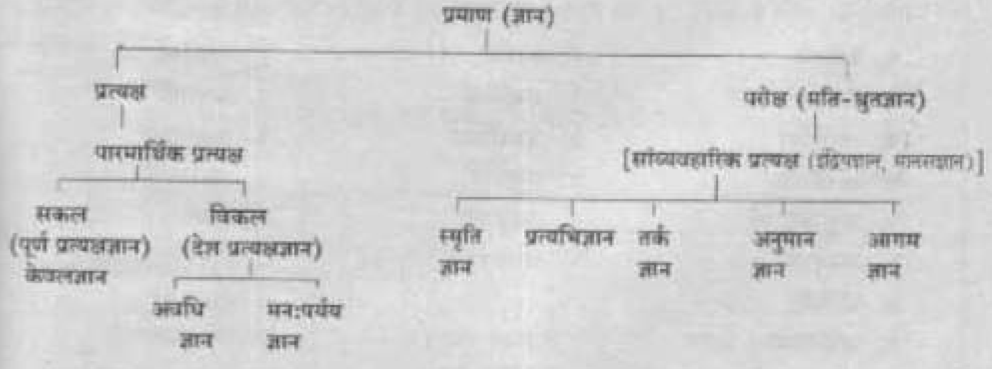
– सम्यक् अर्चना, पृ. २४

न्यायदीपिका-विषय वर्णन

न्यायदीपिका ग्रन्थ में प्रमाण-सामान्यप्रकाश, प्रत्यक्षप्रकाश और परोक्षप्रकाश नाम के तीन अध्याय हैं। **प्रमाण-सामान्यप्रकाश** नामवाले प्रथम अध्याय में २८ परिच्छेद (पैराग्राफ) हैं। आचार्यदेव प्रथम ही मंगलाचरण के बाद **प्रमाणनयैरधिगमः** सूत्र से प्रमाण नय के विवेचनरूप से ग्रन्थ का प्रारंभ करते हैं। उद्देश, लक्षणनिर्देश और परीक्षा की परिभाषा करते हुए आचार्यदेव अन्यमत कथित लक्षण की परिभाषा **'असाधारण धर्मवचन' सदोष सिद्ध करते हैं और प्रमाण का लक्षण कहते हैं। तत्पश्चात् अन्य मतों- बौद्ध, भाट्ट, प्राभाकर, नैयायिक, मीमांसक आदि द्वारा कहे गये प्रमाण के लक्षण का सयुक्तिक निराकरण करके 'सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है'** यह सिद्ध करते हैं।

बौद्धों ने प्रमाण का लक्षण-अविसंवादी ज्ञान को माना है; भाट्ट-मीमांसकों ने अनधिगत तथाभूतार्थ निश्चायक ज्ञान को प्रमाण माना है; प्राभाकर-मीमांसकों ने अनुभूति को प्रमाण माना है, (यहां यह ध्यान देने योग्य है कि जैनदर्शन में प्रयुक्त अनुभूति शब्द का अभिप्राय इससे भिन्न है) तथा नैयायिकों ने प्रमा के प्रति जो करण है उसे प्रमाण माना है। अन्य दूसरों के मतों में इन्द्रिय-व्यापार, कारक-साकल्य, सन्निकर्ष, ज्ञातृव्यापार आदि भी प्रमाण माने गये हैं। इसी प्रकार निर्विकल्प प्रत्यक्षवाद, शब्दाद्वैतवाद, शून्यवाद, अचेतनवाद, साकारज्ञानवाद, भूतचैतन्यवाद, ज्ञानपरोक्षवाद, आत्मपरोक्षवाद, ज्ञानांतरवेद्यवाद, स्वतः-प्रामाण्यवाद, योगाचार, चित्राद्वैत, माध्यमिक, सर्वथापरोक्ष, प्रत्यक्ष, अपूर्व-अर्थग्राही, स्मृतिप्रमोष, ब्रह्मवाद आदि अनेक प्रमाण माने गये हैं, जिनका विशेष निराकरण परीक्षामुखसूत्र तथा उसकी टीका प्रमेयकमलमार्तण्ड में मिलता है। कहने का अभिप्राय यह है कि यदि जैन भी **'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्'** से भिन्न प्रमाण मानते हैं तो उन्हें जैनाचार्य अन्य मत की श्रेणी में ही रख देंगे। इस ग्रन्थ में आये प्रमाण ज्ञान, प्रमाण की उत्पत्ति और प्रमाण की ज्ञप्ति की परिभाषायें हैं वे परीक्षामुखसूत्र तथा उसकी टीकायें प्रमेयरत्नमाला और प्रमेयकमलमार्तण्ड से पूर्णतः प्रमाणित सिद्ध होती हैं।

प्रत्यक्षप्रकाश नामवाले दूसरे अध्याय में भी २८ परिच्छेद (पैराग्राफ) हैं। आचार्य धर्मभूषणयति प्रत्यक्ष की **'विशद प्रतिभास'** परिभाषा करते हुए प्रमाण के भेद भी बतलाते हैं जो निम्नप्रकार हैं–



इस अध्याय के परिच्छेद क्रमांक १३, १५, १७, १८, १९ और २० ध्यान से अध्ययन करने योग्य हैं। यहाँ विशेष बात यह है कि **जो ज्ञान बिना इंद्रियों की सहायता के जानता है, स्पष्ट जानता है, निर्मल**

जानता है, विशद जानता है उसे प्रत्यक्ष कहा गया है। जो ज्ञान तीनों लोकों के समस्त पदार्थों को, उनकी त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों को एकसाथ प्रत्यक्ष जानता है वह केवलज्ञान है। वह पूर्ण विशद है।

स्पर्शन, रसना, घ्राण और कर्ण इंद्रिय से होनेवाले व्यंजनावग्रह ज्ञान को अव्यक्त कहा है। स्पर्शन, रसना, घ्राण, नेत्र, कर्ण तथा मन के द्वारा होनेवाले अर्थावग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ज्ञान को इंद्रिय प्रत्यक्ष व मानस प्रत्यक्ष कहा है। लोकव्यवहार में इन्हें सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। इनको अमुख्य प्रत्यक्ष, उपचार प्रत्यक्ष, और रूढ़ि से प्रत्यक्ष भी कहा गया है। **'आद्ये परोक्षम्'** सूत्र के अनुसार मति-श्रुत ज्ञानों को परोक्ष कहा है।

अवधिज्ञान का विषय मूर्तिक द्रव्य है, मनःपर्यय ज्ञान का विषय परमनोगतार्थ विषय है। देव अवधिज्ञान के द्वारा नीचे सातवें नरक तक देखते हैं तथा ऊपर अपने-अपने विमान की ध्वजा-दण्ड तक ही देखते हैं।

अवधिज्ञान के भेद

- देशावधि
  - जघन्य
  - अजघन्य उत्कृष्ट
  - उत्कृष्ट
- परमावधि
  - जघन्य
  - अजघन्य उत्कृष्ट
  - उत्कृष्ट
- सर्वावधि

अवधिज्ञान के दूसरी अपेक्षा से भेद

- देशावधि
  1. वर्धमान
  2. हीयमान
  3. अवस्थित
  4. अनवस्थित
  5. अनुगामी
  6. अननुगामी
  7. प्रतिपाति
  8. अप्रतिपाती
- परमावधि
  1. वर्धमान
  2. अवस्थित
  3. अनवस्थित
  4. अनुगामी
  5. अननुगामी
  6. अप्रतिपाती
- सर्वावधि
  1. अवस्थित
  2. अनुगामी
  3. अननुगामी
  4. अप्रतिपाती

मनःपर्ययज्ञान

- ऋजुमति
- विपुलमति

केवलज्ञान में सम्पूर्णरूप से वैशद्य है क्योंकि आत्ममात्र सापेक्षपना है, तथा इन्द्रियादि परपदार्थ की अपेक्षा नहीं है। यह ज्ञान सकल-पारमार्थिक-प्रत्यक्ष है।

अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान में भी आत्ममात्र सापेक्षपना है जिससे वे पुद्गल-रूपी द्रव्य को और मनोजनित विकल्परूप अल्पपर्यायों सहित स्पष्ट जानते हैं, अत: उन्हें भी विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि यहाँ पर अविशद ज्ञान को ही परोक्ष कहा गया है जैसा कि आगे तीसरे-परोक्ष प्रकाश नामवाले अध्याय के प्रथम परिच्छेद में भी कहा गया है। इसी की पुष्टि परीक्षामुखसूत्र के दूसरे अध्याय के तीसरे सूत्र '**विशदं प्रत्यक्षम्**' से तथा तीसरे अध्याय के पहले सूत्र '**परोक्षमितरत्**' से भी होती है।

अब हम यहाँ पर श्री स्व. वीरसागरजी मुनिराज के विशिष्ट चिन्तन से विद्वज्जगत को परिचित कराना आवश्यक समझते हैं। इस चिंतन के विश्लेषण से यह बात भी स्पष्ट हो जायेगी कि उन्होंने पहले कहे गये चार्ट नं. ७ में प्रमाण ज्ञान (आ) के ७ भेदों में मतिज्ञान-श्रुतज्ञान को (आ.५) के रूप में अलग से रखा है और उसे स्वार्थ, एकदेश, अतींद्रिय प्रत्यक्ष भी कहा है। वहीं पर यह भी लिखा है कि इन (आ.५) **मतिज्ञान-श्रुतज्ञान को इंद्रिय या मन अथवा प्रतीत्यन्तर की अपेक्षा नहीं है। कृपया चार्ट देखें।**

तत्त्वार्थसूत्र में प्रथम अध्याय के ११ वें सूत्र में 'आद्ये परोक्षम्' यह वचन है। इसका अर्थ है कि प्रथम दो अर्थात् मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्षज्ञान हैं। हम यह तो पहले कह ही चुके हैं कि स्पष्टज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं, न कि इंद्रियों के और मन के द्वारा होनेवाले ज्ञान को।

जब हम आत्मा को जानने में अर्थात् आत्मानुभूति करने में अपने मतिज्ञान या श्रुतज्ञान को उपयुक्त करते हैं, उस समय इंद्रियों और मन से कोई सहयोग नहीं लेते हैं, अर्थात् प्रत्यक्ष ही अपने ज्ञान से आत्मा को जान लेते हैं। यह ज्ञान बिना इंद्रियों और मन की सहायता के ही आत्मा को जान लेता है, इसलिये इसे अतींद्रिय और प्रत्यक्ष कहते हैं। हमारे द्वारा अपने इस मतिज्ञान या श्रुतज्ञान **साधन** से अपना त्रिकाली ध्रुवतत्त्व जो उस ज्ञानपर्याय का **विषय** बनता है वह प्रत्यक्ष जान लिया जाता है और तावत्काल में ही **अतींद्रिय आनन्द** का वेदन भी साक्षात् हो जाता है। हम उस आनंद के रस के **स्वाद का ज्ञान** भी उसी समय में ही कर लेते हैं। इसप्रकार **फल** की प्राप्ति भी हो जाती है; और हमारा यह आत्मा को अपने मति-श्रुतज्ञानरूप प्रमाण ज्ञान से जानना सत्य ही है; इस प्रकार विषय, साधन, फल (प्रमेय, प्रमाण, प्रमिति) और **प्रमाण का प्रामाण्य-** सभी एक साथ ज्ञात हो जाते हैं। आत्मानुभव करने की यह संक्षेप में विधि का वर्णन किया है। आगे विस्तार से कहेंगे। चार्ट देखें।

आत्मानुभूति का साधन-प्रमाण ज्ञान पर्याय

चार्ट

ज्ञेय	ज्ञान (प्रमाणात्मक-ज्ञानसाधन)	फल
निज ध्रुव ज्ञानानंद स्वभाव	निज ध्रुव ज्ञानानंद स्वभाव (जाना गया)	अतींद्रिय आनंद उपेक्षा (समभाव) — सम्यग्दर्शन, वीतरागता

यह कथन आगम, युक्ति, अनुमान आदि से भी सत्य है, इसे हम आगे लिख रहे हैं। स्व. श्री वीरसागरजी मुनिराज ने इसी प्रकार आत्मानुभूति गृहस्थदशा में प्राप्त की थी और फिर सीधे मुनिपद धारण करके स्वयं दीक्षित हुए थे। इस विधि को सत्य जानने और सत्य मानने के कारण ही उन्होंने चार्ट नं. ७ में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान साधन को (आ.५) के रूप में प्रत्यक्ष और अतींद्रिय लिखा है और प्रमाण ज्ञान कहा है।इसका समर्थन आचार्य अकलंक देव एवं आचार्य प्रभाचन्द्र ने भी किया है। देखो न्यायकुमुदचंद्र व प्रमेयकमलमार्तण्ड।

आगम प्रमाण के रूप में - पं. रामजी भाई द्वारा की गई तत्वार्थसूत्र टीका-पृष्ठ ४८, ४९, ५०, ५२, ५६, ७१ देखिये।

१. सम्यक्-मतिज्ञान यह यथार्थतया निश्चय कर सकता है कि अपने को तथा पर को **सम्यग्दर्शन है।** पृ. ४८

२. जब सम्यग्दृष्टि जीव अपने उपयोग में युक्त होता है तब वे **मतिज्ञान** और **श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष होते हैं।** पृ. ४९

३. श्रुतज्ञान के तीन प्रकार हो जाते हैं: (१) सम्पूर्ण परोक्ष, (२) आंशिक परोक्ष, (३) परोक्ष बिलकुल नहीं किन्तु **प्रत्यक्ष** पृ. ४९.

४. निश्चयभावश्रुतज्ञान शुद्धात्मा के सन्मुख होने से सुख संवित्ति (ज्ञान) स्वरूप है। वह ज्ञान... **निर्विकल्प** है। उसे **'आत्मज्ञान'** शब्द से पहचाना जाता है।... **उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है।** पृ. ४९.

५. इस सूत्र में **(आद्ये परोक्षम्)** जो श्रुत को परोक्ष कहा है सो वह सामान्य कथन है, और ऊपर जो **भावश्रुतज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है सो विशेष कथन है।** पृ. ४९.

६. यदि इस सूत्र में उत्सर्ग कथन न होता तो मतिज्ञान को परोक्ष नहीं कहा जाता। यदि मतिज्ञान परोक्ष ही होता तो तर्कशास्त्र में उसे **सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष** क्यों कहते हैं? पृ. ४९-५०.

७. इसलिये जैसे विशेष कथन में उस **मतिज्ञान को प्रत्यक्षज्ञान** कहा जाता है उसी प्रकार निजात्मसन्मुख **भावश्रुतज्ञान को विशेष कथन में** (यद्यपि वह केवलज्ञान की अपेक्षा से परोक्ष है तथापि) **प्रत्यक्ष कहा जाता है।** पृ. ५०.

८. **मतिज्ञान के होने में इंद्रिय मन निमित्त होता है,** ऐसा जो इस (१४ वें) सूत्र में कहा है, सो यह **परद्रव्यों के होनेवाले ज्ञान की अपेक्षा से कहा है-** ऐसा समझना चाहिये। भीतर स्वलक्ष में मन-इंद्रिय **निमित्त नहीं हैं।** पृ. ५२.

९. इंद्रियों का धर्म तो यह है कि वे स्पर्श, रस, गंध, वर्ण को जानने में निमित्त हों, आत्मा में वह नहीं है, इसलिये स्वलक्ष में इंद्रियां निमित्त नहीं हैं। मन का धर्म यह है कि वह अनेक विकल्पों में निमित्त हो। वह विकल्प भी यहां (स्वलक्ष) में नहीं है। जो ज्ञान इंद्रियों तथा मन के द्वारा प्रवृत्त होता था वही ज्ञान निजानुभवन में वर्त रहा है, इस प्रकार इस मतिज्ञान में मन-इंद्रियां निमित्त नहीं हैं। **यह ज्ञान अतीन्द्रिय** है। पृ. ५२ **(रहस्यपूर्ण चिट्ठी** पृ. ४ से ७)

१०. प्रमाण के दो प्रकार हैं- (१) स्वार्थ प्रमाण (२) परार्थ प्रमाण। स्वार्थप्रमाण ज्ञानस्वरूप है और परार्थप्रमाण वचनरूप है। श्रुत के अतिरिक्त चार ज्ञान स्वार्थप्रमाण हैं। **श्रुतप्रमाण स्वार्थ-परार्थ दोनों रूप है।** पृ.७१.

११. दानेन भोगं दयया सुरूपं ध्यानेन मोक्षं तपसेष्टसिद्धिम्।
सत्येन वाक्यं प्रशमेन पूजां, वृत्तेन जन्माग्रमुपैति मर्त्यः॥

– आचार्य पूज्यपाद, जैनेन्द्र व्याकरण

१२. धीबलायत्तवृत्तित्वाद् ध्यानं तज्ज्ञैर्निरुच्यते।
यथार्थमभिसन्धानादपध्यानमतोऽन्यथा॥११॥

महापुराण पर्व २१, श्लोक ११.

१३. मोक्षपाहुड में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं-

भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ णाणिस्स।
तं अप्पसहावठिए ण हु मण्णइ सो दु अण्णाणी॥गा. ७६॥

अर्थ – भरतक्षेत्र में जो दुःखमा-अर्थात् पंचमकाल है उसमें ज्ञानी जीवों के धर्म्यध्यान होता है। उसको जो कोई आत्मा के स्वभाव में स्थित नहीं मानता है वह अज्ञानी है।

१४. ऐसे कहे हुए प्रकारसे अल्पमति-श्रुतज्ञान से भी ध्यान होता है। द्र. सं. गाथा ५७ और गा. ५ की टीका देखें।

१५. समयसार- गाथा १९९- तात्पर्यवृत्ति में श्रीजयसेनाचार्यजी लिखते हैं-

कोई ज्ञानी साधु इस समय पंचमकाल में यह प्रवर्तमान आत्मस्वरूप प्रत्यक्ष ही परोक्षज्ञान में याने क्षयोपशम ज्ञानमें दिख गया- ऐसा कहेगा। आत्मा स्वसंवेदन की अपेक्षा से प्रत्यक्ष है।

१६. यः सिद्धात्माः परः सोऽहं योऽहं स परमेश्वरः।
मदन्यो न मयोपास्यो मदन्येन न चाप्यहम्॥४५॥ ज्ञानार्णव, प्रकरण ३२॥

कहने का तात्पर्य यह है कि इस न्यायदीपिका के दूसरे अध्याय में जो प्रत्यक्ष प्रमाण का वर्णन किया है उसमें हमारा जो मति-श्रुतज्ञान निजध्रुव-शुद्ध-ज्ञानदर्शन-आनंदरूप त्रिकाली तत्व को विषय बनाकर उसे ध्यान का ध्येय बनाता है वह हमारा मतिश्रुतज्ञान उस काल में प्रत्यक्ष प्रमाण (आ.५) ही है। वह नय-ज्ञानपर्याय नहीं है और न परोक्ष प्रमाण है।

इस दूसरे अध्याय में आगे सर्वज्ञ की सिद्धि अनुमान द्वारा की गई है। सूक्ष्म, अंतरित, और दूरवर्ती पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं क्योंकि वे अनुमेय हैं, जैसे अग्नि आदि। इसी प्रकार दोष और आवरण की हानि के द्वारा सर्वज्ञ को निर्दोष सिद्ध किया है और इसीलिए उनके वचन युक्तिशास्त्र से अविरोधी बतलाये हैं।

तीसरे परोक्षप्रकाश नामवाले अध्याय में परोक्षप्रमाण का 'अविशद प्रतिभास' लक्षण बतलाते हुए उस परोक्ष प्रमाण के भेद बताये हैं। परोक्ष के अन्य लक्षणों का निराकरण करते हुए स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, और आगम ये भेद गिनाये हैं, तथा इनकी यथोचित परिभाषायें दी हैं जो परीक्षामुख सूत्र से पूरी तरह मिलती हैं। इस अध्याय में ८९ परिच्छेद (पैराग्राफ) हैं। पुराने संस्करण में १६ तथा १७ नंबर का परिच्छेद दो बार लिखा जाने से अंत में परिच्छेद संख्या ८७ ही रह गई थी जो इस संस्करण में सुधार दी गई है। इस भूल का कारण यह था कि जिस अन्य प्रति के आधार से पिछला संस्करण (संस्कृत मात्र) तैयार किया गया था उसी में वह भूल थी जो आगे चली आई।

यहाँ पर हम पुनः अपने विषय पर आने के पहले यह कह देना चाहते हैं कि नयों का वर्णन इस न्यायदीपिका के इस तीसरे अध्याय परोक्ष प्रकाश में सबसे अन्त में परिच्छेद क्रमांक ८४ में आया है जो परिच्छेद ८८ तक गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि नय प्रमाण से भिन्न तो हैं ही किन्तु वे परोक्षज्ञान भी हैं। जब

आत्मा प्रत्यक्ष है और प्रमाण ज्ञान जो आत्मा को जानते हैं वे भी प्रत्यक्ष होते हैं तो **आत्मा प्रत्यक्ष प्रमाण ज्ञानों का ही विषय बनता है,** परोक्ष नय ज्ञानों का विषय नहीं बन सकता है। **नियमसार में कलश २०८ में श्री पद्मप्रभमलधारिदेव** मुनिराज लिखते हैं –

विकल्पोपन्यासैरलमलममीभिर्भवकरैः।
अखण्डानन्दात्मा निखिलनयराशेरविषयः॥
अयं द्वैताद्वैतो न भवति ततः कश्चिदचिरात्।
तमेकं वन्देऽहं भवभयविनाशाय सततम्॥२०८॥

अर्थ – जो अखण्ड आनंद स्वरूप है वह यह आत्मा समस्त नयराशि का **अविषय** है, अतः भव के करनेवाले इन विकल्प कथनों से बस होओ, बस होओ...।

ऐसा कहकर भी हम जिनवाणी को समझने में नयज्ञान अति आवश्यक ही मानते हैं, नयों की महिमा किंचित् भी कम नहीं करना चाहते हैं। हमारे अनुभव के लिये त्रिकाली ध्रुव का निर्णय तो हमें निश्चयनय ही करके देकर स्वयं शान्त हो जाता है।

एक चर्चा का विषय यह भी है कि नयचक्र ग्रन्थों में तो यह कहा गया है कि नयों की उत्पत्ति प्रमाण से होती है, और वे नय न प्रमाण से भिन्न ही हैं, न अभिन्न ही हैं, किन्तु वे एकदेश हैं- प्रमाण के अंश हैं। इसप्रकार की चर्चा का कारण यह है कि जानने के साधनरूप ज्ञानपर्याय को भी प्रमाण और नय कहते हैं, तथा उनके द्वारा जाने गये विषय को भी प्रमाण और नय कहा जाता है, जो एक अपेक्षा से उपचार कथन ही हुआ। **तत्त्वार्थसूत्र के सूत्र 'प्रमाणनयैरधिगमः' में जिस प्रमाण और नय की चर्चा है वह जानने के साधनरूप ज्ञानपर्याय की चर्चा है, विषय की नहीं।** यही न्यायदीपिका तथा परीक्षामुख, प्रमेयरत्नमाला, प्रमेयकमलमार्तण्ड, श्लोकवार्तिक, अष्टसहस्री आदि न्याय के ग्रन्थों में जिस प्रमाण की चर्चा की गई है वह सम्यग्ज्ञानरूप ज्ञानपर्याय की चर्चा है। श्लोकवार्तिक भाग २/३२१ में तो यह कहा गया है कि नय प्रमाण से या अन्य किसी से उत्पन्न नहीं होते हैं, वे तो स्वयं ही उत्पन्न होते हैं तथा उनकी योनि भिन्न है।

न्यायग्रन्थों का प्रयोजन

एक अन्य भी मिथ्या धारणा लोगों में प्रचलित है कि न्यायग्रन्थों में तो अन्यमत-मतान्तरों का केवल खण्डन और स्व-मत मण्डन किया गया है, अतः हमें उनका स्वाध्याय करने की विशेष आवश्यकता नहीं है; हमें तो केवल व्रतादि धारण करके अथवा केवल अध्यात्मग्रन्थों का मुख्यरूप से श्री समयसार का ही स्वाध्याय करने में अपना जीवन व्यतीत करना चाहिये। फलस्वरूप देखने में भी आता है कि अधिकांश केवल व्रतादि धारण करनेवालों का वृद्धावस्था का जीवन बोझा के समान होकर नीरस और अर्थहीन हो जाता है। इसी प्रकार केवल अध्यात्मग्रन्थों का अभ्यास करनेवालों में से अधिकांश लोग केवल दैनिक नियमित चर्चा मात्र से सन्तुष्ट हो जाते हैं, उनके भौतिक जीवन में कहीं अतीन्द्रिय आनंद के सुगंध की महक नहीं दिखाई देती है। इस प्रकार उक्त दोनों प्रकार के लोग अपनी-अपनी रुचि की क्रियायें मात्र अपनाकर अतीन्द्रिय आनंद के झरने के किनारे पर आकर भी खाली हाथ ही-प्यासे ही वापिस लौट जाते हैं। इस न्याय-ज्ञान से रहित लोगों के जीवन में केवल क्रियाओं की मुख्यतारूप व्यवहाराभास ही पनपता दिखाई देता है।

न्यायग्रन्थों में वास्तव में अन्यमत खण्डन की ही चर्चा की गई है; किन्तु वे **अन्यमत की मान्यतायें जैसा कि पीछे कह आये हैं, जैन मिथ्यादृष्टियों** में भी भरी हुई हैं। ऐसे जैन भी चार्वाक, बौद्ध, वेदान्ती, सांख्य, नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसक आदि मतों की मान्यतावाले ही हैं भले ही वे सच्चे देव को पूजते हों,

सच्चे गुरु को पूजते हों और सच्चे शास्त्रों को भी पढ़ते हों। ये सभी मत की मान्यतायें तो मिथ्यादृष्टियों में पाई जाती हैं, वे चाहे किसी भी धर्म को माननेवाले कुल या जाति में पैदा हुए हों। यह कथन पं. भागचन्दजी छाजड़ ने सत्तास्वरूप में विस्तार से किया है। जब हमारे जैन लोगों में अन्यमत की मान्यतायें पाई जाती हैं तो इस न्यायदीपिका जैसे न्यायग्रन्थ का स्वाध्याय करके हमें सर्वप्रथम अपनी अन्यमतावलम्बियों जैसी मान्यतायें अवश्य ही दूर करनी चाहिये।

मुनिराज स्व. श्री वीरसागरजी ने इस न्यायदीपिका के द्वारा वही शुद्धात्मा के अनुभव का सरल, संक्षिप्त, और मधुमार्ग दिखाया है जो अध्यात्मग्रन्थों में राजमार्ग के रूप में प्रस्तुत किया गया है। हमारा निवेदन राजमार्ग से किंचित् भी दूर होने का नहीं है। जैसे श्री सम्मेदशिखरजी तीर्थराज की पहाड़ की यात्रा से थककर लौटनेवाले साहसी यात्री शीघ्र ही तलहटी निवासस्थान पर पहुंचने के लिये छोटे-छोटे सीधे रास्ते अपनाकर प्रसन्नता-आनंद अनुभव करते हैं; उसी प्रकार इस न्यायदीपिका में उन्होंने वे सीधे, छोटे, सरल, शीघ्रता से अपने अखण्ड आनंदधाम तक पहुंचकर अतींद्रिय सुख भोगने की अनुपम कला सिखलानेवाले पगडंडीरूप पथ दिखाये हैं, जिनके द्वारा हम अपने निजध्रुव शुद्ध-अखण्ड-ज्ञायक-ज्ञानदर्शन-आनन्द स्वरूप आत्मा का प्रत्यक्षप्रामाण्य- सहित अनुभव रस की रसायन पीकर तृप्त होकर अनंतकाल की विषय-कषायों की थकान से तथा मिथ्यात्व की महामदरूपी उन्मत्तदशा से रहित होकर चिरकाल के लिये सुखी बन सकते हैं। वही श्री समयसार में एवं अन्य ग्रंथों में भी कहा है- देखिये-

आगम-उद्धरण

इस ज्ञान में ही रत रहो, संतुष्ट नित इसमें रहो।
बस तृप्त भी इसमें रहो, तो परमसुख को प्राप्त हो॥ स.सा. २०६॥
मोक्ष पथ में थाप निजको, चेतकर निजध्यान धर।
निज में ही नित्य विहार कर, परद्रव्य में न विहार कर॥ स.सा.४१२॥
विरहित करम नोकरम से, निज आत्म के एकत्व को।
निज आत्मा को स्वयं ध्यावें, सर्व संग विमुक्त हो॥ स.सा. १८८॥
ज्ञानदर्शनमय निजातम को, सदा जो ध्यावते।
अत्यल्प काल में स्वकाल में, वे सर्व कर्म विमुक्त हों॥ स.सा. १८९॥
मैं एक हूँ मैं शुद्ध निर्मम, ज्ञानदर्शन पूर्ण हूँ।
थित लीन निज में ही रहूँ, सब आस्रवों को क्षय करूँ॥ स. सा. ७३॥
जो भव्यजन संसार सागर पार होना चाहते।
वे कर्म ईंधन दहन निज शुद्धातमा को ध्यावते॥ मोक्षपा. २६॥
चतुर्गति से मुक्त हो यदि चाहते हो सुख सदा।
तो करो निर्मल भाव से निज आत्मा की भावना॥ भावपा. ६०॥
ज्ञानी विचारें इस तरह यह चिन्तवन उनका सदा।
कैवल्य दर्शन ज्ञान सुख शक्ति स्वभावी हूँ सदा। नि.सा. ९६.॥
पर का नहीं, ना मेरे पर, मैं एक ही ज्ञानात्मा।
जो ध्यान में इस भांति ध्यावे, है वही शुद्धात्मा॥ प्रव.सा. १९१॥

यह जान जो शुद्धात्मा ध्यावें सदा परमात्मा।
दुठमोह की दुर्ग्रन्थि का भेदन करें वे आत्मा॥ प्रव. सा. १९४॥

डा. हुकुमचंद भारिल्लकृत –चौबीस तीर्थंकर वंदना से→

श्री आदिनाथ अनादि मिथ्या मोह का मर्दन किया।
आनन्दमय ध्रुवधाम निज भगवान का दर्शन किया॥
निज आतमा को जानकर निज आतमा अपना लिया।
निज आतमा में लीन हो निज आतमा को पा लिया॥१॥

जिन अजित जीता क्रोध रिपु निज आतमा को जानकर।
निज आतमा पहिचानकर निज आतमा का ध्यान धर॥२॥

रतिराग वर्जित आतमा ही लोक में आराध्य है।
निज आतमा का ध्यान ही बस साधना है साध्य है॥७॥

पाया परमपद आपने निज आतमा पहिचानकर।
निज आतमा को जानकर निज आतमा का ध्यान धर॥२०॥
जो रागद्वेष विकारवर्जित, लीन आतम ध्यान में।
जिनके विराट् विशाल निर्मल, अचल केवलज्ञान में।
युगपद् विशद् सकलार्थ झलकें, ध्वनित हों व्याख्यान में।
वे वर्धमान महान जिन, विचरें हमारे ध्यान में॥

बारह भावना से (डा. भारिल्लकृत)→

हैं हेय आस्रवभाव सब श्रद्धेय निज शुद्धातमा।
प्रिय ध्येय निश्चय ज्ञेय केवल श्रेय निज शुद्धातमा॥
इस सत्य को पहिचानना ही भावना का सार है।
ध्रुवधाम की आराधना आराधना का सार है॥७॥

मैं ध्येय हूँ श्रद्धेय हूँ मैं ज्ञेय हूँ मैं ज्ञान हूँ।
बस एक ज्ञायकभाव हूँ मैं मैं स्वयं भगवान हूँ।
यह जानना पहिचानना ही ज्ञान है श्रद्धान है।
केवल स्वयं की साधना आराधना ही ध्यान है॥८॥

निज आतमा के भान बिन है निर्जरा किस काम की।
निज आतमा के ध्यान बिन है निर्जरा बस नाम की॥९॥

जब मैं स्वयं ही ज्ञेय हूँ, जब मैं स्वयं ही ज्ञान हूँ।
जब मैं स्वयं ही ध्येय हूँ, जब मैं स्वयं ही ध्यान हूँ॥११॥

शुद्धातमा की साधना आराधना का मर्म है।
निज आतमा की ओर बढ़ती भावना ही धर्म है।
वैराग्य जननी भावना का एक ही आधार है।
ध्रुवधाम की आराधना आराधना का सार है॥१२॥

सागार या अनगार हो, पर आतमा में वास हो।
जिनवर कहें अतिशीघ्र ही, वह परमसुख को प्राप्त हो॥ योगसार गा. ६५॥
यह जान कर शुद्धात्म को, ध्यावे सदा परमात्मा।
सागार या अनगार हो, क्षय करे मोह दुर्ग्रंथि का॥ प्रव.सार- गा. १९४॥
परमानंदसंयुक्तं, निर्विकारं निरामयम्।
ध्यानहीना न पश्यन्ति, निजदेहे व्यवस्थितम्॥ परमानंदस्तोत्र-१॥
आनन्दं ब्रह्मणो रूपं, निजदेहे व्यवस्थितम्।
ध्यानहीना न पश्यन्ति, जात्यन्धा इव भास्करम्॥ प. स्तो. ९॥
सद्ध्यानं क्रियते भव्यैः, मनो येन विलीयते।
तत्क्षणं दृश्यते शुद्धं, चिच्चमत्कारलक्षणम्। प. स्तो. १०॥
निर्विकल्पसमुत्पन्नं, ज्ञानमेव सुधारसम्।
विवेकमंजुलिं कृत्वा, तत् पिबन्ति तपस्विनः॥ प.स्तो. ५॥
इतीदं सर्वमालोच्य, सौस्थ्ये दौःस्थ्ये च शक्तितः।
आत्मानं भावयेन्नित्यं, रागद्वेषविवर्जितम्॥ स्वरूप-संबोधन १६॥
बोधिः समाधिः परिणामशुद्धिः, स्वात्मोपलब्धिः शिवसौख्यसिद्धिः।
चिन्तामणिं चिंतितवस्तुदाने, त्वां वंद्यमानस्य ममास्तु देवि॥ भावना द्वात्रिंशतिका. ११॥

आत्मानुभव की विधि

कृपया इसे धैर्यपूर्वक पढ़ें। अब हम आपको छः द्रव्यों के ज्ञान के माध्यम से अतींद्रिय आनन्द प्रगट करने की कला सीखने की ओर ले चलते हैं :

१. प्रथम तो ६ द्रव्य, ७ तत्त्व, ९ पदार्थ, निश्चय-व्यवहारनय का ज्ञान, स्याद्वाद-अनेकान्त, उपादान-निमित्त का ज्ञान आदि प्राथमिक जिनागम का ज्ञान जैन सिद्धान्त प्रवेशिका के माध्यम से करना आवश्यक है। जिनागम का वस्तुनिष्ठ विज्ञानरूप अध्ययनपद्धति से अध्ययन होना चाहिए।
२. ६ कारक और ४ अभाव के लक्षण-जानना चाहिये।
३. ६ द्रव्यों के सामान्य और विशेष गुण तथा उनकी अर्थपर्याय, व्यंजनपर्याय, विकारी पर्याय, निर्मल पर्याय, आंशिक निर्मल पर्याय, समानजातीय पर्याय, असमानजातीय पर्याय आदि का ज्ञान कीजिए।
४. १४ गुणस्थान, १४ मार्गणा और १४ जीव-समास का भी ज्ञान होना चाहिये।
५. छह द्रव्यों में से जीव द्रव्य मात्र को अलग करके उसका विचार करें।
६. उन सभी जीवों-अनंत जीवों में से अपने निज असंख्यात प्रदेशी अस्तित्वगुण आदि सामान्य गुणवाले तथा ज्ञानादि विशेष गुणवाले जीव द्रव्य को विचार में- ज्ञान में ले लीजिए।
७. अब उस अपने जीव द्रव्य में से अपना एक अनंतगुणों का अभेद अखण्ड पिण्ड ज्ञान में ले लीजिए। यहांपर-द्रव्य और अपनी पर्यायें गौण हो गई हैं।
८. यहां अपने निजध्रुव चिदानन्द आत्मा के बारे में होनेवाले संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय, अज्ञान दूर कीजिए।
९. यदि आपने अपने निजध्रुव के संबंध में अपने संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और अज्ञान दूर कर लिये हैं तो अब आपको विषय के बारे में भूल नहीं है, आपका विषय का निर्णय सत्य है।

१०. क्या आपको परोक्ष ज्ञान साधन (स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगम, नय-जल्प आदि) तथा प्रत्यक्ष ज्ञान साधन (मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञान) के लक्षण मालूम हैं? यदि नहीं मालूम हैं तो उन्हें तथा उनके भेद-प्रकार आदि जान लीजिए।

११. यदि आपको परोक्षज्ञान साधन और प्रत्यक्षज्ञान साधन के लक्षण मालूम हैं तो आपका साधन का निर्णय सत्य है, अब आप साधन से विषय को जानिये। प्रयोग कीजिए, अनुभव कीजिये।

१२. आपको कुछ उलझन-सी हो रही है क्योंकि आपने प्रत्यक्ष ज्ञान साधन का प्रयोग ही नहीं किया है, या परोक्षज्ञान साधनों का क्रम-क्रम से तुरंत ही प्रयोग करते जा रहे हैं या किसी अन्य विचार में उलझ गये हैं?

१३. अब आप केवल श्रुतज्ञान प्रमाणसाधन या मतिज्ञान प्रमाणसाधन से जो दोनों ही प्रत्यक्ष ज्ञान साधन हैं उस से अभी ही निजध्रुव शुद्धज्ञायक को जानो। यहां पर आपको आसन लगाकर, आँखें बंद करके, पंच-परमेष्ठी- णमोकार मंत्र पढ़ते हुए ध्रुवतत्त्व के कुछ गुणों के आधार पर अखण्ड आत्मा जानने के लिये प्रत्यक्ष ज्ञान साधन का प्रयोग करना है।

१४. पुनः आप पूर्व (१३) में कथित अवस्था में आवें, प्रत्यक्षज्ञान साधन का निजध्रुव विषय पर प्रयोग करें- अनुभव करें। देख लो आपको अनुभव हो गया है। अब आप यथोचित व्रत धारण कर सकते हैं।

(प्रमाण ज्ञान के प्रयोग की कला - उदाहरण)

आत्मानुभव की प्रमाणता

हमें अनुभव हो गया है- यह हम कैसे स्वीकार करें?

१. अभी-अभी जब आपने ऊपर कहे गये क्रमानुसार १ से १४ तक बताये गये सभी आदेश वास्तव में माने हैं तो आपको अनुभव अवश्य हुआ है,
आप सम्यग्दृष्टि ही हैं,
शुद्धोपयोगी ही हैं,
सम्यग्ज्ञानी ही हो गये हैं,
सम्यक्चारित्र का अंश भी प्रकट हो चुका है,
अतींद्रिय आनंद भी आपने भोग लिया है,
आप चतुर्थ गुणस्थानवर्ती बन गये हैं,
आपके सभी गुणों में आंशिक शुद्धि प्रकट हो चुकी है,
आपका संसार का किनारा आ गया है,
आप मोक्षमार्गस्थ हैं,
आपको संवर प्रगट हो गया है,
आपने धर्म का जहाज पकड़ लिया है।

२. अभी-अभी जब आपने आत्मा का अनुभव किया है- याद करो उस क्षण को,
उस समय आप विकल्परूप चिंतन नहीं कर रहे थे;
किसी की निन्दादिरूप अशुभभाव नहीं कर रहे थे,
किसी का स्तवन आदि रूप शुभभाव नहीं कर रहे थे।
पारिशेष न्यायसे आपको शुद्ध भाव ही था।

३. अभी-अभी जब आपने प्रत्यक्ष प्रामाण्यसहित निजध्रुव शुद्धात्मा का अनुभव किया था, तब कोई भी विकल्प-शुभ या अशुभभाव नहीं किया तो अवश्य ही शुद्धोपयोग किया- निराकुलदशा हुई है, निर्विकल्पता हुई है।

४. अनुभव के समय में जब आपने निजध्रुव शुद्धात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्षज्ञान से जाना है, तब आपको बुद्धिपूर्वक अन्य किसी परवस्तु की इच्छा, चाह, आसक्ति, मोह, राग या द्वेष नहीं था।

५. अनुभव के समय में जब आपने निजध्रुव शुद्धात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से जाना है,
तब उसी समय में आपको सम्यक् आनंद मिल रहा था,
सम परिणाम था,
वीतराग परिणाम था,
मोहक्षोभरहित परिणाम था;
आपको किसी भी परद्रव्य-गुण-पर्याय के संबंध में कर्तृत्वभाव नहीं था,
निजद्रव्य-गुण-पर्याय के संबंध में कोई कर्तृत्वभाव नहीं था,
द्रव्यकर्म-नोकर्म-भावकर्म के बारे में कोई कर्तृत्वभाव नहीं था,
पंचेंद्रियों तथा उनके विषयों के संबंध में कोई कर्तृत्व या भोक्तृत्वभाव नहीं था,
देव-गुरु-शास्त्र-आप्त-आगम-पदार्थ के संबंध में कोई कर्तृत्व-भोक्तृत्व-एकत्व- स्वामित्व-ज्ञातृत्व परिणाम नहीं था।
आपका उपयोग केवल निजध्रुवशुद्धात्मा को मात्र जान रहा था।
आप नयपक्षातीत, विकल्पातीत हो ही गये थे।

६. उस अनुभव के समय में आप अपनी प्रमाणात्मक मति-श्रुतज्ञान पर्याय के द्वारा निजध्रुव शुद्ध आत्मा-अनंत गुणों के अभेदपिण्ड को जान रहे थे;
यह भी जान रहे थे कि मैं अपनी आत्मा को जान रहा हूँ,
उस काल में अतींद्रिय आनंद को भी जान रहे थे;
समताभाव को भी जान रहे थे;
यह भी जान रहे थे कि उस समय में कोई विकल्प नहीं हो रहा था;
यह भी जान रहे थे कि कोई राग-द्वेष नहीं हो रहा है;
यह भी जान रहे थे कि कोई हेय-ज्ञेय-उपादेय संबंधी, भक्ष्य-अभक्ष्य संबंधी, परिग्रहादि संयोग संबंधी, इस भव, पर-भव-संबंधी कोई भाव नहीं हो रहा है;
यह भी जान रहे थे कि कोई प्रमाण-नय-निक्षेप का विकल्प नहीं हो रहा है।
इससे सिद्ध हुआ कि आप आत्मानुभूति ले रहे थे।

७. जब आप अपने ध्रुव शुद्धात्मा का प्रथम मिलनरूप अनुभव कर रहे थे तब आपको अपूर्व शान्ति थी,
अपूर्व आनंद का वेदन था क्योंकि आप पुन: उस अवस्था को याद करके उसी अवस्था को प्राप्त करना चाह रहे हैं।
अब आपको संसार के सभी रस बेरस लगने लगे हैं। आपको स्वपर का सच्चा भेदज्ञान प्रगट हो गया है।

यहां पर कोई प्रश्न कर सकता है कि यह ऊपर लिखी सभी बातें तो आप शास्त्रों में पढ़कर या सुनी-सुनाई बातें कर रहे हैं। हमें तो आप हमारे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, अतींद्रिय आनंद, वीतरागता की परीक्षा करके दिखलाईये।

आत्मानुभव की परीक्षा

अब मैं आपके पूछने पर आपके द्वारा ऊपर प्रश्न में कही गई पांचों बातों की परीक्षा कराता हूं। यहीं यह ख्याल में रखें कि अभी आप अपनी ही परीक्षा कर रहे हैं, वक्ता या लेखक या उपदेशक की नहीं। आपको ईमानदारी से परीक्षक एवं परीक्ष्य स्वयं ही बनना है।यह समझ लेना कि यह न्याय विज्ञान-विद्यापीठ-परीक्षाबोर्ड का आत्मानुभूति-विषय का प्रश्नपत्र है। हम स्वयं ही विद्यार्थी हैं, स्वयं ही निरीक्षक हैं, स्वयं ही परीक्षक हैं, स्वयं ही प्रमाणपत्र देनेवाले हैं, स्वयं ही प्रमाणपत्र लेनेवाले हैं, स्वयं ही उत्तीर्ण या अनुत्तीर्ण होनेवाले हैं। इस प्रकार यह हमारी ज्ञान पर्याय ही स्वयं अभेद स्वयंचालित विद्यापीठ है। इस पद्धति से विचार कर आगे बढ़ना है।

१. अनुभव के काल में आपको जो आत्मा जानने में-देखने में आया है, आपने कोई वस्तु वैसी कभी कहीं पर जानी-देखी या अनुभव ही नहीं की है। अर्थात् आपका आत्मा अनुपम है, अकथनीय है, वचन अगोचर है। अपने आत्मा का अनुभव (आ ५) मति-श्रुत प्रत्यक्ष प्रमाण ज्ञान से करने के बाद अब आपको निजध्रुव शुद्ध ज्ञानानंद आत्मा की प्रतीति जैसी हो गई है वैसी प्रतीति-श्रद्धान पहले कभी नहीं हुआ था। अर्थात् आपको निश्चय सम्यग्दर्शन हो गया है।

२. आपने जिस ज्ञान साधन से अपने आत्मा का ज्ञान किया है वह (आ २) केवलज्ञान नहीं था,
(आ ३) मनःपर्ययज्ञान नहीं था,
(आ ४) अवधिज्ञान नहीं था,
परपदार्थों को जाननेवाला परोक्ष (आ १) मतिज्ञान-परोक्ष (आ १) श्रुतज्ञान नहीं था,
सांव्यवहारिक इंद्रिय प्रत्यक्षज्ञान नहीं था;
स्पर्शन इंद्रियज्ञान, रसना इंद्रियज्ञान, घ्राण इंद्रियज्ञान, चक्षु इंद्रियज्ञान, कर्ण इंद्रियज्ञान नहीं था;
अवग्रह-ईहा-अवाय-धारणाज्ञान नहीं था;
स्मृतिज्ञान नहीं था,
प्रत्यभिज्ञान नहीं था,
तर्कज्ञान नहीं था,
अनुमान ज्ञान नहीं था,
आगमज्ञान नहीं था,
मनोमतिजनित ज्ञान नहीं था,
नयजल्पज्ञान भी नहीं था।
उपरोक्त कोई भी प्रत्यक्ष या परोक्ष ज्ञान नहीं था। वह तो प्रत्यक्षमतिज्ञान या प्रत्यक्षश्रुतज्ञान प्रमाण रूप था।
अर्थात् वह सम्यग्ज्ञान ही था।

३. अपने आत्मा का अनुभव (आ ५) मति-श्रुत प्रत्यक्ष प्रमाण ज्ञान साधन से करने के समय जैसा साम्यभाव, समता, शांति का वेदन हुआ है, राग-द्वेष- मिथ्यात्वरहित शांति आई है वैसी पहिले कभी नहीं हुई। अर्थात् आंशिक सम्यक् चारित्र प्रगट हो गया है।

४. अपने आत्मा का अनुभव मति-श्रुत प्रत्यक्ष प्रमाणज्ञानसाधन से करते समय जैसा आनंद आया है-
वैसा आनंद किसी कंठकी-वाद्यकी- कंठवाद्यकी ध्वनि सुनने से नहीं आया,
वैसा आनंद किसी वर्ण-आकार, रूप-चित्र-कलाकृति आदि देखने से नहीं आया;
वैसा आनंद किसी भी गंध से नहीं आया;

वैसा आनंद किसी भोजन के रस से या साहित्य को पढ़ने के रस से नहीं आया, या किसी अन्य भोग को भोगने से नहीं आया,

वैसा आनंद किसी भी ८ प्रकार के स्पर्श के विभिन्न भेदों से- भोगों से नहीं आया;

वैसा आनंद शरीर की किसी भी अवस्था से नहीं आया;

वैसा आनंद धन-सम्पत्ति-वैभव आदि किसी भी पर पदार्थ से नहीं आया;

वैसा आनंद अपनी किसी भी विकारी पर्याय या अविकारी पर्याय या भोग या मन के विकल्प से नहीं आया।

अर्थात् यह सम्यक् अतींद्रिय आनंद ही था।

५. अपने निजध्रुवशुद्ध ज्ञानदर्शन आनंद आत्मा का (आ ५) मति-श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण साधन से अनुभव करने पर जैसी निराकुलता हुई है वैसी किसी मिथ्यात्वभाव के समय, क्रोधादि कषायों को करते समय, नोकषायों को करते समय, पाप भाव करते समय, व्यसन सेवन करते समय, निन्दा-प्रशंसा करते समय, हिंसा-चोरी-झूठ- अब्रह्म- परिग्रह संग्रह आदिभाव करते समय, आठ प्रकार का मद करते समय, कर्तृत्व-भोक्तृत्व-एकत्व-ममत्व करते समय, इष्ट-अनिष्ट भाव करते समय, सन्निकर्ष करते समय, कारक-साकल्य के समय, इंद्रिय-व्यापार करते समय, ज्ञातृव्यापार करते समय नहीं हुई है। अर्थात् आपको वीतरागता-निराकुलता सम्यक् प्रगट हुई है।

अतः निष्कर्षरूप से हम यह कहना चाहते हैं कि जो भी व्यक्ति इस अध्यात्म न्यायदीपिका को आत्महित के अभिप्राय से पढ़ेगा तो उसे विषय, साधन और फल का यथार्थ निर्णय हो सकेगा। विषय को ज्ञेय, ध्येय, प्रमेय, प्रकाश्य, भोग्य, वेद्य, चेत्य, अनुभाव्य, निक्षेप भी कहते हैं। इसी प्रकार साधन को प्रमाण, अनुभव, ध्यान, विषयी, ज्ञान, विचार भी कहते हैं। फल को प्रमिति, ज्ञप्ति, ध्यान का फल भी कहते हैं।

लोक में हम किसी भी कार्य में सफल होने के लिये प्रथम ही विषय, साधन और फल का निर्णय-निश्चय करते हैं, उसके पश्चात् ही उस कार्य में प्रवृत्ति करते हैं। यही पारमार्थिक कार्य में भी प्रवृत्ति करने के पहले हमें विषय, साधन और फल का प्रथम निर्णय अवश्य करना चाहिये।

अनेक लोगों को विषय का निर्णय बहुत अच्छी तरह से है और उस त्रिकाली-ध्रुव रूप विषय की महिमा भी बहुत आती है। उस विषय को ग्रहण करने का साधन प्रमाणज्ञान है जो वर्तमान में मति-श्रुतज्ञान रूप में हमारे पास है भी; किन्तु उसका प्रयोग करना नहीं आता अर्थात् ध्यान का अभ्यास नहीं करते।

श्री स्व. वीरसागरजी मुनिराज की इस **अध्यात्मन्यायदीपिका** के लिखे जाने के पूर्व, यह सोचा भी नहीं जा सकता था कि- न्याय जैसे क्लिष्ट और अत्यन्त नीरस विषय के ग्रन्थों से भी वही अध्यात्म की पावनगंगा बहायी जा सकती है जो अध्यात्म आनंद रस से आकंठ भरे **श्री समयसार** से बहायी गई है। कहा भी गया है- **तत् ज्ञानं यत् प्रतिसमये सम्यक् आनंदायते।** अर्थ– वास्तव में ज्ञान तो उसे ही कहते हैं जिससे प्रतिसमय आनंद रस की सम्यक् धारा बहती रहती है। यह भी वीरसागरजी मुनिराज का ही एकल श्लाघ्यनीय प्रयास है जिसने न्यायदीपिका को समयसार के समकक्ष बना दिया है।

इस प्रकार न्यायदीपिका की विषयवस्तु और श्री वीरसागरजी मुनिराज के मौलिक चिन्तन पर आगे दृष्टिपात करने के पहले हम कुछ परिभाषायें विद्वानों के समक्ष विचार करने के प्रयोजन से लिखकर प्रस्तुत कर रहे हैं जिससे वे निष्पक्षरूप से निर्णय ले सकें।

'कणत्यागे कुतो धनं, क्षणत्यागे कुतो विद्या।'

न्याय और प्रमाण की परिभाषायें

न्याय शब्द की-परिभाषायें पूर्वग्रन्थों में निम्न प्रकार प्राप्त होती हैं :-

१. प्रमाणनयैः अर्थपरीक्षणं न्यायः।

२. नयप्रमाणात्मको न्यायः।

३. युक्तिशास्त्रं न्यायः।

४. प्रमेयस्वरूपं इत्यते गम्यते येन सः न्यायः।

विषय, साधन और फल की अपेक्षा से विभिन्न जैन आगम ग्रन्थों में प्रमाण की परिभाषायें निम्न प्रकार प्राप्त होती हैं:-

१. सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्- ....श्रुतभवनदीपक नयचक्र, प्रमाप्रमेय, आलाप-पद्धति, न्यायदीपिका

२. स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्।.......................................परीक्षामुख। १-१

३. हिताहितप्राप्तिपरिहारसमर्थं हि प्रमाणम् ततो ज्ञानमेव तत्।.......................................परीक्षामुख

४. सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः।.......................................परीक्षामुख

५. स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः।.......................................परीक्षामुख

६. अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्।.......................................परीक्षामुख

७. सकलवस्तुग्राहकं प्रमाणम्।.......................................आलापपद्धति

८. प्रमीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन ज्ञानेन तत् प्रमाणम्।.......................................आलापपद्धति

९. अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
निस्सन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः॥.......................................रत्नकरण्ड श्रा. ४२

१०. तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम्॥.......................................आप्तमीमांसा- १०१

११. एतेन मत्यादिज्ञानं प्रमाणमित्युक्तम्।.......................................अष्टसहस्री. दि. प्र.

१२. भावाभावयोर्द्वयोस्तद्वत्ता साधकतमत्वम्।.......................................अष्टसहस्री. दि. प्र.

१३. तत्प्रमाणे।.......................................तत्त्वार्थसूत्र-अध्याय १-सूत्र नंबर १०

१४. समुदायविषयं प्रमाणम्। सम्यगनेकान्तः प्रमाणम्।.......................................राजवार्तिक ६/३, ६/७

१५. प्रमाणं सकलादेशि।.......................................श्लोकवार्तिक २/३२० वा.३

१६. स्वार्थनिश्चायकत्वेन प्रमाणं.......................................श्लोकवार्तिक २/३२१ वा. ४.

१७. स्वपरावभासकं यथा प्रमाणम्।.......................................बृ.स्वयंभूस्तोत्र- ६३

१८. प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं, बाधविवर्जितम्।.......................................न्यायावतार-१

१९. सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्।.......................................प्रमाण-मीमांसा। १-१-२

२०. करणसाधनं हि प्रमाणम्।.......................................प्रमाणपरीक्षा- ६६

२१. प्रमाणस्य यथावस्थितवस्तुग्रहणलक्षणत्वात्।.......................................प्रमाणपरीक्षा-६६

२२. स्वार्थव्यवसितौ व्याप्रियमाणं हि प्रमाणम्।..प्रमाणपरीक्षा
२३. पारमार्थिकम् प्रमाणम्।..प्रमाणपरीक्षा
२४. द्रव्यपर्यायात्मकः प्रमाणविषयः।...प्रमाणपरीक्षा
२५. पदार्थयाथात्म्यनिश्चयः प्रमाणम्।..प्रमा-प्रमेय-२
२६. सम्यग्ज्ञानमेव प्रमाणम्।...प्रमा-प्रमेय
२७. मीयते निश्चीयते वस्तुतत्त्वं येन तत् प्रमाणम्।...प्रमा-प्रमेय
२८. सम्यग्ज्ञानसाधनं प्रमाणम्।...प्रमा-प्रमेय
२९. यथावद् वस्तुनिर्णीतिः सम्यग्ज्ञानं प्रदीपवत्। ....आ. अकलंकदेव, स्वरूपसंबोधन
३०. प्रमिणोति प्रमीयतेऽनेन प्रमितिमात्रं वा प्रमाणम्। ....सर्वार्थसिद्धि
३१. प्रमाणमविसंवादिज्ञानमनधिगतार्थाधिगमलक्षणत्वात्। ....अष्टशती
३२. सिद्धिं यत्रपरापेक्ष्यम्।...सिद्धिविनिश्चय
३३. गेण्हइ वत्थुसहावं अविरुद्धं सम्मरूव जं णाणं। ....नयचक्र, पंचाध्यायी, तत्त्वार्थसार
३४. प्रत्यक्षं विशदं ज्ञानम्। ....लघीयस्त्रय, परीक्षामुख
३५. यत् तदिष्टाऽनिष्टसाधनदूषणान्यथानुपपत्तिः प्रसाधितं प्रमाणम्।................न्यायकुमुदचन्द्र. २३
३६. सम्यग्ज्ञानं प्रमाणं प्रमाणत्वान्यथानुपपत्तेः। ....प्रमाणपरीक्षा
३७. प्रमाणं स्वार्थनिर्णीतिस्वभावं ज्ञानम्।...सन्मति-तर्क
३८. स्वपरव्यवसायि ज्ञानं प्रमाणम्। ....प्रमा. प्र.
३९. सम्यगर्थनिर्णयः प्रमाणम्। ....प्रमाणमीमांसा
४०. मीयते अव्यवधानेन परिच्छिद्यते येनार्थः तत् प्रमाणम्। ....न्यायकुमुदचन्द्र ३८
४१. गेण्हई वत्थुसहावं अविरुद्धं सम्मरूव जं णाणं।
भणियं खु तं पमाणं पच्चक्खपरोक्खभेएहिं॥ १६९॥ ....नयचक्र-माइल्लधवल

इसी प्रकार राजवार्तिक में चारित्र की परिभाषा भी देखिये-

चारित्रमोहोपशमक्षयक्षयोपशमसद्भावे चर्यते तदिति चारित्रम्।

इसी प्रकार अन्य शास्त्रों में भी ये परिभाषायें मिल सकती हैं। यहाँ पर समग्ररूप से उपरोक्त सभी परिभाषाओं पर विचार करने के पश्चात् हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि जिस ज्ञानपर्याय द्वारा आत्मा का अनुभवरूप शुद्धोपयोग हो जाता है वह सम्यग्ज्ञानरूप ज्ञानपर्याय मति-श्रुतज्ञानरूप प्रमाणात्मक ही है, नयात्मक नहीं।

सम्यग्ज्ञान को ज्ञानकला भी कहा गया है-

ज्ञान कला जिनके घट जागी, ते जगमांहि सहज वैरागी।
ज्ञानी मगन विषैसुख मांहि, यह विपरीति संभवै नांही॥ नाटक समयसार।

क + ला = कला। क = कारणपरमात्मा, ला = लाये। जो ज्ञानपर्याय अपने कारण परमात्मा को प्राप्त कराये वह कला है।

प्रयोग = प्र + योग। प्र = प्रकर्षेण + योग = प्रयोग।

प्रकाश = प्र + काश। प्र = प्रकर्षेण + काश = काशते/द्योतते, इति प्रकाश:।

जिस सम्यग्ज्ञान कला के प्रयोग द्वारा हमारा कारणपरमात्मा प्रकाशित हो वही ज्ञान प्रत्यक्ष है, प्रमाण है, प्रामाण्य है, साधकतम करण है, हितरूप है, पारमार्थिक है, अपूर्व है, व्यवसायात्मक है, स्व-प्रतिभासक है, तत्त्वज्ञानरूप है, अज्ञान-निवारक है, याथातथ्य है, अतीन्द्रिय है, आनंदोत्पादक है, उत्तम है।

श्री वीरसागर जी मुनिराज ने अनेक संदृष्टियों और चार्टों द्वारा प्रत्यक्ष-प्रामाण्यसहित निजध्रुव शुद्ध ज्ञानदर्शन आनंदरूप आत्मा/कारण-परमात्मा को जाननेवाली-अनुभवनेवाली ज्ञानपर्याय तथा उस पर्याय के अविभागी-प्रतिच्छेदों की रचना समझाने का उत्तम ज्ञानात्मक प्रयास किया है, जो अपने आप में एक मौलिक और आश्चर्यकारी उपलब्धि है। यहाँ पर कुछ चार्ट एवं संदृष्टियां यथा स्थान दिये गये हैं, समझने का प्रयास करें। समयसार टीका श्री वीरसागरजीकृत-मुखपृष्ठ का चार्ट तो संसार से लेकर सिद्धदशा और चौदह गुणस्थानों की पूरी यात्रा का दिग्दर्शन करा देता है। एक अन्य चित्र बोधि की दुर्लभताओं का है।

मुनिराज श्री वीरसागरजी ने सभी प्रत्यक्ष ज्ञानपर्यायों और परोक्ष ज्ञानपर्यायों की रचना चार्ट द्वारा बनाकर यह बहुत ही स्पष्ट रूपसे समझाया है कि किस ज्ञानपर्याय द्वारा सम्यक् आनंद प्राप्त करते समय कौन-सा विषय रहता है, कौन-सा विषय नहीं रहता है; कौन-सा साधन सही है, कौन-सा साधन सत्य नहीं है; कौन-सा साधन रहता है; कौन-सा साधन नहीं रहता है; किस समय सच्चा सुख मिल रहा है, किस समय आनंदाभास हो रहा है। इसी प्रकार स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, नयज्ञान पर्यायों से सच्चा सुख नहीं मिलता; पर्याय-सहित द्रव्य आनंद का विषय नहीं बनता; सन्निकर्ष, कारकसाकल्य-निमित्तों का संग्रह, शरीर की बाह्यक्रियायें आदि सच्चे सुख-प्राप्ति के साधन नहीं हैं- सभी विषय विस्तार से तथा संदृष्टियों के माध्यम से समझाये हैं। पांचों लब्धियों को भी चार्ट द्वारा समझाया है। एक उदाहरण नीचे देखिये-

प्रत्यक्ष-प्रामाण्यसहित ज्ञानपर्याय

विषय प्रमेय ज्ञेय ध्येय	साधन प्रमाण ज्ञान ध्यान	फल प्रमिति ज्ञप्ति ध्यान का फल
त्रिकाली-ध्रुवधाम	प्रमाणात्मक-मतिश्रुतज्ञान	अतीन्द्रियसुख

द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र में आचार्य माइल्लधवलरचित कुछ गाथायें देखिये :-

णाणासहावभरियं वत्थुं गहिऊण तं पमाणेण।
एयंतणासणट्ठं पच्छा णयजुंजणं कुणह ॥१७२॥

अर्थ-अनेक स्वभावों से परिपूर्ण वस्तु को प्रमाण के द्वारा ग्रहण करके तत्पश्चात् एकान्तवाद का नाश करने के लिये नयों की योजना करनी चाहिये।

तच्चाणेसणकाले समयं बुज्झेहि जुत्तिमग्गेण।
णो आराहणसमये पच्चक्खो अणुहवो जह्मा॥२६८॥

अर्थ–तत्त्व को खोजते समय युक्तिमार्ग से आगम की बात को जानना चाहये, आराधना के समय नहीं। क्योंकि **अनुभव तो प्रत्यक्ष का विषय है।**

णिच्छित्ती वत्थुणं साहइ तह दंसणम्मि णिच्छित्ति।
णिच्छयदंसण जीवो दोण्हं आराहओ होई॥१७१॥

अर्थ–प्रमाण और नय के स्वरूप का निश्चय होने पर वस्तु का निश्चय होता है, और वस्तु का निश्चय होने पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। इस तरह वस्तु स्वरूप के निश्चय और सम्यग्दर्शन के द्वारा जीव ध्यान और ध्यान की भावना का आराधक होता है।

गहिओ सो सुदणाणे पच्छा संवेयणेण झायव्वो।
जो ण हु सुयमवलंबइ सो मुज्झइ अप्पसब्भावे॥३४१॥

अर्थ–पहले श्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा को ग्रहण करके पीछे संवेदन के द्वारा उसका ध्यान करना चाहिये। जो श्रुत का अवलम्बन नहीं लेता वह आत्मा के सद्भाव में मूढ़ रहता है।

नयचक्र में भी पृष्ठ १०२ पर 'उक्तं च' कहकर यह श्लोक उद्धृत किया गया है :–

प्रमाणनयनिक्षेपैर्योऽर्थान्नाभिसमीक्षते।
युक्तं चायुक्तवद् भाति तस्यायुक्तं च युक्तवत्॥१॥

अर्थ–कहा भी है- जो प्रमाण, नय और निक्षेप से अर्थ को भलीभांति नहीं जानता, उसे युक्त अयुक्त की तरह प्रतीत होता है और अयुक्त युक्त की तरह प्रतीत होता है।

सम्यग्ज्ञान पर्याय

स्वप्रमेय/भावप्रमेय | **बाह्य–अर्थ/परप्रमेय** | **विषय**

(मैं) **(निजध्रुवशुद्धात्मा को जानता हूँ)**



निजध्रुवशुद्धात्मा

प्रामाण्य की उत्पत्ति परत: ही होती है, तथा प्रामाण्य की ज्ञप्ति अभ्यस्त विषय में स्वत:, अनभ्यस्त विषय में परत: होती है, यह चार्ट द्वारा समझाया गया है। अन्य भी अनेक विषय तथा समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचास्तिकाय, आदि की कई गाथाओं के, लघीयस्त्रय के टीकावाक्य, न्यायकुमुदचन्द्र के टीका वाक्य, श्लोकवार्तिक, राजवार्तिक, अष्टसहस्री आदि के भी टीका वाक्यों को संदर्भसहित न्यायोचित रूपसे युक्तिपूर्वक विश्लेषण करके समझाया है जो स्वयं ही मनन करने-पढ़नेयोग्य है। (देखिये चार्ट नं. ५ एवं १० ग्रन्थ में)

यहाँ पर यदि कोई शंका करता है कि पूज्य कौन है- नय या प्रमाण? श्लोकवार्तिक में इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य विद्यानंद '**प्रमाणनयैरधिगमः**' सूत्र की टीका में वार्तिक-३ एवं उसकी टीका हिन्दी अलंकार (पंडित माणिकचन्द्रजीकृत) में इसप्रकार कहते हैं :-

प्रमाणं सकलादेशि नयादभ्यर्हितं मतम्।
विकलादेशिनस्तस्य वाचकोऽपि तथोच्यते॥३॥

अर्थ – वस्तु के एकदेशीय विकल अंशों को कहनेवाले नयज्ञान से वस्तु के सम्पूर्ण अंशों को कहनेवाला **प्रमाणज्ञान अधिक पूज्य** माना गया है। अतः उस सम्यग्ज्ञानरूप अभिधेय को कहनेवाला प्रमाणपदरूप वाचक शब्द भी उसी प्रकार पूज्य कहा जाता है। वास्तव में विचारा जाय तो सम्यक्-ज्ञानरूप प्रमाणपदार्थ पूज्य है। वाच्य की पूज्यता वाचक में भी उपचार से आ जाती है। (यह चर्चा साधन की अपेक्षा से है।)

जब आचार्य से शंकाकार पुनः प्रश्न करता है कि आपने पूज्यपन और अपूज्यपन के साथ सकलादेशीपन और विकलादेशीपन की व्याप्ति कैसे सिद्ध कर ली, बतलाइये? तब आचार्य विद्यानंद इसी वार्तिक की टीका में उत्तर देते हुए उद्घोष करते हैं :

'**प्रकृष्टाप्रकृष्टविशुद्धिलक्षणत्वाद्..... ब्रूमः। न हि प्रकृष्टां विशुद्धिमन्तरेण... प्रसंगात्। नापि विशुद्ध्यपकर्षमन्तरेण... प्रसंगात्।**'

अर्थ – हम जिन-शासन के गौरव से युक्त होकर यह स्पष्ट उत्तर कहते हैं कि पूज्यपने का प्रयोजक अतिशययुक्त श्रेष्ठ विशुद्धि होना है, और न्यून विशुद्धि होना अपूज्यपने का लक्षण है। अतः सकलादेशीयपन का व्यापक पूज्यपना है और विकलादेशीयपन का व्यापक अपूज्यपना है... ज्ञानावरण के विशिष्ट क्षयोपशम से उत्पन्न हुआ प्रमाणज्ञान सकलादेशी होने के कारण पूज्य है; और ज्ञानावरण के साधारण क्षयोपशम से या विशिष्ट जाति के छोटे क्षयोपशम से उत्पन्न हुआ नयज्ञान विकलादेशी होने से अपूज्य है।

आगे चौथी वार्तिक में भी आचार्य विद्यानंद कहते है-

स्वार्थनिश्चायकत्वेन प्रमाणं नय इत्यसत्।
स्वार्थैकदेशनिर्णीतिलक्षणो हि नयः स्मृतः॥४॥

अर्थ – पूर्णरूप से अपने को और अर्थ (पदार्थ) को जानना प्रमाण का लक्षण है, तथा अपने को और अर्थ को एकदेशस्वरूप से जानना नय का लक्षण आर्ष आम्नाय अनुसार मानते आये हैं।

इसी प्रकार तत्त्वार्थसूत्र-नवमें अध्याय के २७ वें सूत्र की टीका करते हुए विद्यानंद आचार्य श्लोकवार्तिक में कहते हैं कि कर्मों का संवर या निर्जरा के सम्पादक शुभ ध्यानों के लिये प्रशस्त परिकर-सामग्री आवश्यक है। इस सूत्र में ध्यान, ध्याता, ध्येय, और ध्यान का काल भी कह दिया है। वे लिखते हैं.... **सर्वस्य ध्यानस्य ज्ञानात्मकत्वप्रसिद्धेः**। जैन सिद्धान्त में सभी ध्यानों का ज्ञानात्मकपना प्रसिद्ध हो रहा है। वार्तिक ४ की टीका। इसका अर्थ इतना ही है कि **जब-जब ज्ञानोपयोग विकल्परहित होकर आत्मध्येय पर स्थिर होता है तब-तब ध्यान हो जाता है।**

ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनों में आंशिक शुद्धि एक साथ ही आती है, कोई एक गुण की पर्याय किसी दूसरे गुण की पर्याय का कुछ भी कार्य नहीं कर देती है। किन्तु जब ज्ञान की प्रधानता में स्वात्मोपलब्धि रूप कार्य होता है तो ऐसा कहा जाता है कि ज्ञान ने सम्यग्ज्ञान तो किया ही है, साथ ही उसी ज्ञान ने सम्यग्दर्शन

और सम्यक्चारित्ररूप ध्यान भी कर दिया। द्रव्य-गुण और पर्यायों की स्वतंत्रता जिसके ज्ञान में सदा वर्तती है उसका यह कथन आपत्तिजनक नहीं माना जाना चाहिये, अन्यथा श्रोता को नयज्ञान का अभाववाला मानना होगा।

इस प्रकार श्लोकवार्तिक के उक्त कथनों के आधार पर मुनि श्री वीरसागरजी का प्रमाण, ज्ञान और ध्यान-संबंधी, तथा विषय, साधन और फलसंबंधी समस्त कथन प्रयोजनपरक होने से आगम सम्मत और स्वीकार करने योग्य ही है। शंकाकार तो जैनदर्शन के प्रत्येक कथन पर ही शंका उठाते आये हैं- ऐसा हम प्रमेयकमलमार्तण्ड, श्लोकवार्तिक और अष्टसहस्री में देखते ही हैं। किन्तु न्यायोचित जैन शंकाकार का तो यह लक्षण है कि यदि वह किसी वक्ता या लेखक के कथन पर शंका उठाकर उसे अप्रामाणिक ठहराना चाहता है तो यह उसी का कर्तव्यबोध है कि वह स्वयं उस शंका का आगम आधार से सशक्त युक्तियों द्वारा प्रयोजन सिद्धि के अनुकूल उत्तर दे। किसी कथन पर केवल शंका करना विज्ञता का चिन्ह नहीं होता है, किन्तु वह अनभिज्ञता का भी द्योतक बन सकता है। विद्वान् तो साधर्मी वात्सल्यभाव से प्रत्येक कथन को ग्रहण करते हैं और यदि कहीं किसी से भूल होती है तो उसे मात्सर्यभावरहित होकर आगम और युक्तियों से समझाने में अग्रणी होते हैं क्योंकि आगम अगाध है। हमारा क्षयोपशमज्ञान तो सिन्धु में बिन्दु के समान ही है।

आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने प्रवचनसार की गाथा २३२से २३९ तक में जो एकाग्रता लक्षणवाला मोक्षमार्ग अपरनाम श्रामण्य का कथन किया है उसमें उन्होंने आत्मज्ञान का कारण आगम में प्रवृत्तिरूप व्यापार को मोक्षमार्ग का मूलभूत साधन बतलाते हुए लिखा है- " **आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा, आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणदि** तथा **आगमचक्खू साहू**; अर्थात् श्रमण एकाग्रता को प्राप्त होता है, एकाग्रता पदार्थों के निश्चयवान को होती है, पदार्थों का निश्चय आगम से होता है, अतः आगम चेष्टा ही मुख्य कर्तव्य है। आगम-हीन श्रमण निज-आत्मा और पर को नहीं जानता, और इसप्रकार स्व-पर के ज्ञान से रहित भिक्षु कर्मों का क्षय नहीं कर सकता है। सर्व प्राणी इंद्रिय चक्षुवाले हैं, देव अवधि चक्षुवाले हैं, साधु आगम चक्षुवाले हैं तथा सिद्ध (केवली) सर्वतः चक्षुवाले हैं। समस्त पदार्थ तथा उनकी गुण-पर्यायें आगम से सिद्ध हैं जिन्हें श्रमण आगम द्वारा जानते हैं। जिसकी आगमपूर्वक दृष्टि नहीं है उसके संयम नहीं है अतः वह श्रमण भी नहीं हो सकता है। आगम ज्ञानसे आत्मज्ञान प्राप्त करना चाहिये क्योंकि आत्मज्ञान से ही सिद्धि होती है। आत्मज्ञान से शून्य आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्व को मोक्षमार्गपना घटित नहीं होता क्योंकि **मोक्षमार्ग का साधकतम साधन आत्मज्ञान ही है।**

कहने का अभिप्राय यह है कि आगम में बताये गये समस्त साधनों का प्रयोजन आत्मज्ञान करना है, वही मुक्ति के मार्ग का साधकतम है।

श्री वीरसागरजी मुनिराज बार-बार कहा करते थे कि जिस जीव ने इस भव में सम्यग्दर्शन-आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया तो उसके लिये मोक्ष सिर्फ दो अंगुल दूर रह जाता है क्योंकि वह मिथ्यात्व के ६९ से अधिक कोड़ा-कोड़ी सागर तथा अनंतानुबंधी के ३९ से अधिक कोड़ाकोड़ी सागर के बंध का नाश कर देता है।

वह आत्मज्ञान अर्थात् आत्मानुभवरूप सम्यग्ज्ञान प्रत्यक्ष प्रामाण्य सहित (आ ५) मतिज्ञान, श्रुतज्ञान साधन द्वारा निजध्रुव शुद्धात्मा को ज्ञेय बनाने से अभी इसी काल में हम कर सकते हैं, हमें अवश्य ही करना चाहिये। यदि हम अपने इस आत्मानुभूति प्राप्त करने के कार्य में इस अध्यात्म न्यायदीपिका से यथोचित मार्गदर्शन प्राप्त करने का उद्यम करें तो सफलता अवश्य मिलेगी।

जैनदर्शन जीव के संसार परिभ्रमण में प्रधान निमित्त कर्म को मानता है। दर्शन-मोह नाम का एक कर्म

मिथ्यात्व है। कर्मबन्ध के क्षेत्र में मिथ्यात्व का स्थान सर्वाधिक तथा सर्वोपरि है। बंध के कारणों में मूलाचार की गाथा ९६८ की टीका में तथा पंचास्तिकाय की गाथा १४७-१४८ की टीका में आचार्य जयसेन ने मोह-मिथ्यात्वभाव को कर्मबन्ध के कारणों में प्रधानरूप से गिनाया है। आचार्य सकलकीर्ति ने तो यहां तक कहा है कि यदि एक ओर सभी पाप हो और एक ओर अकेला मिथ्यात्व हो, तो तुलना करने पर, उनमें सरसों (राई) का दाना और सुमेरू पर्वत के बराबर अन्तर दिखाई देगा।

जैनदर्शन में आगम प्रमाण के पहिले युक्ति प्रमाण को माना गया है। न्यायदीपिका आदि सभी न्यायग्रन्थों में परोक्ष प्रमाणों का क्रम इस प्रकार दिया है- स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क (युक्ति), अनुमान, आगम। इन सभी परोक्ष प्रमाणज्ञानों को क्रमशः अपने से पूर्व के परोक्षप्रमाण ज्ञानों की आवश्यकता भी हुआ ही करती है।

हमारा मुक्ति का महल आत्मज्ञान की नींव पर खड़ा होता है, आत्मज्ञान के लिये तो चारों अनुयोग रूप जैन वाङ्मय विकसित-प्रस्फुटित करता है।

सम्पूर्ण जैनवाङ्मय न्याय-शास्त्रों की नींव पर खड़ा है, और न्यायशास्त्र युक्ति प्रमाण की नींव पर खड़ा है। इसलिये आत्मानुभूति की ओर कदम बढ़ानेवाले जीवों को यह न्यायदीपिका आधारस्तम्भ ही है।

इस अध्यात्म न्यायदीपिका में अनेक स्थानों पर मुनिवर श्री वीरसागरजी ने आगम के आधार से बताया है और युक्तियों से सिद्ध भी किया है कि मिथ्यात्व बंध का सबसे बड़ा, प्रथम और प्रधान निमित्त कारण है। धर्मध्यान- सम्यग्दर्शन- सम्यग्ज्ञान- आत्मानुभूति- शुद्धोपयोग-निश्चयचारित्र चौथे गुणस्थान से ही प्रकट हो जाता है। संवर- निर्जरा चौथे गुणस्थान से ही प्रारंभ हो जाती है।

जिनागम की नींव पर कुठाराघात करनेवाले आधुनिक युग के अनेक भ्रामक प्रश्नों का समुचित समाधान इस अध्यात्म न्यायदीपिका में है। किसी भी प्रकार की कर्तृत्वबुद्धि जीवों को निमित्ताधीन दृष्टिरूप होकर कर्तृत्व, सन्निकर्षवाद, कारक साकल्यवाद, व्यक्ति पूजावाद आदि अन्यमतों की मान्यताओं की ओर ले जाती है। पुण्य और भोगों में सुख मानने रूप मान्यता हमें जैनदर्शन से दूर चार्वाक मत की ओर ले जाती है तथा आत्मकल्याण से वंचित कर निगोदादि का मार्ग प्राप्त करा देती है। पुण्य में भोक्तृत्वबुद्धि की जनक यह मिथ्या मान्यता है कि ज्ञान ज्ञेय में से आता है। परिग्रह संग्रह बुद्धि का कारण ये मिथ्या मान्यतायें ही हैं कि सुख परपदार्थों में से आता है, ज्ञान ज्ञेयों में से आता है। किसी व्यक्ति विशेष को प्रमाण माननेवाला, निमित्ताधीन दृष्टिवाला-सन्निकर्षवादी, इन्द्रियव्यापार और कारक साकल्य को माननेवाले अन्यमती के समान मान्यतावाला ही है। यदि साधकतम साधन को कार्य करनेवाला माना जाय तो समस्त भ्रान्तियों का निरसन होकर आत्मानुभूति का सच्चा मार्ग शीघ्र ही प्राप्त हो सकता है।

यह अध्यात्म न्यायदीपिका अनेकबार कहती है कि शुद्धात्मानुभव ज्ञानगुण की पर्याय है, श्रद्धा या चारित्र या दर्शनगुण की नहीं; निगोद से लगाकर सिद्धों तक सभी जीवों को प्रतिसमय भावप्रमेयरूप स्व-संवेदन होता ही रहता है; साधन और साध्य में शाब्द सामानाधिकरण्य होता है; जो अपना अवभासन नहीं कर सकता वह पर का भी अवभासन नहीं कर सकता; ग्रहण-धारण-पटु होकर **विषय-साधन-फल** समझने से मतिकृत बालपना दूर हो जाता है; प्रत्यक्षज्ञान ही अतींद्रिय ज्ञान है, परोक्षज्ञान अतींद्रिय ज्ञान नहीं है; निजशुद्धात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्षज्ञान यह सम्यग्दर्शन का अन्यथा अनुपपत्ति लक्षण हेतु है, प्रशम-संवेगादि नहीं।

श्री वीरसागरजी मुनिवर का अभिप्राय है कि जिस प्रकार केवल तत्त्वज्ञान शून्य वाग्विलास और क्रियाकाण्ड मात्र से कर्मों का नाश नहीं किया जा सकता है, **उसीप्रकार विना विषय-साधन और फल का निर्णय किये केवल आत्मा के गीत गाने मात्र से सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हो सकता है,** संयम की जय बोलने

मात्र से भी कर्मों की बेड़ियां कटनेवाली नहीं हैं, केवल भक्ति से मुक्ति नहीं होती। प्रत्यक्ष प्रामाण्यसहित मति-श्रुत ज्ञानपर्याय द्वारा निजध्रुव शुद्ध ज्ञानदर्शन आनंदरूप आत्मा का अनुभवपूर्वक रत्नत्रय प्रगट करके निर्दोष संयम ग्रहण करना होगा, तभी आत्मा के गीत गाना और संयम की जय बोलना सार्थक होगा।

अंत में सिद्ध पूजन के छन्दों में से-

> ये सुरतरुओं के फल साक्षी, यह भव सन्तति का अंतिम क्षण।
> प्रभु मेरे मण्डप में आओ, है आज मुक्ति का उद्‌घाटन॥
> हे नाथ! मुझे भी अब प्रतिक्षण, निज अंतर वैभव की मस्ती।
> है आज अर्घ्य की सार्थकता, तेरी अस्ति मेरी बस्ती॥
> उछलता मेरा पौरुष आज, त्वरित टूटेंगे बंधन नाथ।
> अरे! तेरी सुख शैय्या बीच, होगा मेरा प्रथम प्रभात॥
> प्रभो! बीती विभावरी आज, हुआ अरुणोदय शीतल छांव।
> झूमते शान्ति लता के कुंज, चलें प्रभु! अब अपने उस गांव॥

सभी पाठक इस कार्य में सफल हों- ऐसी पवित्र भावना के साथ।

आज दिनांक ५-१-१९९७ का संदेश है कि हे! जीव!! तू पांच भावों में से निज पंचम परिणामिक परमभावरूप एकत्व-विभक्त कारणपरमात्मा को अपने प्रत्यक्ष प्रामाण्यसहित मतिश्रुत ज्ञानपर्याय में विराजमान कर, फिर उसी का बारम्बार ध्यान-श्रद्धान कर जिससे गाढ़त्व आ जाये और विकल्प रुक जायें। वह एकत्व-विभक्त निज कारणद्रव्य नव क्षायिक लब्धियां प्रगट करानेवाला है जो नव पदार्थों और सात तत्त्वों का सही स्वरूप जानकर उनमें से ही उनसे भिन्न प्राप्त होगा। इस कार्य के लिये नव के दोनों अंकों का मुख पूर्व से पश्चिम की ओर करना होगा अर्थात् अपने ज्ञान दर्शन-उपयोग की दिशा पर-पदार्थों की ओर से हटाकर निज एक आत्मस्वभाव की ओर करनी होगी। सात का अंक का मुख भी हमें पूर्व दिशा से उत्तर दिशा की ओर करना होगा अर्थात् पूर्व = भूतकाल को भूलकर पर्यायदृष्टि छोड़कर, उत्तर = भविष्यकाल का याने शुद्ध द्रव्यदृष्टिवंत होकर उस एक की ओर ही देखना होगा। यही पूर्ण सुखी होने का उपाय है। ५-१-१९९७ = १-१-१-१-१-१ = एकोऽहं, एकोऽहं, एकोऽहं, एकोऽहं, एकोऽहं, एकोऽहं।

महावीर सांस्कृतिक भवन
सोलापुर
५-१-१९९७

मन्नूलाल जैन
वकील सागर (म.प्र.)

सारी दुनिया हारी ध्यान, लेकिन मिला नहीं भगवान

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान,
ज्ञान भिन्न है, ज्ञेयभिन्न है, ज्ञान भिन्न है देह भिन्न है।
ज्ञान भिन्न है, राग भिन्न है, भिन्न है सकल जहान,
जिन ही निज है, निज ही जिन है, सुनकर हुआ बहुत हैरान ॥१॥

होनहार जब होने आती है, सब साधन स्वयं सजाती है,
क्रमवर्ती पर्याय स्वयं ही, अपने आप हो जाती है।
भाव शुभाशुभ बंध के हेतु, जिनवाणी यह सिखलाती है,
कोई किसी का है नहीं कर्ता, जिनवाणी यह बतलाती है ॥२॥

आई बात यह मेरे ज्ञान, झट ही मैंने ली वह मान।
हित का मार्ग एक ही जान, ध्यान ज्ञान सम्यक् श्रद्धान ॥
कर स्मरण गुरु कुन्दकुन्द को, ध्यान सहित सीमन्धर सर्वज्ञ।
आया भाव करूँ क्या ? जाऊँ कहाँ ? कैसे बन जाऊँ मैं भी आत्मज्ञ ? ॥३॥

बैठा करने जब निज-ध्यान, कर श्री वीरसागर सन्मान।
सोऽहं सोऽहं सिद्धोऽहं, शुद्धोऽहं बार-बार मन आन ॥
मंगल जीवो जीवो मंगल, भा गया मेरे श्रुत-ज्ञान।
ध्रुवधाम की धूम मचाई, सुलगाई निर्धूमाग्नि ध्यान ॥४॥

मति-श्रुतप्रामाण्य-पुत निज देखा, पाया प्रत्यक्ष अनुभव ज्ञान।
अनुभूति ने स्वागत किया, हुआ प्रगट कारण भगवान ॥
अनंत गुणों का पिण्ड अभेद, ज्ञानानंदी पूर्ण निधान।
पाई शान्ति निराकुल अद्भुत, मिटी अनादि दुष्ट थकान ॥५॥

देखकर जाना जानकर देखा, अपूर्व चैतन्य की वह खान।
आई शुद्धि सभी गुणों में, आंशिक चारित्र और श्रद्धान ॥
मैं हूँ पूर्ण स्वयं अपने में, ज्ञाता ज्ञेय स्वयं ही ज्ञान।
अखण्ड अकर्ता ज्ञायक और, ध्याता ध्येय स्वयं ही ध्यान ॥६॥

भागे मिथ्यात्व क्रोध अनंता, माया लोभ और सब मान।
प्रगटे एक साथ ही शुद्ध दर्शन, चारित्र, सम्यग्ज्ञान ॥
भागी निद्रा जागी भद्रा, हुआ विवेक स्वयं सावधान।
आनंद अपूरब भारी आया, हृदय छाया हर्ष महान ॥७॥

भागी भ्रमणा भारी, अब मैं रहा नहीं संसारी।
ये सब महल अटारी, अरु सब ही कारोबारी ॥
रागद्वेष की क्यारी, पिता पुत्र अरु नारी।
सबसे भिन्न बता रही, जिन की वाणी सारी ॥८॥

मैं हूँ अपना माली, पर से बिलकुल खाली।
बाहर तन की जाली, भीतर है मालामाली ॥
मैंने पाया अब निज ज्ञान, फलतः रहा नहीं अज्ञान।
भीतर से बोला भगवान, हम तो जल्दी लेंगे केवलज्ञान ॥९॥

अब हम तो चले अपने देश, सुनो वीर-सागर सन्देश।
जहां नहीं मिथ्या रागद्वेष, बसा है अतींद्रिय आनंदविशेष ॥
करने को रहा नहीं कुछ शेष, धारूंगा दिगम्बर निजभेष !
रहूँगा अपने असंख्य प्रदेश, जहां है अपनी समाज अशेष ॥१०॥

धन्नूलाल जैन वकील
सागर (मध्य प्रदेश)

चार्ट नं. ३-

क्र मां क	अनुभाव्य विषय ध्येय ज्ञेय प्रमेय	अनुभव विषयी ध्यान ज्ञान (विचार) प्रमाण	फल जानने का फल ध्यान का फल ज्ञान का फल प्रमिति	
(१)	निजध्रुव-ज्ञानानंद स्वभाव	निजध्रुव-ज्ञानानंद स्वभाव	अतीन्द्रिय आनंद उपेक्षा (समभाव) ↓ सम्यग्दर्शन वीतराग	
(२)	अशुद्धपर्याय	अशुद्धपर्याय	मिथ्यात्व, सराग विषमभाव	अनिष्ट (हान) अथवा इष्ट (उपादान)
(३)	एकदेशशुद्धपर्याय	एकदेशशुद्धपर्याय	मिथ्यात्व, सराग विषमभाव	
(४)	पूर्णशुद्धपर्याय (केवलज्ञानपर्याय)	पूर्णशुद्धपर्याय (केवलज्ञानपर्याय)	मिथ्यात्व, सराग विषमभाव	
(५)	धन	धन	मिथ्यात्व, सराग विषमभाव	
(६)	शरीर	शरीर	मिथ्यात्व, सराग विषमभाव	
(७)	ठंडा स्पर्श	ठंडा स्पर्श	मिथ्यात्व, सराग विषमभाव	
(८)	मीठा रस	मीठा रस	मिथ्यात्व, सराग विषमभाव	
(९)	सुगंध	सुगंध	मिथ्यात्व, सराग विषमभाव	
(१०)	नील वर्ण	नील वर्ण	मिथ्यात्व, सराग विषमभाव	
(११)	ध्वनि-शब्द	ध्वनि-शब्द	मिथ्यात्व, सराग विषमभाव	

परदव्वादो दुग्गई सद्दव्वादो हु सुग्गई हवइ।
इय णाऊण सदव्वे कुणह रई विरइ इयरम्मि॥१६॥ मोक्षप्राभृत

परद्रव्य से दुर्गति और स्वद्रव्य से निश्चित सुगति है, ऐसा जानकर स्वद्रव्य में रति करो और परद्रव्य में विरति करो।

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावं त्ति भणियमण्णेसु।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये॥१८१॥ प्रवचनसार

पर के प्रति (दूसरों के बारे में) शुभपरिणाम पुण्य है और पर के प्रति (दूसरों के बारे में) अशुभपरिणाम पाप है। और जो परिणाम दूसरों के प्रति जाता नहीं, ऐसा परिणाम उसी समय दुःखक्षयका (संवरपूर्वक निर्जरा का-शुद्धात्मानुभूति का/परमानंद का/निराकुलता का) कारण है, ऐसा कहते हैं।

'असाधारणधर्मवचनं लक्षणम्'

ननु असाधारणधर्मवचनं लक्षणं कथं न समीचीनमिति चेत्, उच्यते; तदेव हि सम्यक् लक्षणं यदव्याप्त्यादिदोषत्रय-शून्यम्। न चात्र लक्षणेऽव्याप्त्यादिदोषत्रयाभावः। तथा हि-अशेषैरपि वादिभिर्दण्डी, कुण्डली, वासस्वी देवदत्त इत्यादौ दण्डादिकं देवदत्तस्य लक्षणमुरीक्रियते। परं दण्डादेरसाधारणधर्मत्वं नास्ति, तस्य पृथग्भूतत्वेनापृथग्भूतत्वासम्भवात्। अपृथग्भूतस्य चासाधारणधर्मत्वमिति तवाभिप्रायः। तथा च लक्ष्यैकदेशोऽनात्मभूतलक्षणे दण्डादौ असाधारणधर्मत्वस्याभावादव्याप्तिरित्येव तात्पर्यमाश्रित्योक्तं ग्रन्थकृता "दण्डादेरतद्धर्मस्यापि लक्षणत्वादिति"।

किञ्चाव्याप्ताभिधानस्य लक्षणाभासस्यापि शावलेयत्वादेरसाधारणधर्मत्वादतिव्याप्तिः। गोः शावलेयत्वम्, जीवस्य भव्यत्वं, मतिज्ञानित्वं वा न गवादीनां लक्षणमिति सुप्रतीतम्, शावलेयत्वस्य सर्वत्र गोष्ववृत्तेः। भव्यत्वस्य मतिज्ञानित्वस्य वा सर्वजीवेष्ववर्तमानत्वादव्याप्तेः। परन्तु शावलेयत्वस्य भव्यत्वादेर्वाऽसाधारणधर्मत्वमस्ति। यतो हि तेषां गवादिभ्यो भिन्नेष्ववृत्तित्वात्। तदितरावृत्तित्वं ह्यसाधारणत्वमिति। ततः शावलेयत्वादावव्याप्ताभिधाने लक्षणाभासे असाधारणधर्मस्यातिव्याप्तिरिति बोध्यम्।

अपि च लक्ष्यधर्मिवचनस्य लक्षणधर्मवचनेन सामानाधिकरण्याभावप्रसङ्गात्। तथा हि-सामानाधिकरण्यं द्विविधम्-शाब्दमार्थं च। ययोर्द्वयोरेकत्र वृत्तिस्तयोरार्थं सामानाधिकरण्यम्, यथा रूप-रसयोः। ययोर्द्वयोः शब्दयोश्चैकः प्रतिपाद्योऽर्थस्तयोः शाब्दसामानाधिकरण्यम्, यथा घटकलशशब्दयोः। सर्वत्र हि लक्ष्य-लक्षणभावस्थले लक्ष्यवचनलक्षणवचनयोः शाब्दसामानाधिकरण्यं भवति, ताभ्यां प्रतिपाद्यस्यार्थस्यैकत्वात्। यथा उष्णोऽग्निः, ज्ञानी जीवः, सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्, इत्यादौ उष्णः, ज्ञानी, सम्यग्ज्ञानम्, एतानि लक्षणवचनानि। अग्निः, जीवः, प्रमाणम्, एतानि च लक्ष्यवचनानि। अत्र लक्षणवचनप्रतिपाद्यो योऽर्थः स एव लक्ष्यवचनप्रतिपाद्यो न भिन्नोऽर्थस्तत्प्रतिपाद्यः। एवं लक्ष्यवचनप्रतिपाद्यो योऽर्थः स एव लक्षणवचनप्रतिपाद्यो न भिन्नः, यतो हि उष्ण इत्युक्ते अग्निरित्युक्तं भवति, अग्निरित्युक्ते उष्ण इत्युक्तं भवति, इत्यादि बोध्यम्। ततश्चेदं सिद्धं यत्र कुत्राऽपि लक्ष्यलक्षणभावः क्रियेत तत्र सर्वत्रापि लक्षणवचनलक्ष्यवचनयोः शाब्दसामानाधिकरण्यम्। इत्थं च प्रकृते असाधारणधर्मस्य लक्षणत्वस्वीकारे लक्षणवचनं धर्मवचनं, लक्ष्यवचनं च धर्मिवचनं स्यात्। न च लक्षणवचनरूपधर्मवचन–लक्ष्यवचनरूपधर्मिवचनयोः शाब्दसामानाधिकरण्यमस्ति, ताभ्यां प्रतिपाद्यार्थस्य भिन्नत्वात्। धर्मवचनप्रतिपाद्यो हि धर्मः, धर्मिवचनप्रतिपाद्यश्च धर्मी, तौ च परस्परं सर्वथा भिन्नौ। तथा चासाधारणधर्मस्य लक्षणत्वे न कुत्रापि लक्ष्यलक्षणभावस्थले लक्ष्यवचनलक्षणवचनयोः शाब्दसामानाधिकरण्यं सम्भवति, ततश्च शाब्दसामानाधिकरण्याभावप्रयुक्तासम्भवदोषः समापतत्येव। तस्मान्न साधारणासाधारणधर्ममुखेन लक्षणकरणं यौक्तिकम्, अपि तु परस्परव्यतिकरे सति येनान्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणमित्यकलङ्कम्।

असाधारणधर्मवचन रूप-लक्षण का निर्णय

शंका–(नैयायिक या हेमचन्द्राचार्य या अन्य कोई) असाधारणधर्म के कथन करने को लक्षण कहते हैं। वह क्यों समीचीन नहीं?

समाधान–जो लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभव दोषों से रहित है, वह लक्षण सम्यक् (निर्दोष) लक्षण है।

और 'असाधारणधर्म के कथन करने को लक्षण कहते हैं' इस लक्षण में (इसप्रकार लक्षण की व्याख्या में) अव्याप्ति दोष, अतिव्याप्ति दोष और असंभव दोष इन तीनों दोषों का अभाव नहीं है। उसका स्पष्टीकरण–

सभी वादियों के द्वारा दण्डी देवदत्त, कुण्डली देवदत्त, वासवी देवदत्त इत्यादि में दण्ड, कुण्डल, वासव आदि को देवदत्त का लक्षण स्वीकार किया है। लेकिन दण्ड, कुण्डल, वासव आदि लक्षणों में असाधारणधर्मपना नहीं है क्यों कि देवदत्त से दण्ड आदि पूर्णरूप से भिन्न (पृथक्) होनेसे दण्ड आदि देवदत्त से अभिन्न (अपृथक्) नहीं होते हैं। और आपने अपृथक्त्वरूप को ही असाधारणधर्म माना है। [अर्थात् दण्ड/लाठी का देवदत्त में अत्यन्त अभाव है। दण्ड यह देवदत्त का गुण या पर्याय नहीं है इसलिये दण्ड यह देवदत्त का असाधारणधर्म नहीं है।] तथा लक्ष्यैकदेश में अनात्मभूतलक्षणरूप दण्डादि में असाधारणधर्म का अभाव होनेसे अव्याप्ति है ही, इस तात्पर्य को आश्रय कर के ग्रंथकार ने न्यायदीपिका में ऐसा कहा है कि, "**दण्डादेः अतद्धर्मस्य अपि लक्षणत्वाद्**-क्योंकि दण्डादि अतद्धर्म में भी लक्षणपना है।"

विशेषार्थ–यदि असाधारणधर्म को लक्षण का स्वरूप माना जाय तो इस लक्षण में अव्याप्ति दोष आता है। दण्डादि असाधारणधर्म नहीं है, फिर भी वे पुरुष के लक्षण होते हैं। अग्नि की 'उष्णता', जीव का 'ज्ञान', पुद्गल का 'स्पर्शरसगंधवर्ण' आदि जैसे अपने लक्ष्यमें [जिसका लक्षण बनाते हैं वह लक्ष्य है उसमें] मिले हुए होते हैं, इसलिये वे उनके असाधारणधर्म कहे जाते हैं। वैसे दण्डादि पुरुष में मिले हुए नहीं हैं- उससे पृथक् है और इसलिये वे पुरुष के असाधारण धर्म नहीं है। इस प्रकार लक्षणरूप लक्ष्य के एकदेश अनात्मभूत दण्डादि लक्षण में असाधारणधर्म के न रहने से लक्षण (असाधारणधर्म यह लक्षण) अव्याप्त है।

इतना ही नहीं, तो इस असाधारणधर्म को लक्षण का स्वरूप मानने में अतिव्याप्ति दोष भी आता है। उसका स्पष्टीकरण - अव्याप्त नामक लक्षणाभास (झूठे लक्षण) रूप शावलेयत्व (चित्रविचित्रवर्णपना) आदि में भी असाधारणधर्मपना होनेसे अतिव्याप्ति है। जैसे - गाय का 'शावलेयत्व', जीव का 'मतिज्ञानपर्याय अथवा भव्यत्व,' आदि इसतरह गाय, जीव आदि का लक्षण है, ऐसा सुप्रतीत नहीं है (ठीक नहीं है) क्योंकि (१) शावलेयत्व सब गायों में नहीं पाया जाता, वह कुछ ही गायों का धर्म है, इसलिये अव्याप्त है। (२) मतिज्ञानपर्याय सब जीवों में नहीं पाया जाता (सर्वज्ञ भगवान में मतिज्ञान नहीं है) कुछ ही जीवों का धर्म है, अथवा भव्यत्व सब जीवों में नहीं पाया जाता, कुछ ही जीवों का धर्म है, अभव्यत्व सब जीवों में नहीं पाया जाता, कुछ ही जीवों का धर्म है, क्रोध (प्रमाद) सब जीवों में नहीं पाया जाता, कुछ ही जीवों का धर्म है, वीतराग (अप्रमत्त) सब जीवों में नहीं पाया जाता, कुछ ही जीवों का धर्म है, इसलिये अव्याप्त है। लेकिन शावलेयत्व में अथवा भव्यत्वादि में असाधारणधर्मत्व है क्योंकि उनका गवादि से भिन्न वस्तुओं में सद्भाव नहीं है। उसका अन्यमें सद्भाव न रहना ही असाधारणधर्मपना है। इससे यह सिद्ध हुआ कि, अव्याप्त नामक लक्षणाभासरूप शावलेयत्व में असाधारणधर्मत्व है, उसी तरह उससे विरुद्ध कालापना या सफेदपना में भी असाधारणधर्मत्व है। तथा अव्याप्त नामक लक्षणाभासरूप भव्यत्व में असाधारणधर्मत्व है, उसी तरह उससे विरुद्ध अभव्यत्व में और भव्यत्वरहित मोक्षपर्याय में भी असाधारणधर्मत्व है। तथा अव्याप्त नामक लक्षणाभासरूप सरागपर्याय में असाधारणधर्मत्व है, उसी तरह उससे विरुद्ध वीतरागपर्याय में

भी असाधारणधर्मत्व है। तथा अव्याप्त नामक लक्षणाभासरूप मतिज्ञानत्व में असाधारणधर्मत्व है। उसी तरह उससे अन्य सर्वज्ञपर्याय में भी असाधारणधर्मत्व है। इससे यह जानना चाहिये कि, 'असाधारणधर्मत्व' की अतिव्याप्ति है (असाधारणधर्म को लक्षण का लक्षण करने में अतिव्याप्ति दोष आता है)। लक्ष्य और अलक्ष्य में लक्षण के रहने को अतिव्याप्त लक्षणाभास कहते हैं। जैसे जीव का ही अमूर्तत्व लक्षण करना। यह अमूर्तत्व जीव में और आकाश, धर्म, अधर्म तथा कालाणु द्रव्यों में भी पाया जाता है। इसलिये 'अमूर्तत्व' अतिव्याप्त है। तथा गाय का ही पशुत्व (पशुपना) लक्षण करना यह 'पशुत्व' गायों के सिवाय अश्व आदि पशुओं में भी पाया जाता है। इसलिये 'पशुत्व' में अतिव्याप्ति दोष है।

और भी यह है कि, 'असाधारणधर्म को लक्षण का स्वरूप मानना ठीक नहीं क्योंकि लक्ष्यरूप धर्मिवचन का लक्षणरूप धर्मवचन के साथ सामानाधिकरण्य (शाब्दसामानाधिकरण्य) के अभाव का प्रसंग (दोष) आता है। इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है—

सामानाधिकरण्य के दो प्रकार है— (१) शाब्दसामानाधिकरण्य और (२) आर्थसामानाधिकरण्य।

(१) **आर्थसामानाधिकरण्य**—जिन दोनों अर्थों की एकत्र वृत्ति होती है, उन दोनों में आर्थसामानाधिकरण्य होता है, जैसे-रूप (वर्ण) और रस इन दोनों की एकत्र वृत्ति होती है, इसलिये उन दोनों में आर्थसामानाधिकरण्य है।

(२) **शाब्दसामानाधिकरण्य**— जिन दोनों शब्दों का एक ही प्रतिपाद्य अर्थ है, उन दोनों में शाब्दसामानाधिकरण्य होता है, जैसे घट और कलश इन दोनों शब्दों का प्रतिपाद्य अर्थ एक ही है।

यह नियम है कि, सब ही लक्ष्य-लक्षणभावस्थलों में शाब्दसामानाधिकरण्य होता है क्योंकि लक्ष्यवचन के द्वारा और लक्षणवचन के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ एक है।

जैसे - उष्ण-अग्नि, ज्ञानी (ज्ञान)-जीव, सम्यग्ज्ञान-प्रमाण, इत्यादि में उष्ण, ज्ञानी (ज्ञान) और सम्यग्ज्ञान ये लक्षणवचन (धर्मवचन) हैं। और अग्नि, जीव और प्रमाण ये लक्ष्यवचन (धर्मिवचन) हैं।

वहाँ लक्षणवचन के द्वारा जो प्रतिपाद्य अर्थ है वह ही लक्ष्यवचन के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ है, लक्ष्य वचन के द्वारा भिन्न प्रतिपाद्य अर्थ नहीं है।

उस ही तरह लक्ष्यवचन के द्वारा जो प्रतिपाद्य अर्थ है, वह ही लक्षणवचन के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ है, लक्षणवचन के द्वारा भिन्न प्रतिपाद्य अर्थ नहीं है। 'जिससे उष्ण ऐसा कहने पर अग्नि ऐसा कहा गया और अग्नि ऐसा कहने पर उष्ण ऐसा कहा गया' इत्यादि जानने योग्य है।

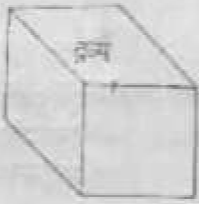
और उससे यह सिद्ध हुआ है कि, जहाँ कहीं भी निर्दोष लक्ष्य-लक्षणभाव किया जाता है, वहाँ सर्वत्र ही लक्षणवचन और लक्ष्यवचन में शाब्दसामानाधिकरण्य है।

और आपके (नैयायिक या हेमचंद्र आदि के) इस प्रकृत प्रकरण में असाधारणधर्म का लक्षणपना स्वीकार करने पर लक्षणवचन धर्मवचन होता है और लक्ष्यवचन धर्मिवचन होता है। और लक्षणवचनरूप धर्मवचन में और लक्ष्यवचनरूप धर्मिवचन में शाब्दसामानाधिकरण्य नहीं होगा क्योंकि लक्षणवचनरूप धर्मवचन के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ भिन्न है और लक्ष्यवचनरूप धर्मिवचन के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ भिन्न है। धर्मवचन का प्रतिपाद्य अर्थ धर्म है और धर्मिवचन का प्रतिपाद्य अर्थ धर्मी है, और वे परस्पर सर्वथा भिन्न हैं। इसलिये असाधारणधर्म को लक्षण का लक्षण स्वीकार करने पर कहीं भी लक्ष्यलक्षणभावस्थलमें लक्ष्यवचन और लक्षणवचनमें शाब्दसामानाधिकरण्य नहीं संभवता है। और उससे शाब्दसामानाधिकरण्य का अभावप्रयुक्त (अभावस्वरूप) का असंभव दोष आता ही है। इसलिये साधारणधर्ममुख से अथवा असाधारणधर्ममुख से 'लक्षण' का लक्षण करना योग्य नहीं है। लेकिन 'परस्पर में एकत्र मिले हुए वस्तुओं में से जिसके द्वारा अन्यत्व (वस्तु को भिन्न) किया जाता है वह लक्षण है' यह लक्षण की व्याख्या निर्दोष है।

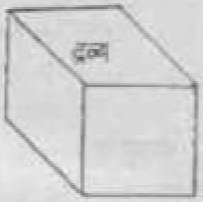
चार्ट नं. २

ॐ

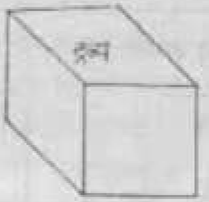
शाश्वत अविनाशी, ध्रुव		अवस्था क्षणिक, पर्याय
जीव	→ द्रव्य ←	परमात्मा
श्रद्धागुण	→ ←	क्षायिक अनंत सम्यग्दर्शन
ज्ञानगुण	→ ←	सम्यग्ज्ञान सर्वज्ञ (अनंतज्ञान)
आनंदगुण	→ ←	अनंत-अतीन्द्रियानंद
चारित्रगुण	→ ←	सम्यक्चारित्र-वीतराग



जीव	→ द्रव्य ←	अंतरात्मा
श्रद्धागुण	→ ←	सम्यग्दर्शन (सम्यक्श्रद्धा)
ज्ञानगुण	→ ←	सम्यग्ज्ञान-असर्वज्ञ
आनंदगुण	→ ←	अतीन्द्रियानंद
चारित्रगुण	→ ←	सम्यक्चारित्र



जीव	→ द्रव्य ←	बहिरात्मा
श्रद्धागुण	→ ←	मिथ्यादर्शन (मिथ्याश्रद्धा)
ज्ञानगुण	→ ←	मिथ्याज्ञान
आनंदगुण	→ ←	दुःख
चारित्रगुण	→ ←	मिथ्याचारित्र



निश्चयदृष्टि — व्यवहारदृष्टि



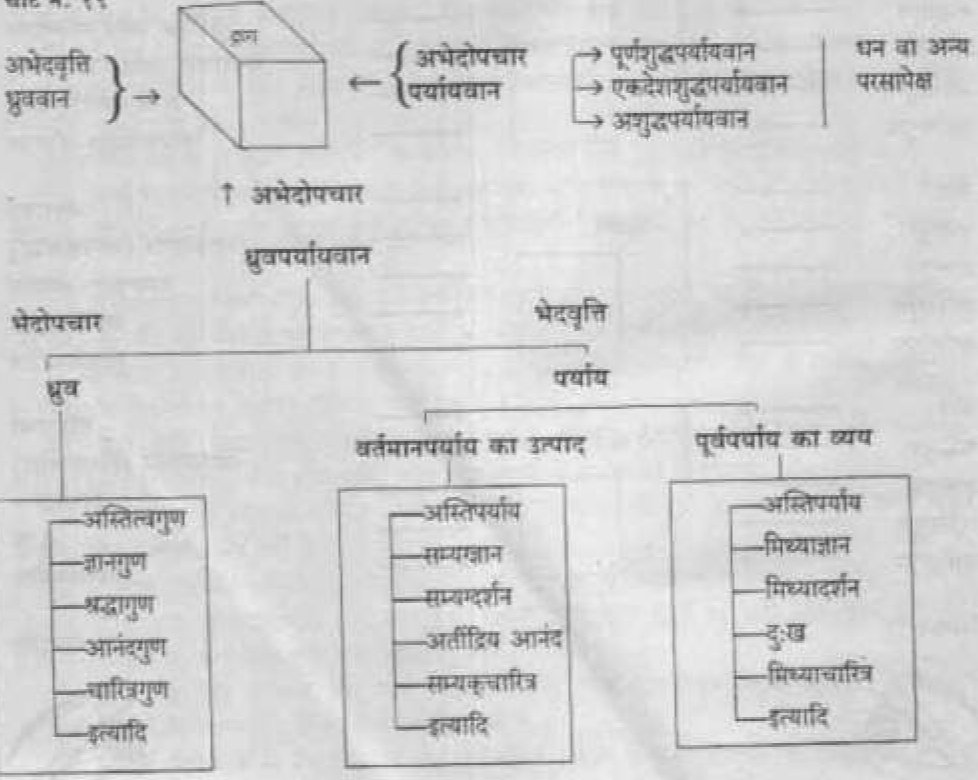


द्रव्यदृष्टि — पर्यायदृष्टि

वस्तु के अविनाशी अंश और क्षणिक अंश जानकर "मेरा आत्मा अविनाशी ज्ञानानंदमय अनादि-अनंत-शुद्ध है" ऐसा विचार किया तो अभी सम्यक्-आनंद प्राप्त होता है, समाधान, समता और शान्ति प्राप्त होती है और सब दुःख नष्ट होते हैं।

एक समय में एक द्रव्य की एक पर्याय होती है। एक समय में एक गुण की एक पर्याय (क्रमनियमित) होती है। एक समय में एक द्रव्य में अनंत गुणसमूह (अक्रम) होते हैं। इसलिये एक समय में अनंत गुणों की अनंत पर्यायों का समूह उत्पन्न होता है। एक समय में अनंत गुणों की अनंत पर्यायों का समूह नष्ट (व्यय) होता है।

चार्ट नं. १९



(क) प्रमाणवाक्य सप्तभंगी

(१) स्यात् 'द्रव्य ध्रुववान' है।← (ग) अभेदवृत्ति
(२) स्यात् 'द्रव्य पर्यायवान' है।
(३) स्यात् 'द्रव्य अवक्तव्यवान' है।
(४) स्यात् 'द्रव्य ध्रुवपर्यायवान' है।
(५) स्यात् 'द्रव्य ध्रुव-अवक्तव्यवान' है।
(६) स्यात् 'द्रव्य पर्याय-अवक्तव्यवान' है।
(७) स्यात् 'द्रव्य ध्रुवपर्याय-अवक्तव्यवान' है।

(घ) अभेदोपचार

(ख) नयवाक्य सप्तभंगी

(१) स्यात् 'द्रव्य ध्रुव' है।← (च) भेदोपचार
(२) स्यात् 'द्रव्य पर्याय' है।
(३) स्यात् 'द्रव्य अवक्तव्य' है।
(४) स्यात् 'द्रव्य ध्रुवपर्याय' है।
(५) स्यात् 'द्रव्य ध्रुव-अवक्तव्य' है।
(६) स्यात् 'द्रव्य पर्याय-अवक्तव्य' है।
(७) स्यात् 'द्रव्य ध्रुवपर्याय-अवक्तव्य' है।

(ङ) भेदवृत्ति

विषय-सूची

ॐ

श्रीसमन्तभद्राय नमः

श्रीमदभिनव-धर्मभूषण-यति-विरचिता

न्याय-दीपिका

[प्रकाशाख्यटिप्पणोपेता]

१. प्रमाणसामान्यप्रकाशः

[1]**श्रीवर्द्धमानमर्हन्तं नत्वा बाल-प्रबुद्धये।**
विरच्यते मित-स्पष्ट-सन्दर्भ-न्यायदीपिका ॥१॥

---

* प्रकाशाख्य-टिप्पणम् *

महावीरं जिनं नत्वा बालानां सुख-बुद्धये।
'दीपिकाया' विशेषार्थः 'प्रकाशेन' प्रकाश्यते ॥१॥

१. प्रकरणारम्भे, स्वकृतेर्निर्विघ्नपरिसमाप्त्यर्थम्, शिष्टाचारपरिपालनार्थम्, शिष्यशिक्षार्थम्, नास्तिकतापरिहारार्थम्, कृतज्ञताप्रकाशनार्थं वा प्रकरणकारः श्रीमदभिनवधर्मभूषणनामा यतिः स्वेष्टदेवतानमस्कारात्मकं मङ्गलं विदधाति-**श्रीवर्द्धमानेति**।

श्रीवर्द्धमानमर्हन्तं चतुर्विंशतितमं तीर्थंकरं महावीरम्। अथवा, श्रिया- अनन्तचतुष्टयस्वरूपान्तरङ्गलक्षणया समवसरणादिबहिरङ्गस्वभावया च लक्ष्म्या-, वर्द्धमानः- वृद्धेः परमप्रकर्षं प्राप्तः, अर्हन् परमार्हन्त्यमूहस्तम्। **नत्वा** नमस्कृत्य, कायवाङ्मनसां त्रिशुद्ध्या प्रणम्येत्यर्थः। **बालानां** मन्दबुद्धीनाम्। बालास्त्रिविधाः प्रोक्ताः- मतिकृताः, कालकृताः, शरीरपरिमाणकृताश्चेति। तत्रेह मतिकृता बाला गृह्यन्ते नान्ये, तेषां व्यभिचारात्। कश्चिदष्टवर्षीयोऽपि निखिलज्ञानसंयमोपपन्नः सर्वज्ञः, कुब्जको वा सकलशास्त्रज्ञो भवति। न च तौ व्युत्पाद्यौ। अथ मतिकृता अपि बालाः किंलक्षणा इति चेत्; उच्यते; अव्युत्पन्न-संदिग्ध-विपर्यास्तास्तत्त्वज्ञानरहिता बालाः। अथवा, ये यत्रानभिज्ञास्ते तत्र बालाः। अथवा, ग्रहणधारणपटवो बालाः, न स्तनन्धयाः। अथवा, अधीतव्याकरण-काव्य-कोशा

अनधीतन्यायशास्त्रा बालाः। तेषां **प्रबुद्धये** प्रकर्षेण संशयादिव्यवच्छेदेन बोधार्थम्। **मितो** मानयुक्तः परिमितो वा। **स्पष्टो** व्यक्तः। **सन्दर्भो** रचना यस्याः सा चासौ '**न्यायदीपिका**'– प्रमाण-नयात्मको न्यायस्तस्य दीपिका प्रकाशिका। समासतो न्यायस्वरूपव्युत्पादनपरो ग्रन्थो '**न्यायदीपिका**' इति भावः। **विरच्यते** मया **धर्मभूषण**यतिना इति क्रियाकारकसम्बन्धः।

ननु मङ्गलं न करणीयं निष्फलत्वात्। न हि तस्य किञ्चित्फलमुपलभ्यते। न च निर्विघ्नपरिसमाप्तिस्तत्फलमुपलभ्यत एवेति वाच्यम् समाप्तेर्मङ्गलफलत्वानुपपत्तेः। तथा हि-मङ्गलं समाप्तिं प्रति न कारणम्, अन्वय-व्यतिरेकव्यभिचाराभ्याम्। सर्वत्र ह्यन्वयव्यतिरेकविधया कार्यकारणभावः समधिगम्यते। कारणसत्त्वे कार्यसत्त्वमन्वयः, कारणाभावे कार्याभावो व्यतिरेकः। न चेमौ प्रकृते सम्भवतः, मङ्गलसत्त्वेऽपि **मोक्षमार्गप्रकाशादौ** समाप्त्यदर्शनात्। मङ्गलाभावेऽपि च **परीक्षामुखादौ** समाप्तिदर्शनात्। अतोऽन्वयव्यभिचारो व्यतिरेकव्यभिचारश्च। कारणसत्त्वे कार्यासत्त्वमन्वयव्यभिचारः। कारणाभावे कार्यसत्त्वं च व्यतिरेकव्यभिचार इति न **चेतसि विधेयम्; मङ्गलस्य सफलत्वसिद्धेः** निष्फलत्वानुपपत्तेः। तथा—

मङ्गलं सफलम् शिष्टाचारविषयत्वात् इत्यनुमानेन मङ्गलस्य साफल्यसिद्धेः तच्च फलं ग्रन्थारम्भे कर्तुर्हृदि 'प्रारब्धमिदं कार्यं निर्विघ्नतया परिसमाप्यताम्' इति कामनाया अवश्यम्भावित्वात्— निर्विघ्नसमाप्तिः कल्प्यते। यच्चोक्तम्– अन्वय-व्यतिरेकव्यभिचाराभ्यामिति, तदयुक्तम्; **मोक्षमार्गप्रकाशादौ** विघ्नबाहुल्येन मङ्गलस्य च न्यूनत्वेन समाप्त्यदर्शनात्। प्रचुरस्यैव हि मङ्गलस्य प्रचुरविघ्ननिराकरणकारणत्वम्। किञ्च, बाह्यसाधनसामान्यभावान्न तत्र समाप्तिदर्शनम्। 'सामग्रीजनिका हि कार्यस्य नैकं कारणम्' इति। तथा चोक्तं **श्रीवादिराजाचार्यैः**— समग्रस्यैव हेतुत्वात्। असमग्रस्य व्यभिचारेऽपि दोषाभावात्। अन्यथा न पावकस्यापि धूमहेतुत्वमार्द्रेन्धनादिविकलस्य व्यभिचारात्। तस्मात्—

> **'आर्द्रेन्धनादिसहकारिसमग्रतायां**
> **यद्वत्करोति नियमादिह धूममग्निः।**
> **तद्वद्विशुद्धप्रतिशयादिसमग्रतायां**
> **निर्विघ्नतादि विदधाति जिनस्तवोऽपि॥'**
>
> **—न्यायविनिश्चयवि. लि.प. २**

अतो **मोक्षमार्गप्रकाशादौ** कारणान्तराभावान्न परिसमाप्तिः। ततो नान्वयव्यभिचारः। नापि **परीक्षामुखादौ** व्यतिरेकव्यभिचारः, तत्र वाचिकस्य निबद्धरूपस्य मङ्गलस्याकरणेऽप्यनिबद्धस्य वाचिकस्य मानसिकस्य कायिकस्य वा तस्य सम्भवात्। मङ्गलं हि मनोवचःकायभेदात् त्रिधा भिद्यते। वाचिकमपि निबद्धाऽनिबद्धरूपेण द्विविधम्। यतोवोक्तम्— 'नाप्यसति तस्मिन् तद्वचस्तस्य निबद्धस्याभावेऽप्यनिबद्धस्य तस्य परमगुरुगुणानुस्मरणात्मनो मङ्गल-स्यावश्यम्भावात् तदस्तित्वस्य च तत्कार्यादेवानुमानात्। धूमादेः प्रदेशादिव्यवहितपावकाद्यनुमानवत्। मङ्गलसामग्री-वैकल्यस्य च क्वचित्कार्यस्य वैकल्यादनुमानाद्धूमाभावात् तदन्यासमर्थदहनाभावानुमानवत्।'– न्यायविनिश्च-यवि. लि. प. २। विद्यानन्दस्वामिभिरप्युक्तम्— 'तस्य (मङ्गलस्य) शास्त्रे निबद्धस्यानिबद्धस्य वा वाचिकस्य मानसस्य वा विस्तरतः संक्षेपतो वा शास्त्रकारैरवश्यंकरणात्। तदकरणे तेषां तत्कृतोपकारविस्मरणादसाधुत्वप्रसङ्गात्। साधूनां कृतस्योपकारस्याविस्मरणप्रसिद्धेः। 'न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति' इति वचनात्।'– आप्तपरी. पृ. ३। परमेष्ठिगुणस्तोत्ररूपस्य मङ्गलस्य पुण्यावाप्तिरधर्मप्रध्वंसः फलमिति तु तत्त्वम्। अतो ग्रन्थादौ मङ्गलमवश्यमा-चरणीयमिति।

[प्रमाण-नय-विवेचनस्य पीठिका]

¶ १ "प्रमाणनयैरधिगमः" इति महाशास्त्रतत्त्वार्थसूत्रम्[१] [१-६] [२]तत्खलु परमपुरुषार्थ[३]निःश्रेयससाधनसम्यग्दर्शनादि[४]विषयभूतजीवादि[५]तत्त्वाधिगमोपायनिरूपणपरम्। प्रमाणनयाभ्यां हि[1] विवेचिता[६] जीवादयः सम्यगधिगम्यन्ते[७]। तद्व्यतिरेकेण[८] जीवाद्यधिगमे प्रकारान्तरासम्भवात्[९]। तत[१०] एव जीवाद्यधिगमोपायभूतौ प्रमाणनयावपि विवेक्तव्यौ[११]। तद्विवेचनपराः[१२] प्राक्तनग्रन्थाः[१३] सन्त्येव, तथापि ते[2] केचिद्विस्तृताः[१४], केचिद्गम्भीरा[१५] इति न तत्र बालाना[१६]मधिकारः[१७]। ततस्तेषां सुखोपायेन[१८] प्रमाण-नयात्मकन्याय[१९]-स्वरूपप्रतिबोधकशास्त्राधिकारसम्पत्तये [२०]प्रकरणमिदमारभ्यते।

[त्रिविधायाः प्रकरणप्रवृत्तेः कथनम्]

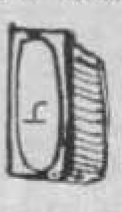
¶ २ इह[२१]हि प्रमाण-नयविवेचनमुद्देश-लक्षणनिर्देश-परीक्षाद्वारेण[२२] क्रियते। अनुद्दिष्टस्य[२३] लक्षणनिर्देशानुपपत्तेः। अनिर्दिष्टलक्षणस्य परीक्षितुमशक्यत्वात्। अपरीक्षितस्य विवेचनायोगात्। लोकशास्त्रयोरपि तथैव[२४] वस्तुविवेचनप्रसिद्धेः।

---

१. मोक्षशास्त्रापरनामधेयम्। २. सूत्रम्। ३. चत्वारः पुरुषार्थाः— धर्मार्थकाममोक्षाः, तेषु परमः पुरुषार्थो मोक्षः, स एव निःश्रेयसमित्युच्यते। सकलप्राणिभिर्मुख्यसाध्यत्वेनाभीष्टत्वान्मोक्षस्य परमपुरुषार्थत्वमिति भावः। ४. आदिपदात्सम्यग्ज्ञानं सम्यक्चारित्रं च गृह्येते। ५. अत्रादिपदेनाऽजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षतत्त्वानि गृहीतव्यानि। ६. पृथक्कृताः विश्लेषिता इत्यर्थः। ७. ज्ञायन्ते। ८. प्रमाणनयाभ्यां विना। ९. प्रमाणनयातिरिक्ततृतीयादिप्रकारस्याभावात्। १०. प्रकारान्तरासम्भवादेव। ११. व्याख्यातव्यौ। १२. प्रमाणनयव्याख्यानतत्पराः। १३. अकलङ्कादिप्रणीता न्यायविनिश्चयादयः। १४. प्रमेयकमलमार्तण्डन्यायकुमुदचन्द्रन्यायविनिश्चयविवरणादयः। १५. न्यायविनिश्चयप्रमाणसंग्रहश्लोकवार्तिकादयः। १६. प्रोक्तलक्षणानाम्। १७. प्रवेशः। १८. अक्लेशेन। १९. निपूर्वादिणगतावित्यस्माद्धातोः करणे घञ्प्रत्यये सति न्यायशब्दसिद्धिः, नितरामियते ज्ञायतेऽर्थोऽनेनेति न्यायः, अर्थपरिच्छेदकोपायो न्याय इत्यर्थः। स च प्रमाण-नयात्मक एव 'प्रमाणनयैरधिगमः' इत्यभिहितत्वादिति, लक्षण-प्रमाण-नय-निक्षेपचतुष्टयात्मको न्याय इति च। लक्षण-प्रमाणाभ्यामर्थसिद्धिरित्यतो लक्षणप्रमाणे न्याय इत्यन्ये। प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्याय इत्येके। पञ्चावयववाक्यप्रयोगो न्याय इत्यपि केचित्। २०. न्यायदीपिकाख्यम्। २१. अत्र प्रकरणे। २२. अत्रेदं बोध्यम्– उद्देशस्य प्रयोजनं विवेचनीयस्य वस्तुनः परिज्ञानम्। लक्षणस्य व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा प्रयोजनम्। परीक्षायाश्च लक्षणे दोषपरिहारः प्रयोजनम्। अत एव शास्त्रकारा उद्देशलक्षणनिर्देश-परीक्षाभिः शास्त्रप्रवृत्तिं कुर्वाणा दृष्टाः। २३. अकृतोद्देशस्य पदार्थस्य। २४. उद्देशादिद्वारेण।

---

1 द आ प्रत्योः 'हि' पाठो नास्ति। 2 प म मु प्रतिषु 'ते' पाठो नास्ति।



(आ) प्रमाण = सकल



(ब) नय = विकल

§ ३ तत्र[१] विवेक्तव्यनाममात्रकथन[२]मुद्देशः। व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुर्लक्षणम्[३]। तदाहुर्वार्तिककारपादाः[४] "परस्परव्यतिकरे[५] सति [६]येनाऽन्यत्वं लक्ष्यते तल्लक्षणम्" [तत्त्वार्थवा. २-८] इति।

§ ४ द्विविधं1 लक्षणम्2, आत्मभूतमनात्मभूतं चेति। तत्र[७] यद्वस्तुस्वरूपानुप्रविष्टं तदात्मभूतम्[८], यथाऽग्नेरौष्ण्यम्। औष्ण्यं ह्यग्नेः स्वरूपं 3सदग्निमबादिभ्यो[९] व्यावर्तयति। [१०]तद्विपरीतम[११]नात्मभूतम्4, यथा दण्डः पुरुषस्य। दण्डिनमानयेत्युक्ते हि दण्डः पुरुषाननुप्रविष्ट एव पुरुषं [१२]व्यावर्तयति। 5 यद्भाष्यम् "तत्रात्मभूतमग्नेरौष्ण्यमनात्मभूतं देवदत्तस्य दण्डः" [राजवा. भा. २-८] इति।

§ ५ 'असाधारणधर्मवचनं6 लक्षणम्' इति केचित्[१३]; तदनुपपन्नम्[१४]; लक्ष्यधर्मिवचनस्य लक्षणधर्मवचनेन सामानाधिकरण्याभावप्रसङ्गात्[१५], दण्डादेरतद्धर्मस्यापि[१६] लक्षणत्वाच्च। किञ्चाव्याप्ताभिधानस्य लक्षणाभासस्यापि[१७] तथात्वात्[१८]। तथा हि– त्रयो लक्षणाभासभेदाः, अव्याप्तमतिव्याप्तमसम्भवि चेति। तत्र लक्ष्यैकदेशवृत्त्यव्याप्तम्, यथा गोः शावलेयत्वम्।

१. उद्देशादिषु मध्ये। २. विवेचनयोग्यस्य नाममात्रनिरूपणम्, यथा घटविवेचनप्रसङ्गे घट एव विवेक्तव्यो भवति। ३. परस्परमिलितानां वस्तूनां व्यावृत्तिजनकं यत् तल्लक्षणमिति भावः। अत्र लक्षणं लक्ष्यं, शेषं तस्य लक्षणम्। ४. तत्त्वार्थवार्तिककाराः **श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवाः**। "पादाः भट्टारको देवः प्रयोज्याः पूज्यनामतः।" आ.प. १। ५. समानधर्माधारतया परस्परविषयगमनं व्यतिकर इति, एवं यत्रान्योन्यव्यतिकरे सति, इति भावः। ६. परस्परमिलितपदार्थव्यावृत्तिकारकेण। ७. तयोर्मध्ये। ८. कथंचिदविष्वग्भावाख्यतादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्न-धर्मस्यात्मभूतलक्षणत्वम्। ९. जलादिभ्यः। १०. यद्वस्तुस्वरूपाननुप्रविष्टं तदनात्मभूतम्। भवति हि दण्डः पुरुषस्य लक्षणम्, स च नाऽऽत्मभूतः, पुरुषादन्यत्राप्युपलभ्यमानत्वात्। अत एवात्मभूतलक्षणादनात्मभूतलक्षणस्य भेदः। ११. कथञ्चिद्विष्वग्भावाख्यसंयोगादिसम्बन्धावच्छिन्नस्यानात्मभूतलक्षणत्वम्। १२. अदण्डिनः सकाशात् पृथक्करोति। १३. नैयायिकाः, हेमचन्द्राचार्या वा। १४. तदयुक्तम्, सदोषत्वात्। अत्र हि लक्षणस्य लक्षणे त्रयो दोषाः सम्भवन्ति– अव्याप्तिरतिव्याप्तिरसम्भवश्चेति। तत्र लक्ष्यधर्मिवचनादिनाऽसम्भवो दोष उक्तः। दण्डादेरित्यादिनाऽव्याप्तिः प्रदर्शिता। किञ्चेत्यादिना चातिव्याप्तिः कथिता। एतच्च परिशिष्टे स्पष्टम्। अत्रासाधारणत्वं तदितरावृत्तित्वं ग्राह्यम्, लक्ष्येतरावृत्तित्वमित्यर्थः। १५. सामानाधिकरण्यं द्विधा– आर्थं शाब्दञ्च। तत्रैकाधिकरणवृत्तित्वमार्थम्, यथा रूपरसयोः। शाब्दं त्वेकार्थप्रतिपादकत्वे सति समानविभक्तिकत्वं भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तित्वरूपं वा, यथा नीलं कमलमित्यत्र। प्रकृते शाब्दं सामानाधिकरण्यं ग्राह्यं वचनशब्दप्रयोगात्। वचनेन हि वचनस्य शाब्द-सामानाधिकरण्यम्। तच्चासाधारणधर्मवचनस्य लक्षणत्वेऽसम्भवि। शेषं परिशिष्टे द्रष्टव्यम्। १६. पुरुषासाधारणधर्मस्यापि- दण्डादिर्नं पुरुषस्यासाधारणधर्मस्तथापि लक्षणं भवतीति भावः। १७. सदोषलक्षणं लक्षणाभासम्। १८. असाधारणधर्मत्वात्।

1 'तद्विविधम्' इति आ प्रतिपाठः। 2 'लक्षण' इति पाठः आ प्रतौ नास्ति। 4 'चेति' द प्रतौ पाठः। 3,5 'तद्' म प मु प्रतिषु पाठः। 6 'असाधारणधर्मो लक्षणम्' इति म प प्रत्योः पाठः।



[1]लक्ष्यालक्ष्यवृत्त्यतिव्याप्तम्, यथा तस्यैव पशुत्वम्। बाधितलक्ष्यवृत्त्यसम्भवि, यथा नरस्य विषाणित्वम्। अत्र हि लक्ष्यैकदेशवर्तिनः पुनरव्याप्तस्यासाधारणधर्मत्वमस्ति, न तु लक्ष्यभूत[2]गोमात्र[1]व्यावर्तकत्वम्। तस्माद्यथोक्तमेव[3] लक्षणम्, तस्य कथनं लक्षणनिर्देशः।

§ ६ विरुद्धनानायुक्तिप्राबल्यदौर्बल्यावधारणाय प्रवर्तमानो विचारः परीक्षा[4]। सा खल्वेवं चेदेवं स्यादेवं चेदेवं न स्यादित्येवं[2] प्रवर्तते।

§ ७ प्रमाणनययोरप्युद्देशः सूत्र[5] एव कृतः। लक्षणमिदानीं निर्देष्टव्यम्। परीक्षा च [6]यथौचित्यं[3] भविष्यति। 'उद्देशानुसारेण[7] लक्षणकथनम्' इति न्यायात्प्रधानत्वेन[8] प्रथमोद्दिष्टस्य प्रमाणस्य तावल्लक्षणमनुशिष्यते[9]।

[प्रमाणसामान्यस्य लक्षणकथनम्]

§ ८ सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्। अत्र प्रमाणं लक्ष्यं सम्यग्ज्ञानत्वं[10] तस्य लक्षणम्। गोरिव सास्नादिमत्त्वम्, अग्नेरिवौष्ण्यम्। अत्र[11] सम्यक्पदं संशयविपर्ययानध्यवसायनिरासाय क्रियते, अप्रमाणत्वादेतेषां[12] ज्ञानानामिति।

§ ९ तथा हि– विरुद्धानेककोटिस्पर्शि[13] ज्ञानं संशयः, यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति। स्थाणुपुरुष[14]साधारणोर्ध्वतादिधर्मदर्शनात्तद्विशेषस्य[15] वक्रकोटरशिरःपाण्यादेः साधकप्रमाणाभावादनेककोट्यवलम्बित्वं ज्ञानस्य। विपरीतैककोटिनिश्चयो विपर्ययः, यथा शुक्तिकायामिदं रजतमिति ज्ञानम्[16]। अत्रापि सादृश्यादि[17]निमित्तवशाच्छुक्तिविपरीते रजते

१. यस्य लक्षणं क्रियते तल्लक्ष्यं तद्भिन्नमलक्ष्यं ज्ञेयम्। २. गोत्वावच्छिन्नसकलगौः ३. व्यतिकीर्णवस्तुव्यावृत्तिहेतुरित्येव। ४. 'लक्षितस्य लक्षणमुपपद्यते नवेति विचारः परीक्षा' – (तर्कस. पदकृ. पृ. ५)। ५. 'प्रमाणनयैरधिगमः' इति तत्त्वार्थसूत्रस्य पूर्वोल्लिखिते सूत्रे। ६. यथावसरम्। ७. उद्देशक्रमेण, यथोद्देशस्तथा निर्देश इति भावः। ८. अथ प्रमाणनययोर्मध्ये प्रमाणापेक्षया नयस्याल्पाच्तरत्वात्प्रथमतस्तस्यैवोद्देशः कर्तव्योऽत आह **प्रधानत्वेनेति**। ननु तथापि कथं प्रमाणस्य प्रधानत्वं? येन प्रथमं तदुद्दिश्यत इति चेदुच्यते; प्रमाणस्याभ्यर्हितत्वात्प्रधानत्वम्, अभ्यर्हितत्वं च 'प्रमाणप्रकाशितेष्वर्थेषु नयप्रवृत्तेर्व्यवहारहेतुत्वात्। यतो हि प्रमाणप्रकाशितेष्वर्थेषु नयप्रवृत्तिर्व्यवहारहेतुर्भवति नान्येष्वतोऽभ्यर्हितत्वं प्रमाणस्य।' अथवा समुदायविषयं प्रमाणमवयवविषया नयाः। तथा चोक्तम्- "**सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीनः**" इति'।- (तत्त्वार्थवा. १-६)। ९. कथ्यते। १०. यावत्सम्यग्ज्ञानवृत्तिः सामान्यरूपो धर्मः सम्यग्ज्ञानत्वम्। ११. 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाण'मित्यत्र। १२. संशयादीनाम्। १३. कोटिः– पक्षः, अवस्था वा। १४. उभयवृत्तिः सामान्यरूप ऊर्ध्वतादिधर्मः साधारणः। १५. स्थाणुपुरुषविशेषस्य, स्थाणोर्विशेषो वक्रकोटरादिः। पुरुषस्य तु शिरःपाण्यादिरिति भावः। १६. तदभाववति तत्प्रकारकं ज्ञानं विपर्ययः, यथा रजतत्वाभाववति शुक्तिशकले रजतत्वप्रकारकं 'शुक्तौ इदं रजतम्' इति ज्ञानमित्याशयः। १७. आदिपदेन चाकचिक्यादिग्रहणम्।

1 'मात्रस्य' इति द प्रतिपाठः। 2 'खल्वेवं चेदेवं स्यादेवं न स्यादित्येवं' इति आ प्रतिपाठः। प मु प्रतिषु 'न' पाठो नास्ति। 3 'यथोचितं' इति द प्रतिपाठः।

निश्चयः। किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः[१], यथा पथि[1] गच्छतस्तृणस्पर्शादिज्ञानम्। इदं[२] हि नानाकोट्यवलम्बनाभावान्न संशयः। विपरीतैककोटिनिश्चयाभावान्न विपर्यय इति पृथगेव[३]। एतानि[४] च स्वविषयप्रमितिजनकत्वाभावादप्रमाणानि ज्ञानानि भवन्ति, सम्यग्ज्ञानानि तु न भवन्तीति सम्यक्पदेन व्युदस्यन्ते[५]। ज्ञानपदेन[६] प्रमातुः प्रमितेश्च[७] व्यावृत्तिः। अस्ति हि निर्दोषत्वेन तत्रापि[८] सम्यक्त्वं न तु ज्ञानत्वम्।

§ १० ननु प्रमितिकर्तुः प्रमातुर्ज्ञातृत्वमेव न ज्ञानत्वमिति यद्यपि ज्ञानपदेन व्यावृत्तिस्तथापि प्रमितिर्न व्यावर्तयितुं शक्या, तस्या अपि [९]सम्यग्ज्ञानत्वादिति चेत्; भवेदेवम्[१०]; यदि [११]भावसाधनमिह ज्ञानपदम्। करणसाधनं खल्वेतज्ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानमिति। "करणाधारे चानट्" [जैनेन्द्रव्या.] इति करणेऽप्यनट्प्रत्ययानुशासनात्[१२]। भावसाधनं तु ज्ञानपदं प्रमितिमाह[2]। अन्यद्धि भावसाधनात्करणसाधनं[3] पदम्। [१३]एवमेव [१४]प्रमाणपदमपि प्रमीयतेऽनेनेति करणसाधनं कर्तव्यम्। [१५]अन्यथा सम्यग्ज्ञानपदेन सामानाधिकरण्याघटनात्[१६]। तेन प्रमितिक्रियां प्रति यत्करणं तत्प्रमाणमिति सिद्धम्[१७]। तदुक्तं प्रमाणनिर्णये- "इदमेव हि प्रमाणस्य प्रमाणत्वं यत्प्रमितिक्रियां प्रति साधकतमत्वेन[१८] करणत्वम्" [प्रत्यक्षनिर्णय पृ. १] इति।

---

१. अनिश्चयस्वरूपं संशय-विपर्ययभिन्नजातीयं ज्ञानम्। २. अनध्यवसायाख्यज्ञानस्य संशय-विपर्ययाभ्यां ज्ञानान्तरत्वं प्रसाधयति **इदमिति**, इदम्- अनध्यवसायाख्यं ज्ञानम्। इदमत्र तात्पर्यम्- संशये नानाकोट्यवलम्बनात्, विपर्यये च विपरीतैककोटिनिश्चयात्। अनध्यवसाये तु नैकस्या अपि कोटेर्निश्चयो भवति। ततस्तदुभयभिन्नविषयत्वेन कारणस्वरूपभेदेन च ताभ्यामिदं ज्ञानं भिन्नमेव। तथा चोक्तम्- 'अस्य (अनध्यवसायस्य) चानवधारणात्मकत्वेऽपि कारणस्वरूपादिभेदान्न संशयता। अप्रतीतविशेषविषयत्वेनाऽपि अस्य सम्भवादुभयविशेषानुस्मरणजसंशयतो भेद एवेति **कन्दलीकाराः**।'- प्रशस्तपा. टि. पृ. ९१। ३. संशय-विपर्ययाभ्याम्। ४. संशयादीनि। ५. निराक्रियन्ते। ६. सम्यक्पदस्य कृत्यं प्रदर्श्य ज्ञानपदस्य कृत्यं प्रदर्शयति **ज्ञानपदेनेति**। ७. ननु ज्ञानपदेन यथा प्रमातुः प्रमितेश्च व्यावृत्तिः कृता तथा प्रमेयस्य कथं न कृता तस्यापि ज्ञानत्वाभावात्, इति चेत्तस्यापि चशब्दाद् ग्रहणं बोध्यम्। यद्यपि स्वपरिच्छेद्यापेक्षया ज्ञानस्य प्रमेयत्वमस्त्येव तथापि घटपटादिबहिरर्थापेक्षया प्रमेयत्वं नास्तीत्यतो युक्तं चशब्दात्तस्य ग्रहणम्। ८. प्रमातरि प्रमितौ प्रमेये च। ९. भावसाधनपक्षे। १०. प्रमितेरव्यावर्तनम्। ११. ज्ञप्तिमात्रं ज्ञानमिति। १२. विधानात्। १३. ज्ञानपदवत्। १४. 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्' इत्यत्र प्रमाणलक्षणे प्रयुक्तं 'प्रमाणम्' इति पदम्। १५. प्रमाणपदं करणसाधनं नो चेत्। १६. प्रोक्तलक्षणशाब्दसामानाधिकरण्यानुपपत्तेः। १७. सुनिश्चितम्। १८. अतिशयेन साधकमिति साधकतमं नियमेन कार्योत्पादकमित्यर्थः।

---

1. 'पथि' इति पाठो म प्रतौ नास्ति। 2. 'प्रमितिराह' इति आ प्रतिपाठः। 3. 'साधनपदं' इति प प्रतिपाठः।

§ ११ नन्वेव[१]मप्यक्षलिङ्गादा[२]वतिव्याप्तिर्लक्षणस्य[३], तत्रापि[४] प्रमितिरूपं फलं प्रति करणत्वात्, दृश्यते हि चक्षुषा प्रमीयते, धूमेन प्रमीयते, शब्देन प्रमीयत इति व्यवहार[1] इति चेत् न[५]; अक्षादेः प्रमितिं प्रत्यसाधकतमत्वात्।

§ १२ तथा हि- प्रमितिः प्रमाणस्य फलमिति न कस्यापि[६] विप्रतिपत्तिः[७]। [८]सा चाज्ञाननिवृत्तिरूपा, [९]तदुत्पत्तौ[2] करणेन[3] सता[१०] तावदज्ञानविरोधिना भवितव्यम्। न चाक्षादिकमज्ञानविरोधि[4], अचेतनत्वात्। तस्मादज्ञानविरोधिनश्चेतनधर्मस्यैव[११] करणत्वमुचितम्। लोकेऽप्यन्धकारविघटनाय तद्विरोधी प्रकाश[१२] एवोपास्यते[१३] न पुनर्घटादिः, तद[१४]विरोधित्वात्।

§ १३ किञ्च, अस्वसंविदितत्वादक्षादेर्नार्थप्रमितौ साधकतमत्वम्, स्वावभासनाशक्तस्य परावभासकत्वायोगात्[5]। ज्ञानं तु स्वपरावभासकं[१५] प्रदीपादिवत्प्रतीतम्। ततः स्थितं प्रमितावसाधकतमत्वादकरण[१६]मक्षादय इति।

§ १४ चक्षुषा प्रमीयत इत्यादिव्यवहारे पुनरुपचारः शरणम्, उपचारप्रवृत्तौ च सहकारित्वं निबन्धनम्[१७]। न हि सहकारित्वेन [१८]तत्साधकमिद[१९]मिति करणं नाम, [२०]साधकविशेषस्यातिशयवतः[२१] करणत्वात्। तदुक्तं जैनेन्द्रे- "साधकतमं करणम्" [१।२।११४] इति[6]। तस्मान्न लक्षणस्याक्षादावतिव्याप्तिः।

§ १५ अथापि[२२] धारावाहिकबुद्धिष्वतिव्याप्तिस्तासां सम्यग्ज्ञानत्वात्। न च [२३]तासामार्हतमते प्रामाण्याभ्युपगम इति; उच्यते; एकस्मिन्नेव घटे घटविषयाज्ञानविघटनार्थमाद्ये ज्ञाने प्रवृत्ते तेन[२४] घटप्रमितौ सिद्धायां पुनर्घटोऽयं घटोऽयमित्येवमुत्पन्नान्युत्तरोत्तरज्ञानानि खलु धारावाहिकज्ञानानि भवन्ति[7]। न ह्ये[२५]तेषां[8] प्रमितिं प्रति साधकतमत्वम्, प्रथमज्ञानेनैव प्रमितेः सिद्धत्वात्। कथं तत्र[२६] लक्षणमतिव्याप्नोति? तेषां[२७] गृहीतग्राहित्वात्।

---

१. संशयादौ प्रमात्रादौ च प्रोक्तप्रमाणलक्षणस्य व्यावृत्तावपि, अथ च प्रमाणपदस्य करणसाधनत्वेऽपि। २. आदिपदेन धूमादेर्ग्रहणम्। ३. अयमत्राशयः- यदि 'प्रमितिक्रियां प्रति यत्करणं तत्प्रमाणम्' इति प्रमाणार्थः कक्षीक्रियते तर्हि प्रमितिरूपं फलं प्रति करणत्वेनाक्ष-लिङ्गादेरपि प्रमाणत्वप्रसङ्गात्। अक्षलिङ्गादिः- इन्द्रिय-धूम-शब्दादिः। ४. अक्षलिङ्गादौ। ५. समाधत्ते नेति। ६. वादिनः प्रतिवादिनो वा। ७. विवादः। ८. प्रमितिः। ९. प्रमित्युत्पत्तौ। १०. भवता। ११. ज्ञानरूपस्य। १२. प्रदीपादिः। १३. अन्विष्यते। १४. तेनान्धकारेण सह घटादेर्विरोधाभावात्। १५. स्वपरपरिच्छेदकम्। १६. प्रमितिं प्रति न करणम्। १७. 'मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते' इति नियमात्। १८. प्रमितिसाधकम्। १९. अक्षादिकम्। २०. असाधारणसाधकस्य ज्ञानस्य। २१. अत्रातिशयो नाम नियमेन कार्योत्पादकत्वम्। २२. अक्षलिङ्गादावतिव्याप्तिवारणेऽपि। २३. धारावाहिकबुद्धीनाम्। २४. आद्येन घटज्ञानेन। २५. धारावाहिकज्ञानानाम्। २६. धारावाहिकबुद्धिषु। २७. धारावाहिकज्ञानानाम्।

---

1 'इति व्यवहारः' आ प्रतौ नास्ति। 2 'तदुत्पत्तौ तु' इति द प्रतिपाठः। 3 'भवता' इति पाठो म प मु प्रतिषु अधिकः। 4 '... दिकं तद्विरोधि' इति ब प्रतौ पाठः। 5 'घटवत्' इत्यधिकः पाठो म प प्रत्योः। 6 'इति' पाठो मुद्रितप्रतिषु नास्ति। 7 'भवन्ति' म प मु प्रतिषु नास्ति। 8 'एषां' इति म प मु प्रतिषु पाठः।

§१६ ननु घटे दृष्टे पुनरन्यव्यासङ्गेन[१] पश्चात् घट एव दृष्टे पश्चात्तनं ज्ञानं पुनरप्रमाणं प्राप्नोति धारावाहिकवदिति चेत्; न; [२]दृष्टस्यापि मध्ये समारोपे[३] सत्यदृष्टत्वात्[४]। तदुक्तम्– ''दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक्'' [परीक्षा. १-५] इति।

§१७ [५]एतेन निर्विकल्पके सत्तालोचनरूपे दर्शनेऽप्यतिव्याप्तिः परिहृता। [६]तस्याव्यवसाय-रूपत्वेन[७] प्रमितिं प्रति करणत्वाभावात्। निराकारस्य[1] ज्ञानत्वाभावाच्च। ''निराकारं दर्शनं साकारं ज्ञानम्'' [सर्वार्थसि. २-९] इति प्रवचनात्[८]। तदेवं[2] प्रमाणस्य सम्यग्ज्ञानमिति लक्षणं नाऽतिव्याप्तम्। नाऽप्यव्याप्तम्, लक्ष्ययोः प्रत्यक्षपरोक्षयोर्व्याप्यवृत्तेः[९]। नाऽप्यसम्भवि, [१०]लक्ष्यवृत्तेरबाधितत्वात्[११]।

[प्रमाणस्य प्रामाण्यनिरूपणम्]

§१८ किमिदं[१२]प्रमाणस्य प्रामाण्यं नाम ? प्रतिभातविषयाऽव्यभिचारित्वम्[3]। [१३]तस्यो-त्पत्तिः कथम् ? स्वत एवेति मीमांसकाः। प्रामाण्यस्य स्वत उत्पत्तिरिति ज्ञानसामान्यसामग्रीमात्रजन्यत्वमित्यर्थः[१४]। तदुक्तम्– ''ज्ञानोत्पादकहेत्वनतिरिक्तजन्यत्व[१५]मुत्पत्तौ स्वतस्त्वम्'' [ ] इति। [१६]न ते मीमांसकाः, ज्ञानसामान्यसामग्र्याः[१७] संशयादावपि ज्ञानविशेषे[१८] सत्त्वात्। वयं[१९] तु ब्रूमहे ज्ञानसामान्यसामग्र्याः साम्येऽपि संशयादिरप्रमाणं, सम्यग्ज्ञानं प्रमाणमिति विभागस्तावदनिबन्धनो[२०] न भवति। ततः संशयादौ यथा हेत्वन्तर[२१]मप्रामाण्ये दोषादिकमङ्गीक्रियते[२२] तथा प्रमाणेऽपि[4] [२३]प्रामाण्यनिबन्धनमन्यदवश्यमभ्युपगन्तव्यम्, अन्यथा[२४] प्रमाणाप्रमाणविभागानुपपत्तेः[२५]।

---

१. अन्यस्मिन् कार्ये व्यापृते चित्तस्याभ्यासशक्तिर्व्यासङ्गः। बुद्धेरन्यत्र संचारो विषयान्तराकृष्टत्वं वा व्यासङ्गः। २. ज्ञातस्यापि। ३. संशयविपर्ययानध्यवसायविस्मरणलक्षणे ४. ज्ञातपदार्थोऽपि सति संशये, विपर्यये, अनध्यवसाये, विस्मरणे वाऽज्ञाततुल्यो भवति। अतस्तद्विषयकं ज्ञानं प्रमाणमेवेति भावः। ५. अस्खलितशब्दधारावाहिकबुद्धि-ष्वतिव्याप्तिनिराकरणेन। ६. निर्विकल्पकदर्शनस्य। ७. अनिश्चयात्मकत्वेन। ८. आगमात्। ९. यावल्लक्ष्येषु वर्तमानत्वं व्याप्यवृत्तित्वम्। १०. लक्ष्ययोः प्रत्यक्षपरोक्षयोः। ११. तदेव हि सम्यक् लक्षणं यदव्याप्त्यादिदोषत्रयशून्यमित्यभिप्रेत्य ग्रन्थकृता दोषत्रयपरिहारः कृतः। १२. प्रामाण्यं स्वतोऽप्रामाण्यं परत इति **मीमांसकः**, अप्रामाण्यं स्वतः प्रामाण्यं परत इति **ताथागताः**, उभयं स्वत इति **सांख्याः**, उभयमपि परत इति **नैयायिक-वैशेषिकाः**, उभयमपि कथञ्चित्स्वतः कथञ्चित्परत इति **स्याद्वादिनो जैना** इत्येवं वादिनां विप्रतिपत्तेः सद्भावात्संशयः स्यात्तन्निराकरणाय प्रामाण्याप्रामाण्यविचारः प्रक्रम्यते **किमिदमिति**। १३. प्रामाण्यस्य। १४. येनैव कारणेन ज्ञानं जन्यते तेनैव तत्प्रामाण्यमपि न तद्भिन्नकारणेनेति भावः। १५. ज्ञानस्योत्पादको यो हेतुः कारणं तदनतिरिक्तजन्यत्वं ज्ञानोत्पादककारणोत्पाद्यत्वमित्यर्थः। १६. समाधत्ते **नेति**, मीमांसकाः– विचारकुशलाः। १७. समग्राणां भावः- एककार्यकारित्वं सामग्री– यावन्ति कारणानि एकस्मिन् कार्ये व्याप्रियन्ते तानि सर्वाणि सामग्रीति कथ्यन्ते। १८. मिथ्याज्ञाने। १९. जैनाः। २०. अकारणः। २१. एकस्माद्धेतोरन्यो हेतुः हेत्वन्तरं ज्ञानसामान्यकारणाद्भिन्नकारणमित्यर्थः। २२. स्वीक्रियते, भवता **मीमांसकेन**। २३. गुणादिकम्- नैर्मल्यादिकम्। २४. गुणदोषकृतप्रामाण्याप्रामाण्यानभ्यु-पगमे। २५. इदं ज्ञानं प्रमाणमिदमप्रमाणमिति विभागो न स्यात्।

---

1 *'म प मु प्रतिषु 'दर्शनस्य' इत्यधिकः पाठः।* 2 म प मु प्रतिषु 'तस्मात्' इति पाठः। 3 *'प्रामाण्यं' इत्यधिकः पाठः म प्रतौ।* 4 'अपि' इति आ प्रतौ नास्ति।

§ १९ [१]एवमप्यप्रामाण्यं परतः प्रामाण्यं तु स्वत इति न[२] वक्तव्यम्; विपर्ययेऽपि समानत्वात्। शक्यं हि वक्तुमप्रामाण्यं स्वतः प्रामाण्यं तु परत इति। तस्मादप्रामाण्यवत्प्रामाण्यमपि परत[३] एवोत्पद्यते। न हि पटसामान्यसामग्री रक्तपटे हेतुः। तद्वत्र ज्ञानसामान्यसामग्री प्रमाणज्ञाने हेतुः, भिन्नकार्ययोर्भिन्नकारणप्रभवत्वावश्यम्भावादिति[४]।

§ २० कथं तस्य[५] ज्ञप्तिः[६] ? अभ्यस्ते[७]विषये स्वतः, अनभ्यस्ते[८] तु परतः। कोऽयमभ्यस्तो विषयः को वाऽनभ्यस्तः ? उच्यते; परिचितस्वग्रामतटाकजलादिरभ्यस्तः, तद्व्यतिरिक्तोऽनभ्यस्तः। किमिदं स्वत इति ? किं नाम परत इति ? ज्ञानज्ञापकादेव प्रामाण्यज्ञप्तिः स्वत इति। ततोऽतिरिक्ताज्ज्ञप्तिः परत इति।

§ २१ तत्र तावदभ्यस्ते विषये2 जलमिति3 ज्ञाने जाते ज्ञानस्वरूपज्ञप्तिसमय एव तद्गतं प्रामाण्यमपि ज्ञायत एव। [९]अन्यथोत्तर[१०]क्षण एव निःशङ्कप्रवृत्तेरयोगात्[११]। अस्ति हि जलज्ञानोत्तरक्षण एव निःशङ्कप्रवृत्तिः4। अनभ्यस्ते तु विषये जलज्ञाने जाते जलज्ञानं मम जातमिति ज्ञानस्वरूपनिर्णयेऽपि प्रामाण्यनिर्णयोऽन्यत[१२] एव, [१३]अन्यथोत्तरकाले सन्देहानुपपत्तेः। अस्ति हि सन्देहो 'जलज्ञानं मम जातं तत्किं जलमुत मरीचिका'[१४] इति। ततः[१५] कमलपरिमलशिशिर5मरुत्प्रचारप्रभृतिभिरवधारयति– 'प्रमाणं[१६]प्राक्तनं जलज्ञानं[१७] कमलपरिमलाद्यन्यथानुपपत्तेः' इति।

§ २२. [१८]उत्पत्तिवत्प्रामाण्यस्य ज्ञप्तिरपि परत एवेति यौगाः[१९]। तत्र[२०] प्रामाण्यस्योत्पत्तिः परत इति युक्तम्। ज्ञप्तिः पुनरभ्यस्तविषये स्वत एवेति स्थितत्वात्[२१] ज्ञप्तिरपि परत[२२]एवेत्यवधारणानुपपत्तिः6। ततो[२३]व्यवस्थितमेतत्प्रामाण्यमुत्पत्तौ परत एव, ज्ञप्तौ तु[२४]कदाचित्स्वतः[२५]कदाचित्परत इति। तदुक्तं प्रमाणपरीक्षायां ज्ञप्तिं प्रति[२६]—

[२७]प्रमाणा[२८]दिष्ट-संसिद्धि[२९]रन्यथाऽतिप्रसङ्गतः[३०]।
प्रामाण्यं तु स्वतः सिद्धमभ्यासात्[३१] परतोऽन्यथा[३२] ॥ [प्र.प.पृ.६३]

१. प्रामाण्याप्रामाण्ययोर्भिन्नकारणसिद्धेऽपि। २. जैन उत्तरयति नेति। ३. निर्मलतादिगुणेभ्यः। ४. ज्ञानप्रामाण्ये भिन्नकारणजन्ये भिन्नकार्यत्वादप्रामाण्यवदित्यनुमानमत्र बोध्यम्। ५. प्रामाण्यस्य। ६. निश्चयः। ७. परिचिते। ८. अपरिचिते। ९. ज्ञानस्वरूपज्ञप्तिसमये प्रामाण्यनिश्चयो नो चेत्। १०. जलज्ञानानन्तरसमये। ११. जले सन्देहरहिता प्रवृत्तिर्न स्यात्। १२. संवादज्ञानान्तरादर्थक्रियाज्ञानाद्वा। १३. अनभ्यस्ते-अपरिचिते विषये प्रामाण्यनिर्णयोऽन्यतो न स्यात्। १४. वालुपुञ्जः। १५. सन्देहानन्तरम्। १६. साध्यम्। १७. धर्मी। १८. यथा प्रामाण्यस्योत्पत्तिः परतस्तथा। १९. यौगशब्देन नैयायिक-वैशेषिकौ गृह्येते। २०. उत्पत्ति-ज्ञप्त्योर्मध्ये। २१. निश्चितत्वात्। २२. अन्यनिवृत्तिरूपफलजनकावधारणपरकैवकारप्रयोगासम्भवात्। २३. सम्यग् निश्चितम्। २४. अभ्यासदशायाम्। २५. अनभ्यासदशायाम्। २६. ज्ञप्तिमभिप्रेत्य। २७. सम्यग्ज्ञानात्। २८. इष्टोऽर्थस्तस्य सम्यक्प्रकारेण सिद्धिर्ज्ञप्तिलक्षणाऽभिलषितप्राप्तिलक्षणा वा। उत्पत्तिलक्षणा तु सिद्धिर्नात्र विवक्षिता, ज्ञापकप्रकरणात्। २९. प्रमाणाभासात्। ३०. इष्टसंसिद्ध्यभावः। ३१. अभ्यासदशायाम्। ३२ अनभ्यासदशायाम् ।

1 म प मु प्रतिषु 'प्रामाण्यस्य' इति पाठः। 2 म मु 'अभ्यस्तविषये' इति पाठः। 3 म प मु 'जलमिदमिति' पाठः। 4 प मु 'निःशंका' पाठः। 5 'मन्द' इत्यधिकः पाठो मुद्रितप्रतिषु। 6 'नुपपत्तेः' इति द प्रतिपाठः।

§ २३. तदेवं सुव्यवस्थितेऽपि प्रमाणस्वरूपे दुरभिनिवेशवशंगतैः[1] सौगतादिभिरपि कल्पितं प्रमाणलक्षणं सुलक्षणमिति येषां[2] भ्रमस्ताननुगृह्णीमः[3]। तथा हि–

[सौगतीयप्रमाणलक्षणस्य समीक्षा]

§ २४. "अविसंवादि ज्ञानं प्रमाणम्" [प्रमाणवा. २-१] इति बौद्धाः। तदिदमविसंवादित्वमसम्भवित्वादलक्षणम्[4]। बौद्धेन हि प्रत्यक्षमनुमानमिति प्रमाणद्वयमेवानुमन्यते। तदुक्तं न्यायबिन्दौ[5]–"द्विविधं सम्यग्ज्ञानम्", "प्रत्यक्षमनुमानं च" [न्यायबिन्दु पृ. १०] इति। तत्र न तावत्प्रत्यक्षस्याविसंवादित्वम्, तस्य निर्विकल्पकत्वेन स्वविषयानिश्चायकस्य समारोपविरोधित्वाभावात्[6]। नाऽप्यनुमानस्य[7], तन्मतानुसारेण[8] [9]तस्याऽप्यपरमार्थभूतसामान्यगोचरत्वादिति[10]।

[कुमारिलभट्टीयप्रमाणलक्षणस्य समीक्षा]

§ २५ "अनधिगततथाभूतार्थनिश्चायकं प्रमाणम्" [शास्त्र-दी. पृ. १२३] इति भाट्टाः। तदप्यव्याप्तम्, तैरेव प्रमाणत्वेनाभिमतेषु [11]धारावाहिकज्ञानेष्वनधिगतार्थनिश्चायकत्वाभावात्। [12]उत्तरोत्तरक्षणविशेषविशिष्टार्थावभासकत्वेन तेषामनधिगतार्थनिश्चायकत्वमिति [13]नाऽऽशङ्कनीयम्, क्षणानामतिसूक्ष्माणामाल[14]क्षयितुम्।शक्यत्वात्।

[प्राभाकरीयप्रमाणलक्षणस्य समीक्षा]

§ २६. [15]"अनुभूतिः प्रमाणम्" [बृहती १-१-५] इति प्राभाकराः[16]। तदप्यसङ्गतम्; अनुभूतिशब्दस्य [17]भावसाधनत्वे करणलक्षणप्रमाणाव्याप्तेः, [18]करणसाधनत्वे तु भावलक्षणप्रमाणाव्याप्तेः, करण-भावयोरुभयोरपि [19]तन्मते प्रामाण्याभ्युपगमात्। तदुक्तं शालिकानाथेन–

---

१. मिथ्यात्वाभिप्रायैः। २. जनानाम्। ३. उपकुर्मः। ४. न निर्दोषलक्षणम्। ५. बौद्धतार्किकधर्मकीर्तिविरचिते न्यायबिन्दुनाम्नि ग्रन्थे। ६. यत्र समारोपविरोधि तत्राविसंवादि, यथा संशयादि, तथा च प्रत्यक्षम्, तस्मात्तदविसंवादीति भावः। ७. अविसंवादित्वमिति सम्बन्धः। ८. बौद्धमतानुसारेण। ९. अनुमानस्यापि। १०. अयमत्राशयः– बौद्धमते हि द्विविधं प्रमेयं विशेषाख्यं स्वलक्षणमन्यापोहाख्यं सामान्यं च। तत्र स्वलक्षणं परमार्थभूतं प्रत्यक्षस्य विषयः स्वेनासाधारणेन लक्षणेन लक्ष्यमाणत्वात्, सामान्यं त्वपरमार्थभूतमनुमानस्य विषयः परिकल्पितत्वात्। तथा चापरमार्थभूतसामान्यविषयत्वादनुमानस्य नाविसंवादित्वमिति भावः। ११. गृहीतार्थविषयकाण्युत्तरोत्तरजायमानानि ज्ञानानि धारावाहिकज्ञानानि, तेषु। १२. ननूत्तरोत्तरजायमानधारावाहिकज्ञानानां तत्तत्क्षणविशिष्टघटाद्यर्थनिश्चायकत्वेनागृहीतार्थविषयकत्वमेव, ततो न तैरव्याप्तिरिति शङ्कितुर्भावः। १३. शङ्का न कार्या। १४. आदर्शयितुम्। १५. 'प्रमाणमनुभूतिः'– प्रकरणपञ्चि. पृ. ४२। १६. प्रभाकरमतानुसारिणः। १७. अनुभवोऽनुभूतिरित्येवंभूते। १८. अनुभूयतेऽनेनेति अनुभूतिरित्येवंरूपे। १९. प्राभाकराणां मते।

। द प्रतौ 'लक्षयितुम' इति पाठः।

"यदा भावसाधनं तदा संविदेव प्रमाणं करणसाधनत्वे त्वात्म-मनःसन्निकर्षः"[१] [प्रकरणप. प्रमाणपा. पृ. ६४] इति।

[नैयायिकानां प्रमाणलक्षणस्य समीक्षा]

§ २७. "प्रमाकरणं प्रमाणम्" [न्यायमं.प्रमा.पृ.२५] इति नैयायिकाः[२]। [३]तदपि प्रमादकृतं[४] लक्षणम्; ईश्वराख्य[५] एव [६]तदङ्गीकृते प्रमाणेऽव्याप्तेः। अधिकरणं[७] हि महेश्वरः प्रमायाः, न[८] तु करणम्। न चायमनुक्तो[९]पालम्भः, "तन्मे प्रमाणं शिवः"[१०] [न्यायकुसु. ४-६] इति [११]यौगाग्रसरेणोदयनेनोक्तत्वात्। तत्परिहाराय[१२] केचन[१३] बालिशाः "साधनाश्रययोरन्यतरत्वे[१४] सति प्रमाव्याप्तं प्रमाणम्" [सर्वदर्शनसं. पृ. २३५] इति वर्णयन्ति तथापि साधनाश्रयान्यतरपर्यालोचनायां[१५] साधनमाश्रयो वेति फलति। [१६]तथा च [१७]परस्पराव्याप्तिर्लक्षणस्य।

---

१. प्रभाकर-मतानुसारिणा **शालिकानाथेन** यदुक्तं तत्प्रकरणपञ्जिकायामित्थं वर्तते- **यदि प्रमितिः प्रमाणं इति भावसाधनं मानमाश्रीयते तदा संविदेव मानम्।** तस्याश्चव्यवहारानुगुणस्वभावत्वाद्धानोपादानोपेक्षाः फलम्। **प्रमीयतेऽनेनेति करणसाधने प्रमाणशब्दे आत्म-मनःसन्निकर्षात्मनो ज्ञानस्य प्रमाणत्वे** तत्फलभाविनी फल(ल) संविदेव बाह्यव्यवहारोपयोगिनी सती"- प्रमाणपा. प. पृ. ६४। २. **वात्स्यायन-जयन्तभट्टादयस्तार्किकाः।** यथा हि 'प्रमीयतेऽनेनेति करणार्थाभिधानः प्रमाणशब्दः, न्यायभा. १.१.३, 'प्रमीयते येन तत्प्रमाणमिति करणार्थाभिधायिनः प्रमाणशब्दात् प्रमाकरणं प्रमाणमवगम्यते'- न्यायमं. प्रमाण. पृ. २५। ३. प्रमाकरणं प्रमाणमिति नैयायिकाभिमतमपि। ४. सदोषम्। ५. महेश्वरे। ६. नैयायिकैरभ्युपगते। ७. आश्रयः। ८. तत्प्रमायाः नित्यत्वात्करणत्वासम्भवात्। ९. अत्रायमाशयः- उपालम्भो दोषः (आरोपात्मकः), स च 'महेश्वरः प्रमाणम्' इत्येवंरूपो नानुक्तो भवता न स्वीकृत इति न, अपि तु महेश्वरस्य प्रमाणत्वं स्वीकृतमेव 'तन्मे प्रमाणं शिवः' इति वचनात्, तथा चेश्वराख्यप्रमाणस्य प्रमाया अधिकरणत्वेन प्रमाकरणत्वाभावादव्याप्तिदोषकथनं ग्रन्थकृता सङ्गतमेवेति भावः। १०. सम्पूर्णः श्लोकस्त्वित्थं वर्तते-

साक्षात्कारिणि नित्ययोगिनि परद्वारानपेक्षस्थितौ
भूतार्थानुभवे निविष्टनिखिलप्रस्ताविवस्तुक्रमः।
लेशादृष्टिनिमित्तदुष्टिविगमप्रभ्रष्टशङ्कातुषः
शङ्कोन्मेषकलङ्किभिः किमपरैस्तन्मे प्रमाणं शिवः॥

११. यौगाः- नैयायिकास्तेषामग्रेसरः प्रधानः प्रमुखो वा तेन। १२. महेश्वरेऽव्याप्तिदोषनिराकरणाय। १३. **सायणमाधवाचार्याः।** १४. **सर्वदर्शनसंग्रहे** 'साधनाश्रयाव्यतिरिक्तत्वे' इति पाठः। तट्टीकाकृता च तथैव व्याख्यातः। यथा हि- 'यथार्थानुभवः प्रमा, तस्याः साधनं करणम्। आश्रय आत्मा। तदुभयापेक्षया भिन्नं यन्न भवति तथाभूतं सत्प्रमया नित्यसम्बद्धं तत्प्रमाणमित्यर्थः।' १५. प्रमासाधन-प्रमाश्रययोर्मध्ये प्रमासाधनं प्रमाणं प्रमाश्रयो वेति विचारे क्रियमाणे। १६. साधनाश्रययोरन्यतरस्य प्रमाणत्वाङ्गीकारे। १७. अयं भावः- प्रमासाधनस्य प्रमाणत्वाङ्गीकारे प्रमाश्रये प्रमाणेऽव्याप्तिः, प्रमाश्रयस्य च प्रमाणत्वस्वीकारे प्रमासाधने प्रमाणेऽव्याप्तिः, यतो ह्यन्यतरस्य प्रमाणत्वपरिकल्पनात्। उभयपरिकल्पने चासम्भवित्वं स्पष्टमेव। न हि प्रमाणत्वेनाभ्युपगतस्यैकस्य (सन्निकर्षस्य महेश्वरस्य वा) कस्यचिदपि प्रमासाधनत्वं प्रमाश्रयत्वं चोभयं सम्भवि। इत्थं च नैयायिकाभिमतमपि प्रमाकरणं प्रमाणमिति प्रमाणलक्षणं न समीचीनमिति प्रतिपादितं बोद्धव्यम्।

। 'ईश्वराख्ये तदङ्गीकृत एव' इति म प मु प्रतिषु पाठः।

§ २८. [1]अन्यान्यपि पराभिमतानि प्रमाणसामान्यलक्षणा[2]न्यलक्षणत्वा[3]दुपेक्ष्यन्ते[4]। [5]तस्मात्स्वपरावभासनसमर्थं सविकल्पमगृहीतग्राहकं[6] सम्यग्ज्ञानमेवाज्ञानमर्थे [7]निवर्त्तयत्प्रमाणमित्यार्हतं[7] मतम्[8]।

इति श्रीपरमार्हताचार्य-धर्मभूषण-यति-विरचितायां न्यायदीपिकायां प्रमाणसामान्य-लक्षणप्रकाशः प्रथमः ॥१॥

---

१. 'इन्द्रियवृत्तिः प्रमाणम्' इति **सांख्याः**, 'अव्यभिचारिणीमसंदिग्धामर्थोपलब्धिं विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री (कारकसाकल्यं) प्रमाणम्' (न्यायमं.प्रमा. पृ. १४) इति **जरन्नैयायिकाः (जयन्तभट्टादयः)** इत्यादीन्यपि परोक्तानि प्रमाणसामान्यलक्षणानि सन्ति, पर तेषां प्रमाणत्वस्यैवाघटनान्न परीक्षार्हाणि, अपि तूपेक्षार्हाण्येव। ततो न तान्यत्र परीक्षितानि ग्रन्थकृता। नन्विन्द्रियवृत्तेः कारकसाकल्यादेर्वा प्रमाणत्वं कथं न घटते? इति चेत्; उच्यते; इन्द्रियाणामज्ञानरूपत्वात्तद्वृत्तेरप्यज्ञानरूपत्वेन प्रमाणत्वायोगात्। ज्ञानरूपमेव हि प्रमाणं भवितुमर्हति, तस्यैवाऽज्ञाननिवर्तकत्वात्प्रदीपादिवत्। इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां वृत्तिर्हि तदुद्घाटनादिव्यापारः, स च जडस्वरूपः, ततो न तेनाज्ञाननिवृत्तिः सम्भवति घटादिवत्। तस्मादिन्द्रियवृत्तेरज्ञाननिवृत्तिरूपप्रमां प्रति करणत्वाभावान्न प्रमाणत्वमिति भावः।

एवं कारकसाकल्यस्याऽप्यबोधस्वभावस्याज्ञानरूपत्वेन स्व-परज्ञानकरणे साधकतमत्वाभावान्न प्रमाणत्वम्। अतिशयेन साधकं साधकतमम्, साधकतमं च करणम्। करणं खल्वसाधारणं कारणमुच्यते। तथा च सकलानां कारकाणां साधारणासाधारणस्वभावानां साकल्यस्य-परिसमाप्त्या सर्वत्र वर्तमानस्य सामस्त्यस्य कथं साधकतमत्वमिति विचारणीयम्? साधकतमत्वाभावे च न तस्य प्रमाणत्वम्, स्व-परपरिच्छित्तौ साधकतमस्यैव प्रमाणत्वघटनात्। तेनैव ह्यज्ञाननिवृत्तिः सम्पादयितु शक्येत्यलं विस्तरेण। ततः 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्' इत्येतदेव प्रमाणत्वघटनात्। तेनैव ह्यज्ञाननिवृत्तिः सम्पादयितुं शक्येत्यलं विस्तरेण। ततः 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्' इत्येतदेव प्रमाणस्य सम्यक् लक्षणम्। २. लक्षणाभासत्वात्, लक्षणकोटौ प्रवेष्टुमयोग्यत्वादिति भावः। ३. न परीक्षाविषयीक्रियन्ते। ४. उपसंहारे 'तस्मात्' शब्दः। ५. अपूर्वार्थनिश्चायकम्। ६. घटादिपदार्थेष्वज्ञाननिवृत्तिं कुर्वत्। ७. जैनम्। ८. शासनम्।

---

1. 'प्रमाणस्य' इति म प मु प्रतिषु पाठः। 2. 'न्यलक्षणत्वा' इति द आ प्रतिपाठः।

सा विद्या या प्रतिसमये सम्यक् आनंदायते।

२. प्रत्यक्षप्रकाशः

[प्रमाणं द्विधा विभज्य प्रत्यक्षस्य लक्षणकथनम्]

§ १. अथ[१] प्रमाणविशेषस्वरूपप्रकाशनाय प्रस्तूयते। प्रमाणं[२] द्विविधम्[३] – प्रत्यक्षं परोक्षं चेति। तत्र विशदप्रतिभासं प्रत्यक्षम्। इह प्रत्यक्षं लक्ष्यं विशदप्रतिभासत्वं लक्षणम्। यस्य प्रमाणभूतस्य ज्ञानस्य प्रतिभासो विशदस्तत्प्रत्यक्षमित्यर्थः।

§ २. किमिदं विशदप्रतिभासत्वं नाम ? उच्यते – ज्ञानावरणस्य[४] क्षयाद्विशिष्टक्षयोपशमाद्वा । शब्दानुमानाद्य[५]सम्भवि यन्नैर्मल्यमनुभवसिद्धम्, दृश्यते खल्वग्निरस्तीत्याप्त[६]वचनाद्धूमादि[७]-लिङ्गाच्चोत्पन्नाज्ज्ञानादय[८]मग्निरित्युत्पन्नस्यैन्द्रियकस्य[९] ज्ञानस्य विशेषः[१०]। स[११] एव नैर्मल्यम्, वैशद्यम्, स्पष्टत्वमित्यादिभिः शब्दैरभिधीयते। तदुक्तं भगवद्भिरकलङ्कदेवैर्न्यायविनिश्चये –
"प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा[१२]।" [का० ३] इति। विवृतं[१३] च स्याद्वादविद्यापतिना[१४] – "निर्मलप्रतिभासत्वमेव स्पष्टत्वम्, स्वानुभवप्रसिद्धं चैतत्सर्वस्यापि परीक्ष-

---

१. प्रमाणसामान्यलक्षणनिरूपणानन्तरमिदानीं प्रकरणकारः प्रमाणविशेषस्वरूपप्रतिपादनाय द्वितीयं प्रकाशं प्रारभते **अथेति**। २. पूर्वोक्तलक्षणलक्षितम्। ३. विभागस्यावधारणफलत्वात्तेन द्विप्रकारमेव, न न्यूनं नाधिकमिति बोध्यम्। चार्वाकाद्यभिमतसकलप्रमाणभेदानामत्रैवान्तर्भावात्। तत्र प्रत्यक्षमेवैकं प्रमाणमिति **चार्वाकाः**, प्रत्यक्षमनुमानं चेति द्वे एव प्रमाणे इति **बौद्धाः वैशेषिकाश्च**, प्रत्यक्षानुमानोपमानानि त्रीण्येव प्रमाणानीति **सांख्याः**, तानि च शाब्दं चेति चत्वार्येव इति **नैयायिकाः**, सहार्थापत्त्या च पञ्चेति **प्राभाकराः**, सहानुपलब्ध्या च षट् इति **भाट्टाः वेदान्तिनश्च**, सम्भवैतिह्याभ्यां सहाष्टौ प्रमाणानीति **पौराणिकाः**। तथा चोक्तम् –

> **प्रत्यक्षमेकं चार्वाकः कारणात्सौगताः पुनः। अनुमानं च तच्चैव सांख्याः शाब्दं च ते अपि ॥१॥**
> **न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुपमानं च केन च। अर्थापत्त्या सहैतानि चत्वार्याहुः प्रभाकराः ॥२॥**
> **अभावषष्ठान्येतानि भाट्टा वेदान्तिनस्तथा। सम्भवैतिह्ययुक्तानि तानि पौराणिका जगुः ॥३॥**

तदेतेषां सर्वेषां यथायथं प्रत्यक्षपरोक्षप्रमाणयोरेवान्तर्भाव इति **द्विविध**मित्यनेन सूचितम्। **विद्यानन्दस्वामिनाऽप्यु**क्तम् – 'एवं प्रमाणलक्षणं व्यवसायात्मकं सम्यग्ज्ञानं परीक्षितम्, तत्प्रत्यक्षं परोक्षं चेति संक्षेपाद् द्वितयमेव व्यवतिष्ठते, सकलप्रमाणभेदानामत्रैवाऽन्तर्भावादिति विभावनात्।' 'स्याद्वादिनां तु संक्षेपात्प्रत्यक्षपरोक्षविकल्पात्प्रमाणद्वयं सिद्धयत्येव, तत्र सकलप्रमाणभेदानां संग्रहादिति' – प्रमाणपरी० पृ. ६३-६४, ६७। एतच्च **प्रमेयकमलमार्तण्डे**ऽपि (२-१) प्रपञ्चतो निरूपितम्। ४. ज्ञानप्रतिबन्धकं ज्ञानावरणाख्यं कर्म, तस्य सर्वथा क्षयाद्विशेषक्षयोपशमाद्वा। ५. आदिपदादुपमानार्थापत्त्यादीनां संग्रहः। ६. विश्वसनीयः पुरुष आप्तः, यथार्थवक्ता इति यावत्। ७. अत्रादिपदेन कृतकत्व-शिंशपात्वादीनां परिग्रहः। ८. पुरो दृश्यमानः। ९. इन्द्रियजन्यस्य। १०. अनुमानाद्यपेक्षया विशेषप्रतिभासनरूपः। तदुक्तम् – अनुमानाद्यतिरेकेण विशेषप्रतिभासनम्। तद्वैशद्यं मतं बुद्धेः – लघीय० का० ४। ११. विशेषः। १२. अस्याः कारिकाया उत्तरार्धमिदमस्ति – 'द्रव्य-पर्याय-सामान्यविशेषार्थात्मवेदनम्।' १३. व्याख्यातं **न्यायविनिश्चयविवरणे**। १४. श्रीमद्वादिराजाचार्येण।

---

1. 'शाब्द' इति आ प्रतिपाठः।

कस्येति नातीव निर्बाध्यते'' [न्यायविनि० वि०का०३] इति। तस्मात्सुष्ठूक्तं विशदप्रतिभासात्मकं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति[1]।

[सौगतीयप्रत्यक्षस्य निरासः]

§ ३. [2]''कल्पनापोढमभ्रान्तं [3]प्रत्यक्षम्'' [न्यायबिन्दु पृ०११] इति ताथागताः[4]। अत्र हि कल्पनापोढपदेन सविकल्पकस्य व्यावृत्तिः[5], अभ्रान्तमिति पदेन त्वाभासस्य[6]। तथा च[7] समीचीनं निर्विकल्पकं प्रत्यक्षमित्युक्तं भवति; तदेतद् बालचेष्टितम्; निर्विकल्पकस्य प्रामाण्यमेव दुर्लभम्, समारोपाविरोधित्वात्, कुतः प्रत्यक्षत्वम्? व्यवसायात्मकस्यैव[8] प्रामाण्यव्यवस्थापनात्[9]।

§ ४. [10]ननु निर्विकल्पकमेव प्रत्यक्षप्रमाणमर्थजत्वात्। तदेव हि [11]परमार्थसत्स्वलक्षणजन्यं न तु सविकल्पकम्, तस्यापरमार्थभूतसामान्यविषयत्वेनार्थजत्वाभावादिति चेत्; न[12]; अर्थस्यालोकवज्ज्ञानकारणत्वानुपपत्तेः। तद्यथा– अन्वयव्यतिरेकगम्यो हि[13] कार्यकारणभावः। तत्रालोकस्तावन्न ज्ञानकारणम्, [14]तदभावेऽपि नक्तञ्चराणां मार्जारादीनां ज्ञानोत्पत्तेः, [15]तद्भावेऽपि[च] [16]घूकादीनां [17]तदनुत्पत्तेः। [18]तद्वदर्थोऽपि न ज्ञानकारणम्, [19]तदभावेऽपि केशमशकादिज्ञानोत्पत्तेः[20]। तथा च कुतोऽर्थजत्वं ज्ञानस्य? तदुक्तं परीक्षामुखे– ''नार्थालोकौ कारणम्'' [२-६] इति। प्रामाण्यस्य चार्थाव्यभिचार[21] एव [22]निबन्धनं न त्वर्थज-

---

१. तथा चोक्तम्– 'विशदज्ञानात्मकं प्रत्यक्षम्, प्रत्यक्षत्वात्, यत्तु न विशदज्ञानात्मकं तन्न प्रत्यक्षं यथाऽनुमानादिज्ञानम्, प्रत्यक्षं च विवादाध्यासितम्, तस्माद्विशदज्ञानात्मकमिति।'– **प्रमाणपरी०** पृ. ६७। २. 'अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासप्रतीतिः कल्पना, तया रहितम्'– **न्यायबिन्दु** पृ. १३। नाम-जात्यादियोजना वा कल्पना, तयाऽपोढम् कल्पनास्वभावशून्यमित्यर्थः। 'तन्न यन्न भ्राम्यति तदभ्रान्तम्' न्यायबिन्दुटीका पृ. १२। ३. 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्। यज्ज्ञानमर्थे रूपादौ नाम-जात्यादिकल्पनारहितं तदक्षमक्षं प्रति वर्तते इति प्रत्यक्षम्'– न्यायप्र.पृ. ७, 'प्रत्यक्षं कल्पनापोढं नाम-जात्याद्यसंयुतम्'– प्रमाणस. का.३। अत्रेदं बोध्यम्– 'कल्पनापोढं प्रत्यक्षम्' इति **दिग्नागस्य** प्रत्यक्षलक्षणम्, अभ्रान्तविशेषणसहितं तु **धर्मकीर्तेः**। ४. तथागतः सुगतो बुद्ध इत्यनर्थान्तरम्, तदनुयायिनो ये ते ताथागता बौद्धाः। ५. व्यवच्छेदो निरास इति यावत्। ६. मिथ्याज्ञानस्य। ७. फलितलक्षणं प्रदर्शयति **तथा चेति**। ८. निश्चयात्मकस्यैव ज्ञानस्य। ९. 'तन्निश्चयात्मकं समारोपविरुद्धत्वादनुमानवत्' (परीक्षा. १-३) इत्यादिना निश्चयात्मकस्यैव ज्ञानस्य प्रामाण्यं व्यवस्थापितम्। १०. बौद्धः शङ्कते **नन्विति**। ११. परमार्थभूतेन स्वलक्षणेन जन्यं 'परमार्थोऽकृत्रिममनारोपितं रूपम्, तेनास्तीति परमार्थसत्। य एवार्थः सन्निधानासन्निधानाभ्यां स्फुटमस्फुटं च प्रतिभासं करोति परमार्थसन् स एव। स एव च प्रत्यक्षविषयो यतस्तस्मात्तदेव स्वलक्षणम्'– न्यायबि. टी.पृ. २३, 'यदर्थक्रियासमर्थं तदेव स्वलक्षणमिति, सामान्यलक्षणं च ततो विपरीतम्'– प्रमाणसं. पृ.६। १२. जैन उत्तरयति। १३. अन्वयव्यतिरेकाभ्यां विना न कार्यकारणभावावगम इत्येतत्प्रदर्शनार्थं 'हि' शब्दः। १४. आलोकाभावेऽपि। १५. आलोकसद्भावेऽपि। १६. उलूकादीनाम्। १७. ज्ञानोत्पत्त्यभावात्। १८. आलोकवत्। १९. अर्थाभावेऽपि। २०. केशोण्डुकादिज्ञानस्य भावात्। २१. तदभाववदवृत्तित्वं व्यभिचारस्तद्भिन्नोऽव्यभिचारः। तत्पदेनात्रार्थो ग्राह्यः। २२. कारणं प्रयोजकमित्यर्थः।

---

1. 'एतदेव हि' इति द प्रतिपाठः।

न्यत्वम्, स्वसंवेदनस्य विषयाजन्यत्वेऽपि प्रामाण्याभ्युपगमात्[१]। न हि किञ्चित्स्वस्मादेव जायते।

§ ५. [२]नन्वतज्जन्यस्य ज्ञानस्य[1] कथं [३]तत्प्रकाशकत्वम्? इति चेत्; [४]घटाद्यजन्यस्यापि प्रदीपस्य तत्प्रकाशकत्वं दृष्ट्वा सन्तोष्टव्यमायुष्मता[५]। अथ कथमयं विषयप्रतिनियमः[६]? यदुत 'घटज्ञानस्य घट एव विषयो न पटः' इति। अर्थजत्वं हि विषयप्रतिनियमकारणम्, तज्जन्यत्वात् तद्विषयमेव चैतदिति। [७]तत्तु [८]भवता नाऽभ्युपगम्यते इति चेत्; योग्यतैव विषयप्रतिनियमकारणमिति ब्रूमः[९]। का नाम योग्यता? इति[2]। उच्यते – स्वावरणक्षयोपशमः। तदुक्तम् – "स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थं व्यवस्थापयति"[१०] [परीक्षा. २-९] इति।

§ ६. [११]एतेन 'तदाकारत्वात्तत्प्रकाशकत्वम्' इत्यपि प्रत्युक्तम्[१२]। अतदाकारस्यापि प्रदीपादेस्तत्प्रकाशकत्वदर्शनात्। ततस्तदाकार[१३]वत्तज्जन्यत्वमप्रयोजकं प्रामाण्ये। [१४]सविकल्पकविषयभूतस्य सामान्यस्य परमार्थत्वमेव, अबाधितत्वात्। प्रत्युत सौगताभिमत एव

---

१. बौद्धैः। २. अत्र बौद्धः पुनराशङ्कते नन्विति। ३. अयं भावः – यदि ज्ञानं अर्थान्नोत्पद्यते तर्हि कथमर्थप्रकाशकं स्यात्? तदेव हि ज्ञानमर्थप्रकाशकं यदर्थजन्यम्, अजन्यत्वे तु तस्यार्थो विषयो न स्यात् 'नाकारणं विषयः' इति वचनात्। ४. उत्तरयति – घटाद्यजन्योऽपि हि यथा प्रदीपः घटादिप्रकाशको भवति तथा ज्ञानमप्यर्थाजन्यं सत् अर्थप्रकाशकमिति किमनुपपन्नम्? अर्थस्य ज्ञानकारणत्वनिरासस्तु पूर्वमेव कृतस्ततो नात्र किञ्चिद्वक्तव्यमस्ति। ५. सन्तोषः करणीयो भवता। ६. अमुकज्ञानस्य अमुक एव विषयो नान्य इति विषयप्रतिनियमः, स न स्याद्यदि ज्ञानस्यार्थजन्यत्वं नो भवेदिति शङ्काया आशयः। ७. अर्थजन्यत्वम्। ८. जैनेन। ९. जैनाः। १०. प्रतिनियतार्थव्यवस्थापको हि तत्तदावरणक्षयोपशमोऽर्थग्रहणशक्तिरूपः। तदुक्तम् – 'तल्लक्षणयोग्यता च शक्तिरेव। सैव ज्ञानस्य प्रतिनियतार्थव्यवस्थायामङ्गम् नार्थोत्पत्त्यादि।' – **प्रमेयक.** २-१०, 'योग्यताविशेषः पुनः प्रत्यक्षस्येव स्वविषयज्ञानावरण-वीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेष एव' – **प्रमाणपरीक्षा पृ. ६७**। ११. अर्थजन्यतायां निराकरणेन, योग्यतायाश्च प्रतिनियतार्थव्यवस्थापकत्वसमर्थनेन। १२. निरस्तम्। १३. इत्थं च तदाकारत्वं तज्जन्यत्वं चोभयमपि प्रामाण्ये न प्रयोजकमिति बोध्यम्। १४. यच्चोक्तम् – सविकल्पकस्यापरमार्थभूतसामान्यविषयत्वमिति; तन्न युक्तम्; सविकल्पकस्य विषयभूतसामान्यस्य प्रमाणाबाधितत्वात्परमार्थत्वमेव। यद्धि न केनापि प्रमाणेन बाध्यते तत्परमार्थसत्, यथा भवदभिमतं स्वलक्षणम्, प्रमाणाबाधितं च सामान्यम्, तस्मात्परमार्थसत्। किञ्च, 'यथैव हि विशेषः (स्वलक्षणरूपः) स्वेनासाधारणेन रूपेण सामान्यासम्भविना विसदृशपरिणामात्मना लक्ष्यते तथा सामान्यमपि स्वेनासाधारणेन रूपेण सदृशपरिणामात्मना विशेषासम्भविना लक्ष्यते इति कथं स्वलक्षणत्वेन विशेषाद् भिद्यते? यथा च विशेषः स्वामर्थक्रियां कुर्वन् व्यावृत्तिज्ञानलक्षणार्थक्रियाकारी तथा सामान्यमपि स्वामर्थक्रियामन्वयज्ञानलक्षणां कुर्वत् कथमर्थक्रियाकारि न स्यात् तद्वाह्यां पुनर्वाह-दोहाद्यर्थक्रियां यथा न सामान्यं कर्तुमुत्सहते तथा विशेषोऽपि केवलः, सामान्यविशेषात्मनो वस्तुनो गवादेस्तत्रोपयोगात्। इत्यर्थक्रियाकारित्वेनापि तयोरभेदः सिद्धः।' – अष्टस. पृ. १२१। ततो यदुक्तं धर्मकीर्तिना –

'यदेवार्थक्रियाकारि तदेवं परमार्थसत्। अन्यत्संवृतिसत् प्रोक्ते ते स्वसामान्यलक्षणे॥'

– प्रमाणवा. ३-३ इति।

तन्निरस्तम्; 'सामान्यलक्षण-स्वलक्षणयोर्हि भेदाभावात्' अष्टस. पृ. १२१.

---

1 आ प मु प्रतिषु 'अजन्यस्य' इति पाठः। 2. द प्रतौ 'इति' पाठो नास्ति।

स्वलक्षणे विवादः। तस्मान्न निर्विकल्पकरूपत्वं प्रत्यक्षस्य।

[नैयायिकाभिमतस्य सन्निकर्षस्य प्रत्यक्षत्वनिरासः]

§ ७. [1]सन्निकर्षस्य च यौगाभ्युपगतस्याचेतनत्वात् कुतः [2]प्रमितिकरणत्वम्, कुतस्तरां प्रमाणत्वम्, कुतस्तमां प्रत्यक्षत्वम् ?

§ ८. [3]किञ्च, रूपप्रमितेरसन्निकृष्टमेव चक्षुर्जनकम्, अप्राप्यकारित्वात्तस्य। ततः सन्निकर्षाभावेऽपि साक्षात्कारिप्रमोत्पत्तेर्न सन्निकर्षरूपतैव प्रत्यक्षस्य। न चाप्राप्यकारित्वं चक्षुषोऽप्रसिद्धम्, प्रत्यक्षतस्तथैव[4] प्रतीतेः। ननु [5]प्रत्यक्षागम्यामपि चक्षुषो विषयप्राप्तिमनुमानेन साधयिष्यामः परमाणुवत्। यथा प्रत्यक्षासिद्धोऽपि, परमाणुः कार्यान्यथानुपपत्त्यानुमानेन[6] साध्यते तथा ' चक्षुः प्राप्तार्थप्रकाशकं [7]बहिरिन्द्रियत्वात् त्वगिन्द्रियवत् ' इत्यनुमानात् प्राप्तिसिद्धिः। प्राप्तिरेव हि सन्निकर्षस्ततो न सन्निकर्षस्याव्याप्तिरिति चेत्; न; अस्यानुमानाभासत्वात्[8]। तद्यथा –

§ ९. चक्षुरित्यत्र कः पक्षोऽभिप्रेतः[9] ? किं लौकिकं चक्षुरुतालौकिकम् ? [10]आद्ये हेतोः [11]कालात्ययापदिष्टत्वम्, गोलकाख्यस्य। लौकिकचक्षुषो विषयप्राप्तेः प्रत्यक्षबाधितत्वात्। द्वितीये[12] त्वाश्रयासिद्धिः, अलौकिकस्य[13] चक्षुषोऽद्याऽप्यसिद्धेः। शाखासुधादीधिति[14] समानकाल[15]ग्रहणा2न्यथानुपपत्तेश्च3 चक्षुरप्राप्यकारीति निश्चीयते। तदेवं सन्निकर्षाभावेऽपि चक्षुषा रूपप्रतीतिर्जायत इति सन्निकर्षोऽव्यापक[16]त्वात्प्रत्यक्षस्य स्वरूपं न भवतीति स्थितम्।

---

१. इन्द्रियार्थयोः सम्बन्धः सन्निकर्षः। २. अज्ञाननिवृत्तिरूपप्रमां प्रति करणत्वं प्रमितिकरणत्वम्। तच्च सन्निकर्षस्य न सम्भवति, जडत्वात्। प्रमितिकरणत्वासम्भवे च न तस्य प्रमाणत्वम्, प्रमाकरणस्यैव प्रमाणत्वाभ्युपगमात्। तदभावे च न प्रत्यक्षत्वमिति भावः। ३. दोषान्तरमाह **किञ्चेति।** चक्षुर्हि असम्बद्धमेव रूपज्ञानस्य जनकं भवति, अप्राप्तार्थप्रकाशकत्वात्। न हि चक्षुः पदार्थं प्राप्य प्रकाशयति, अपि तु दूरादेव। ४. अप्राप्यकारित्वस्यैव। ५. प्रत्यक्षेणापरिच्छेद्याम्। ६. ' परमाणुरस्ति द्व्यणुकादिकार्योत्पत्त्यन्यथानुपपत्तेः ' इत्यनुमानेन। ७. बहिःपदं मनोव्यवच्छेदार्थम्, मनो हि न बहिरिन्द्रियं तस्यान्तःकरणत्वात्। तच्चाप्राप्यकारीति। अत्र व्याप्तिः – यद्बहिरिन्द्रियं तत्प्राप्तार्थप्रकाशकम्, यथा स्पर्शनेन्द्रियम्। यन्न प्राप्तार्थप्रकाशकं तन्न बहिरिन्द्रियम्, यथा मनः, बहिरिन्द्रियं चेदं चक्षुः, तस्मात्प्राप्तार्थप्रकाशकमिति भावः। ८. सदोषानुमानत्वमनुमानाभासत्वम्। ९. स्वीकृतो भवता यौगेन। १०. प्रथमे पक्षे। ११. बाधितपक्षानन्तरं प्रयुक्तो हि हेतुः कालात्ययापदिष्ट उच्यते। १२. उत्तरविकल्पे – अलौकिकं चक्षुरित्यभ्युपगमे। १३. किरणरूपस्य। १४. सुधादीधितिः – चन्द्रमाः। १५. शाखाचन्द्रमसोस्तुल्यकालग्रहणं दृष्टं ततो ज्ञायते चक्षुरप्राप्यकारीति। प्राप्यकारित्वे तु क्रमशः एव तयोर्ग्रहणं स्यात् न युगपत्, परं युगपत्तयोर्ग्रहणं सर्वजनसाक्षिकमिति भावः। १६. अव्याप्तिदोषदुष्टत्वात्।

---

1. 'अस्य' इति म मु प्रत्योः पाठः। 2. 'ग्रहणादन्यथात्' इति आ म प मु प्रतिपाठः। 3. आ म मु प्रतिषु 'च' पाठो नास्ति।

§१०. [1]अस्य च प्रमेयस्य प्रपञ्चः[2] प्रमेयकमलमार्त्तण्डे [१-१ तथा २-४] सुलभः[3]। संग्रहग्रन्थत्वात्तु नेह[4] प्रतन्यते[5]। एवं च न सौगताभिमतं निर्विकल्पं प्रत्यक्षम्, नापि यौगाभिमतं इन्द्रियार्थसन्निकर्षः[6]। किं तर्हि? विशदप्रतिभासं ज्ञानमेव प्रत्यक्षं सिद्धम्।

[प्रत्यक्षं द्विधा विभज्य सांव्यवहारिकस्य लक्षणपुरस्सरं भेदनिरूपणम्]

§११. तत्प्रत्यक्षं द्विविधम्[I] – सांव्यवहारिकं पारमार्थिकं चेति। तत्र देशतो विशदं सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षम्। यज्ज्ञानं देशतो विशदमीषन्निर्मलं तत्सांव्यवहारिकप्रत्यक्षमित्यर्थः। [7]तच्चतुर्विधम्–अवग्रहः, ईहा, अवायः, धारणा चेति। [8]तत्रेन्द्रियार्थसमवधानसमनन्तरसमुत्थ-सत्तालोचनानन्तरभावी सत्ताऽवान्तरजातिविशिष्टवस्तुग्राही[9] ज्ञानविशेषोऽवग्रहः – यथाऽयं पुरुष इति। नाऽयं संशयः, [10]विषयान्तरव्युदासेन [11]स्वविषयनिश्चायकत्वात्। [12]तद्विपरीतलक्षणो हि संशयः। [13]यद्राजवार्तिकम्- [14]"अनेकार्थानिश्चिताऽपर्युदासात्मकः संशयस्तद्विपरीतोऽवग्रहः" [१-१५-९] इति। [15]भाष्यं च–"संशयो हि निर्णयविरोधी नत्ववग्रहः[16]" [१-१५-१०] इति। अवग्रहगृहीतार्थसमुद्भूतसंशयनिरासाय यतनमीहा[17]। तद्यथा –पुरुष इति निश्चितेऽर्थे किमयं दाक्षिणात्य[18] उतौदीच्य[19] इति संशये सति दाक्षिणात्येन भवितव्यमिति तन्निरासायेहाख्यं ज्ञानं जायत इति। भाषादिविशेषनिर्ज्ञानाद्याथात्म्यावगमनमवायः, यथा

---

१. एतस्य सन्निकर्षाप्रामाण्यविचारस्य। २. विस्तरः। ३. सुबोधः। ४. अत्र न्यायदीपिकायाम्। ५. विस्तार्यते। ६. प्रत्यक्षमिति सम्बन्धः। ७. सांव्यवहारिकप्रत्यक्षम्। ८. अवग्रहादिषु मध्ये। ९. इन्द्रियार्थयोः समवधानं सन्निपातः सम्बन्ध इति यावत्, तत्पश्चादुत्पन्नो यः सत्तालोचनरूपः सामान्यप्रतिभासस्तस्यानन्तरं जायमानः, अथ चावान्तरसत्ताविशिष्टवस्तुग्राहको यो ज्ञानविशेषः सोऽवग्रह इति भावः। १०. स्वविषयादन्यो विषयो विषयान्तरम्, तस्य व्युदासो व्यवच्छेदस्तेन स्वविषयातिरिक्तविषयव्यवच्छेदेन। ११. स्वविषयभूतपरमार्थैककोटिनिश्चायको ह्यवग्रहः। १२. अवग्रहात्सर्वथा विपरीतः संशयः। १३. अवग्रहसंशययोर्भेदसाधकं **तत्त्वार्थराजवार्तिकीयं** लक्षणं प्रदर्शयति **यदिति**। १४. अयमर्थः –नानार्थविषयकः, अनिश्चयात्मकः, विषयान्तराव्यवच्छेदकः संशयः। अवग्रहस्तु तद्विपरीतः– एकार्थविषयकः, निश्चयात्मकः, विषयान्तरव्यवच्छेदकश्चेति। १५. तत्त्वार्थराजवार्तिकभाष्यम्। १६. सति संशये पदार्थस्य निर्णयो न भवति, अवग्रहे तु भवत्येवेति भावः। १७. ननु कथमीहाया ज्ञानत्वम्? यतो हीहाया इच्छारूपत्वाच्चेष्टात्मकत्वाद्वा; नैवम्; ईहा जिज्ञासा, सा च विचाररूपा, विचारश्च ज्ञानम्, नातो कश्चिद्विशेषः। तथा चोक्तम्– 'ईहा ऊहा तर्कः परीक्षा विचारणा जिज्ञासा इत्यनर्थान्तरम्।' तत्त्वार्थाधि. भा. १-१५, 'ईहा-धारणयोरपि ज्ञानात्मकत्वमुन्नेयं तदुपयोगविशेषात्।' –**लघीय. स्वोपज्ञवि.** का. ६., 'ज्ञानेने- (ज्ञानमी) हाभिलाषात्मा संस्कारात्मा न धारणा। इति केचित्प्रभाषन्ते तच्च न व्यवतिष्ठते। विशेषवेदनस्येह दृढस्येहात्वसूचनात्॥ xx अज्ञानात्मकतायां तु संस्कारस्येह (हि) तस्य वा। ज्ञानोपादानता न स्याद्रूपादेरिव सास्ति च।" –**तत्त्वार्थश्लोकवा.** १-१५-१९, २०, २२, 'ईहा च यद्यपि चेष्टोच्यते तथापि चेतनस्य सेति ज्ञानरूपैवेति युक्तं प्रत्यक्षभेदत्वमस्याः' – प्रमाणमी. १-१-२७, 'ईहा-धारणयोर्ज्ञानोपादानत्वात् ज्ञानरूपतोन्नेया' – प्रमाणमी. १-१-२९। १८. दक्षिणदेशीयः। १९. उत्तरदेशीयः।

I. 'तत्कियत्प्रकारं, तद्विविधं' इति म प्रतिपाठः।

दाक्षिणात्य एवायमिति।[1]कालान्तराविस्मरणयोग्यतया तस्यैव ज्ञानं धारणा[2]। यद्वशादुत्तरकालेऽपि स। इत्येवं स्मरणं जायते।

§१२. ननु पूर्वपूर्वज्ञानगृहीतार्थग्राहकत्वादेतेषां[3] धारावाहिकवदप्रामाण्यप्रसङ्ग इति चेत्; न; विषयभेदेनागृहीतग्राहकत्वात्। तथा हि-योऽवग्रहस्य विषयो नासावीहायाः, यः पुनरीहाया नायमवायस्य, यश्चावायस्य नैष2 धारणाया इति परिशुद्धप्रतिभानां[4] सुलभमेवैतत्। [5]तदेतदवग्रहादिचतुष्टयमपि यदेन्द्रियेण जन्यते तदेन्द्रियप्रत्यक्षमित्युच्यते, यदा पुनरनिन्द्रियेण तदाऽनिन्द्रियप्रत्यक्षं गीयते[6]। इन्द्रियाणि स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुःश्रोत्राणि पञ्च, अनिन्द्रियं तु मनः। तद्द्वयनिमित्तकमिदं [7]लोकसंव्यवहारे प्रत्यक्षमिति प्रसिद्धत्वात्सांव्यवहारिकं[8] प्रत्यक्षमुच्यते। तदुक्तं परीक्षामुखे3 "इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तं देशतः सांव्यवहारिकम्" (२-५) इति। इदं चामुख्यप्रत्यक्षम्, उपचारसिद्धत्वात्। वस्तुतस्तु[9] परोक्षमेव, मतिज्ञानत्वात्। कुतो न खल्वेतन्मतिज्ञानं परोक्षमिति ? उच्यते- "आद्ये परोक्षम्" [तत्त्वार्थसू. १-११] इति सूत्रणात्4। आद्ये मति-श्रुतज्ञाने परोक्षमिति हि सूत्रार्थः। उपचारमूलं[10] पुनरत्र देशतो वैशद्यमिति कृतं विस्तरेण।

[पारमार्थिकप्रत्यक्षं लक्षयित्वा तद्भेदानां प्ररूपणम्]

§१३. सर्वतो विशदं पारमार्थिकप्रत्यक्षम्। यज्ज्ञानं साकल्येन[11] स्पष्टं तत्पारमार्थिकप्रत्यक्षम्, मुख्यप्रत्यक्षमिति यावत्। [12]तद् द्विविधम्- विकलं सकलं च। तत्र कतिपयविषयं विकलम्। [13]तदपि द्विविधम्- अवधिज्ञानं मनःपर्ययज्ञानं च5। तत्रावधिज्ञानावरणक्षयोपशमाद्वीर्यान्तरायक्षयोपशमसहकृताज्जातं रूपिद्रव्यमात्रविषयमवधिज्ञानम्[14]। मनःपर्ययज्ञानावरण-वीर्यान्त-

---

१. अनुभवकालाद्भिन्नकालः कालान्तरमागामिसमय इत्यर्थः। २. 'स्मृतिहेतुर्धारणा, संस्कार इति यावत्' लघी. स्वोपज्ञविवृ. का. ६। ननु धारणायाः कथं ज्ञानत्वम्, संस्काररूपत्वात् ? न च संस्कारस्य ज्ञानरूपतेति चेत्; तन्न; उक्तमेव पूर्वम्- 'ईहा-धारणयोरपि ज्ञानात्मकत्वम्, तदुपयोगविशेषात्' इति। 'अस्य ह्यज्ञानरूपत्वे ज्ञानरूपस्मृतिजनकत्वं न स्यात्, न हि सत्ता सत्तान्तरमनुविशति' ((प्रमाणमी. १-१-२९)। 'अवग्रहस्य ईहा अवायस्य च धारणा व्यापारविशेषः, न च चेतनोपादानो व्यापारविशेषः अचेतनो युक्तोऽतिप्रसङ्गात्' (न्यायकुमु. पृ. १७३)। ३. अवग्रहादीनाम्। ४. विशुद्धबुद्धीनाम्। ५. अवग्रहादिचतुष्टयस्यापि इन्द्रियानिन्द्रियजन्यत्वेन द्विविधत्वं प्रदर्शयति तदेतदिति। ६. कथ्यते। ७. लोकस्य यः समीचीनो बाधारहितः प्रवृत्ति-निवृत्तिरूपो व्यवहारस्तस्मिन्। ८. संव्यवहारप्रयोजनकं सांव्यवहारिकम्-अपारमार्थिकमित्यर्थः। ९. ननु यदि प्रकृतं ज्ञानममुख्यतः प्रत्यक्षं तर्हि मुख्यतः किं स्यादित्यत आह वस्तुतस्त्विति। १०. इन्द्रियानिन्द्रियजन्यज्ञानस्योपचारतः प्रत्यक्षत्वकथने निमित्तम्। ११. सामस्त्येन। १२. पारमार्थिकप्रत्यक्षम्। १३. विकलमपि प्रत्यक्षम्। १४. अवधिः सीमा मर्यादा इति यावत्। स विषयो यस्य ज्ञानस्य तदवधिज्ञानम्। अत एवेदं ज्ञानं सीमाज्ञानमपि कथ्यते। 'अवायन्ति व्रजन्तीत्यवायाः पुद्गलाः, तान् दधाति जानातीत्यवधिः' ×× 'अवधानम् अवधिः। कोऽर्थः ? अधस्ताद्बहुतरविषयग्रहणादवधिरुच्यते, देवा खल्ववधिज्ञानेन सप्तमनरकपर्यन्तं पश्यन्ति। उपरि स्तोकं पश्यन्ति, निजविमानध्वजदण्डपर्यन्तमित्यर्थः।'- तत्त्वार्थवृ. श्रु. १-९। 'अवाग्धानात् (पुद्गलपरिज्ञानात्) अवच्छिन्नविषयत्वाद्वा (रूपिविषयत्वाद्वा) अवधिः।' सर्वार्थ. १-९।

---

1. 'स एवेत्येवं' द प प्रतिपाठः। 2. 'नैव' इति म प्रतिपाठः। 3. आ म मु प्रतिषु 'परीक्षामुखे' इति पाठो नास्ति। 4. 'सूत्रभणनात्' इति म प्रतिपाठः। 5. 'चेति' पाठो म आ मु प्रतिषु।

रायक्षयोपशमसमुत्थं परमनोगतार्थविषयं मनःपर्ययज्ञानम्[1]। मतिज्ञानस्येवावधिमनःपर्यययोरवान्तरभेदाः[2] तत्त्वार्थराजवार्तिक-श्लोकवार्तिकभाष्याभ्यामवगन्तव्याः[3]।

§ १४. सर्वद्रव्यपर्यायविषयं सकलम्[4]। [5]तच्च [6]घातिसंघातनिरवशेषघातन1समुन्मीलितं केवलज्ञानमेव। [7]"सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य"[8] [तत्त्वार्थसू. १-२९] इत्याज्ञापितत्वात्2।

§ १५. तदेवमवधि-मनःपर्यय-केवलज्ञानत्रयं सर्वतो वैशद्यात् पारमार्थिक3प्रत्यक्षम्। सर्वतो वैशद्यं [9]चात्ममात्रसापेक्षत्वात्।

§ १६. [10]"नन्वस्तु केवलस्य पारमार्थिकत्वम् अवधि-मनःपर्यययोस्तु न युक्तम्, विकल-

१. परकीयमनोगतोऽर्थो मन इत्युच्यते, साहचर्यात्तस्य पर्ययणं परिगमनं मनःपर्ययः।' सर्वार्थ. १-९। २. प्रभेदाः। ३. तदित्थम्- 'अनुगाम्यननुगामिवर्द्धमानहीयमानावस्थितानवस्थितभेदात् षड्विधोऽवधिः×× पुनरपरेऽवधेस्त्रयो भेदाः- देशावधिः, परमावधिः, सर्वावधिश्चेति। तत्र देशावधिस्त्रेधा- जघन्यः, उत्कृष्टः, अजघन्योत्कृष्टश्चेति। तथा परमावधिरपि त्रिधा (जघन्यः, उत्कृष्टः, अजघन्योत्कृष्टश्च)। सर्वावधिरविकल्पत्वादेक एव। उत्सेधांगुलासंख्येयभागक्षेत्रो देशावधिर्जघन्यः। उत्कृष्टः कृत्स्नलोकः। तयोरन्तरालेऽसंख्येयविकल्प अजघन्योत्कृष्टः। परमावधिर्जघन्य एकप्रदेशाधिकलोकक्षेत्रः। उत्कृष्टोऽसंख्येयलोकक्षेत्रः, अजघन्योत्कृष्टो मध्यमक्षेत्रः। उत्कृष्टपरमावधिक्षेत्राद् बहिरसंख्यातक्षेत्रः सर्वावधिः। वर्द्धमानः, हीयमानः, अवस्थितः, अनवस्थितः, अनुगामी, अननुगामी, अप्रतिपाती, प्रतिपातीत्येतेऽष्टौ भेदा देशावधेर्भवन्ति। हीयमान-प्रतिपातिभेदवर्ज्या इतरे षड्भेदा भवन्ति परमावधेः। अवस्थितोऽनुगाम्यननुगाम्यप्रतिपातीत्येते चत्वारो भेदाः सर्वावधेः।' -तत्त्वार्थवा. १,२२,४। 'अनुगाम्यननुगामी वर्द्धमानो हीयमानोऽवस्थितोऽनवस्थित इति षड्विकल्पोऽवधिः संप्रतिपाताप्रतिपातयोरत्रैवान्तर्भावात्। देशावधिः परमावधिः सर्वावधिरिति च परमागमप्रसिद्धानां पूर्वोक्तयुक्त्या सम्भावितानामत्रोपसंग्रहात्।'- तत्त्वार्थश्लो.भा. १-२२-१०। 'स मनःपर्ययो द्वेधा। कुतः? सूत्रोक्तविकल्पात्। ऋजुमतिर्विपुलमतिरिति ×× आद्य ऋजुमतिमनःपर्ययस्त्रेधा। कुतः? ऋजुमनोवाक्कायविषयभेदात्। ऋजुमनस्कृतार्थज्ञः, ऋजुवाक्कृतार्थज्ञः, ऋजुकायकृतार्थज्ञश्चेति।...... द्वितीयो विपुलमतिः षोढा भिद्यते। कुतः? ऋजुवक्रमनोवाक्कायविषयभेदात्। ऋजुविकल्पाः पूर्वोक्ताः, वक्रविकल्पाश्च तद्विपरीता योज्याः'-तत्त्वार्थवा. १,२३,६-८। एवमेव श्लोकवार्तिके (१-२३) मनःपर्ययभेदाः प्रोक्ताः। ४. पारमार्थिकप्रत्यक्षमिति सम्बन्धः। ५. सकलप्रत्यक्षम्। ६. घातिनां ज्ञानावरण-दर्शनावरण- मोहनीयान्तरायकर्मणां संघातः समूहस्तस्य निरवशेषेण सामस्त्येन घातनात् क्षयात्समुन्मीलितं जातमित्यर्थः। ७. 'सर्वग्रहणं निरवशेषप्रतिपत्त्यर्थम्। ये लोकालोकभित्रास्त्रिकालविषया द्रव्यपर्याया अनन्ताः, तेषु निरवशेषेषु केवलज्ञानविषयनिबन्ध इति प्रतिपत्त्यर्थं सर्वग्रहणम्। यावाँल्लोकालोकस्वभावोऽनन्तस्तावन्तोऽनन्तानन्ता यद्यपि स्युस्तानपि ज्ञातुमस्य सामर्थ्यमस्तीत्यपरिमितमाहात्म्यं केवलज्ञानं वेदितव्यम्।' तत्त्वार्थवा. १,२९,९। ८. विषयनिबन्धः (सम्बन्धः) इति शेषः। ९. आत्मानमेवापेक्ष्यैतानि त्रीणि ज्ञानान्युत्पद्यन्ते, नेन्द्रियानिन्द्रियापेक्षा अत्रास्ति। उक्तं च- '........ अत एवाक्षानपेक्षाऽञ्जनादिसंस्कृतचक्षुषो यथाऽऽलोकानपेक्षा।' अष्टश. का. ३; 'न हि सर्वार्थैः सकृदक्षसम्बन्धः सम्भवति साक्षात्परम्परया वा। ननु चावधि-मनःपर्ययज्ञानिनोर्देशतो विरतव्यामोहयोरसर्वदर्शिनयोः कथमक्षानपेक्षा संलक्षणीया? तदावरणक्षयोपशमातिशयवशात्स्वविषये परिस्फुटत्वादिति ब्रूमः।' -अष्टस. पृ. ५०। १०. अवधिमनःपर्यययोः पारमार्थिकत्वाभावमाशङ्कते नन्विति।

1. म मु प्रत्योः 'घातनात्' इति पाठः। 2. 'इत्यादिज्ञापितत्वात्' इति द प प्रतिपाठः। 3. 'पारमार्थिकंप्रत्यक्षं' इति म मु प्रतिपाठः।

त्वादिति चेत्; न[1]; साकल्य-वैकल्ययोरत्र विषयोपाधिकत्वात्[2]। तथा हि- सर्वद्रव्यपर्यायविषयमिति केवलं सकलम्। अवधि-मनःपर्ययौ तु कतिपयविषयत्वाद्विकलौ। नैतावता तयोः पारमार्थिकत्वच्युतिः[3]। केवलवत्तयोरपि वैशद्यं स्वविषये साकल्येन समस्तीति तावपि पारमार्थिकावेव[4]।

[अवध्यादित्रयस्यातीन्द्रियप्रत्यक्षत्वप्रतिपादनम्]

§ १७. [5]"कश्चिदाह-" अक्षं नाम चक्षुरादिकमिन्द्रियम्, [6]तत् प्रतीत्य [7]यदुत्पद्यते तदेव प्रत्यक्षमुचितम्, नान्यत्"[8] [ ] इति; [9]तदसत्; आत्ममात्रसापेक्षाणामवधिमनःपर्ययकेवलानामिन्द्रियनिरपेक्षाणामपि प्रत्यक्षत्वाविरोधात्। स्पष्टत्वमेव हि प्रत्यक्षत्वप्रयोजकं[10] नेन्द्रियजन्यत्वम्[11]। अत एव[12] हि मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानां ज्ञानत्वेन [13]प्रतिपन्नानां मध्ये "आद्ये परोक्षम्" [तत्त्वार्थसू. १-११] "प्रत्यक्षमन्यत्" [तत्त्वार्थसू. १-१२] इत्याद्ययोर्मतिश्रुतयोः परोक्षत्वकथनमन्येषां त्ववधिमनःपर्ययकेवलानां [14]प्रत्यक्षत्ववाचो युक्तिः।

§ १८. कथं पुनरेतेषां[15] प्रत्यक्षशब्दवाच्यत्वम्[16] ? इति चेत्; रूढित[17] इति ब्रूमः।

---

१. समाधत्ते नेति। अयं भावः- अत्र हि केवलस्य यत्सकलप्रत्यक्षत्वमवधिमनःपर्यययोश्च विकलप्रत्यक्षत्वमुक्तं तद्विषयकृतम्। सकलरूप्यरूपिपदार्थविषयत्वेन केवलं सकलप्रत्यक्षमुच्यते, रूपिमात्रविषयत्वेन चावधिमनःपर्ययौ विकलप्रत्यक्षौ कथ्येते। ततो न तयोः पारमार्थिकत्वहानिः। पारमार्थिकत्वप्रयोजकं हि स्वविषये साकल्येन वैशद्यम्, तच्च केवलवत्तयोरपि विद्यत एवेति। २. विषय उपाधिर्निमित्तं ययोस्तौ विषयोपाधिकौ विषयनिमित्तकौ तयोर्भावस्तत्त्वं तस्मात् विषयोपाधिकत्वात् विषयनिमित्तकत्वादित्यर्थः। ३. पारमार्थिकत्वाभावः। ४. एवकारेणापारमार्थिकत्वव्यवच्छेदः, तेन नापारमार्थिकौ इति फलति। ५. 'अक्षमक्षं प्रतीत्योत्पद्यते इति प्रत्यक्षम्, अक्षाणि इन्द्रियाणि'- प्रशस्त.भा.पृ. ९४। 'अक्षमक्षं प्रति वर्तत इति प्रत्यक्षम्'- **न्यायप्र.** पृ. ७। ये खलु 'इन्द्रियव्यापारजनितं प्रत्यक्षं- अक्षमक्षं प्रति यद्वर्तते तत्प्रत्यक्षमित्यभ्युपगमात्' (**सर्वार्थ. १-१२**) इति प्रत्यक्षलक्षणमामनन्ति तेषामियं शङ्का ते च **वैशेषिकादयः**। ६. इन्द्रियमाश्रित्य। ७. यज्ज्ञानम्। ८. नेन्द्रियनिरपेक्षम्, तथा च नावध्यादित्रयं प्रत्यक्षमिति शङ्कितुराशयः। ९. तदयुक्तम्। १०. प्रत्यक्षतायां निबन्धनम्। ११. यतो हि 'यदि इन्द्रियनिमित्तमेव ज्ञानं प्रत्यक्षमिष्यते, एवं सत्याऽऽप्तस्य प्रत्यक्षज्ञानं न स्यात्। न हि तस्येन्द्रियपूर्वोऽर्थाधिगमः।- **सर्वार्थ.** १-१२। १२. स्पष्टत्वस्य प्रत्यक्षत्वप्रयोजकत्वादेव, यत एव स्पष्टत्वं प्रत्यक्षत्वप्रयोजकं तत एव इत्यर्थः। १३. अभ्युपगतानामवगतानामिति यावत्। १४. प्रत्यक्षत्वप्रतिपादनं सङ्गतं सूत्रकाराणाम्। यदाह **अकलङ्कदेवोऽपि** 'आद्ये परोक्षमपरं प्रत्यक्षं प्राहुराञ्जसम्।'- **न्यायवि.** का. ४७४। १५. अवधिमनःपर्ययकेवलानाम्। १६. कथनयोग्यता, व्यपदेश इति यावत्। १७. **अक्षमक्षं** प्रति यद्वर्तते तत्प्रत्यक्षमितीमं प्रत्यक्षशब्दस्य व्युत्पत्त्यर्थमनाश्रित्यार्थसाक्षात्कारित्वरूपप्रवृत्तिनिमित्तसद्भावात्। 'अक्षाश्रितत्वं च व्युत्पत्तिनिमित्तं शब्दस्य (प्रत्यक्षशब्दस्य), न तु प्रवृत्तिनिमित्तम्। अनेन त्वक्षाश्रितत्वेन एकार्थसमवेतमर्थसाक्षात्कारित्वं लक्ष्यते तदेव च शब्दस्य (प्रत्यक्षशब्दस्य) प्रवृत्तिनिमित्तम्। ततश्च यत्किञ्चिदर्थस्य साक्षात्कारिज्ञानं तत्प्रत्यक्षमुच्यते। यदि चाक्षाश्रितत्वमेव प्रवृत्तिनिमित्तं स्यादिन्द्रियज्ञानमेव प्रत्यक्षमुच्येत, न मानसादि, यथा गच्छतीति गौः इति गमनक्रियायां व्युत्पादितोऽपि गोशब्दो गमनक्रियोपलक्षितमेकार्थसमवेतं गोत्वं प्रवृत्तिनिमित्तीकरोति तथा च गच्छति अगच्छति च गवि गोशब्दः सिद्धो भवति'- **न्यायबिन्दुटी.** पृ. ११। तथा प्रकृतेऽपि अक्षजन्येऽनक्षजन्ये च ज्ञाने प्रत्यक्षशब्दः प्रवर्तते। अतो युक्तमेवावध्यादित्रयाणामिन्द्रियनिरपेक्षाणामपि प्रत्यक्षशब्दवाच्यत्वम्, स्पष्टत्वापरनामार्थसाक्षात्कारित्वस्य तत्र प्रवृत्तिनिमित्तसद्भावादिति भावः।

§१९. अथवा[१] अक्षणोति व्याप्नोति जानातीत्यक्ष आत्मा, तन्मात्रापेक्षोत्पत्तिकं प्रत्यक्षमिति [२]किमनुपपन्नम्[1]? तर्हि इन्द्रियजन्यमप्रत्यक्षं प्राप्तमिति चेत्; हन्त विस्मरणशीलत्वं वत्सस्य[३]। अवोचाम खल्वौपचारिकं प्रत्यक्षत्वमक्षजज्ञानस्य[४]। ततस्तस्या[५]प्रत्यक्षत्वं कामं[६] प्राप्नोतु, का नो[७] हानिः। [८]एतेन "अक्षेभ्यः परावृत्तं[९] परोक्षम्" [ ] इत्यपि [१०]प्रतिविहितम्, अवैशद्यस्यैव परोक्षलक्षणत्वात्[११]।

§२०. [१२]स्यादेतत् अतीन्द्रियं प्रत्यक्षमस्तीत्यतिसाहसम्; [१३]असम्भावितत्वात्। यद्यसम्भावितमपि कल्प्येत, गगनकुसुमादिकमपि कल्प्यं स्यात्; न[2] स्यात्; गगनकुसुमादे[3]रप्रसिद्धत्वात्, [१४]अतीन्द्रियप्रत्यक्षस्य तु प्रमाणसिद्धत्वात्। तथा हि- केवलज्ञानं तावत्किञ्चिज्ज्ञानां कपिलादीनामसम्भवदप्यर्हतः सम्भवत्येव। सर्वज्ञो हि स भगवान्।

---

१. यद्ययमाग्रहः स्याद्व्युत्पत्तिनिमित्तेनैव भाव्यमिति तदा तदप्याह **अथवेति**। यथोक्तं **श्रीप्रभाचन्द्रैरपि**- 'यदि वा, व्युत्पत्तिनिमित्तमप्यत्र विद्यत एव। तथा हि-अक्षशब्दोऽयमिन्द्रियवत् आत्मन्यपि वर्तते, अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीति अक्ष आत्मा इति व्युत्पत्तेः। तमेव क्षीणोपशान्तावरणं क्षीणावरणं वा प्रतिनियतस्य ज्ञानस्य प्रत्यक्षशब्दातिशयता सुघटैव।'- **न्यायकु.** पृ. २६। २. नायुक्तमिति भावः। ३. बालस्य, विस्मरणशीलः प्रायो बाल एव भवति, अत उक्तं **वत्सस्येति**। ४ इन्द्रियजन्यज्ञानस्य। ५. इन्द्रियजज्ञानस्य। ६. यथेष्टम्। ७. अस्माकम्-जैनानाम्। ८. 'अक्षमक्षं प्रतीत्य यदुत्पद्यते तत्प्रत्यक्षं' इति, 'अक्षमक्षं प्रति वर्तत इति प्रत्यक्षम्' इति वा प्रत्यक्षलक्षणनिरसनेन। ९. व्यावृत्तं रहितमिति यावत्। 'अक्षेभ्यो हि परावृत्तं परोक्षम्'- **तत्त्वार्थश्लो.** पृ. १८२। १०. निरस्तम्। ११. यदाहाऽकलङ्कदेवः— 'इतरस्य (अविशदनिर्भासिनो ज्ञानस्य) परोक्षता'- **लघी.** स्वो.वि.का. ३। १२. **अतीन्द्रियप्रत्यक्षाभावमाशङ्कते स्यादेतदिति**। १३. लोके खलु इन्द्रियैरुत्पन्नमेव ज्ञानं प्रत्यक्षमुच्यते प्रसिद्धं च, नत्विन्द्रियनिरपेक्षम्, तदन्तरेण तदुत्पत्तेरसम्भवादिति भावः। १४. इन्द्रियनिरपेक्षस्यापि प्रत्यक्षज्ञानस्योत्पत्तेः सम्भवात्। न हि सूक्ष्मान्तरितदूरार्थविषयकं ज्ञानमिन्द्रियैः सम्भवति, तेषां सन्निहितदेशविषयकत्वात्सम्बद्धवर्तमानार्थग्राहकत्वाच्च, 'सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना' (मी. श्लो. सू. ४ श्लो. ८४) इति भाट्टवचनात्। न च तज्ज्ञानं प्रत्यक्षमेव नास्ति, चोदनाप्रभवत्वात्। 'चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थमवगमयितुमलं पुरुषविशेषान्' (शाबरभा. १-१-२) इति वाच्यम्, तज्ज्ञानस्यावैशद्येन परोक्षत्वात्। न हि शब्दप्रभवं ज्ञानं विशदं साक्षाद्रूपं च। प्रत्यक्षज्ञानं तु विशदं साक्षाद्रूपं च। अत एव तयोः साक्षात्त्वेनासाक्षात्त्वेन भेदः। तथा चोक्तं **समन्तभद्रस्वामिभिः**- स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने। भेदः साक्षादसाक्षाच्च....' **आप्तमी.** १०५। सम्भवति च सूक्ष्मादीनां साक्षाद्रूपं ज्ञानम्। साक्षात्कृतैरेव सर्वद्रव्यपर्यायान् परिच्छिनत्ति (केवलाख्येन प्रत्यक्षेण केवली), नान्यतः (नागमात्) इति' (**अष्टश.** का. १०५) इति वचनात्। अतोऽतीन्द्रियं प्रत्यक्षमस्तीति युज्यते।

---

*1. आ प्रतौ 'किमनुपपन्नम्' इति पाठो नास्ति। 2. आ प्रतौ 'इति चेत' इति पाठः। 3. **म मु** प्रत्योः 'गगनकुसुमादि' पाठः।*

[प्रासङ्गिकी सर्वज्ञसिद्धिः]

§ २१. [१]ननु सर्वज्ञत्वमेवाप्रसिद्धं, किमुच्यते[२] सर्वज्ञोऽर्हन्निति, क्वचिदप्यप्रसिद्धस्य[३] विषयविशेषे[४] व्यवस्थापयितुमशक्तेरिति चेत्; न; सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः, अनुमेयत्वात्, अग्न्यादिवत्, इत्यनुमानात्सर्वज्ञत्वसिद्धेः। तदुक्तं [५]स्वामिभिर्महाभाष्यस्यादावाप्तमीमांसाप्रस्तावे[६]-

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः।

[का.५] इति[1]।

§ २२. सूक्ष्माः स्वभावविप्रकृष्टाः परमाण्वादयः, [७]अन्तरिताः कालविप्रकृष्टा रामादयः, दूरा[2] देशविप्रकृष्टा मेर्वादयः। एते स्वभावकालदेशविप्रकृष्टाः पदार्था धर्मित्वेन विवक्षिताः। तेषां कस्यचित्प्रत्यक्षत्वं साध्यम्। [८]इह प्रत्यक्षत्वं प्रत्यक्षज्ञानविषयत्वम्, विषयिधर्मस्य[९] विषयेऽप्युपचारोपपत्तेः। अनुमेयत्वादिति हेतुः। अग्न्यादिर्दृष्टान्तः। अग्न्यादावनुमेयत्वं कस्यचित्प्रत्यक्षत्वेन सहोपलब्धं परमाण्वादावपि कस्यचित्प्रत्यक्षत्वं साधयत्येव। न चाण्वादावनुमेयत्वमसिद्धम्[3]. [१०]सर्वेषामप्यनुमेयमात्रे[११] विवादाभावात्।

§ २३. [१२]अस्त्वेवं सूक्ष्मादीनां प्रत्यक्षत्वसिद्धिद्वारेण कस्यचिदशेषविषयं प्रत्यक्षज्ञानम्। तत्पुनरतीन्द्रियमिति कथम्? इत्थम्- यदि [१३]तज्ज्ञानमैन्द्रियिकं[१४] स्यात् अशेषविषयं न स्यात्, इन्द्रियाणां स्वयोग्यविषय एव ज्ञानजनकत्वशक्तेः। सूक्ष्मादीनां च [१५]तदयोग्यत्वादिति।

---

१. सर्वज्ञाभाववादी मीमांसकश्चार्वाकश्चात्र शङ्कते नन्विति। २. भवता जैनेन। ३. कपिलादीनां मध्ये कस्मिंश्चिदपि अप्रतीतस्य सर्वज्ञत्वस्य। ४. व्यक्तिविशेषे अर्हति। ५. समन्तभद्राचार्यैः। ६. देवागमाभिधाप्तमीमांसाप्रकरणे। ७. व्यवहिताः कालापेक्षयेत्यर्थः। ८. अत्रानुमाने। ९. ज्ञानधर्मस्य प्रतिभासस्य, अयमाशयः- 'सूक्ष्मादयः कस्यचित्प्रत्यक्षाः' इत्यत्र सूक्ष्मादीनां यत्प्रत्यक्षत्वमुक्तं तद्धि प्रत्यक्षज्ञानवृत्तिर्धर्मो न तु सूक्ष्मादिपदार्थवृत्तिस्तत्कथं सूक्ष्मादीनां प्रत्यक्षत्वप्रतिपादनं श्रीस्वामिसमन्तभद्राचार्याणां सङ्गतम्? अस्येदं समाधानम्- प्रत्यक्षत्वमत्र प्रत्यक्षज्ञानविषयत्वं विवक्षितम्, तथा च सूक्ष्मादीनां प्रत्यक्षज्ञानविषयत्वेनोपचारतस्तेषां प्रत्यक्षत्वमुक्तं 'घटः प्रतिभासते, पटः प्रतिभासते, घटज्ञानम्, पटज्ञानम्' इति भवति हि व्यवहारो न च घटस्य प्रतिभासः पटस्य वा प्रतिभासः, तस्य ज्ञानधर्मत्वात्। एवं न घटस्य ज्ञानं पटस्य वा ज्ञानम्, तस्यात्मनिष्ठत्वेन घटपटादिनिष्ठत्वासम्भवात्, आत्मनो हि तद् गुणस्तथापि तथा व्यवहारो भवत्येव। एवं प्रकृतेऽपि बोध्यम्। १०. वादिप्रतिवादिनाम्। ११. अण्वादेरनुमानविषयतायाम्। १२. पुनरपि अतीन्द्रियप्रत्यक्षाभावमाशङ्कते अस्त्वेवमिति। १३. सर्वज्ञज्ञानम्। १४. इन्द्रियजम्। १५. इन्द्रियायोग्यविषयत्वात्, न हीन्द्रियाणि सकृत्सर्वार्थेषु ज्ञानमुपजनयितुमलम्, सम्बद्धवर्तमानार्थविषयत्वात्। किञ्च, इन्द्रियाणि सकृत्सर्वार्थसाक्षात्करणे बाधकान्येव आवरणनिबन्धनत्वात्। तदुक्तम्-

---

1. द म मु प्रतिषु 'इति' पाठो नास्ति। 2. म मु प्रत्योः 'दूरार्थाः' पाठः। 3. म मु प्रत्योः 'प्रसिद्धं' पाठः।

तस्मात्सिद्धं तदशेषविषयं ज्ञानमनैन्द्रियकमेव[1] इति।। अस्मिंश्चार्थे[2] सर्वेषां सर्वज्ञवादिनां न विवादः। यद् बाह्या[3] अप्याहुः[4]- "[5]अदृष्टादयः कस्यचित्प्रत्यक्षाः प्रमेयत्वात्।" [ ] इति।

[सामान्यतः प्रसिद्धस्य सार्वज्ञ्यस्यार्हति प्रसाधनम्]

§ २४. नन्वस्त्वेवमशेषविषयसाक्षात्कारित्वलक्षणमतीन्द्रियप्रत्यक्षज्ञानम्, तच्चार्हत इति कथम्? कस्यचिदिति सर्वनाम्नः सामान्यज्ञापकत्वादिति चेत्; सत्यम्; [6]प्रकृतानुमानात्सामान्यतः सर्वज्ञत्वसिद्धिः। अर्हत[7]एतदिति2 पुनरनुमानान्तरात्[8]। [9]तथा हि-अर्हन् सर्वज्ञो भवितुमर्हति, निर्दोषत्वात्, यस्तु न सर्वज्ञो नासौ निर्दोषः, यथा रथ्यापुरुष इति [10]केवलव्यतिरेकिलिङ्गकमनुमानम् ।

'भावेन्द्रियाणामावरणनिबन्धनत्वात्। कार्त्स्न्यतो ज्ञानावरणसंक्षये हि भगवानतीन्द्रियप्रत्यक्षभाक् सिद्धः। न च सकलावरणसंक्षये भावेन्द्रियाणामावरणनिबन्धनानां सम्भवः, कारणाभावे कार्यानुपपत्तेः' **अष्टस.** पृ. ४५। श्रीमाणिक्यनन्द्यप्याह- 'सावरणत्वे करणजन्यत्वे च प्रतिबन्धसम्भवात्' **परीक्षा.** २-१३। **अकलङ्कदेवैरप्युक्तम्-**

'कथञ्चित् स्वप्रदेशेषु स्यात्कर्मपटलाच्छता। संसारिणां तु जीवानां यत्र ते चक्षुरादयः॥
साक्षात्कर्तुं विरोधः कः सर्वथाऽऽवरणात्यये? सत्यमर्थं तथा सर्वं यथाऽभूद्वा भविष्यति॥'

न्यायवि. ३६१, ३६२।

अथ 'न कश्चिद्भवभृदतीन्द्रियप्रत्यक्षभागुपलब्धो यतो भगवांस्तथा सम्भाव्यते; इत्यपि न शङ्का श्रेयसी; तस्य भवभृतां प्रभुत्वात्। न हि भवभृत्साम्ये दृष्टो धर्मः सकलभवभृत्प्रभौ सम्भावयितुं शक्यः, तस्य संसारिजनप्रकृतिमभ्यतीतत्वात्' (अष्टस. पृ. ४५)। कथं संसारिजनप्रकृतिमभ्यतीतोऽसौ? इत्यत आह-

मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यतः।
तेन नाथ परमासि देवता श्रेयसे जिनवृष प्रसीद नः॥

स्वयंभूस्तोत्र का. ७५।

ततस्तदशेषविषयं ज्ञानमतीन्द्रियमेव, अशेषविषयत्वान्यथानुपपत्तेरिति ध्येयम्। प्रत्यक्षं विशदज्ञानात्मकं 'प्रत्यक्षत्वात्' इति वत् 'विशेषं धर्मिणं कृत्वा सामान्यं हेतुं ब्रुवतां दोषासम्भवात्' (प्रमाणप. पृ. ६७)।

१. इन्द्रियेभ्यो निष्क्रान्तम्- अतीन्द्रियमित्यर्थः। २. विषये, अनुमेयत्वादिहेतुना सूक्ष्मादीनां कस्यचित्प्रत्यक्षत्वसाधने इति यावत्। ३. जैनेतरा नैयायिकादयः। ४. यथा हि- स्वर्गादयः कस्यचित्प्रत्यक्षाः..... वस्तुत्वादागमविषयत्वात्, यद्वस्तु यच्च कथ्यते तत्कस्यचित्प्रत्यक्षं भवति, यथा घटादि' **न्यायवा.** १-१-७, 'धर्मः कस्यचित्प्रत्यक्षः प्रमेयत्वात् घासोपदिति, यस्य प्रत्यक्षः स योगी'- **प्रमाणसं.** पृ. १। ५. अदृष्टशब्देन पुण्यपापद्वयमुच्यते, अदृष्टमादिर्येषां ते अदृष्टादयः पुण्यपापादयोऽतीन्द्रियार्थाः। ६. 'सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षा अनुमेयत्वात्' इत्यस्मादनुमानात्। ७. सर्वज्ञत्वम्। ८. वक्ष्यमाणादन्यस्मादनुमानात्। ९. अनुमानान्तरमेव प्रदर्शयति **तथा हीति**। १०. व्यतिरेकव्याप्तिकाल्लिङ्गात् यदनुमानं क्रियते तद्व्यतिरेकिलिङ्गकानुमानमुच्यते। साध्याभावे साधनाभावप्रदर्शनं व्यतिरेकव्याप्तिः। तथा च प्रकृतेऽनुमाने सर्वज्ञत्वरूपसाध्याभावे निर्दोषत्वरूपसाधनाभावः प्रदर्शितः। तत इदं व्यतिरेकिलिङ्गकानुमानम्। नन्वाशुबोधजनकमन्वयिलिङ्गकमेवानुमानं वाच्यम्, न केवलव्यतिरेकिलिङ्गकम्, तस्य वक्रत्वेनाशुबोधजनकत्वाभावात् 'ऋजुमार्गेण सिद्धयन्तं को हि वक्रेण साधयेत्' (वैशे. सूत्रोप. २-१-१) इति वचनात्। किञ्च, व्यतिरेकिणि लिङ्गिनि बहूनि दूषणानि सम्भवन्ति। तथा हि-

---

1. म मु 'अतीन्द्रियकमेव' इति पाठः। 2. 'एव तदिति' इति द प्रतिपाठः।

§ २५. आवरणरागादयो दोषास्तेभ्यो निष्क्रान्तत्वं हि निर्दोषत्वम्।[1] तत्खलु सर्वज्ञत्वमन्तरेण। नोपपद्यते, किञ्चिज्ज्ञस्यावरणादिदोषरहितत्वविरोधात्। ततो निर्दोषत्वमर्हति विद्यमानं सार्वज्ञ्यं साधयत्येव। निर्दोषत्वं पुनरर्हत्परमेष्ठिनि युक्ति-शास्त्राविरोधिवाक्त्वात्सिद्ध्यति। युक्ति-शास्त्राविरोधिवाक्त्वं च [2]तदभिमतस्य मुक्ति-संसारतत्कारण[त]त्त्वस्यानेकधर्मात्मकचेतनाचेतन2तत्त्वस्य च3 [3]प्रमाणाबाधितत्वात्सुव्यवस्थितमेव।

§ २६. [4]एवमपि सर्वज्ञत्वमर्हत एवेति कथम् ? कपिलादीनामपि सम्भाव्यमानत्वादिति चेत्; उच्यते-कपिलादयो न सर्वज्ञाः सदोषत्वात्। सदोषत्वं तु तेषां [5]न्यायागमविरुद्धभाषित्वात्। [6]तच्च [7]तदभिमतमुक्त्यादितत्त्वस्य सर्वथैकान्तस्य[8] च [9]प्रमाणबाधितत्वात्।

'साध्याप्रसिद्धिर्वैधर्म्यं व्यर्थतोपनयस्य च।
अन्वयेनैव सिद्धिश्च व्यतिरेकिणि दूषणम्॥' – वैशे. सूत्रोप. २-१-१ इति।

ततो न तल्लिङ्गकमनुमानं युक्तमिति चेत्; न; व्याप्तिमद्व्यतिरेकिणोऽपि लिङ्गस्यान्वयिवदाशुबोधजनकत्वात्। व्याप्तिशून्यस्य तूभयस्याऽप्यगमकत्वात्। अत एवान्तर्व्याप्त्यैव सर्वत्र साध्यसिद्धेरभ्युपगमात्स्याद्वादिभिः। यदुक्तम्-'बहिर्व्याप्तिमन्तरेणान्तर्व्याप्त्या सिद्धम्। यत इयमेवान्यत्रापि प्रधाना' आप्तमी. वृ. ६। सा च प्रकृते केवलव्यतिरेकिलिङ्गकानुमानेऽपि विद्यत एव। ततो नोक्तदोषः।

१. निर्दोषत्वम्। २. अर्हदभिमतस्य। ३. प्रमाणेन बाधितुमशक्यत्वात्। तथा हि- तत्र तावद्भगवतोऽभिमतं मोक्षतत्त्वं न प्रत्यक्षेण बाध्यते, तस्य तदविषयत्वेन तद्बाधकत्वायोगात्। नाऽप्यनुमानेन 'नास्ति कस्यचिन्मोक्षः, सदुपलम्भकप्रमाणपञ्चकाविषयत्वात्, कूर्मरोमादिवत्' इत्यादिरूपेण, तस्य मिथ्यानुमानत्वात्, मोक्षस्यानुमानागमाभ्यामस्तित्वव्यवस्थापनात् । तद्यथा-'क्वचिदात्मनि दोषावरणयोर्निश्शेषा हानिरस्ति, अतिशायनात्, क्वचित् कनकपाषाणादौ किट्टिमादिमलक्षयवत्' इत्यनुमानात्सकलकर्मक्षयस्वभावस्य मोक्षस्य प्रसिद्धेः। 'बन्धहेत्वभाव-निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः' इत्यागमाच्च तत्सिद्धेः। तथा मोक्षकारणतत्त्वमपि न प्रमाणेन बाध्यते, प्रत्यक्षतोऽकारणकमोक्षाप्रतीतेस्तेन तद्बाधनायोगात्। नाऽप्यनुमानेन, तस्य मोक्षकारणस्यैव प्रसाधकत्वात्। सकारणको मोक्षः प्रतिनियतकालादित्वात् पटादिवदिति। तस्याकारणकत्वे सर्वदा सर्वत्र तत्सद्भावप्रसङ्गः स्यात्, परापेक्षारहितत्वात्। आगमेनापि मोक्षकारणतत्त्वं न बाध्यते, प्रत्युत तस्य तत्साधकत्वात्। '**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः**' **(तत्त्वार्थसू. १-१)** इति वचनात्। एवं संसारतत्त्वं संसारकारणतत्त्वमनेकान्तात्मकवस्तुतत्त्वं च प्रमाणेनाबाध्यमानं बोद्धव्यमिति संक्षेपः। **विस्तरतस्त्वष्टसहस्र्यां** (देवागमालङ्कारे) विद्यानन्दस्वामिभिर्निरूपितम्। ४. निर्दोषत्वेन हेतुना अर्हतः सर्वज्ञत्वसिद्धावपि। ५. न्यायोऽनुमानम्, आगमः शास्त्रम्, ताभ्यां विरुद्धभाषिणो विपरीतवादिनः, तेषां भावस्तत्त्वं तस्मात्। 'ये न्यायागमविरुद्धभाषिणस्ते न निर्दोषाः, यथा दुर्वैद्यादयः, तथा चान्ये कपिलादयः' **अष्टस. पृ. ६६।** ६. न्यायागमविरुद्धभाषित्वं च। ७. कपिलाद्यभिमतमुक्तिसंसारतत्कारणतत्त्वस्य। ८. नित्याद्येकान्तस्य। ९. प्रमाणेन बाध्यत्वात्, तद्यथा-कपिलस्य तावत् 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (योगसू. १-३) स्वरूपे चैतन्यमात्रेऽवस्थानमात्मनो मोक्ष इत्यभिमतम्, तत्प्रमाणेन बाध्यते; चैतन्यविशेषेऽनन्तज्ञानादौ स्वरूपेऽवस्थानस्य

1. आ म मु 'सर्वज्ञमन्तरेण' पाठः। 2. आ म मु प्रतिषु 'चेतनाचेतनात्मक' पाठः। 3. आ म प मु प्रतिषु 'च' पाठो नास्ति।

[1]तदुक्तं [2]स्वामिभिरेव–

[3]स त्वमेवासि निर्दोषो युक्ति-शास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधो [4]यदिष्टं ते [5]प्रसिद्धेन न [6]बाध्यते।

मोक्षत्वप्रसाधनात्। न हि अनन्तज्ञानादिकमात्मनोऽस्वरूपं सर्वज्ञत्वादिविरोधात्। अथ सर्वज्ञत्वादि प्रधानस्य स्वरूपम्, नात्मन इति चेन्न; तस्याचेतनत्वान्न सर्वज्ञत्वादि तत्स्वरूपम्, आकाशवत्। ज्ञानादयश्च नाचेतनधर्माः, स्वसंवेदनस्वरूपत्वादनुभववदिति न चैतन्यमात्रेऽवस्थानं मोक्षः, अपि त्वनन्तज्ञानादिचैतन्यविशेषेऽवस्थानस्य मोक्षत्वप्रतीतेः। एतेन बुद्ध्यादिगुणोच्छेदो मोक्ष इति **वैशेषिकाः**, अनन्तसुखमेव मुक्तस्य न ज्ञानादिकमित्यानन्दैकस्वभावाभिव्यक्तिर्मोक्ष इति **वेदान्तिनः**, निरास्रवचित्तसन्तत्युत्पादो मोक्ष इति **बौद्धाः**, तेषां सर्वेषामपि मोक्षतत्त्वं प्रमाणेन बाधितं ज्ञेयम्; अनन्तज्ञानादिस्वरूपोपलब्धेरेव मोक्षत्वसिद्धेः। एवमेव कपिलादिभिर्भाषितं मोक्षकारणतत्त्वं संसारतत्त्वं संसारकारणतत्त्वं च न्यायागमविरुद्धं बोद्धव्यम्। इत्यष्टसहस्र्याः संक्षेपो विस्तरतस्तु तत्रैव द्रष्टव्यः।

१. प्रकरणसारः स्वोक्तमेव समन्तभद्राचार्यस्य कथनेन सह सङ्गमयति **तदुक्तमिति**। २. समन्तभद्राचार्यैः। ३. 'प्रमाणबलात् सामान्यतो यः सर्वज्ञो वीतरागश्च सिद्धः स त्वमेवार्हन्, युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्त्वात्, यो यत्र युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् स तत्र निर्दोषो दृष्टो, यथा क्वचिद् व्याध्युपशमे भिषग्वरः। युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् च भगवान् मुक्तिसंसारतत्कारणेषु, तस्मान्निर्दोष इति' **अष्टस**. पृ. ६२। अविरोधश्च, यस्मादिष्टं मोक्षादिकं तत्त्वं ते प्रसिद्धेन प्रमाणेन न बाध्यते। तथा हि- 'यत्र यस्याभिमतं तत्त्वं प्रमाणेन न बाध्यते स तत्र युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् यथा रोगस्वास्थ्यतत्कारणतत्त्वे भिषग्वरः, न बाध्यते च भगवतोऽभिमतं मोक्षसंसारतत्कारणतत्त्वम्, तस्मात्तत्र त्वं युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् इति विषयस्य (भगवतो मुक्त्यादितत्त्वस्य) युक्तिशास्त्राविरोधित्वसिद्धेर्विषयिण्या भगवद्वाचो युक्तिशास्त्राविरोधित्वसाधनं (समर्थितं प्रतिपत्तव्यम्)'- **अष्टस**. पृ. ७२।

ननु इष्टं इच्छाविषयीकृतमुच्यते, इच्छा च वीतमोहस्य भगवतः कथं सम्भवति ? तथा च नासौ युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्; तन्न; इष्टं मतं शासनमित्युपचर्यते, तथा च उपचारेण सयोगिध्यानवत्तदभ्युपगमे दोषाभावात्। अनुपचारतोऽपि भगवतोऽप्रमत्तेच्छास्वीकारे न दोषः। तदुक्तम्-

अप्रमत्ता विवक्षेयं अन्यथा नियमात्ययात्।
इष्टं सत्यं हितं वक्तुमिच्छा दोषवती कथम् ? – न्यायवि. का. ३५६

वस्तुतस्तु भगवतो वीतमोहत्वान्मोहपरिणामरूपाया इच्छायास्तत्रासम्भवात्। 'तथा हि – नेच्छा सर्वविदः शासनप्रकाशननिमित्तं प्रणष्टमोहत्वात्। यस्येच्छा शासनप्रकाशननिमित्तं, न स प्रणष्टमोहो यथा किंचिज्ज्ञः, प्रणष्टमोहश्च सर्ववित्प्रमाणतः साधितस्तस्मान्न तस्येच्छा शासनप्रकाशननिमित्तम्।' **अष्टस**. पृ. ७२। न चेच्छामन्तरेण वाक्प्रवृत्तिर्न सम्भवतीति वाच्यम्, नियमाभावात्। 'नियमाभ्युपगमे सुषुप्त्यादावपि निरभिप्रायप्रवृत्तिर्न स्यात्। न हि सुषुप्तौ गोत्रस्खलनादौ वाग्व्यवहारादिहेतुरिच्छाऽस्ति' **अष्टस**. पृ. ७३, ततो न वाक्प्रवृत्तेरिच्छापूर्वकत्वनियमः, तस्य सुषुप्त्यादिना व्यभिचारात्, अपि तु 'चैतन्य-करणपाटवयोरेव साधकतमत्वम्' (अष्टश., अष्टस. पृ. ७३) वाक्प्रवृत्तौ, संवित्करणपाटवयोः सत्त्वे एव वाक्प्रवृत्तेः सत्त्वं तदभावे चासत्त्वम्। 'तस्माच्चैतन्यं करणपाटवं च वाचो हेतुरेव नियमतो न विवक्षा, विवक्षामन्तरेणापि सुषुप्त्यादौ तद्दर्शनात्'। किंच, इच्छा वाक्प्रवृत्तिहेतुर्न 'तत्प्रकर्षाप्रकर्षानुविधानाभावाद् बुद्ध्यादिवत्। न हि यथा बुद्धेः शक्तेश्च प्रकर्षे वाण्याः प्रकर्षोऽपकर्षे वाऽपकर्षः प्रतीयते तथा दोषजातेः (इच्छायाः) अपि, तत्प्रकर्षे वाचोऽपकर्षात् तदपकर्षे एव तत्प्रकर्षात्, यतो वक्तुर्दोषजातिः (इच्छा) अनुमीयेत'। ××× 'विज्ञानगुणदोषाभ्यामेव वाग्वृत्तेर्गुणदोषवत्ता व्यवतिष्ठते, न पुनर्विवक्षातो दोषजातेर्वा। तदुक्तम्-

[1]त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम्।
आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते॥ [आप्तमी. का. ६-७]

§ २७. इति कारिकाद्वयेन एतयोरेव[1] परात्माभिमततत्त्वबाधाबाधयोः[2] समर्थनं [3]प्रस्तुत्य "भावैकान्ते"[4] [का.९] इत्युपक्रम्य "स्यात्कारः सत्यलाञ्छनः"[5] [का. ११२] इत्यन्त आप्तमीमांसासन्दर्भ इति कृतं[6] विस्तरेण।

§ २८. तदेवमतीन्द्रियं केवलज्ञानमर्हत एवेति सिद्धम्। [7]तद्वचनप्रामाण्याच्चावधिमनः-पर्ययोरतीन्द्रिययोः सिद्धिरित्यतीन्द्रियप्रत्यक्षमनवद्यम्। ततः स्थितं सांव्यवहारिकं पारमार्थिकं चेति द्विविधं प्रत्यक्षमिति।

इति श्रीपरमार्हताचार्य-धर्मभूषण-यति-विरचितायां न्यायदीपिकायां प्रत्यक्षप्रकाशो द्वितीयः॥२॥

विज्ञानगुणदोषाभ्यां वाग्वृत्तेर्गुणदोषता।
वाञ्छन्तो वा न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः॥ अष्टस. पृ. ७३।

अन्यच्चोक्तम्-

विवक्षामन्तरेणापि वाग्वृत्तिर्जातु वीक्ष्यते। वाञ्छन्तो वा न वक्तारः शास्त्राणां मन्दबुद्धयः॥
प्रज्ञा येषु पटीयस्यः प्रायो वचनहेतवः। विवक्षानिरपेक्षास्ते पुरुषार्थं प्रचक्षते॥

—न्यायवि. ३५४-५५।

४. ततः साधूक्तं तवेष्टं शासनं मतमिति। ५. प्रमाणेन अनित्यत्वाद्येकान्तधर्मेण वा। ६. अनेकान्तात्मकं तवेष्टं तत्त्वं नानित्यत्वाद्येकान्तधर्मेण बाध्यते तस्यासिद्धत्वात्, प्रमाणतः सिद्धमेव हि कस्यचिद् बाधकं भवति। न चानित्यत्वाद्येकान्ततत्त्वं प्रमाणतः सिद्धम्, ततो न तत्तवानेकान्तशासनस्य बाधकमिति भावः।

१. त्वन्मतं त्वदीयमनेकान्तात्मकं तत्त्वं तज्ज्ञानं च, तदेवामृतं ततो बाह्या बहिष्कृतास्तेषाम्, सर्वथैकान्तवादिनां सर्वप्रकारैर्नित्यत्वानित्यत्वाद्येकधर्मं स्वीकुर्वताम्, 'वयमाप्ताः' इत्यभिमानेन दग्धानां भस्मीभूतानां कपिलादीनां स्वेष्टं सदाद्येकान्ततत्त्वं प्रत्यक्षेणैव बाध्यते, अतः किमनुमानादिविहितबाधाप्रदर्शनेन? सकलप्रमाणज्येष्ठत्वात्प्रत्यक्षस्य। 'न हि दृष्टाज्ज्येष्ठं गरिष्ठमिष्टं नाम'। ततः प्रत्यक्षबाधाप्रदर्शनेनैवानुमानादिबाधा प्रदर्शिता भवतीत्यवसेयम्। २. पराभिमते कपिलाद्यभिमते तत्त्वे सर्वथैकान्तरूपे बाधा, आत्माभिमते जैनाभिमते तत्त्वेऽनेकान्तरूपेऽबाधा बाधाभावस्तयोः। ३. प्रस्तावभूतं कृत्वा।

४. भावैकान्ते पदार्थानामभावानामपह्नवात्।
सर्वात्मकमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम्॥९॥

५. सामान्यवाग् विशेषे चेन्न शब्दार्था मृषा हि सा।
अभिप्रेतविशेषाप्तेः स्यात्कारः सत्यलाञ्छनः॥११२॥

इति सम्पूर्णे कारिके। ६. अलम्। ७. 'वक्तुः प्रामाण्यात् वचनप्रामाण्यम्' इति न्यायादर्हतः प्रामाण्यसिद्धेः तदुपदिष्टावतीन्द्रियाववधिमनःपर्ययावपि सिद्धाविति प्रतिपत्तव्यम्।

---

1. द प प्रत्योः 'एव' पाठो नास्ति।

३. परोक्षप्रकाश:

[परोक्षप्रमाणस्य लक्षणम्]

§ १. [1]अथ परोक्षप्रमाणनिरूपणं प्रक्रम्यते। अविशदप्रतिभासं परोक्षम्। अत्र परोक्षं लक्ष्यम्, अविशदप्रतिभासत्वं लक्षणम्। यस्य ज्ञानस्य प्रतिभासो विशदो न भवति तत्परोक्षप्रमाणमित्यर्थ:। वैशद्यमुक्तलक्षणम्[2]। [3]ततोऽ[4]न्यदवैशद्यमस्पष्टत्वम्। [5]तदप्यनुभवसिद्धमेव।

§ २. सामान्यमात्रविषयत्वं परोक्षप्रमाणलक्षणमिति केचित्[6]; तन्न; प्रत्यक्षस्येव परोक्षस्यापि सामान्य-विशेषात्मकवस्तुविषयत्वेन तस्य[7] लक्षणस्याऽसम्भवित्वात्[8]। [9]तथा हि-घटादिविषयेषु प्रवर्तमानं प्रत्यक्षं प्रमाणं तद्गतं[10] सामान्याकारं[11] घटत्वादिकं [12]व्यावृत्ताकारं व्यक्तिरूपं[1] च [13]युगपदेव प्रकाशयदुपलब्धं[14], तथा परोक्षमपीति[15] न सामान्यमात्रविषयत्वं परोक्षलक्षणम्, अपि त्ववैशद्यमेव2। सामान्यविशेषयोरेकतरविषयत्वे तु प्रमाणत्वस्यैवाऽ[16]नुपपत्ति:3, सर्वप्रमाणानां सामान्यविशेषात्मकवस्तुविषयत्वाभ्यनुज्ञानात्[17]। तदुक्तम्- ''सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषय:''- [परीक्षा. ४-१] इति। तस्मात्सुष्ठूक्तं 'अविशदावभासनं परोक्षम्' इति[18]।

---

१. द्वितीयप्रकाशे प्रत्यक्षप्रमाणं निरूप्येदानीमिह परोक्षप्रमाणस्य निरूपणं प्रारभते **अथेति**। २. स्पष्टत्वं वैशद्यं तदेव नैर्मल्यमित्युक्तं पूर्वं वैशद्यलक्षणम्। ३. वैशद्यात्। ४. विपरीतम्। ५. अवैशद्यमपि, यथा नैर्मल्यं स्पष्टत्वमनुभवसिद्धं तथाऽस्पष्टत्वमनैर्मल्यमप्यनुभवसिद्धमेवेति भाव:। ६. बौद्धा:। ७. सामान्यमात्रविषयत्वमिति परोक्षलक्षणस्य। ८. असम्भवदोषदुष्टत्वात्, तथा च तस्य लक्षणाभासत्वमिति भाव:। ९. परोक्षस्य सामान्यविशेषात्मकवस्तुविषयत्वमेव, न सामान्यमात्रविषयत्वमिति प्रदर्शयति **तथा हीति**। १०. घटादिनिष्ठम्। ११. अनुगताकारम्। १२. अघटादिभ्यो व्यवच्छेदात्मकम्। १३. सहैव। १४. अनुवृत्ताकारव्यावृत्ताकारोभयं विषयीकुर्वत् दृष्टम्। १५. इति शब्दोऽत्र हेत्वर्थे वर्तते, तथा च इति हेतोरित्यस्मात् कारणादित्यर्थ:। १६. असम्भव:। १७. अभ्युपगमात्। १८. अत्रेदं बोध्यम्- 'परोक्षमविशदज्ञानात्मकं परोक्षत्वात्, यत्राविशदज्ञानात्मकं तन्न परोक्षम्, यथाऽतीन्द्रियप्रत्यक्षम्, परोक्षं च विवादाध्यासितं ज्ञानम्, तस्मादविशदज्ञानात्मकम्'- **प्रमाणप**. पृ. ६९। 'कुतोऽस्य परोक्षत्वम्? परायत्तत्वात्,... पराणीन्द्रियाणि मनश्च प्रकाशोपदेशादि च बाह्यं निमित्तं प्रतीत्य तदावरणकर्मक्षयोपशमापेक्षस्यात्मन उत्पद्यमानं मतिश्रुतं परोक्षमित्याख्यायते'- **सर्वार्थ**. १-११, न च परोक्षेण प्रमेयं न प्रमीयते परोक्षत्वादिति वाच्यम्, तस्यापि प्रत्यक्षस्येव सामान्यविशेषात्मकवस्तुविषयत्वाभ्युपगमात्। नाऽप्यस्याज्ञानरूपताऽप्रमाणता वा, 'तत्प्रमाणे' (तत्त्वार्थ. सू. १-१०) इति वचनेन प्रत्यक्षपरोक्षयोर्द्वयोरपि प्रमाणत्वाभ्युपगमात्। तदुक्तम्-

'ज्ञानानुवर्तनात्तत्र नाज्ञानस्य परोक्षता।
प्रमाणस्यानुवृत्तेर्न परोक्षस्याप्रमाणता॥' –तत्त्वार्थश्लो. १,११,६।

---

1. 'च विशेषरूपं' इति आ प्रतिपाठ:। 2. *द प्रतौ 'एव' इति पाठो नास्ति।* 3. *द प्रतौ 'तेः' इति पाठ:।*

[परोक्षप्रमाणं पञ्चधा विभज्य तस्य प्रत्ययान्तरसापेक्षत्वप्रतिपादनम्]

§ ३. [१]तत् पञ्चविधम्-स्मृतिः, प्रत्यभिज्ञानम्, तर्कः, अनुमानम्, आगमश्चेति। पञ्चविधस्याऽप्यस्य[1] परोक्षस्य [२]प्रत्ययान्तरसापेक्षत्वेनैवोत्पत्तिः[2]। तद्यथा-स्मरणस्य प्राक्तनानुभवापेक्षा, प्रत्यभिज्ञानस्य स्मरणानुभवापेक्षा, तर्कस्यानुभव-स्मरण-प्रत्यभिज्ञानापेक्षा, अनुमानस्य च लिङ्गदर्शनाद्य[३]पेक्षा, आगमस्य शब्दश्रवण-सङ्केतग्रहणाद्यपेक्षा, प्रत्यक्षस्य[3] तु न तथा [४]स्वातन्त्र्येणैवोत्पत्तेः। स्मरणादीनां प्रत्ययान्तरापेक्षा तु [५]तत्र तत्र निवेदयिष्यते।

[स्मृतेर्निरूपणम्]

§ ४. तत्र च[4] का नाम स्मृतिः? तदित्याकारा प्रागनुभूतवस्तुविषया स्मृतिः, यथा स देवदत्त इति। अत्र हि प्रागनुभूत एव देवदत्तस्तत्तया[६] प्रतीयते। तस्मादेषा प्रतीतिस्तत्तोल्लेखिन्यनुभूतविषया च, अननुभूते विषये तदनुत्पत्तेः। [७]तन्मूलं चानुभवो धारणारूप एव[८] अवग्रहाद्यनुभूतेऽपि धारणाया अभावे स्मृतिजननायोगात्। धारणा हि तथाऽऽत्मानं संस्करोति, यथाऽसावात्मा कालान्तरेऽपि तस्मिन् विषये ज्ञानमुत्पादयति। तदेतद्धारणाविषये समुत्पन्नं तत्तोल्लेखिज्ञानं स्मृतिरिति सिद्धम्।

§ ५. नन्वेवं धारणागृहीत एव स्मरणस्योत्पत्तौ [९]गृहीतग्राहित्वादप्रामाण्यं प्रसज्यत[१०] इति चेत्; न[११]; [१२]विषयविशेषसद्भावादीहादिवत्। यथा ह्यवग्रहादिगृहीतविषयाणामीहादीनां विषयविशेषसद्भावात्स्वविषयसमारोपव्यवच्छेदकत्वेन[१३] प्रामाण्यं तथा स्मरणस्यापि धारणागृहीतविषयप्रवृत्तावपि प्रामाण्यमेव। धारणाया हीदन्ताऽवच्छिन्नो[१४] विषयः, स्मरणस्य तु तत्ताऽवच्छिन्नः[१५]। तथा च स्मरणं स्वविषयास्मरणादिसमारोपव्यवच्छेदकत्वात्प्रमाणमेव[१६]। तदुक्तं प्रमेयकमलमार्तण्डे- "विस्मरणसंशयविपर्याससलक्षणः समारोपोऽस्ति, तन्निराकरणाच्चास्याः स्मृतेः प्रामाण्यम्" [३-४] इति।

---

१. परोक्षप्रमाणम्। २. ज्ञानान्तरापेक्षत्वेन। ३. आदिपदेन व्याप्तिग्रहणादेर्परिग्रहः। ४. प्रत्ययान्तरनिरपेक्षत्वेनैव। ५. यथावसरम्। ६. तदोर्भावस्तत्ता तया, 'तद्' शब्दोल्लेखेन। ७. स्मृतेः कारणम्। ८. एवकारेणावग्रहाद्यनुभवत्रयस्य व्यवच्छेदः, अवग्रहादयो ह्यदृढात्मकाः। धारणा तु दृढात्मिका, अतः सैव स्मृतेः कारणं नावग्रहादयः 'स्मृतिहेतुर्धारणा' इति वचनादिति भावः। ९. गृहीतस्यैव ग्रहणात्। १०. प्रसक्तं भवति। ११. समाधत्ते नेति। १२. विषयभेदस्य विद्यमानत्वात्। तथा हि- 'न खलु यथा प्रत्यक्षे विशदाकारतया वस्तुप्रतिभासः तथैव स्मृतौ, तत्र तस्या (तस्य) वैशद्याप्रतीतेः' - **प्रमेयक.** ३-४ 'किञ्च, स्मृतेः वर्तमानकालावच्छेदेनाधिगतस्यार्थस्यातीतकालावच्छेदेनाधिगतेरपूर्वांशाधिगमोपपत्तेः।' - **स्याद्वादर.** ३-४। अतो न गृहीतग्राहित्वं स्मरणस्येति भावः। १३. स्वेषामीहादीनां विषयो ज्ञेयस्तस्मिन्नुत्पन्नो यः संशयादिलक्षणः समारोपस्तद्व्यवच्छेदकत्वेन तन्निराकारकत्वेन। १४. वर्तमानकालावच्छिन्नः। १५. भूतकालावच्छिन्नः। १६. अत्रेदमनुमानं बोध्यम्- स्मृतिः प्रमाणं समारोपव्यवच्छेदकत्वात्, यदेवं तदेवं यथा प्रत्यक्षम्, समारोपव्यवच्छेदिका च स्मृतिः, तस्मात्प्रमाणमिति।

---

1. द प्रतौ 'अस्य' इति पाठो नास्ति। 2. द 'तेः' पाठः। 3. 'प्रत्यक्षं' इति मुद्रितप्रतिषु पाठः। 4. 'च' इति मुद्रितप्रतिषु नास्ति।

§ ६. [1]यदि चानुभूते प्रवृत्तमित्येतावता स्मरणमप्रमाणं स्यात् तर्हि अनुमितेऽर्थे पश्चात्प्रवृत्तं [2]प्रत्यक्षमप्यप्रमाणं स्यात्।

§ ७. [3]अविसंवादित्वाच्च प्रमाणं स्मृतिः प्रत्यक्षादिवत्। न हि स्मृत्वा [4]निक्षेपादिषु प्रवर्तमानस्य[5] विषयविसंवादोऽस्ति[6]। [7]यत्र त्वस्ति विसंवादस्तत्र स्मरणस्याभासत्वं प्रत्यक्षाभासवत्। तदेवं [8]स्मरणाख्यं पृथक् प्रमाणमस्तीति सिद्धम्।

[प्रत्यभिज्ञानस्य निरूपणम्]

§ ८. अनुभवस्मृतिहेतुकं सङ्कलनात्मकं[9] ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्। इदन्तोल्लेखिज्ञानमनुभवः, तत्तोल्लेखिज्ञानं स्मरणम्। तदुभयसमुत्थं पूर्वोत्तरैक्य-सादृश्य-वैलक्षण्यादिविषयं यत्सङ्कलनरूपं ज्ञानं जायते तत्प्रत्यभिज्ञानमिति ज्ञातव्यम्। यथा स एवाऽयं जिनदत्तः[10], गोसदृशो गवयः[11], गोविलक्षणो महिषः[12] इत्यादि।

§ ९. [13]अत्र हि पूर्वस्मिन्नुदाहरणे जिनदत्तस्य पूर्वोत्तरदशाद्वयव्यापक[14]मेकत्वं प्रत्यभिज्ञानस्य विषयः। तदिदमेकत्वप्रत्यभिज्ञानम्। द्वितीये[15] तु पूर्वानुभूतगोप्रतियोगिकं[16] गवयनिष्ठं[17] साहश्यम्[18]। तदिदं-साहश्यप्रत्यभिज्ञानम्। तृतीये तु पुनः प्रागनुभूतगोप्रतियोगिकं महिषनिष्ठं

---

१. अत्र स्मृतेरप्रामाण्यवादिनो नैयायिकादयः कथयन्ति- 'अतीतः पूर्वानुभूत इत्यतीतविषया स्मृतिः, अत एव सा न प्रमाणमर्थपरिच्छेदे पूर्वानुभवपारतन्त्र्यात्' इति कन्दलीकारः, 'न प्रमाणं स्मृतिः पूर्वप्रतिपत्तिव्यपेक्षणात्। स्मृतिर्हि तदित्युपजायमाना प्राचीं प्रतीतिमनुरुध्यमाना न स्वातन्त्र्येणार्थं परिच्छिनत्तीति न प्रमाणम्'- प्रकरणपञ्चि. पृ. ४२। २. 'अनुभूतार्थविषयत्वमात्रेणास्याः प्रामाण्यानभ्युपगमेऽनुमानेनाधिगतेऽर्थे यत्प्रत्यक्षं तदप्यप्रमाणं स्यात्।'- **प्रमेयक.** ३-४, **स्याद्वादर.** ३-४, 'अनुभूतेनार्थेन सालम्बनत्वोपपत्तेः। अन्यथा प्रत्यक्षस्याप्यनुभूतार्थविषयत्वादप्रामाण्यमनिवार्यं स्यात्। स्वविषयावभासनं स्मरणेऽप्यविशिष्टमिति।' **प्रमेयर.** २-२, **प्रमाणमी.** १-२-३। ३. 'न च तस्या विसंवादादप्रामाण्यम्, दत्तग्रहादिविलोपापत्तेः।' **प्रमेयर.** २-२, 'सा च प्रमाणम्, अविसंवादकत्वात्, प्रत्यक्षवत्।'- **प्रमाणप.** पृ. ६९, **प्रमाणमी.** १-२-३, न चासावप्रमाणम्, संवादकत्वात्, यत्संवादकं तत्प्रमाणं यथा प्रत्यक्षादि, संवादिका च स्मृतिः, तस्मात्प्रमाणम्'- **प्रमेयक.** ३-४। ४. भूगर्भादिस्थापितेष्वर्थेषु। ५. जनस्य। ६. विषयाप्राप्तिः। ७. यत्र तु विसंवादः सा स्मृत्याभासा प्रत्यक्षाभासवत्।'- **प्रमाणप.** पृ. ६९, **स्याद्वादर.** ३-४। ८. किञ्च, स्मृतेरप्रामाण्येऽनुमानवार्ताऽपि दुर्लभा, तया व्याप्तेरविषयीकरणे तदुत्थानायोगादिति। तत इदं वक्तव्यम्- 'स्मृतिः प्रमाणम्, अनुमानप्रामाण्यान्यथानुपपत्तेरिति।'- **प्रमेयर.** २-२, **प्रमाणमी.** १-२-३। ९. सङ्कलनं विवक्षितधर्मयुक्तत्वेन वस्तुनः प्रत्यवमर्शनम्, यथा-

'रोमशो दन्तुरः श्यामो वामनः पृथुलोचनः।
यस्तत्र चिपिटघ्राणस्तं चैत्रमवधारये॥'

१०. इदमेकत्वप्रत्यभिज्ञानस्योदाहरणम्। ११. इदं सादृश्यप्रत्यभिज्ञानस्योदाहरणम्। १२. इदं वैलक्षण्यप्रत्यभिज्ञानस्योदाहरणम्। १३. एषूदाहरणेषु। १४. व्याप्त्या वर्तमानम्। १५. उदाहरणे। १६. गोत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकम्। १७. गवयो वन्यपशुविशेषः, तस्मिन् वर्तमानम्, गवयत्वावच्छिन्नानुयोगिताकमित्यर्थः। अत्रेदं बोध्यम्- यन्निरूपणाधीनं निरूपणं यस्य तत्तत्प्रतियोगि। अथवा यस्य सादृश्यादिकं प्रदर्श्यते स प्रतियोगी, यस्मिंश्च प्रदर्श्यते सोऽनुयोगी इति भावः। १८. प्रत्यभिज्ञानस्य विषय इति शेषः।

वैसादृश्यम्[1]। यदिदं वैसादृश्यप्रत्यभिज्ञानम्। एवमन्येऽपि[2] प्रत्यभिज्ञानभेदा यथाप्रतीति स्वयमुत्प्रेक्ष्याः[3]। अत्र[4] सर्वत्राऽप्यनुभवस्मृतिसापेक्षत्वात्तद्धेतुकत्वम्।

§ १०. [5]केचिदाहुः- अनुभवस्मृतिव्यतिरिक्तं प्रत्यभिज्ञानं नास्तीति; तदसत्; अनुभवस्य वर्तमानकालवर्ति[6] विवर्तमात्रप्रकाशकत्वम्, स्मृतेश्चातीतविवर्तद्योतकत्वमिति तावद्वस्तुगतिः कथं नाम तयोरतीतवर्तमानसङ्कलितैक्य-सादृश्यादिविषयावगाहित्वम्? तस्मादस्ति स्मृत्यनुभवातिरिक्तं तदनन्तरभाविसङ्कलनज्ञानम्। तदेव प्रत्यभिज्ञानम्।

§ ११. अपरे[7] त्वेकत्वप्रत्यभिज्ञानमभ्युपगम्यापि तस्य [8]प्रत्यक्षेऽन्तर्भावं कल्पयन्ति। तद्यथा- यदिन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायि तत्प्रत्यक्षमिति तावत्प्रसिद्धम्, इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायि चेदं प्रत्यभिज्ञानम्, तस्मात्प्रत्यक्षमिति; तन्न; इन्द्रियाणां वर्तमानदशापरामर्शमात्रोपक्षीणत्वेन वर्तमानातीतदशाव्यापकैक्यावगाहित्वाघटनात्। न ह्यविषयप्रवृत्तिरिन्द्रियाणां युक्तिमती, चक्षुषा रसादेरपि प्रतीतिप्रसङ्गात्।

---

१. अत्रापि प्रत्यभिज्ञानस्य विषय इति सम्बन्धनीयम्।

२. तदित्थम्-

इदमल्पं महद् दूरमासन्नं प्रांशु नेति वा। व्यपेक्षातः समक्षेऽर्थे विकल्पः साधनान्तरम्॥

—लघी. का. २१।

'इदमस्माद् दूरम्', 'वृक्षोऽयमित्यादि'- परीक्षा. ३, ९-१०। अन्यच्च-

पयोऽम्बुभेदी हंसः स्यात् षट्पादैर्भ्रमरः स्मृतः।
सप्तपर्णस्तु तत्त्वज्ञैर्विज्ञेयो विषमच्छदः॥
पञ्चवर्णं भवेद्रत्नं मेचकाख्यं पृथुस्तनी।
युवतिश्चैकशृङ्गोऽपि गण्डकः परिकीर्तितः॥
शरभोऽप्यष्टभिः पादैः सिंहश्चारुसटान्वितः।

इत्येवमादिशब्दश्रवणात्तथाविधानेव मरालादीनवलोक्य तथा सत्यापयति यदा तदा तत्सङ्कलनमपि प्रत्यभिज्ञानमुक्तम् दर्शनस्मरणकारणत्वाविशेषात्।' **प्रमेयर.** ६-१०। ३. चिन्तनीयाः। ४. प्रत्यभिज्ञानभेदेषु। ५. बौद्धाः। तेषामयमाशयः- 'ननु पूर्वापरावस्थाविषयं परामर्शज्ञानं कथमेकम्? विषयभेदात्, परोक्ष्यापरोक्ष्यलक्षणविरुद्धधर्मसंसर्गाच्च। तथा हि- तदिति परोक्षमिदमिति साक्षात्कारः'- **न्यायवा. तात्पर्यटी.** पृ. १४०, 'तस्माद् द्वे एते ज्ञाने-स इति स्मरणम्, अयम् इत्यनुभवः'- **न्यायमं.** पृ. ४४९। अत्र बौद्धानां पूर्वपक्षत्वेनोल्लेखः। 'ननु तदिति स्मरणमिदमिति प्रत्यक्षमिति ज्ञानद्वयमेव, न ताभ्यां विभिन्नं प्रत्यभिज्ञानाख्यं वयं प्रतिपद्यमानं प्रमाणान्तरमुपलभामहे'- **प्रमेयर.** २-२। ६. विवर्तः पर्यायः। ७. वैशेषिकादयः। ८. यदुक्तम्- 'यस्तु भवतामस्य मानसत्वे प्रयासः स वरमिन्द्रियजत्वे एव भवतु ×× पश्चाज्जायमानपीन्द्रियार्थसन्निकर्षप्रभवतया प्रत्यक्षं भवत्येव ×× विवादाध्यासिता विकल्पाः (प्रत्यभिज्ञानरूपाः) प्रत्यक्षाः अव्यभिचारित्वे सतीन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वात्'- **न्यायवा. तात्पर्य- टी.** पृ. १४३, 'एवं पूर्वज्ञानविशेषितस्य स्तम्भादेर्विशेषणमतीतक्षणविषय इति मानसी प्रत्यभिज्ञा'- **न्यायमं.** पृ. ४६१, 'तेनेन्द्रियार्थसम्बन्धात्प्रागूर्ध्वं चापि यत्स्मृतेः। विज्ञानं जायते सर्वं प्रत्यक्षमिति गम्यताम्॥' **मी. श्लो.** सू. ४ श्लो. २३७।

§ १२. [1]ननु सत्यमेतदिन्द्रियाणां वर्तमानदशावगाहित्वमेवेति तथापि तानि सहकारि[2]समवधानसामर्थ्याद्दशा[3]द्वयव्यापिन्येकत्वेऽपि [4]प्रतीतिं जनयन्तु, अञ्जनसंस्कृतं चक्षुरिव [5]व्यवहितेऽर्थे। न हि चक्षुषो व्यवहितार्थ[1]प्रत्यायन[6]सामर्थ्यमस्ति, अञ्जनसंस्कारवशात्तु [7]तथात्वमुपलब्धम्[8]। [9]तद्वदेव स्मरणादि[10]सहकृतानीन्द्रियाण्येव दशाद्वयव्यापकमेकत्वं [11]प्रत्याययिष्यन्तीति किं [12]प्रमाणान्तरकल्पनाप्रयासेनेति। तदप्यसत्; सहकारिसहस्र[13]समवधानेऽप्यविषयप्रवृत्तेरयोगात्। चक्षुषो हि अञ्जनसंस्कारादिः सहकारी स्वविषये रूपादावेव प्रवर्तको न त्वविषये रसादौ। [14]अविषयश्च पूर्वोत्तरावस्थाव्यापकमेकत्वमिन्द्रियाणाम्। तस्मात्तत्प्रत्यायनाय[15] [16]प्रमाणान्तरमन्वेषणीयमेव, [17]सर्वत्रापि विषयविशेषद्वारेण प्रमाणभेदव्यवस्थापनात्।

§ १३. [18]किञ्च, अस्पष्टैवेयं तदेवेदमिति प्रतिपत्तिः, तस्मादपि न तस्याः प्रत्यक्षान्तर्भाव इति। अवश्यं चैतदेवं[2]विज्ञेयं चक्षुरादेरैक्यप्रतीतिजननसामर्थ्यं नास्तीति। [19]अन्यथा लिङ्गदर्शनव्याप्तिस्मरणादिसहकृतं चक्षुरादिकमेव वह्न्यादिलिङ्गिज्ञानं जनयेदिति नानुमानमपि पृथक् प्रमाणं स्यात्। [20]स्वविषयमात्र एव चरितार्थत्वाच्चक्षुरादिकमिन्द्रियं न लिङ्गिनि प्रवर्तितुं [21]प्रगल्भमिति चेत् प्रकृतेन[22] किमपराद्धम्? ततः स्थितं प्रत्यभिज्ञानाख्यं पृथक् प्रमाणमस्तीति।

§ १४. सादृश्यप्रत्यभिज्ञानमुपमानाख्यं पृथक् प्रमाणमिति केचित्[23] कथयन्ति; तदसत्; स्मृत्यनुभवपूर्वकसङ्कलनज्ञानत्वेन प्रत्यभिज्ञानत्वानतिवृत्तेः। अन्यथा गोविलक्षणो महिष

---

१. त एव वैशेषिकादयः पुनराशङ्कन्ते नन्विति। २. समवधानं सन्निपात एकत्र मेलनं इति यावत्। ३. दशाद्वयं पूर्वोत्तरावस्थे व्याप्य वर्तमाने। ४. ज्ञानम्। ५. अन्तरिते। ६. प्रत्यायनं ज्ञापनम्। ७. व्यवहितार्थप्रत्यायनसामर्थ्यम्। ८. दृष्टम्। ९. चक्षुरिव। १०. आदिपदेन पूर्वानुभवस्य परिग्रहः। ११. ज्ञापयिष्यन्ति। १२. प्रमाणान्तरं प्रत्यभिज्ञानाख्यम्। १३. मिलितेऽपि। १४. इन्द्रियाणामविषयमेव प्रदर्शयति **अविषयश्चेति**। १५. एकत्वज्ञापनाय। १६. प्रत्यभिज्ञाननामकम्। १७. सर्वेष्वपि दर्शनेषु, सर्वैरपि वादिभिः। स्व-स्वदर्शने विषयभेदमाश्रित्यैव प्रमाणभेदव्यवस्था कृतेति भावः। १८. युक्त्यन्तरेण प्रत्यभिज्ञानस्य प्रत्यक्षान्तर्भावं निराकरोति **किञ्चेति**- स एवायमिति हि ज्ञानमस्पष्टमेव, प्रत्यक्षं तु न तथा, तस्य स्पष्टत्वात्। ततोऽपि न तस्य प्रत्यक्षेऽन्तर्भाव इति भावः। १९. चक्षुरादेरैक्यप्रतीतिजननसामर्थ्यस्वीकारणे। २०. ननु चक्षुरादेः स्वविषय एव पुरोदृश्यमाने धूमादौ प्रवृत्तेर्न परोक्षे वह्न्यादौ लिङ्गिनि प्रवर्तितुं सामर्थ्यमस्ति, ततोऽनुमानं पृथगेव प्रमाणमिति चेत्; प्रत्यभिज्ञानेऽप्येतत् समानम्, तत्रापि हि इदन्तोल्लिखित एवार्थे देवदत्तादौ चक्षुरादेः प्रवृत्तिर्न परोक्षे एकत्वे कुमारयुवावृद्धावस्थाव्यापिनी देवदत्तत्वादौ। तदुक्तम्—

> 'तया (द्रव्यसंवित्त्या) यावत्स्वतीतेषु पर्यायेष्वस्ति संस्मृतिः।
> केन तद्व्यापिनि द्रव्ये प्रत्यभिज्ञास्य वार्यते॥
> बालकोऽहं य एवासं स एव च कुमारकः।
> युवानो मध्यमो वृद्धोऽधुनाऽस्मीति प्रतीतितः॥'—तत्त्वार्थश्लोकवा. १, १३, ४५-४६।

एतदेवाह **स्वविषये**। २१. समर्थम्। २२. प्रत्यभिज्ञानेन। २३. नैयायिकाः **मीमांसकाश्च**, तत्र तावन्मी-

---

1. द 'र्थे' पाठः। 2. द प 'ज्ञेयं' पाठः।

इत्यादिविसदृशत्वप्रत्ययस्य, इदमस्माद् दूरमित्यादेश्च प्रत्ययस्य सप्रतियोगिकस्य पृथक् प्रमाणत्वं स्यात्। ततो [1]वैसादृश्यादिप्रत्ययवत् सादृश्यप्रत्ययस्यापि प्रत्यभिज्ञानलक्षणाक्रान्तत्वेन प्रत्यभिज्ञानत्वमेवेति प्रामाणिकपद्धतिः।

[तर्कस्य निरूपणम्]

§ १५. अस्तु प्रत्यभिज्ञानम्, कस्तर्हि तर्कः? व्याप्तिज्ञानं तर्कः। साध्यसाधनयोर्गम्यगमकभावप्रयोजको[१] [२]व्यभिचारगन्धासहिष्णुः सम्बन्धविशेषो[३] व्याप्तिरविनाभाव इति च[2] व्यपदिश्यते। [४]तत्सामर्थ्यात्खल्वग्न्यादिं धूमादिरेव [५]गमयति न तु घटादिः, [६]तदभावात्।

मांसकाः- 'ननु गोदर्शनाहितसंस्कारस्य ज्ञानस्योपमानरूपत्वान्न प्रत्यभिज्ञानता। सादृश्यविशिष्टो हि विशेषो (गोलक्षणो धर्मी) विशेषविशिष्टं वा सादृश्यमुपमानस्यैव प्रमेयम्'- प्रमेयक. ३-१०। उक्तं च-

दृश्यमानाद्यदन्यत्र विज्ञानमुपजायते।
सादृश्योपाधिवत्तज्ज्ञैरुपमानमिति स्मृतम्॥
तस्माद्यत्स्मर्यते तत्स्यात्सादृश्येन विशेषितम्।
प्रमेयमुपमानस्य सादृश्यं वा तदन्वितम्॥
प्रत्यक्षेणाऽवबुद्धेऽपि सादृश्ये गवि च स्मृते।
विशिष्टस्यान्यतः सिद्धेरुपमानप्रमाणता॥
—मी. श्लो. उ. ३६-३८।

इति प्रत्यभिज्ञानस्योपमानरूपतां निरूपयन्ति, 'तदसमीक्षिताभिधानम्, एकत्व-सादृश्यप्रतीत्योः सङ्कलनज्ञानरूपतया प्रत्यभिज्ञानतानतिक्रमात्। 'स एवायम्' इति हि यथा उत्तरपर्यायस्य पूर्वपर्यायैकताप्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा, तथा सादृश्यप्रतीतिरपि 'अनेन सदृशः' इति (प्रत्यभिज्ञा), अविशेषात्'—प्रमेयक. ३-१०। कथमन्यथा वैलक्षण्यप्रतीतेरपि प्रमाणान्तरं न स्यात्? नैयायिकास्तु 'आगमाहितसंस्कारस्मृत्यपेक्षं सारूप्यज्ञानमुपमानम्। यदा ह्यनेन श्रुतं भवति 'यथा गौरेवं गवयः' इति। प्रसिद्धे गो-गवयसाधर्म्ये पुनर्गवा साधर्म्यं पश्यतोऽस्य भवत्ययं गवय इति समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिः'— न्यायवा. १-१-६। समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिश्चोपमानमिति प्रतिपादयन्ति; तन्न; वैलक्षण्यादिप्रत्ययानामपि प्रमाणान्तरत्वानुषङ्गात्। तथा चोक्तं श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवैः-

उपमानं प्रसिद्धार्थसाधर्म्यात् साध्यसाधनम्।
तद्वैधर्म्यात् प्रमाणं किं स्यात् संज्ञिप्रतिपादनम्॥
प्रत्यक्षार्थान्तरापेक्षा सम्बन्धप्रतिपद्यतः।
तत्प्रमाणं न चेत्सर्वमुपमानं कुतस्तथा॥
—लघीय. का. १९-२०।

अतः 'यथैव हि एकदा घटमुपलब्धवतः पुनस्तस्यैव दर्शने 'स एवायं घटः' इति प्रतिपत्तिः प्रत्यभिज्ञा तथा 'गोसदृशो गवयः' इति सङ्केतकाले गोसदृशगवयाभिधानयोर्वाच्यवाचकसम्बन्धं प्रतिपद्य पुनर्गवयदर्शनात्तत्प्रतिपत्तिः प्रत्यभिज्ञा किन्नेष्यते?'- प्रमेयक. ३-१०।

१. प्रसाधकः। २. व्यभिचारशून्यः। ३. नियमरूपः। ४. व्याप्तिबलात्। ५. ज्ञापयति। ६. व्याप्तेरभावात्।

1. 'वैसदृश्य' द प्रतिपाठः। 2. द प्रतौ 'च' नास्ति।

तस्याश्चाविनाभावापरनाम्न्या:[1] व्याप्तेः प्रमितौ यत्साधकतमं तदिदं तर्काख्यं प्रमाणमित्यर्थः। तदुक्तं श्लोकवार्तिकभाष्ये- ''साध्यसाधनसम्बन्धाज्ञाननिवृत्तिरूपे हि फले साधकतमस्तर्कः''[१] [१-१३-११५] इति। ऊह इति तर्कस्यैव [२]व्यपदेशान्तरम्। स च तर्कस्तां व्याप्तिं [३]सकलदेश-कालोपसंहारेण विषयीकरोति।

§ १६. किमस्योदाहरणम्? उच्यते-यत्र यत्र धूमवत्त्वं तत्र तत्राग्निमत्त्वमिति। अत्र[४] हि धूमे सति भूयोऽग्न्युपलम्भे अग्न्यभावे च धूमानुपलम्भे[2] 'सर्वत्र सर्वदा धूमोऽग्निं न व्यभिचरति'[५] इत्येवं सर्वोपसंहारेणाविनाभावविज्ञानं पश्चादुत्पन्नं तर्काख्यं प्रत्यक्षादेः पृथगेव। [६]प्रत्यक्षस्य[3] [७]सन्निहितदेश एव [८]धूमाग्निसम्बन्धप्रकाशनान्न व्याप्तिप्रकाशकत्वम्। सर्वोपसंहारवती हि व्याप्तिः।

§ १७. ननु यद्यपि [९]प्रत्यक्षमात्रं व्याप्तिविषयीकरणे [१०]शक्तं न भवति तथापि विशिष्टं प्रत्यक्षं तत्र[११] शक्तमेव। तथा हि- महानसादौ तावत्प्रथमं धूमाऽग्न्योर्दर्शनमेकं प्रत्यक्षम्, तदनन्तरं भूयो[१२] भूयः प्रत्यक्षाणि प्रवर्तन्ते, तानि च प्रत्यक्षाणि न सर्वाणि व्याप्तिविषयीकरणसमर्थानि, अपि तु पूर्वपूर्वानुभूतधूमाग्निस्मरणतत्सजातीयत्वानुसन्धानरूपप्रत्यभिज्ञानसहकृतः कोऽपि[१३] प्रत्यक्षविशेषो व्याप्तिं सर्वोपसंहारवतीमपि[4] गृह्णाति। तथा च स्मरणप्रत्यभिज्ञानसहकृते प्रत्यक्षविशेषे व्याप्तिविषयीकरणसमर्थे किं तर्काख्येन पृथक्प्रमाणेनेति केचित्[१४], [१५]तेऽपि न्यायमार्गानभिज्ञाः; [१६]सहकारिसहस्रसमवधानेऽप्यविषयप्रवृत्तिर्न घटत इत्युक्तत्वात्। तस्मात्प्रत्यक्षेण व्याप्तिग्रहणमसमञ्जसम्।इदं तु समञ्जसम्-स्मरणम्, प्रत्यभिज्ञानम्, भूयो दर्शनरूपं प्रत्यक्षं च मिलित्वा तादृशमेकं ज्ञानं जनयन्ति यद्व्याप्तिग्रहणसमर्थमिति। तर्कश्च स एव। अनुमानादिकं तु व्याप्तिग्रहणं प्रत्यसम्भाव्यमेव[१७]।

---

१. श्लोकवार्तिकभाष्ये यदुक्तं तत्किञ्चित्शब्दभेदेनेत्थं वर्तते- 'प्रमाणं तर्कः साक्षात्परम्परया च स्वार्थनिश्चयने फले साधकतमत्वात्प्रत्यक्षवत्। स्वविषयभूतस्य **साध्यसाधनसम्बन्धाज्ञाननिवृत्तिरूपे** साक्षात्स्वार्थनिश्चयने **फले साधकतमस्तर्कः**, परम्परया तु स्वार्थानुमाने हानोपादानोपेक्षाज्ञाने वा प्रसिद्ध एवेति।' २. नामान्तरम्। ३. सर्वदेश-कालावच्छेदेन। ४. अस्मिन्नुल्लेखे। ५. धूमोऽग्न्यभावे न भवति, अपि त्वग्निसद्भाव एव भवति, इति भावः। ६. 'न हि प्रत्यक्षं यावान् कश्चिद्धूमः कालान्तरे देशान्तरे च पावकस्यैव कार्यं नार्थान्तरस्येतीयतो व्यापारान् कर्तुं समर्थम्, सन्निहितविषयबलोत्पत्तेरविचारकत्वात्' **लघी. स्वोपज्ञवि.** का. ११, **अष्टस.** पृ. २८०, **प्रमाणप.** पृ. ७०, **प्रमेयक.** ३-१३। ७. समीपवर्तिनि योग्यदेश एव महानसादौ, न दूरवर्तिनि परोक्षे देशे। ८. नियतधूमाग्न्योः सम्बन्धज्ञापनात्। ९. प्रत्यक्षसामान्यम्। १०. समर्थम्। ११. व्याप्तिविषयीकरणे। १२. पुनः पुनः। १३. अनिर्दिष्टनामा। १४. नैयायिकादयः। १५. समाधत्ते तेऽपीति। १६. प्रत्यक्षस्य पुरोवर्तिधूमवह्निव्यक्तिविषयत्वेऽपि नापुरोवर्तिसकलधूमवह्निव्यक्तिविषयत्वम्, तासां तदयोग्यत्वात्। सहकारिणामविषये प्रत्यक्षस्य प्रवर्तकत्वाघटनाच्च। १७. न ह्यनुमानादिना व्याप्तिग्रहणं सम्भवति, अन्योन्याश्रयादिदोषात्। अनुमानेन हि व्याप्तिग्रहणं चेत्तर्हि प्रकृतानुमानेनानुमानान्तरेण वा? प्रकृतानुमानेन चेदितरेतराश्रयः। तथा हि- सत्यां व्याप्तिप्रतिपत्तावनुमानस्यात्मलाभस्तदात्मलाभे च सति व्याप्तिप्रतिपत्तिरिति। अनुमानान्तरेण व्याप्तिप्रतिपत्तावनुमानान्तरीयव्याप्तिप्रतिपत्तिरप्यनुमानान्तरे-

---

1. 'नाम्नो' इति द आ प म प्रतिपाठः। 2. 'अग्न्यभावे च धूमानुपलम्भे' इति पाठो मुद्रितप्रतिषु नास्ति। 3. 'प्रत्यक्षस्य तु' इति म प प्रतिपाठः। 4. 'सर्वोपसंहारवतीमपि' इति पाठो मुद्रितप्रतिषु नास्ति।

§ १८. बौद्धास्तु [1]प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्पः व्याप्तिं गृह्णातीति मन्यन्ते। त एवं प्रष्टव्याः- स हि विकल्पः किमप्रमाणमुत प्रमाणमिति। यद्यप्रमाणम्, कथं नाम तद्गृहीतायां व्याप्तौ [2]समाश्वासः ? अथ प्रमाणम्, किं प्रत्यक्षमथवाऽनुमानम् ? न तावत्प्रत्यक्षम्, अस्पष्टप्रतिभास-त्वात्। नाप्यनुमानम्, लिङ्गदर्शनाद्यनपेक्षत्वात्। [3]ताभ्यामन्यदेव किञ्चित्प्रमाणमिति चेदागत-स्तर्हि तर्कः। तदेवं तर्काख्यं प्रमाणं निर्णीतम्।

[अनुमानस्य निरूपणम्]

§ १९. इदानीमनुमानमनुवर्ण्यते। साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्[4]। इहानुमानमिति लक्ष्यनिर्देशः, साधनात्साध्यविज्ञानमिति लक्षणकथनम्। साधनाद्धूमादेर्लिङ्गात्साध्येऽग्न्यादौ लिङ्गिनि यद्विज्ञानं जायते तदनुमानम्, [5]तस्यैवाऽग्न्याद्यव्युत्पत्तिविच्छित्तिकरणत्वात्[6]। न पुनः साधनज्ञानमनुमानम्, [7]तस्य [8]साधनाव्युत्पत्तिविच्छेदमात्रोपक्षीणत्वेन साध्याज्ञाननिवर्तकत्वा-योगात्। [9]ततो यदुक्तं नैयायिकैः- 'लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्' [न्यायवा. १-१-५ उद्धृतम्][10] इत्यनुमानलक्षणम् तद[11]विनीतविलसितमिति निवेदितं भवति। [12]वयं त्वनुमानप्रमाणस्वरूप-लाभे व्याप्तिस्मरणसहकृतो लिङ्गपरामर्शः[13] कारण[1]मिति मन्यामहे, स्मृत्यादि[14]स्वरूपलाभेऽ-नुभवादिवत्। तथा हि-धारणाख्योऽनुभवः स्मृतौ हेतुः। तादात्विकानुभव-स्मृती प्रत्यभिज्ञाने। स्मृतिप्रत्यभिज्ञानानुभवाः साध्यसाधनविषयास्तर्के। [15]तद्वल्लिङ्गज्ञानं व्याप्तिस्मरणादिसहकृतम-नुमानोत्पत्तौ निबन्धनमित्येतत्सुसङ्गतमेव[16]।

णेत्येवमनवस्था स्यात्। ततो नानुमानाद्व्याप्तिग्रहणम्। नाऽप्यागमादेः, तस्य भिन्नविषयत्वात्। यदुक्तम्- 'नाऽप्यनुमा-नेन (व्याप्तिग्रहणम्), प्रकृतापरानुमानकल्पनायामितरेतराश्रयत्वानवस्थाऽवतारात्। आगमादेरपि भिन्नविषयत्वेन सुप्र-सिद्धत्वात्र ततोऽपि तत्प्रतिपत्तिरिति'- **प्रमेयर.** ३-१८। **श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवैरप्युक्तम्**-

अविकल्पधिया लिङ्गं न किञ्चित् सम्प्रतीयते।
नानुमानादसिद्धत्वात्प्रमाणान्तरमाञ्जसम्॥ लघीय. का. ११॥

अतः सुष्ठूक्तं ग्रन्थकृता '**अनुमानादिकं तु व्याप्तिग्रहणं प्रत्यसम्भाव्यमेव**' इति।

१. निर्विकल्पकप्रत्यक्षानन्तरं जायमानः। २. प्रामाण्यम्। ३. प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्। ४. 'साधनात् साध्यविज्ञा-नमनुमानं....' **न्यायवि.** का. १७०, 'साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्' -**परीक्षामु.** ३-१४, 'साधनात् साध्यविज्ञान-मनुमानं विदुर्बुधाः'।- **तत्त्वार्थश्लो.** १-१३-१२०। ५. साध्यज्ञानस्यैव। ६. अग्न्यादेरव्युत्पत्तिरज्ञानं तस्या विच्छित्तिर्निरासस्तत्करणत्वात् साध्यज्ञानस्य, अतः साधनाज्जायमानं साध्यज्ञानमेवानुमानमिति भावः। ७. साधनज्ञानस्य। ८. साधनसम्बन्ध्यज्ञाननिराकरणमात्रेणैव कृतार्थत्वेन। ९. यतश्च साधनज्ञानं नानुमानं ततः। १०. 'अपरे तु मन्यन्ते लिङ्गपरामर्शोऽनुमानमिति। वयं तु पश्यामः सर्वमनुमानमनुमितेस्तन्नान्तरीयकत्वात्। प्रधानोपसर्जनताविवक्षायां लिङ्गपरामर्श इति न्याय्यम्। कः पुनरत्र न्यायः ? आनन्तर्यप्रतिपत्तिः। यस्माल्लिङ्गपरामर्शादन-न्तरं शेषार्थप्रतिपत्तिरिति। तस्माल्लिङ्गपरामर्शो न्याय्य इति।'- **न्यायवा.** पृ. ४५। लिङ्गपरामर्शो लिङ्गज्ञानमित्यर्थः। ११. अविनीतैरविचारिभिर्विलसितं परिकल्पितमत एव तदयुक्तमिति भावः। १२. जैनाः। १३. लिङ्गज्ञानमनुमान-स्योत्पत्तौ कारणम्, न तु स्वयमनुमानमित्यर्थः। १४. आदिपदेन प्रत्यभिज्ञादीनां ग्रहणम्। १५. स्मृत्यादिवत्। १६. अस्मदीयं कथनं सुयुक्तमेव।

1. 'कारणं' इति मु प्रतिपाठः।

§ २०. [1]ननु [2]भवतां मते साधनमेवानुमाने। हेतुर्न तु साधनज्ञानं 'साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्' इति [3]वचनादिति चेत्; न; साधनादित्यत्र निश्चयपथप्राप्ताद्धूमादेरिति विवक्षणात्[4], अनिश्चयपथप्राप्तस्य धूमादेः साधनत्वस्यैवाघटनात्। तथा चोक्तं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके 2-"साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानं विदुर्बुधाः" [१-१३-१२०] इति। साधनाज्ज्ञायमानाद्धूमादेः साध्येऽग्न्यादौ लिङ्गिनि यद्विज्ञानं तदनुमानम्। अज्ञायमानस्य [5]तस्य साध्यज्ञानजनकत्वे हि सुप्तादीनामगृहीतधूमादीनां[6]मप्यग्न्यादिज्ञानोत्पत्ति3प्रसङ्गः। तस्माज्ज्ञायमानलिङ्गकारणकस्य[7] साध्यज्ञानस्यैव साध्याव्युत्पत्तिनिरासकत्वेनानुमानत्वम्, न तु [8]लिङ्गपरामर्शादेरिति बुधाः प्रामाणिका[9] विदुरिति [10]वार्तिकार्थः।

१. नैयायिकः शङ्कते नन्विति। २. जैनानाम्। ३. पूर्वं निरूपणात्। ४. अत एवाकलङ्कदेवैरुक्तम्-

लिङ्गात्साध्याविनाभावाभिनिबोधैकलक्षणात्।
लिङ्गिधीरनुमानं तत्फलं हानादिबुद्धयः॥ लघी.का. १२।

५. साधनस्य। ६. जनानाम्। ७. ज्ञायमानं लिङ्गं कारणं यस्य तज्ज्ञायमानलिङ्गकारणकं तस्य, साध्याविनाभावित्वेन निर्णीतसाधनहेतुकस्येत्यर्थः। अत्रेदं बोध्यम्- न हि वयं केवलं लिङ्गमनुमाने कारणं मन्यामहे, अपि त्वन्यथानुपपन्नत्वेन निश्चितमेव, अज्ञायमानस्य लिङ्गस्यानुमितिकारणत्वासम्भवात्। अन्यथा यस्य कस्याप्यनुमितिः स्यात्। एतेन यदुक्तं नैयायिकैः-

'अनुमायां ज्ञायमानं लिङ्गं तु कारणं न हि।
अनागतादिलिङ्गेन न स्यादनुमितिस्तदा'॥

यद्यनुमितौ लिङ्गं करणं स्यात्तदाऽनागतेन विनष्टेन वा लिङ्गेन (इयं यज्ञशाला वह्निमती भविष्यति, भाविधूमात्। इयं यज्ञशाला वह्निमत्यासीत्, भूतधूमात् [सिद्धान्तमु. टिप्पण] इत्येवंरूपेण) अनुमितिर्न स्यादनुमितिकरणस्य लिङ्गस्य तदानीमभावात्' **सिद्धान्तमुक्तावली** ६७; तन्निरस्तम्; लिङ्गस्य ज्ञायमानस्य करणत्वानभ्युपगमेऽज्ञायमानादपि लिङ्गादनुमितिप्रसङ्गात्। किञ्च, वर्तमानत्वेन प्रतीतस्यैव लिङ्गस्यानुमितिहेतुत्वम्, न भविष्यत्वेनातीतत्वेन वा भाव्यतीतयोर्लिङ्गत्वस्यैवाघटनात्। न हि कश्चित्प्रेक्षावान् भाविधूमात्भाविवह्निमतीतधूमादतीतवह्निं वाऽनुमिनोति। तस्माज्ज्ञायमानलिङ्गकारणकस्यैव साध्यज्ञानस्यानुमानत्वमिति ध्येयम्। ८. नैयायिकाद्यभिमतस्य। ९. **अकलङ्कदेवा न्यायविनिश्चये** (का. १७०)। १०. साधनात्साध्यविज्ञानमित्यादि**तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकीय**वार्तिकस्यार्थः। वार्तिकलक्षणं तु-

'उक्तानुक्तद्विरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रसज्यते।
तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः।' – पराशरोपपुराण अ. १८।
'उक्तानुक्तद्विरुक्तानां विचारस्य निबन्धनम्।
हेतुभिश्च प्रमाणैश्च एतद्वार्तिकलक्षणम्॥'

× × ×

'उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ताकारि तु वार्तिकम्।'- हैमकोश।
'वार्तिकं हि सूत्राणामनुपपत्तिचोदना तत्परिहारो विशेषाभिधानं प्रसिद्धम्।' –तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ. २।

1. 'अनुमानहेतुः' इति द प प्रत्योः पाठः। 2. 'श्लोकवार्तिके' इति मुद्रितप्रतिषु पाठः। 3. 'ज्ञानोत्पाद' इति द प्रतिपाठः।

[साधनस्य लक्षणकथनम्]

§ २१. किं तत्साधनं यद्धेतुकं साध्यज्ञानमनुमानम् ? इति चेत्; उच्यते-निश्चितसाध्यान्यथानुपपत्तिकं साधनम्। यस्य[1] [2]साध्याभावासम्भवनियमरूपा व्याप्त्यविनाभावाद्यपरपर्याया साध्यान्यथानुपपत्तिस्तर्काख्येन प्रमाणेन निर्णीता तत्साधनमित्यर्थः। तदुक्तं कुमारनन्दि-भट्टारकैः-

"अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं लिङ्गमङ्ग्यते"[1]। [[3]वादन्याय...] इति[2]।

[साध्यस्य लक्षणकथनम्]

§ २२. किं तत्साध्यं यदविनाभावः साधनलक्षणम्? उच्यते-शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं साध्यम्[4]। यत्प्रत्यक्षादिप्रमाणाबाधितत्वेन साधयितुं शक्यम्, वाद्यभिमतत्वेनाभिप्रेतम्[5], [6]सन्देहाद्याक्रान्तत्वेनाप्रसिद्धम्, तदेव साध्यम्। [7]अशक्यस्य साध्यत्वे [8]वह्न्यनुष्णत्वादेरपि साध्यत्वप्रसङ्गात्। अनभिप्रेतस्य साध्यत्वे त्वतिप्रसङ्गात्[9]। प्रसिद्धस्य साध्यत्वे पुनरनुमानवैयर्थ्यात्[10]। तदुक्तं न्यायविनिश्चये-

"साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं ततोऽपरम्[11]।
साध्याभासं विरुद्धादि साधनाविषयत्वतः" ॥१७२॥इति।

§ २३. अयमर्थः[3]- यच्छक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धं तत्साध्यम्। ततोऽपरं साध्याभासम्। किं तत्[4] ? विरुद्धादि। विरुद्धं प्रत्यक्षादिबाधितम्। आदिशब्दादनभिप्रेतं प्रसिद्धं चेति। कुत एतत् ? साधनाविषयत्वतः- साधनेन गोचरीकर्तुमशक्यत्वादित्यकलङ्कदेवानामभिप्रायलेशः[12]। तद-भिप्रायसाकल्यं[13] तु [14]स्याद्वादविद्यापतिर्वेद[5]। साधनसाध्यद्वयमधिकृत्य[15] [16]श्लोकवार्तिकं च[6]-

१. साधनस्य। २. साध्याभावे न भवतीति नियमरूपा। ३. यद्यपि कुमारनन्दिनोऽयं वादन्यायो नेदानीमुपलभ्यते तथापीयं कारिका सहोत्तरार्द्धेन विद्यानन्दस्वामिना प्रमाणपरीक्षायां 'कुमारनन्दिभट्टारकैः' पत्रपरीक्षायां च 'कुमारनन्दि-भट्टारकैरपि स्ववादन्याये निगदितत्वात्' इति नामोल्लेखपुरस्सरमुद्धृताऽस्ति। ४. श्रीमाणिक्यनन्दिभिरप्युक्तम्- 'इष्टमबाधितमसिद्धं साध्यम्'- **परीक्षा.** ३-२०। ५. इष्टम्। ६. अव्युत्पत्तिसंशयविपर्यासविशिष्टोऽर्थः साध्य इति भावः। 'सन्दिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां साध्यत्वं यथा स्यादित्यसिद्धपदम्'- **परीक्षा.** ३-२१। ७. बाधितस्य। ८. 'वह्निरनुष्णो द्रव्यत्वात्' इत्यादौ वह्न्यनुष्णस्पर्शग्राहिणा प्रत्यक्षेण बाधितस्याप्यनुष्णत्वादेरपि साध्यत्वं स्यात्। ९. स्वेष्टसाधनायोगात्। अत एवाह- 'अनिष्टाध्यक्षादिबाधितयोः साध्यत्वं मा भूदितीष्टाबाधितवचनम्'- **परीक्षा.** ३-२२। १०. साधनार्हं हि साध्यम्, साधनं चासिद्धस्यैव भवति न सिद्धस्य, पिष्टपेषणानुपपत्तेः। तथा चासिद्धस्य साधनमेवानुमानफलम्, सिद्धस्य तु साध्यत्वे तस्य प्रागेव सिद्धत्वेनानुमानवैफल्यं स्यादेवेति भावः। यदुक्तं **स्याद्वादविद्यापतिना**- 'प्रसिद्धादन्यदप्रसिद्धम्, तदेव साध्यम्। न प्रसिद्धम्, तत्र साधनवैफल्यात्। प्रसिद्धिरेव हि साधनस्य फलम्, सा च प्रागेव सिद्धेति'- **न्यायवि.** वि. २, पृ. ८। ११. शक्यादिलक्षणात्साध्याद्विपरीतम्। १२. अभिप्रायस्य संक्षेपः। १३. अकलङ्कदेवानामभिप्रायसामस्त्यम्। १४. श्रीमद्वादिराजाचार्यो न्यायविनिश्चयविव-रणकारः। १५. आश्रित्य। १६. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम्।

1. 'लिङ्गमभ्यत' इति मुद्रितप्रतिषु पाठः। 2. आ द प्रत्योः 'इति' पाठो नास्ति। 3. 'अस्यायमर्थः' इति आ प्रतिपाठः। 4. 'किं तत्?' इति द प प्रत्योर्नास्ति। 5. 'विवेद' इति मु प्रतिपाठः। 6. 'च' इति द प्रतौ नास्ति।

[1]अन्यथानुपपत्त्येकलक्षणं तत्र साधनम्।
साध्यं शक्यमभिप्रेतमप्रसिद्धमुदाहृतम्॥ [१-१३-२२१] इति।

§ २४. तदेवमविनाभावनिश्चयैकलक्षणात्साधनाच्छक्याभिप्रेताप्रसिद्धरूपस्य साध्यस्य ज्ञानमनुमानमिति सिद्धम्।

[अनुमानं द्विधा विभज्य स्वार्थानुमानस्य निरूपणम्]

§ २५. [2]तदनुमानं द्विविधम्- स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वयमेव [3]निश्चितात्साधनात्साध्यज्ञानं स्वार्थानुमानम्। [5]परोपदेशमनपेक्ष्य स्वयमेव निश्चितात्प्राक्तर्कानुभूतव्याप्तिस्मरणसहकृताद्धूमादेः साधनादुत्पन्नं पर्वतादौ धर्मिण्यग्न्यादेः साध्यस्य ज्ञानं स्वार्थानुमानमित्यर्थः। यथा- पर्वतोऽयमग्निमान् धूमवत्त्वादिति। [6]अयं हि स्वार्थानुमानस्य ज्ञानरूपस्यापि शब्देनोल्लेखः। यथा 'अयं घटः' इति शब्देन प्रत्यक्षस्य[7]। 'पर्वतोऽयमग्निमान् धूमवत्त्वात्' इत्यनेन प्रकारेण प्रमाता जानातीति स्वार्थानुमानस्थितिरित्यवगन्तव्यम्।।

[स्वार्थानुमानस्याङ्गप्रतिपादनम्]

§ २६. अस्य च स्वार्थानुमानस्य त्रीण्यङ्गानि- [8]धर्मी, साध्यम्, साधनं च। तत्र साधनं [9]गमकत्वेनाङ्गम्। साध्यं तु गम्यत्वेन[10]। धर्मी पुनः साध्यधर्माधारत्वेन। [11]आधारविशेषनिष्ठतया हि साध्यसिद्धिरनुमानप्रयोजनम्, धर्ममात्रस्य तु व्याप्तिनिश्चयकाल एव सिद्धत्वात् 'यत्र यत्र धूमवत्त्वं तत्र तत्राग्निमत्त्वम्' इति।

§ २७. [12]अथवा2, पक्षो हेतुरित्यङ्गद्वयं स्वार्थानुमानस्य, साध्यधर्मविशिष्टस्य धर्मिणः पक्षत्वात्। तथा च स्वार्थानुमानस्य धर्मिसाध्यसाधनभेदात् त्रीण्यङ्गानि पक्षसाधनभेदादङ्गद्वयं

---

१. अन्यथानुपपत्तिरविनाभावः, सा एवैका लक्षणं स्वरूपं यस्य तत्तथा साधनम्, न पक्षधर्मत्वादित्रितयलक्षणं पञ्चलक्षणं वा बौद्ध-नैयायिकाभिमतम्। २. उक्तलक्षणलक्षितम्। ३. प्रत्यक्षादिना ज्ञातात्। ४. प्रतिज्ञादिवाक्यप्रयोगम्। ५. 'हेतुग्रहणसम्बन्धस्मरणपूर्वकं जायमानं साध्यज्ञानं स्वार्थानुमानम्, यथा गृहीतधूमस्य स्मृतव्याप्तिकस्य 'पर्वतो वह्निमान्' इति ज्ञानम्। अत्र हेतुग्रहणसम्बन्धस्मरणयोः समुदितयोरेव कारणत्वमवसेयम्'- **जैनतर्कभा.** पृ. १२। अनुमाता हि पर्वतादौ धूमं दृष्ट्वा महानसादौ गृहीतव्याप्तिं स्मृत्वा च 'पर्वतोऽयं वह्निमान्' इत्यनुमिनोति। यत्रैवमनुमितिः परोपदेशमनपेक्ष्य स्वयमेव निश्चितात्साधनाद्भवति तत्स्वार्थानुमानमिति भावः। ६. ननु स्वार्थानुमानस्य ज्ञानरूपत्वात्कथं तस्य 'पर्वतोऽयमग्निमान् धूमवत्त्वात्' इति शब्देनोल्लेखः? इत्यत **आह अयमिति।** अनुमाता येन प्रकारेण स्वार्थानुमानं करोति तत्प्रकारप्रदर्शनार्थमेव ज्ञानरूपस्यापि तस्य शब्दविषयोल्लेखः। भवति हि यथा 'इदं मदीयं पुस्तकम्' इति शब्देन प्रत्यक्षस्याप्युल्लेखः। ततो न कोऽपि दोष इति। ७. उल्लेख इति पूर्वेण सम्बन्धः। ८. पक्षः। ९. ज्ञापकत्वेन। १०. ज्ञाप्यत्वेन। ११. धर्मिणः स्वार्थानुमानाङ्गत्वे युक्तिः। १२. प्रकारान्तरेण स्वार्थानुमानस्याङ्गप्रतिपादनार्थमाह **अथवेति।**

---

1. म मु प्रतिषु 'स्थितिरवगन्तव्या' इति पाठः। 2. 'अथवा' इति पाठो मुद्रितप्रतिषु नास्ति।

वेति सिद्धम्, [1]विवक्षाया [2]वैचित्र्यात्। [3]पूर्वत्र हि धर्मिधर्मभेदविवक्षा, [4]उत्तरत्र तु[1]। [5]तत्समुदायविवक्षा। स एव धर्मित्वेनाभिमतः प्रसिद्ध एव। तदुक्तमभियुक्तैः- "प्रसिद्धो धर्मी" [परीक्षा. ३-२७] इति।

[धर्मिणस्त्रिधा प्रसिद्धेर्निरूपणम्]

§ २८. प्रसिद्धत्वं च धर्मिणः [6]क्वचित्प्रमाणात्, क्वचिद्विकल्पात्[7], क्वचित्प्रमाणविकल्पाभ्याम्। तत्र [8]प्रत्यक्षाद्यन्यतमावधृतत्वं प्रमाणप्रसिद्धत्वम्। अनिश्चितप्रामाण्याप्रामाण्यप्रत्यय[2]गोचरत्वं विकल्पप्रसिद्धत्वम्। [9]तद्द्वयविषयत्वं प्रमाणविकल्पप्रसिद्धत्वम्।

§ २९. [10]प्रमाणसिद्धो धर्मी यथा-धूमवत्त्वादग्निमत्त्वे साध्ये पर्वतः। [11]स खलु प्रत्यक्षेणानुभूयते। विकल्पसिद्धो धर्मी यथा-अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वादित्यस्तित्वे साध्ये सर्वज्ञः। अथवा, खरविषाणं नास्तीति नास्तित्वे साध्ये खरविषाणम्। सर्वज्ञो ह्यस्तित्वसिद्धेः प्राग् न प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धः, अपि तु [12]प्रतीतिमात्रसिद्ध इति विकल्पसिद्धोऽयं धर्मी। तथा खरविषाणमपि नास्तित्वसिद्धेः प्राग्विकल्पसिद्धम्[13]। [14]उभयसिद्धो धर्मी यथा-[15]शब्दः परिणामी कृतकत्वादित्यत्र शब्दः। स हि वर्तमानः प्रत्यक्षगम्यः, भूतो भविष्यंश्च विकल्पगम्यः। स सर्वोऽपि धर्मीति प्रमाण-विकल्पसिद्धो धर्मी। प्रमाणोभयसिद्धयोर्धर्मिणोः साध्ये कामचारः[16]। विकल्पसिद्धे तु धर्मिणि [17]सत्तासत्तयोरेव साध्यत्वमिति नियमः। तदुक्तम्- "विकल्पसिद्धे [18]तस्मिन् सत्तेतरे[19] साध्ये[20]" [परीक्षा. ३-२८] इति।

§ ३०. तदेवं परोपदेशानपेक्षिणः[3] साधनाद् [21]दृश्यमानाद्धर्मिनिष्ठतया साध्ये यद्विज्ञानं तत्स्वार्थानुमानमिति स्थितम्। तदुक्तम् —

१. प्रतिपादनेच्छायाः। २. भिन्नत्वात्। ३. अनुमानप्रतिपादने। ४. अवयवद्वयवचने। ५. धर्मधर्मिणोरैक्यविवक्षा, यतो हि तत्समुदायस्य पक्षत्ववचनात्। ६. अनुमाने। ७. प्रतीतेः। ८. प्रत्यक्षादीनामन्यतमेन प्रमाणेनावधृतत्वम्, निश्चितत्वमित्यर्थः। ९. प्रमाणविकल्पोभयविषयत्वम्। १०. उक्तानां त्रिविधधर्मिणां क्रमेणोदाहरणानि प्रदर्शयति प्रमाणेति। ११. पर्वतः। १२. सम्भावनामात्रसिद्धः, सम्भावना प्रतीतिर्विकल्प इत्येकार्थकाः। १३. तथा चाहुः श्रीमाणिक्यनन्दिनः- 'विकल्पसिद्धे तस्मिन् सत्तेतरे साध्ये' 'अस्ति सर्वज्ञो नास्ति खरविषाणम्'- परीक्षा. ३-२८,२९। १४. प्रमाणविकल्पसिद्धः। १५. अत्र शब्दत्वेन निखिलशब्दानां ग्रहणम्, तेषु वर्तमानशब्दाः श्रावणप्रत्यक्षेण गम्याः सन्ति, भूता भविष्यन्तश्च प्रतीतिसिद्धाः सन्ति, अतः शब्दस्योभयसिद्धधर्मित्वमिति भावः। १६. अनियमः। १७. सत्ता अस्तित्वम्, असत्ता नास्तित्वम्, ते द्वे एवात्र विकल्पसिद्धे धर्मिणि साध्ये भवतः, 'अस्ति सर्वज्ञः' इत्यादौ सत्ता साध्या, 'नास्ति खरविषाणम्' इत्यादौ चासत्ता साध्या इत्येवं नियम एव, न प्रमाणोभयसिद्धधर्मिवत्कामचारस्तत्रेत्यवसेयम्। १८. धर्मिणि। १९. सत्तासत्ते। २०. भवत इति क्रियाध्याहारः। २१. एतत्पदप्रयोगात् साधनस्य वर्तमानकालिकत्वं प्रकटितं बोद्धव्यम्, तेन भूतभाविधूमादेर्भूतभाविवह्न्यादिसाध्यं प्रति साधनत्वं निरस्तम्।

1. *द प्रती 'तु' स्थाने 'च' पाठः।* 2. *'अनिश्चितप्रामाण्यप्रत्यय' इति द प्रतिपाठः।* 3. *'परोपदेशानपेक्षेण' इति आ प्रतिपाठः।*

परोपदेशाभावेऽपि साधनात्साध्यबोधनम्।
यद्द्रष्टु[१]र्जायते स्वार्थमनुमानं तदुच्यते ॥[ ] इति।

[परार्थानुमानस्य निरूपणम्]

§ ३१. परोपदेशमपेक्ष्य यत्साधनात्साध्यविज्ञानं तत्परार्थानुमानम्। [२]प्रतिज्ञा-हेतुरूपपरोपदेशवशात् श्रोतुरुत्पन्नं साधनात् साध्यविज्ञानं परार्थानुमानमित्यर्थः। यथा- पर्वतोऽयमग्निमान् भवितुमर्हति धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेरिति वाक्ये केनचित्प्रयुक्ते तद्वाक्यार्थं [३]पर्यालोचयतः [४]स्मृतव्याप्तिकस्य श्रोतुरनुमानमुपजायते।

§ ३२. परोपदेशवाक्यमेव परार्थानुमानमिति केचित्[५]; त एवं प्रष्टव्याः तत् किं मुख्यानुमानम् अथ। [६]गौणानुमानम् इति? न तावन्मुख्यानुमानम्, वाक्यस्याज्ञानरूपत्वात्। गौणानुमानं [७]तद्वाक्यमिति त्वनुमन्यामहे[८], [९]तत्कारणे [१०]तद्व्यपदेशोपपत्तेरायु[2]र्घृतमित्यादिवत्।

[परार्थानुमानप्रयोजकवाक्यस्य प्रतिज्ञा-हेतुरूपावयवद्वयस्य प्रतिपादनम्]

§ ३३. तस्यैतस्य परार्थानुमानस्याङ्गसम्पत्तिः स्वार्थानुमानवत्। परार्थानुमानप्रयोजकस्य च वाक्यस्य[3] द्वाववयवौ-प्रतिज्ञा हेतुश्च। तत्र धर्म-धर्मिसमुदायरूपस्य पक्षस्य वचनं प्रतिज्ञा। यथा-'पर्वतोऽयमग्निमान्' इति। साध्याविनाभाविसाधनवचनं हेतुः। यथा- 'धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेः' इति 'तथैव धूमवत्त्वोपपत्तेः'- इति वा[4]। अनयोर्हेतुप्रयोगयोरुक्तिवैचित्र्यमात्रम्[११]। [१२]पूर्वत्र धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेरित्ययमर्थः- धूमवत्त्वस्याग्निमत्त्वाभावेऽनुपपत्तेरिति निषेधमुखेन कथनम्[5]। द्वितीये[१३] तु धूमवत्त्वोपपत्तेरित्ययमर्थः- अग्निमत्त्वे सत्येव धूमवत्त्वस्योपपत्तेरिति विधिमुखेन प्रतिपादनम्[6]। अर्थस्तु[7] न भिद्यते, [१४]उभयत्राऽप्यविनाभाविसाधनाभिधानाविशेषात्। अतस्तयोर्हेतुप्रयोगयोरन्यतर[१५] एव वक्तव्यः, उभयप्रयोगे पौनरुक्त्यात्। तथा चोक्तलक्षणा प्रतिज्ञा, एतयोरन्यतरो हेतुप्रयोगश्चेत्यवयवद्वयं परार्थानुमानवाक्यस्येति स्थितिः, व्युत्पन्नस्य श्रोतुस्ताव[१६]न्मात्रेणैवानुमित्युदयात्।

१. अनुमातुः। २. कोऽसौ परोपदेश इत्याह **प्रतिज्ञाहेतुरूपेति**। ३. विचारयतः। ४. महानसे पूर्वगृहीतव्याप्तिस्मरतः। ५. नैयायिकादयः। ६. औपचारिकानुमानम्। ७. परोपदेशवाक्यम्। ८. वयं जैनाः। ९. परार्थानुमानकारणे परोपदेशवाक्ये। १०. परार्थानुमानव्यपदेशघटनात्, तत उपचारादेव परोपदेशवाक्यं परार्थानुमानम्। परमार्थतस्तु तज्जन्यं ज्ञानमेव परार्थानुमानमिति। यदाह **श्रीमाणिक्यनन्दी**-'परार्थं तु तदर्थपरामर्शिवचनाज्जातम्'- **परीक्षा.** ३-५५, 'तद्वचनमपि तद्धेतुत्वात्'- **परीक्षा.** ३-५६, श्रीहेमचन्द्राचार्योऽप्याह-'यथोक्तसाधनाभिधानजः परार्थम्' 'वचनमुपचारात्'- **प्रमाणमी.** २,१,१-२। ११. केवलं कथनभेदः। १२. हेतुप्रयोगे। १३. हेतुप्रयोगे। १४. हेतुप्रयोगद्वयेऽपि। १५. एकतर एव। १६. प्रतिज्ञाहेतुद्वयेनैव।

1. म मु 'अथवा' इति पाठः। 2. म मु 'रायुर्वै घृतं' इति पाठः। 3. द प प्रत्योः 'च वाक्यस्य' इति पाठो नास्ति। 4. द प प्रत्योः 'च' पाठः। 5. आ मु म प्रतिषु 'प्रतिपादनम्' इति पाठः। 6. आ मु म प्रतिषु 'कथनम्' पाठः। 7. 'अर्थतस्तु' इति द प्रतिपाठः।

[नैयायिकाभिमतपञ्चावयवानां निरासः]

§ ३४. [१]नैयायिकास्तु परार्थानुमानप्रयोगस्य यथोक्ताभ्यां द्वाभ्यामवयवाभ्यां सममुदाहरणमुपनयो निगमनं चेति पञ्चावयवानाहुः। तथा च[1] ते सूत्रयन्ति "प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवा:" [न्यायसू. १-१-३२] इति। तांश्च ते लक्षणपुरस्सरमुदाहरन्ति च।। तद्यथा–पक्षवचनं प्रतिज्ञा, यथा–पर्वतोऽयमग्निमानिति। साधनत्वप्रकाशार्थं[2] पञ्चम्यन्तं लिङ्गवचनं हेतुः, यथा–धूमवत्त्वादिति। व्याप्तिपूर्वकदृष्टान्तवचनमुदाहरणम्, यथा–यो यो धूमवानसावसावग्निमान्, यथा महानस इति साधर्म्योदाहरणम्। यो योऽग्निमान्न भवति स स धूमवान्न भवति, यथा महाह्रद इति वैधर्म्योदाहरणम्। पूर्वत्रोदाहरणभेदे हेतोरन्वयव्याप्तिः[२] प्रदर्श्यते, द्वितीये तु व्यतिरेकव्याप्तिः[३]। तद्यथा–अन्वयव्याप्तिप्रदर्शनस्थानमन्वयदृष्टान्तः[४], व्यतिरेकव्याप्तिप्रदर्शनप्रदेशो व्यतिरेकदृष्टान्तः[५]। एवं दृष्टान्तद्वैविध्यात्तद्वचनस्योदाहरणस्यापि द्वैविध्यं बोध्यम्। अनयोश्चोदाहरणयोरन्यतरप्रयोगेणैव पर्याप्तत्वादितराप्रयोगः। दृष्टान्तापेक्षया पक्षे[3] हेतोरुपसंहारवचनमुपनयः[६], तथा चायं धूमवानिति। हेतुपूर्वकं पुनः[4] पक्षवचनं निगमनम्[७],

---

१. अवयवमान्यतामभिप्रेत्य दार्शनिकानां मतभेदो वर्तते। तथा हि– **नैयायिका**स्तावत् मूले प्रदर्शितान् प्रतिज्ञादीन् पञ्चावयवान् प्रतिपेदिरे। **नैयायिकैकदेशिनः** 'पूर्वोक्ताः पञ्च, जिज्ञासा, संशयः, शक्यप्राप्तिः, प्रयोजनम्, संशयव्युदासः' (**न्यायभा.** १-१-३२) इति दशावयवान् वाक्ये संचक्षते। **मीमांसकाः** 'तत्रावाधित इति प्रतिज्ञा, ज्ञातसम्बन्धनियमस्येत्यनेन दृष्टान्तवचनम्, एकदेशदर्शनादिति हेत्वभिधानम्, तदेवं त्र्यवयवसाधनम्' (**प्रकरणपञ्जि.** पृ. ८३) इत्येतान् त्र्यवयवान् मन्यन्ते। **सांख्याः** 'पक्षहेतुदृष्टान्ता इति त्र्यवयवं साधनम्' (**सांख्य. माठरवृ.** का. ५) प्रतिपादयन्ति। बौद्धतार्किक**दिग्नागः** 'पक्षहेतुदृष्टान्तवचनैर्हि प्राश्निकानामप्रतीतोऽर्थः प्रतिपाद्यते ××× एतान्येव त्रयोऽवयवा इत्युच्यन्ते' (**न्याय.** पृ. १४, १९) इति प्ररूपयति। **केचिन्मीमांसकाः** प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयान् चतुरोऽवयवान् कथयन्ति (**प्रमेयर.** ३-३६)। **धर्मकीर्ति**स्तन्मतानुसारिणो **बौद्धाश्च** हेतुदृष्टान्तावित द्वाववयवौ (**प्रमाणवा.** १-२८, **वादन्या.** पृ. ६१), 'हेतुरेव हि केवलः' (**प्रमाणवा.** १-२८) इति केवलं हेतुरूपमेकमवयवमपि च निरूपयन्ति। वैशेषिकाश्च 'अवयवाः पुनः प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नायाः' (**प्रशस्तपादभा.** पृ. ११४) इत्युक्तान् पञ्चावयवान् मेनिरे। **स्याद्वादिनो जैनास्तु** 'एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम्' (परीक्षा. ३-३७) इति प्रतिज्ञाहेतुरूपावयवद्वयमेव मन्यन्त इति विवेकः। २. साधनसद्भावपूर्वकसाध्यसद्भावप्रदर्शनमन्वयव्याप्तिः। ३. साध्याभावपूर्वकसाधनाभावप्रदर्शनं व्यतिरेकव्याप्तिः। ४. 'यत्र प्रयोज्यप्रयोजकभावेन साध्यसाधनयोर्धर्मयोरस्तित्वं ख्याप्यते स साधर्म्यदृष्टान्तः। यद्यत् कृतकं तत्तदनित्यं दृष्टम्, यथा घट इति' – **न्यायकलि.** पृ. ११। ५. 'यत्र साध्याभावप्रयुक्तो हेत्वभावः ख्याप्यते स वैधर्म्यदृष्टान्तः। यत्रानित्यत्वं नास्ति तत्र कृतकत्वमपि नास्ति, यथा आकाश इति' (**न्यायकलि.** पृ. ११) एतदुभयमधिकृत्य कैश्चिदुक्तम्– 'साध्येनानुगमो हेतोः साध्याभावे च नास्तिता इति' (**न्यायवार्तिक** पृ. १३७)। ६. 'साधर्म्यवैधर्म्योदाहरणानुसारेण तथेति, न तथेति वा साध्यधर्मिणि हेतोरुपसंहार उपनयः' – **न्यायकलि.** पृ. १२। ७. 'द्विविधे हेतौ द्विविधे च दृष्टान्ते द्विविधे चोपनये तुल्यमेव हेत्वपदेशेन पुनः साध्योपसंहरणान्निगमनम्' – **न्यायकलि.** पृ. १२।

---

1. मुद्रितप्रतिषु 'च' पाठो नास्ति। 2. मु म 'प्रकाशनार्थं'। 3. मु 'पक्षहेतो'। 4. मुद्रितप्रतौ 'पुनः' नास्ति।

तस्मादग्निमानेवेति। एते पञ्चावयवाः परार्थानुमानप्रयोगस्य[१]। [२]तदन्यतमाभावे वीतराग-कथायां[३] विजिगीषुकथायां च। नानुमितिरुदेतीति नैयायिकानामभिमतिः[2]।

§ ३५. तदेतदविमृश्याभिमननम्; वीतरागकथायां[3] प्रतिपाद्याशयानुरोधेनावयवाधिक्येऽपि विजिगीषुकथायां प्रतिज्ञाहेतुरूपावयवद्वयेनैव पर्याप्तिः किमप्रयोजनैरन्यैरवयवैः।

[विजिगीषुकथायां प्रतिज्ञाहेतुरूपावयवद्वयस्यैव सार्थक्यमिति]

§ ३६. तथा हि–वादिप्रतिवादिनोः स्वमतस्थापनार्थं जयपराजयपर्यन्तं परस्परं प्रवर्तमानो [४]वाग्व्यापारो विजिगीषुकथा। गुरुशिष्याणां विशिष्टविदुषां वा[4] रागद्वेषरहितानां तत्त्वनिर्णयपर्यन्तं परस्परं प्रवर्तमानो वाग्व्यापारो वीतरागकथा[५]। तत्र[६] विजिगीषुकथा वाद इति चोच्यते[७]। [८]केचिद्वीतरागकथा वाद इति कथयन्ति, तत्पारिभाषिकमेव[९]। न हि लोके गुरुशिष्यादिवाग्व्यापारे वादव्यवहारः, विजिगीषुवाग्व्यवहार एव वादत्वप्रसिद्धेः[5]। यथा स्वामिसमन्तभद्राचार्यैः सर्वे[6]सर्वथैकान्तवादिनो वादे जिता इति। तस्मिंश्च वादे परार्थानुमानवाक्यस्य प्रतिज्ञा हेतुरित्यवयवद्वयमेवोपकारकम्, नोदाहरणादिकम्। तद्यथा–लिङ्गवचनात्मकेन हेतुना तावदवश्यं भवितव्यम्, लिङ्गज्ञानाभावेऽनुमितेरेवानुदयात्। पक्षवचनरूपया प्रतिज्ञयाऽपि भवितव्यम्, [१०]अन्यथाऽभिमतसाध्यनिश्चयाभावे साध्यसन्देहवतः श्रोतुरनुमित्यनुदयात्। तदुक्तम्– "एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गम्" [११][परीक्षा. ३-३७] इति। अयमर्थः– एतयोः प्रतिज्ञाहेत्वोर्द्वयमे-

१. 'ते इमे प्रतिज्ञादयो निगमनान्ताः पञ्चावयवाः स्वप्रतिपत्तिवत्परप्रतिपत्तिमुत्पादयितुमिच्छता यथानिर्दिष्टक्रमकाः प्रयोक्तव्याः। एतदेव साधनवाक्यं परार्थानुमानमाचक्षते।' – न्यायकलि. पृ. १२। २. प्रतिज्ञादीनामेकतमस्याऽप्यभावे। ३. 'वादिप्रतिवादिनोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः कथा। सा द्विविधा– वीतरागकथा विजिगीषुकथा चेति।– न्यायसार पृ. १५। ४. वचनप्रवृत्तिः। ५. जयपराजयाभिप्रायरहिता तत्त्वजिज्ञासया क्रियमाणा तत्त्वचर्चा वीतरागकथा इति भावः। ६. उभयोर्मध्ये। ७. यथोक्तम्–

प्रत्यनीकव्यवच्छेदप्रकारेणैव सिद्धये।
वचनं साधनादीनां वादः सोऽयं जिगीषतोः॥ न्यायवि.का. ३८२।

८. नैयायिकाः– 'गुर्वादिभिः सह वादः××× गुर्वादिभिः सह वादोपदेशात्, यस्मादयं तत्त्वबुभुत्सुर्गुर्वादिभिः सह त्रिविधं (अनधिगततत्त्वावबोधम्, संशयनिवृत्तिम्, अध्यवसिताभ्यनुज्ञानम्) फलमाकाङ्क्षन् वादं करोति।' – न्यायवा. पृ. १४९। यत्र वीतरागो वीतरागेणैव सह तत्त्वनिर्णयार्थं साधनोपालम्भौ करोति सा वीतरागकथा वादसंज्ञयोच्यते।' – न्यायसार पृ. १५। ९. कथनमात्रम्, न तु वास्तविकम्। १०. प्रतिज्ञाया अभावे। ११. 'एतद्द्वयमेवानुमानाङ्गं नोदाहरणम्' इत्युपलब्धसूत्रपाठः।

1. आ म मु प्रतिषु 'वा' पाठः। 2. म. मु. प्रतिषु 'मतम्'। 3. द प प्रत्योः 'वीतरागकथायां तु' इति पाठः। 4. द 'वा' पाठो नास्ति। 5. द 'सिद्धेः' पाठः। 6. द 'सर्वे' पाठो नास्ति।

वानुमानस्य परार्थानुमानस्याङ्गम्। वाद इति शेषः। एवकारेणावधारणपरेण[१] नोदाहरणादिकमिति सूचितं[२] भवति। [३]व्युत्पन्नस्यैव हि वादाधिकारः, प्रतिज्ञाहेतुप्रयोग[1]मात्रेणैवोदाहरणादिप्रतिपाद्यस्यार्थस्य गम्यमानस्य व्युत्पन्नेन ज्ञातुं शक्यत्वात्। गम्यमानस्याऽप्यभिधाने[४] [५]पौनरुक्त्यप्रसङ्गादिति[2]।

§ ३७. [६]स्यादेतत्, प्रतिज्ञाप्रयोगेऽपि पौनरुक्त्यमेव, [७]तदभिधेयस्य पक्षस्यापि [८]प्रस्तावादिना गम्यमानत्वात्। तथा च लिङ्गवचन[3]लक्षणो हेतुरेक एव वादे प्रयोक्तव्य[९] इति वदन् बौद्धपशुरात्मनो [१०]दुर्विदग्धत्व[4]मुद्घोषयति[११]। हेतुमात्रप्रयोगे व्युत्पन्नस्यापि साध्यसन्देहानिवृत्तेः[१२]। तस्मादवश्यं प्रतिज्ञा प्रयोक्तव्या। तदुक्तम् – "साध्यसन्देहापनोदार्थं[१३] गम्यमानस्यापि पक्षस्य वचनम्" [परीक्षा. ३-३४] इति। तदेवं[१४] वादापेक्षया परार्थानुमानस्य प्रतिज्ञाहेतुरूपमवयवद्वयमेव, न न्यूनं न[5] चाधिकमिति स्थितम्। [१५]प्रपञ्चः पुनरवयवविचारस्य पत्रपरीक्षायामीक्षणीयः[१६]।

[वीतरागकथायामधिकावयवप्रयोगस्यौचित्यसमर्थनम्]

§ ३८. वीतरागकथायां तु प्रतिपाद्याशयानुरोधेन[१७] प्रतिज्ञाहेतू द्वाववयवौ, प्रतिज्ञाहेतूदाहरणानि त्रयः, प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयाश्चत्वारः, प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि वा[6] पञ्चेति यथायोग[7] प्रयोगपरिपाटी[१८]। तदुक्तं कुमारनन्दिभट्टारकैः –

"प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः" – [वादन्याय....] इति।

तदेवं प्रतिज्ञादिरूपात्परोपदेशादुत्पन्नं[१९] परार्थानुमानम्। तदुक्तम् –

परोपदेशसापेक्षं साधनात्साध्यवेदनम्[२०]।
श्रोतुर्यज्जायते सा हि परार्थानुमितिर्मता॥ [ ] इति।

तथा च स्वार्थं परार्थं चेति द्विविधमनुमानं साध्याविनाभावनिश्चयैकलक्षणाद्धेतोरुत्पद्यते।

---

१. इतरव्यवच्छेदकेन। २. ज्ञापितम्। ३. वादकरणसमर्थस्यैव वक्तुः। ४. वचने। ५. पुनर्वचनं पौनरुक्त्यम्। ६. सौगतः शङ्कते। ७. प्रतिज्ञायाः प्रतिपाद्यस्य। ८. प्रकरणव्याप्तिप्रदर्शनादिना। ९. प्रतिज्ञामन्तरेण केवलस्य हेतोरेव प्रयोगः करणीयः, 'हेतुरेव हि केवलः' इति धर्मकीर्तिवचनात्। १०. जाड्यम्। ११. प्रकटयति। १२. साध्यस्य सन्देहो न निवर्तते। १३. साध्यसंशयनिवृत्त्यर्थम्। १४. विजिगीषुकथामाश्रित्य। १५. विस्तरः। १६. द्रष्टव्यः। १७. प्रतिपाद्याः शिष्यास्तेषामाशयोऽभिप्रायस्तदपेक्षया। १८. परार्थानुमानवाक्यावयवसमुदायः प्रयोगपरिपाटी। अत्रायं भावः – वीतरागकथायामवयवप्रयोगस्य न कश्चिन्नियमः; तत्र यावद्भिः प्रयोगैः प्रतिपाद्यो बोधनीयो भवति तावन्तस्ते प्रयोक्तव्याः। दृश्यन्ते खलु केचिद् द्वाभ्यामवयवाभ्यां प्रकृतार्थं प्रतिपद्यन्ते, केचन त्रिभिरवयवैः, अपरे चतुर्भिरवयवैः, अन्ये पञ्चभिरवयवैः, अत उक्तं 'प्रयोगपरिपाटी तु प्रतिपाद्यानुरोधतः' इति। अत एव च परानुग्रहप्रवृत्तैः शास्त्रकारैः प्रतिपाद्यावबोधनदृष्टिभिस्तथैव प्ररूपणात्। व्युत्पन्नप्रज्ञानां तु न तथाऽनियमः, तेषां कृते तु प्रतिज्ञाहेतुरूपावयवद्वयस्यैव पर्याप्तत्वादस्ति तादृङ्नियमः। १९. ज्ञानम्। २०. साध्यज्ञानम्।

---

1. द प प्रत्योः 'प्रतिज्ञाहेतुमात्रे' इति पाठः। 2. मु 'इति' नास्ति। 3. द 'वचन' नास्ति। 4. प मु 'दुर्विदग्धता' पाठः। 5. 'नाधिक' इति मु प्रतिपाठः। 6. द 'वा' नास्ति। 7. म मु 'यथायोग्य' पाठः।

[बौद्धाभिमतत्रैरूप्यहेतुलक्षणस्य निरासः]

§ ३९. इत्थमन्यथानुपपत्त्येकलक्षणो हेतुरनुमितिप्रयोजक[१] इति [२]प्रथितेऽप्यार्हते। मते तदेतदवितर्क्यान्ये[३]ऽन्यथा[४]ऽप्याहुः। तत्र तावत्ताथागताः 'पक्षधर्मत्वादित्रितयलक्षणात्[2]लिङ्गादनुमानोत्थानम्' इति वर्णयन्ति[५]। तथा हि-पक्षधर्मत्वम्, सपक्षे सत्त्वम्, विपक्षाद्व्यावृत्तिरिति हेतोस्त्रीणि रूपाणि। तत्र साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी पक्षः, यथा[६]धूमध्वजानुमाने पर्वतः, तस्मिन् व्याप्य वर्तमानत्वं हेतोः पक्षधर्मत्वम्। साध्यसजातीयधर्मा धर्मी सपक्षः, यथा तत्रैव[७] महानसः, तस्मिन् सर्वत्रैकदेशे वा वर्तमानत्वं हेतोः सपक्षे सत्त्वम्। साध्यविरुद्धधर्मा धर्मी विपक्षः, यथा तत्रैव ह्रदः[3], '[८]तस्मात्सर्वस्माद् व्यावृत्तत्वं हेतोर्विपक्षाद् व्यावृत्तिः[९]। तानीमानि त्रीणि रूपाणि मिलितानि हेतोर्लक्षणम्। [१०]"अन्यतमाभावे हेतोराभासत्वं[११] स्यादिति।

§ ४०. [१२]तदसङ्गतम्; कृत्तिकोदयादेर्हेतोरपक्षधर्मस्य[१३] शकटोदयादिसाध्यगमकत्वदर्शनात्। तथा हि- शकटं मुहूर्तान्ते उदेष्यति कृत्तिकोदयादिति। अत्र हि- शकटं धर्मी[4], मुहूर्तान्तोदयः[5] साध्यः, कृत्तिकोदयो हेतुः। न हि कृत्तिकोदयो हेतुः पक्षीकृते शकटे वर्तते, अतो न पक्षधर्मः। [१४]"तथाप्यन्यथानुपपत्तिबलाच्छकटोदयाख्यं साध्यं गमयत्येव[१५]। तस्माद् बौद्धाभिमतं हेतोर्लक्षणमव्याप्तम्[१६]।

[नैयायिकाभिमतपाञ्चरूप्यहेतुलक्षणस्य निरासः]

§ ४१. नैयायिकास्तु पाञ्चरूप्यं हेतोर्लक्षणमाचक्षते। तथा हि-पक्षधर्मत्वम्, सपक्षे

१. जनक इत्यर्थः। २. प्रसिद्धे। ३. सौगतादयः। ४. त्रैरूप्यादिकम्। ५. अयमभिप्रायो बौद्धानाम्-नान्यथानुपपत्तिनियमनिश्चयैकलक्षणं साधनम्, अपि तु पक्षधर्मत्वादिरूपत्रययुक्तम्, तेनैवासिद्धत्वादिदोषपरिहारात्। उक्तं च -

हेतोस्त्रिष्वपि रूपेषु निर्णयस्तेन वर्णितः।
असिद्धविपरीतार्थव्यभिचारिविपक्षतः॥ प्रमाणवा. १-१६।

'हेतुस्त्रिरूपः। किं पुनस्त्रैरूप्यम्? पक्षधर्मत्वम्, सपक्षे सत्त्वम्, विपक्षे चासत्त्वमिति।' **न्यायप्र.** पृ. १। अत्र **न्यायबिन्दुटी.** पृ. ३१, ३३। **वादन्याय.** पृ. ६०। **तत्त्वसं.** पृ. ४०४ इत्याद्यपि द्रष्टव्यम्। ६. धूमध्वजो वह्निः, धूमस्य तज्ज्ञापकत्वात्। ७. धूमध्वजानुमाने। ८. ह्रदादिसर्वविपक्षात्। ९. विपक्षावृत्तित्वं विपक्षाद् व्यावृत्तिः। १०. प्रोक्तरूपत्रयाणामेकैकापाये। ११. तन्नामको हेत्वाभासः स्यादिति भावः। तथा च पक्षधर्मत्वाभावेऽसिद्धत्वम्, सपक्षसत्त्वविरहे विरुद्धत्वम्, विपक्षाद्व्यावृत्त्यभावे चानैकान्तिकत्वमिति। १२. ग्रन्थकारः समाधत्ते **तदसङ्गतमिति**। १३. पक्षेऽवर्तमानस्य। १४. पक्षधर्मत्वाऽभावेऽपि। १५. किञ्च, 'उपरि वृष्टिरभूत्, अधोपूरान्यथानुपपत्तेः' इत्यादावपि पक्षधर्मत्वं नास्ति तथापि गमकत्वं सर्वैरभ्युपगम्यते, अन्यथानुपपत्तिसद्भावात्। अतः सैव हेतोः प्रधानं लक्षणमस्तु? किं त्रैरूप्येण। १६. अव्याप्तिदोषदूषितम्। अपि च, 'बुद्धोऽसर्वज्ञो वक्तृत्वादे रथ्यापुरुषवत्' इत्यत्र पक्षधर्मत्वादिरूपत्रयसद्भावेनातिव्याप्तम्।

1. म मु 'अर्हन्मते' पाठः। 2. द प 'लक्षणलिङ्गा' इति पाठः। 3. आ म मु 'महाह्रदः' इति पाठः। 4. मु 'शकटः पक्षः' पाठः। 5. म मु 'मुहूर्तान्ते उदयः' पाठः।

सत्त्वम्, विपक्षाद्व्यावृत्तिः, अबाधितविषयत्वम्, असत्प्रतिपक्षत्वं चेति पञ्च रूपाणि। [१]तत्राद्यानि[२] त्रीण्युक्तलक्षणानि। साध्यविपरीतनिश्चायकप्रबलप्रमाणरहितत्वमबाधितविषयत्वम्। तादृशसमबलप्रमाणशून्यत्वमसत्प्रतिपक्षत्वम्। तद्यथा- पर्वतोऽयमग्निमान्, धूमवत्त्वात्, यो यो धूमवानसा[1]वसावग्निमान्, यथा महानसः, यो योऽग्निमान्न भवति स धूमवान्न भवति, यथा महाह्रदः, तथा चायं धूमवांस्तस्मादग्निमानेवेति। [३]अत्र ह्यग्निमत्त्वेन साध्यधर्मेण विशिष्टः पर्वताख्यो धर्मी पक्षः, धूमवत्त्वं हेतुः। [४]तस्य च तावत्पक्षधर्मत्वमस्ति, पक्षीकृते पर्वते वर्तमानत्वात्। सपक्षे सत्त्वमप्यस्ति, सपक्षे महानसे वर्तमानत्वात्। [५]ननु केषुचित्सपक्षेषु धूमवत्त्वं न वर्तते, अङ्गारावस्थापन्नाग्निमत्सु प्रदेशेषु धूमाभावात्, इति चेत्; न ; सपक्षैकदेशवृत्तेरपि हेतुत्वात्, सपक्षे सर्वत्रैकदेशे वा वृत्तिर्हेतोः सपक्षे सत्त्वमित्युक्तत्वात्। विपक्षाद्व्यावृत्तिरप्यस्ति, धूमवत्त्वस्य सर्वमहाह्रदादिविपक्ष[2]व्यावृत्तेः। [६]अबाधितविषयत्वमप्यस्ति, धूमवत्त्वस्य हेतोर्यो विषयोऽग्निमत्त्वाख्यं साध्यं तस्य प्रत्यक्षादि[७] प्रमाणाबाधितत्वात्। [८]असत्प्रतिपक्षत्वमप्यस्ति, अग्निरहितत्वसाधकसमबलप्रमाणासम्भवात्। [९]तथा च पाञ्चरूप्य[3]सम्पत्तिरेव धूमवत्त्वस्य [4]स्वसाध्यसाधकत्वे[१०] निबन्धनम्। एवमेव सर्वेषामपि[११] सद्धेतूनां रूपपञ्चकसम्पत्तिरूहनीया[१२]।

§ ४२. तदन्यतमविरहादेव[१३] खलु पञ्च हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिककालात्ययापदिष्टप्रकरणसमाख्याः सम्पन्नाः। तथा[१४] हि-[१५]अनिश्चितपक्षवृत्तिरसिद्धः, यथा- 'अनित्यः शब्दश्चाक्षुषत्वात्'। अत्र हि चाक्षुषत्वं हेतुः पक्षीकृते शब्दे न वर्तते, श्रावणत्वाच्छब्दस्य। तथा च पक्षधर्मविरहादसिद्धत्वं चाक्षुषत्वस्य। साध्यविपरीतव्याप्तो[१६] विरुद्धः, यथा - 'नित्यः शब्दः कृतकत्वात्' इति। कृतकत्वं हेतुः साध्यभूतनित्यत्वविपरीतेनानित्यत्वेन [१७]व्याप्तः[5], सपक्षे[6] गगनादावविद्यमानो[7] विरुद्धः। [१८]सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः, यथा-

१. तेषु। २. पक्षधर्मत्वादीनि। ३. वह्न्यनुमाने। ४. धूमवत्त्वस्य। ५. बौद्धं प्रति परः शङ्कते नन्विति। ६. धूमवत्त्वे पक्षधर्मत्वादित्रयं समर्थ्याबाधितविषयत्वमसत्प्रतिपक्षत्वं चापि शेषरूपद्वयं समर्थयति प्रकरणकारोऽबाधितेत्यादिना। ७. आदिपदादनुमानागमादिग्रहणम्। ८. न विद्यते प्रतिपक्षो यस्य सोऽसत्प्रतिपक्षस्तस्य भावस्तत्त्वम्, प्रतिद्वन्द्विहेतुरहितत्वमित्यर्थः। न ह्यत्र 'पर्वतो नाग्निमान् अमुकत्वात्' इत्येवंभूतमग्निरहितत्वसाधकं किञ्चित् समबलप्रमाणं वर्तते। ततोऽसत्प्रतिपक्षत्वं धूमवत्त्वस्य। ९. उक्तमेवोपसंहरति तथा चेति। १०. स्वपदेन धूमवत्त्व तस्य साध्य वह्निमत्त्वसाधने। ११. कृतकत्वादीनाम्। १२. विचारणीया। १३. पक्षधर्मत्वादीनामेकैकापायात्। १४. तानेवोपदर्शयति। १५. न निश्चिता पक्षे वृत्तिर्यस्य सोऽसिद्धः। १६. 'साध्याद् (नित्यत्वादेः) विपरीतं यत् (अनित्यत्वादि) तेन सह व्याप्तो व्याप्तिमान् हेतुः स विरुद्धो हेत्वाभासः।' १७. नियमेन वर्तमानः। १८. साध्यासत्त्वे हेतुसत्त्वं व्यभिचारस्तेन सहितः सव्यभिचारः। साध्याभाववद्वृत्तिर्हेतुर्व्यभिचारीत्यर्थः।

1. म मु प्रतिषु 'स स' इति पाठः। 2. आ म मु 'विपक्षाद्यथा' इति पाठः। 3. द 'पञ्चरूप' पाठः। 4. आ प म मु 'स्व' नास्ति। 5. मु 'व्याप्तत्वात्' पाठः। 6. मु 'सपक्षे च' पाठः। 7. मु 'वविद्यमानत्वात्' पाठः।

'अनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात्' इति। प्रमेयत्वं हि हेतुः[1] साध्यभूतमनित्यत्वं व्यभिचरति, गगनादौ विपक्षे[1] नित्यत्वेनापि सह वृत्तेः। ततो विपक्षाद्व्यावृत्त्यभावादनैकान्तिकः[2]। [2]बाधितविषयः [3]कालात्ययापदिष्टः। [4]यथा- 'अग्निरनुष्णः पदार्थत्वात्' इति। अत्र हि पदार्थत्वं हेतुः स्वविषयेऽनुष्णत्वे उष्णत्वग्राहकेण प्रत्यक्षेण बाधिते प्रवर्तमानोऽबाधितविषयत्वाभावात्कालात्ययापदिष्टः। [5]प्रतिसाधनप्रतिरुद्धो[3] हेतुः [6]प्रकरणसमः, [7]यथा-'अनित्यः शब्दो नित्यधर्मरहितत्वात्' इति। अत्र हि नित्यधर्मरहितत्वादिति हेतुः प्रतिसाधनेन प्रतिरुद्धः[4]। किं तत्प्रतिसाधनम् इति चेत्; नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मरहितत्वादिति नित्यत्वसाधनम्। तथा चासत्प्रतिपक्षत्वाभावात्प्रकरणसमत्वं नित्यधर्मरहितत्वादिति हेतोः। तस्मात्पाञ्चरूप्यं हेतोर्लक्षणमन्यतमाभावे हेत्वाभासत्वप्रसङ्गादिति सूक्तम्। 'हेतुलक्षणरहिता हेतुवदवभासमानाः खलु हेत्वाभासाः[8]। पञ्चरूपान्यतमशून्यत्वाद्धेतुलक्षणरहितत्वम्, कतिपयरूपसम्पत्तेर्हेतुवदवभासमानत्वम्' [ ] इति वचनात्।

§ ४३. [9]तदेतदपि नैयायिकाभिमतमनुपपन्नम्, कृत्तिकोदयस्य पक्षधर्मरहितस्यापि शकटोदयं प्रति हेतुत्वदर्शनात्पाञ्चरूप्यस्याव्याप्तेः।

§ ४४. [10]किञ्च, केवलान्वयिकेवलव्यतिरेकिणोर्हेत्वोः पाञ्चरूप्याभावेऽपि गमकत्वं तैरेवाङ्गीक्रियते। तथा हि–ते मन्यन्ते [11]त्रिविधो हेतुः–अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी, केवल-

१. अनित्यत्वाभाववति। २. प्रत्यक्षादिना बाधितो विषयः साध्यं यस्य हेतोः स बाधितविषयः कालात्ययापदिष्टो नाम। ३. एतन्नामकश्चतुर्थो हेत्वाभासः। तथा चोक्तम्- 'प्रत्यक्षागमविरुद्धः कालात्ययापदिष्टः। अबाधितपरपक्षपरिग्रहो हेतुप्रयोगकालः तमतीत्यासावुपदिष्ट इति। अनुष्णोऽग्निः कृतकत्वात् घटवदिति प्रत्यक्षविरुद्धः। ब्राह्मणेन सुरा पेया द्रवद्रव्यत्वात् क्षीरवत् इत्यागमविरुद्धः।' -न्यायकलि. पृ. १५। ४. कालात्ययापदिष्टमुदाहरति **यथेति**। ५. विरोधिसाधनं प्रतिसाधनम्, तेन साध्यप्रत्यायनं प्रति रुद्धोऽसमर्थीकृतो यो हेतुः स प्रकरणसमो नाम पञ्चमो हेत्वाभासः। ६. **जयन्तभट्टस्तु** प्रकरणसममित्थं लक्षयति- 'विशेषाग्रहणात् प्रकरणे पक्षे संशयो भवति- नित्यः शब्दोऽनित्यः शब्दो वेति। तदेव विशेषाग्रहणं भ्रान्त्या हेतुत्वेन प्रयोज्यमानं प्रकरणसमो हेत्वाभासो भवति। अनित्यः शब्दो नित्यधर्मानुपलब्धेः घटवदिति, नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मानुपलब्धेराकाशवदिति। न चानयोरन्यतरदपि साधनं बलीयः यदितरस्य बाधकमुच्येत।' -**न्यायकलि**. पृ. १५। ७. सत्प्रतिपक्षापरनामप्रकरणसममुदाहरणद्वारा दर्शयति **यथेति**। ८. 'अहेतवो हेतुवदवभासमानाः हेत्वाभासाः'-**न्यायकलि**. पृ. १४। ९. त्रैरूप्यवत्पाञ्चरूप्यमपि। १०. नैयायिकमतानुसारेणैव पुनरव्याप्तिं दर्शयति **किञ्चेति**। ११. 'अन्वयी, व्यतिरेकी, अन्वयव्यतिरेकी चेति। तत्रान्वयव्यतिरेकी विवक्षिततज्जातीयोपपत्तौ विपक्षावृत्तिः, यथा–अनित्यः शब्दः सामान्यविशेषवत्त्वे सत्यस्मदादिबाह्यकरणप्रत्यक्षत्वाद् घटवदिति। अन्वयी विवक्षिततज्जातीयवृत्तित्वे सति विपक्षहीनो, यथा सर्वानित्यत्ववादिनामनित्यः शब्दः कृतकत्वादिति। अस्य हि विपक्षो नास्ति। व्यतिरेकी विवक्षितव्यापकत्वे सति सपक्षाभावे सति विपक्षावृत्तिः, यथा नेदं जीवच्छरीरं निरात्मकमप्राणादिमत्त्वप्रसङ्गादिति' – **न्यायवा**. पृ. ४६।

1. द आ प्रत्योः 'हेतुः' नास्ति। 2. द 'कम्'। 3. द 'विरुद्धो' पाठः। 4. द 'विरुद्धः' पाठः।

व्यतिरेकी चेति। तत्र पञ्चरूपोपपन्नोऽन्वयव्यतिरेकी। यथा–'शब्दोऽनित्यो भवितुमर्हति कृतकत्वात्, यद्यत्कृतकं तत्तदनित्यं यथा घटः, यद्यदनित्यं न भवति तत्तत् कृतकं न भवति[1] यथाऽऽकाशम्, तथा चायं कृतकः, तस्मादनित्य एवेति'। अत्र शब्दं [1]पक्षीकृत्यानित्यत्वं साध्यते। तत्र कृतकत्वं हेतुस्तस्य पक्षीकृतशब्दधर्मत्वात्पक्षधर्मत्वमस्ति। सपक्षे घटादौ वर्तमानत्वाद्विपक्षे गगनादाववर्तमानत्वादन्वयव्यतिरेकित्वम्।

§ ४५. पक्षसपक्षवृत्तिर्विपक्षरहितः केवलान्वयी। यथा–'अदृष्टादयः कस्यचित्प्रत्यक्षा अनुमेयत्वात्, यद्यदनुमेयं तत्तत्कस्यचित्प्रत्यक्षम्, यथाऽग्न्यादि' इति। अत्रादृष्टादयः पक्षः, कस्यचित् प्रत्यक्षत्वं साध्यम्, अनुमेयत्वं हेतुः अग्न्याद्यन्वयदृष्टान्तः। अनुमेयत्वं हेतुः पक्षीकृतेऽदृष्टादौ वर्तते, सपक्षभूतेऽग्न्यादौ वर्तते। ततः पक्षधर्मत्वं सपक्षे सत्त्वं चास्ति। विपक्षः पुनरत्र नास्त्येव, सर्वस्यापि पक्ष[2]सपक्षान्तर्भावात्तस्माद्विपक्षाद्व्यावृत्तिर्नास्त्येव। [2]व्यावृत्तेरवधिसापेक्षत्वात्, अवधिभूतस्य च विपक्षस्याभावात्। शेषमन्वयव्यतिरेकिवद् द्रष्टव्यम्।

§ ४६. पक्षवृत्तिर्विपक्षव्यावृत्तः सपक्षरहितो हेतुः केवलव्यतिरेकी। यथा–'जीवच्छरीरं सात्मकं भवितुमर्हति प्राणादिमत्त्वात्, यद्यत्सात्मकं न भवति तत्तत्प्राणादिमन्न भवति यथा लोष्ठम् इति। अत्र जीवच्छरीरं पक्षः, सात्मकत्वं साध्यम्, प्राणादिमत्त्वं हेतुः, लोष्ठादिर्व्यतिरेकदृष्टान्तः। प्राणादिमत्त्वं हेतुः पक्षीकृते जीवच्छरीरे वर्तते। विपक्षाच्च लोष्ठादेर्व्यावर्तते। सपक्षः पुनरत्र नास्त्येव, सर्वस्यापि [3]पक्षविपक्षान्तर्भावादिति। शेषं पूर्ववत्।

§ ४७. एवमेतेषां त्रयाणां हेतूनां मध्येऽन्वयव्यतिरेकिण एव पाञ्चरूप्यम्, केवलान्वयिनो विपक्षव्या[4]वृत्तेरभावात्, केवलव्यतिरेकिणः सपक्षे[5] सत्त्वाभावाच्च नैयायिकमतानुसारेणैव पाञ्चरूप्यव्यभिचारः[3]। अन्यथानुपपत्तेस्तु सर्वहेतुव्याप्तत्वाद्धेतुलक्षणत्वमुचितम्, [4]तदभावे हेतोः स्वसाध्यगमकत्वाघटनात्।

§ ४८. यदुक्तम्- 'असिद्धादिदोषपञ्चकनिवारणाय पञ्चरूपाणि' [ ] इति, तन्न; अन्यथानुपपत्तिमत्त्वेन निश्चितत्वस्यैवास्मदभिमतलक्षणस्य [5]तन्निवारकत्वसिद्धेः। [6]तथा हि-साध्यान्यथानुपपत्तिमत्त्वे सति निश्चयपथप्राप्तत्वं खलु हेतोर्लक्षणम्, "साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुः" [परीक्षा. ३-१५] इति वचनात्। न [7]चैतदसिद्धस्यास्ति। शब्दानित्य-

१. धर्मिणं कृत्वा। २. व्यावृत्तिर्ह्यवधिमपेक्ष्य भवति, अवधिश्च विपक्षः, स चात्र नास्त्येव। ततोऽवधिभूतविपक्षाभावान्न विपक्षव्यावृत्तिः केवलान्वयिनि हेताविति भावः। ३. अत्र व्यभिचारपदेनाव्याप्तिदोषो विवक्षितः। ४. अन्यथानुपपत्तेरभावे। ५. असिद्धादिदोषव्यवच्छेदकत्वप्रसिद्धेः। ६. ननु कथमेकेनान्यथानुपपत्तिलक्षणेनासिद्धादिपञ्चहेत्वाभासानां निराकरणम्? इत्यत आह तथा हीति। ७. साध्यान्यथानुपपत्तिमत्त्वे सति निश्चयपथप्राप्तत्वम्।

1. द आ 'यत्कृतकं तदनित्यं यथा घटः यदनित्यं न भवति तत्कृतकं न भवति' इति पाठः। 2. द 'पक्षान्तर्भाव-' पाठः। 3. द 'पक्षान्तर्भा-'। 4. आ प म मु 'विपक्षव्यावृत्त्यभावात्'। 5. मु 'सपक्षसत्त्वाभावात्'।

त्वसाधनायाभिप्रेतस्य [१]चाक्षुषत्वादेः स्वरूपस्यैवाभावे कुतोऽन्यथानुपपत्तिमत्त्वेन निश्चयपथप्राप्तिः ? ततः साध्यान्यथानुपपत्तिमत्त्वेन निश्चयपथप्राप्त्यभावादेवास्य हेत्वाभासत्वम्, न तु पक्षधर्मत्वाभावात्, [२]अपक्षधर्मस्यापि कृत्तिकोदयादेर्यथोक्त[३]लक्षणसम्पत्तेरेव सद्धेतुत्वप्रतिपादनात्। विरुद्धादेस्तदभावः[४] स्पष्ट एव। न हि विरुद्धस्य व्यभिचारिणो बाधितविषयस्य सत्प्रतिपक्षस्य वा[1]ऽन्यथानुपपत्तिमत्त्वेन निश्चयपथप्राप्तिरस्ति। तस्माद्यस्यान्यथानुपपत्तिमत्त्वे सति योग्यदेशनिश्चयपथप्राप्तिरस्तीति स एव सद्धेतुरपरस्तदाभास इति स्थितम्।

§ ४९. किञ्च[५], 'गर्भस्थो मैत्रीतनयः[2] श्यामो भवितुर्महति, मैत्रीतनयत्वात्, सम्प्रतिपन्नमैत्रीतनयवत्' इत्यत्रापि त्रैरूप्यपाञ्चरूप्ययोर्बौद्ध-यौगाभिमतयोरतिव्याप्तेरलक्षणत्वम्[६]। तथा हि-परिदृश्यमानेषु पञ्चसु मैत्रीपुत्रेषु श्यामतामुपलभ्य [७]तद्गर्भगतमपि[3] विवादापन्नं पक्षीकृत्य श्यामत्वसाधनाय प्रयुक्तो मैत्रीतनयत्वाख्यो हेतुराभास[८] इति तावत्प्रसिद्धम्, अश्यामत्वस्यापि तत्र[९] सम्भावितत्वात्। तत्सम्भावना च श्यामत्वं प्रति मैत्रीतनयत्वस्यान्यथानुपपत्त्यभावात्[१०]। [११]तदभावश्च सहक्रमभावनियमाभावात्।

§ ५०. यस्य हि[4] धर्मस्य येन धर्मेण सहभावनियमः स तं गमयति। यथा शिंशपात्वस्य वृक्षत्वेन सहभावनियमोऽस्तीति शिंशपात्वं हेतुर्वृक्षत्वं गमयति। यस्य च[5] क्रमभावनियमः स तं गमयति। यथा धूमस्याग्न्यनन्तरभावनियमोऽस्तीति धूमोऽग्निं गमयति। [१२]न हि मैत्रीतनयत्वस्य हेतुत्वाभिमतस्य श्यामत्वेन साध्यत्वाभिमतेन सहभावः क्रमभावो वा [6]नियमोऽस्ति, येन मैत्रीतनयत्वं हेतुः श्यामत्वं साध्यं गमयेत्।

---

१. 'शब्दोऽनित्यश्चाक्षुषत्वात्' इत्यत्र शब्देऽनित्यत्वसाधनाय प्रयुक्तस्य चाक्षुषत्वहेतोः स्वरूपत्वमेव नास्ति। यतो हि शब्दस्य श्रोत्रग्राह्यत्वम्, न तु चाक्षुषत्वम्। अतो न चाक्षुषत्वादेरन्यथानुपपन्नत्वम्। तदभावादेव चास्यासिद्धत्वमिति ज्ञेयम्। २. पक्षधर्मरहितस्य। ३. साध्यान्यथानुपपत्तिमत्त्वे सति निश्चयपथप्राप्तत्वलक्षणसद्भावादेव। ४. साध्यान्यथानुपपत्तिमत्त्वे सति निश्चयपथप्राप्तत्वाभावः। ५. त्रैरूप्यपाञ्चरूप्ययोरतिव्याप्तिप्रदर्शनार्थमाह किञ्चेत्यादि। ६. लक्षणाभासत्वम्। ७. मैत्रीगर्भस्थम्। ८. असद्धेतुः। ९. गर्भस्थे मैत्रीतनये। १०. न हि श्यामत्वेन सह मैत्रीतनयत्वस्यान्यथानुपपत्तिरस्ति, गौरत्वेनापि तस्य वृत्तिसम्भवात्। ११. अन्यथानुपपत्त्यभावः, अन्यथानुपपत्तिरविनाभावः। स च द्विविधः- सहभावनियमः क्रमभावनियमश्च। तदेतद्द्विविधस्याप्यत्राभावादिति भावः। १२. ननु मैत्रीतनयत्वस्य श्यामत्वेन सहभावः क्रमभावो वा नियमोऽस्तु, तथा च मैत्रीतनयत्वं श्यामत्वं गमयेदेव इत्याशङ्कायामाह न हीत्यादि।

---

1. द प्रतौ 'वा' स्थाने 'च' पाठः। 2. आ द प्रत्योः सर्वत्र 'मैत्र' स्थाने 'मैत्री' शब्दः प्रयुक्तः। जैनतर्कभाषायां (पृ. १८) स्त्रीलिङ्गवाचको 'मित्रा' शब्दः प्रयुक्तः। 3. द प आ 'तद्भार्यागर्भगतमपि' पाठः। 4. द 'हि' नास्ति। 5. आ म 'यस्य यत्क्रमभावनियमः' मु 'यस्य येन क्रम...'। 6. द आ प म प्रतिषु 'नियतो' पाठः।

§ ५१. यद्यपि सम्प्रतिपन्नमैत्रीपुत्रेषु श्यामत्वमैत्रीतनयत्वयोः सहभावोऽस्ति तथापि नासौ
नियतः[1]। मैत्रीतनयत्वमस्तु श्यामत्वं माऽस्तु इत्येवंरूपे विपक्षे[2] बाधकाभावात्[3]। विपक्षे
बाधकप्रमाणबलात्खलु हेतुसाध्ययोर्व्याप्तिनिश्चयः1। व्याप्तिनिश्चयतः सहभावः क्रमभावो
वा। "सहक्रमभावनियमोऽविनाभावः" [परीक्षा. ३-१६] इति वचनात्। [4]विवादाध्यासितो
वृक्षो भवितुमर्हति शिंशपात्वात्। या या शिंशपा स स वृक्षः, यथा सम्प्रतिपन्न इति। अत्र
हि हेतुरस्तु साध्यं मा भूदित्येतस्मिन् विपक्षे सामान्य-विशेष-भावभङ्गप्रसङ्गो बाधकः। वृक्षत्वं
हि सामान्यं शिंशपात्वं तद्विशेषः। न हि विशेषः सामान्याभावे सम्भवति। न चैवं मैत्रीतनयत्व-
मस्तु श्यामत्वं माऽस्तु इत्युक्ते किञ्चिद्बाधकमस्ति। तस्मान्मैत्रीतनयत्वं हेत्वाभास एव। तस्य2
तावत्पक्षधर्मत्वमस्ति, पक्षीकृते गर्भस्थे तत्सद्भावात्। सपक्षेषु सम्प्रतिपन्नपुत्रेषु3 तस्य विद्यमा-
नत्वात्सपक्षे सत्त्वमप्यस्ति। विपक्षेभ्यः पुन[5]रश्यामेभ्यश्चैत्रपुत्रेभ्यो व्यावर्तमानत्वाद्विपक्षाद्व्या-
वृत्तिरस्ति। [6]विषयबाधाभावादबाधितविषयत्वमस्ति। न हि गर्भस्थस्य श्यामत्वं केनचिद्
बाध्यते। असत्प्रतिपक्षत्वमप्यस्ति, प्रतिकूलसमबलप्रमाणाभावात्। इति पाञ्चरूप्यसम्पत्तिः।
त्रैरूप्यं तु [7]सहस्रशतन्यायेन4 सुतरां सिद्धमेव।

[अन्यथानुपपन्नत्वमेव हेतोर्लक्षणमित्युपपादनम्]

§ ५२. ननु च न पाञ्चरूप्यमात्रं हेतोर्लक्षणम्। किं तर्हि? [8]अन्यथानुपपत्त्युपलक्षितमेव
लक्षणमिति5 चेत्; तर्हि [9]सैवैका तल्लक्षणमस्तु6 [10]तदभावे पाञ्चरूप्यसम्पत्तावपि मैत्रीतनय-
त्वादौ न हेतुत्वम्। तत्सद्भावे पाञ्चरूप्याभावेऽपि कृत्तिकोदयादौ हेतुत्वमिति। तदुक्तम् –

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्[11] ॥ [　　　] इति बौद्धान् प्रति।

---

१. नियमेन वर्तमानः। २. व्यभिचारशङ्कायाम्। ३. तन्निवर्तकानुकूलतर्काभावात्। अत्रायम्भावः 'हेतुरस्तु साध्यं
माऽस्तु' इत्येवं व्यभिचारशङ्कायां सत्यां यदि तन्निवर्तकं 'यदि साध्यं न स्यात्तर्हि हेतुरपि न स्यात् वह्न्यभावे
धूमाभाववत्' इत्येवंभूतं विपक्षबाधकं प्रमाणमस्ति तदाऽसौ हेतुः सद्धेतुर्भवति, विपक्षबाधकप्रमाणाभावे स न सद्धेतुः।
तथा च 'मैत्रीतनयत्वमस्तु श्यामत्वं माऽस्तु' इत्यत्र श्यामत्वाभावे मैत्रीतनयत्वस्यासत्त्वापादने न खलु 'यदि श्यामत्वं
न स्यात्तर्हि मैत्रीतनयत्वमपि न स्यात्' इत्येवंभूतं किञ्चिद्विपक्षबाधकं वर्तते, यतः गर्भस्थे मैत्रीतनये मैत्रीतनयत्वस्य
सत्त्वेऽपि श्यामत्वस्य सन्दिग्धत्वादिति। ४. पूर्वोक्तमेव स्पष्टयति **विवादाध्यासितेत्यादिना**। ५. गौरेभ्यः।
६. विषयः साध्यम्, तच्चात्र श्यामत्वरूपम्, तस्य प्रत्यक्षादिना बाधाभावाद्। ७. यथा सहस्रे शतमायात्येव तथा
मैत्रीतनयत्वे पाञ्चरूप्यप्रदर्शिते त्रैरूप्यं प्रदर्शितमेवेति बोध्यम्। ८. अन्यथानुपपत्तिविशिष्टमेव पाञ्चरूप्यं हेतोर्लक्षण-
मित्यर्थः। ९. अन्यथानुपपत्तिरेवान्यनिरपेक्षा। १०. कारणमाह **तदभावे** इति, तथा च हेतोः स्वसाध्यगमकत्वे
अन्यथानुपपन्नत्वमेव प्रयोजकम्, न त्रैरूप्यं न च पाञ्चरूप्यमिति ध्येयम्। ११. कारिकेयं तत्त्वसंग्रहकृता
पात्रस्वामिकर्तृका निर्दिष्टा। सिद्धिविनिश्चयटीकाकृता तु भगवत्सीमन्धरस्वामिनः प्रदर्शिता। न्यायविनिश्चय-

---

1. द 'नियमः'। 2. द 'तत्र तावत्त्व' पाठः। 3. मु 'सम्प्रतिपन्नेषु'। 4. आ मु 'सहस्रे शतन्यायेन'। 5. मु
'अन्यथानुपपत्त्युपलक्षणमिति' पाठः। 6. प 'सैवैकान्ताल्लक्षणमस्तु' पाठः। मु 'सैवैकान्तलक्षणमस्तु' इति पाठः।

§ ५३. यौगं[1] प्रति तु–

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पञ्चभिः॥ [प्रमाणपरी. पृ. ७२] इति।

[हेतुं विधिप्रतिषेधरूपाभ्यां द्विधा विभज्य तयोरवान्तरभेदानां कथनम्]

§ ५४. [1]सोऽयमन्यथानुपपत्तिनिश्चयैकलक्षणो हेतुः संक्षेपतो द्विविधः– [2]विधिरूपः, प्रतिषेधरूपश्चेति। विधिरूपोऽपि द्विविधः– विधिसाधकः प्रतिषेधसाधकश्चेति। तत्राद्यो[3]ऽनेकधा। तद्यथा– कश्चित्कार्यरूपः, यथा– 'पर्वतोऽयमग्निमान् धूमवत्त्वान्यथानुपपत्तेः' इत्यत्र धूमः। धूमो ह्यग्नेः कार्यभूतस्तदभावे[4]ऽनुपपद्यमानो[5]ऽग्निं गमयति। कश्चित्कारणरूपः, यथा– 'वृष्टिर्भविष्यति [6]विशिष्टमेघान्यथानुपपत्तेः' इत्यत्र मेघविशेषः। मेघविशेषो हि वर्षस्य कारणं स्वकार्यभूतं वर्षं गमयति।

§ ५५. [7]ननु कार्यं कारणानुमापकमस्तु, कारणाभावे कार्यस्यानुपपत्तेः। कारणं तु कार्या-

---

त्रिवरणे आराधनाकथाकोशे च भगवत्सीमन्धरस्वामिसकाशादानीय पद्मावतीदेव्या पात्रस्वामिने समर्पितेति समुल्लिखितम्। समुद्धृता च निम्नग्रन्थेषु–

तत्त्वसं. पृ. ४०६, न्यायविनि. का. ३२३, सिद्धिविनि. टी. २, पृ. ३७२, धवला पु. १३, पृ. २४६, तत्त्वार्थश्लो. पृ. २०३, २०५। प्रमाणप. पृ. ७२, जैनतर्कवार्तिक पृ. १३५, सूत्रकृताङ्गटी. पृ. २२५, प्रमाणमी. पृ. ४०, सन्मतिटी. पृ. ५६०, स्या. रत्ना. पृ. ५२१, इत्थं चेयं कारिका जैनपरम्परायां सर्वत्र प्रतिष्ठिता।

१. हेतुलक्षणं विस्तरतः प्रदर्श्याधुना तत्प्रकारनिरूपणार्थमाह सोऽयमिति। २. सद्भावात्मकः। ३. विधिसाधकः। ४. अग्न्यभावे। ५. अनुपपन्नः। ६. यथा चोक्तम्–

'गम्भीरगर्जितारम्भनिर्भिन्नगिरिगह्वराः।
त्वङ्गत्तडिल्लतासङ्गपिसङ्गोत्तुङ्गविग्रहाः॥' –न्यायम. पृ. १२९।
'रोलम्बगवलव्यालतमालमलिनत्विषः (तमसन्निभाः)।
वृष्टिं व्यभिचरन्तीह नैवंप्रायाः पयोमुचः॥ षड्दर्श. २०।

ईदृशाः खलु विशिष्टमेघा वृष्टिं गमयन्त्येवेति भावः।

७. सौगतः शङ्कते नन्विति, तेषामयमाशयः– नावश्यं कारणानि कार्यवन्ति भवन्तीति नियमः, अतश्च कारणं न कार्यस्य गमकं व्यभिचारात्, कार्यं तु कारणसत्त्वे एव भवति तदभावे च न भवति, अतस्तत्तु गमकमिष्टम्; तत्र युक्तम् 'यथैव हि किञ्चित् कारणमुद्दिश्य किञ्चित्कार्यम्, तथैव किञ्चित् कार्यमुद्दिश्य किञ्चित् कारणम्। यद्वदेवाजनकं प्रति न कार्यत्वम्, तद्वदेवाजन्यं प्रति न कारणत्वमिति नानयोः कश्चिद्विशेषः। अपि च रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छता न्यायवादिनेष्टमेव कारणस्य हेतुत्वम्। यदाह–

एकसामग्र्यधीनस्य रूपादे रसतो गतिः।
हेतुधर्मानुमानेन धूमेन्धनविकारवत्॥ (प्रमाणवा. १-१०)

न च वयमपि यस्य कस्यचित् कारणस्य हेतुत्वं ब्रूमः। अपि तु यस्य न मन्त्रादिना शक्तिप्रतिबन्धो न वा कारणान्तरवैकल्यम्।' प्रमाणमी. १-२-१२। 'रसादेकसामग्र्यनुमानेन रूपानुमानमिच्छद्भिरिष्टमेव किंचित् कारणं

---

1. मुद्रितप्रतिषु 'यौगान्' इति पाठः।

भावेऽपि सम्भवति, यथा-धूमाभावेऽपि सम्भवन् वह्निः सुप्रतीतः। अत एव वह्निर्न धूमं गमयतीति चेत्; तन्न; उन्मीलितशक्तिकस्य[1] कारणस्य कार्याव्यभिचारित्वेन कार्यं प्रति हेतुत्वाविरोधात्।

§ ५६. कश्चिद्विशेषरूपः[2], यथा-वृक्षोऽयं शिंशपात्वान्यथानुपपत्तेरित्यत्र [शिंशपा]। शिंशपा हि वृक्षविशेषः सामान्यभूतं वृक्षं गमयति। न हि वृक्षाभावे वृक्षविशेषो घटत इति। कश्चित्पूर्वचरः, यथा-उदेष्यति शकटं कृत्तिकोदयान्यथानुपपत्तेरित्यत्र कृत्तिकोदयः 1। कृत्तिकोदयानन्तरं मुहूर्तान्ते नियमेन शकटोदयो जायत इति कृत्तिकोदयः पूर्वचरो हेतुः शकटोदयं गमयति। कश्चिदुत्तरचरः, यथा-उदगाद्भरणिः प्राक्, कृत्तिकोदयादित्यत्र कृत्तिकोदयः। कृत्तिकोदयो हि भरण्युदयोत्तरचरस्तं गमयति। कश्चित्सहचरः, यथा-मातुलिङ्गं रूपवद्भवितुमर्हति रसवत्त्वान्यथानुपपत्तेरित्यत्र रसः। रसो हि नियमेन रूपसहचरितस्तदभावेऽनुपपद्यमानस्तद् गमयति।

§ ५७. एतेषूदाहरणेषु भावरूपानेवाग्न्यादीन् साधयन्तो धूमादयो हेतवो भावरूपा एवेति विधिसाधक-विधिरूपः[3]। एत 2 एवा[4]विरुद्धोपलब्धय इत्युच्यन्ते। एवं विधिरूपस्य हेतोर्विधिसाधकाख्य आद्यो भेद उदाहृतः।

§ ५८. द्वितीयस्तु निषेधसाधकाख्यः, विरुद्धोपलब्धिरिति तस्यैव नामान्तरम्। स यथा-नास्य मिथ्यात्वम्, आस्तिक्यान्यथानुपपत्तेरित्यत्रास्तिक्यम्। आस्तिक्यं हि सर्वज्ञवीतरागप्रणीतजीवादितत्त्वार्थरुचिलक्षणम्। तन्मिथ्यात्ववतो न सम्भवतीति मिथ्यात्वाभावं साधयति। यथा वा, नास्ति वस्तुनि सर्वथैकान्तः, अनेकान्तात्मकत्वान्यथानुपपत्तेरित्यत्रानेकान्तात्मकत्वम् 3। अनेकान्तात्मकत्वं हि वस्तुन्यबाधितप्रतीतिविषयत्वेन प्रतिभासमानं सौगतादिपरिकल्पितसर्वथैकान्ताभावं साधयत्येव।

§ ५९. [5]ननु किमिदमनेकान्तात्मकत्वं यद्बलाद्वस्तुनि सर्वथैकान्ताभावः साध्यते इति चेत्; उच्यते; सर्वस्मिन्नपि जीवादिवस्तुनि भावाभावरूपत्वमेकानेकरूपत्वं नित्यानित्यरूपत्वमित्येवमादिकमनेकान्तात्मकत्वम्। एवं विधिरूपो [6]हेतुर्दर्शितः[7]।

हेतुर्यत्र सामर्थ्याप्रतिबन्ध-कारणान्तरावैकल्ये।' – परीक्षामु. ३-६०। किञ्च, अस्त्यत्र छाया छत्रादित्यादौ छत्रादेर्विशिष्टकारणस्य छायादिकार्यानुमापकत्वेन हेतुत्वमवश्यं स्वीकार्यमस्ति। ततो न कारणहेतोरपह्नवः कर्तुं शक्य इति भावः।

१. प्रकटितसामर्थ्यस्य। २. विशेषो व्याप्यः। ३. साध्यं साधनं चोभयमपि सद्भावात्मकम्। अत एवोल्लिखिता हेतवो विधिसाधक-विधिरूपा इति कथ्यते। ४. अविरुद्धेन साध्येन सहोपलभ्यन्त इत्यविरुद्धोपलब्धयः। ५. एकान्तवादी शङ्कते नन्विति। ६. हेतोर्मूलभेदयोर्विधि-प्रतिषेधरूपयोर्विधिरूपः प्रथमभेदः। ७. व्याख्यातः।

---

1. द 'कृत्तिकोदयः' नास्ति। 2. द प 'अत' पाठान्तरम्। 3. द 'हेतुः' इत्यधिको पाठः।

§ ६०. [1]प्रतिषेधरूपोऽपि[1] हेतुर्द्विविधः—[2]विधिसाधकः [3]प्रतिषेधसाधकश्चेति। तत्राद्यो यथा, अस्त्यत्र प्राणिनि सम्यक्त्वं [4]विपरीताभिनिवेशाभावात्। अत्र विपरीताभिनिवेशाभावः प्रतिषेधरूपः सम्यक्त्वसद्भावं साधयतीति प्रतिषेधरूपो विधिसाधको हेतुः।

§ ६१. [5]द्वितीयो यथा, नास्त्यत्र[6] धूमोऽग्न्यनुपलब्धेरित्यत्राग्न्यभावः प्रतिषेधरूपो धूमाभावं प्रतिषेधरूपमेव साधयतीति प्रतिषेधरूपः प्रतिषेधसाधको हेतुः। तदेवं विधिप्रतिषेधरूपतया द्विविधस्य हेतोः [7]कतिचिदवान्तरभेदा उदाहृताः[8]। विस्तरतस्तु परीक्षामुखतः[9] प्रतिपत्तव्याः2। इत्थमुक्तलक्षणा[10] एव3 हेतवः साध्यं गमयन्ति। [11]नान्ये, हेत्वाभासत्वात्।

[हेत्वाभासानां चातुर्विध्यमुक्त्वा तेषां निरूपणम्]

§ ६२. [12]के ते हेत्वाभासाः इति चेत्; उच्यते; हेतुलक्षणरहिता हेतुवदवभासमाना हेत्वाभासाः[13]। ते चतुर्विधाः — असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्करभेदात्[14]। [15]तत्रानिश्चयपथप्राप्तोऽसिद्धः। अनिश्चयपथप्राप्तिश्च हेतोः स्वरूपाभावनिश्चयात् स्वरूपसन्देहाच्च। स्वरूपाभावनिश्चये स्वरूपासिद्धः, स्वरूपसन्देहे सन्दिग्धासिद्धः। तत्राद्यो यथा-परिणामी शब्दः चाक्षुषत्वादिति[16]। शब्दस्य हि श्रावणत्वाच्चाक्षुषत्वाभावो निश्चित इति स्वरूपासिद्धश्चाक्षुषत्वहेतुः। द्वितीयो यथा, धूमबाष्पादिविवेकानिश्चये कश्चिदाह— 'अग्निमानयं प्रदेशो धूमवत्त्वात्'[17] इति। अत्र हि धूमवत्त्वं हेतुः सन्दिग्धासिद्धः, तत्स्वरूपे सन्देहात्।

---

१. हेतोर्द्वितीयभेदं प्रदर्शयति प्रतिषेधेति। २. विधिं सद्भावं साधयतीति विधिसाधकः। ३. प्रतिषेधमभावं साधयतीति प्रतिषेधसाधकः। ४. सम्यक्त्वस्य विपरीतं मिथ्यात्वं तस्याभिनिवेशो मिथ्यैकान्ताग्रहस्तदसत्त्वात्। मिथ्यात्वाभिनिवेशाभावो हि नियमेन जीवे सम्यक्त्वास्तित्वं साधयति, इति भावः। ५. प्रतिषेधसाधको हेतुः। ६. अस्मिन्प्रदेशे। ७. कतिपयाः प्रभेदाः। ८. उदाहरणद्वारा प्रदर्शिताः। ९. अत्र परीक्षामुखस्य ३-५९ सूत्रमारभ्य ३-९२ पर्यन्तसूत्राणि द्रष्टव्यानि। १०. अन्यथानुपपन्नत्वविशिष्टाः। ११. अन्यथानुपपत्तिविरहिताः। १२. हेत्वाभासान् प्रदर्शयति के ते, इति। १३. तदुक्तं श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवैः—

अन्यथानुपपन्नत्वरहिता ये विडम्बिताः।
हेतुत्वेन परैस्तेषां हेत्वाभासत्वमीक्ष्यते॥

न्यायवि. का. ३४३।

१४. तथा चोक्तम्—'हेत्वाभासा असिद्धविरुद्धानैकान्तिकाकिञ्चित्कराः।' परीक्षा. ६-२१। एतेषां संक्षेपलक्षणानि—

स विरुद्धोऽन्यथाभावादसिद्धः सर्वथाऽत्ययात्॥
व्यभिचारी विपक्षेऽपि सिद्धेऽकिञ्चित्करोऽखिलः।

प्रमाणसं. का. ४८, ४९

१५. हेत्वाभासानां चतुर्भेदेषु प्रथमोद्दिष्टमसिद्धं लक्षयति तत्रेति। १६. यदुक्तं श्रीमाणिक्यनन्दिभिः — 'अविद्यमानसत्ताकः (स्वरूपासिद्धः) परिणामी शब्दश्चाक्षुषत्वात्।' —परीक्षा. ६-२३। ननु कुतोऽस्य चाक्षुषत्वहेतोरसिद्धत्वमिति चेत्तदप्याह 'स्वरूपेणासत्त्वात्' —परीक्षा. ६-२४ इति। १७. उक्तञ्च परीक्षामुखकृता— 'अविद्यमाननिश्चयो (सन्दिग्धासिद्धः)मुग्धबुद्धिं प्रत्यग्निरत्र धूमात्' इति। 'तस्य बाष्पादिभावेन भूतसङ्घाते सन्देहात्' —परीक्षा. ६-२६।

---

1. म 'प्रतिषेधरूपः'। 2. द प्रतौ 'प्रतिज्ञातव्याः' इति पाठः। 3. म प आ मु प्रतिषु 'एव' पाठो नास्ति।

§ ६३. [१]साध्यविपरीतव्याप्तो हेतु[1]र्विरुद्धः। यथाऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वादिति[२]। कृतकत्वं ह्यपरिणामित्वविरोधिना परिणामित्वेन व्याप्तम्।

§ ६४. पक्षसपक्षविपक्षवृत्तिरनैकान्तिकः[३]। स द्विविधः – निश्चितविपक्षवृत्तिकः शङ्कितविपक्षवृत्तिकश्च। तत्राद्यो यथा, धूमवानयं प्रदेशोऽग्निमत्त्वादिति। अत्राग्निमत्त्वं पक्षीकृते सन्दिह्यमानधूमे पुरोवर्तिनि प्रदेशे वर्तते, सपक्षे धूमवति महानसे च[2] वर्तते, विपक्षे धूमरहितत्वेन निश्चितेऽङ्गारावस्थापन्नाग्निमति प्रदेशे वर्तते इति निश्चयान्निश्चितविपक्षवृत्तिकः[४]। द्वितीयो यथा, गर्भस्थो मैत्रीतनयः श्यामो भवितुमर्हति मैत्रीतनयत्वादितरतत्तनयवदिति। अत्र मैत्रीतनयत्वं हेतुः पक्षीकृते गर्भस्थे वर्तते, सपक्षे इतरतत्पुत्रे वर्तते, विपक्षे अश्यामे वर्तेतापीति[3] शङ्काया अनिवृत्तेः शङ्कितविपक्षवृत्तिकः। अपरमपि शङ्कितविपक्षवृत्तिकस्योदाहरणम्–अर्हन् सर्वज्ञो न भवितुमर्हति[4]वक्तृत्वात् रथ्यापुरुषवदिति। वक्तृत्वस्य हि हेतोः पक्षीकृते अर्हति, सपक्षे रथ्यापुरुषे यथा वृत्तिरस्ति तथा विपक्षे सर्वज्ञेऽपि वृत्तिः सम्भाव्येत[5], वक्तृत्वज्ञातृत्वयोरविरोधात्। यद्धि येन सह विरोधि तत्खलु तद्वति न वर्तते। न च वचन-ज्ञानयोर्लोके विरोधोऽस्ति, प्रत्युत ज्ञानवत एव वचनसौष्ठवं स्पष्टं दृष्टम्। ततो ज्ञानोत्कर्षवति सर्वज्ञे वचनोत्कर्षे काऽनुपपत्तिरिति?

§ ६५. [५]अप्रयोजको[6] हेतुरकिञ्चित्करः। स द्विविधः – सिद्धसाधनो बाधितविषयश्चेति। तत्राद्यो यथा, शब्दः श्रावणो भवितुमर्हति शब्दत्वादिति। अत्र श्रावणत्वस्य साध्यस्य शब्दनिष्ठत्वेन सिद्धत्वाद्धेतुरकिंचित्करः। बाधितविषयस्त्वनेकधा। कश्चित्प्रत्यक्षबाधितविषयः, यथा– अनुष्णोऽग्निर्द्रव्यत्वादिति। अत्र द्रव्यत्वं हेतुस्तस्य विषयत्वेनाभिमतमनुष्णत्वमुष्णत्वग्राहकेण स्पार्शनप्रत्यक्षेण[7] बाधितम्। ततः किञ्चिदपि कर्तुमशक्यत्वादकिंचित्करो द्रव्यत्वहेतुः। कश्चित्पुनरनुमानबाधितविषयः, यथा–अपरिणामी शब्दः कृतकत्वादिति। अत्र

---

१. 'साध्याभावव्याप्तो हेतुर्विरुद्धः। यथा- शब्दो नित्यः कृतकत्वादिति। कृतकत्वं हि नित्यत्वाभावेनाऽनित्यत्वेन व्याप्तम्' –**तर्कसं.** पृ. ११२। 'विपरीतनिश्चिताविनाभावो विरुद्धोऽपरिणामी शब्दः कृतकत्वात्' –**परीक्षा.** ६-२९। २. यः स्वोत्पत्तौ परव्यापारमपेक्षते स कृतक उच्यते। शब्दोऽपि ताल्वादिपरिस्पन्दव्यापारमपेक्ष्य जन्यते। अतस्तस्य कृतकत्वं सुव्यक्तमेव। यच्च कृतकं तत्परिणामि दृष्टं यथा घटपटादि। तथा चात्र कृतकत्वं साध्यभूतापरिणामित्वविपरीतेन परिणामित्वेन सह व्याप्तत्वाद्विरुद्धमिति भावः। ३. 'विपक्षेऽप्यविरुद्धवृत्तिरनैकान्तिकः' – **परीक्षा.** ६-३०। ४. उदाहरणान्तरम्– 'निश्चितवृत्तिरनित्यः शब्दः प्रमेयत्वात् घटवत्' –**परीक्षा.** ६-३१। 'आकाशे नित्येऽप्यस्य निश्चयात्' – **परीक्षा** ६-३२। ५. ननु किं नामाप्रयोजकत्वमिति चेत्, अन्यथासिद्धत्वमप्रयोजकत्वम्, साध्यसिद्धिं प्रत्यसमर्थत्वमित्यर्थः।

---

1. प म मु 'हेतुः' नास्ति। 2. द 'च' नास्ति। 3. म प मु प्रतिषु 'वर्तते नापीति' पाठः। 4. प म मु 'न भवति'। 5. म मु 'सम्भाव्यते' प 'सम्भाव्येति' पाठः। 6. द म 'अथाप्रयोजको'। 7. द प 'स्पर्शनेन प्रत्यक्षेण'।

परिणामी शब्दः प्रमेयत्वादित्यनुमानेन बाधितविषयत्वम्। कश्चिदागमबाधितविषयः, यथा-प्रेत्यासुखप्रदो धर्मः पुरुषाश्रितत्वादधर्मवदिति। अत्र धर्मः सुखप्रद इत्यागमस्तेन बाधितविषयत्वं हेतोः। कश्चित्स्ववचनबाधितविषयः, यथा-मे माता वन्ध्या पुरुषसंयोगेऽप्यगर्भत्वात्प्रसिद्धवन्ध्यावत्। एवमादयो[1]ऽप्यकिञ्चित्करविशेषाः स्वयमूह्याः[2]। तदेवं हेतुप्रसङ्गाद्धेत्वाभासा[3]अवभासिताः।

[उदाहरणस्य निरूपणम्]

§ ६६. ननु व्युत्पन्नं प्रति यद्यपि प्रतिज्ञाहेतुभ्यामेव पर्याप्तं तथापि बालबोधार्थ[1]मुदाहरणादिकमप्यभ्युपगत[2]माचार्यैः[4]। उदाहरणं च सम्यग्दृष्टान्तवचनम्[5]। कोऽयं दृष्टान्तो नाम इति चेत्; उच्यते; व्याप्तिसम्प्रतिपत्तिप्रदेशो दृष्टान्तः[6]। व्याप्तिर्हि साध्ये वह्न्यादौ सत्येव साधनं धूमादिरस्ति, असति तु नास्तीति साध्यसाधननियतसाहचर्य[3]लक्षणा। एतामेव[4] साध्यं विना साधनस्याभावादविनाभावमिति च व्यपदिशन्ति। तस्याः सम्प्रतिपत्तिर्नाम वादिप्रतिवादिनोर्बुद्धिसाम्यम्[7], सैषा यत्र सम्भवति स सम्प्रतिपत्तिप्रदेशो महानसादिर्ह्रदादिश्च। तत्रैव धूमादौ सति नियमेनाऽग्न्यादिरस्ति, अग्न्याद्यभावे नियमेन धूमादिर्नास्तीति सम्प्रतिपत्तिसम्भवात्। तत्र महानसादिरन्वयदृष्टान्तः[8]। अत्र साध्यसाधनयोर्भावरूपान्वयसम्प्रतिपत्तिसम्भवात्। ह्रदा-

१. एतत्सर्वमभिप्रेत्य सूत्रमाहुः- 'सिद्धे प्रत्यक्षादिबाधिते च साध्ये हेतुरकिञ्चित्करः'- परीक्षा. ६-३५। २. चिन्तनीयाः। ३. प्रकाशिता निरूपिता इत्यर्थः। ४. तथा हि- 'प्रतिपाद्यानुरोधेन प्रयोगोपगमात्। यथैव हि कस्यचित्प्रतिबोध्यस्यानुरोधेन साधनवाक्ये सन्धाऽभिधीयते (तथा) दृष्टान्तादिकमपि- पत्रपरी. पृ. ३। कुमारनन्दिभट्टारकैरप्युक्तम्-

प्रतिपाद्यानुरोधेन प्रयोगेषु पुनर्यथा।
प्रतिज्ञा प्रोच्यते तज्ज्ञैस्तथोदाहरणादिकम्॥ पत्रपरी. पृ. ३ उद्धृतम्।

श्रीमाणिक्यनन्द्यप्याह- 'बालव्युत्पत्त्यर्थं तत्त्रयोपगमे शास्त्र एवासौ, न वादेऽनुपयोगात्।' परीक्षा. ३-४६। श्रीयशोविजयसूरिणाऽप्युक्तम्- 'मन्दमतींस्तु व्युत्पादयितुं दृष्टान्तादिप्रयोगोऽप्युपयुज्यते'- जैनतर्कभाषा पृ. १६.
५. 'सम्यग्दृष्टान्ताभिधानमुदाहरणम्'- न्यायसार पृ. १२। 'दृष्टान्तवचनमुदाहरणम्'- न्यायकलिका पृ. ११।
६. यथा चोक्तम्-

सम्बन्धो यत्र निर्ज्ञातः साध्यसाधनधर्मयोः।
स दृष्टान्तः तदाभासाः साध्यादिविकलादयः॥ -न्यायविनि. का. ३८०।

७. 'लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः'- न्यायसू. १-१-२५। 'तत्र दृष्टान्तो नाम यत्र मूर्खविदुषां बुद्धिसाम्यं'- चरकसं. पृ. २६३। 'दृष्टान्तवचनं हि यत्र पृथग्जनानामार्याणां च बुद्धिसाम्यं तदा वक्तव्यम्। दृष्टान्तो द्विविधः- सम्पूर्णदृष्टान्त आंशिकदृष्टान्तश्च'- उपायहृदय पृ. ५। ८. 'दृष्टान्तो द्वेधा, अन्वयव्यतिरेकभेदात्' 'साध्यव्याप्तं साधनं यत्र प्रदर्श्यते सोऽन्वयदृष्टान्तः'- परीक्षा. ३-४७, ४८। 'दृष्टान्तो द्विविधः साधर्म्येण वैधर्म्येण च। तत्र साधर्म्येण तावत्, यत्र हेतोः सपक्ष एवास्तित्वं ख्याप्यते। तद्यथा—यत्कृतकं तदनित्यं

1. द 'बोधनार्थं'। 2. म 'मभ्युपगन्तव्य', मु 'मभ्युपगत'। 3. म मु 'नियतता साहचर्य'। 4. प म मु 'एतामेव'।

दिस्तु व्यतिरेकदृष्टान्तः[1], अत्र साध्यसाधनयोरभावरूपव्यतिरेकसम्प्रतिपत्तिसम्भवात्। दृष्टान्तौ चैतौ, दृष्टावन्तौ धर्मौ साध्यसाधनरूपौ यत्र स दृष्टान्त इत्यर्थानुवृत्तेः।

§ ६७. उक्तलक्षणस्य दृष्टान्तस्य यत्सम्यग्वचनं तदुदाहरणम्। न च वचनमात्रमयं दृष्टान्त इति। किन्तु दृष्टान्तत्वेन वचनम्। तद्यथा-यो यो धूमवानसावसावग्निमान्, यथा महानस इति। यत्राग्निर्नास्ति तत्र धूमोऽपि नास्ति, यथा महाह्रद इति च। एवंविधेनैव वचनेन दृष्टान्तस्य दृष्टान्तत्वेन प्रतिपादनसम्भवात्।

[उदाहरणप्रसङ्गादुदाहरणाभासस्य कथनम्]

§ ६८. उदाहरणलक्षणरहित उदाहरणवदवभासमान उदाहरणाभासः। उदाहरणलक्षणराहित्यं। द्वेधा सम्भवति, दृष्टान्तस्यासम्यग्वचनेनादृष्टान्तस्य सम्यग्वचनेन वा। तत्राद्यं यथा, यो योऽग्निमान्2 स स धूमवान्, यथा महानस इति3, यत्र यत्र धूमो नास्ति तत्र तत्राऽग्निर्नास्ति, यथा महाह्रद इति च व्याप्यव्यापकयोर्वैपरीत्येन कथनम्।

§ ६९. ननु किमिदं व्याप्यं व्यापकं नाम इति चेत्; उच्यते; साहचर्यनियमरूपां[2] व्याप्तिक्रियां प्रति यत्कर्म तद्व्याप्यम्, विपूर्वादापेः कर्मणि ण्यद्विधानाद्व्याप्यमिति सिद्धत्वात्। तत्तु व्याप्यं धूमादि। एतामेव4 व्याप्तिक्रियां प्रति यत्कर्तृ तद्व्यापकम्, व्यापेः कर्तरि ण्वुलि5 सति व्यापकमिति सिद्धेः[3]। एवं सति धूममग्निर्व्याप्नोति, यत्र धूमो वर्तते तत्र नियमेनाग्निर्वर्तते

दृष्टम्, यथा घटादिरिति।'- न्यायप्र. पृ. १,२। यत्र प्रयोज्यप्रयोजकभावेन साध्यसाधनधर्मयोरस्तित्वं ख्याप्यते स साधर्म्यदृष्टान्तः।'- न्यायकलिका पृ. ११।

१. 'साध्याभावे साधनाभावो यत्र कथ्यते स व्यतिरेकदृष्टान्तः'- परीक्षा. ३-४९। 'यत्र साध्याभावप्रयुक्तो हेत्वभावः ख्याप्यते स वैधर्म्यदृष्टान्तः'- न्यायकलिका पृ. ११। ''वैधर्म्येणाऽपि, यत्र साध्याभावे हेतोरभाव एव कथ्यते। तद्यथा-यन्नित्यं तदकृतकं दृष्टम्, यथाऽऽकाशमिति।'- न्यायप्र. पृ. २। २. 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्तिः'- तर्कसं. पृ. ९१। ३. अत्रेदं बोध्यम्- साहचर्यनियमरूपां व्याप्तिमाश्रित्य व्याप्यव्यापकयोर्व्युत्पत्तिमुखेन लक्षणं प्रदर्शयता ग्रन्थकृता व्याप्तेरुभयधर्मत्वं प्रकटितम्। प्रमाणमीमांसाकृताऽपि तथैवोक्तम्- 'व्याप्तिः' इति यो व्याप्नोति यश्च व्याप्यते तयोरुभयोर्धर्मः। तत्र यदा व्यापकधर्मतया विवक्ष्यते तदा व्यापकस्य गम्यस्य व्याप्ये धर्मे सति, यत्र धर्मिणि व्याप्यमस्ति तत्र सर्वत्र भाव एव व्यापकस्य स्वगतो धर्मो व्याप्तिः। ततश्च व्याप्यभावापेक्षा व्याप्यस्यैव व्याप्तताप्रतीतिः। ... यदा तु व्याप्यधर्मतया व्याप्तिर्विवक्ष्यते तदा व्याप्यस्य वा गमकस्य तत्रैव व्यापके गम्ये सति यत्र धर्मिणि व्यापकोऽस्ति तत्रैव भावः, न तदभावेऽपि व्याप्तिरिति।'- प्रमाणमी. पृ. ३८। इत्थं च व्याप्तेर्व्याप्यव्यापकोभयधर्मत्वेऽपि व्याप्यस्यैव धूमादेर्गमकत्वम्, व्यापकस्यैव च वह्न्यादेर्गम्यत्वम्, विशिष्टव्याप्तिसद्भावात्। व्याप्यस्य व्यापकेनैव सहोपलब्धेः, व्यापकस्य तु व्याप्याभावेऽप्युपलब्धेरिति भावः। इदं च बौद्धविदुषाऽर्चटेनापि हेतुबिन्दुटीकायां निरूपितम्। व्याप्यव्यापकमधिकृत्यात्र श्लोकः -

> व्यापकं तदतन्निष्ठं व्याप्यं तन्निष्ठमेव च।
> साध्यं व्यापकमित्याहुः साधनं व्याप्यमुच्यते॥' प्रमाणमी. टि. पृ. ३७।

1. म मु 'च' अधिकः। 2. आ म मु प 'वह्निमान्'। अग्रेतनव्याप्तिस्थाग्निशब्दप्रयोगापेक्षया द प्रतौव 'अग्निमान्' पाठो मूले निक्षिप्तः। 3. द 'इत्यादि'। 4. म मु प 'एतामेव'। 5. मु 'ण्वौ', द 'ण्वुणि'।

इति, यावत्सर्वत्र धूमवति नियमेनाग्निदर्शनात्। धूमस्तु न तथाऽग्निं व्याप्नोति, तस्याङ्गारावस्थस्य धूमं विनापि वर्तनात्[1]। यत्राग्निर्वर्तते तत्र नियमेन धूमो[2] वर्तते इत्यसम्भवात्।

§ ७०. [१]नन्वार्द्रेन्धनमग्निं व्याप्नोत्येव धूम इति चेत्; [२]ओमिति ब्रूमहे। यत्र यत्राविच्छिन्नमूलो[3] धूमस्तत्र तत्राग्निरिति यथा, तथैव[4] यत्र यत्राऽऽर्द्रेन्धनोऽग्निः तत्र तत्र धूम इत्यपि सम्भवात्। वह्निमात्रस्य[३] तु धूमविशेषं प्रति व्यापकत्वमेव[४], अनुमानस्य तावन्मात्रा[5]-पेक्षत्वात्[५]। ततो यो यो धूमवानसावसावग्निमान्, यथा महानस इत्येवं सम्यग्दृष्टान्तवचनं वक्तव्यम्। विपरीतवचनं तु दृष्टान्ताभास एवेत्ययमसम्यग्वचनरूपो[६]ऽन्वयदृष्टान्ताभासः। व्यतिरेकव्याप्तौ तु व्यापकस्याग्नेरभावो व्याप्यः, व्याप्यस्य धूमस्याभावो व्यापकः। तथा सति यत्र यत्राऽग्न्यभावस्तत्र तत्र धूमाभावो यथा ह्रद इत्येवं वक्तव्यम्। विपरीतकथनं तु, असम्यग्वचनत्वादुदाहरणाभास एव। [७]अदृष्टान्तवचनं[6] तु, अन्वयव्याप्तौ व्यतिरेकदृष्टान्तवचनम्, व्यतिरेकव्याप्तावन्वयदृष्टान्तवचनं च, उदाहरणाभासौ। स्पष्टमुदाहरणम्[८]।

§ ७१. ननु गर्भस्थो मैत्रीतनयः[7] श्यामः, मैत्रीतनयत्वात्, साम्प्रत[8]मैत्रीतनयवत् इत्याद्यनुमानप्रयोगे पञ्चसु मैत्रीतनयेष्वन्वयदृष्टान्तेषु 'यत्र यत्र मैत्रीतनयत्वं तत्र तत्र श्यामत्वम्' इत्यन्वयव्याप्तेः, व्यतिरेकदृष्टान्तेषु गौरेष्वमैत्रीतनयेषु सर्वत्र 'यत्र यत्र श्यामत्वं नास्ति तत्र तत्र मैत्रीतनयत्वं नास्ति' इति व्यतिरेकव्याप्तेश्च सम्भवान्निश्चितसाधने गर्भस्थमैत्रीतनये पक्षे साध्यभूतश्यामत्वसन्देहस्य[९] गुणत्वात्[9] सम्यगनुमानं प्रसज्येदिति चेत्; न; दृष्टान्तस्य विचारा-

१. अथ नायं नियमः यत् 'अग्निरेव धूमं व्याप्नोति, न धूमोऽग्निम्' इति, धूमस्याऽप्याऽऽर्द्रेन्धनाग्निव्यापकत्वदर्शनात् 'यत्राऽऽर्द्रेन्धनोऽग्निर्वर्तते तत्र नियमेन धूमो वर्तते' इति, यावत्सर्वत्राऽऽर्द्रेन्धनवति धूमोपलब्धेः, तथा चाग्नेरपि धूमवद्व्याप्यत्वम्, ततश्च तस्यापि गमकत्वं स्वीकार्यमित्याशयेन शङ्कते नन्विति। २. समाधत्ते ओमिति। आर्द्रेन्धनस्याग्नेर्धूमव्याप्यत्वेऽपि वह्निसामान्यस्य तु व्यापकत्वमेव। ततो नोक्तदोष इति भावः। ३. वह्निसामान्यस्य। ४. न व्याप्यत्वमित्यर्थः। ५. 'पर्वतो वह्निमान् धूमात्' इत्यनुमाने वह्निसामान्यस्यापेक्षणात्, न तु वह्निविशेषस्य। नातो कश्चिद्दोष इति भावः। ६. अन्वयदृष्टान्ताभासो द्विविधः- दृष्टान्तस्यासम्यग्वचनमदृष्टान्तस्य सम्यग्वचनं च, तत्रायमाद्यः। ७. अन्वयदृष्टान्ताभासस्य (उदाहरणाभासस्य) द्वितीयभेदमदृष्टान्तस्य सम्यग्वचनाख्यं दर्शयति अदृष्टान्तेति। ८. अनयोरुदाहरणाभासयोरुदाहरणं स्पष्टमेवेत्यर्थः। ९. अतो गर्भस्थे श्यामत्वस्य सन्देहो गौणः, स च न मैत्रीतनयत्वहेतोः समीचीनत्वे बाधकः। तथा च तत्समीचीनमेवानुमानमिति शङ्कितुर्भावः।

1. आ 'वर्तमानात्' म मु 'वर्तमानत्वात्'। 2. आ म मु 'तत्र धूमोऽपि नियमेन'। 3. द 'यत्र यत्रानवच्छिन्नमूलो'। 4. द 'तथा'। 5. 'अनुमातुस्तावन्मात्रा' इति म मु पाठः। 6. मु 'अदृष्टान्तवचनं' नास्ति। तत्र त्रुटितोऽयं पाठः। 7. मु 'मैत्रीतनयः' नास्ति। 8. द प 'सम्मत' पाठः। 9. म 'गौणत्वा'।

न्तरबाधितत्वात्।

§ ७२. तथा हि-साध्यत्वेनाभिमतमिदं हि श्यामत्वरूपं[1] कार्यं सत् स्वसिद्धये कारणमपेक्षते। तच्च कारणं न तावन्मैत्रीतनयत्वम्, विनाऽपि तदिदं[१] पुरुषान्तरे[२] श्यामत्वदर्शनात्। न हि कुलालादिक[2]मन्तरेण सम्भविनः पटस्य कुलालादिकं कारणम्[३]। एवं[४] मैत्रीतनयत्वस्य श्यामत्वं प्रत्यकारणत्वे निश्चिते यत्र यत्र मैत्रीतनयत्वं न तत्र तत्र श्यामत्वम्, किन्तु यत्र यत्र श्यामत्वस्य कारणं विशिष्टनामकर्मानुगृहीतशाकाद्याहारपरिणामस्तत्र तत्र तस्य कार्यं श्यामत्वम्, इति सिद्धं [५]सामग्रीरूपस्य विशिष्टनामकर्मानुगृहीतशाकाद्याहारपरिणामस्य श्यामत्वं प्रति व्याप्यत्वम्। स[६] तु पक्षे[७] न निश्चीयत[८] इति सन्दिग्धासिद्धः। मैत्रीतनयत्वं तु[९] अकारणत्वादेव[3] श्यामत्वं कार्यं न गमयेदिति।

§ ७३. [१०]केचित्[4] "निरुपाधिकः सम्बन्धो व्याप्तिः[११]" [ ] इत्यभिधाय "साधनाव्यापकत्वे सति साध्यसमव्याप्तिरुपाधिः[१२]" [ ] इत्यभिदधते[5]। सोऽयमन्यो-

---

१. मैत्रीतनयत्वम्। २. मैत्रीपुत्रभिन्नपुरुषे। ३. ततो न मैत्रीतनयत्वमन्तरेण जायमानं श्यामत्वं प्रति मैत्रीतनयत्वं कारणमिति भावः। ४. इत्थं च। ५. श्यामत्वजनिका सामग्री, सा चात्र विशिष्टनामकर्मानुगृहीतशाकाद्याहारपरिणामः, तत्सत्त्वे एव श्यामत्वसत्त्वम्, तदभावे च तदभाव इति भावः। ६. विशिष्टनामकर्मानुगृहीतशाकाद्याहारपरिणामः। ७. गर्भस्थे मैत्रीतनये। ८. श्यामत्वसामग्र्यन्तर्गतविशिष्टनामकर्मादेरतीन्द्रियत्वान्निश्चयासम्भवात्। ९. मैत्रीतनयत्वस्य श्यामत्वं प्रति कारणत्वाभावादेव। १०. ननु नाकारणत्वान्मैत्रीतनयत्वं श्यामत्वं प्रत्यगमकम्, अपि तु व्याप्त्यभावात्। व्याप्तिर्हि निरुपाधिकः सम्बन्धः। स चात्र नास्त्येव, शाकपाकजत्वोपाधिसत्त्वेन मैत्रीतनयत्वस्य निरुपाधिकत्वासम्भवादिति केषाञ्चिदाशयं प्रदर्शयन्नाह **केचिदि**ति। केचित् **नैयायिकादय** इत्यर्थः। ११. 'ननु कोऽयं प्रतिबन्धो नाम? **अनौपाधिकः सम्बन्ध** इति ब्रूमः।'- **किरणावली** पृ. २९७। अनौपाधिकः सम्बन्धो व्याप्तिः। अनौपाधिकत्वं तु यावत्स्वव्यभिचारिव्यभिचारिसाध्यसामानाधिकरण्यम्, यावत्स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिप्रतियोगिकात्यन्ताभावसमानाधिकरणसाध्यसामानाधिकरण्यं वा। यावत्साधनाव्यापकाव्याप्यसाध्यसामानाधिकरण्यमिति निरुक्तिद्वयार्थः।'- **वैशेषिकसूत्रोपस्कार** पृ. ९२। १२. '**साधने सोपाधिः साध्ये निरुपाधिरेवोपाधित्वेन निश्चेयः।** × × × **उपाधिलक्षणं तु साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमित्युक्तमेव।**'- **किरणावली** पृ. ३००, ३०१। 'नन्वनौपाधिकत्वमुपाधिविरहः, उपाधिरेव दुष्परिकलनीय इति चेन्न; साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वस्योपाधित्वात्। तदुक्तम्-साधने सोपाधिः साध्ये निरुपाधिरुपाधिः।'- **वैशेषिकसूत्रोपस्कार** पृ. ९३। 'साध्यव्यापकत्वे सति साधनाऽव्यापकत्वमुपाधिः। साध्यसमानाधिकरणाऽत्यन्ताभावाऽप्रतियोगित्वं साध्यव्यापकत्वं। साधनवन्निष्ठाऽत्यन्ताभावप्रतियोगित्वं साधनाऽव्यापकत्वम्। यथा-'पर्वतो धूमवान् वह्निमत्त्वात्' इत्यत्राऽऽर्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः। तथा हि-'यत्र धूमस्तत्राऽऽर्द्रेन्धनसंयोगः' इति साध्यव्यापकत्वम् 'यत्र वह्निस्तत्राऽऽर्द्रेन्धनसंयोगो नास्ति' अयोगोलके आर्द्रेन्धनसंयोगाभावादिति साधनाऽव्यापकत्वम्। एवं साध्यव्यापकत्वे सति

---

1. द आ म मु 'श्यामरूपं'। 2. आ प म मु 'कुलालचक्रादिकमन्तरेणापि'। 3. म 'अकारणादेव'। 4. मु 'कश्चित्'। 5. मु 'अभिधत्ते'।

न्याश्रयः[१]। प्रपञ्चितमेतदुपाधिनिराकरणं कारुण्यकलिकायामिति विरम्यते।

[उपनयनिगमनयोस्तदाभासयोश्च लक्षणकथनम्]

§ ७४. साधनवत्तया पक्षस्य दृष्टान्तसाम्यकथनमुपनयः– तथा चायं धूमवानिति। साधनानुवादपुरस्सरं साध्यनियमवचनं निगमनम्– तस्मादग्निमानेवेति। अनयोर्व्यत्ययेन[२] कथनमनयोराभासः। [३]अवसित1मनुमानम्।

[परोक्षप्रमाणभेदस्यागमस्य निरूपणम्]

§ ७५. [४]अथागमो लक्ष्यते2। आप्तवाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः[५]। 3अत्रागम इति लक्ष्यम्। अवशिष्टं लक्षणम्। अर्थज्ञानमित्ये4तावत्युच्यमाने प्रत्यक्षादावतिव्याप्तिः, अत उक्तं वाक्यनिबन्धनमिति। वाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमित्युच्यमानेऽपि 5याहच्छिकसंवादिषु विप्रलम्भवाक्यजन्येषु सुप्तोन्मत्तादिवाक्यजन्येषु वा नदीतीरफलसंसर्गादिज्ञानेष्वतिव्याप्तिः, अत उक्तमाप्तेति[६]। आप्तवाक्यनिबन्धनज्ञानमित्युच्यमानेऽप्याप्तवाक्यकर्मके श्रावणप्रत्यक्षेऽतिव्याप्तिः, अत उक्तमर्थेति। अर्थस्तात्पर्यरूढः6 [प्रयोजनारूढ] इति यावत्[७]। अर्थ एव7 'तात्पर्यमेव वचसि' [ ] इत्यभियुक्तवचनात्। तत आप्तवाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमित्यु-

साधनाऽव्यापकत्वादार्द्रेन्धनसंयोग उपाधिः।'–तर्कसं. पृ. ११४। 'उपाधिश्चतुर्विधः– केवलसाध्यव्यापकः, पक्षधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकः, साधनावच्छिन्नसाध्यव्यापकः, उदासीनधर्मावच्छिन्नसाध्यव्यापकश्चेति। आद्यः– आर्द्रेन्धनसंयोगः। द्वितीयो यथा–'वायुः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षस्पर्शाश्रयत्वात्' इत्यत्र बहिर्द्रव्यत्वावच्छिन्नप्रत्यक्षत्वव्यापकमुद्भूतरूपवत्त्वम्। तृतीयो यथा–'प्रागभावो विनाशी जन्यत्वात्' इत्यत्र जन्यत्वावच्छिन्नानित्यत्वव्यापकं भावत्वम्। चतुर्थस्तु 'प्रागभावो विनाशी प्रमेयत्वात्' इत्यत्र जन्यत्वावच्छिन्नानित्यत्वव्यापकं भावत्वम्।' –तर्कदी. पृ. ११४-११६।

१. व्याप्तिलक्षणस्योपाधिगर्भत्वादुपाधिलक्षणस्य च व्याप्तिघटितत्वात्। तथा च व्याप्तिग्रहे सति उपाधिग्रहः स्यात् उपाधिग्रहे च सति व्याप्तिग्रहः स्यादित्येवमन्योन्याश्रयः। यथा चोक्तम्–नाप्यनौपाधिकः सम्बन्धः, उपाधेरेव दुर्वचत्वात्। सुवचत्वेऽपि दुर्ग्रहत्वात्, सुग्रहत्वेऽप्यन्योन्याश्रयात्। साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वादेर्व्याप्तिग्रहाधीनग्रहत्वात्'–वैशेषिकसूत्रोप. पृ. ९०। २. विपरीतक्रमेण, क्रमभङ्गेनेत्यर्थः। ३. निर्णीतम्। ४. विस्तरतोऽनुमानं प्ररूप्याधुना क्रमप्राप्तमागमं लक्षयति अथेति। ५. 'आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः'। परीक्षा –३-९९। आप्तस्य वाक्यं वचनं तन्निबन्धनं यस्यार्थज्ञानस्येत्याप्तवाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमिति। अत्र 'आप्तशब्दोपादानादपौरुषेयत्वव्यवच्छेदः। अर्थज्ञानमित्यनेनान्यापोहज्ञानस्याभिप्रायसूचनस्य च निरासः। –प्रमेयर. पृ. १२५। ६. आप्तो यथार्थवक्ता। ७. उक्तं च –'अर्थज्ञानमित्येतावत्युच्यमाने प्रत्यक्षादावतिव्याप्तिरत उक्तं वाक्यनिबन्धनमिति। वाक्यनिबन्धनमर्थज्ञानमित्युच्यमानेऽपि याहच्छिकसंवादिषु विप्रलम्भवाक्यजन्येषु सुप्तोन्मत्तादिवाक्यजन्येषु वा नदीतीरफलसंसर्गादिज्ञानेष्वतिव्याप्तिः, अत उक्तमाप्तेति। आप्तवाक्यनिबन्धनज्ञानमित्युच्यमानेऽप्याप्तवाक्यकर्मके (कारणे) श्रावणप्रत्यक्षेऽतिव्याप्तिरत उक्तमर्थेति। अर्थस्तात्पर्यरूढः, प्रयोजनारूढ इति यावत्। तात्पर्यमेव वचसीत्यभियुक्तवच-

1. मु 'इत्यवसित'। 2. द 'लिख्यते'। 3. द 'तत्रागम'। 4. म मु 'तावदुच्यमा'। 5. द 'याहच्छिसंवादिविप्रलम्भ'। 6. म मु प 'तात्पर्यरूप'। 7. मु 'अर्थ एव' नास्ति।

क्तमागमलक्षणं निर्दोषमेव। यथा – "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"। [तत्त्वार्थसू. १-१] इत्यादिवाक्यार्थज्ञानम्। सम्यग्दर्शनादीनि1 मोक्षस्य सकलकर्मक्षयस्य मार्ग उपायः, न तु मार्गाः। ततो भिन्नलक्षणानां दर्शनादीनां त्रयाणां समुदितानामेव मार्गत्वम्, न तु प्रत्येकमित्ययमर्थो मार्ग इत्येकवचनप्रयोगतात्पर्य2 सिद्धः। अयमेव वाक्यार्थः। अत्रैवार्थे प्रमाणसाध्या संशयादिनिवृत्तिः3 प्रमितिः।

[आप्तस्य लक्षणम्]

§ ७६. [1]कः पुनरयमाप्तः इति चेत्; उच्यते; आप्तः[2] प्रत्यक्षप्रमितसकलार्थत्वे सति परमहितोपदेशकः। प्रमितेत्यादावेवोच्यमाने श्रुतकेवलिष्वतिव्याप्तिः, तेषामागमप्रमितसकलार्थत्वात्[3]। अत उक्तं प्रत्यक्षेति। प्रत्यक्षप्रमितसकलार्थ इत्येतावत्युच्यमाने4 [4]सिद्धेष्वतिव्याप्तिः। अत उक्तं परमेत्यादि5। परमहितं6 निःश्रेयसम्, तदुपदेश एवार्हतः 7प्रामुख्येन प्रवृत्तिः। [5]अन्यत्र तु प्रश्नानुरोधादुपसर्जनत्वेनेति[6] भावः। नैवंविधः सिद्धपरमेष्ठी, तस्यानुपदेशकत्वात्। ततोऽनेन विशेषणेन तत्र नातिव्याप्तिः। आप्तसद्भावे प्रमाणमुपन्यस्तम्[7]। नैयायिकाद्यभिमतानामाप्ताभासानामसर्वज्ञत्वात्प्रत्यक्षप्रमितेत्यादिविशेषणेनैव निरासः[8]।

§ ७७. ननु नैयायिकाभिमत आप्तः कथं न सर्वज्ञः इति चेत्; उच्यते; तस्य [9]ज्ञानस्यास्वप्रकाशकत्वादेकत्वाच्च विशेषणभूतं स्वकीयं ज्ञानमेव न जानातीति तद्विशिष्टमात्मानं 'सर्वज्ञोऽहम्' इति कथं जानीयात्? एवमनात्मज्ञोऽयमसर्वज्ञ एव। प्रपञ्चितं च सुगतादीना-

नात् वचसां प्रयोजनस्य प्रतिपादकत्वात्।' –प्रमेयक. टि. पृ. ३९१। प्रमेयर. टि. पृ. १२४।

१. आप्तस्य स्वरूपं जिज्ञासमानः परः पृच्छति कः पुनरयमाप्त इति। २. 'तत्राप्तिः साक्षात्करणादिगुणः "सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः" इत्यादिना साधितः'। अष्टश. अष्टस. पृ. २३९। तया विशिष्टो योऽसावाप्त इति भावः। ३. श्रुतकेवलिनो हि श्रुतेन सकलार्थान् प्रतिपद्यन्ते। ४. अशरीरिणो मुक्तात्मानः सिद्धाः सिद्धपरमेष्ठिन इत्युच्यन्ते। उक्तं च –

'णिक्कम्मा अट्ठगुणा किंचूणा चरमदेहदो सिद्धा।
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पाद-वयेहिं संजुत्ता॥' द्रव्यसं. १४।

५. निःश्रेयसातिरिक्ते विषये। ६. अमुख्येन, गौणरूपेणेत्यर्थः। ७. द्वितीयप्रकाशे। ८. व्यावृत्तिः, ततो न तत्राप्यतिव्याप्तिरिति भावः। ९. नैयायिका हि ज्ञानं ज्ञानान्तरवेद्यं मन्यन्ते। ततो तैराप्तत्वेनाभिमतो महेश्वरः स्वज्ञानस्याप्रवेदनात्तद्विशिष्टस्यात्मनोऽप्यज्ञानान्न सर्वज्ञ इति भावः।

1. मु प 'दीन्यनेकानि', म 'दीन्येतानि'। 2. मु 'प्रयोगस्तात्पर्यं'। 3. मु 'साध्यसंशयादिनिवृत्तिः'। 4. द 'इत्युच्यमाने' मु 'इत्येतावदुच्यमाने'। 5. द 'परमेति'। 6. मु 'परमं हितं' 7. म 'सम्भवति' इत्यधिकः पाठः।

माप्ताभासत्वमाप्तमीमांसाविवरणे[1] श्रीमदाचार्यपादै[2]रिति विरम्यते। वाक्यं तु [3]तन्त्रान्तरसिद्ध-मिति नेह[4] लक्ष्यते।

[अर्थस्य लक्षणम्]

§ ७८. [5]अथ कोऽयमर्थो नाम ? उच्यते; अर्थोऽनेकान्तः। अर्थ इति लक्ष्यनिर्देशः, अभि-

---

१. अष्टशत्याम्। २. श्रीमद्भट्टाकलङ्कदेवैः। आप्तमीमांसालङ्कारे (अष्टसहस्र्यां) च श्रीविद्यानन्दस्वामिभिरित्यपि बोध्यम्। ३. तदित्थम् –'पदानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यम्।' –अष्टश. अष्टस. पृ. २८५। 'वर्णानामन्योन्यापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायः पदम्। पदानां तु परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यम्।' –न्यायकुमु. पृ. ७३७। प्रमेयक. पृ. ४५८। 'यस्य प्रतिपत्तुर्यावत्सु परस्परापेक्षेषु पदेषु समुदितेषु निराकाङ्क्षत्वं तस्य तावत्सु वाक्यत्वसिद्धिरिति प्रतिपत्तव्यम्।' –प्रमेयक. पृ. ४५८। 'वाक्यं विशिष्टपदसमुदायः। यदाह–

पदानां संहतिर्वाक्यं सापेक्षाणां परस्परम्।
साकाङ्क्षता: कल्पनास्तत्र पश्चात्सन्तु यथायथम्॥'

– न्यायाव. टी. टि. पृ. ८।

'वर्णानामन्योन्यापेक्षाणां संहतिः पदम्, पदानां तु वाक्यमिति।' –प्रमाणनय. ४-१०।

परैस्तु वाक्यलक्षणमित्थमभिमतम्– 'आख्यातं साव्ययं सकारकं स-कारक-विशेषणं वाक्यसंज्ञं भवतीति वक्तव्यम्, अपर आह–आख्यातं सविशेषणमित्येव। सर्वाणि ह्येतानि विशेषणानि। एकतिङ्, एकतिङ् वाक्यसंज्ञं भवतीति वक्तव्यम्।' पात. महाभा. २-१-१। तिङ्-सुबन्तचयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता।' अमरको.। 'पूर्वपदस्मृत्यपेक्षोऽन्त्यपदप्रत्ययः स्मृत्यनुग्रहेण प्रतिसन्धीयमानो विशेषप्रतिपत्तिहेतुर्वाक्यम्।' न्यायवा. पृ. १६। 'यावद्भिः पदैरर्थपरिसमाप्तिः तदेकं वाक्यम्।' वादन्याय. पृ. १०८। 'पदसमूहो वाक्यम्। न्यायम. पृ. ६३७। न्यायवा. ता. पृ. ४३४। 'वाक्यं पदसमूहः, यथा–गामानय शुक्लां दण्डेनेति।' –तर्कसं. पृ. १२२। 'अथात्र प्रसङ्गान्मीमांसकवाक्यलक्षणमर्थद्वारेण प्रदर्शयितुमाह–

साकाङ्क्षावयवं भेदे परानाकाङ्क्षशब्दकम्।
कर्मप्रधानं गुणवदेकार्थं वाक्यमिष्यते॥ वाक्यप. २-४।
मिथः साकाङ्क्षशब्दस्य व्यूहो वाक्यं चतुर्विधम्।
सुप्तिङन्तचयो नैवमतिव्याप्त्यादिदोषतः॥

यादृशशब्दानां यादृशार्थविषयताकान्वयबोधं प्रत्यनुकूला परस्पराकाङ्क्षा तादृशशब्दस्तोम एव तथाविधार्थे वाक्यम्।' –शब्दश. श्लो. १३।

'वाक्यं स्याद्योग्यताकाङ्क्षासक्तियुक्तः पदोच्चयः।' साहि.द.२-१। 'पदानामभिधित्सार्थग्रन्थनाकारः सन्दर्भो वाक्यम्।' काव्यमी.पृ. २२। अन्यदपि वाक्यलक्षणं कैश्चिदुक्तम्–

आख्यातशब्दः (१) सङ्घातो (२) जातिः सङ्घातवर्तिनी (३)।
एकोऽनवयवः शब्दः (४) क्रमो (५) बुद्ध्यनुसंहती (६,७)॥
पदमाद्यं (८) पदं चान्त्यं (९) पदं सापेक्षमित्यपि (१०)।
वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवेदिनाम्॥'

वाक्यप. २-१, २।

तत्र पूर्वोक्तमेव 'पदानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यम्' इति वाक्यलक्षणं समीचीनम्। अन्येषां तु सदोषत्वादिति प्रतिपत्तव्यम्। ४. न्यायदीपिकायाम्। ५. अर्थस्य स्वरूपं प्रतिपादयितुमाह अथेति।

धेय इति यावत्। अनेकान्त इति लक्षणकथनम्। [१]अनेके अन्ता धर्मा: सामान्य-विशेष-पर्याय-गुणा। यस्येति सिद्धोऽनेकान्त:। तत्र सामान्यमनुवृत्ति[2]स्वरूपम्[२]। तद्धि घटत्वं पृथुबुध्नोदराकार:[3], गोत्वमिति सास्नादिमत्वमेव। तस्मान्न व्यक्तितोऽत्यन्तमन्यन्नित्यमेकमनेकवृत्ति[३]। अन्यथा —

१. अनेकान्तस्य व्युत्पत्तिमुखेन लक्षणं निबध्नाति **अनेके** इति। २. अनुगताकारप्रतीतिविषयमित्यर्थ:। अत्रायं विशेष: – 'सामान्यं द्विविधम् – ऊर्ध्वतासामान्यं तिर्यक्सामान्यं चेति। तत्रोर्ध्वतासामान्यं क्रमभाविषु पर्यायेष्वेकत्वान्वयप्रत्ययग्राह्यं द्रव्यम्। तिर्यक्सामान्यं नानाद्रव्येषु पर्यायेषु च सादृश्यप्रत्ययग्राह्यं सदृशपरिणामरूपम्।' युक्त्यनुशा. टी. पृ. ९०। 'सामान्यं द्वेधा तिर्यगूर्ध्वताभेदात्। ४-३। सदृशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत्। ४-४। परापरविवर्तव्यापि द्रव्यमूर्ध्वता मृदिव स्थासादिषु'। ४-५। –**परीक्षामुख**। ३. 'सामान्यं द्विविधं परमपरं च। तत्र परं सत्ता, अपरं सत्ताव्याप्यं द्रव्यत्वादि।... तत्र नित्यमनेकव्यक्तिवृत्ति सामान्यम्, नित्यत्वे सति स्वाश्रयान्योन्याभावसामानाधिकरण्यं वा। परमपि सामान्यमपरमपि तथाऽपरं तु सामान्यं विशेषसंज्ञामपि लभते।' –**वैशेषिकसूत्रोप.** पृ. ३४। तत्र युक्तम् – 'नित्यैकरूपस्य गोत्वादे: क्रम-यौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्। प्रत्येकं परिसमाप्त्या व्यक्तिषु वृत्त्ययोगाच्चानेकं सदृशपरिणामात्मकमेवेति तिर्यक्सामान्यमुक्तम्।' –**प्रमेयर.** ४-४, पृ. १७६। 'तच्चाऽनित्यासर्वगतस्वभावमभ्युपगन्तव्यम्, नित्यसर्वगतस्वभावत्वेऽर्थक्रियाकारित्वायोगात्।... तत् (सामान्यं) सर्वसर्वगतं स्वव्यक्तिसर्वगतं वा? न तावत्सर्वसर्वगतम्; व्यक्त्यन्तराले‌ऽनुपलभ्यमानत्वाद्व्यक्तिस्वात्मवत्।... नापि स्वव्यक्तिसर्वगतम्; प्रतिव्यक्ति परिसमाप्तत्वेनास्याऽनेकत्वानुषङ्गाद्व्यक्तिस्वरूपवत्। कार्त्स्न्यैकदेशाभ्यां वृत्त्यनुपपत्तेश्चासत्त्वम्। किञ्च, एकत्र व्यक्तौ सर्वात्मना वर्तमानस्यान्यत्र वृत्तिर्न स्यात्। तत्र हि वृत्तिस्तद्देशे गमनात्, पिण्डेन सहोत्पादात्, तद्देशे सद्भावात्, अंशवत्तया वा स्यात्? न तावद् गमनादन्यत्र पिण्डे तस्य वृत्ति:; निष्क्रियत्वोपगमात्। किञ्च, पूर्वपिण्डपरित्यागेन तत्तत्र गच्छेत्, अपरित्यागेन वा? न तावत्परित्यागेन, प्राक्तनपिण्डस्य गोत्वपरित्यक्तस्यागोरूपताप्रसङ्गात्। नाप्यपरित्यागेन, अपरित्यक्तप्राक्तनपिण्डस्यास्यानंशस्य रूपादेरिव गमनासम्भवात्। न ह्यपरित्यक्तपूर्वाधाराणां रूपादीनामाधारान्तरसंक्रान्तिर्दृष्टा। नापि पिण्डेन सहोत्पादात्, तस्यानित्यत्वानुषङ्गात्। नापि तद्देशे सत्त्वात्, पिण्डोत्पत्ते: प्राक् तत्र निराधारस्यास्यावस्थानाभावात्। भावे वा स्वाश्रयमात्रवृत्तित्वविरोध:। नाप्यंशवत्तया, निरंशत्वप्रतिज्ञानात्। ततो व्यक्त्यन्तरे सामान्यस्याभावानुषङ्ग:। परेषां प्रयोग: 'ये यत्र नोत्पन्ना नापि प्रागवस्थायिनो नापि पश्चादन्यतो देशादागतिमन्तस्ते तत्राऽसन्त:, यथा खरोत्तमाङ्गे तद्विषाणम्, तथा च सामान्यं तच्छून्यदेशोत्पादवति घटादिके वस्तुनि' इति। उक्तं च –

'न याति न च तत्रासीदस्ति पश्चान्न चांशवत्।
जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्तति:॥' –**प्रमेयक.** पृ. ४७३।

किञ्च, इदं सामान्यं व्यक्तिभ्यो भिन्नं चेत्; तत् व्यक्त्युत्पत्तौ उत्पद्यते न वा? यद्युत्पद्यते, तद्वदेवानित्यत्वम्। नोत्पद्यते चेत्; तत् उत्पत्तिप्रदेशे विद्यते न वा? यदि विद्यते, व्यक्त्युत्पत्ते: पूर्वमपि गृह्येत। अथ तद्देशे तत् नास्ति, उत्पन्ने तु व्यक्तिविशेषे व्यक्त्यन्तराद् आगच्छति। ननु तत: तत् आगच्छत् पूर्वव्यक्तिं परित्यज्य आगच्छति न वा? प्रथमपक्षे तस्या: तद्रहितत्वप्रसङ्ग:। अथापरित्यज्य, तत्रापि किं व्यक्त्या सहैवागच्छति किं वा केनचिदंशेन तत्रैव तिष्ठति केनचिदागच्छति? प्रथमविकल्पे शाबलेयेऽपि 'बाहुलेयोऽयम्' इति प्रतीति: स्यात्। द्वितीयविकल्पस्त्वयुक्त:, निरंशत्वेनास्यांशवत्तया प्रवृत्त्यसम्भवात्। सांशत्वे चास्य व्यक्तिवदनित्यत्वप्रसङ्ग:।' –**न्यायकुमु.** पृ. २८७, २८८। 'क्वचिदेकत्र नित्यात्मन्याश्रये सर्वात्मना वृत्तं सामान्यं समवायश्च तावत् **उत्पित्सुप्रदेशे प्रागासीदना-**

1. मु 'पर्याया गुणा'। 2. म प मु 'अनुवृत्त'। 3. आ प 'पृथुबुध्नोदराद्याकार:'।

न [1]याति न च [2]तत्रास्ते न [3]पश्चादस्ति [4]नांशवत्।।
[5]जहाति पूर्वं नाधारमहो[6] व्यसनसन्तति:[7]॥[ ]

इति दिग्नागदर्शित2दूषणगणप्रसरप्रसङ्गात्[8]। पृथुबुध्नोदराकारादिदर्शनानन्तरमेव 'घटोऽयं घटोऽयं गौरयं गौरयम्' इत्याद्यनुवृत्तप्रत्ययसम्भवात्[9]। [10]विशेषोऽपि 'स्थूलोऽयं घट:, सूक्ष्म:' इत्यादिव्यावृत्तप्रत्ययालम्बनं3 घटादिस्वरूपमेव। [11]तथा चाह भगवान् माणिक्यनन्दि-भट्टारक: – "सामान्य-विशेषात्मा तदर्थो विषय:" [परीक्षा. ४-१] इति।

§ ७९. [12]पर्यायो द्विविध: – अर्थपर्यायो व्यञ्जनपर्यायश्चेति। तत्रार्थपर्यायो भूतत्वभ-विष्यत्वसंस्पर्शरहितशुद्धवर्तमानकालाव4च्छिन्नं वस्तुस्वरूपम्। तदेतदृजुसूत्रनयविषयमामन-न्त्यभियुक्ता:। एतदेकदेशावलम्बिन: खलु सौगता: क्षणिकवादिन:। व्यञ्जनं व्यक्ति: प्रवृत्तिनिवृत्तिनिबन्धनं जलानयनाद्यर्थक्रियाकारित्वम्5, तेनोपलक्षित: पर्यायो व्यञ्जनपर्याय:, मृदादे: [यथा] पिण्ड-स्थास-कोश-कुशूल-घट-कपालादय:6 पर्याया:।

शितत्वप्रसङ्गात्, नान्यतो याति सर्वात्मना पूर्वाधारापरित्यागादन्यथा तदभावप्रसङ्गात्, नाप्येकदेशेन, सांशत्वाभावात्, स्वयमेव पश्चाद्भवति स्वप्रत्ययकारित्वात्, आश्रयविनाशे च न नश्यति नित्यत्वात्, प्रत्येकं परिसमाप्तं चेति व्याहतमेतत्।' –अष्टस. पृ. २१९। एतदुक्तानेव दोषान् दिग्नागोक्तकारिकया मूले दीपिकाकारो दर्शयति न यातीति।

१. गोत्वादिसामान्यं हि व्यक्त्यन्तरं न गच्छति निष्क्रियत्वोपगमात्। २. व्यक्तिदेशे, यत्र गोपिण्ड उत्पद्यते तत्र न गोपिण्डोत्पादात्पूर्वं विद्यते, देशस्यापि तस्य गोत्वापत्ते:। ३. न वा गोपिण्डोत्पादानन्तरं तेन सहोत्पद्यते, तस्य नित्यत्वाभ्युपगमात्। अन्यथाऽनित्यत्वानुषङ्गात्। ४. न चांशसहितं निरंशत्वप्रतिज्ञानात्, अन्यथा सांशत्वप्रसङ्गात्। ५. न च प्राक्तनमाधारं गोपिण्डं त्यजति, तस्यागोत्वापत्ते:। ६. तदेवं गोत्वादिसामान्यस्य नित्यैकसर्वगतत्वाभ्युपगमे एतैर्दूषणैर्न परिमुच्यते सोऽयं यौग:। अहो आश्चर्यं कष्टं वा एतेषामपरिहार्या व्यसनसन्तति: दूषणपरम्परा, वृथा स्थितिरिति यावत्। ७. कारिकेयं धर्मकीर्तिविरचिते प्रमाणवार्तिकेऽपि (१-१५३) मूलरूपेणोपलभ्यते। परमत्र ग्रन्थकृता नामोल्लेखपुरस्सरं दिग्नागस्योक्ता। तत: सम्भवति दिग्नागस्यैव कस्यचिद् ग्रन्थस्येयं कारिका स्यादिति। ८. दिग्नागेनोक्तकारिकया दर्शितानि दूषणानि, तेषां गण: समूहस्तस्य प्रसरो विस्तरस्तस्य प्रसङ्गस्तस्मादित्यर्थ:। ९. अनुगतप्रतीतिभावात्। ततो घटत्वादिसामान्यं घटादिव्यक्ते: कथञ्चिदभिन्नमेवेत्यवसेयम्। १०. तदुक्तं परीक्षामुखे–'विशेषश्च।४-६। पर्यायव्यतिरेकभेदात्।४-७। एकस्मिन् द्रव्ये क्रमभाविन: परिणामा: पर्याया आत्मनि हर्षविषादादिवत्।४-८। अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेको गो-महिषादिवत्'।४-९। ११. स्वोक्तमेव प्रमाणयति तथा चाहेति। १२. संक्षेपत: सामान्यं विशेषं च निरूप्य पर्यायं निरूपयितुमाह पर्यायेति।

---

1. पमु 'नाशवत्'। 2. मु 'दूषित'। 3. मु 'बलम्बनं'। 4. पमु 'कालत्वाव'। 5. आ 'निबन्धनज-लानयनाद्यर्थक्रियाकारित्वे', म प मु 'निबन्धनजलानयनाद्यर्थक्रियाकारित्वं'। 6. द 'कपालमालादय:'।

§ ८०. [१]यावद्द्रव्यभाविनः सकलपर्यायानुवर्तिनो गुणाः [२]वस्तुत्व-रूप-रस-गन्ध-स्पर्शादयः। मृद्द्रव्यसम्बन्धिनो हि वस्तुत्वादयः पिण्डादिपर्यायाननुवर्तन्ते, न तु पिण्डादयः स्थासादीन्। तत[1] एव पर्यायाणां गुणेभ्यो भेदः[३]। [४]यद्यपि सामान्यविशेषौ पर्यायौ तथापि सङ्केतग्रहणनिबन्धनत्वाच्छब्दव्यवहारविषयत्वाच्चागम[2]प्रस्तावे तयोः पृथग्निर्देशः। [3]तदन-योर्गुणपर्याययोः द्रव्यमाश्रयः, "गुणपर्ययवद् द्रव्यम्" [तत्त्वार्थसू. ५-३८] इत्याचार्यानु-शासनात्[५]। तदपि सत्त्वमेव "सत्त्वं द्रव्यम्"[६] [ ] इत्यकलङ्कीयवचनात्[4]।

[सत्त्वं द्विधा विभज्य द्वयोरप्यनेकान्तात्मकत्वप्ररूपणम्]

§ ८१. [७]तदपि जीवद्रव्यमजीवद्रव्यं चेति संक्षेपतो द्विविधम्। [८]द्वयमप्येतदुत्पत्तिविनाश-स्थितियोगि "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" [तत्त्वार्थसू. ५-३०] इति निरूपणात्[९]। तथा हि-जीवद्रव्यस्य स्वर्गप्रापकपुण्योदये सति मनुष्यस्वभावस्य व्ययः, दिव्य[5]स्वभावस्योत्पादः,

१. गुणं लक्षयति **यावदिति**। २. वस्तुत्वप्रमेयत्वादयः सामान्यगुणाः। रूपरसादयो विशेषगुणाः। तेषां लक्षणं तु-

सर्वेष्वविशेषेण हि ये द्रव्येषु च गुणाः प्रवर्तन्ते। ते सामान्यगुणा इह यथा सदादि प्रमाणतः सिद्धम्॥
तस्मिन्नेव विवक्षितवस्तुनि मग्ना इहेदमिति चिज्ज्ञाः। ज्ञानादयो यथा ते द्रव्यप्रतिनियमिता विशेषगुणाः॥

–अध्यात्मक. २-७, ८।

३. गुणपर्याययोः को भेद? इत्यत्रोच्यते, सहभाविनो गुणाः, क्रमभाविनः पर्याया इति। गुणा हि द्रव्येण सह त्रिकालावच्छेदेन वर्तन्ते, न तु पर्यायाः, तेषां क्रमवर्तित्वादिति भावः। तथा चोक्तम्–

अन्वयिनः किल नित्या गुणाश्च निर्गुणावयवा ह्यनन्तांशाः। द्रव्याश्रया विनाशप्रादुर्भावाः स्वशक्तिभिः शश्वत्॥
व्यतिरेकिणो ह्यनित्यास्तत्काले द्रव्यतन्मयाश्चापि। ते पर्याया द्विविधा द्रव्यावस्थाविशेषधर्मांशाः॥

– अध्यात्मक. २-६, ९।

४. ननु सामान्यविशेषावपि पर्यायावेव, तत्कथमत्र तयोः पर्यायेभ्यः पृथग् निर्देश इत्यत आह **यद्यपीति**। सामान्यविशेषौ यद्यपि पर्यायावेव तथाप्याऽऽगमप्रकरणानुरोधात्तयोः पृथग्निर्देशकर्तव्यस्यावश्यकत्वादिति। ५. उपदेशात्। ६. भगवता श्री **उमास्वातिनाऽप्युक्तम्**– 'सद्द्रव्यलक्षणम्' – **तत्त्वार्थसू**. ५-२९। ७. सत्त्वमपि। ८. जीवद्रव्यमजीवद्रव्यं चापि। ९. **समन्तभद्रस्वामिभिरपि** तथैव प्रतिपादनात्। तथा हि–

> घट-मौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पाद-स्थितिष्वयम्।
> शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्॥
> पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
> अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम्॥

– आप्तमी. का. ५९, ६०।

इदमत्राकूतम्– सर्वं हि वस्तुजातं प्रतिसमयमुत्पादव्ययध्रौव्यात्मकं समनुभूयते। घटार्थिनो हि जनस्य घटविनाशे शोकः, मुकुटार्थिनो मुकुटोत्पादे हर्षः, सुवर्णार्थिनश्च सुवर्णसत्त्वे माध्यस्थ्यं जायमानं दृश्यते। न चैतद् निर्हेतुकं सम्भवति। तेन विज्ञायते सुवर्णादिवस्तु उत्पादादित्रयात्मकम्, तदन्तरेण शोकाद्यनुपपत्तेरिति। एवं 'यस्य पयो दुग्धमेवाह

1. द 'अत'। 2. मु 'निबन्धनस्य शब्दव्यवहारविषयत्वादागम'। 3. द 'तद्वदनयो'। 4. आ प 'इत्याकलङ्क-वचनात्', मु 'इत्याकलङ्कवचनात्' पाठः। मूले द प्रतेः पाठो निक्षिप्तः। स च युक्तः प्रतिभाति। –सम्पा.। 5. म मु 'देव'।

चैतन्यस्वभावस्य ध्रौव्यमिति। जीवद्रव्यस्य [१]सर्वथैकरूपत्वे[1] पुण्योदयवैफल्यप्रसङ्गात्। सर्वथा भेदे पुण्यवानन्यः फलवानन्य इति पुण्यसम्पादनवैयर्थ्यप्रसङ्गात्[२]। [2]परोपकारेऽप्यात्मसुकृतार्थमेव प्रवर्तनात्[3] तस्माज्जीवद्रव्यरूपेणाभेदो मनुष्य[4]देवपर्यायरूपेण भेद इति [5]प्रतिनियतनयनिरस्तविरोधौ भेदाभेदौ प्रामाणिकावेव[३]।

§ ८२. तथैवाजीवस्य[6] मृद्द्रव्यस्यापि मृदः पिण्डाकारस्य व्ययः, पृथुबुध्नोदराकारस्योत्पादः, मृद्रूपस्य ध्रुवत्वमिति सिद्धमुत्पादादियुक्तत्वमजीवद्रव्यस्य[7]। स्वामिसमन्तभद्राचार्याभिमतानु[8]सारी वामनोऽपि सदुपदेशात्प्राक्तनमज्ञानस्वभावं हन्तुमुपरितनमर्थज्ञानस्वभावं स्वीकर्तुं च यः समर्थ आत्मा स एव शास्त्राधिकारीत्याह "न शास्त्रमसद्द्रव्येष्वर्थवत्" [ ] इति। तदेवमनेकान्तात्मकं वस्तु प्रमाणवाक्यविषयत्वादर्थत्वेनावतिष्ठते। तथा च प्रयोगः – 'सर्वमनेकान्तात्मकं सत्त्वात्। यदुक्तसाध्यं न, तन्नोक्तसाधनम्, यथा गगनारविन्दमिति।

§ ८३. ननु यद्यप्यरविन्दं गगने नास्त्येव तथापि सरस्यस्तीति ततो न सत्त्वरूपहेतु[9]व्यावृत्तिरिति[10] चेत्; तर्हि तदेतदरविन्दमधिकरणविशेषापेक्षया सदसदात्मकमनेकान्तमित्य-

भुञ्जे इति व्रतं नियमः, नासौ दध्यत्ति– दधि भुंक्ते। यस्य च दध्यहं भुञ्जे इति व्रतम् नासौ पयोऽत्ति– दुग्धं भुंक्ते। यस्य चागोरसमहं भुञ्जे इति व्रतम्, नासावुभयमत्ति। कुतः? गोरसरूपेण तयोरेकत्वात्। दुग्धव्रतस्य दधिरूपेणाभावात्, दधिव्रतस्य पयोरूपेणाभावात्, अगोरसव्रतस्य दधिदुग्धरूपेणाभावात्। तस्मात्तत्त्वं वस्तु त्रयात्मकं स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मकं सुघटमेतदनेकान्ते जैनमते इति।' –आप्तमी. वृ.का. ६०। श्रीपण्डितप्रवरराजमल्लेनाप्युक्तम् –

केश्चित्पर्य्ययविगमैर्व्येति द्रव्यं ह्युदेति समकाले।
अन्यैः पर्ययभवनैर्धर्मद्वारेण शाश्वतं द्रव्यम्॥

– अध्यात्मक. २-१६।

१. पर्यायेभ्यः सर्वथाऽभेदे। २. मनुष्यादिपर्यायेभ्यो जीवद्रव्यस्य कथञ्चिदप्यन्वयाभावे कृतस्य फलाभावादकृतस्य च फलप्राप्तेः पुण्यसम्पादनं व्यर्थमेव स्यात्। कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गश्च स्यादिति भावः। ३. नहीमावनुभूयमानौ भेदाभेदौ मिथ्याभूतौ विरुद्धौ वा। तथा चोक्तं श्रीमत्समन्तभद्राचार्यैः –

प्रमाणगोचरौ सन्तौ भेदाभेदौ न संवृती।
तावेकत्राविरुद्धौ ते गुणमुख्यविवक्षया॥

– आप्तमी. का. ३६।

४. यदुक्तम् –

'तद्द्रव्यपर्यायात्माऽर्थो बहिरन्तश्च तत्त्वतः।' – लघीय. का.७।

1. म प 'कान्तरूपे', मु 'कान्तरूपत्वे'। 2. म 'कारोऽप्या', मु 'कारस्याप्या'। 3. प 'प्रवर्तमानात्', मु 'प्रवर्तमानत्वात्'। 4. मु 'मनुष्यपर्यायदेवपर्याय'। 5. द 'प्रतिनियम'। 6. मु 'तथैवाजीवद्रव्यस्यापि'। 7. म मु 'मजीवस्य'। 8. मु 'भिमतमतानु'। 9. आ म मु 'सत्वहेतु'। 10. द मु 'इति' नास्ति।

न्वयदृष्टान्तत्वं[१] भवतैव प्रतिपादितमिति सन्तोष्टव्यमायुष्मता। [२]उदाहृतवाक्येनापि सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणां मोक्षकारणत्वमेव, न संसारकारणत्वमिति विषयविभागेन कारणाकारणात्मकत्वं प्रतिपाद्यते। 'सर्वं वाक्यं सावधारणम्' इति न्यायात्। एवं प्रमाणसिद्धमनेकान्तात्मकं वस्तु।

[नयं स्वरूपतः प्रकारतश्च निरूप्य सप्तभङ्गीप्रतिपादनम्]

§ ८४. नया विभज्यन्ते1। ननु कोऽयं नयो नाम2? उच्यते; प्रमाणगृहीतार्थैकदेशग्राही [३]प्रमातुरभिप्रायविशेषः3। "नयो ज्ञातुरभिप्रायः[४]" [लघीय.का.५२] इत्यभिधानात्। स नयः संक्षेपेण द्वेधा[५]- द्रव्यार्थिनयः पर्यायार्थिकनयश्चेति। तत्र द्रव्यार्थिकनयः द्रव्यपर्यायरूपमेकानेकात्मकमनेकान्तं प्रमाणप्रतिपन्नमर्थं विभज्य पर्यायार्थिकनयविषयस्य भेदस्योपसर्जनभावेनावस्थानमात्रमभ्यनुजानन्4 स्वविषयं द्रव्यमभेदमेव व्यवहारयति, "नयान्तरविषयसापेक्षः सन्नयः" [ ] इत्यभिधानात्[६]। यथा सुवर्णमानयेति। अत्र द्रव्यार्थिकनयाभिप्रायेण सुवर्णद्रव्यानयनचोदनायां कटकं कुण्डलं केयूरं चोपनयन्नुपनेता कृती भवति, सुवर्णरूपेण कटकादीनां भेदाभावात्। द्रव्यार्थिकनयमुपसर्जनीकृत्य प्रवर्तमानपर्यायार्थिकनयमवलम्ब्य कुण्डलमानयेत्युक्ते न कटकादौ प्रवर्तते, कटकादिपर्यायात् कुण्डलपर्यायस्य भिन्नत्वात्5। ततो द्रव्यार्थिकनयाभिप्रायेण सुवर्णं स्यादेकमेव। पर्यायार्थिकनयाभिप्रायेण स्यादनेकमेव। क्रमेणोभयनयाभिप्रायेण स्यादेकमनेकं च6। युगपदुभय7नयाभिप्रायेण स्यादवक्तव्यम्, युगपत्प्राप्तेन नयद्वयेन विविक्तस्वरूपयोरेकत्वानेकत्वयोर्विमर्शासम्भवात्। न हि युगपदुपनतेन शब्दद्वयेन घटस्य प्रधानभूतयो 8रूपवत्त्वरसवत्त्वयोर्विविक्तस्वरूपयोः प्रतिपादनं शक्यम्।

---

१. अरविन्दस्येति शेषः। २. प्रत्यक्षेणानुमानेन च वस्तुनोऽनेकान्तात्मकत्वं प्रसाध्यागमेनापि तत्प्रसाधनार्थमाह उदाहृतेति। अयं भावः - 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इत्यागमो यथा सम्यग्दर्शनादित्रयाणां समुदितानां मोक्षकारणत्वं प्रतिपादयति तथा संसारकारणत्वाभावमपि। तथा चागमादपि सम्यग्दर्शनादीनां कारणाकारणात्मकत्वमनेकान्तस्वरूपं प्रतिपादितं बोद्धव्यम्। ३. श्रुतज्ञानिनः। अभिप्रायो विवक्षा। ४. सम्पूर्णश्लोकस्त्वित्थम्-

ज्ञानं प्रमाणमात्मादेरुपायो न्यास इष्यते।
नयो ज्ञातुरभिप्रायो युक्तितोऽर्थपरिग्रहः ॥५२॥
[प्रमाणसंग्रह, लघीयस्त्रय, न्यायकुमुदचंद्र-भाग-२, पृ. ६५६-६५७]

५. 'नयो द्विविधः- द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च। पर्यायार्थिकनयेन पर्यायतत्त्वमधिगन्तव्यम्। इतरेषां नामस्थापनाद्रव्याणां द्रव्यार्थिकेन, सामान्यात्मकत्वात्।'- सर्वार्थसि. १-६। यथोक्तं श्रीविद्यानन्दस्वामिभिः-

संक्षेपाद् द्वौ विशेषेण द्रव्यपर्यायगोचरौ।'- त.श्लो. पृ. २६८।

'स द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च। द्रवति द्रोष्यति अद्रुवत् इति द्रव्यम्, तदेवार्थोऽस्ति यस्य सो द्रव्यार्थिकः।' लघीय. का.स्वो. ३०। ६. उक्तं च-

भेदाभेदात्मके ज्ञेये भेदाभेदाभिसन्धयः।
ये तेऽपेक्षानपेक्षाभ्यां लक्ष्यन्ते नयदुर्नयाः ॥- लघीय.का. ३०।

---

1. द 'अथ नयं विभजति' पाठः। 2. द 'नाम नयः'। 3. म मु 'नयः' इत्यधिकः पाठः। 4. द 'मभ्यनुजानानः।' 5. मु 'कटकादिपर्यायस्य ततो भिन्नत्वात्'। 6. द 'च' नास्ति। 7. द 'एवं च युगपदुभय'। 8. आ म मु 'रूपत्वरसत्वयो'।

तदेतदवक्तव्यस्वरूपं तत्तदभिप्रायैरुपनतैनैकत्वादिना समुचितं स्यादेकमवक्तव्यम्, स्यादनेकमवक्तव्यम्, स्यादेकानेकमवक्तव्यमिति स्यात्। सैषा नयविनियोगपरिपाटी सप्तभङ्गीत्युच्यते, भङ्गशब्दस्य वस्तुस्वरूपभेदवाचकत्वात् सप्तानां भङ्गानां समाहारः सप्तभङ्गीति[1] सिद्धेः।

§ ८५. नन्वेकत्र वस्तुनि [2]सप्तानां भङ्गानां कथं सम्भवः इति चेत्; यथैकस्मिन् रूपवान् घटः रसवान् गन्धवान् स्पर्शवानिति पृथग्व्यवहारनिबन्धना। रूपवत्त्वादिस्वरूपभेदाः सम्भवन्ति तथैवेति सन्तोष्टव्यमायुष्मता।

§ ८६. एवमेव परमद्रव्यार्थिकनयाभिप्रायविषयः परमद्रव्यं सत्ता2, तदपेक्षया " एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन ", सद्रूपेण चेतनानामचेतनानां च भेदाभावात्। भेदे तु सद्विलक्षणत्वेन तेषामसत्त्वप्रसङ्गात्।

§ ८७. ऋजुसूत्रनयस्तु परमपर्यायार्थिकः। स हि भूतत्वभविष्यत्वाभ्यामपरामृष्टं शुद्धं वर्तमानकालावच्छिन्नवस्तुस्वरूपं3 परामृशति। तन्नयाभिप्रायेण बौद्धाभिमतक्षणिकत्वसिद्धिः। एते नयाभिप्रायाः सकलस्वविषयाशेषात्मकमनेकान्तं प्रमाणविषयं विभज्य व्यवहारयन्ति। स्यादेकमेव वस्तु द्रव्यात्मना न नाना4, स्यान्नानैव पर्यायात्मना नैकमिति। तदेतत्प्रतिपादितमाचार्यसमन्तभद्रस्वामिभिः-

[3]अनेकान्तोऽप्यनेकान्तः प्रमाण-नयसाधनः।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात्।। [स्वयम्भू. १०३] इति।

---

१. ननु केयं सप्तभङ्गी इति चेत्; उच्यते; 'प्रश्नवशादेकत्र वस्तुन्यविरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभङ्गी'- तत्त्वार्थवार्तिक १-६। न्यायविनिश्चयेऽपि श्रीमदकलङ्कदेवैरुक्तम्-

द्रव्यपर्यायसामान्यविशेषप्रविभागतः।
स्याद्विधिप्रतिषेधाभ्यां सप्तभङ्गी प्रवर्तते।।४५१।।

श्रीयशोविजयोऽप्याह- 'एकत्र वस्तुन्येकैकधर्मपर्यनुयोगवशादविरोधेन व्यस्तयोः समस्तयोश्च विधिनिषेधयोः कल्पनया स्यात्काराङ्कितः सप्तधा वाक्यप्रयोगः सप्तभङ्गी। इयं च सप्तभङ्गी वस्तुनि प्रतिपर्यायं सप्तविधधर्माणां सम्भवात् सप्तविधसंशयोत्थापितसप्तविधजिज्ञासामूलसप्तविधप्रश्नानुरोधादुपपद्यते।'- जैनतर्कभा. पृ. १९। 'ननु एकत्राऽपि जीवादिवस्तुनि विधीयमाननिषिध्यमानानन्तधर्मसद्भावात्तत्कल्पनाऽनन्तभङ्गी स्यात् (न तु सप्तभङ्गी); इति चेन्न; अनन्तानामपि सप्तभङ्गीनामिष्टत्वात्, तत्रैकत्वानेकत्वादिकल्पनयाऽपि सप्तानामेव भङ्गानामुपपत्तेः, प्रतिपाद्यप्रश्नानां तावतामेव सम्भवात्, प्रश्नवशादेव सप्तभङ्गीति नियमवचनात्। सप्तविध एव तत्र प्रश्नः कुत इति चेत्, सप्तविधजिज्ञासाघटनात्। सापि सप्तविधा कुत इति चेत्, सप्तधा संशयोत्पत्तेः। सप्तधैव संशयः कथमिति चेत्, तद्विषयवस्तुधर्मसप्तविधत्वात्।'- अष्टस. पृ. १२५, १२६। २. के ते वस्तुनिष्ठाः सप्त धर्मा इत्यत्रोच्यते (१) सत्त्वम्, (२) असत्त्वम्, (३) क्रमार्पितोभयं सत्त्वासत्त्वाख्यम्, (४) सहार्पितोभयमवक्तव्यत्वरूपम्, (५) सत्त्वसहितमवक्तव्यत्वम्, (६) असत्त्वसहितमवक्तव्यत्वम्, (७) सत्त्वासत्त्वविशिष्टमवक्तव्यत्वमिति। ३. ननु सर्वस्य वस्तुनोऽनेकान्तात्मकत्वेऽनेकान्तस्याप्यनेकान्तात्मकत्वं परिकल्पनीयम्, तथा चानवस्था इत्यत्राह अनेकान्तोऽप्यनेकान्त इति। इदमत्राकूतम्- प्रमाणनयसाधनत्वेनानेकान्तोऽप्यनेकान्तात्मकः। प्रमाणविषयापेक्षयाऽनेकान्तात्मकः, विवक्षित-

---

1. द 'निबन्धन'। 2. मु 'परमद्रव्यसत्ता'। 3. म मु 'वस्तुरूपं'। 4. म प मु 'स्यादेकमेव द्रव्यात्मना वस्तु नो नाना'।

[१]अनियतानेकधर्मवद्वस्तुविषयत्वात्प्रमाणस्य, नियतैकधर्मवद्वस्तुविषयत्वाच्च नयस्य। यथेना-माहंतीं सरणिमुल्लङ्घ्य सर्वथैकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन, कथञ्चिदपि। नाना नेत्याग्रहः स्यात्तदेतदर्थाभासः। एतत्प्रतिपादकं वचनमपि[2] आगमाभासः, प्रत्यक्षेण "सत्यं भिदा तत्त्वं भिदा" [ ] इत्यादिनाऽऽगमेन च बाधितविषयत्वात्। सर्वथा भेद एव, न कथञ्चिदप्यभेद इत्यत्राप्येवमेव[२] विज्ञेयम्, सद्रूपेणापि भेदेऽसतः[३] अर्थक्रियाकारित्वा-सम्भवात्[४]।

§ ८८. [५]ननु प्रतिनियताभिप्रायगोचरतया पृथगात्मनां परस्परसाहचर्यानपेक्षायां[3] मिथ्याभूतानामेकत्वानेकत्वादीनां[4] धर्माणां साहचर्यलक्षणसमुदायोऽपि मिथ्यैवेति चेत्; तद-ङ्गीकुर्महे, परस्परोपकार्योपकारकभावं विना स्वतन्त्रतया नैरपेक्ष्यापेक्षायां पटस्वभावविमुख[5]-तन्तुसमूहस्य शीतनिवारणाद्यर्थक्रियावदेकत्वानेकत्वादीनामर्थक्रियायां सामर्थ्याभावात् कथ-ञ्चिन्मिथ्यात्वस्यापि सम्भवात्। [६]तदुक्तमाप्तमीमांसायां स्वामिसमन्तभद्राचार्यैः-

---

नयविषयापेक्षया एकान्तात्मकः। एकान्तो द्विविधः- सम्यगेकान्तः मिथ्यैकान्तश्च। तत्र सापेक्षः सम्यगेकान्तः, स एव नयविषयः। अपरस्तु निरपेक्षः, स न नयविषयः, अपि तु दुर्नयविषयः; मिथ्यारूपत्वात्। तदुक्तम्- 'निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्' इति। तथा चानेकान्तस्याप्यनेकान्तात्मकत्वमविरुद्धम्, प्रमाणप्रतिपन्ने वस्तुन्यनवस्थादिदोषानवकाशादिति ध्येयम्।

१. प्रमाणनययोः को भेदः ? इत्यत आह अनियतेति। उक्तं च-

'अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं तदंशधीः।
नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्नयस्तन्निराकृतिः॥'

२. तस्यापि प्रत्यक्षादिना बाधितत्वादर्थाभासत्वं बोध्यमिति भावः। ३. सद्रूपापेक्षयाऽपि घटादिवस्तूनां सर्वथा भेदेऽसत्त्वप्रसङ्गात्। तथा च खपुष्पवदेव तत्सर्वं स्यात्। तदुक्तम्-

सदात्मना च भिन्नं चेत् ज्ञानं ज्ञेयाद् द्विधाऽप्यसत्।
ज्ञानाभावे कथं ज्ञेयं बहिरन्तश्च ते द्विषाम्॥ –आप्तमी. का. ३०।

४. अर्थक्रियाकारित्वं हि सतो लक्षणम्। असत्त्वे च तन्न स्यादिति भावः। ५. अनेकान्तत्वे दूषणमुद्भावयन् परः शङ्कते नन्विति। ६. स्वोक्तमेव प्रकरणकारः श्रीमत्समन्तभद्रस्वामिवचनेन प्रमाणयति तदुक्तमिति।

---

1. द 'तत्कथञ्चिदपि'। 2. आ प 'एतत्प्रतिपादकमपि वचनं', म मु 'एतत्प्रतिपादकमतिवचनं।' 3. मु 'साहचर्यान-पेक्षाणां'। 4. मु 'मेकत्वादीनां'। 5. प 'विमुक्ततन्तुसमूहस्य', म 'विमुक्तस्य तन्तुसमूहस्य'।

[१]मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्तताऽस्ति नः।
[२]निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु ते[३]ऽर्थकृत्[४] ॥१०८॥इति।

§ ८९. [५]ततो '[६][७]नयप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः' इति सिद्धः सिद्धान्तः[८]। पर्याप्तमागमप्रमाणम्[९]।

[९]मद्गुरो[1]र्वर्द्धमानेशो वर्द्धमानदयानिधेः।
श्रीपादस्नेहसम्बन्धात् सिद्धेयं न्यायदीपिका[2] ॥२॥

इति श्रीमद्वर्द्धमानभट्टारकाचार्यगुरुकारुण्यसिद्धसारस्वतोदयश्रीमदभिनवधर्मभूषणाचार्यविरचितायां न्यायदीपिकायां परोक्षप्रकाशस्तृतीयः[3] ॥३॥

समाप्तेयं न्यायदीपिका।

---

१. अस्याः कारिकाया अयमर्थः– ननु एकत्वानेकत्व-नित्यत्वानित्यत्वादीनां सर्वथैकान्तरूपाणां धर्माणां मिथ्यात्वात्तत्समुदायरूपः स्याद्वादिभिरभ्युपगतोऽनेकान्तोऽपि मिथ्यैव स्यात्। न हि विषकणिकाया विषत्वे तत्समूहस्याविषत्वं कैश्चिदभ्युपगम्यते। तन्न युक्तम्; मिथ्यासमूहस्य जैनैरनभ्युपगमात्। मिथ्यात्वं हि निरपेक्षत्वम्; तच्च नास्माभिः स्वीक्रियते, सापेक्षाणामेव धर्माणां समूहस्यानेकान्तत्वाभ्युपगमात्। तत एव चार्थक्रियाकारित्वम्, अर्थक्रियाकारित्वाच्च तेषां वस्तुत्वम्। क्रम-यौगपद्याभ्यां ह्यनेकान्त एवार्थक्रिया व्याप्ता, नित्यक्षणिकाद्येकान्ते तदनुपपत्तेः। तथा च निरपेक्षा नया मिथ्या– अर्थक्रियाकारित्वाभावादसम्यक्, अवस्तु इत्यर्थः। सापेक्षास्तु ते वस्तु– सम्यक्, अर्थक्रियाकारित्वादिति दिक्।

२. 'निरपेक्षत्वं प्रत्यनीकधर्मस्य निराकृतिः सापेक्षत्वमुपेक्षा, अन्यथा प्रमाणनयाविशेषप्रसङ्गात्। धर्मान्तरादानोपेक्षाहानि-लक्षणत्वात् प्रमाणनयदुर्नयानां प्रकारान्तरासम्भवाच्च'। अष्टश. का. १०८। ३. ते सापेक्षा नयाः। ४. अर्थक्रियाकारिणो भवन्तीति क्रियाध्याहारः। ५. पूर्वोक्तमेवोपसंहरति ततो इति। ६. नयशब्दस्याल्पाच्तरत्वात् 'प्रत्यासत्तेर्बलीयान्' इति न्यायाच्च पूर्वनिपातो बोध्यः। ७. यः खलु 'प्रमाणनयैरधिगमः' इति सिद्धान्तः प्रकरणादावुपन्यस्तः स सिद्ध इति भावः। ८. आगमाख्यं परोक्षप्रमाणं यथेप्सितं समाप्तम्। ९. ग्रन्थकाराः श्रीमदभिनवधर्मभूषणयतयः प्रारब्धनिर्वहणं प्रकाशयन्नाहुर्मद्गुरोरिति। सुगममिदं पद्यम्। समाप्तमेतत्प्रकरणम्।

जैनन्याय-प्रवेशाय बालानां हितकारकम्।
दीपिकायाः प्रकाशाख्यं टिप्पणं रचितं मया ॥१॥
द्विसहस्रैकवर्षाब्दे ख्याते विक्रमसंज्ञके।
भाद्रस्य सितपञ्चम्यां सिद्धमेतत्सुबोधकम् ॥२॥
मतिमान्द्यात्प्रमादाद्वा यदत्र स्खलनं क्वचित्।
संशोध्यं तद्धि विद्वद्भिः क्षन्तव्यं गुणदृष्टिभिः ॥३॥

इति श्रीमदभिनवधर्मभूषणयतिविरचिताया न्यायदीपिकाया न्यायतीर्थजैनदर्शनशास्त्रि-न्यायाचार्यपण्डितदरबारीलालेन रचितं प्रकाशाख्यं टिप्पणं समाप्तम्।

---

1. द 'मद्गुरो' पाठः। 2. पद्यमिदं म प मु प्रतिषु नोपलभ्यते। 3. आ प द 'परोक्षप्रकाशस्तृतीयः' पाठो नास्ति। तत्र 'आगमप्रकाशः' इति पाठो वर्तते।– सम्पा.।

ॐ

अध्यात्मन्यायदीपिका

श्रीमद् अभिनव धर्मभूषणयति विरचित 'न्यायदीपिका'
की
हिंदी भाषा-व्याख्या

प्रथम अध्याय

प्रमाणसामान्यप्रकाश

मंगलाचरण

श्रीवर्द्धमानमर्हन्तं नत्वा बालप्रबुद्धये ।
विरच्यते मितस्पष्टसन्दर्भन्यायदीपिका ॥१॥

अर्थ :- अर्हन्त श्री वर्द्धमान को नमस्कार कर के बालमति को प्रबुद्ध करने के लिये मेरे द्वारा (श्रीअभिनवधर्मभूषणयति द्वारा) मित (संक्षिप्त), स्पष्ट और सन्दर्भ-युक्त न्यायदीपिका लिखी जाती है।

व्याख्या- यह मंगलाचरण है।

परममंगल क्या है?

एकत्वविभक्तनिजध्रुवशुद्धचिदानंदात्मा ही परम मंगल है। उसका प्रामाण्यसहित प्रत्यक्षज्ञान अर्थात् शुद्धात्मानुभव करना ही मंगल कार्य है। वह कार्य ही सच्चा मंगलाचरण है। उस ही समय में सम्यक् आनंद (सच्चा आनंद) प्राप्त होता है और उससे संवरपूर्वक निर्जरा होती है।

(A) (१) एक अपेक्षा से उस शुद्धात्मानुभवरूप मंगलाचरण के बाद सविकल्प अवस्था में अर्हन्तस्वरूप अनन्त-चतुष्टययुक्त वीतरागी वर्द्धमान (महावीर) तीर्थंकर को नमस्कार कर के, अथवा

(२) दूसरी अपेक्षा से सभी तीर्थंकरों को नमस्कार कर के, अथवा

(३) अनन्तचतुष्टययुक्त वीतरागी किसी भी तीर्थंकर को नमस्कार कर के, अथवा
(४) अनन्तचतुष्टययुक्त वीतरागी किसी भी अर्हन्त को या सभी अर्हन्तों को नमस्कार कर के, अथवा
(५) श्री याने वैभवयुक्त। वर्द्धमान इस शब्द की व्युत्पत्ति इसप्रकार है- अव+ऋद्ध+मान=अवर्द्धमान होता है और 'अवाप्योरलोपः' इस व्याकरण सूत्र के नियम से यहाँ 'अव' शब्द के अकार का लोप हो गया, इसलिये 'वर्द्धमान' ऐसा शब्द बनता है।

'अव' याने सभी ओर से/असंख्यातप्रदेशमय आत्मा में, ऋद्ध याने अनंतगुण युक्त/अनंतगुण सहित, मान याने ज्ञान।

जो अनंतगुणों से सहित ज्ञानस्वभावी वैभवयुक्त असंख्यातप्रदेशमय, ऐसा वह निजध्रुवज्ञायक शुद्धपारिणामिकभावस्वरूप परमात्मद्रव्य है।

और वह कैसा है?

वह अर्हत् है। अर्ह याने पूजनीय, परम पवित्र है। अर्थात् परम पवित्र निजध्रुवशुद्ध ज्ञानदर्शनानंद परमपारिणामिकभावस्वरूप परमात्मद्रव्य को नमस्कार कर के याने निजध्रुवशुद्धचिदानंदात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्षज्ञान अर्थात् शुद्धात्मानुभव कर के बालमति को प्रबुद्ध करने के लिये मित (संक्षिप्त), स्पष्ट और सप्रमाण (साधार/आगमार्थ सहित) यह न्यायदीपिका मेरे द्वारा लिखी जाती है।

(B) श्लोक में 'बाल' शब्द है। उस 'बाल' शब्द का अर्थ **मतिकृत** बाल ऐसा है। **कालकृत** बाल ऐसा अर्थ नहीं है; क्योंकि कोई आठ साल की उमर में भी निखिलज्ञानसंयमोपपन्न सर्वज्ञ हो जाता है। तथा **शरीरकृत** बाल ऐसा अर्थ भी नहीं है; क्योंकि कुब्जक या वामन शरीरवाला भी शास्त्रज्ञ/आगमज्ञ होता है।

शंका– मतिकृत बाल का क्या लक्षण है?

समाधान– अव्युत्पन्न, संदिग्ध, विपर्यस्त, तत्त्वज्ञान रहित ऐसे बाल होते हैं। अथवा जो जहाँ (जिस विषय में) अनभिज्ञ हैं, वे उस विषय में बाल हैं। अथवा व्याकरण, काव्य आदि का जानकार है; लेकिन न्यायशास्त्र में अनभिज्ञ है, इसलिये न्याय विषय में बाल है। अथवा ग्रहण-धारण-पटु होकर भी बाल होते हैं। अर्थात् इस न्यायशास्त्र के शब्द को ग्रहण कर के स्मरण रख सकते हैं, वे तोता रटन्त होते हैं। कुछ लोग ग्रहण-धारण करते हैं उसमें आगम न्याय समझते हैं, वे पटु होकर भी अपने निजध्रुवचिदानंद का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्षज्ञान करने में असफल रहते हैं याने मिथ्याज्ञानी ही रहते हैं, वे बाल हैं। और कोई ग्रहण-धारण-पटु होकर व्रती होते हैं; ११ अंग, ९ पूर्व के पाठी होते हैं अथवा सर्वागम के पाठी होते हैं; लेकिन

(I) एकत्वविभक्तनिजात्मा के विषय-ज्ञेय-प्रमेय-ध्येय-अनुभाव्य-भोग्य को बराबर समझते नहीं। अथवा
(II) विषयी-ज्ञान-प्रमाण-ध्यान-अनुभवरूप साधन को अर्थात् शुद्धात्मानुभव अर्थात् प्रामाण्यसहित प्रत्यक्षज्ञान को समझते नहीं। अथवा
(III) जानने के फल/ध्यान के फल/प्रमाण के फल को समझते नहीं।

अर्थात्

विषय	ज्ञान	फल

इनको बराबर समझते नहीं।

अर्थात्

न्यायशास्त्र में जो अध्यात्मन्याय का मर्म/सार भरा हुआ है, वह समझते नहीं। इसलिये ग्रहण-धारण-पटु होकर भी मिथ्याज्ञानी रहते हैं। इसलिये वे ग्रहण-धारण-पटु होकर भी बाल हैं।

वस्तुस्वरूप के आधार पर जो अपने एकत्वविभक्त निजध्रुवशुद्ध ज्ञानदर्शनानंदमय आत्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्षज्ञान याने शुद्धात्मानुभव कर के बालत्व का/मिथ्याज्ञान का नाश करता है, उसे उसी समय निश्चयसम्यग्ज्ञान का उत्पाद होता है। अर्थात् जो अव्युत्पन्न है वह व्युत्पन्न (प्रबुद्ध) हो जाता है।

दूसरी अपेक्षा से मैं निश्चयसम्यग्ज्ञानी हूँ। बार-बार निर्विकल्प शुद्धात्मानुभव भी करता हूँ। लेकिन बार-बार सम्यग्दर्शन सहित सविकल्प अवस्था में आता हूँ, तो उस सविकल्प अवस्था का नाश होकर निरंतर निर्विकल्प अवस्था प्रकट करने के लिये यह न्यायदीपिका अर्थात् शुद्धात्मानुभूति की जा रही है।

जैसे श्री अमृतचंद्राचार्यजी **समयसार-आत्मख्याति**- कलश नं. ३ में कहते हैं कि-

> **"परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावादविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः।**
> **मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्तेर्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः ॥३॥"**

अर्थ :- द्रव्यदृष्टि से-निश्चयदृष्टि से शुद्धचिन्मात्रमूर्ति हूँ, उसका शुद्धात्मानुभव भी करता हूँ, लेकिन अभी इस पर्याय में कमजोरी है इसलिये पर परिणति का कारण जो मोह नामक कर्म (चारित्रमोह) है उसके अनुभव (उदयरूप विपाक) से जो अनुभाव्य-वेद्य रागादि परिणामों की व्याप्ति (अल्प सद्भाव) है उससे अविरत (निरंतर/बार-बार) कल्माषित अर्थात् पर्याय मैली है। इस समयसार (शुद्धात्मा तथा ग्रंथ) की व्याख्या (शुद्धात्मानुभव/टीका) से ही मेरी अनुभूति की अर्थात् अनुभवरूप परिणति की परमविशुद्धि-परमशुद्धि हो।

और भी देखिये- **न्यायकुमुदचन्द्र ग्रंथ के मंगलाचरण श्लोक नं. ४ में श्री प्रभाचन्द्राचार्यजी कहते** हैं-

> **बोधः कोप्यसमः समस्तविषयः प्राप्याऽकलङ्कं पदम् ।**
> **जातस्तेन समस्तवस्तुविषयं व्याख्यायते तत्पदम् ॥**

अर्थ :- अकलंक-अनाद्यनंत शुद्ध पद-निजध्रुव चिदात्मा को प्राप्त कर के कोई भी असम समस्त विषयवाला बोध-प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष शुद्धात्मानुभव प्रकट होता है, उससे समस्त वस्तुविषयरूप उस एकत्वविभक्तात्मा का व्याख्यान करते हैं।

तीसरी अपेक्षा से अन्य जीवों को प्रबुद्ध करने के लिये यह (न्यायदीपिका) की जाती है ।

वह न्यायदीपिका कैसी है?

वह न्यायदीपिका (a) मित (b) स्पष्ट और (c) सन्दर्भ सहित है।

एक अपेक्षा से न्यायदीपिका ग्रंथ की रचना की जाती है, ऐसा अर्थ है। दूसरी अपेक्षा से '**न्यायदीपिका**' इस शब्द का अर्थ '**शुद्धात्मानुभूति**' है। यह क्षयोपशमरूप सम्यग्ज्ञान की अवस्था है, इसलिये दीपिका है। **जब सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होता है तब ही जीवन में सच्चा न्याय उत्पन्न होता है;** और मिथ्याज्ञान ही अन्याय था, उसका नाश हो जाता है।

न्यायदीपिका का 'स्पष्ट' यह विशेषण है। एक अपेक्षा से उसका 'व्यक्त' यह अर्थ है कि जो शुद्धात्मानुभव है, वह स्पष्ट-प्रत्यक्ष है।

'सन्दर्भ' यह भी विशेषण है। एक अपेक्षा से इस ग्रंथ में निश्चयसम्यग्ज्ञानियों के लिखे हुए आगम के प्रमाण (आधार-उद्धरण) दिये हैं, उससे इस 'न्यायदीपिका' ग्रंथ की प्रामाणिकता-सच्चाई सिद्ध होती है। दूसरी अपेक्षा से न्यायदीपिका याने शुद्धात्मानुभूति का जो विषय-एकत्वविभक्तनिजध्रुव शुद्ध चिदानंदात्मा है, उसका जैसा का तैसा ही ज्ञान है, अर्थात् प्रतिभातविषय अव्यभिचारी है, इसलिये प्रामाण्य है। जो अतीन्द्रिय आनंद की परिणति हो गयी उसका भोग्य विषय निजध्रुवशुद्धचिदानंदात्मा है। अपनी आत्मा का और अपने आनंदगुण का नित्यतादात्म्य संबंध है, इसलिये सम्यक् आनंद है, आनंदाभास नहीं।

'मित' यह भी विशेषण है। एक अपेक्षा से यह न्यायदीपिका मित है याने संक्षेप में है, अल्प परिमाण है लेकिन अमित है। [विरच्यतेऽमित...] अर्थात् 'गागर में सागर' की भांति इस अल्प परिमाणवाले न्यायदीपिका ग्रंथ में न्यायमहार्णव-न्याय के सागर को भर दिया है।

दूसरी अपेक्षा से 'मित-न्यायदीपिका' याने मित-क्षयोपशमरूप शुद्धात्मानुभव है। अव्रती सम्यक्त्वी जीव भी क्षयोपशमज्ञान से शुद्धात्मा का अनुभव करता है। अल्पज्ञानी भी निजध्रुवशुद्धचिदानंदात्मा का शुद्ध अनुभव करता है। सम्यक्त्वी व्रती भी अल्प क्षयोपशम ज्ञान से निजध्रुवचिदानंदात्मा का शुद्ध अनुभव करता है। इस क्षयोपशम सम्यग्ज्ञान पर्याय में अमित-अनंत अविभाग प्रतिच्छेद हैं। सम्यग्ज्ञानरूप अंकुर प्रकट हुआ है, उससे नियम से अल्पकाल में सर्वज्ञरूप बड़ा पेड़ (फलादि सहित वृक्ष) प्रकट होगा ही।

'विरच्यते' अर्थात् 'मया विरच्यते' याने मेरे द्वारा रचना की जाती है। यह कर्मणि प्रयोग है। 'मेरे द्वारा' ऐसा कहकर यह कह दिया है कि मैं इसका अकर्ता हूं। इससे अहंकार-मान-गर्व आदि कषाय नहीं है, यह प्रकट होता है। यह पुद्गल की रचना करने में पुद्गल का कर्तृत्व है।

दूसरी अपेक्षा से यह न्यायदीपिका याने शुद्धात्मानुभूति की रचना सहज ही हो गयी, उसमें परिश्रम या कष्ट नहीं है और यह रचना करने में निश्चयनय से मैं अकर्ता की प्रतीति करता हूं अर्थात् अकर्ता हूं। आप लोग भी अभी सहज सुलभ ही स्वकीय-स्वकीय ध्रुवशुद्ध-चिदानंदात्मा का शुद्ध अनुभव करेंगे।

इस मंगलाचरण में वस्तुस्वरूप का, विषय का (प्रकरण का) सार भर दिया गया है।

इसमें मिथ्याज्ञान का व्यय तथा सम्यग्ज्ञान का उत्पाद और ध्रुव भी बताया गया है; और सम्यग्ज्ञान का पूर्ण विकास-अनंतज्ञान है, यह बताया गया है। इस मंगलाचरण में बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा का संकेत किया गया है। व्यवहारनय से परमात्मा ही आदर्श है, यह भी बताया गया है। निश्चयनय से अपना निजध्रुवशुद्धपरमपारिणामिकचिदानंदात्मा ही विषय, ज्ञेय, ध्येय, श्रद्धेय, भोग्य, अनुभाव्य, वेद्य, साध्य, चेत्य, आराध्य, प्रमेय, उपादेय है।

इसमें प्रत्यक्षज्ञान, परोक्षज्ञान का संकेत मिलता है। प्रामाण्य का संकेत भी किया गया है। प्रमिति-ज्ञान के फल का भी संकेत किया गया है। प्रत्यक्षज्ञान की निर्मलता का भी संकेत है। शुद्धात्मानुभव के प्रयोजन का भी संकेत किया गया है। अशुद्ध को हेय (त्याज्य) बताया, और शुद्ध को प्राप्त/ग्रहण करने योग्य भी बताया है। सम्यक् साधक को शुद्ध भाव होता है, बीच में शुभभाव आ जाता है, तो भी शुद्धभाव पर्यायदृष्टि से उपादेय (प्रगट करने के योग्य) है और उस शुद्ध परिणति का आश्रयरूप विषय निजध्रुवशुद्धचिदानंद आत्मा है, यह निश्चयदृष्टि से उपादेय बताया है।

इसमें निश्चयवात्सल्य अंग भी बताया और व्यवहारवात्सल्य अंग भी बताया गया है। उसी तरह प्रभावना आदि अंग भी बताये गये हैं। इत्यादि।

'बालप्रबुद्धये' इससे यह बताया है कि जिस तरह अचेतन लकड़ी अथवा पत्थर में ज्ञानगुण न होने से जानने की क्रिया नहीं होती है उसीतरह विशिष्ट व्यापक अवगाहनहेतुत्ववाले आकाशद्रव्य में, गतिहेतुत्ववाले

धर्मद्रव्य में, स्थितिहेतुत्ववाले अधर्मद्रव्य में, वर्तनाहेतुत्वगुणवाले कालद्रव्यों में, तथा स्पर्श-रस-गंध-वर्ण-गुणवाले पुद्गलद्रव्यों में जानने की क्रिया नहीं होती है।

प्रथम मंगल याने शुद्धात्मानुभव याने निर्विकल्पज्ञान करते ही संसारसागर में न डूबकर, संसारसागर पार (उत्तीर्ण) करने के लिये नौका पर आरूढ़ हो जाते हैं और व्यवहारनय से शिष्य पारगामी होते हैं। फिर सविकल्पज्ञान अवस्था में आते हैं। फिर मध्य याने दूसरा मंगल याने शुद्धात्मानुभव याने निर्विकल्पज्ञान करते ही शुद्धि की वृद्धि होने लगती है। व्यवहारनय से विद्या या पटुता प्राप्त होती है। फिर सविकल्पज्ञान अवस्था में आते हैं। फिर अन्तिम मंगल याने शुद्धात्मानुभव याने निर्विकल्पज्ञान करते ही शुद्धि का फल अतींद्रिय आनंद प्राप्त होता है। व्यवहार से विद्याफल प्राप्त होता है।

भो आत्मन्! भो प्रभु! आप कोई भी संसारकार्य करने के पहले शुद्धात्मानुभव करो। फिर वह कार्य करने के मध्य में शुद्धात्मानुभव करो। फिर उस संसारकार्य के अन्त में फिर से शुद्धात्मानुभव करो। अभी आपको शांति, समाधान और समता प्राप्त होगी और सब दुःख नष्ट हो जाते हैं। अभी इसी समय सम्यक् आनंदमय जीवन प्राप्त होता है। अल्प भी प्रयत्न कर के देखो तो सुफल मिलता ही है।

संस्कृत पृष्ठ नं.५५, परिच्छेद नं. १ →

[प्रमाण और नय के विवेचन की भूमिका]

' प्रमाणनयैरधिगमः ' अर्थात्

(आ) प्रमाण और (ब) नय [चार्ट नं. ७ और चार्ट नं. २०] इन के द्वारा अधिगम (ज्ञान-बोध) होता है। महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र के प्रथम अध्याय का यह छठवाँ सूत्र है। वह वास्तव में परम पुरुषार्थ मोक्ष के अव्याबाध अनंत अतीन्द्रिय आनंद के कारणभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र [सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः] के विषयभूत जीवादि (द्रव्य तथा जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष) इन तत्त्वों [जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्] आदि का ज्ञान करानेवाले उपायों का [(आ) प्रमाण और (ब) नय रूप से] निरूपण करता है; क्योंकि (आ) प्रमाण और (ब) नय इन दोनों के द्वारा ही जीवादि पदार्थों का विश्लेषणपूर्वक सम्यग्ज्ञान होता है।

विशेषार्थ :– ॐ! भो प्रभु!! संसार में सभी जीव यह भावना करते हैं कि- ''मैं परम सुखी हो जाऊँ। मैं परिपूर्ण आनंदी रहूँ। कभी भी दुःख न होवे। निरंतर आनंद ही रहे। संपूर्ण जीवन आनंदमय रहे। लेशमात्र भी दुःख न रहे। अणुमात्र भी (अल्प भी) दुःख न रहे। पूर्ण भोग प्राप्त हो जावे।''

सभी जीव परम आनंदमय रहें। यह अच्छी बात है। मैं भी परम आनंदमय रहूँ। **ऐसा परम आनंदमय जीवन जीने के लिये अधिगम होना चाहिये, बोध होना चाहिये, जानकारी चाहिये, ज्ञान चाहिये, सम्यग्ज्ञान चाहिये।**

किसी भी वस्तु को जानने के दो साधन हैं।

(१) (आ) प्रमाणज्ञानपर्याय याने सकलज्ञानपर्याय साधन और

(२) (ब) नयज्ञानपर्याय याने विकलज्ञानपर्याय साधन।

यहाँ प्रमाण का अर्थ है सकल और नय का अर्थ है विकल। ये दोनों भी ज्ञानपर्यायें हैं। ये दोनों प्रकार

की (प्रमाण याने सकल और नय याने विकल) ज्ञानपर्यायें छद्मस्थ जीवों को होती हैं। केवलज्ञान पर्याय यह (आ २)/प्रत्यक्ष प्रमाणज्ञानों में (आ २) पूर्ण प्रत्यक्ष सकल ज्ञानपर्याय है, नय याने (ब) विकल ज्ञानपर्याय नहीं। इस को समझने के लिये चार्ट नं. २० और चार्ट नं. ७ का उपयोग कीजिए।

आलापपद्धति में ऐसा लिखा है कि,

संस्कृत	हिंदी
''**सकलवस्तुग्राहकं प्रमाणम्।**	सकल वस्तुग्राहक को प्रमाण कहते हैं; अर्थात् प्रमाण याने सकल (आ)। देखो चार्ट नं. ७ और चार्ट नं. २०
प्रमीयते परिच्छिद्यते वस्तुतत्त्वं येन ज्ञानेन तत् प्रमाणम्।	**जिस ज्ञानपर्याय के द्वारा वस्तुतत्त्व को जाना जाता है उस ज्ञानपर्याय को प्रमाण कहते हैं।**
...चतुर्विधं मतिश्रुतावधिमनःपर्ययरूपम्।	मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यय-ज्ञानपर्याय ये चार भेद हैं।
निर्विकल्पं मनोरहितं केवलज्ञानम्। इति प्रमाणस्य व्युत्पत्तिः।	केवलज्ञान निर्विकल्प मन रहित है। इस प्रकार प्रमाण याने **सकल (आ)** की व्युत्पत्ति है।
प्रमाणेन वस्तुसंगृहीतार्थैकांशः नयः श्रुतविकल्पः वा,	प्रमाण के द्वारा वस्तुसंगृहीतार्थ के एक अंश को नय कहते हैं अथवा श्रुतविकल्प को अर्थात् **(ब) श्रुतज्ञान** को नय कहते हैं।

तत्वार्थसूत्र की **श्लोकवार्तिक** टीका-अध्याय १, सूत्र ६, पृष्ठ नं. ११८ से १२४ में से कुछ उद्धरण–

कथं पुनः प्रमाणं अभ्यर्हितं नयात् **इति आह**–	**शंका**–नय से प्रमाण कैसे पूज्य है?
प्रमाणं सकलादेशि नयादभ्यर्हितं मतम्। विकलादेशिनस्तस्य वाचकोऽपि तथोच्यते॥३॥	**समाधान**–प्रमाण सकलादेशी है, इसलिये विकलादेशी नय से प्रमाण पूज्य है। उसी तरह उसके वाचक याने (क) प्रमाणवाक्य (ख) नयवाक्य से पूज्य है।
[जयधवल पुस्तक १, पृष्ठ १८५-१८६- ''...सप्तानां **सुनयानां** सकलादेशत्वम्... एकधर्मप्रधानभावेन साकल्येन वस्तुनः प्रतिपादकत्वात्।... ...सप्तानां **दुर्नयानां** विकलादेशत्वम्... एकधर्मविशिष्टस्य एव वस्तुनः प्रतिपादनात्।]	[इसीलिये जयधवला पु.१, पृष्ठ १८५-१८६ पर श्री वीरसेनाचार्यजी ने प्रमाणवाक्य को सुनय और नयवाक्य को दुर्नय अर्थात् उपनय कहा है। सुनय भी सम्यक्नय है और दुर्नय याने उपनय भी सम्यक्नय है। उन सुनय (प्रमाणवाक्य) और दुर्नय (नयवाक्य) से कुनय (मिथ्यानय) भिन्न है।]
कथं अभ्यर्हितत्वानभ्यर्हितत्वाभ्यां सकलादेशित्वविकलादेशित्वे व्याप्तिसिद्धे, यतः प्रमाणनययोः ते सिध्द्यते इति चेत्,	**शंका**–पूज्यपना और अपूज्यपना के साथ (आ) सकलादेशीपना और (ब) विकलादेशीपना की व्याप्ति कैसे सिद्ध है कि जिससे (आ) प्रमाण और (ब) नय इन दोनों में वह सिद्ध की जाती है?

संस्कृत

प्रकृष्टप्रकृष्टविशुद्धिलक्षणत्वाद् अभ्यर्हितत्वानभ्यर्हितत्वयोः तद्व्यापकत्वं इति ब्रूमः। न हि प्रकृष्टां विशुद्धिं अन्तरेण प्रमाणं अनेकधर्मधर्मिस्वभावं सकलं अर्थं आदिशति, नयस्य अपि सकलादेशित्वप्रसंगात्। नापि विशुद्ध्यपकर्षं अंतरेण नयः धर्ममात्रं वा विकलं आदिशति प्रमाणस्य विकलादेशित्वप्रसंगात्।

हिंदी

समाधान– प्रकृष्टविशुद्धिलक्षणत्व से सकलादेशी (आ) को पूज्यपना है और अप्रकृष्टविशुद्धिलक्षणत्व से विकलादेशी (ब) को अपूज्यपना है, ऐसा व्यापकपना सिद्ध है, ऐसा हम (आचार्यश्री) कहते हैं। प्रकृष्ट विशुद्धि के बिना अनेकधर्मधर्मिस्वभाववाला प्रमाण (आ) सकल/(आ) अर्थ को दिखा नहीं सकता, अन्यथा नय को भी सकलादेशीपना प्राप्त होने का प्रसंग (दोष) आ जायेगा।

अप्रकृष्टविशुद्धि के बिना नय (प्रमाणवाक्य अर्थात् धर्मीवचन याने अभेदवृत्ति या अभेदोपचार) अथवा धर्ममात्र (नयवाक्य अर्थात् धर्मवचन याने भेदोपचार या भेदवृत्ति) विकल (ब) को नहीं दिखाता है क्योंकि अन्यथा प्रमाणज्ञान (आ) को भी विकलादेशीपना प्राप्त होने का प्रसंग (दोष) आ जायेगा।

शंका–

यथांशिनि प्रवृत्तस्य ज्ञानस्येष्टा प्रमाणता।
तथांशेष्वपि किं न स्यादिति मानात्मको नयः ॥१८॥

शंका–

जैसे अंशी वस्तु में प्रवृत्ति करनेवाले ज्ञान को प्रमाण माना जाता है वैसे ही वस्तु के अंश में प्रवृत्ति करनेवाले अर्थात् जाननेवाले (क) नय को (आ) प्रमाण (सकल) क्यों नहीं माना जाता?

तत्रांशिन्यपि निःशेषधर्माणां गुणतागतौ।
द्रव्यार्थिकनयस्यैव व्यापारान्मुख्यरूपतः ॥१९॥

समाधान–उक्त आशंका ठीक नहीं; क्योंकि जिस अंशी या धर्मी में उसके सब अंश या धर्म गौण हो जाते हैं, उस अंशी में मुख्यरूप से द्रव्यार्थिकनय की ही प्रवृत्ति होती है।

धर्मिधर्मसमूहस्य प्राधान्यार्पणया विदः।
प्रमाणत्वेन निर्णीतेः प्रमाणादपरो नयः ॥२०॥

धर्मीधर्मसमूह को प्रधानरूप से जाननेवाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं, अतः 'नय (ब)' प्रमाण से [(आ) से] भिन्न है।

गुणीभूताखिलांशे अंशिनि ज्ञानं नयः एव तत्र द्रव्यार्थिकस्य व्यापारात्।

जो ज्ञान गुणीभूत (गौणरूप) अखिल अंशरूप अंशी में प्रवृत्त होता है याने जानता है वह नय है, क्योंकि वहाँ द्रव्यार्थिकनय का व्यापार है।

प्रधानभावार्पितसकलांशे तु प्रमाणं इति न अनिष्टापत्तिः अंशिनः अत्र ज्ञानस्य प्रमाणत्वेन अभ्युपगमात्।

लेकिन प्रधानभाव अर्पित सकल अंश में प्रमाण (आ) की प्रवृत्ति है, इसमें अनिष्ट आपत्ति नहीं क्योंकि यहाँ अंशी को जाननेवाले ज्ञान को प्रमाणत्वरूप से माना गया है।

ततः प्रमाणात् अपरः एव नयः।

अतः (आ) प्रमाण याने सकलादेशी ज्ञानसे (ब) नय [विकलादेशी] भिन्न ही है।

संस्कृत	हिंदी
...... कार्त्स्न्येन प्रमाणं नयः संवादकत्वात् स्वेष्टप्रमाणवत् इति चेत् ?	**शंका–** जैसे (आ) प्रमाण [सकलादेशी] संपूर्णरूप से संवादक है। वैसे (ब) नय संपूर्णरूप से प्रमाण है; क्योंकि संवादक (समीचीन या सम्यग्ज्ञान) है, ऐसा मानेंगे तो ठीक है क्या ?
न, अस्य एकदेशेन संवादकत्वात्; कार्त्स्न्येन तत् सिद्धेः।	**समाधान–** आपका कथन ठीक नहीं है, क्योंकि (ब) नय (विकलादेशी) को एकदेश से संवादकपना (समीचीनपना या सम्यग्ज्ञानपना) है और (आ) प्रमाण [सकलादेशी] को संपूर्णरूप से संवादकपना (समीचीनपना या सम्यग्ज्ञानपना) है।
कथं एवं प्रत्यक्षादेः ततः प्रमाणत्वसिद्धिः तस्य एकदेशेन संवादकत्वात् इति चेत्,	**शंका–** इस प्रकार से है, तो (आ२) केवलज्ञान (सर्वज्ञता) पर्याय को (आ) प्रमाण [सकलादेशी] मान्य है (क्योंकि क्षायिकज्ञान है)। लेकिन प्रत्यक्षादि ज्ञानपर्याय [(आ १) मतिज्ञान, (आ १) श्रुतज्ञान, (आ ३) मन:पर्ययज्ञान, (आ ४) अवधिज्ञान, (आ ५) मतिज्ञान और (आ ५) श्रुतज्ञान] को उस प्रकार से (आ) प्रमाणत्व (सकलदेशित्व) कैसे सिद्ध होता है; क्योंकि वे [(आ १) मतिज्ञान, (आ१) श्रुतज्ञान, (आ ३) मन:पर्ययज्ञान, (आ ४) अवधिज्ञान, (आ ५) मतिज्ञान और (आ ५) श्रुतज्ञान] एकदेश से संवादक हैं, (याने मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्ययज्ञान क्षयोपशमज्ञान हैं, क्षायिकज्ञान नहीं) ?
न, कतिपयपर्यायात्मकद्रव्ये तस्य तत्त्वोपगमात्। तथैव सकलादेशित्वप्रमाणत्वेन अभिधानात्, सकलादेशः प्रमाणाधीनः इति।	**समाधान**–आपका कथन ठीक नहीं है; क्योंकि (आ १) मतिज्ञान, (आ १) श्रुतज्ञान, (आ ३) मन:पर्ययज्ञान, (आ ४) अवधिज्ञान, (आ ५) मतिज्ञान और (आ ५) श्रुतज्ञान इनका विषय '**कतिपयपर्यायात्मकद्रव्य**' है, धर्मसमूह-धर्मी ऐसा माना गया है; क्योंकि (आ) प्रमाण प्रत्यक्ष और (आ) प्रमाण परोक्ष क्षयोपशमज्ञानों में भी 'धर्मधर्मिसमूह' यह लक्षण जाता है; जैसे (आ२) केवलज्ञान में (आ) प्रमाण (सकलादेशी) का 'धर्मधर्मिसमूह' यह लक्षण है क्योंकि सकलादेश प्रमाणाधीन है। इतना फर्क अवश्य है कि, (आ) प्रमाण (सकलादेशी) क्षयोपशमज्ञान में **कुछ** पर्यायात्मकद्रव्य याने **कुछ** धर्मसमूह तथा धर्मी या **कुछ** गुणसमूह तथा धर्मी है; और (आ) प्रमाण (सकलादेशी) क्षायिकज्ञान में **सर्व**पर्यायात्मकद्रव्य याने **सर्व**धर्मसमूह तथा धर्मी या **सर्व**पर्यायसहित**सर्व**द्रव्य हैं।

संस्कृत	हिंदी
....	शंका–
मतेरवधितो वापि मनःपर्ययतोऽपि वा। ज्ञातस्यार्थस्य नांऽशेऽस्ति नयानां वर्तनं ननु ॥२४॥ निःशेषदेशकालार्थागोचरत्वविनिश्चयात्। तस्येति भाषितं कैश्चिद्युक्तमेव तथेष्टितः ॥२५॥	आप जैनों ने इस प्रकार कहा था कि 'प्रमाणों से जान ली गयी वस्तु के अंशों में नयज्ञान प्रवर्तते हैं, किन्तु मतिज्ञान से या अवधिज्ञान से अथवा मनःपर्ययज्ञान से भी जान लिये गये अर्थ के अंशों में तो नयों की प्रवृत्ति नहीं हो रही है; क्योंकि वे मति, अवधि, मनःपर्यय ज्ञान संपूर्ण देश-काल के अर्थों को विषय नहीं कर पाते हैं, ऐसा विशेषरूप से निर्णीत हो चुका है। किन्तु संपूर्ण देशकालवर्ती वस्तु का समीचीन ज्ञान होने पर ही नयज्ञान की प्रवृत्ति होना माना गया है। अतः मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान इन ज्ञानों से नयज्ञान की प्रवृत्ति नहीं हुई। **समाधान–**यह ठीक है क्योंकि मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान (आ) प्रमाणरूप सकलादेशी ही हैं, (ब) नयज्ञानरूप विकलादेशी नहीं हैं।
न हि मत्यवधिमनःपर्ययाणां अन्यतमेन अपि प्रमाणेन गृहीतस्य अर्थस्य अंशे नयाः प्रवर्तन्ते, तेषां निःशेषदेशकालार्थगोचरत्वात् मत्यादीनां तदगोचरत्वात्। न हि मनोमतिः अपि अशेषविषया करणविषये तज्जातीये वा प्रवृत्तेः।	मति, अवधि तथा मनःपर्यय इन तीन ज्ञानों में से किसी एक प्रमाण से भी गृहीत अर्थ के अंश में नयज्ञान नहीं प्रवर्तते हैं; क्योंकि इन नयज्ञानों का सम्पूर्ण देशकाल-अर्थ विषय है और मतिज्ञान, अवधिज्ञान तथा मनःपर्ययज्ञान इनका संपूर्ण देशकाल-अर्थ विषय नहीं है। मनोमतिज्ञान (मानस मतिज्ञान) भी संपूर्ण देशकाल के विषयों को नहीं जानता, क्योंकि इंद्रियों के विषयों में अथवा उनकी जातिवाले अतीन्द्रिय विषयों में (अनिन्द्रिय विषयों में) प्रवर्तता है। भले ही धर्म, अधर्म, आकाशादि को कुछ अंशों में जान ले किन्तु नयों का निःशेषदेशकाल-अर्थ विषय है।
त्रिकालगोचराशेषपदार्थांशेषु वृत्तितः। केवलज्ञानमूलत्वमपि तेषां न युज्यते ॥२६॥ परोक्षाकारतावृत्तेः स्पष्टत्वात् केवलस्य तु। श्रुतमूला नयाः सिद्धा वक्ष्यमाणाः प्रमाणवत् ॥२७॥	तीनों काल संबन्धी विषय हो रहे संपूर्ण पदार्थों के अंशों में प्रवृत्ति होने के कारण उन नयज्ञानों का मूल कारण केवलज्ञान है, ऐसा मानना योग्य नहीं; क्योंकि नयज्ञानों की परोक्षाकारवृत्ति है। लेकिन केवलज्ञान प्रत्यक्ष-स्पष्ट है। यदि केवलज्ञान को मूल कारण मानेंगे तो नयज्ञानों को प्रत्यक्षज्ञान मानने का दोष आयेगा किन्तु **नयज्ञान अस्पष्ट-परोक्षज्ञान हैं।** इसलिये **नयों का मूल कारण श्रुतज्ञान है,** ऐसा सिद्ध है। प्रमाणों के समान नय के इस सिद्धांत को आगे ग्रन्थ में कहेंगे।

इस (आ) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञानपर्याय साधन को और (ब) नय-विकलादेशी ज्ञानपर्याय साधन को समझने के लिये चार्ट नं. २० पर चित्र दिया है। केवलज्ञानपर्याय सकलादेशी ज्ञानपर्याय है, यह सर्वज्ञ माननेवालों को सुविदित ही है। अब क्षयोपशमज्ञानरूप (आ) प्रमाण और (ब) नय ज्ञानों को समझाने के लिये चित्र नं. २० पर बॅटरी का चित्र दिया है। उस बॅटरी की आगे की कांच पूर्ण सफेद है वह



(आ) प्रमाण-सकलादेशी के लिये उदाहरण है।



यहाँ बॅटरी की कांच का कुछ भाग सफेद तथा कुछ भाग काला किया है वह (ब) नय-विकलादेशी के लिये उदाहरण है।

जैसे जब युद्ध चालू नहीं रहता है, तब मोटर-सायकल तथा कार, ट्रक इन के सामने के प्रकाश देनेवाले बॅटरी-दीपक की सामने की कांच पूर्ण सफेद है, उस समय प्रकाश सकलरूप से आता है।





जब युद्ध चालू रहता है, तब मोटर-सायकल, तथा कार, ट्रक इनके सामने के प्रकाश देनेवाले बॅटरी-दीपक की सामने की कांच का कुछ भाग सफेद तथा कुछ भाग काला किया है, उस समय प्रकाश विकलरूप से आता है।

यहाँ प्रकाश साधन में सकल और विकल ये भेद किये हैं। उस ही तरह से ज्ञानपर्याय (ज्ञानोपयोग) जानने के साधन हैं, उनमें (आ) प्रमाण-सकलादेशी साधन है और (ब) नय-विकलादेशी साधन है। यहाँ प्रकाश्य विषयरूप पथ, पेड़ (वृक्ष) इनके प्रमाण तथा नय की चर्चा नहीं की गयी। उसी तरह ज्ञेय, विषय, निक्षेपरूप पथ, पेड़ आदि इनके प्रमाण तथा नय की यहाँ इस चार्ट नं. २० पर चर्चा नहीं की गयी। किन्तु '**प्रमाणनयैः अधिगमः**' इस सूत्र में ज्ञानपर्याय **साधन** का कथन किया है, निक्षेप याने ज्ञेय, विषय (प्रमेय) का कथन नहीं किया है।

बॅटरी-प्रकाश-साधन के सकल और विकल भेद समझ में आये होंगे। अब ज्ञानपर्याय साधन के सकल और विकल भेद समझने के लिये लौकिक दृष्टान्त देते हैं–

जैसे २० साल की उमरवाली भारतीय युवती की २५ साल की उमरवाले युवक के साथ शादी हो गयी और उसको तीन माह हो गये। एक दिन वह युवक अपनी पत्नी से कहने लगा कि '**हृदय में दर्द हो रहा है**' और नीचे गिर पड़ा और मर गया। वह युवती उस मृत शरीर की तरफ देखती ही रह गयी। कुछ बात नहीं करती, रोती भी नहीं। बस उस तरफ देख ही रही है। भीड़ इकट्ठी हो गयी। कोई वृद्ध कहने लगा कि 'उस युवती को बात करने के लिये कहो, यदि वह उस तरफ 'ऐसी ही' देखती रहेगी, तो वह युवती पागल हो जायेगी। बहुत गहरा असर हो जायेगा। तब किसी वृद्ध स्त्री ने रोते हुए कहा- **बहुत दुःख है।** उस समय वह युवती भी रोते हुए कहने लगी '**हाय! मेरा पति नष्ट हो गया।**'

जब वह युवती भी बात न करते हुए 'पति नष्ट हो गया' यह जान रही थी तब उसकी ज्ञानपर्याय (आ१) प्रमाण-सकलादेशी थी। इसलिये उसमें गाढत्व अधिक था; और जब वह बोली कि 'हाय! मेरा पति नष्ट हो गया' तब उस युवती की ज्ञानपर्याय (ब) नय-विकलादेशी थी अर्थात् (क) प्रमाणवाक्य सप्तभंगी में से

(घ) अभेदोपचारनयज्ञानपर्याय थी। इसलिये उसमें गाढत्व कम था।

आगे और भी देखिये– पुत्र 'लड्डू का स्वाद' ले (जान) रहा है। बात नहीं कर रहा है। लड्डू का स्वाद जान रहा है। माँ उसे लड्डू परोसती ही रहेगी। उस समय पुत्र (आ१) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञानपर्याय से लड्डू को जान रहा है। उस समय गाढत्व अधिक है; लेकिन जब वह ही पुत्र बोल रहा है कि, 'लड्डू स्वादिष्ट है' उस समय पुत्र (ब) नय-विकलादेशी ज्ञानपर्याय से 'लड्डू' को जान रहा है। उस समय गाढत्व कम है।

जब कोई आदमी 'पैन्ट का रंग' देख रहा है, बात नहीं कर रहा है, देख ही देख रहा है, उस समय वह (आ१) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञानपर्याय से जान रहा है, उसमें गाढत्व (प्रकृष्ट विशुद्धि) अधिक है; और जब वह बोल उठा कि, 'रंगीन पैन्ट है', उस समय वह (ब) नय-विकलादेशी [अभेदवृत्ति प्रमाणवाक्य] से 'रंगीन पैन्ट ...' जान रहा है, उसमें गाढत्व कम (अप्रकृष्ट विशुद्धि) है।

जब कोई आदमी 'गंध युक्त कस्तूरी' को सूंघ रहा, भोग रहा अर्थात् जान रहा है, भोग (जान) ही भोग (जान) रहा है; उस समय वह (आ२) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञानपर्याय से जान रहा है, उसमें प्रकृष्टविशुद्धि है। जब वह बोल उठा कि 'गंधवाली कस्तूरी' है। उस समय वह (ब) नय विकलादेशी [अभेदवृत्ति प्रमाणवाक्य] ज्ञानपर्याय से 'गंधवाली कस्तूरी' को जान रहा है, उसमें अप्रकृष्ट विशुद्धि है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि "**श्लोकवार्तिक ग्रन्थ में जो कहा था कि, '(आ) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञानपर्याय साधन से जानने में प्रकृष्टविशुद्धि है, (ब) नय-विकलादेशी ज्ञानपर्याय साधन से जानने में अप्रकृष्टविशुद्धि है,** " वह सत्य ही है और लौकिक व्यवहार में भी वैसी ही प्रतीति आती है।

अब पारमार्थिक सम्यक् आनंद का भोग लेना है तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के विषयभूत जीवादि ६ द्रव्य तथा जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा तथा मोक्ष इन सात तत्त्वों का ज्ञान करानेवाले उपायों का अर्थात् '(आ) प्रमाण और (ब) नय' इन का ज्ञान करना आवश्यक है।

सम्यग्दर्शन– मूलभूत वस्तुस्वरूप की जानकारी करके "अपने शाश्वतशुद्ध ज्ञानदर्शनानंदस्वभाववान निजपरमात्मा में जो रुचि, वह सम्यग्दर्शन है।"

सम्यग्ज्ञान– मूलभूत वस्तुस्वरूप की जानकारी करके "अपने शाश्वतशुद्धज्ञानदर्शनानंदस्वभाववान निजपरमात्मा के बारे में जो प्रामाण्यसहित प्रत्यक्षज्ञान है (रागादिरहित स्वसंवेदन है), वह सम्यग्ज्ञान है।"

सम्यक्चारित्र– मूलभूत वस्तुस्वरूप की जानकारी करके "अपने शाश्वतशुद्धज्ञानदर्शनानंदस्वभाववान निजपरमात्मा में आचरण करना [स्वरूपे चरणम्] वह अपने आत्मा का वीतराग [सम] परिणाम ही सम्यक्चारित्र है।"

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र प्राप्त करने के लिये मूलभूत वस्तुस्वरूप को जानना आवश्यक है। उस मूलभूत वस्तुस्वरूप के विषयभूत जीवादि ६ द्रव्य तथा जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा तथा मोक्षादि सात तत्त्व हैं। उन जीवादि विषयों को प्रमाण से और निश्चयदृष्टि से तथा व्यवहारदृष्टि से जानना आवश्यक है।

"प्रमाणनयाभ्याम्" यह "प्रमाणनय" शब्दकी तृतीया विभक्ति का द्विवचन है। इसलिये (आ) प्रमाण और (ब) नय दो ही जानने के साधन हैं।

संस्कृत पृष्ठ नं. ५५, परिच्छेद नं. १ →

(आ) प्रमाण (सकलादेशी) और (ब) नय (विकलादेशी) इन दोनों को छोडकर जीवादिक को जानने के साधनरूप अन्य कोई उपाय संभव नहीं है।

विशेषार्थ :- इससे यह जाना जाता है कि, "समयसार गाथा नंबर १४३ तथा १४४" में और उसकी आत्मख्याति टीका में तथा तात्पर्यवृत्ति टीका में जो "सर्वनयपक्षरहित" की बात कह दी गयी है, वह कथन ज्ञानपर्याय साधन की अपेक्षा से है। अर्थात् नयपक्षरहित या नयातीत साधन का प्रयोग "शुद्धात्मानुभव" के समय में (काल में) करो। इस के लिये श्री देवसेनाचार्यकृत श्रुतभवनदीपक नयचक्र-पृष्ठ-३२ द्रष्टव्य है-

"**प्रत्यक्षानुभूतिः नयपक्षातीता**"

अर्थ :- नयपक्षातीत याने प्रत्यक्ष अनुभूति करना, **नयातीत** होना याने (ब) नयज्ञान पर्याय को [परोक्षज्ञानपर्याय को] छोड़ देना। **पक्षातीत** होना याने (आ१) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञानपर्याय [अर्थात् (आ१) मतिज्ञानपर्याय तथा (आ१) श्रुतज्ञानपर्याय को] छोड़ देना। और **(आ) प्रमाण सकलादेशी प्रत्यक्ष** ज्ञान करना अर्थात् कोई जीव '(आ५) प्रमाण-सकलादेशी-प्रत्यक्ष**मतिज्ञानपर्याय** के द्वारा' ज्ञानदर्शनानंदादिगुणमयध्रुवनिजात्मा को प्रत्यक्ष जानता है। कोई जीव '(आ५) प्रमाण-सकलादेशी प्रत्यक्ष**श्रुतज्ञानपर्याय** के द्वारा' ज्ञानदर्शनानंदादिगुणमयध्रुवनिजात्मा को प्रत्यक्ष जानता है। कोई जीव '(आ२) प्रमाण-सकलादेशी प्रत्यक्ष **केवलज्ञानपर्याय** के द्वारा' ज्ञानदर्शनानंदादिगुणमयध्रुवनिजात्मा को प्रत्यक्ष जानता है। इसको समझने के लिये चार्ट नं. २० और चार्ट नं. ७ देखो।

शंका-

(A) समयसार- गाथा क्रमांक ११ में '**भूदत्थमस्सिदो**' ऐसा कहा है,

(B) समयसार- आत्मख्याति कलश क्रमांक १३ में '...**शुद्धनयात्मिका**...' ऐसा कहा है और

(C) पंचाध्यायी- अध्याय २, श्लोक क्रमांक ४०३ में '...**शुद्धनयात्मिका**...' ऐसा कहा है, वह किस अपेक्षा से कहा है?

समाधान-

(A) समयसार- गाथा क्रमांक ११ में '**भूदत्थमस्सिदो**' है याने भूतार्थ का आश्रय अर्थात् शुद्धनय का आश्रय है अर्थात् शुद्धनिश्चयनय का जो विषय 'ज्ञानदर्शनानंदादिगुणमय ध्रुवशुद्धनिजात्मा' है, उस 'ज्ञानदर्शनानंदादिगुणमय ध्रुवशुद्धनिजात्मा का आश्रय' है।

(B) समयसार- आत्मख्याति कलश क्रमांक १३ में तथा

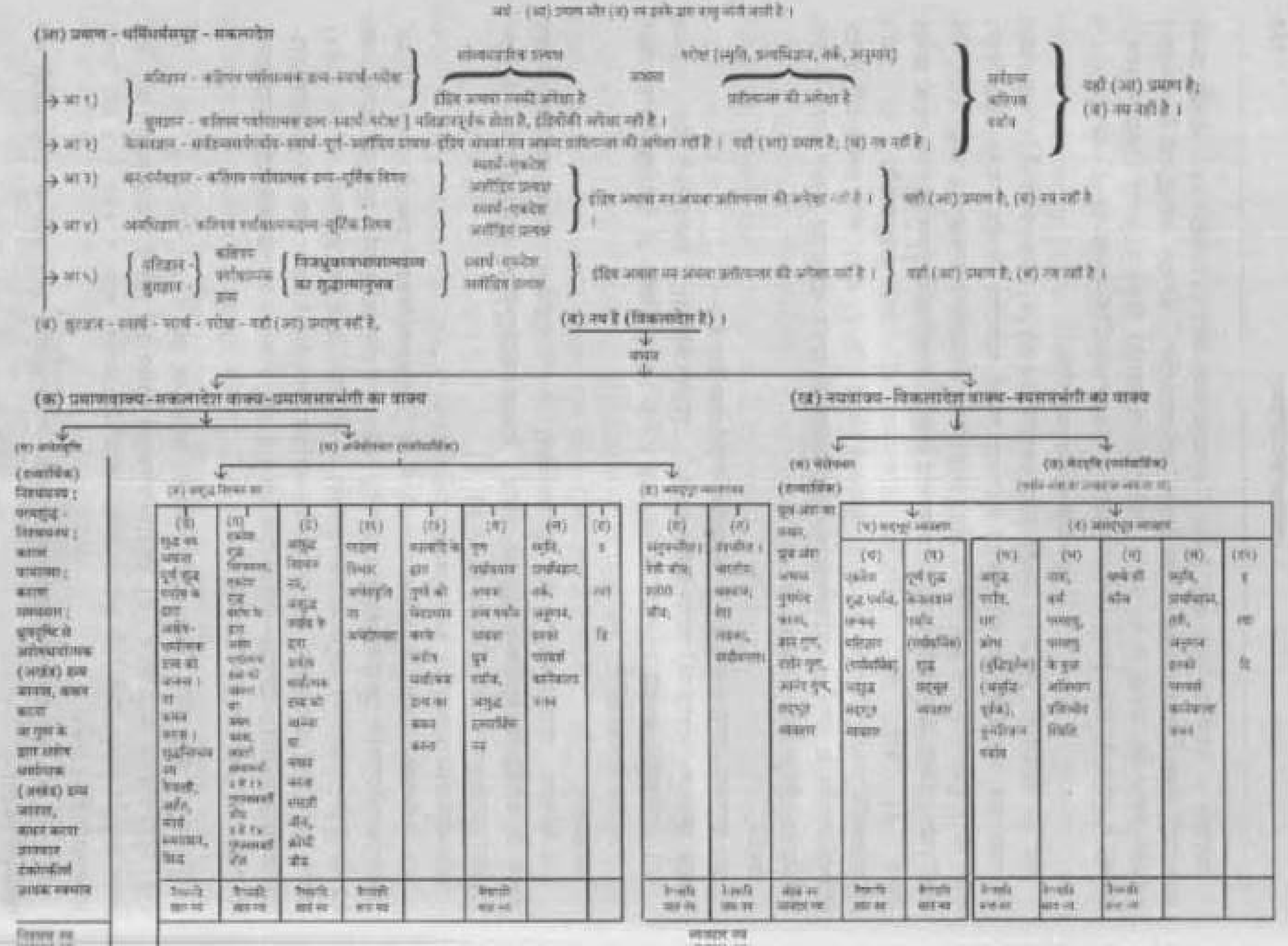
(C) पंचाध्यायी- अध्याय २, श्लोक नं. ४०३ में जो "**शुद्धनयात्मिका**" शब्द है, उसका भी अर्थ 'ज्ञानदर्शनानंदादिगुणमय ध्रुवशुद्धनिजात्मा' ऐसा है। याने 'ज्ञानदर्शनानंदादिगुणमय ध्रुवशुद्धनिजात्मा' यह वेद्य-विषय-ज्ञेय-श्रद्धेय-ध्येय-अनुभाव्य-प्रकाश्य-निक्षेप है; और उस 'विषय' का शुद्धानुभव करने का (आ२) **प्रमाण-सकलादेशी-प्रत्यक्षज्ञान-केवलज्ञानप्रत्यक्ष-क्षायिकज्ञान** साधन है। **तथा** (आ ५) **प्रमाणसकलादेशी-प्रत्यक्षज्ञान-मतिज्ञानप्रत्यक्ष-क्षयोपशमज्ञान** साधन है और (आ ५) **प्रमाणसकलादेशी-प्रत्यक्षज्ञान-श्रुतज्ञानप्रत्यक्ष-क्षयोपशमज्ञान** साधन है।

शुद्धात्मानुभव करते समय परोक्षज्ञान-साधन नहीं है। इसके लिये चार्ट नं. २०, चार्ट नं. ७, चार्ट नं. १४ देखो। **शुद्धात्मानुभव करते समय (ब) नयज्ञान-परोक्षज्ञान साधन नहीं रहते हैं** अर्थात् नयातीत होना याने प्रत्यक्ष अनुभूति करना। इसके लिये श्रुतभवनदीपक नयचक्र और समयसार-गाथा नं. १४३-१४४ और उसकी आत्मख्याति टीका देखो।

आगे और भी देखो **द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र-गाथा क्रमांक २६८ तथा पं. टोडरमलजी की रहस्यपूर्ण चिट्ठी-**

॥ ॐ ॥

प्रमाणनयैरधिगमः ।



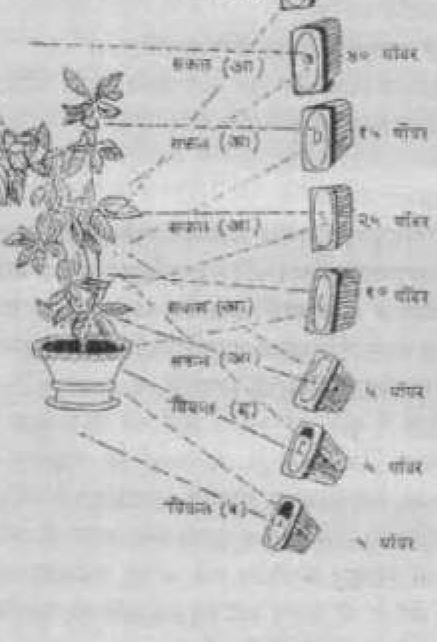
चार्ट नं. २०

साधनाचे (ज्ञानपर्यायाचे) - सकल, विकल भेद
साधनके (ज्ञानपर्यायके) - सकल, विकल भेद

विषय



केवलज्ञान पर्याय प्रमाण प्रत्यक्ष क्षायिक ज्ञान अति स्पष्ट



मन:पर्ययज्ञान पर्याय प्रमाण प्रत्यक्ष क्षायोपशमिक ज्ञान स्पष्ट

अवधिज्ञान पर्याय प्रमाण प्रत्यक्ष क्षायोपशमिक ज्ञान स्पष्ट

श्रुतज्ञान पर्याय प्रमाण परोक्ष क्षायोपशमिक ज्ञान अस्पष्ट

श्रुतज्ञान पर्याय प्रमाण प्रत्यक्ष क्षायोपशमिक ज्ञान स्पष्ट

मतिज्ञान पर्याय प्रमाण प्रत्यक्ष क्षायोपशमिक ज्ञान स्पष्ट

मतिज्ञान पर्याय प्रमाण परोक्ष क्षायोपशमिक ज्ञान अस्पष्ट

श्रुतज्ञान पर्याय नय परोक्ष क्षायोपशमिक ज्ञान अस्पष्ट (क)

श्रुतज्ञान पर्याय नय परोक्ष क्षायोपशमिक ज्ञान अस्पष्ट (ख)

साधन = प्रकाश = ज्ञानपर्याय



काँच श्वेत
पूर्ण काँच पांढरी = सकल = प्रमाण = (आ)



काँच कुछ श्वेत
काँच थोडी पांढरी
व काँच थोडी काळी
कुछ काली
= विकल = नय = (व)

"तच्चाणेसणकाले समयं बुज्झेहि जुत्तिमग्गेण।
णो आराहणसमये पच्चक्खो अणुहवो जह्मा।"

अर्थ :- तत्त्व के अन्वेषण (खोज-शोध) का जो काल उसमें समय अर्थात् शुद्धात्मा को युक्ति अर्थात् प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान [परोक्ष (अ१) प्रमाण ज्ञानपर्याय तथा (ब) नय ज्ञानपर्याय साधन] के द्वारा प्रथम जानना चाहिये। पश्चात् आराधन-समय याने जो शुद्ध अनुभवकाल है उस में परोक्षज्ञान नहीं हैं क्योंकि अनुभव प्रत्यक्षज्ञान है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि '**शुद्धात्मानुभव के काल में प्रत्यक्षज्ञान है,** नयज्ञान नहीं क्योंकि नयज्ञानपर्याय परोक्षज्ञानपर्याय है।

आगे और भी देखिये **पंचाध्यायी**-अध्याय २, श्लोक क्रमांक ४६२-

'**सत्यमाद्यद्वयं ज्ञानं परोक्षं परसंविदि । प्रत्यक्षं स्वानुभूतौ तु दृङ्मोहोपशमादित:॥**'

अर्थ :- यह कहना ठीक है, तथापि आदि के दो ज्ञान परपदार्थों का ज्ञान करते समय यद्यपि परोक्ष हैं तथापि स्वानुभव के काल में वे (मतिज्ञान तथा श्रुतज्ञान) प्रत्यक्षज्ञानपर्यायें हैं क्योंकि दर्शनमोहनीय के उपशमादि हैं।

आगे और भी देखिये **बृहद्द्रव्यसंग्रह** गाथा नं. ५ की संस्कृत टीका-

"**अत्राह शिष्य: - आद्ये परोक्षमिति तत्त्वार्थसूत्रे मतिश्रुतद्वयं परोक्षं भणितं तिष्ठति, कथं प्रत्यक्षं भवतीति? परिहारमाह- तदुत्सर्गव्याख्यानम्, इदं पुनरपवादव्याख्यानम्। यदि तदुत्सर्गव्याख्यानं न भवति तर्हि मतिज्ञानं कथं तत्त्वार्थे परोक्षं भणितं तिष्ठति। तर्कशास्त्रे सांव्यवहारिकं प्रत्यक्षं कथं जातम्। यथा अपवादव्याख्यानेन मतिज्ञानं परोक्षमपि प्रत्यक्षज्ञानम्, तथा स्वात्माभिमुखं भावश्रुतज्ञानमपि परोक्षं सत्प्रत्यक्षं भण्यते। यदि पुनरेकान्तेन परोक्षं भवति तर्हि सुखदु:खादिसंवेदनमपि परोक्षं प्राप्नोति, न च तथा।**"

यहाँ शिष्य पूछता है 'आद्ये परोक्षम्।' ऐसा तत्त्वार्थसूत्र में मति-श्रुत इन दो ज्ञानों को परोक्ष कहा है, तो फिर (श्रुतज्ञान) प्रत्यक्ष किस प्रकार है? उसका निराकरण किया जाता है; वह उत्सर्ग का व्याख्यान है, और यहाँ जो कथन है वह अपवाद का व्याख्यान है। यदि वह उत्सर्गकथन न होता तो, तत्त्वार्थसूत्र में मतिज्ञान को परोक्ष किस प्रकार कहा है? और तर्कशास्त्र में वही (मतिज्ञान) सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष किस प्रकार हो गया? अत: (ऐसा समझना कि) जिस प्रकार अपवाद व्याख्यान से मतिज्ञान को परोक्ष होने पर भी प्रत्यक्षज्ञान कहा है उसी प्रकार स्व-आत्माभिमुख भावश्रुतज्ञान को भी परोक्ष होने पर भी प्रत्यक्ष कहा है। तथा यदि वह एकान्तिक परोक्ष ही हो तो सुख-दु:खादि का संवेदन भी परोक्ष हो जाता है; परंतु ऐसा तो है नहीं।

आगे और भी देखिये **समयसार**-गाथा १९८, १९९ और उसकी तात्पर्यवृत्ति-

तथा चोक्तं-

**गुरूपदेशादभ्यासात्संवित्ते: स्वपरांतरं।
जानाति य: स जानाति मोक्षसौख्यं निरंतरं॥ इष्टोपदेश-३३॥**

अर्थ :- उसी प्रकार **इष्टोपदेश** श्लोक नं. ३३ में कहा गया है कि- जो गुरूपदेश से, अभ्यास से और स्वानुभूति से स्व और पर का भेद जानता है वह मोक्षसुख को निरंतर अनुभवता है॥१९८॥

**को विदिदच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज रूवमिणं।
पच्चक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्टंतं॥१९९॥**

गाथार्थ :– अब **[को विद्दिदच्छो साहू]** कोई ज्ञानी साधु ही **[संपडिकाले]** सांप्रतकाल में-इस समय (इस पंचम कालमें) **[इणं पवट्टंतं रूवं]** यह प्रवर्तमान आत्मस्वरूप **[पच्चक्खमेव]** प्रत्यक्ष ही **[परोक्खणाणे]** परोक्षज्ञान में याने क्षयोपशमज्ञान में **[दिट्ठं]** दिख गया ऐसा **[भणिज्ज]** कहेगा। (अर्थात् "सांप्रतकाल में **शुद्धात्मा प्रत्यक्ष दिखता है,"** ऐसा सम्यग्ज्ञानी जीव ही कहेगा।)

"किं च विस्तरः। यद्यपि केवलज्ञानापेक्षया रागादिविकल्परहितं स्वसंवेदनरूपं भावश्रुतज्ञानं शुद्धनिश्चयनयेन परोक्षं भण्यते, तथापि इंद्रियमनोजनितसविकल्पज्ञानापेक्षया प्रत्यक्षं। तेन कारणेन आत्मा स्वसंवेदनज्ञानापेक्षया प्रत्यक्षो भवति, केवलज्ञानापेक्षया पुनः परोक्षोऽपि भवति। सर्वथा परोक्ष एवेति वक्तुं नायाति।"

इसका विशेष अर्थ यह है कि यद्यपि केवलज्ञान की अपेक्षा से रागादिविकल्प रहित प्रत्यक्ष स्वसंवेदनज्ञानरूप (स्वानुभूतिरूप) भावश्रुतज्ञान को अभेदोपचार से-पर्यायार्थिक पूर्ण शुद्धनिश्चयनय से परोक्ष कहते हैं, तथापि इंद्रियमनोजनित सविकल्पज्ञान की (क्षयोपशमज्ञान की) अपेक्षा से ४ से १२ गुणस्थानवर्ती **स्वसंवेदनज्ञान को अतींद्रिय प्रत्यक्ष कहते हैं।** इस कारण से **आत्मा स्वसंवेदन की अपेक्षा से प्रत्यक्ष** है और केवलज्ञान की अपेक्षा से क्षयोपशम सम्यग्ज्ञानियों का (४ से १२ गुणस्थानवर्तियों का) शुद्धात्मानुभव परोक्ष भी है। क्षयोपशमजनित (४ से १२ गुणस्थानवर्तियों की) स्वानुभूति सर्वथा परोक्ष ही है ऐसा कहने में नहीं आता है।

आगे और भी देखिये **समयसार-तात्पर्यवृत्ति** गाथा नं. ५ की टीका "तं..... एकत्वविभक्तं..... परमात्मस्वरूपं...... **दाएहं** दर्शये अहं। केन? **अप्पणो सविहवेण** आत्मनः स्वकीयं इति विभवेन आगमतर्कपरमगुरूपदेश**स्वसंवेदनप्रत्यक्षेण** इति।"

अर्थ :– आगमतर्कपरमगुरुपदेशपूर्वक अपने **स्वकीय स्वसंवेदन प्रत्यक्षज्ञान के वैभव के द्वारा** 'उस एकत्वविभक्तरूप परमात्मस्वरूप को मैं दिखाता हूँ।'

आगे और भी देखिये **समयसार**-गाथा ५ की **आत्मख्याति टीका→**

"इह किल सकलोद्भासिस्यात्पदमुद्रितशब्दब्रह्मोपासनजन्मा समस्तविपक्षक्षोदक्षमातिनिस्तुषयुक्त्यवलंबनजन्मा निर्मलविज्ञानघनांतर्निमग्नपरापरगुरुप्रसादीकृतशुद्धात्मतत्त्वानुशासनजन्मा अनवरतस्यंदिसुन्दरानंदमुद्रितामंदसंविदात्मकस्वसंवेदनजन्मा च यः कश्चनापि ममात्मनः स्वो विभवस्तेन समस्तेनाप्ययं तमेकत्वविभक्तमात्मानं दर्शयेहमिति बद्धव्यवसायोस्मि। किंतु यदि दर्शयेयं तदा स्वयमेव स्वानुभवप्रत्यक्षेण परीक्ष्य प्रमाणीकर्तव्यम्।"

टीका :– आचार्य कहते हैं कि जो कुछ मेरे आत्मा का **निजवैभव** है, उस सबसे मैं इस एकत्व-विभक्त आत्मा को दिखाऊँगा, ऐसा मैंने व्यवसाय (उद्यम, निर्णय) किया है। मेरे आत्मा का वह निजवैभव इस लोक में प्रगट समस्त वस्तुओं का प्रकाशक है, और 'स्यात्' पद की मुद्रावाला जो **शब्दब्रह्म-अर्हन्त का परमागम है, उसकी उपासना से उसका जन्म हुआ है।** ('स्यात्' का अर्थ 'कथंचित्' है अर्थात् किसी प्रकार से, किसी अपेक्षा से कहना। परमागम को शब्दब्रह्म कहने का कारण यह है कि- अर्हन्त के परमागम में सामान्य धर्मों के-वचनगोचर समस्त धर्मों के नाम आते हैं और वचन से अगोचर जो विशेषधर्म हैं उनका अनुमान कराया जाता है; इस प्रकार वह सर्व वस्तुओं का प्रकाशक है, इसलिये उसे सर्वव्यापी कहा जाता है, और इसीलिए उसे शब्दब्रह्म कहते हैं।) समस्त विपक्ष-अन्यवादियों के द्वारा गृहीत सर्वथा एकान्तरूप नयपक्ष के निराकरण में समर्थ **अतिनिस्तुष निर्बाध युक्ति के अवलम्बन से उस निजवैभव का जन्म हुआ है;** और निर्मल विज्ञानघन आत्मा में अन्तर्निमग्न (अन्तर्लीन) परमगुरु-सर्वज्ञदेव और अपरगुरु-गणधरादिक से लेकर

हमारे गुरु पर्यन्त, उनके प्रसादरूप से दिया गया जो शुद्धात्मतत्त्व का अनुग्रहपूर्वक उपदेश तथा **पूर्वाचार्यों के अनुसार जो उपदेश है उससे निजवैभव का जन्म हुआ है।** निरन्तर झरता हुआ-स्वादमें आता हुआ जो सुन्दर आनन्द है, उसकी मुद्रा से युक्त **प्रचुर संवेदनस्वरूप स्वसंवेदन से निजवैभव का जन्म हुआ है।** यों मेरे ज्ञान का जो वैभव है उस समस्त वैभव से जिस-तिस प्रकार से दिखाता हूँ। जो मैं यह वैभव दिखाऊँ तो उसे स्वयमेव अपने **अनुभव-प्रत्यक्ष** से परीक्षा करके प्रमाण करना।

शंका – उपर्युक्त विवेचन से शुद्धात्मानुभव के काल में 'एकत्वविभक्तात्मा' को जाननेवाला (आ) प्रमाण सकलादेशी प्रत्यक्षज्ञान है, ऐसा कहा है। लेकिन **समयसार**-आत्मख्याति **कलश** नं. ९ में ऐसा कथन है कि, शुद्धात्मानुभव के काल में नय नहीं रहते हैं, प्रमाण नहीं रहता है और निक्षेप भी नहीं रहते हैं। तो फिर 'प्रमाण है' यह कैसे?

समाधान – किसी भी वस्तुको जानने के (आ) प्रमाण और (ब) नय ये दो ही साधन हैं। इसके पहले उद्धरणादि [आगमाधार] देकर यह सिद्ध किया गया है कि शुद्धात्मानुभव नयातीत होता है याने 'एकत्वविभक्तनिजध्रुवज्ञानदर्शनानंदात्मा' का अनुभव करते समय (ब) नय-परोक्षज्ञान साधन नहीं रहता है; तथा (आ१) मतिज्ञान तथा (आ१) श्रुतज्ञान साधन नहीं रहता है।

अब और भी देखिये श्री कुंदकुंदाचार्यरचित नियमसार-गाथा नं. १५९ तथा उसकी टीका में भावलिंगी मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारिदेव लिखते हैं –

"जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं॥१५९॥"

अर्थ :– व्यवहारनय से केवली भगवान् सब जानते हैं और देखते हैं, निश्चय से केवलज्ञानी भगवान आत्मा को (एकत्वविभक्तनिजध्रुवज्ञानदर्शनानंदात्मा को ही) जानते हैं और देखते हैं।

"... स भगवान् त्रिकालनिरुपाधिनिरवधिनित्यशुद्धसहजज्ञानसहजदर्शनाभ्यां निजकारणपरमात्मानं स्वयं कार्यपरमात्मा अपि जानाति पश्यति च।"

अर्थ :– ....स्वयं कार्यपरमात्मा होनेपर भी वे भगवान् त्रिकाल-निरुपाधि, निरवधि, नित्यशुद्ध-सहजज्ञान, सहजदर्शनों से सहित निजकारणपरमात्मा को जानते हैं और देखते हैं।

इससे यह सिद्ध होता है कि वे 'केवलज्ञानपर्यायरूप साधन के द्वारा' निजकारणपरमात्मा को जानते हैं। वह केवलज्ञानपर्याय ही (आ२) केवलज्ञान-प्रमाण-सकलादेशी प्रत्यक्षज्ञान साधन है, (ब) नयज्ञान-परोक्षज्ञान साधन नहीं है। इसलिये **"(आ) प्रमाण ज्ञानसाधन"** सर्वथा नहीं है, यह बात सिद्ध नहीं होती है।

शंका – तो फिर कौन-कौन से (आ) प्रमाण शुद्धात्मानुभव करने के साधन नहीं हैं?

समाधान – (आ ३) प्रमाण-मन:पर्ययज्ञान, (आ ४) प्रमाण-अवधिज्ञान, (आ १) प्रमाण-मतिज्ञान और (आ १) प्रमाण-श्रुतज्ञान पर्यायें तथा (वि)प्रमाण शुद्धात्मानुभव करने के साधन नहीं हैं। (देखिये चार्ट नं. ७)

छद्मस्थ क्षयोपशमज्ञानी जीव '**(आ५) प्रमाण मतिज्ञान प्रत्यक्षज्ञान अथवा (आ५) प्रमाण श्रुतज्ञान प्रत्यक्षज्ञान** के द्वारा' एकत्वविभक्तनिजध्रुव शुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा का शुद्धात्मानुभव करता है।

इसके लिये आगे देखिये **पंचास्तिकायसंग्रह** गाथा- **"मदिणाणं पुण तिविहं"** इत्यादि की श्री जयसेनाचार्यरचित तात्पर्यवृत्ति–

"अत्र निर्विकारशुद्धात्मानुभूत्यभिमुखं यन्मतिज्ञानं तदेव उपादेयभूतानंतसुखसाधकत्वात् निश्चयेन उपादेयं...."

अर्थ :– यहाँ निर्विकार शुद्धात्मानुभूति अभिमुख जो मतिज्ञान है वह ही उपादेयभूत अनंत सुखसाधक होने से निश्चय से उपादेय है।

आगे और भी देखिये **पंचास्तिकायसंग्रह**-गाथा '**सुदणाणं पुण णाणी**' इत्यादि की श्रीजयसेनाचार्यरचित तात्पर्यवृत्ति-

"**अत्र विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावशुद्धात्मतत्त्वस्य सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणाभेदरत्नत्रयात्मकं यद्भावश्रुतं तदेव उपादेयभूतपरमात्मतत्त्वसाधकत्वात् निश्चयेन उपादेयं...**"

अर्थ :– यहाँ विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावशुद्धात्मतत्त्व का सम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणाभेदरत्नत्रयात्मक का जो भावश्रुतज्ञान है, वह ही उपादेयभूत-परमात्मतत्त्व का साधक होने से निश्चय से उपादेय है।

आगे और भी देखिये श्री अमृतचंद्राचार्यरचित **तत्त्वार्थसार**-श्लोक नं. १९ और २० →

"**स्वसंवेदनमक्षोत्थं विज्ञानं स्मरणं तथा।**
प्रत्यभिज्ञानमूहश्च स्वार्थानुमितिरेव वा॥१९॥
बुद्धिर्मेधादयो याश्च मतिज्ञानभिदा हि ताः।
इन्द्रियानिन्द्रियेभ्यश्च मतिज्ञानं प्रवर्तते॥२०॥

अर्थ :– '(१) स्वसंवेदन अर्थात् एकत्वविभक्तनिजध्रुवज्ञानदर्शनानंदात्मा का संवेदन- **प्रत्यक्षज्ञान**' मतिज्ञान, (२) अक्षोत्थ विज्ञान, (३) स्मरण, (४) प्रत्यभिज्ञान, (५) तर्क, (६) स्वार्थानुमिति, (७) बुद्धि और (८) मेधा आदि जो ज्ञान हैं, वे मतिज्ञान के भेद हैं। यह मतिज्ञान इंद्रिय से, मन से और **अतीन्द्रिय से प्रवृत्त** होता है। इससे सिद्ध होता है कि 'छद्मस्थ क्षयोपशमज्ञानी जीव' "**(आ५) प्रमाण मतिज्ञान प्रत्यक्षज्ञान** के द्वारा" एकत्वविभक्त निजध्रुवशुद्ध ज्ञानदर्शनानंदात्मा का शुद्धात्मानुभव करता है।

आगे और भी देखिये **प्रवचनसार**-गाथा नं. १०४ '**परिणमदि सयं दव्वं**' इत्यादि की श्री जयसेनाचार्यरचित तात्पर्यवृत्ति- "...**संसारिजीवद्रव्यं मतिस्मृत्यादिविभावगुणं त्यक्त्वा श्रुतज्ञानादिविभावगुणान्तरं परिणमति,....**"

अर्थ :– संसारी जीवद्रव्य मतिस्मृत्यादि विभावपर्याय का नाश करके श्रुतज्ञानादि विभावपर्यायान्तर परिणमन करता है। याने जब मतिज्ञानोपयोग पर्याय प्रकट है तब अन्य ज्ञानोपयोग उपयोगरूप नहीं है और जब श्रुतज्ञानोपयोग पर्याय उपयोगरूप है तब मतिज्ञानादि पर्याय उपयोगरूप नहीं है।

आगे और भी देखिये **समयसार**-गाथा १४४ की आत्मख्याति टीका तथा तात्पर्यवृत्ति–

(a) "...मतिज्ञानतत्त्वः ...अत्यंतं अविकल्पः ... परमात्मानं समयसारं विंदन्...."– आत्मख्याति
(b) "... तथा... श्रुतज्ञानतत्त्वं...अत्यंतं अविकल्पः ... परमात्मानं समयसारं विंदन्..."–आत्मख्याति
(c) "... इन्द्रियानिन्द्रियजनितबहिर्विषयसमस्तमतिज्ञानविकल्परहितः सन्... नयपक्षपातरहितः समयसारं अनुभवन् एव..."– तात्पर्यवृत्ति

अर्थ :– (a) समयसार परमात्मा को अत्यन्त निर्विकल्परूप से वेदन करनेवाली मतिज्ञान पर्याय है।
(b) समयसार परमात्मा को अत्यन्त निर्विकल्परूप से वेदन करनेवाली श्रुतज्ञान पर्याय है।
(c) नयपक्षपातरहित इंद्रिय-अनिन्द्रियजनित बहिर्विषयसमस्तमतिज्ञानविकल्परहित रहनेवाले समयसार को

अनुभव करनेवाला ही है। अर्थात् जीव (आ५) प्रमाण मतिज्ञान प्रत्यक्षज्ञान के द्वारा समयसार का शु
अनुभव करता है।

आगे और भी देखिये, जयधवल पुस्तक नं. १२, पृष्ठ नंबर ३०४ तथा ३०५-

"(४५) सागारे पट्ठवगो णिट्ठवगो मज्झिमो य भजियव्वो॥
जोगे अण्णदरम्हि य जहण्णगो तेउलेस्साए॥ ९८॥

१९५. एदेण चउत्थगाहासुत्तेण दंसणमोहोवसामगस्स उवजोग-जोग-लेस्सापरिणामगओ विसेसो पदुप्पाइदो दट्ठव्वो। तं जहा- 'सागारे पट्ठवगो' एवं भणिदे दंसणमोहोवसामणमाढवेंतो अधापवत्तकरणपढमसमयप्पहुडि अंतोमुहुत्तमेत्तकालं पट्ठवगो णाम भवदि। सो वुण तदवत्थाए णाणोवजोगे चेव उवजुत्तो होइ, तत्थ दंसणोवजोगस्सावीचारप्पयस्स पवुत्तिविरोहादो। तदो मदि-सुद-विभंगणाणाणमण्णदरो सागारोवजोगो चेव एदस्स होइ, णाणागारोवजोगो त्ति घेत्तव्वं। एदेण जागरावत्थापरिणदो चेव सम्मत्तुप्पत्तिपाओग्गो होदि, णाण्णो त्ति एदं पि जाणाविदं, णिद्दापरिणामस्स सम्मत्तुप्पत्तिपाओग्गविसोहिपरिणामेहिं विरुद्धसहावत्तादो। एवं पट्ठवगस्स सागारोवजोगत्तं णियमिय संपहि णिट्ठवग-मज्झिमावत्थासु सागाराणागाराणमण्णदरोवजोगेण भयणिज्जत्तपदुप्पायणट्ठमिदमाह- 'णिट्ठवगो मज्झिमो य भजिदव्वो।' एत्थ णिट्ठवगो त्ति भणिदे दंसणमोहोवसामणाकरणस्स समाणगो घेत्तव्वो। सो वुण कम्हि उद्देसे होदि त्ति पुच्छिदे पढमट्ठिदिं सव्वं कमेण गालिय अंतरपवेसाहिमुहावत्थाए होइ। सो च सागारोवजुत्तो वा अणागारोवजुत्तो वा होदि त्ति भजियव्वो, दोण्हमण्णदरोवजोगपरिणामेण णिट्ठवगत्ते विरोहाभावादो। एवं मज्झिमस्स वि वत्तव्वं। को मज्झिमो णाम? पट्ठवग-णिट्ठवगपज्जायाणमंतरालकाले पयट्टमाणो मज्झिमो त्ति भण्णदे, तत्थ दोण्हं पि उवजोगाणं कमपरिणामस्स विरोहाभावादो भयणिज्जत्तमेदमवगंतव्वं।"

अर्थ :- दर्शनमोह के उपशमन का प्रस्थापक जीव साकार उपयोग में विद्यमान होता है; किन्तु उसका निष्ठापक और मध्य अवस्थावर्ती जीव भजितव्य है। तीनों योगों में से किसी एक योग मे विद्यमान तथा तेजोलेश्या के जघन्य अंश को प्राप्त वह जीव दर्शनमोह का उपशामक होता है॥४-९८॥

१९५. इस चौथे गाथा सूत्र द्वारा दर्शनमोह के उपशामक के उपयोग, योग और लेश्या परिणामगत विशेष का कथन जानना चाहिए। यथा- '**सागारे पट्ठवगो**' ऐसा कहने पर दर्शनमोह की उपशमविधि का आरम्भ करनेवाला जीव अधःप्रवृत्तकरण के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त काल तक प्रस्थापक कहलाता है। परन्तु वह जीव उस अवस्था में ज्ञानोपयोग में ही उपयुक्त होता है, क्योंकि उस अवस्था में अविचारस्वरूप दर्शनोपयोग की प्रवृत्ति का विरोध है; इसलिए मति, श्रुत और विभंगज्ञान में से कोई एक साकार उपयोग ही इसके होता है, अनाकार उपयोग नहीं होता, ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए। इस वचन द्वारा जागृत अवस्था से परिणत जीव ही सम्यक्त्व की उत्पत्ति के योग्य होता है, अन्य नहीं, इस बात का भी ज्ञान करा दिया है क्योंकि निद्रारूप परिणाम सम्यक्त्व की उत्पत्ति के योग्य विशुद्धिरूप परिणामों से विरुद्ध स्वभाववाला है। इस प्रकार प्रस्थापक के साकारोपयोगपने का नियम करके अब निष्ठापकरूप और मध्यम (बीच की) अवस्था में साकार उपयोग और अनाकार उपयोग में से अन्यतर उपयोग के साथ भजनीयपने का कथन करने के लिये यह वचन कहा है- '**णिट्ठवगो मज्झिमो य भजिदव्वो**'।

इस वचन में निष्ठापक ऐसा कहने पर दर्शनमोह के उपशामनाकरण को समाप्त करनेवाला जीव लेना चाहिए। परन्तु वह किस अवस्था में होता है, ऐसा पूछने पर समस्त प्रथम स्थिति को क्रम से गलाकर अन्तर प्रवेश

की अभिमुख अवस्था के होने पर होता है; और वह साकार उपयोग में उपयुक्त होता है या अनाकार उपयोग में उपयुक्त होता है, इसलिए भजनीय है, क्योंकि इन दोनों में से किसी एक परिणाम के साथ निष्ठापकपने के होने में विरोध का अभाव है। इसी प्रकार मध्यम अवस्थावाले के भी कहना चाहिए।

शंका–मध्यम कौन है?

समाधान–प्रस्थापक और निष्ठापकरूप पर्यायों के अन्तराल काल में प्रवर्तमान जीव मध्यम कहलाता है।

वहाँ पर दोनों ही उपयोगों का क्रम से परिणाम होने में विरोध का अभाव होने से यह भजनीयता जाननी चाहिए।

अर्थात् जब अनिवृत्तिकरण के अन्त्य क्षण में निराकार दर्शनोपयोग होता है, तो प्रथमोपशम सम्यक्त्व के प्रथम क्षण में नियम से (आ५) **प्रमाण मतिज्ञान-प्रत्यक्षज्ञान** की सिद्धि होती है; क्योंकि मतिज्ञानपूर्वक ही श्रुतज्ञान होता है। (आ४) अवधिज्ञान तथा (आ३) मनःपर्ययज्ञान के द्वारा अमूर्त एकत्वविभक्त निजध्रुव ज्ञानदर्शनानंदात्मा नहीं जाना जाता क्योंकि अवधिज्ञान का और मनःपर्ययज्ञान का विषय मूर्तिक पुद्गलद्रव्य है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व का उत्पाद होते समय होनेवाले (आ५) **मतिज्ञान प्रमाण सकलादेशी प्रत्यक्षज्ञान** का विषय 'अमूर्त एकत्वविभक्त निजध्रुव ज्ञानदर्शनानंदात्मा' है।

शंका–आपने शुद्धात्मानुभव के समय में 'अमूर्त एकत्वविभक्त निजात्मा **विषय** रहता है' ऐसा कथन किया है और विषय को ही '**निक्षेप**' कहते हैं तो फिर जो समयसार आत्मख्याति कलश नं. ९ में लिखा है कि, ''शुद्धात्मानुभव के क्षण में 'निक्षेपचक्र भी नहीं रहता' इस कथन के साथ सुसंवाद कैसे होगा?''

समाधान–विषय, ज्ञेय, ध्येय, प्रमेय, प्रकाश्य, भोग्य, वेद्य, चेत्य, अनुभाव्य और निक्षेप ये सभी शब्द कथंचित् एकार्थवाचक हैं, यह मान्य है।

विषय के याने निक्षेप के (१) नाम, (२) स्थापना, (३) द्रव्य और (४) भाव ये चार भेद हैं। उनमें से (१) नाम, (२) स्थापना और (३) भाव ये व्यवहारनय के विषय हैं। द्रव्य निक्षेप में भी व्यवहारनयरूप द्रव्यनिक्षेप और कारणपरमात्मा याने एकत्वविभक्तनिजात्मा को विषय करनेवाला निश्चयनयरूप द्रव्यनिक्षेप है।

धवल पुस्तक १, पृष्ठ २९-''अकृत्रिमाणां कथं स्थापनाव्यपदेशः? इति चेत्, न, तत्रापि बुद्ध्या प्रतिनिधौ स्थापितमुख्योपलम्भात्।''

अर्थ :– शंका–अकृत्रिम प्रतिमाओं में स्थापना निक्षेप कैसे संभव है?

समाधान–इस प्रकार शंका करना ठीक नहीं है; क्योंकि वहाँ भी बुद्धि द्वारा प्रतिनिधि में मुख्य स्थापना निक्षेप की उपलब्धि है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि बुद्धि में जिस विषय का विचार किया जाता है, उस विषय को निक्षेप कहते हैं।

विषय में याने निक्षेप में–

(a) **प्रमाणरूप निक्षेप** याने (जि) प्रमाण अर्थात् निश्चयनय और व्यवहारनय का संकलन [राजवार्तिक अध्याय १, सूत्र नं. ७, वार्तिक नं. ५ ''**तदुभयसंग्रहः प्रमाणम्।**'' **श्रुतभवनदीपकनयचक्र** ''...**प्रमाणलक्षणः यः असौ व्यवहारः सः व्यवहारनिश्चयमनुभयं च गृह्णन्...**'']

(b) **व्यवहारनय के विषय;** और

(c) **निश्चयनय का विषय-एकत्वविभक्तनिजध्रुवात्मा। ये तीन भेद हैं। उनमें से निश्चयनय का**

विषयरूप 'एकत्वविभक्त निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा' का शुद्धात्मानुभव के काल में मुख्यरूप से निक्षेप (विषय) रहता है, उससे अन्य निक्षेप (विषय) शुद्धात्मानुभव के काल में मुख्य रूप से नहीं है। इसलिये शुद्धात्मानुभव के समय में निक्षेपचक्र नहीं है, ऐसा कहा है।

(आर२) केवलज्ञानपर्याय के द्वारा सर्व द्रव्य तथा सर्व पर्यायें जानी जाती हैं। अर्थात् केवलज्ञान के सब द्रव्य और सब पर्याय विषय हैं, ज्ञेय हैं, निक्षेप हैं।

नियमसार- गाथा नंबर १५९ में लिखा है कि-

'' जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥ १५९॥

अर्थ :- व्यवहारनय से केवली भगवान् 'सब' को जानते हैं और देखते हैं; निश्चयनय से केवलज्ञानी 'आत्मा' (एकत्वविभक्तनिजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा) को जानते हैं और देखते हैं। ''

उस गाथा की संस्कृत टीका में श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव मुनिराज लिखते हैं कि, '' ...**स भगवान् त्रिकालनिरुपाधिनिरवधिनित्यशुद्धसहजज्ञानसहजदर्शनाभ्यां निजकारणपरमात्मानं स्वयं कार्यपरमात्मा अपि जानाति पश्यति च।** ''

अर्थ :- स्वयं कार्यपरमात्मा होनेपर भी वे भगवान '' त्रिकाल निरुपाधि निरवधि नित्यशुद्ध सहजज्ञान सहजदर्शन के द्वारा निजकारणपरमात्मा '' को जानते हैं और देखते हैं।

इससे यह सिद्ध होता है कि, सर्वज्ञ भगवान (आर२) केवलज्ञानपर्याय के द्वारा 'एकत्वविभक्तनिजात्मा' को जानते हैं। अर्थात् केवली भगवान के शुद्धात्मानुभव करते समय केवलज्ञान का 'एकत्वविभक्तनिजात्मा' यह विषय याने ज्ञेय/निक्षेप है।

सर्वज्ञ भगवान भी जीवद्रव्य हैं, उनमें ज्ञानगुण है और (आर२) केवलज्ञान पर्याय भी है। ज्ञानगुण की ज्ञानपर्याय होती है और जब ज्ञानपर्याय जानने की क्रिया करे तब उसमें कुछ भी विषय याने ज्ञेय याने निक्षेप न हो यह कभी भी संभव नहीं। क्योंकि

प्रवचनसार-गाथा ९३ में कहा है -

'' अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि।
तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया ॥९३॥

अर्थ :- पदार्थ द्रव्यस्वरूप है, द्रव्य गुणात्मक कहे गये हैं; और द्रव्य तथा गुणों से पर्यायें होती हैं। पर्यायमूढ जीव परसमय याने मिथ्यादृष्टि हैं। ''

इससे यह सिद्ध हुआ कि (आर२) केवलज्ञानपर्याय में ज्ञेय-विषय याने निक्षेप जाने जाते हैं। आगे और भी देखिये **प्रवचनसार**-गाथा नंबर ४७ -

'' जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।
अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइयं भणियं ॥४७॥

अर्थ :- जो एक ही साथ सर्वतः तात्कालिक या अतात्कालिक विचित्र (अनेक प्रकार के) और विषम (मूर्त, अमूर्त आदि असमान जाति के) समस्त पदार्थों को जानता है, उस ज्ञान को **क्षायिक** कहा है।

उस गाथा की टीका में श्री **अमृतचन्द्राचार्यजी** लिखते हैं कि, '' ...**अनिवारितप्रसरप्रकाशशालितया क्षायिकज्ञानं अवश्यमेव सर्वदा सर्वत्र सर्वथा सर्वमेव जानीयात्।** ''

अर्थ :- जिसका अनिवार (रोका न जा सके ऐसा अमर्यादित) फैलाव है, ऐसा प्रकाशमान होने से क्षायिकज्ञान

याने (आ२) केवलज्ञानपर्याय अवश्यमेव सर्वदा सर्वत्र सर्वथा सर्व को ही याने सर्व ज्ञेयों को अर्थात् सर्व निक्षेपों को जानता है।

आगे और भी देखिये **प्रवचनसार**-गाथा नं. ३७-

"तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।
वट्टन्ते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं॥३७॥

अर्थ :- उन जीवादि द्रव्यजातियों की समस्त विद्यमान और अविद्यमान पर्यायें तात्कालिक (वर्तमान) पर्यायों की भाँति विशिष्टतापूर्वक (अपने-अपने भिन्न-भिन्न स्वरूप से) ज्ञान में वर्तती हैं अर्थात् ज्ञान में विषय याने निक्षेप होती हैं।"

इससे यह सिद्ध हुआ कि, '**जो भी ज्ञानपर्याय हो उसमें ज्ञेय-विषय याने निक्षेप रहेगा ही।**' तो फिर समयसार-आत्मख्याति कलश नं. ९ में जो लिखा है कि, शुद्धात्मानुभव के समय में निक्षेप नहीं रहते याने शुद्धात्मानुभव के समय में (आ) प्रमाण प्रत्यक्षज्ञान [(आ२) केवलज्ञान अथवा (आ५) मतिज्ञान अथवा (आ५) श्रुतज्ञान] 'एकत्वविभक्तनिजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा' को तन्मय होकर जानता है।

देखिये **प्रवचनसार**- गाथा नं. ३७ की श्री जयसेनाचार्य रचित तात्पर्यवृत्ति टीका-

"यथायं केवली भगवान् परद्रव्यपर्यायान् परिच्छित्तिमात्रेण जानाति, न च तन्मयत्वेन, निश्चयेन तु केवलज्ञानादिगुणाधारभूतं स्वकीयसिद्धपर्यायमेव स्वसंवित्त्याकारेण तन्मयः भूत्वा परिच्छिनत्ति जानाति, तथासन्नभव्यजीवेनापि निजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयपर्याय एव (स्वसंवित्त्याकारेण तन्मयः भूत्वा जानाति)...।"

अर्थ :- जैसे यह केवली भगवान परद्रव्यपर्यायों को परिच्छित्तिमात्र से जानते हैं और परद्रव्यपर्यायों को तन्मयपने से जानते नहीं, लेकिन निश्चयनय से केवलज्ञानादि गुणाधारभुत स्वकीय सिद्धपर्याय को ही स्वसंवित्त्याकार से तन्मय होकर जानते हैं, उसी तरह आसन्न भव्य जीव (अव्रती सम्यक्त्वी या देशव्रती सम्यक्त्वी या महाव्रती सम्यक्त्वी जीव) भी निजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूप **निश्चयरत्नत्रय पर्याय में ही स्वसंवित्त्याकार से तन्मय होकर जानता है।**

और भी देखिये **समयसार-गाथा आत्मख्याति नं. ३५६ से ३६५** अर्थात् तात्पर्यवृत्ति गाथा नं. ३८५ से ३९४ की श्री जयसेनाचार्य रचित तात्पर्यवृत्ति टीका में लिखा है कि-

"किं च यदि व्यवहारेण परद्रव्यं जानाति तर्हि निश्चयेन सर्वज्ञः न भवति इति पूर्वपक्षे परिहारं आह - यथा स्वकीयसुखादिकं तन्मयः भूत्वा जानाति तथा बहिर्द्रव्यं न जानाति तेन कारणेन व्यवहारः। यदि पुनः परकीयसुखादिकं आत्मसुखादिवत् तन्मयः भूत्वा जानाति तर्हि यथा स्वकीयसुखसंवेदने सुखी भवति तथा परकीयसुखदुःखसंवेदनकाले सुखी दुःखी च प्राप्नोति न च तथा। यद्यपि स्वकीयसुखसंवेदनापेक्षया निश्चयः, परकीयसुखसंवेदनापेक्षया व्यवहारः तथापि छद्मस्थजनापेक्षया सः अपि निश्चयः एव इति।"

अर्थ :- यदि व्यवहारनय से परद्रव्य को जानता है, तो फिर निश्चय से सर्वज्ञ नहीं है अर्थात् सर्वज्ञता काल्पनिक याने झूठी है, ऐसी शंका हो तो समाधान करते हैं कि, "जैसे आत्मा अपने सुखदुःखादिक को तन्मय होकर जानता है, वैसे बाह्य परद्रव्य को तन्मय होकर नहीं जानता है, इसलिये उस जानने को व्यवहार कहते हैं। यदि दूसरे के सुखादिक को भी यह आत्मा अपने सुखादि के समान तन्मय होकर जानता है तो फिर जैसे अपने 'स्वकीयसंवेदन में सुखी होता है' उसी तरह दूसरे के सुखदुःख के संवेदनकाल में भी सुखी- दुःखी होनेका प्रसंग (दोष) आयेगा, लेकिन वैसा नहीं है। यद्यपि सर्वज्ञ का ज्ञान स्वकीयसुखसंवेदन की अपेक्षा से

तो निश्चय है और परकीय सुख संवेदन की अपेक्षा से वह व्यवहार है तथापि छद्मस्थ की अपेक्षा से दूसरे के सुख को जाननेवाला सर्वज्ञ का ज्ञान भी निश्चय ही याने वास्तविक ही है - सर्वज्ञता काल्पनिक नहीं है।

इससे यह सिद्ध होता है कि, ''जैसे केवली सर्वज्ञ भगवान् 'निजध्रुवशुद्धज्ञानानंद' को जानने से सच्चे सुखी हैं, वैसे ही अव्रती गृहस्थ या देशव्रती या महाव्रती 'निजध्रुवशुद्धज्ञानानंद' को जानता है, इसलिये अभी इस पंचमकाल में भी उस ही जाति का सुख अनुभवता है।

आगे और भी देखिये प्रवचनसार-गाथा नं. ३३ 'जो हि सुदेण' इत्यादि की श्री जयसेनाचार्यरचित तात्पर्यवृत्ति-'' किं च यथा कः अपि देवदत्तः आदित्योदयेन दिवसे पश्यति, रात्रौ किमपि प्रदीपेन इति। तथा आदित्योदयस्थानीयेन केवलज्ञानेन दिवसस्थानीयमोक्षपर्याये भगवान् आत्मानं पश्यति, संसारी विवेकिजनः पुनः निशास्थानीयसंसारपर्याये प्रदीपस्थानीयेन रागादिविकल्परहितपरमसमाधिना निजात्मानं पश्यति इति।''

अर्थ :- जिस तरह कोई एक देवदत्त किसी वस्तु को दिन में सूरज के प्रकाश में देखता है और रात्रि में प्रदीप के प्रकाश में देखता है। उसी तरह सूरज की जगह भगवान (आ२) केवलज्ञान से दिवसस्थानीय मोक्षपर्याय में शुद्धात्मा को अनुभवता है याने जानता है; और संसारी (अव्रती) विवेकी जन (सम्यग्ज्ञानी) निशास्थानीय संसार में दीपस्थानीय (आ५) मतिज्ञान अथवा (आ५) श्रुतज्ञान से रागादिविकल्परहित परमसमाधि से (शुद्धोपयोग से-प्रामाण्यसहित स्वसंवेदनप्रत्यक्षज्ञान से) निजात्मा (एकत्वविभक्तनिजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा) को अनुभवता याने जानता है।

आगे और भी देखिये समयसार-गाथा ३२० (आत्मख्याति-गाथा नं. ३२०/तात्पर्यवृत्ति-गाथा नं. ३४१) की श्री जयसेनाचार्यरचित तात्पर्यवृत्ति की टीका में- '' किंच विवक्षितैकदेशशुद्धनयाश्रितेयं भावना निर्विकारस्वसंवेदनलक्षणभेदक्षायोपशमिकज्ञानत्वेन यद्यप्येकदेशव्यक्तिरूपा भवति तथापि ध्याता पुरुषः यदेव सकलनिरावरणमखंडैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयमविनश्वरं शुद्धपारिणामिकपरमभावलक्षणं निजपरमात्मद्रव्यं तदेवाहमिति भावयति न च खंडज्ञानरूपमिति ...।''

अर्थ :- और विशेष कहते हैं कि, विवक्षित एकदेश शुद्धनय के आश्रित यह भावना (भावभासना अथवा स्वानुभूति) निर्विकार स्वसंवेदनलक्षण क्षायोपशमिकज्ञानत्व से यद्यपि एकदेश व्यक्तिरूप (प्रकटरूप) है तो भी ध्याता पुरुष ''जो सकलनिरावरण-अखंड-एक-प्रत्यक्ष-प्रतिभासमय अविनश्वर शुद्धपारिणामिकपरमभावलक्षणवाला निजपरमात्मद्रव्य है, वही मैं हूँ'', ऐसी भावभासना (अनुभूति) करता है, किंतु खंडज्ञानरूप मैं नहीं हूँ।

इससे यह सिद्ध हुआ कि शुद्धात्मानुभववाले (आ५) मतिज्ञान प्रमाण प्रत्यक्षज्ञान अथवा (आ५) श्रुतज्ञान प्रमाण प्रत्यक्षज्ञान पर्याय में कथंचित् ज्ञेय या प्रमेय या वेद्य या ध्येय या विषय या निक्षेप है, और ज्ञान या प्रमाण या ध्यान या विचार या वेदन है; और कथंचित् ध्याता या ज्ञाता या प्रमाता है; और कथंचित् प्रमिति या ज्ञप्ति या ज्ञान का फल या ध्यान का फल या विचार का फल है। याने कथंचित् ज्ञेय, ज्ञान, ज्ञाता और फल ये भेद हैं और कथंचित् ज्ञेय, ज्ञान, ज्ञाता और फल ये अभेद हैं। जब जीव भेद की मुख्यता करता है तब शुद्धात्मानुभव नहीं है। इसकी संदृष्टि ऐसी होगी-

विषय	ज्ञान
यह एकत्वविभक्तनिजध्रुवात्मा ज्ञेय, यह ज्ञाता, यह ज्ञान और यह ज्ञान का फल है, ऐसे भेद हैं।	यह एकत्वविभक्तनिजध्रुवात्मा ज्ञेय, यह ज्ञाता, यह ज्ञान और यह ज्ञान का फल है, ऐसे भेद हैं।

अथवा

यह एकत्वविभक्तनिजध्रुवात्मा ज्ञेय, यह ज्ञाता और यह ज्ञान है, ऐसे भेद हैं।	यह एकत्वविभक्तनिजध्रुवात्मा ज्ञेय, यह ज्ञाता और यह ज्ञान है, ऐसे भेद हैं।

अथवा

यह एकत्वविभक्तनिजध्रुवात्मा ज्ञेय और यह जाननेवाली ज्ञानपर्याय है, ऐसे भेद हैं।	यह एकत्वविभक्तनिजध्रुवात्मा ज्ञेय और यह जाननेवाली ज्ञानपर्याय है, ऐसे भेद हैं।

लेकिन शुद्धात्मानुभव में '**अभेदरूप से यह एकत्वविभक्तनिजध्रुवात्मा है**' ऐसा जाना जाता है। शुद्धात्मानुभव में यह जाननेवाली ज्ञानपर्याय और यह एकत्वविभक्त निजध्रुवात्मा है, ऐसे ज्ञान (ध्यान) और निक्षेप (विषय या ज्ञेय या ध्येय) भेद नहीं हैं।

लौकिक में ऐसा दिखाई देता है कि, ज्ञान और ज्ञेय को अभेदरूप से जान रहा है। इसलिए दृष्टान्त—

कोई रमेश और दिनकर नामके दो आदमी थे। रमेश को जल में तैरना नहीं आता था। दिनकर को जल में तैरना आता था। एक बार वे सिद्धवरकूट गये। वहाँ बहुत बड़ी नदी है। उस नदी के तट (किनारे) पर वे दोनों रेत पर बैठे और कुछ देर तक जलप्रवाह देखते रहे। कुछ क्षण बाद रमेश रो पड़ा और कहने लगा 'मैं बहा जा रहा हूँ, मुझे बचाओ।' तब दिनकर ने उस रमेश की दृष्टि उस रेतीली भूमि की तरफ कर दी और कहा कि 'देखो आप भूमि पर ही हैं, जलप्रवाह में नहीं हैं।'

यहाँ यह सिद्ध होता है कि जब रमेश जलप्रवाह को देखकर 'मैं बहा जा रहा हूँ' ऐसी प्रतीति करता है, तब रमेश ने ज्ञेयरूप जलप्रवाह और अपनी ज्ञानपर्याय को तथा ज्ञाता को अभेदरूप से जाना। इस प्रसंग में 'ज्ञान और निक्षेप और ज्ञाता' भेदरूप नहीं रहे, लेकिन सिद्धान्त से ज्ञेयरूप जलप्रवाह और ज्ञान में भेद है, द्वैत है।

आगे और भी देखिये। कोई देवदत्त सिनेमा देख रहा है। उस समय देखनेवाला देवदत्त उस चित्र को देखकर रोता है, याने उस ज्ञेयरूप चित्र को और अपने को अभेद करता है। इस प्रसंग में ज्ञेय और ज्ञान भेदरूप नहीं रहे तो भी सिद्धान्त से ज्ञेयरूप चित्र और ज्ञान में भेदरूप द्वैत है।

आगे और भी देखिये। कोई सुलतानसिंह रसगुल्ला के स्वाद के साथ तन्मय होता है। उस समय ज्ञेय और ज्ञान को अभेद करता है तो भी सिद्धान्त से उस ज्ञेय और ज्ञान में द्वैत है।

आगे और भी देखिये। कोई जीव 'श्रवणबेलगोला की बाहुबली की मूर्ति देखते समय उस ज्ञेय और ज्ञान

को अभेद करता है तो भी सिद्धान्त से उस ज्ञेय और ज्ञान में द्वैत है।

कोई उस अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु को नमस्कार करने में तल्लीन होता है। उस समय वह ज्ञेयरूप पंचपरमेष्ठियों को और अपने को अभेद जानता है तो भी सिद्धान्त से ज्ञेयरूप वे अर्हंतादि आराध्य और ज्ञान में द्वैत है। देखो **प्रवचनसार-गाथा १ से ५ की श्रीजयसेनाचार्यरचित तात्पर्यवृत्ति-**

'' तथा हि- अहं आराधक:, एते च अर्हदादय: आराध्या: इति आराध्याराधकविकल्परूप: द्वैतनमस्कारः भण्यते। ''

अर्थ :- मैं आराधक (वेदक/ज्ञान/ज्ञाता) और ये अर्हंतादि मेरे आराध्य हैं, ऐसा आराध्य याने ज्ञेय का निक्षेप और आराधक (ज्ञाता-ज्ञान) विकल्परूप द्वैत नमस्कार है, ऐसा कहते हैं।

उसी गाथा की श्री अमृतचंद्राचार्यरचित टीका- **'' अथ एवं अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधूनां प्रणतिवन्दनाभिधानप्रवृत्तद्वैतद्वारेण... नमस्कारं कृत्वा। ''**

अर्थ :- अब इस प्रकार अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा सर्व साधुओं को प्रणाम और वन्दनोच्चार से प्रवर्तमान द्वैत के द्वारा नमस्कार करके।

उसके आगे की श्री जयसेनाचार्यरचित टीका- **'' रागाद्युपाधिविकल्परहितपरमसमाधिबलेन आत्मनि एव आराध्याराधकभाव: पुन: अद्वैतनमस्कार: भण्यते। ''**

रागादि उपाधिविकल्परहित परमसमाधिबल से आत्मा में आत्मा ही आराध्य और आत्मा ही आराधक ऐसा भाव होता है, वह अद्वैत नमस्कार कहलाता है।

अपने एकत्वविभक्तनिजध्रुवात्मा को अपने ही प्रामाण्यसहित प्रत्यक्षज्ञान से जानने से द्वैत नहीं रहता है। यहाँ अपना ही ध्रुवात्मा ज्ञेय और अपना ही ज्ञान है और प्रामाण्यसहित प्रत्यक्षज्ञान होने से शुद्ध है। इसलिए द्वैत नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन में बार-बार ज्ञान को ही ध्यान कहा है अर्थात् ध्यान और ज्ञान एकार्थवाचक दिखाये हैं। उसके लिये देखिये **श्लोकवार्तिक**-अध्याय ९, सूत्र २७, श्लोक नंबर ४ के नीचे की गद्य संस्कृत टीका, पृष्ठ नं. ४९८- **'' सर्वस्य ध्यानस्य ज्ञानात्मकत्वप्रसिद्धे:। ''**

अर्थ :- क्योंकि सभी ध्यान ज्ञानात्मकपनासे प्रसिद्ध हैं।

आगे और भी देखिये श्री जिनसेनाचार्यरचित **महापुराण/ध्यानपर्व**/पर्व नंबर २१, श्लोक नंबर ११-

'' धीबलायत्तवृत्तित्वाद्ध्यानं तज्ज्ञैर्निरुच्यते।
यथार्थमभिसन्धानादपध्यानमतोऽन्यथा ॥११॥

अर्थ :- धी याने बुद्धि याने ज्ञान/बुद्धिपूर्वक यथार्थ के साथ अभिसंधान करने पर ध्यान याने सत्ध्यान अर्थात् शुद्धात्मानुभव होता है और बुद्धिपूर्वक अन्यथा याने अयथार्थ के साथ अभिसंधान करने पर अपध्यान याने असत्ध्यान या अशुद्धात्मानुभव याने आत्मानुभव नहीं होता है।

शंका – यहाँ श्लोकवार्तिकादि ग्रंथों के उद्धरणों के द्वारा 'कथंचित् ज्ञान और ध्यान एकार्थवाचक हैं।' ऐसा दिखाया है। लेकिन (a) **राजवार्तिक**-अध्याय ९, सूत्र २७, वार्तिक नं. १२ देखिए–

'' एकाग्रवचनं वैयग्र्यनिवृत्त्यर्थम् ॥१२॥ एकाग्रवचनं क्रियते वैयग्र्यनिवृत्त्यर्थम्। व्यग्रं हि ज्ञानं एव, न ध्यानम्। ''

व्यग्रता का निराकरण करने के लिये 'एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्' इस सूत्र में 'एकाग्र' यह शब्द लिखा है। '' ज्ञान ही व्यग्र होता है, ध्यान व्यग्र नहीं होता है। ''

आगे और (b) **राजवार्तिक**- अध्याय ९, सूत्र ३६, वार्तिक १२ की टीका में ऐसा लिखा है कि, **"अनित्यादिविषयचिन्तनं यदा ज्ञानं तदा अनुप्रेक्षाव्यपदेश: भवति, यदा तत्र एकाग्रचिन्तानिरोध: तदा धर्म्यध्यानम्।"**

अर्थ :- अनित्यादिविषय के चिंतन का जब ज्ञान होता है तब अनुप्रेक्षा व्यपदेश होता है और जब उसमें एकाग्रचिन्तानिरोध होता है तब धर्म्यध्यान होता है।

इसलिये उस कथन का और इस (a) तथा (b) कथन का सुसंवाद कैसे स्थापित किया जाता है?

समाधान - श्री उमास्वामी आचार्य रचित **तत्त्वार्थसूत्र**- अध्याय ९, सूत्र नं. २७ में लिखा है कि, **"उत्तमसंहननस्य एकाग्रचिन्तानिरोध: ध्यानं आअन्तर्मुहूर्तात्।"**

अर्थ :- उत्तमसंहननवाले का एकाग्रचिन्तानिरोध ध्यान अन्तर्मुहूर्त तक होता है।

यहाँ 'ध्यान' शब्द शुद्धध्यान के अर्थ में है। यहाँ 'एकाग्र' शब्द का अर्थ इसप्रकार है कि एक याने निजध्रुव और अग्र याने आत्मा [देखिये **राजवार्तिक - अध्याय ९, सूत्र नं. २७, वार्तिक नं. २१-'अंगति इति अग्रं आत्मा इति वा॥ अंगति इति अग्रं आत्मा इति अर्थ:।']**

इसलिये 'एकाग्र' शब्द का अर्थ 'निजध्रुवात्मा' है।

'निजध्रुवात्मा' यह विषय-ज्ञेय-प्रमेय-ध्येय-भोग्य-वेद्य-अनुभाव्य है। जब उस 'निजध्रुवात्मा' को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्षज्ञान से जानता है तब शुद्धात्मानुभव होता है, उसी समय चिन्ता का निरोध (व्यय) होता है, अर्थात् दुःख का नाश होता है अर्थात् सम्यक् - आनंद प्राप्त होता है।

देखिये श्री अकलंकदेवाचार्यविरचित तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक)-अध्याय नं. ९, सूत्र नं. २७, वार्तिक नं. २१- **"अंगतीत्यग्रमात्मेति वा॥२१॥ अथवा, अंगति इति अग्रं आत्मा इति अर्थ:। द्रव्यार्थतया एकस्मिन् आत्मनि अग्रे चिन्तानिरोध: ध्यानम्, तत् स्ववृत्तित्वात् बाह्यध्येयप्राधान्यापेक्षा निवर्तिता भवति।"**

अर्थ :- यहाँ अंगति याने अग्र अर्थात् आत्मा ऐसा अर्थ है। द्रव्यार्थिकनय से एक आत्मा में याने परमशुद्धनिश्चयनय का जो एकत्वविभक्तनिजात्मा यह विषय है। ['एकस्मिन् आत्मनि अग्रे' यहाँ विषय सप्तमी विभक्ति का प्रयोग है।] उस 'एकत्वविभक्तनिजात्मा' की प्रामाण्यसहित प्रत्यक्षज्ञान से जानते समय चिंता याने दुःख/आकुलता नष्ट होती है। वह शुद्ध ध्यान है। उस की स्व (याने एकत्वविभक्तनिजात्मा) में वृत्ति होने से (जानने से) बाह्य ध्येय (अर्थात् एकत्वविभक्तनिजात्मविषय को छोड़कर अन्य विषय) की प्राधान्य की अपेक्षा नहीं रहती। अर्थात् एकत्वविभक्तनिजध्रुवात्मा यह ही मुख्य विषय रहता है, अन्य विषय मुख्य नहीं रहते हैं। इसलिये 'एकत्वविभक्तनिजात्मा' को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्षज्ञान से जाननेवाली ज्ञानपर्याय को निर्विकल्पज्ञान, ध्यान, शुद्धात्मानुभव, शुद्धध्यान कहते हैं। अर्थात् ध्यान याने ज्ञानपर्याय है। इसके लिए देखिये **राजवार्तिक**-अध्याय नं. ९, सूत्र नं. २७, वार्तिक नं. ८-

"तथा दिध्यासो: अपि आत्मन: ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमविशेषतन्त्रत्वात् ध्यानपरिणामस्य युज्यते कर्तृत्वम्।"

अर्थ :- तथा '**ध्यान**' शब्द की कर्तृसाधन व्युत्पत्ति इस प्रकार है कि दिध्यासु (ध्यान का इच्छुक) आत्मा के भी 'ज्ञानावरणवीर्यान्तरायक्षयोपशमपर्यायतन्त्रपना से' ध्यानपरिणाम में कर्तृत्वसाधनरूप शब्दव्युत्पत्ति योजते हैं।

यहाँ '**ज्ञानावरण के क्षयोपशम से**' ऐसे शब्द हैं अर्थात् '**ज्ञानावरण के क्षयोपशम से**' **ज्ञानपर्याय** होती है। यहाँ 'चारित्रावरण के क्षयोपशम से अथवा उपशम से अथवा क्षय से' ऐसे शब्द नहीं हैं। 'अर्थात्

ज्ञानपर्याय को ध्यान कहते हैं' यह श्लोकवार्तिक का कथन सुसंवादयुक्त है।

इस दृष्टि से देखेंगे तब 'ज्ञान ही व्यग्र होता है और ध्यान व्यग्र नहीं होता अर्थात् ध्यान एकाग्र होता है'। इसका अर्थ- व्यग्र याने सविकल्पज्ञान और ध्यान याने निर्विकल्पज्ञान (एकत्वविभक्तनिजध्रुवज्ञानदर्शनानंदात्मा को जाननेवाला प्रामाण्यसहित प्रत्यक्षज्ञान), ऐसा होता है।

व्यग्र (पर) को मुख्य विषय करनेवाला ज्ञान सविकल्पज्ञान है, तथा 'निजध्रुवात्मा' को परोक्षरूप से जाननेवाला सविकल्पज्ञान है, तथा प्रामाण्य रहित ज्ञान भी सविकल्पज्ञान है। इन सविकल्पज्ञानों के समय चिन्ता-आकुलता (दुःख) होती है। उसको अशुद्धध्यान कहते हैं। [सर्वज्ञ भगवान् 'पर' को जानते हुए भी उनको आकुलता (दुःख) नहीं होती क्योंकि अपने निजध्रुवात्मा को ही तन्मयता से जानते हैं, पर को तन्मयता से नहीं जानते।]

एकाग्र (निजध्रुवात्मा) को विषय करके जाननेवाले प्रामाण्यसहित प्रत्यक्षज्ञान को निर्विकल्पज्ञान कहते हैं। उस निर्विकल्पज्ञान के समय चिन्ता-आकुलता (दुःख) नहीं होती है। उसको शुद्धध्यान कहते हैं।

जब (b) '**अनित्यादि विषय के चिंतन का ज्ञान होता है तब अनुप्रेक्षा व्यपदेश होता है**' याने सविकल्पज्ञान होता है; और '**जब उसमें एकाग्रचिन्तानिरोध होता है तब धर्म्यध्यान होता है**'। अर्थात् निजध्रुवात्मा का निर्विकल्पज्ञान होता है तब चिन्ता नष्ट होती है, उसी समय धर्म्यध्यान होता है। याने निर्विकल्पज्ञान को धर्म्यध्यान कहते हैं। धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान इन दोनों को प्रशस्त अर्थात् शुद्धध्यान कहते हैं। [**सर्वार्थसिद्धि-अध्याय ९, सूत्र २८** की टीका- "**कर्मनिर्दहनसामर्थ्यात् प्रशस्तम्**" कर्मदहन का (दुःख नष्ट करने का) सामर्थ्य होने से प्रशस्त है।] आर्त और रौद्र इनको अप्रशस्त याने अशुद्धध्यान कहते हैं। [**सर्वार्थसिद्धि-अध्याय ९, सूत्र २९ की टीका- "... आर्तरौद्रे संसारहेतू इति उक्तं भवति।"** आर्त और रौद्र ये दोनों संसार के (चिन्ता/आकुलता/दुःख के) कारण हैं।]

आगे और भी देखिये **समयसार-गाथा नं. १८६-**

"सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ॥१८६॥

अर्थ :- शुद्धात्मा (एकत्वविभक्तनिजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा) को जानता हुआ जीव शुद्ध ही आत्मा को प्राप्त करता है और अशुद्ध आत्मा को जानता हुआ जीव अशुद्ध आत्मा को ही प्राप्त करता है।

और भी देखिये **षट्खंडागम-धवल पुस्तक १, सूत्र १,** पृष्ठ नं. ५७ और **पंचास्तिकायसंग्रह तात्पर्यवृत्ति "तत्र साक्षात् प्रत्यक्षं अज्ञानविनाशः सज्ज्ञानोत्पत्तिः... प्रतिसमयं असंख्यातगुणश्रेण्या कर्मनिर्जरा च।"**

अर्थ :- उनमें से साक्षात् प्रत्यक्ष अज्ञानविनाश, 'सत्' ज्ञानकी उत्पत्ति और प्रतिसमय असंख्यातगुणश्रेणी से कर्मनिर्जरा होती है।

आगे और भी देखिये श्री **समंतभद्राचार्यविरचित देवागम-स्तोत्र (आप्तमीमांसा-स्तोत्र) कारिका नंबर १०२-**

"उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः।
पूर्वा वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे॥१०२॥"

तथा श्री **माणिक्यनन्दिरचित परीक्षामुखसूत्र-**अध्याय ५, सूत्र १-

"अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्।" ॥१॥

अर्थ :- ज्ञान का ज्ञानपर्यायरूप साक्षात् फल अज्ञाननिवृत्ति है और व्यवहित या परम्परा (याने ज्ञानपर्याय से अन्य पर्याय का याने निर्मोह गुण के श्रद्धागुण की और चारित्रगुण की पर्याय में) हान (त्याग), उपादान

(ग्रहण) और उपेक्षा ये फल होते हैं।

आगे और देखिये **समयसार - गाथा नं. १७ तथा १८ →**

> "**जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि।**
> **तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण ॥१७॥**
> **एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो।**
> **अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण ॥१८॥**"

अर्थ :- जैसे कोई धन का अर्थी पुरुष राजा को '**जानकर**' उसका **श्रद्धान** तथा प्रयत्नपूर्वक **अनुचरण** करता है, इसी प्रकार मोक्ष के इच्छुक को जीवरूप राजा को **जानना** चाहिये और उसका **श्रद्धान** तथा **अनुचरण** करना चाहिये।

अर्थात् 'एकत्वविभक्तनिजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा' का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्षज्ञान करता है उस ही समय सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र होता है। **यहाँ 'ज्ञान' शब्द प्रथम है उसके** पश्चात् श्रद्धा, चारित्र ऐसा लिखा है।

आगे और भी देखिये चरणानुयोग में '**दैवसिकादि**'- प्रतिक्रमण में लिखा है कि-

"... **मिथ्याज्ञानमिथ्यादर्शनमिथ्याचारित्रं च प्रति विरत: अस्मि, सम्यग्ज्ञानं सम्यग्दर्शनं सम्यक्चारित्रं च रोचे ...**"

अर्थ :- ... मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन, मिथ्याचारित्र के प्रति मैं विरत हूँ और सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन तथा सम्यक्चारित्र की रुचि करता हूँ। **यहाँ 'ज्ञान' शब्द पहले रखा है** बाद में दर्शन, चारित्र शब्द हैं।

आगे और भी देखिये **करणानुयोग/कर्मशास्त्र-षट्खंडागम-धवल-पुस्तक नं. १, सूत्र नं. ११५** की टीका में श्री वीरसेनाचार्यजी लिखते हैं कि-

"**किं तद्ज्ञानकार्यमिति चेत्, तत्त्वार्थे रुचि: प्रत्यय: श्रद्धा चारित्रस्पर्शनं च।**"

अर्थ :- शंका- उस ज्ञान का क्या कार्य है?

समाधान - 'तत्त्वार्थ में रुचि, प्रत्यय, श्रद्धा और चारित्र-स्पर्शन करना' यह ज्ञान का कार्य है।

शंका - यहाँ आगमप्रमाण देकर '**ज्ञानदर्शनचारित्र**' ऐसा दिखाया है (अर्थात् '**ज्ञान**'**से दर्शनचारित्र होते हैं,** ऐसा दिखाया है)। लेकिन **तत्त्वार्थसूत्र में** 'दर्शनज्ञानचारित्र' ऐसा दिखाया है। कृपा करके इनका स्पष्टीकरण कीजिये।

समाधान - भो! प्रभु! ॐ। संसार में भटकनेवाले, भ्रमण करनेवाले, चिंता करनेवाले सभी जीव प्रतिसमय आनंदमय जीवन जीना चाहते हैं, दु:खोंका नाश करना चाहते हैं; क्योंकि 'शाश्वत ज्ञानानंद' जीव का स्वभाव-धर्म है और सम्यक्-आनंदमय जीना जीव का पर्याय-धर्म है। पर्यायदृष्टि से अव्याबाध अनंत अतीन्द्रिय आनंद ही प्राप्त करना चाहिये। उस अव्याबाध अनंत अतीन्द्रिय आनंद को ही परमनि:श्रेयस सुख अर्थात् मोक्षसुख कहते हैं। उस जाति के परमानंद का अनुभव अव्रती सम्यक्त्वी जीव भी करता है। उस परमानंद की प्राप्ति के साधन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों मिलकर ही एक मोक्षमार्ग है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की पूर्णता ही मोक्षफल है।

अव्रती सम्यक्त्वी में मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है। मोक्षमार्ग शुरू होते समय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र युगपत् उत्पन्न होते हैं। अव्रती सम्यक्त्वी में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और अव्रतवाला सम्यक्चारित्र हैं। जहाँ सम्यग्दर्शन है, वहाँ उसी समय सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र हैं। जहाँ सम्यग्ज्ञान है, वहाँ उसी समय

सम्यग्दर्शन, सम्यक्‌चारित्र हैं। जहाँ सम्यक्‌चारित्र है, वहीं उसी समय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान हैं। **निश्चयदृष्टिसे-वास्तविकदृष्टि से तो अभी अपने पास 'शाश्वतज्ञानानंदस्वभाव' है। निश्चयदृष्टि से वह अपना शाश्वतधर्म है क्योंकि 'वत्थुसहावो धम्मो' याने जो वस्तु का स्वभाव है वह उसका धर्म है; और व्यवहारदृष्टि से-पर्यायदृष्टि से सम्यक् आनंदमय जीना अर्थात् आनंदमय परिणति प्रगट करना, अपनी आनंद अवस्था करना, पर्याय-धर्म है। उस आनंदपरिणति का मूलभूत साधन सम्यग्दर्शन है। 'दंसणमूलो धम्मो' सम्यग्दर्शन ही धर्म का मूल है।**

वह सम्यग्दर्शन अपने को हो गया है या नहीं हुआ, यह जानने के लिये शुद्धात्मानुभव याने शुद्धात्मोपलब्धि वह साधन है। क्योंकि देखिये **प्रवचनसार-गाथा नं. ८० 'जो जाणदि'** इत्यादि की श्री जयसेनाचार्य रचित तात्पर्यवृत्ति टीका- '**...अविकल्पस्वरूपे प्राप्ते...... दर्शनमोहान्धकारः प्रलीयते।**' जिस समय निर्विकल्पशुद्धात्मानुभव होता है, उसी समय दर्शनमोह का व्यय होता है याने सम्यग्दर्शन का उत्पाद (प्रकट) होता है।

आगे और भी देखिये **पंचाध्यायी, अध्याय २ रा, श्लोक नं. २१५ →**

"न स्यादात्मोपलब्धिर्वा सम्यग्दर्शनलक्षणम्।
शुद्धा चेदस्ति सम्यक्त्वं न चेच्छुद्धा न सा सुदृक्॥२१५॥

अर्थ :- आत्मोपलब्धि मात्र सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं है किन्तु यदि वह शुद्धात्मोपलब्धि हो, तो ही वह सम्यग्दर्शन का लक्षण है और यदि वह शुद्ध न हो, तो सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं है (याने अशुद्धात्मानुभव सम्यग्दर्शन का लक्षण नहीं है)।

शुद्धात्मानुभव यह निजध्रुवात्मा को जाननेवाला प्रामाण्यसहित प्रत्यक्षज्ञान है। देखिये- **पंचाध्यायी, अध्याय २ रा, श्लोक नं. ३८७-**

'अपि स्वात्मानुभूतिः तु ज्ञानं ज्ञानस्य पर्ययात्।'

अर्थ :- तथा स्वात्मानुभूति भी ज्ञान ही है, क्योंकि वह ज्ञान की पर्याय है।

हम जो विचार (ज्ञान) करते हैं, वह हम जानते हैं। याने प्रत्येक जीव स्वयं कौनसा विचार कर रहा है, यह स्वयं जानता है, और कैसे याने प्रत्यक्षज्ञान से अथवा परोक्षज्ञान से जान रहा है, यह भी स्वयं ही जानता है।

इसलिये मैंने किस विषय का-ज्ञेय का विचार किया यह अपने आपको समझ में आ जाता है; और मैंने उस विषय को प्रत्यक्ष जाना अथवा परोक्ष जाना, यह भी अपने आपको समझ में आ जाता है। तथा अपने को संशयादिरूप ज्ञान हुआ अथवा निर्णयरूप सच्चा ज्ञान हुआ, यह भी अपने आपको समझ में आ जाता है। उससे सम्यग्ज्ञान या मिथ्याज्ञान का भी निर्णय स्वयं कर सकता है। अर्थात् अपनी ज्ञानपर्याय सम्यग्ज्ञानपर्याय है अथवा मिथ्याज्ञानपर्याय है, यह निर्णय भी अपने आपको हो सकता है। तथा ज्ञान-विचार ही ध्यान है, इसलिये प्रशस्तध्यान (शुद्धध्यान) अथवा अप्रशस्तध्यान (अशुद्धध्यान) मैंने किया, यह भी अपने आपको समझ में आता है। इसलिये शुद्धात्मानुभव करना सुलभ हो गया। इन सभी कारणों से तथा एक अपेक्षा से **ज्ञानपर्याय को द्रव्यानुयोग में महत्त्व** दिया गया है।

आगे भी देखिये **पंचाध्यायी, अध्याय २ रा, श्लोक नं. ४०१ और ४०२ →**

प्रसिद्धं ज्ञानमेवैकं साधनादिविधौ चितः।
स्वानुभूत्येकहेतुश्च तस्मात्तत् परमं पदम्॥४०१॥

तत्राप्यात्मानुभूतिः सा विशिष्टं ज्ञानमात्मनः।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतमन्वयाद् व्यतिरेकतः॥४०२॥

अर्थ :–साधनादि विधि में चित् का एक ज्ञान ही प्रसिद्ध साधन है और शुद्ध स्वात्मानुभव ज्ञानपर्याय ही सम्यग्दर्शनादि साधनों का निर्णय करने में साधन है (अर्थात् अपने को सम्यग्दर्शन हुआ है या नहीं हुआ है, इसका निर्णय करने के लिये तथा सम्यग्ज्ञानादि और सम्यक्-आनंद का निर्णय करने के लिये शुद्धस्वात्मानुभव ज्ञानपर्याय ही साधन है)। इसलिये शुद्धस्वात्मानुभव ज्ञानपर्याय का परम पद (श्रेष्ठ पद) है। उसमें भी वह आत्मानुभूति आत्मा की विशिष्ट ज्ञानपर्याय है और उसका सम्यग्दर्शन के साथ अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार से अविनाभाव पाया जाता है।

सम्यक्त्व स्वानुभूतिरूप कब कहलाता है : →

ततोऽस्ति योग्यता वक्तुं व्याप्तेः सद्भावतस्तयोः।
सम्यक्त्वं स्वानुभूतिः स्यात् सा चेच्छुद्धनयात्मिका॥४०३॥

अर्थ :–चूँकि **सम्यग्दर्शन और स्वात्मानुभूति - इनकी व्याप्ति पाई जाती है**, इसलिये स्वानुभूतिरूप से सम्यग्दर्शन कहने योग्य हो जाता है। तब यह कहा जाता है कि स्वात्मानुभूति ही सम्यक्त्व है किन्तु तब उस स्वात्मानुभूति का शुद्धनयरूप होना आवश्यक है॥४०३॥

सम्यक्त्व के साथ व्याप्ति का खुलासा : →

किञ्चास्ति विषमव्याप्तिः सम्यक्त्वानुभवद्वयोः।
नोपयोगे समव्याप्तिरस्ति लब्धिविधौ तु सा॥४०४॥

अर्थ :–इतनी विशेषता है कि, सम्यग्दर्शन और स्वात्मानुभूति-इनकी विषम व्याप्ति है, क्योंकि उपयोगरूप अवस्था के रहते हुए इनकी समव्याप्ति नहीं पायी जाती। यदि पाई भी जाती है तो वह लब्धिरूप अवस्था के रहते हुए ही पायी जाती है॥४०४॥

इसी का स्पष्टीकरण : →

तद्यथा स्वानुभूतौ वा तत्काले वा तदात्मनि।
अस्त्यवश्यं हि सम्यक्त्वं यस्मात्सा न विनापि तत्॥४०५॥

अर्थ :–खुलासा इस प्रकार है :– जब स्वानुभव होता है या स्वानुभव का काल रहता है तब उसरूप आत्मा में सम्यक्त्व अवश्य पाया जाता है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना स्वानुभूति नहीं हो सकती॥४०५॥

सम्यक्त्व और लब्धिरूप ज्ञान : →

यदि वा सति सम्यक्त्वे स स्याद्वा नोपयोगवान्।
शुद्धस्यानुभवस्तत्र लब्धिरूपोऽस्ति वस्तुतः॥४०६॥

अर्थ :–अथवा सम्यक्त्व के होने पर आत्मा उपयोगवाला होता भी है और नहीं भी होता; किन्तु इतना अवश्य है कि सम्यक्त्व के होने पर शुद्ध आत्मा का अनुभव लब्धिरूप अवश्य रहता है॥४०६॥

उसका कारण : →

हेतुस्तत्रापि सम्यक्त्वोत्पत्तिकालेऽस्त्यवश्यत:।
तज्ज्ञानावरणस्योच्चैरस्त्यवस्थान्तरं स्वत: ॥४०७॥

अर्थ :– इसका कारण यह है कि सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय स्वानुभूतिरूप ज्ञानावरण कर्म की अवस्था पलट जाती है अर्थात् क्षयोपशम स्वयमेव नियम से हो जाता है॥४०७॥

उसका भी कारण : →

यस्माज्ज्ञानमनित्यं स्याच्छद्मस्थस्योपयोगवत्।
नित्यं ज्ञानमछद्मस्थे छद्मस्थस्य च लब्धिमत् ॥४०८॥

अर्थ :– क्योंकि छद्मस्थ का उपयोगात्मक ज्ञान अनित्य होता है और केवली का ज्ञान नित्य होता है। साथ ही छद्मस्थ का भी लब्धिरूप ज्ञान नित्य होता है॥४०८॥

सारांश →

नित्यं सामान्यमात्रत्वात् सम्यक्त्वं निर्विशेषत:।
तत्सिद्धा विषमव्याप्ति: सम्यक्त्वानुभवद्वयो: ॥४०९॥

अर्थ :– अपने अवान्तर भेदों की अपेक्षा किये बिना सामान्यरूप से सम्यक्त्व नित्य है, इसलिये सम्यक्त्व और अनुभव इन दोनों में विषम व्याप्ति सिद्ध होती है॥४०९॥

इसका आशय यह है कि :– एक अपेक्षा से सम्यक्त्व सीधे अपने अस्तित्व को नहीं सूचित करता; किन्तु ज्ञान द्वारा उसका अस्तित्व अवश्य जाना जाता है क्योंकि जीव को 'यह मैं शाश्वतशुद्धज्ञानानंदात्मा हूँ' ऐसा प्रामाण्यसहित प्रत्यक्षज्ञान होता है, अर्थात् ज्ञान से अपने सम्यग्ज्ञान के अस्तित्व का निर्णय हो जाता है। यह खुद अपनी समझ में आता है। यही कारण है कि यहाँ स्वानुभव और सम्यग्दर्शन की व्याप्ति बतलाई है। इसलिये **पहले ज्ञान शब्द रखा और पश्चात् दर्शन, चारित्र शब्द रखे गये हैं।**

लेकिन यह व्याप्ति छद्मस्थ में समरूप न होकर विषमरूप ही होती है। इतना अवश्य है कि, सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के समय स्वात्मानुभव प्रत्यक्षज्ञान नियम से होता है किन्तु छद्मस्थ जीव कदाचित् अपने आत्मानुभव में सोपयुक्त होता है और कदाचित् अन्य घटादि पदार्थों में; जब वह अन्य पदार्थों में उपयुक्त होता है तब उसके उपयोगरूप स्वानुभव नहीं पाया जाता। उस समय उसका उपयोग अन्य पदार्थों में रहता है। यही कारण है कि प्रकृत में स्वानुभव और सम्यक्त्व की विषम व्याप्ति बतलाई है। परन्तु इतना अवश्य है कि ऐसा जीव जब अन्य पदार्थ को जानता है तब भी इसके **स्वानुभव का लब्धिरूप ज्ञान तो पाया ही जाता है;** इसलिये इस दृष्टि से यदि विचार किया जाता है तो सम्यक्त्व और लब्धिरूप स्वानुभव की समव्याप्ति भी बन जाती है। इस प्रकार स्वानुभवज्ञान सम्यक्त्व का सहचारी होकर भी वह छद्मस्थ के सदाकाल उपयुक्त नहीं रहता, यह सिद्ध होता है।

तत्त्वार्थ-सूत्र में इसलिये पहले दर्शनशब्द रखा है और पश्चात् ज्ञान और चारित्र रखा है। उपर्युक्त विवेचन समझने के लिये ऐसी कल्पना करो कि श्रद्धा के दो पैर (भाग) हैं, तथा ज्ञान के दो पैर (भाग) हैं और चारित्र के दो पैर (भाग) हैं।

चार्ट नं. १ मिथ्यादृष्टि अवस्थामें

श्रद्धा के दोनों पैर बाहर-परकी तरफ हैं याने श्रद्धा उपयोगरूप से-जागृतरूप से पर की तरफ है।

और

ज्ञान के दोनों पैर बाहर-पर की तरफ हैं याने ज्ञान उपयोगरूप से पर की तरफ है, सविकल्पज्ञान है।

और

चारित्र के दोनों पैर बाहर-पर की तरफ हैं याने चारित्र उपयोगरूप से अशुद्धोपयोग है। इसप्रकार मिथ्यात्वी के छः हों पैर बाहर हैं।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति की अथवा सम्यक्त्वसहित निर्विकल्पज्ञान की अवस्था में→

श्रद्धा के दोनों पैर 'निजध्रुवात्मा की' तरफ हैं याने श्रद्धा उपयोगरूप से - जागृतरूप से 'निजध्रुवात्मा की' तरफ है।

और

ज्ञान के दोनों पैर 'निजध्रुवात्मा' की तरफ हैं याने बुद्धिपूर्वक ज्ञान उपयोगरूप से 'निजध्रुवात्मा' की तरफ है, निर्विकल्पज्ञान है।

और

चारित्र के दोनों पैर 'निजध्रुवात्मा' की तरफ हैं याने चारित्र बुद्धिपूर्वक शुद्धोपयोगरूप है, बुद्धिपूर्वक समता याने वीतरागता है।

और

सम्यग्दर्शनसहित सविकल्पज्ञान की अवस्था में →

श्रद्धा के दोनों पैर 'निजध्रुवात्मा' की तरफ हैं याने श्रद्धा उपयोगरूप से - जागृतरूप से 'निजध्रुवात्मा' की तरफ है।

और

ज्ञान का एक पैर 'निजध्रुवात्मा' की तरफ है याने स्वात्मानुभवज्ञान लब्धिरूपज्ञान है।

और

चारित्र का एक पैर 'निजध्रुवात्मा' की तरफ है याने परिणतिरूप (लब्धिरूप) वीतरागता है, समता है।

ज्ञान का एक पैर 'पर' की तरफ है याने उपयोगरूप ज्ञानोपयोग 'पर' की तरफ है याने बाहर है, सविकल्पज्ञान है।

और

चारित्र का एक पैर 'पर' की तरफ है याने अशुद्धोपयोग है, विषमता है, कषाय परिणाम है।

और

जब फिर सम्यग्दर्शनसहित निर्विकल्पज्ञान की अवस्था आयेगी तब →

श्रद्धा के दोनों पैर 'निजध्रुवात्मा की' तरफ हैं याने श्रद्धा उपयोगरूप से - जागृतरूप से 'निजध्रुवात्मा की' तरफ है।

और

ज्ञान के दोनों पैर 'निजध्रुवात्मा' की तरफ हैं याने बुद्धिपूर्वक ज्ञान उपयोगरूप से 'निजध्रुवात्मा' की तरफ है, निर्विकल्पज्ञान है।

और

चारित्र के दोनों पैर 'निजध्रुवात्मा' की तरफ हैं याने चारित्र बुद्धिपूर्वक शुद्धोपयोगरूप है, बुद्धिपूर्वक समता याने वीतरागता है।

और

जब फिर सम्यग्दर्शनसहित सविकल्पज्ञान की अवस्था आयेगी तब →

श्रद्धा के दोनों पैर 'निजध्रुवात्मा' की तरफ हैं याने श्रद्धा उपयोगरूप से-जागृतरूप से 'निजध्रुवात्मा' की तरफ है।

और

ज्ञान का एक पैर 'निजध्रुवात्मा' की तरफ है याने स्वात्मानुभवज्ञान लब्धिरूपज्ञान है।

ज्ञान का एक पैर 'पर' की तरफ है याने उपयोगरूप ज्ञानोपयोग 'पर' की तरफ है याने बाहर है, सविकल्पज्ञान है।

और

चारित्र का एक पैर 'निजध्रुवात्मा' की तरफ है याने परिणतिरूप (लब्धिरूप) वीतरागता है, समता है।

चारित्र का एक पैर 'पर' की तरफ है याने अशुद्धोपयोग है, विषमता है, कषाय परिणाम है।

और

फिर सम्यग्दर्शनसहित निर्विकल्पज्ञान की अवस्था में →

श्रद्धा के दोनों पैर 'निजध्रुवात्मा की' तरफ हैं याने श्रद्धा उपयोगरूप से - जागृतरूप से 'निजध्रुवात्मा की' तरफ है।

और

ज्ञान के दोनों पैर 'निजध्रुवात्मा' की तरफ हैं याने बुद्धिपूर्वक ज्ञान उपयोगरूप से 'निजध्रुवात्मा' की तरफ है, निर्विकल्पज्ञान है।

और

चारित्र के दोनों पैर 'निजध्रुवात्मा' की तरफ हैं याने चारित्र बुद्धिपूर्वक शुद्धोपयोगरूप है, बुद्धिपूर्वक समता याने वीतरागता है।

इससे यह सुस्पष्ट हुआ कि, (१) सम्यग्दर्शन सहित निर्विकल्पज्ञान की अवस्था और (२) सम्यग्दर्शन सहित सविकल्पज्ञान की अवस्था-इन दोनों अवस्थाओं में श्रद्धा के दोनों पैर 'निजध्रुवात्मा' की तरफ ही थे। लेकिन सम्यग्दर्शन सहित निर्विकल्पज्ञान के क्षण में ज्ञान के दोनों पैर और चारित्र के दोनों पैर 'निजध्रुवात्मा' की तरफ थे; तो भी सम्यग्दर्शन सहित सविकल्पज्ञान के क्षण में ज्ञान का एक ही पैर और चारित्र का एक ही पैर 'निजध्रुवात्मा' की तरफ थे। इसलिये **सम्यग्दर्शन की महानता है।** अत: तत्त्वार्थसूत्र में पहले 'सम्यग्दर्शन' शब्द रखा है पश्चात् ज्ञान, चारित्र यह शब्द रखे हैं।

दूसरी विवक्षा यह है कि गुणस्थान ४ थे से गुणस्थान ७ वें तक के किसी भी गुणस्थान में 'सम्यग्दर्शन' की पूर्णता याने **क्षायिक** सम्यग्दर्शन हो जाता है। इसके बाद १३ वें गुणस्थान में सर्वज्ञता याने-क्षायिकज्ञान हो जाता है; और उसके बाद गुणस्थान १४ के अंत में सिद्ध होने के प्रथम समय में सम्यक्चारित्र की पूर्णता हो जाती है। इसलिये भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ऐसा क्रम रखा है।

ऐसा है तो भी अनादि मिथ्यात्व का व्यय होकर अव्रती अवस्था में प्रथमोपशम सम्यक्त्व का उत्पाद होते समय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र **ये तीनों एकसाथ (युगपत्) उत्पन्न होते हैं।**

ऐसे महान सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति अपने को हुई है, यह जानने के लिये कौनसा लक्षण है? तो उसका समाधान यह है कि '**शुद्धस्वात्मानुभव प्रामाण्यसहित प्रत्यक्षज्ञानपर्याय**' यह सम्यग्दर्शन का लक्षण है क्योंकि वह शुद्धात्मानुभव प्रत्यक्षज्ञानपर्याय आत्मा की विशिष्ट ज्ञानपर्याय है और उसका सम्यग्दर्शन के साथ अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार से अविनाभाव पाया जाता है। इसलिये '**शुद्धात्मानुभव ज्ञानपर्याय**' का महत्व विशेषरूप से है।

शंका :– चारित्र के उपयोगरूप परिणाम और लब्धि याने परिणतिरूप परिणाम इनका कुछ विशेष वर्णन कीजिये।

समाधान :– इनका वर्णन पंचाध्यायी, समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकायसंग्रह, नियमसार, अष्टपाहुड, महापुराणादि, जयधवल, धवल, महाधवल आदि ग्रंथों में है। वहाँसे देखना चाहिये। स्थूल स्वरूप से यहाँ कुछ संदृष्टियाँ लिखी हैं।

मिथ्यात्वी का अशुभभाव-अशुभोपयोग

श्रद्धा	ज्ञान		चारित्र	
मिथ्यात्वी के श्रद्धा के दोनों पैर 'पर' की तरफ याने बाहर हैं याने **मिथ्यादर्शन** है।	मिथ्यात्वी के बुद्धिपूर्वक ज्ञान के दोनों पैर 'पर' की तरफ याने बाहर है, निंदा का विचार सविकल्पज्ञान है। मिथ्याज्ञान है, बुद्धिपूर्वक **सविकल्पज्ञान** है।	मिथ्यात्वी का अबुद्धिपूर्वक ज्ञान भी **सविकल्पज्ञान** है।	मिथ्यात्वी के बुद्धिपूर्वक चारित्र के दोनों पैर 'पर' की तरफ याने बाहर हैं, याने बुद्धिपूर्वक **अशुभोपयोग** है।	मिथ्यात्वी का अबुद्धिपूर्वक चारित्र परिणाम **अशुद्धोपयोग** है।
			इसका विशेष वर्णन जयधवल, धवल, महाधवलादि में देखो।	

उसके पश्चात् मिथ्यात्वी का शुभभाव-शुभोपयोग

श्रद्धा	ज्ञान		चारित्र	
मिथ्यात्वी के श्रद्धा के दोनों पैर 'पर' की तरफ याने बाहर हैं याने **मिथ्यादर्शन** है।	मिथ्यात्वी के बुद्धिपूर्वक ज्ञान के दोनों पैर 'पर' की तरफ हैं याने बाहर हैं, स्तुति आदिका विचार है, सविकल्पज्ञान है। बुद्धिपूर्वक **सविकल्पज्ञान** है। [अथवा कभी यदि देशनालब्धि के समय अथवा प्रायोग्यलब्धि के समय कभी स्व की तरफ है, कभी पर की तरफ है अथवा करणलब्धि के समय '**निजध्रुवात्मा**' का विचार होता है लेकिन उस समय विशिष्ट प्रामाण्य सहित प्रत्यक्षज्ञान नहीं है। सविकल्पज्ञान है। उनका दिग्दर्शन अन्यत्र है, यहाँ दिखाया नहीं।]	मिथ्यात्वी का अबुद्धिपूर्वक ज्ञान भी पर की तरफ है याने **सविकल्पज्ञान** है।	मिथ्यात्वी के बुद्धिपूर्वक चारित्र के दोनों पैर 'पर' की तरफ हैं याने बाहर हैं, याने बुद्धिपूर्वक **शुभोपयोग** है। [देशनालब्धि के समय अथवा प्रायोग्यलब्धिके समय कभी '**स्व**' की तरफ हैं, कभी पर की तरफ है अथवा करणलब्धि के समय '**निजध्रुवात्मा**' की तरफ हैं।]	मिथ्यात्वी का अबुद्धिपूर्वक चारित्र परिणाम **अशुद्धोपयोग** है।
			इस का वर्णन जयधवल, धवल, महाधवलादि में देखना चाहिये।	

छद्मस्थ सम्यक्त्वी का शुद्धभाव-समभाव-शुद्धोपयोग

श्रद्धा	ज्ञान		चारित्र	
श्रद्धा के दोनों पैर 'निज' ध्रुवात्मा' की तरफ याने **सम्यग्दर्शन** उपयोगरूप अर्थात् जागृतरूप है। शुद्धपरिणाम है।	बुद्धिपूर्वक ज्ञान के दोनों पैर '**निजध्रुवात्मा**' की तरफ उपयोगरूप हैं, प्रामाण्यसहित प्रत्यक्षज्ञान है। **निर्विकल्पज्ञान** है।	अबुद्धिपूर्वक ज्ञान 'पर' की तरफ है याने **सविकल्पज्ञान** है।	बुद्धिपूर्वक चरित्र के दोनों पैर '**निजध्रुवात्मा**' की तरफ हैं याने भीतर हैं। याने बुद्धिपूर्वक समभाव है। **शुद्धोपयोग** है। [अव्रती सम्यक्त्वी को मिथ्यात्वानन्तानुबंधी कषायों का उदय नहीं है लेकिन अप्रत्याख्यानादि का मंद उदय है। सम्यक्त्व सहित देशव्रती को मिथ्यात्वानन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण कषायों का उदय नहीं है। प्रत्याख्यानावरण का मंद उदय है। सम्यक्त्व सहित महाव्रती को मिथ्यात्वानन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण का उदय नहीं है, लेकिन ७ वें से १० वें गुणस्थान तक यथायोग्य संज्वलनादि का मंद उदय है। गुणस्थान ११ तथा १२ में कषाय उदय नहीं।]	अबुद्धिपूर्वक कषाय है। **अशुद्धोपयोग** है। (गुणस्थान ११ वें में कषाय का उदय नहीं है, उपशांत कषाय है। और गुणस्थान १२ वें में कषाय का सद्भाव भी नहीं और उदय भी नहीं। गुणस्थान ४ थे में और गुणस्थान चौथे से दसवें तक यथायोग्य संज्वलनादि कषाय का उदय है।)
	इसके लिये देखिये → (१) पंचाध्यायी (२) बृहद्‌द्रव्यसंग्रह की श्री ब्रह्मदेवकृत संस्कृत टीका- गाथा नं. ४२ की, ४८ की टीका (३) समयसार-श्री जयसेनाचार्यरचित ता. वृ. (गाथा नं. २९२- आ.ख्या.)		इस का विशेष वर्णन जयधवलादि में देखो।	

छद्मस्थ-सम्यक्त्वी का शुभभाव-शुभोपयोग

श्रद्धा	ज्ञान			चारित्र		
श्रद्धा के दोनों पैर 'निज' ध्रुवात्मा की तरफ है याने **सम्यग्दर्शन** उपयोगरूप अर्थात् जागृतरूप है। **शुद्ध परिणाम** है।	बुद्धिपूर्वक ज्ञान का एक पैर 'पर' की तरफ उपयोगरूप है। **सविकल्पज्ञान** है। [अथवा कभी बुद्धिपूर्वक ज्ञान का एक पैर 'निजध्रुवात्मा' की तरफ है, लेकिन उस क्षण में **सविकल्प स्वसंवेदन** है।]	ज्ञान का एक पैर **'निज-ध्रुवात्मा'** की तरफ है याने **लब्धिरूप स्वात्मानुभव** (स्वसंवेदन लब्धिरूप) है।	अबुद्धिपूर्वक सविकल्पज्ञान है।	बुद्धिपूर्वक चारित्र का एक पैर 'पर' की तरफ है याने बुद्धिपूर्वक विषम भाव है। स्तुति वा अन्य **शुभोपयोग** है। [अव्रती सम्यक्त्वी को अप्रत्याख्यानादि कषाय का तीव्र उदय है। अथवा सम्यक्त्व सहित देशव्रती को प्रत्याख्यानादि का तीव्र उदय है। अथवा सम्यक्त्व सहित महाव्रती को प्रमत्तसंयत गुणस्थान में संज्वलन कषाय का तीव्र उदय है।]	चारित्र का एक पैर **'निजध्रुवात्मा'** की तरफ है। याने वीतराग है। अर्थात् परिणतिरूप **(लब्धिरूप) शुद्धभाव** है। शुद्धपरिणाम है। [चतुर्थगुणस्थानवर्ती को मिथ्यात्वानन्तानुबंधी कषायों का उदय नहीं है अर्थात् पाषाण-रेखादि समान रागादि का अभाव है। अथवा पंचमगुणस्थानवर्ती को मिथ्यात्वानन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण कषायों का उदय नहीं है अर्थात् पाषाणरेखादि समान, और भूमिरेखादि समान रागादि का अभाव है।]	अबुद्धिपूर्वक कषाय है। **अशुद्धोपयोग** है। [अव्रती सम्यक्त्वी को अप्रत्याख्यानादि कषायों का उदय है। अथवा पंचमगुणस्थानवर्ती को प्रत्याख्यानादि का उदय है। अथवा प्रमत्तसंयत छट्ठे गुणस्थानवर्ती को संज्वलनकषाय का उदय है।]
	[पंचाध्यायी और बृहद्द्रव्यसंग्रह-गाथा ४२, ४८, १३, १४ की श्री ब्रह्मदेवकृत संस्कृत टीका और समयसार-गाथा २९२ (आ.ख्या.) की श्री जयसेनाचार्यरचित संस्कृत टीका देखिये।]			इस का विशेष वर्णन जयधवल, धवल, महाधवलादि में देखना चाहिये।		

छद्मस्थ-सम्यक्त्वी का अशुभभाव-अशुभोपयोग

श्रद्धा	ज्ञान			चारित्र		
श्रद्धा के दोनों पैर 'निज ध्रुवात्मा की तरफ हैं याने **सम्यग्दर्शन** उपयोगरूप अर्थात् जागृतरूप है। **शुद्ध परिणाम** है।	बुद्धिपूर्वक ज्ञान का एक पैर 'पर' की तरफ उपयोगरूप है। **सविकल्पज्ञान** है।	ज्ञान का एक पैर '**निज-ध्रुवात्मा**' की तरफ है याने **लब्धिरूप स्वात्मानुभव** है।	बुद्धिपूर्वक सविकल्प ज्ञान है।	बुद्धिपूर्वक चारित्र का एक पैर 'पर' की तरफ है याने बुद्धिपूर्वक विषम भाव है। निंदा या अन्य **अशुभोपयोग** है। [चतुर्थ गुणस्थानवर्ती को अप्रत्याख्यानादि का तीव्र उदय है। आर्त अथवा रौद्र परिणाम है। अथवा पंचमगुणस्थानवर्ती को प्रत्याख्यानावरण का तीव्र उदय है। आर्त या रौद्र परिणाम है। अथवा प्रमत्तसंयत छट्ठे गुणस्थानवर्ती को संज्वलन का तीव्र उदय है। आर्त परिणाम है।]	चारित्र का एक पैर '**निजध्रुवात्मा**' की तरफ-है। याने वीतराग है। अर्थात् **परिणतिरूप (लब्धिरूप) शुद्धभाव** है। शुद्धपरिणाम है। [चतुर्थ गुणस्थानवर्ती को मिथ्यात्वानन्तानुबंधी कषायों का उदय नहीं है। अर्थात् पाषाणरेखादि समान रागादि का अभाव है। अथवा पंचम गुणस्थानवर्ती को मिथ्यात्वानन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यानावरण कषायों का उदय नहीं है। अर्थात् पाषाणरेखा और भूमिरेखादि समान रागादि का अभाव है। अथवा छट्ठे गुणस्थानवर्ती को मिथ्यात्वानन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषायों का उदय नहीं है अर्थात् पाषाणरेखा, भूमिरेखा और धूलिरेखा आदि समान रागादि का अभाव है।]	अबुद्धिपूर्वक कषाय है। **अशुद्धोपयोग** है। [चतुर्थ गुणस्थानवर्ती को अप्रत्याख्याना-वरणादि कषायों का उदय है। अथवा पंचम गुणस्थानवर्ती को प्रत्याख्याना-वरणादि कषायों का उदय है। अथवा प्रमत्तसंयत छट्ठे गुणस्थानवर्ती को संज्वलन कषायों का उदय है।]
	[बृहद्द्रव्यसंग्रह की श्री ब्रह्मदेवकृत संस्कृत टीका-गाथा नं. ४२ और गाथा ४८, समयसार-गाथा २९२ की श्री जयसेनाचार्यविरचित संस्कृत टीका और पंचाध्यायी देखिये।]			इस का विशेष वर्णन जयधवल, धवल, महाधवलादि में देखना चाहिये।		

मिथ्यादृष्टि का अशुभोपयोग अन्तर्मुहूर्त ही रहता है और **मिथ्यादृष्टि का शुभोपयोग** भी अन्तर्मुहूर्त ही रहता है। क्षपकश्रेणी के क्षण को छोड़कर **सम्यग्दृष्टि का शुद्धोपयोग** अन्तर्मुहूर्त ही रहता है और **सम्यग्दृष्टि का शुभोपयोग** भी अन्तर्मुहूर्त ही रहता है और **सम्यग्दृष्टि का अशुभोपयोग** भी अन्तर्मुहूर्त ही रहता है।

इसके लिये देखिये- **कार्तिकेयानुप्रेक्षा-गाथा नं. ४७०** →

"अंतोमुहुत्तमेत्तं लीणं वत्थुम्मि माणसं णाणं।
झाणं भण्णदि समए असुहं च सुहं (सुद्धं) च तं दुविहं॥४७०॥"

अर्थ :- चेतनोपयोग वस्तु में एक अन्तर्मुहूर्त तक रहता है, उसको आगम में **ध्यान** कहते हैं, वह अशुभ और शुभ अथवा पाठभेद से शुद्ध ऐसे दो प्रकार का है।

श्री समयसार-गाथा नं. १७१ →

"जम्हा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणो वि परिणमदि।
अण्णत्तं णाणगुणो... ॥१७१॥"

अर्थ :- क्योंकि ज्ञानगुण जघन्य ज्ञानगुण के कारण फिर से भी अन्यत्व रूप से परिणमन करता है,....

आगे और भी देखिये श्री **जिनसेनाचार्यविरचित महापुराण-पर्व नं. २१**→ श्लोक नं. ३८ और ४४→

"अप्रशस्ततमं लेश्यात्रयमाश्रित्य जृम्भितम्।
अन्तर्मुहूर्तकालं तदप्रशस्तावलम्बितम्॥३८॥"

अर्थ :- अप्रशस्ततम तीन लेश्याओं का आश्रय करके चार प्रकार का आर्तध्यान होता है और वह अन्तर्मुहूर्त काल तक अप्रशस्त का अवलम्बन लेने से होता है।

"प्रकृष्टतरदुर्लेश्यात्रयोपोद्बलबृंहितम्।
अन्तर्मुहूर्तकालोत्थं पूर्ववद्भावमिष्यते॥४४॥"

अर्थ :- प्रकृष्टतर तीनों दुर्लेश्याओं के बल से रौद्रध्यान वृद्धिगत होता है, उसकी मर्यादा अन्तर्मुहूर्त है और आर्तध्यान के समान इसमें क्षायोपशमिकभाव है।

आगे और भी देखिये **श्रीशुभचंद्राचार्यविरचित ज्ञानार्णव-प्रकरण नं. २६,श्लोक नं. ३९** →

"क्षायोपशमिको भावः कालश्चान्तर्मुहूर्तकः।
दुष्टाशयवशादेतदप्रशस्तावलम्बनम्॥३९॥"

अर्थ :- यह क्षायोपशमिकभाव है, इसका काल अन्तर्मुहूर्त है और दुष्ट आशय के वश से अप्रशस्त का अवलम्बन करनेवाला है।

आगे और भी देखिये **ज्ञानार्णव-प्रकरण २८**→ श्लोक नं. २८ →

"किं च कैश्चिच्च धर्मस्य चत्वारः स्वामिनः स्मृताः।
सद्दृष्ट्याद्यप्रमत्तान्ता यथायोग्येन हेतुना॥२८॥"

अर्थ :- यथायोग्य हेतु से अव्रती सम्यक्त्वी, देशव्रती सम्यक्त्वी और प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत ये चार गुणस्थानवर्ती जीव **धर्म्यध्यान के स्वामी हैं**, ऐसा कितने ही याने अनेक आचार्यों द्वारा कहा गया है।

श्री पूज्यपादाचार्य सर्वार्थसिद्धि-अध्याय ९, सूत्र नं. ३६ की टीका में लिखते हैं कि →

"तदविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्तसंयतानां भवति।"

अर्थ :- वह धर्म्यध्यान अविरत सम्यक्त्वी, देशविरत सम्यक्त्वी, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत को होता है।

आर्तध्यान के स्वामी →

तत्त्वार्थसूत्र-अध्याय ९, सूत्र ३० से ३४-

"आर्तम्... तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम्।"

अर्थ :- अव्रती, देशव्रती और प्रमत्तसंयत इनको आर्तध्यान हो सकता है।

रौद्रध्यान के स्वामी-

तत्त्वार्थसूत्र-अध्याय ९, सूत्र ३५-

"हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः।"

अर्थ :- हिंसा, झूठ, चोरी और विषयसंरक्षणों के लिये होनेवाला रौद्रध्यान अव्रती और देशव्रती को होता है।

आगे और भी देखिये जयधवल पुस्तक नं. १३, प्रस्तावना पृष्ठ नं. १५-

"इतनी विशेषता है कि संयतासंयत के निमित्त से गुणश्रेणिनिर्जरा के सतत होते रहने का नियम है, इसलिये संयतासंयत के गुणश्रेणिनिर्जरा का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कुछ कम एक पूर्वकोटिप्रमाण है। इतना अवश्य है कि यह गुणश्रेणिनिर्जरा यथासम्भव विशुद्धि और संक्लेश के अनुसार न्यूनाधिक होती रहती है।"

इसके लिये देखिये जयधवल पुस्तक नं. १३, पृष्ठ नं. १२९ और १३०-

* "जाव संजदासंजदो ताव गुणसेढिं समए समए करेदि।

४५. जाव संजदासंजदो होदूण चिट्ठदि ताव समए समए असंखेज्जे समयपबद्धे ओकड्डियूण गुणसेढिणिज्जरं करेदि, ण तत्थ पडिसेहो अत्थि त्ति वुत्तं होइ। किं कारणमेवं होदि त्ति चे? ण, संजमासंजमगुणसेढिणिबंधणाए गुणसेढिणिज्जराए जाव सो गुणो ण फिट्टदि ताव पवुत्तीए बाहाणुवलंभादो। तदो संजदासंजदगुणसेढिणिज्जराकालो जहण्णेणंतोमुहुत्तमेत्तो, उक्कस्सेण देसूणपुव्वकोडिमेत्तो त्ति घेत्तव्वो। किं पुण एदम्मि काले गुणसेढिणिज्जरं कुणमाणो संकिलेसविसोहिअद्धासु सव्वत्थेवाविसेसेण असंखेज्जगुणं पदेसग्गमोकड्डियूण समये समये गुणसेढिं करेदि, किमाहो संकिलेस-विसोहीसु परियत्तमाणस्स संकिलेसकाले हीयमाणो विसोहिकाले च वड्डमाणो गुणसेढिणिक्खेवो होदि त्ति एदिस्से पुच्छाए णिरारेगीकरणट्ठमुत्तरसुत्तविण्णासो-

४४. अब स्वस्थान विशुद्धि से गिरे हुए संयतासंयत के जिसप्रकार स्थितिघात और अनुभागघात नहीं होते, क्या इसप्रकार गुणश्रेणिनिर्जरा भी सम्भव नहीं है या सम्भव है? ऐसा पूछने पर उसका निर्णय करने के लिये आगे के सूत्र को कहते हैं-

किन्तु जब तक संयतासंयत है तब तक समय-समय में गुणश्रेणि निर्जरा को करता है।

४५. जब तक संयतासंयत होकर रहता है तब तक समय-समय में असंख्यात समयप्रबद्धों का अपकर्षण

कर गुणश्रेणिनिर्जरा करता है, वहाँ उसका निषेध नहीं है, यह उक्त कथन का तात्पर्य है।

शंका – ऐसा होता है इसका क्या कारण है?

समाधान – नहीं, क्योंकि जब तक संयमासंयम गुणस्थान नष्ट नहीं होता तब तक संयमासंयम गुणश्रेणिनिमित्तक गुणश्रेणिनिर्जरा की प्रवृत्ति में कोई बाधा उपलब्ध नहीं होती।

इसलिये संयतासंयत गुणश्रेणिनिर्जरा का जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल कुछ कम एक पूर्वकोटिप्रमाण है, ऐसा ग्रहण करना चाहिए। तो क्या इस काल में गुणश्रेणि निर्जरा करता हुआ संक्लेश के काल में और विशुद्धि के काल में सर्वत्र ही सामान्यरूप में असंख्यातगुणे प्रदेशपुञ्ज का अपकर्षण कर समय-समय में गुणश्रेणि करता है या क्या संक्लेश और विशुद्धि में परिवर्तन करनेवाले उक्त जीव के संक्लेशकाल में घटता हुआ और विशुद्धि काल में वृद्धिंगत गुणश्रेणिनिक्षेप होता है? इसप्रकार इस पृच्छा के निराकरण करने के लिये आगे के सूत्र का विन्यास है-

* **विसुज्झंतो वि असंखेज्जगुणं वा संखेज्जगुणं वा संखेज्जभागुत्तरं वा असंखेज्जभागुत्तरं वा करेदि। संकिलिस्संतो एवं चेव गुणहीणं वा विसेसहीणं वा करेदि।**

अर्थ :– विशुद्धि को प्राप्त होता हुआ भी उक्त जीव प्रतिसमय असंख्यातगुणे, संख्यातगुणे, संख्यात भाग अधिक या असंख्यात भाग अधिक प्रदेशपुञ्ज का गुणश्रेणि में निक्षेप करता है। तथा संक्लेश को प्राप्त हुआ उक्त जीव इसी प्रकार से असंख्यातगुणे हीन, संख्यातगुणे हीन, संख्यात भाग हीन या असंख्यात भाग हीन प्रदेशपुंज का गुणश्रेणि में निक्षेप करता है।''

व्याख्या :– क्षपकश्रेणि के समय का चारित्र छोड़कर अन्य क्षण में सम्यक्त्वी जीव का चारित्र-उपयोगरूप चारित्र जब सम्यक्त्वसहित निर्विकल्पज्ञान है तब चारित्र के दोनों पैर '**निजध्रुवात्मा**' की तरफ हैं और जब सम्यक्त्वसहित सविकल्पज्ञान है तब चारित्र का एक पैर '**निजध्रुवात्मा**' की तरफ है, ऐसा होता है। लेकिन सम्यक्त्वसहित निर्विकल्पज्ञान के क्षण में और सम्यक्त्वसहित सविकल्पज्ञान के क्षण में श्रद्धा के दोनों पैर '**निजध्रुवात्मा**' की तरफ हैं। इसलिये '**सम्यग्दर्शन**' का महत्त्व है, लेकिन उस सम्यग्दर्शन का निर्णय करने का कार्य निजध्रुवात्मा को जाननेवाला प्रामाण्यसहित प्रत्यक्षज्ञान करता है। इसलिये **ज्ञानपर्याय का महत्त्व है।**

आगे और भी देखिये **समयसार-गाथा नं. २९६-**

''कह सो घिप्पदि अप्पा पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा।
जह पण्णाइ विभत्तो तह पण्णाएव घित्तव्वो॥२९६॥''

अर्थ :– प्रश्न- वह आत्मा कैसे ग्रहण किया जाय?

उत्तर :– प्रज्ञा के द्वारा वह आत्मा ग्रहण किया जाता है। जैसे प्रज्ञा के द्वारा भिन्न किया उसी प्रकार प्रज्ञा के द्वारा ही ग्रहण करना चाहिये।

आगे और भी देखिये- **तत्त्वसार-गाथा नं. ६५** '**णिहए राए सेण्णं**' इत्यादि की संस्कृत टीका-

''तथा मोहराजे निहते विनाशिते। **केन? ज्ञानखड्गेण।** किं भवति? गलन्ति नाशं गच्छन्ति। कानि? निःशेषघातीनि निःशेषाणि समस्तानि च तानि घातिकर्माणि, तानि इति...''

अर्थ :– उसी प्रकार **ज्ञानरूपी खड्ग से** मोहराज का विनाश कर दिया जाने पर समस्त घातिकर्म स्वयं

ही नष्ट हो जाते हैं।

आगे और भी देखिये- **सुदृष्टितरंगिणी-पर्व नं. १२, गाथा नं. ३५** और उसका पं. टेकचंदजी द्वारा लिखित अर्थ-

"असुहो विचारो हेयो, सदुधो धम्म झाण चिंताये।
सम्मत्तं सहल सुहावो, गेहे आदेय हेयणे माए॥३५॥

अर्थ :- तहाँ सम्यग्दृष्टि जो विचार करै सो सहज ही ज्ञेय, हेय, उपादेय करि तीन प्रकार होय जाय है। तहाँ भले-बुरे विचार का समुच्चय विचार करना (जानना) सो तो ज्ञेय है। ताहि के भेद दोय हैं। एक विचार तो हेय है। एक उपादेय है। सो प्रथम हेय जो त्याग योग्य सर्व विचार ताका स्वरूप कहिये है। **विचार नाम ध्यान का है।**"

यहाँ विचार याने ज्ञान को ही ध्यान कहा है।

ऐसी ज्ञान की महानता है। ज्ञान के द्वारा वस्तुस्वरूप को जानकर ही शुद्धात्मा का ध्यान किया जाता है। **ज्ञान के द्वारा ही शुद्धात्मानुभव किया जाता है,** अभी इस पंचमकाल में भी परमानंदमय भोग कर सकते हैं। **उसी ज्ञान के द्वारा सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र कर सकते हैं।**

संस्कृत पृष्ठ नं. ५५, परिच्छेद नं. १ →

उस कारण से ही जीवादि का अधिगम करने के उपायभूत (आ) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञानपर्याय और (ब) नयज्ञानपर्याय भी विवेचनीय हैं।

विशेषार्थ :- (आ) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञानपर्याय का स्वरूप और भेद तथा (ब) नयज्ञानपर्याय का स्वरूप और भेद जानने से **शुद्धात्मानुभव** के समय '**किस ज्ञानपर्याय का प्रयोग करना**' यह समझ जाओगे; और शुद्धात्मानुभव करने का साधन बहुत सुलभ है, यह समझ में आ जाएगा। सम्यक्-आनंद प्राप्त करना सुलभ होगा। सहज ही परमानंद मिलेगा।

जानने के, ध्यान के, अनुभव के साधन में भूल नहीं रहेगी, इस अपेक्षा से ज्ञानपर्याय और जानने का फल याने प्रमिति का कथन किया है। साथ ही प्रमेय-ज्ञेय-ध्येय-विषय का भी कथन किया है, इससे ध्येय के बारे में अथवा ज्ञेय के बारे में भूल नहीं रहेगी। गलतियाँ नहीं रहेंगी। भूलभरे विकल्प नहीं रहेंगे। निर्विकल्प हो जाओगे। चिंता नहीं रहेगी। क्लेश नहीं रहेंगे। (आ) प्रमाण और (ब) नय इन को जानने से अपने में होने वाले भूलभरे विकल्प नहीं रहेंगे।

संस्कृत पृष्ठ नं. ५५, परिच्छेद नं. १ →

(आ) प्रमाण और (ब) नय इनका विवेचन (कथन) करने में समर्थ, ऐसे प्राक्तन (पूर्वाचार्यों के) ग्रंथ हैं ही तथापि उनमें कुछ ग्रंथ विस्तृत (विशाल) हैं और कुछ ग्रंथ गम्भीर हैं (छोटे होने पर भी अत्यन्त गहन और दुरूह हैं)।

[उन ग्रन्थों में अभी के रोजमर्रा के (दैनंदिन में) उत्पन्न होनेवाले प्रश्नों के (विकल्पों के) समाधान भरे हुए हैं। वे बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। वे ग्रंथ महान हैं।]

उन ग्रन्थों में अल्प ज्ञानियों (बालकों) का प्रवेश सम्भव नहीं है। इसलिए उनको सरलता से (आ) प्रमाण और (ब) नय रूप न्याय के स्वरूप का बोध करानेवाले शास्त्रों में अधिकार-प्रवेश पाने के लिये यह प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है।

[तीन प्रकार के प्रकरण प्रवृत्ति का कथन]

संस्कृत पृष्ठ नं. ५५, परिच्छेद नंबर २ →

इस ग्रन्थ में (आ) प्रमाण और (ब) नय का व्याख्यान (१) उद्देश, (२) लक्षणनिर्देश और (३) परीक्षा-इन तीन द्वारा किया जाता है क्योंकि विवेचनीय वस्तु का उद्देश याने नामोल्लेख किये बिना लक्षण का कथन नहीं हो सकता। लक्षण का कथन किये बिना परीक्षा नहीं हो सकती है। परीक्षा किये बिना विवेचन - निर्णयात्मक वर्णन नहीं हो सकता है। लोक और शास्त्र में भी उक्त प्रकार से (उद्देश, लक्षणनिर्देश और परीक्षा द्वारा) ही वस्तु का विवेचन/निर्णय प्रसिद्ध है।

विशेषार्थ – जैसे भोग लेते समय भोगनीय (भोग्य याने अनुभाव्य) विषय अच्छा/उत्कृष्ट चाहिये, उसी तरह भोगने का साधन भी अच्छा/उत्कृष्ट चाहिये। इसलिये साधनों में कौनसा साधन अच्छा है, कौनसा साधन बुरा (गलत या भूलभरा) है, यह जानना आवश्यक है। तथा कौनसा साधन उत्कृष्ट साधन है, कौनसा साधन निकृष्ट साधन है, यह जानना भी आवश्यक है।

भोग लेने का साधन है ज्ञान। जैसे आपने गद्दा छुआ, रसगुल्ला चखा, फूल सूँघा, भजन-संगीत सुना, सिनेमा देखा, तो उस गद्दा आदि का भोग ज्ञानसाधन से ही लिया है। उस ज्ञानसाधन के याने ज्ञानपर्याय के (आ) प्रमाण और (ब) नय ये दो भेद हैं। [देखो चार्ट नं ७ और २०]

इनका [(आ) प्रमाण और (ब) नय का] व्याख्यान (१) उद्देश (२) लक्षणनिर्देश और (३) परीक्षा द्वारा किया जाता है क्योंकि विवेचनीय वस्तु का उद्देश याने नामोल्लेख किये बिना लक्षण कथन नहीं हो सकता है।

जैसे लोकव्यवहार में सुवर्णकार 'सुवर्ण' का पहिले नाम निश्चित करता है। फिर सुवर्ण का लक्षण (परिभाषा) बांधता है और फिर खोटे-खरे के लिये मसान पर रखकर परीक्षा करता है, इसतरह वह सुवर्ण का ठीक निर्णय करता है।

आगे और भी देखिये। पुराने जमाने में स्वयंवर होता था, उस समय 'वर' का नामकथन कर के उसके बारे में जानकारी दी जाती थी। किसीको कोई वस्तु खरीदना हो तो प्रथम उस वस्तु का नामकथन किया जाता है। यदि वस्तु का नामकथन न किया जाय तो ग्राहक क्या चाहता है, यह समझ में नहीं आयेगा। बालक पैदा हुआ तो उसके भी नाम का कथन करते हैं। उसी तरह शास्त्र में तथा अध्यात्म में भी उद्देश याने नामकथन/नामाभिधान निश्चित करना चाहिये।

नाम अभिधान करने के पश्चात् ही उसके लक्षण का कथन कर सकते हैं। जैसे जाननेवाली वस्तु को 'जीवद्रव्य' यह 'नाम' अभिधान किया। व्यापक अवकाश देनेवाली वस्तु को 'आकाशद्रव्य' यह 'नामाभिधान' किया। गतिहेतुत्ववाली वस्तु को 'धर्मद्रव्य' यह 'नामाभिधान' किया। स्थितिहेतुत्ववाली वस्तु को 'अधर्मद्रव्य' यह 'नामाभिधान' किया। वर्तनाहेतुत्ववाली वस्तु को 'कालद्रव्य' यह नामकथन किया। पूरणगलनवाली वस्तु को 'पुद्गलद्रव्य' यह नामाभिधान किया।

सम्यक्-आनंद पर्याय को 'धर्म' यह नामाभिधान किया। वस्तुस्वभाव याने पारिणामिक भाव को 'धर्म' यह नामाभिधान किया। वस्तु के अंश को 'धर्म' यह नामाभिधान किया। चेतनानुविधायी परिणमन या पर्याय को 'चेतनोपयोग' अथवा 'उपयोग' यह नामाभिधान किया। जैसे 'चांदी या रजत' यह नामाभिधान किया। 'रत्न' यह नामाभिधान किया। 'परमानन्दस्तोत्र' यह नामाभिधान किया। 'समयप्राभृत' यह नामाभिधान किया। 'शक्तिमणितकोश' यह नामाभिधान किया।

नामकथन करने पर ही लक्षणनिर्देश करना संभव हो सकता है। लक्षणनिर्देश करने पर ही परीक्षा करना शक्य हो जाता है।

सभी संसारी जीव 'सम्यक् आनंद' चाहते हैं, लेकिन बहुत से जीव 'सम्यक् आनंद' का 'समीचीन लक्षण' ही नहीं जानते; इसलिये परीक्षा/परख नहीं कर सकते। अत: झूठे आनंद में याने परविषयानंदरूप आनंदाभास में फंसे (डूबे) रहते हैं।



जैसे मृग (हिरन) यह सच्चे जल की तरंगे हैं या वायु या हवा की तरंगे हैं ऐसा लक्षण से नहीं जानते हैं, इसलिये जलाभास याने मृगमरीचिका में फंस जाते हैं।

एक अपेक्षा से ध्यान याने विचार अर्थात् ज्ञानपर्याय याने ज्ञानपरिणमन यह परिभाषा याने लक्षण नहीं जानते; तथा विचार याने ज्ञानपर्याय के शुद्ध, शुभ और अशुभ भेद नहीं जानते अथवा ध्यान के याने ज्ञानपर्याय के (आ) प्रमाण प्रत्यक्षज्ञान, (आ) प्रमाण परोक्षज्ञान और (व) नय परोक्षज्ञान - इनके समीचीन (योग्य) लक्षण नहीं जानते हैं, "**इसलिये शरीर की क्रिया करके, शरीर के आसनों की क्रिया करके ध्यान याने ज्ञानपर्याय किया ऐसा मानते हैं। अथवा ध्यान याने 'विचार रहित होना अर्थात् ज्ञानपरिणमन रहित होना', ऐसा मानते हैं।**"

इसलिये शुद्धध्यान को समझने के लिये (आ) प्रमाण और (व) नय के लक्षणों को तथा मूलभूत भेदों को-उनके लक्षणों को जानना आवश्यक है।

बहुत से लोग परमानंद का (१) विषय, (२) साधन-ज्ञानपर्याय और (३) उसका फल-तीनों को जानते ही नहीं है। कोई-कोई लोग परमानंद का विषय- एकत्वविभक्तनिजध्रुवचिदानंदात्मा है, ऐसा जानते हैं, लेकिन उस विषय के शुद्ध ध्यान का याने शुद्ध/यथार्थ अनुभव का याने प्रामाण्यसहित प्रत्यक्षज्ञानपर्याय [छद्मस्थोंके लिये (आ ५) मतिज्ञान या (आ ५) श्रुतज्ञान और सर्वज्ञों के लिये (आ २) केवलज्ञान पर्याय] का वह साधन ठीक-ठीक नहीं जानते हैं।

इसलिये वे ऐसा प्रश्न करते हैं कि, "हम तो ६ द्रव्य, ७ तत्त्व, ९ पदार्थ, निश्चयनय, व्यवहारनय, निमित्त, उपादान और उपादान को मुख्य तथा निमित्त को अकिंचित्कर, सम्यक् क्रमनियमित पर्याय और सम्यक् पुरुषार्थ, गुणस्थान, मार्गणास्थान, चारों अनुयोग इत्यादि मूलभूत बातों को बराबर जानते हैं; पुण्य-पाप हेय हैं, शुद्धोपयोग से ही सम्यग्दर्शनका उत्पाद होता है, और शुद्धोपयोग से ही चतुर्थ गुणस्थान प्रकट होता है यह सब मानते हैं; लेकिन शुद्धात्मानुभव करने का क्या उपाय है?"

वे ऐसा प्रश्न करते हैं और कोई समाधान करनेवाला अनभिज्ञ प्रवक्ता उनके प्रश्न का ऐसा जवाब देता है कि-

"विकल्पातीत बनो, सहज होने दो, बस होने दो, सहज ज्ञाता-दृष्टा बन जाओ, तुम तो सहज ज्ञाता-दृष्टा ही हो। यह तनाव, यह आकुलता, यह व्याकुलता तुम हो ही नहीं, देखो नहीं, देखना सहज होने दो, जानो नहीं, जानना सहज होने दो। रमो भी नहीं, जमो भी नहीं, रमना-जमना भी सहज होने दो। सब-कुछ सहज, जानना सहज, देखना सहज, रमना सहज। कर्तृत्व के अहंकार से नहीं, विकल्प से भी रहित सहज ज्ञाता-द्रष्टा बन जावो; विकल्पातीत, वचनातीत, निर्विकल्पक, ज्ञान सहज, श्रद्धा सहज, रमणता सहज इत्यादि।"

लेकिन समाधान कर्ता का यह कथन अधूरा (अपूर्ण) ही रह जाता है; विज्ञ प्रवक्ता को अनुभव याने प्रामाण्यसहित प्रत्यक्षज्ञान यह **नाम** कहकर, प्रत्यक्षज्ञान और परोक्षज्ञान की पद्धतियों के **लक्षण** समझाकर, उन में से (आ ५) मतिज्ञान, (आ ५) श्रुतज्ञान के द्वारा 'एकत्वविभक्तनिजध्रुवात्मा' को जानने का शिष्य को संकेत करना चाहिये; उनमें **प्रामाण्य का निर्णय कैसे किया जाता है**, यह भी समझा देना चाहिये। इसलिये (आ) प्रमाण और (ब) नय के नामाभिधान किये हैं, आगे उनके लक्षण भी कथन करेंगे और यथावसर परीक्षा भी हो जायेगी।

शंका – तो फिर (१) उद्देश की क्या व्याख्या है? (२) लक्षण की क्या व्याख्या है? और
(३) परीक्षा की क्या व्याख्या है?

श्री अभिनवधर्मभूषणयति कहते हैं कि,

संस्कृत पृष्ठ ५६, परिच्छेद नंबर ३ →

उद्देश-विवेचनीय वस्तु के केवल नामोल्लेख करने को उद्देश कहते हैं।

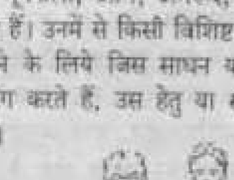
विशेषार्थ :– जैसे 'सुवर्ण' नामकथन करना। 'रजत' नामकथन करना। 'द्रव्य' नामकथन करना। 'गुण' नामकथन करना। 'पर्याय' नामकथन करना। 'चावल' नामकथन करना। 'दाल' नामकथन करना। 'आम' नामकथन करना। 'बैल' नामकथन करना। 'बकरी' नामकथन करना। 'सम्यग्दर्शन' नामकथन करना। 'सम्यग्ज्ञान' नामकथन करना। 'सम्यक्चारित्र' नामकथन करना। 'मोक्ष' नामकथन करना। ''प्रमाण और नय'' इनका नामकथन करना।

संस्कृत पृष्ठ ५६, परिच्छेद नं. ३ →

लक्षण – मिली हुई अनेक वस्तुओं में से किसी एक वस्तु को अलग (भिन्न याने व्यावृत्ति) करनेवाले हेतु को (साधन या चिह्न को) लक्षण कहते हैं। जैसा कि श्री अकलंकदेव आचार्यरचित तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक) अध्याय २, सूत्र ८, वार्तिक २ में कहा है कि, ''परस्पर मिली हुई वस्तुओं में से कोई एक वस्तु जिसके द्वारा व्यावृत्त (अलग) की जाती है, उसे लक्षण कहते हैं।''



विशेषार्थ – एक ही टोकरी में अथवा थैली में केला, अनार, नारंगी, मूंगफली, आम, अमरूद, सेव और अंगूर एकत्र रखे हैं। उनमें से किसी विशिष्ट एक फल को अलग करने के लिये जिस साधन या हेतु या चिह्न का उपयोग करते हैं, उस हेतु या साधन को लक्षण कहते हैं।



अनेक आदमी हैं। उनमें से एक आदमी के पास लाठी (दण्ड) है। उस ही आदमी को अन्य पुरुषों से अलग करना हो, तो 'लाठीवाला' पुरुष ऐसा हम लोग संकेत करते हैं। यहाँ उस पुरुष का 'लाठी' यह 'लक्षण' बनाया गया। उस लक्षण के द्वारा लाठी रहित पुरुषों से लाठीवाले पुरुष को अलग किया।

अनेक पुरुषों की भीड़ है। उन में एक ही पुरुष के पास चष्मा है, उसी पुरुष को अन्य पुरुषों से अलग करने के लिये 'चष्मा' यह हेतु बनाकर यह कहते हैं कि उस 'चष्मेवाले' को बुलावो। यहाँ उस पुरुष का 'चष्मा' यह लक्षण है।

अनेक लोग एकत्र हुए हैं। उनमें से एक ही पुरुष के पास छाता है। हम उसी को बुलाना चाहते हैं तो कहते हैं कि, 'छातेवाले' को बुलाओ। यहाँ उस पुरुष का 'छाता' यह लक्षण बनाया।

हाथी, गाय और अश्व एकत्र हैं। उनमें से गाय की पहचान कराना है तो कहते हैं कि, 'सास्नादिमानवाली' गाय है। यहाँ 'सास्नादिमान' यह गाय का लक्षण है।



सुवर्ण और रजत एकत्र है। वहाँ सुवर्ण को अलग करने के लिये 'सुवर्णत्वपीतत्वगुरुत्वादिवाला' सुवर्ण है, ऐसा कहते हैं। वहाँ 'सुवर्णत्वपीतत्वगुरुत्वादि' यह सुवर्ण का लक्षण है।

चौबीस तीर्थंकरों की मूर्तियाँ हैं। वहाँ उनमें महावीर तीर्थंकर की मूर्ति को अलग करने के लिये 'सिंह' चिह्न याने लक्षण बताते हैं।

अभी परमानंदमय जीवन जीने के लिये अपने को संकेत किया गया है कि, 'अपने ध्रुवशुद्धज्ञानानंदात्मा' का ध्यान करो। उस **'निजध्रुवशुद्धज्ञानानंदात्मा' का लक्षण जानोगे तो उसका ध्यान करना संभव होगा।**

इस विश्व में अनंत द्रव्य हैं। वे छः जाति के हैं। उन छः जाति के द्रव्यों के लक्षण जानना आवश्यक है। 'विशिष्टव्यापक अवगाहनहेतुत्व' यह आकाशद्रव्य का लक्षण है। 'गतिहेतुत्व' यह धर्मद्रव्य का लक्षण है। 'स्थितिहेतुत्व' यह अधर्मद्रव्य का लक्षण है। 'वर्तनाहेतुत्व' यह काल द्रव्य का लक्षण है। 'स्पर्श, रस, गंध, वर्ण' ये पुद्गल द्रव्य के लक्षण हैं। 'ज्ञानदर्शनानंद' यह जीव द्रव्य का लक्षण है।

इन लक्षणों को जानने से अन्य द्रव्यों से जीव को भिन्न किया। उस के पश्चात् 'निजज्ञानदर्शनानंद' यह मेरे जीवद्रव्य का लक्षण है, 'ज्ञानदर्शनानंद' यह जीवद्रव्य का लक्षण है। 'निज' ऐसा कहने से अनंत जीवों में से अपना जीव समझकर अलग किया। प्रत्येक द्रव्य ध्रुवपर्याय युक्त-गुणपर्याय युक्त है। तब 'निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा' यह लक्षण करने से अपनी भूतपर्याय, वर्तमानपर्याय और भाविपर्याय इनसे निजात्मा को अलग याने व्यावृत्त किया। क्षणवर्ती अशुद्धपर्याय, एकदेश शुद्धपर्याय तथा पूर्णदेश शुद्धपर्याय इनसे 'निजध्रुवात्मा' को अलग किया। अर्थात् **विचार में 'निजध्रुवात्मा' को विषय बनाया।** तब 'निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा' को भोग लिया। वह सम्यक्‌भोग है, वह सम्यक् आनंद है।

देखिये **समयसार-गाथा १५ की आत्मख्याति टीका** में भावलिंगी संत श्री **अमृतचंद्राचार्यजी** लिखते हैं कि, **"अलुब्धबुद्धानां तु यथा सैंधवखिल्यः अन्यद्रव्यसंयोगव्यवच्छेदेन (सामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यां च) केवलः एव अनुभूयमानः सर्वतः अपि एकलवणरसत्वात् लवणत्वेन स्वदते, तथा आत्मा अपि परद्रव्यसंयोगव्यवच्छेदेन (सामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यां च) केवलः एव अनुभूयमानः सर्वतः अपि एकविज्ञानघनत्वात् ज्ञानत्वेन स्वदते।"**

अर्थ :– अलुब्धबुद्धज्ञानियों को तो, जैसे सैंधव (नमक) की डली अन्य द्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके (सैंधव के साथ अन्य द्रव्य मिलाकर विचित्र व्यंजन बनाया है, वहाँ विशिष्ट पर्याय भी है, तो भी अपने विचार में/जानने में/ ज्ञान में अन्य द्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके तथा पर्यायों को तिरोभूत करके और सामान्य का आविर्भाव करके) केवल सैंधव का ही अनुभव किये जाने पर सर्वतः एक क्षार रसत्व के कारण क्षाररूप से स्वाद में आती है; उसीप्रकार आत्मा भी पर द्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके (अभी वर्तमान में निजध्रुवात्मा के साथ भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्मों का संयोग है, वहाँ विशिष्ट पर्यायें भी हैं,

तो भी अपने विचार में/जानने में/ ज्ञान में अन्य द्रव्यों के संयोग का व्यवच्छेद/व्यावृत्त कर के तथा पर्यायों को तिरोभूत करके और सामान्य का आविर्भाव करके) **केवल (एक) निजध्रुवशुद्धज्ञानानंदात्मा का ही अनुभव किये जाने पर सर्वत: एक विज्ञानघनता के कारण ज्ञानपना ही स्वाद में आता है।**

आगे और भी देखो **श्री कुंदकुंदाचार्यरचित नियमसार-गाथा नं. १०२ →**

''एगो मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥१०२।''

लघुसामायिकपाठ →

''एको मे शाश्वतश्चात्मा ज्ञानदर्शनलक्षण:।
शेषा बर्हिभवा भावा: सर्वे संयोगलक्षणा:॥१३॥''

अर्थ :– मेरा आत्मा एक, शाश्वत और ज्ञानदर्शनलक्षणवाला है और शेष सभी संयोगलक्षणवाले भाव मेरे से बाह्य भाव हैं।

श्री अमितगति आचार्यरचित सामायिकपाठ →

''एक: सदा शाश्वतिको ममात्मा, विनिर्मल: साधिगमस्वभाव:।
बहिर्भवा: सन्त्यपरे समस्ता, न शाश्वता: कर्मभवा: स्वकीया:॥२६॥''

अर्थ :– मेरा आत्मा सदा एक है, शाश्वत है, अनादि-अनंत शुद्ध है, अधिगम (ज्ञान) स्वभावसहित है, कर्म के सानिध्य में उत्पन्न होनेवाले मेरे सभी भाव तथा उत्पन्न होनेवाली शुद्धपर्याय, एकदेश शुद्धपर्याय, अशुद्धपर्याय मेरे शाश्वत भाव नहीं हैं।

समयसार-गाथा नं. ६ →

''ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो।
एवं भणंति सुद्धं णादो जो सो दु सो चेव॥६॥''

अर्थ :– जो ज्ञायक भाव है वह अप्रमत्त भी नहीं और प्रमत्त भी नहीं है; इस प्रकार से जो शुद्ध कहा जाता है और वह जो ज्ञात होता है, वह तो वह ही है, अन्य कोई नहीं है।

समयसार गाथा नं. ३८ →

''अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमेत्तं पि॥३८॥''

अर्थ :– निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ, अन्य परद्रव्य किंचित्मात्र/परमाणुमात्र भी मेरा है ही नहीं।

समयसार-गाथा नं. २९४, २९५, २९६, २९७ →

''जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
पण्णाछेदणएण दु छिण्णा णाणत्तमावण्णा॥२९४॥''

अर्थ :– निज जीव अपने नियत (निश्चित) लक्षणों से और बंध-भावबंध, द्रव्यकर्मबंध तथा नोकर्मबंध अपने नियत (निश्चित) लक्षणों से छेदे जाते हैं याने विचार से अलग/व्यावृत्त किये जाते हैं याने जानने में अलग किये जाते हैं [भले ही ध्रुव जीव और पर्याय तथा अन्य द्रव्य यहाँ एकत्र मिले हुए हैं तो भी विचार

में/जानने में निजध्रुवात्मा को अपनी पर्याय तथा परद्रव्यों से अलग किया जाता है]; प्रज्ञारूपी छैनी के द्वारा याने ज्ञान से जानते समय "**निजध्रुवात्मा में निजध्रुवात्मा ही है, अपनी पर्याय तथा परद्रव्य निजध्रुवात्मा में नहीं हैं**" ऐसा जानने से वे नानापने को प्राप्त होते हैं अर्थात् अलग हो जाते हैं।

"**जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।**
बंधो छेदेदव्वो सुद्धो अप्पा य घेत्तव्वो॥२९५॥"

अर्थ :– इस प्रकार जीव और बंध अपने निश्चित लक्षणों से अलग याने व्यावृत्त किये जाते हैं। वहाँ बंध को छेदना चाहिये अर्थात् 'निजध्रुवशुद्धात्मा' में बंध नहीं है, ऐसा जानना चाहिये और '**निजध्रुवशुद्धात्मा**' को **ग्रहण करना** याने **प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष** जानना चाहिये।

"**कह सो घिप्पदि अप्पा पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा।**
जह पण्णाइ विभत्तो तह पण्णाएव घेत्तव्वो॥२९६॥"

अर्थ :– (शिष्य पूछता है कि) वह 'निजध्रुवशुद्धात्मा' कैसे ग्रहण (अनुभव) किया जाय? (आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि) प्रज्ञा के द्वारा अर्थात् जानने (विवेक अंजुलि) के द्वारा वह '**निजध्रुवशुद्धात्मा**' ग्रहण किया याने जाना जाता है। जैसे प्रज्ञा के द्वारा भिन्न किया, उसी प्रकार प्रज्ञा के द्वारा ही ग्रहण करना चाहिये अर्थात् जानना चाहिये।

"**पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो।**
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णायव्वा॥२९७॥"

अर्थ :– ज्ञान के द्वारा 'निजध्रुवात्मा को' इस प्रकार जानना चाहिये कि, 'जो चेतनवाला-ज्ञानदर्शनानंदवाला आत्मा है, वह निश्चय से मैं हूं और शेष जो भाव हैं, वे मेरे से पर हैं,' ऐसा जानना आवश्यक है।"

इसतरह वस्तु के लक्षण जानने से अभी अव्रती जीव को या व्रती जीव को सम्यक् आनंद की प्राप्ति होती है, दुःख नष्ट होते हैं। सम्यक्-आनंद का प्रारंभ होता है। मोक्षमार्ग शुरू होता है। आगे मोक्ष मिलेगा। समाज में समता आती है। शांतता आती है। अहिंसा आती है। हिंसा नष्ट होती है। परम दया आती है।

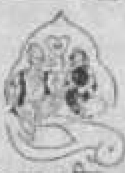
आगे और भी देखिये नियमसार-गाथा नं. ७७ से ८१ →

"**णाहं णारयभावो तिरियत्थो मणुवदेवपज्जाओ।**
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं॥७७॥
णाहं मग्गणठाणो णाहं गुणठाण जीवठाणो ण।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं॥७८॥
णाहं बालो वुड्ढो ण चेव तरुणो ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं॥७९॥
णाहं रागो दोसो ण चेव मोहो ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं॥८०॥
णाहं कोहो माणो ण चेव माया ण होमि लोहो हं।
कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं॥८१॥"

अर्थ :– मैं नारकभाव, तिर्यंचपर्याय, मनुष्यपर्याय अथवा देवपर्याय नहीं हूँ; उनका मैं कर्ता नहीं हूँ, कारयिता (करानेवाला) नहीं हूँ, कर्ता का अनुमोदक नहीं हूँ।

भावार्थ :– 'जीव' ध्रुवपर्याययुक्त है याने गुणपर्याययुक्त है। **ध्रुव का 'शाश्वत तथा अन्वय' यह लक्षण है, और पर्याय का 'क्षणिक, व्यतिरेक' यह लक्षण है।** अतद्भाव की अपेक्षा से भी 'ध्रुव' पर्याय से कथंचित् अन्य है। ध्रुव को अकर्ता कहते हैं। इस प्रकार मैंने मेरा 'ध्रुववान जीव' पर्यायों से व्यावृत्त याने अलग किया। देखिये चार्ट नं. १/१।

चार्ट नं. १७

शाश्वत ध्रुव, अविनाशी		अवस्था क्षणिक, पर्याय, गतिमार्गणा
जीवत्व, अनादि-अनंत शुद्ध मोक्षपर्यायरहित, देवगतिरहित, मनुष्यगतिरहित, तिर्यंचगतिरहित, नरकगतिरहित		मोक्षपर्याय, सादि-अनंत शुद्ध देवगतिरहित, मनुष्यगतिरहित, तिर्यंचगतिरहित, नरकगतिरहित
जीवत्व, अनादि-अनंत शुद्ध मोक्षपर्यायरहित, देवगतिरहित, मनुष्यगतिरहित, तिर्यंचगतिरहित, नरकगतिरहित	 विमानवासी	देवगति पर्याय-संसार अवस्था
जीवत्व, अनादि-अनंत शुद्ध मोक्षपर्यायरहित, देवगतिरहित, मनुष्यगतिरहित, तिर्यंचगतिरहित, नरकगतिरहित		मनुष्यगति पर्याय-संसार अवस्था
जीवत्व, अनादि-अनंत शुद्ध मोक्षपर्यायरहित, देवगतिरहित, मनुष्यगतिरहित, तिर्यंचगतिरहित, नरकगतिरहित		तिर्यंचगति पर्याय-संसार अवस्था
जीवत्व, अनादि-अनंत शुद्ध मोक्षपर्यायरहित, देवगतिरहित, मनुष्यगतिरहित, तिर्यंचगतिरहित, नरकगतिरहित		नरकगति पर्याय-संसार अवस्था

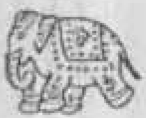
निश्चयदृष्टि	व्यवहारदृष्टि
	
द्रव्यदृष्टि	पर्यायदृष्टि

वस्तु का अविनाशी अंश और क्षणिक अंश जानकर "मेरा आत्मा अविनाशी ज्ञानानंदमय अनादि-अनंत शुद्ध है" ऐसा विचार किया तो अभी सम्यक् आनंद प्राप्त होता है, समाधान, समता और शांति प्राप्त होती है और सब दुःख नष्ट होते हैं।

गतिमार्गणा

मार्गणा- अन्वेषणा या खोज करना। गतिमार्गणा- गति पर्याय के द्वारा जीवकी खोज करना।

चार्ट नं. १८

शाश्वत ध्रुव, अविनाशी		अवस्था क्षणिक, पर्याय, इंद्रियमार्गणा
जीवत्व, अनादि-अनंत शुद्ध मोक्षपर्यायरहित पचेंद्रियरहित }→		←{ मोक्षपर्याय, सादि-अनंत शुद्ध पंचेंद्रियरहित
जीवत्व, अनादि-अनंत शुद्ध पंचेंद्रियरहित मोक्षपर्यायरहित }→		←{ स्पर्शनेंद्रिय, रसनेंद्रिय, घ्राणेंद्रिय, नेत्रेंद्रिय, कर्णेंद्रिय- पंचेंद्रिय
जीवत्व, अनादि-अनंत शुद्ध पचेंद्रियरहित मोक्षपर्यायरहित }→		←{ स्पर्शनेंद्रिय, रसनेंद्रिय, घ्राणेंद्रिय, नेत्रेंद्रिय-चतुरिंद्रिय
जीवत्व, अनादि-अनंत शुद्ध पचेंद्रियरहित मोक्षपर्यायरहित }→		←{ स्पर्शनेंद्रिय, रसनेंद्रिय, घ्राणेंद्रिय-त्रींद्रिय,
जीवत्व, अनादि-अनंत शुद्ध पचेंद्रियरहित मोक्षपर्यायरहित }→		←{ स्पर्शनेंद्रिय, रसनेंद्रिय-द्वींद्रिय
जीवत्व, अनादि-अनंत शुद्ध पचेंद्रियरहित मोक्षपर्यायरहित }→		←{ स्पर्शनेंद्रिय-एकेंद्रिय

निश्चयदृष्टि	व्यवहारदृष्टि
	
द्रव्यदृष्टि	पर्यायदृष्टि

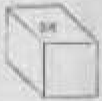
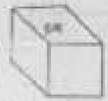
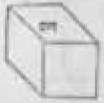
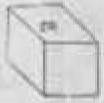
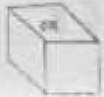
वस्तु का अविनाशी अंश और क्षणिक अंश जानकर '' मेरा आत्मा अविनाशी ज्ञानानंदमय अनादि-अनंत शुद्ध है'' ऐसा विचार किया तो अभी सम्यक् आनंद प्राप्त होता है, समाधान, समता और शांति प्राप्त होती है और सब दुःख नष्ट होते हैं।

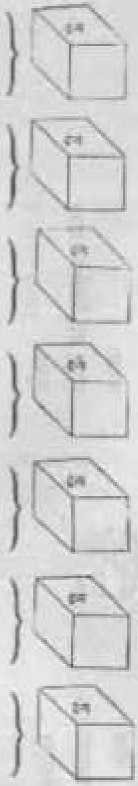
इंद्रियमार्गणा

मार्गणा- अन्वेषणा वा खोज करना।

इंद्रियमार्गणा-जो इंद्रिय पर्याय प्राप्त होती है, उसके द्वारा जीवकी खोज की जाती है, वह इंद्रिय मार्गणा है।

चार्ट नं. १६

शाश्वत अविनाशी, ध्रुव, अनादि-अनंत शुद्ध		अवस्था क्षणिक, पर्याय
जीवत्व, अनादि-अनंत शुद्ध मोक्षपर्यायरहित, गुणस्थानरहित ८ भावकर्मरहित, ८ द्रव्यकर्मरहित, नोकर्मरहित		सिद्ध, मुक्त, सादि-अनंतशुद्ध परमात्मा ८ भावकर्मरहित, ८ द्रव्यकर्मरहित, नोकर्मरहित
जीवत्व, अनादि-अनंत शुद्ध मोक्षपर्यायरहित, गुणस्थानरहित ८ भावकर्मरहित, ८ द्रव्यकर्मरहित, नोकर्मरहित		अयोगकेवली- १४ वाँ गुणस्थान, निकल परमात्मा, सादि-सांत
जीवत्व, अनादि-अनंत शुद्ध मोक्षपर्यायरहित, गुणस्थानरहित ८ भावकर्मरहित, ८ द्रव्यकर्मरहित, नोकर्मरहित		सयोगकेवली- १३ वाँ गुणस्थान, सकलपरमात्मा, सादि-सांत ४ घातिभावकर्मरहित, ४ घातिद्रव्यकर्मरहित, बाह्य परिग्रहरहित, ४ अघातिभावकर्मसहित, ४ अघातिद्रव्यकर्मसहित, परमौदारिकशरीरसहित, यथायोग्य.
जीवत्व, अनादि-अनंत शुद्ध मोक्षपर्यायरहित, गुणस्थानरहित ८ भावकर्मरहित, ८ द्रव्यकर्मरहित, नोकर्मरहित		क्षीणकषाय- १२ वाँ गुणस्थान, अंतरात्मा सादि-सांत १ मोहनीयघातिभावकर्मरहित, १ मोहनीयद्रव्यकर्मरहित, बाह्यपरिग्रहरहित, ७ भावकर्मसहित, ७ द्रव्यकर्मसहित, औदारिकशरीरसहित, यथायोग्य.
जीवत्व, अनादि-अनंत शुद्ध मोक्षपर्यायरहित, गुणस्थानरहित ८ भावकर्मरहित, ८ द्रव्यकर्मरहित, नोकर्मरहित		उपशांतकषाय- ११ वाँ गुणस्थान, सादि-सांत, मोहनीयकर्म-उपशांत, अंतरात्मा, सत्ता में मोहनीयकर्म का सद्भाव है, बाह्य परिग्रहरहित. ८ भावकर्मसहित, ८ द्रव्यकर्मसहित, औदारिकशरीरसहित, यथायोग्य.
जीवत्व, अनादि-अनंत शुद्ध मोक्षपर्यायरहित, गुणस्थानरहित ८ भावकर्मरहित, ८ द्रव्यकर्मरहित, नोकर्मरहित		सूक्ष्मसांपराय- १० वाँ गुणस्थान, सादि-सांत, अंतरात्मा, बाह्य परिग्रहरहित ८ भावकर्मसहित, ८ द्रव्यकर्मसहित, औदारिकशरीरसहित, यथायोग्य.
जीवत्व, अनादि-अनंत शुद्ध मोक्षपर्यायरहित, गुणस्थानरहित ८ भावकर्मरहित, ८ द्रव्यकर्मरहित, नोकर्मरहित		अनिवृत्तिकरण, ९ वाँ गुणस्थान, सादि-सांत, अंतरात्मा, बाह्य परिग्रहरहित. ८ भावकर्मसहित, ८ द्रव्यकर्मसहित, औदारिकशरीरसहित, यथायोग्य.
जीवत्व, अनादि-अनंत शुद्ध मोक्षपर्यायरहित, गुणस्थानरहित ८ भावकर्मरहित, ८ द्रव्यकर्मरहित, नोकर्मरहित		अपूर्वकरण ८ वाँ गुणस्थान, सादि-सांत, अंतरात्मा, बाह्य परिग्रहरहित. ८ भावकर्मसहित, ८ द्रव्यकर्मसहित, औदारिकशरीरसहित, यथायोग्य.



निश्चयदृष्टि	व्यवहारदृष्टि
जीवत्व, अनादि-अनंत शुद्ध मोक्षपर्यायरहित, गुणस्थानरहित ८ भावकर्मरहित, ८ द्रव्यकर्मरहित, नोकर्मरहित	अप्रमत्त, ७ वाँ गुणस्थान, सादि-सांत, अंतरात्मा, बाह्य परिग्रहरहित. ८ भावकर्मसहित, ८ द्रव्यकर्मसहित, औदारिकशरीरसहित, यथायोग्य.
जीवत्व, अनादि-अनंत शुद्ध मोक्षपर्यायरहित, गुणस्थानरहित ८ भावकर्मरहित, ८ द्रव्यकर्मरहित, नोकर्मरहित	प्रमत्त, ६ वाँ गुणस्थान, सादि-सांत, अंतरात्मा, बाह्य परिग्रहरहित. ८ भावकर्मसहित, ८ द्रव्यकर्मसहित, औदारिकशरीरसहित, यथायोग्य.
जीवत्व, अनादि-अनंत शुद्ध मोक्षपर्यायरहित, गुणस्थानरहित ८ भावकर्मरहित, ८ द्रव्यकर्मरहित, नोकर्मरहित	संयतासंयत, ५ वाँ गुणस्थान सादि-सांत, अंतरात्मा, अल्प बाह्य परिग्रहसहित. ८ भावकर्मसहित, ८ द्रव्यकर्मसहित, औदारिकशरीरसहित, यथायोग्य.
जीवत्व, अनादि-अनंत शुद्ध मोक्षपर्यायरहित, गुणस्थानरहित ८ भावकर्मरहित, ८ द्रव्यकर्मरहित, नोकर्मरहित	अव्रती सम्यक्त्वी, ४ था गुणस्थान, सादि-सांत, अंतरात्मा. ८ भावकर्मसहित, ८ द्रव्यकर्मसहित, शरीरसहित, यथायोग्य.
जीवत्व, अनादि-अनंत शुद्ध मोक्षपर्यायरहित, गुणस्थानरहित ८ भावकर्मरहित, ८ द्रव्यकर्मरहित, नोकर्मरहित	सम्यग्मिथ्यात्व, ३ रा गुणस्थान, सादि-सांत, बहिरात्मा. ८ भावकर्मसहित, ८ द्रव्यकर्मसहित, शरीरसहित, यथायोग्य.
जीवत्व, अनादि-अनंत शुद्ध मोक्षपर्यायरहित, गुणस्थानरहित ८ भावकर्मरहित, ८ द्रव्यकर्मरहित, नोकर्मरहित	सासादन, २ रा गुणस्थान, सादि-सांत, बहिरात्मा. ८ भावकर्मसहित, ८ द्रव्यकर्मसहित, शरीरसहित, यथायोग्य.
जीवत्व, अनादि-अनंत शुद्ध मोक्षपर्यायरहित, गुणस्थानरहित ८ भावकर्मरहित, ८ द्रव्यकर्मरहित, नोकर्मरहित	मिथ्यात्व, प्रथम गुणस्थान, अनादि-सांत/सादि-सांत/ अनादि-अनंत, बहिरात्मा. ८ भावकर्मसहित, ८ द्रव्यकर्मसहित, शरीरसहित, यथायोग्य.



द्रव्यदृष्टि



पर्यायदृष्टि

(१) जीव वस्तु के अनादि-अनंत शुद्ध ध्रुव को और (२) गुणस्थान और सिद्ध अवस्थाओं को जानकर 'मेरा जीव शाश्वत (अनादि-अनंत) शुद्ध है', ऐसी प्रतीति करने से अभी समाधान, समता, शांति, सम्यक आनंद प्राप्त होता है, दुःख नष्ट होता है और अभी मोक्षमार्गस्थ होता है।

अर्थ :– मैं मार्गणास्थान नहीं हूँ, मैं गुणस्थान नहीं हूँ, मैं जीवस्थान नहीं हूँ; उनका मैं कर्ता नहीं हूँ, कारयिता नहीं हूँ, कर्ता का अनुमोदक नहीं हूँ।

भावार्थ :– 'जीव' ध्रुवपर्यायुक्त है याने गुणपर्याययुक्त है। ध्रुव का 'शाश्वत तथा अन्वय' यह लक्षण है और पर्याय का 'क्षणिक, व्यतिरेक' यह लक्षण है। अतद्भाव की अपेक्षा से 'ध्रुव' पर्याय से कथंचित् अन्य है। ध्रुव को अकर्ता कहते हैं। इस प्रकार मैंने मेरा 'ध्रुववान जीव' पर्यायों से व्यावृत्त याने अलग किया। देखिये चार्ट नं. १८ और १९।

अर्थ :– मैं बाल नहीं हूँ, मैं वृद्ध नहीं हूँ, तथा मैं तरुण नहीं हूँ; उनका मैं कारण नहीं हूँ, उनका मैं कर्ता नहीं हूँ, कारयिता नहीं हूँ, कर्ता का अनुमोदक नहीं हूँ।

भावार्थ :– 'जीव' ध्रुवपर्याययुक्त है याने गुणपर्याययुक्त है। ध्रुव का 'शाश्वत तथा अन्वय' यह लक्षण है और पर्याय का 'क्षणिक, व्यतिरेक' यह लक्षण है। अतद्भाव की अपेक्षा से 'ध्रुव' पर्याय से कथंचित् अन्य है। ध्रुव को अकर्ता कहते हैं। इस प्रकार मैंने मेरा 'ध्रुववान जीव' पर्यायों से व्यावृत्त याने अलग किया। देखिये चार्ट नं. २२।

चार्ट नं. २२

ध्रुव, शाश्वत/CONSTANT — पर्याय, क्षणिक/CHANGES

जीव
ज्ञानगुण
आनंदगुण



वृद्ध
ज्ञान का अल्प उघाड़
दुःख

जीव
ज्ञानगुण
आनंदगुण



तरुण
ज्ञान का विशेष उघाड़
सुख

जीव
ज्ञानगुण
आनंदगुण



बालक
ज्ञान का अल्प उघाड़
दुःख

निश्चयदृष्टि



द्रव्यदृष्टि

व्यवहारदृष्टि



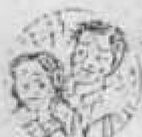
पर्यायदृष्टि

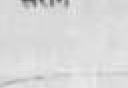
वस्तु का अविनाशी अंश और क्षणिक अंश जानकर 'मेरा आत्मा अविनाशी, ज्ञानानंदमय, अनादि-अनंत शुद्ध है' ऐसा विचार किया तो अभी सम्यक्-आनंद प्राप्त होता है। समाधान, समता और शान्ति प्राप्त होती है; और सब दुःख नष्ट होते हैं।

अर्थ :- मैं राग नहीं हूँ, मैं द्वेष नहीं हूँ, मैं मोह नहीं हूँ; उनका मैं कारण नहीं हूँ, उनका मैं कर्ता नहीं हूँ, कारयिता नहीं हूँ, कर्ताका अनुमोदक नहीं हूँ।

भावार्थ :- कथंचित् 'जीव' ध्रुवपर्यायियुक्त-गुणपर्यायियुक्त है। ध्रुव का 'शाश्वत तथा अन्वय' यह लक्षण है; और पर्याय का 'क्षणिक, व्यतिरेक' यह लक्षण है। अतद्भाव की अपेक्षा से 'ध्रुव' पर्याय से कथंचित् अन्य है। ध्रुव को अकर्ता कहते हैं। इस प्रकार मैंने मेरा 'ध्रुववान जीव' पर्यायों से व्यावृत्त याने अलग किया। देखिये चार्ट नं. २३ –

चार्ट नं. २३

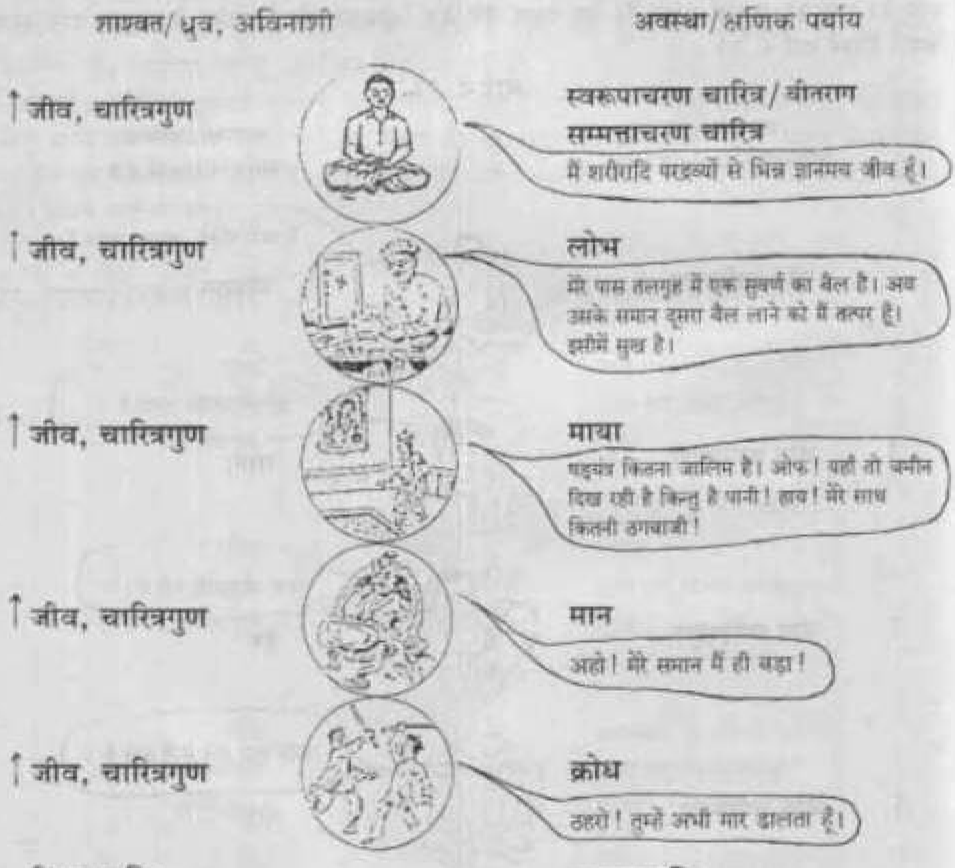
शाश्वत/ध्रुव अविनाशी/CONSTANT		अवस्था/क्षणिक पर्याय/CHANGES
जीव चारित्रगुण		वीतराग
↑ जीव चारित्रगुण		सराग
↑ जीव चारित्रगुण		द्वेष
↑ जीव चारित्रगुण		मोह

निश्चयदृष्टि	व्यवहारदृष्टि
	
द्रव्यदृष्टि	पर्यायदृष्टि

अर्थ :- मैं क्रोध नहीं हूँ, मैं मान नहीं हूँ, मैं माया नहीं हूँ, मैं लोभ नहीं हूँ; उनका मैं कर्ता नहीं हूँ, कारयिता नहीं हूँ, कर्ता का अनुमोदक नहीं हूँ।

भावार्थ :- 'जीव' कथंचित् ध्रुवपर्यायुक्त - गुणपर्यायुक्त है। **ध्रुव का 'शाश्वत तथा अन्वय'** यह लक्षण है। और **पर्याय** का **'क्षणिक, व्यतिरेक'** यह लक्षण है। अतद्भाव की अपेक्षा से 'ध्रुव' पर्याय से कथंचित् अन्य है। ध्रुव को अकर्ता कहते हैं। इस प्रकार मैंने मेरा 'ध्रुववान जीव' पर्यायों से व्यावृत्त याने अलग किया। देखिये चार्ट नं. २४-

चार्ट नं. २४

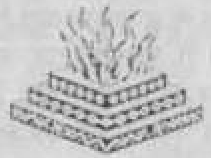


वस्तुके अविनाशी अंश और क्षणिक अंश जानकर मेरा जीव अविनाशी ज्ञानानंदमय अनादि-अनंत शुद्ध है, ऐसा विचार किया तो अभी सम्यक् आनंद प्राप्त होता है, समाधान-समता और शांति प्राप्त होती है और सब दुःख नष्ट होते हैं।

संस्कृत पृष्ठ ५६, परिच्छेद नं. ४ →

लक्षण के दो भेद हैं- (१) आत्मभूत लक्षण और (२) अनात्मभूत लक्षण।

(१) आत्मभूत लक्षण – जो वस्तु के स्वरूप में मिला हुआ हो, उसे आत्मभूत लक्षण कहते हैं।



जैसे – अग्नि की उष्णता। यह उष्णता अग्नि का स्वरूप होती हुई अग्नि को जल आदि पदार्थों से अलग करती है। इसलिये उष्णता अग्नि का आत्मभूत लक्षण है।

(२) अनात्मभूत लक्षण – जो वस्तु के स्वरूप में न मिला हुआ हो उसे अनात्मभूत लक्षण कहते हैं।



जैसे – दण्डिपुरुष का दण्ड यह लक्षण है। 'दण्डी को लाओ' ऐसा कहने पर 'पुरुषाननुप्रविष्ट दण्ड' ही उसी पुरुष को अन्य वस्तुओं से अलग याने व्यावृत्त याने भिन्न या पृथक् करता है। इसलिये 'दण्ड' यह पुरुष का अनात्मभूत लक्षण है।

श्री. अकलंकदेव आचार्य विरचित तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक) अध्याय २, सूत्र नं. ८, वार्तिक नं. २ में कहा है कि, "अग्नि की 'उष्णता' यह अग्नि का 'आत्मभूत' लक्षण है और देवदत्त का 'दण्ड' यह देवदत्त का 'अनात्मभूत' लक्षण है।"

विशेषार्थ :- (१) आत्मभूत लक्षण- जो वस्तु के स्वरूप में मिला हुआ हो, उसे आत्मभूत लक्षण कहते हैं। जैसे अग्नि यह एक वस्तु है। अग्नि के सब प्रदेशों में उष्णता है। अग्नि और उष्णता का नित्य-तादात्म्य संबंध है। जिस और जितने क्षेत्र में तथा काल में अग्नि है, उसी क्षेत्र में और उतने ही क्षेत्र में तथा सभी काल में उष्णता है। इसलिए उष्णता अग्नि का स्वरूप है। अग्नि से भिन्न स्वरूपवाले, उदाहरणार्थ-शीतलता स्वभाववाले जल में उष्णता नहीं है। इसलिये उष्णता अग्नि का स्वरूप होती हुई अग्नि को जल आदि पदार्थों से जुदा याने अलग याने व्यावृत्त याने अन्य करती है। अतः उष्णता अग्नि का आत्मभूत लक्षण है।

आगे और भी देखिये- 'सुवर्णत्वपीतत्वगुरुत्वस्निग्धत्वादि' सुवर्ण का आत्मभूत लक्षण है। जिस और जितने क्षेत्र में तथा काल में सुवर्ण है, उसी क्षेत्र में और उतने ही क्षेत्र में तथा सभी काल में सुवर्णत्वपीतत्वगुरुत्वस्निग्धत्वादि हैं। सुवर्णत्वपीतत्वगुरुत्वस्निग्धत्वादि का सुवर्ण के साथ **नित्य-तादात्म्य संबंध** है। सुवर्णत्वपीतत्वगुरुत्वस्निग्धत्वादि सुवर्णद्रव्य के गुण हैं। ये सुवर्णत्वपीतत्वगुरुत्वस्निग्धत्वादि सुवर्ण का स्वरूप होते हुए सुवर्ण को रजत, लोह, तांबा, पीतल आदि पदार्थों से भिन्न करते हैं। इसलिए सुवर्णत्वपीतत्वगुरुत्वस्निग्धत्व तथा लोहचुंबक के द्वारा अनाकर्ष्यकत्व इत्यादि सुवर्ण के आत्मभूत लक्षण हैं।

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि पुद्गलद्रव्य के आत्मभूत लक्षण हैं क्योंकि जिस और जितने क्षेत्र में तथा काल में पुद्गलद्रव्य है, उसी क्षेत्र में उतने ही क्षेत्र में तथा सभी काल में तथा पुद्गलद्रव्य की सभी अवस्थाओं में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि हैं। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि का पुद्गलद्रव्य के साथ **नित्यतादात्म्य संबंध** है। स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि पुद्गलद्रव्य के गुण हैं। ये स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि पुद्गलद्रव्य का स्वरूप होते हुए पुद्गलद्रव्य को आकाशद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य, जीवद्रव्यों से पृथक् करते हैं। इसलिये स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, आदिक पुद्गलद्रव्य के आत्मभूत लक्षण हैं।

विशिष्ट व्यापक-अवगाहनहेतुत्व, अमूर्तत्व, अनंतप्रदेशत्व आदि आकाशद्रव्य के आत्मभूत लक्षण हैं क्योंकि आकाशद्रव्य के सभी प्रदेशक्षेत्र में और आकाशद्रव्य की सभी अवस्थाओं में अवगाहनहेतुत्व आदि हैं। अवगाहनहेतुत्व, अमूर्तत्व आदि का आकाशद्रव्य के साथ **नित्यतादात्म्य संबंध** है। अवगाहनहेतुत्व, अमूर्तत्व आदि आकाशद्रव्य के गुण हैं। ये व्यापक-अवगाहनहेतुत्व, अमूर्तत्व, अचेतनत्व आदि आकाशद्रव्य का स्वरूप होते हुए आकाशद्रव्य को जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल द्रव्यों से पृथक् करते हैं। इसलिये व्यापक-अवगाहनहेतुत्व, अमूर्तत्व, अचेतनत्व, अनंतप्रदेशीपना आकाशद्रव्य के आत्मभूत लक्षण हैं।

गतिहेतुत्व, अमूर्तत्व, अचेतनत्व आदि धर्मद्रव्य के आत्मभूत लक्षण हैं क्योंकि धर्मद्रव्य के सभी असंख्यात प्रदेशों में और धर्मद्रव्य की सभी अवस्थाओं में गतिहेतुत्व आदि हैं। गतिहेतुत्व आदि का धर्मद्रव्य के साथ **नित्यतादात्म्य संबंध** है। गतिहेतुत्व आदि धर्मद्रव्य के गुण हैं। ये गतिहेतुत्व आदि धर्मद्रव्य का स्वरूप होते हुए धर्मद्रव्य को जीव, पुद्गल, आकाश, अधर्म, काल द्रव्यों से पृथक् करते हैं। इसलिये गतिहेतुत्व आदि धर्मद्रव्य के आत्मभूत लक्षण हैं।

स्थितिहेतुत्व, अमूर्तत्व, अचेतनत्व आदि अधर्मद्रव्य के आत्मभूत लक्षण हैं क्योंकि अधर्मद्रव्य के सभी असंख्यात प्रदेशों में और अधर्मद्रव्य की सभी अवस्थाओं में स्थितिहेतुत्व आदि हैं। स्थितिहेतुत्व आदि का अधर्मद्रव्य के साथ **नित्यतादात्म्य सम्बन्ध** है। स्थितिहेतुत्व आदि अधर्मद्रव्य के गुण हैं। ये स्थितिहेतुत्व आदि अधर्मद्रव्य का स्वरूप होते हुए अधर्मद्रव्य को जीव, पुद्गल, आकाश, धर्म, काल द्रव्यों से पृथक करते हैं। इसलिये स्थितिहेतुत्व आदि अधर्मद्रव्य के आत्मभूत लक्षण हैं।

वर्तनाहेतुत्व, अमूर्तत्व, अचेतनत्व, एकप्रदेशत्व आदि कालद्रव्य के आत्मभूत लक्षण हैं क्योंकि कालाणु द्रव्य के अपने-अपने एक प्रदेश में और अपने-अपने कालाणु द्रव्य की सभी अवस्थाओं में वर्तनाहेतुत्व आदि हैं। वर्तनाहेतुत्व आदि का कालद्रव्य के साथ नित्यतादात्म्य सम्बन्ध है। वर्तनाहेतुत्व आदि कालद्रव्य का स्वरूप होते हुए कालद्रव्य को जीव, पुद्गल, आकाश, अधर्म, धर्म द्रव्यों से पृथक् करते हैं। इसलिये वर्तनाहेतुत्व आदि कालद्रव्य के आत्मभूत लक्षण हैं।

ज्ञान, दर्शन, आनंद, अमूर्तत्व,असंख्यातप्रदेशवत्व आदि जीवद्रव्य के आत्मभूत लक्षण हैं क्योंकि जीवद्रव्य के अपने-अपने असंख्यात प्रदेशों में और अपने-अपने जीव की सभी अवस्थाओं में ज्ञान आदि हैं। ज्ञान आदि जीवद्रव्य के गुण हैं। ये ज्ञान आदि जीवद्रव्य का स्वरूप होते हुए जीवद्रव्य को आकाश, पुद्गल, अधर्म, धर्म, काल द्रव्यों से पृथक् करते हैं। इसलिये ज्ञान आदि जीवद्रव्य के आत्मभूत लक्षण हैं।

मैं '**ज्ञान आदिवाला निजजीवद्रव्य**' ऐसा विचार करने से अन्यजीवों से तथा आकाश, काल, धर्म, अधर्म, पुद्गल द्रव्यों से अपने को पृथक् किया।

मैं '**ध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदनिजात्मा**' ऐसा विचार करने से अपनी सभी अवस्थाओं से तथा अन्य जीवों से और आकाश, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल द्रव्यों से भिन्न किया। यह **भेदज्ञान** है। यह **भेदज्ञान/प्रामाण्यसहित प्रत्यक्षज्ञान** करते समय चिंता नष्ट होती है, आकुलता नष्ट होती है, निराकुलता आती है, मोह-राग-द्वेष नष्ट होते हैं, समता आती है, समाधान मिलता है, शांति आती है। अभी आनंदमय भोग प्राप्त होता है। भले ही व्रती हो या अव्रती हो अभी प्रामाण्यसहित प्रत्यक्षज्ञान से '**मैं ध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा हूँ, मेरे ध्रुव निज आत्मा में अन्य कुछ नहीं है**' ऐसा जानने से सम्यक् आनंद मिलता है। प्रयोग कर के देखो।

(२) **अनात्मभूत लक्षण** – जो वस्तु के स्वरूप में नहीं मिला हो, उसे अनात्मभूत लक्षण कहते हैं।

जैसे-देवदत्त यह पुरुष है। उस देवदत्त के हाथ में लाठी (दण्ड) है। उस देवदत्त के पास में रमेश है। उस रमेश के हाथ में दण्ड नहीं है। 'दण्डी को लाओ' ऐसा कहने पर पुरुष में अननुप्रविष्ट दण्ड ही उस देवदत्त को रमेश आदि अन्य मनुष्यों से अलग करता है। इसलिये 'दण्ड' का देवदत्त के साथ **तादात्म्य** न होते हुए भी देवदत्त को रमेश आदि से पृथक् करता है। अत: 'दण्ड' यह देवदत्त का अनात्मभूत लक्षण है। (श्र/त) उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से देवदत्त को 'दण्डी' ऐसा कहा है। दण्ड/लाठी का देवदत्त में **अत्यन्त अभाव** है। 'दण्ड' यह देवदत्त का गुण या पर्याय नहीं है।



चष्मेवाला देवदत्त है। 'पुरुष में अननुप्रविष्ट चष्मा' ही उस देवदत्त को रमेश आदि अन्य मनुष्यों से अलग करता है। इसलिए 'चष्मा' यह देवदत्त के साथ तादात्म्य न होते हुए भी देवदत्त को रमेश आदि से भिन्न करता है। अत: 'चष्मा' यह देवदत्त का अनात्मभूत लक्षण है। (श्र/त) उपचरित असद्भूत व्यवहारनय से देवदत्त को 'चष्मेवाला' ऐसा कहा है। 'चष्मा' का देवदत्त में अत्यन्त अभाव है। 'चष्मा' यह देवदत्त का गुण या पर्याय नहीं है। 'चष्मा' का देवदत्त के साथ नित्यतादात्म्य संबंध नहीं है।

वृद्ध देवदत्त है। 'आत्म-अननुप्रविष्ट (आत्मा के ध्रुवस्वभाव में न मिला हुआ) ही वृद्धत्व' उस देवदत्त को रमेश आदि अन्य मनुष्यों से अलग करता है। इसलिये 'वृद्धपना' यह देवदत्त का अनात्मभूत लक्षण है। (श्र/व) अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से देवदत्त को 'वृद्ध देवदत्त' ऐसा कहा है। बालक, जवान और वृद्ध ये अवस्थायें क्षणिक हैं। वे पुद्गल की अवस्थायें हैं। वे जीव का ध्रुवस्वभाव नहीं हैं। वे जीव का शाश्वत लक्षण नहीं हैं।

श्री आचार्य पूज्यपाद रचित इष्टोपदेश-श्लोक नं. २९ में लिखा है कि →

"न मे मृत्यु: कुतो भीतिर्न मे व्याधि: कुतो व्यथा।

नाहं बालो न वृद्धोऽहं, न युवैतानि पुद्गले॥२९॥"

अर्थ :– मेरी मृत्यु नहीं होती है, इस कारण मुझे भय नही है, मुझे कोई रोग नहीं है, मुझे दुःख नहीं है, मैं बालक नहीं हूँ, मैं वृद्ध नहीं हूँ, मैं युवक नहीं हूँ। ये सब बातें पौद्गलिक शरीर में होती हैं।

देवदत्त क्रोधी है। (ज/ट) अशुद्धनिश्चयनय से देवदत्त को 'क्रोधी' ऐसा कहा है। 'निजध्रुवात्माननुप्रविष्ट क्रोधपर्याय' ही उस जीव को वीतरागादि पर्यायों से तथा शरीर, पुत्र, धन, चष्मादि वस्तुओं से अलग करती है। इसलिये यद्यपि एक अपेक्षा से याने उस ही जीव की पर्याय होने से क्रोध पर्याय उस जीव का आत्मभूतलक्षण है; तथापि दूसरी अपेक्षा से [याने क्रोधपर्याय क्षणिक है, क्रोधपर्याय जीव का अनादि-अनंत शुद्धजीवत्व नहीं है (याने क्षणिक क्रोधपर्याय जीव का ध्रुवस्वभाव/परमशुद्ध पारिणामिकभाव नहीं है) इस अपेक्षा से] क्रोधपर्याय जीव का अनात्मभूत लक्षण है।

अप्रमत्त/वीतरागी निजजीव है। देखो चार्ट नं. ७ (ज) अशुद्धनिश्चयनय से अथवा (ड) शुद्धनिश्चयनय से अथवा (ठ) एकदेश शुद्धनिश्चयनय से निजजीव को 'वीतरागी निजजीव' ऐसा कहा है, लेकिन वे अवस्थायें क्षणिक हैं (देखो, चार्ट नं. १६ और चार्ट नं. २) वे जीव का शाश्वत स्वभाव नहीं हैं। वे जीव का शाश्वत लक्षण नहीं हैं। 'वीतरागपर्याय' जीव को क्रोधादि पर्यायों से तथा शरीरादि वस्तुओं से अलग याने व्यावृत्त करती है। इसलिए यद्यपि एक अपेक्षा से उसी जीव की पर्याय होने से, उस जीव का आत्मभूत लक्षण है; तथापि दूसरी अपेक्षा से [याने वीतरागपर्याय क्षणिक है, वीतरागपर्याय अनादि-अनंत शुद्ध नहीं है, इस अपेक्षासे] वीतराग/अप्रमत्तपर्याय जीव का अनात्मभूत लक्षण है।

आगे और भी देखिये →

'शुद्धात्मानुभव ज्ञानपर्याय' यह सम्यग्दर्शन का अनात्मभूत लक्षण है। इसका स्पष्टीकरण यह है कि,

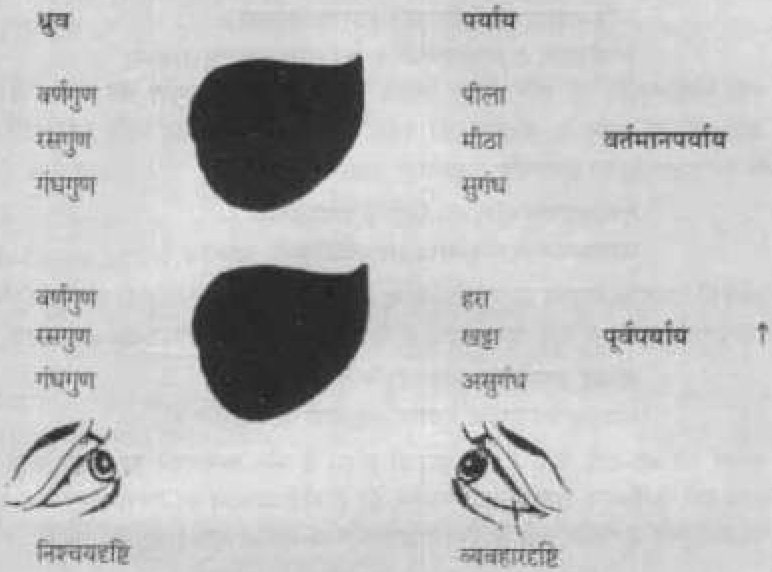
हरा निंबू है,   पीला निंबू है।



अल्प रस है।   विपुल रसवान निंबू है।

जब निंबू की हरी अवस्था है, तब उसमें अल्प रस है, और जब वह निंबू पीला हो जाता है, तब उसमें विपुल रस है। यहाँ पीली अवस्था का और विपुल रस अवस्था का सहचर अविनाभाव है। यहाँ वर्ण की हरी अवस्था या पीली अवस्था है, और रस की अल्प रस अवस्था या विपुल रस अवस्था है।

लेकिन वर्णगुण से रसगुण कथंचित् अतत् याने अन्य है। उसी तरह पीली अवस्था विपुल रस से कथंचित् अतत्/अन्य है।



आम की वर्तमान पर्याय पीली तथा मीठी है और आम की पूर्व पर्याय हरी तथा खट्टी थी।

यहाँ वर्णगुण की हरी या पीली अवस्था है और रसगुण की खट्टी या मीठी अवस्था है।

यहाँ वर्णगुण और रसगुण कथंचित् अलग-अलग हैं। वर्णगुण रसगुण से अतत्/अन्य है। रसगुण वर्णगुण से अतत्/अन्य है। जो वर्णगुण की हरी, पीली अवस्थायें हैं वे हरी, पीली अवस्थायें रसगुण की अवस्थायें नहीं हैं। उसी तरह गंधगुण से वर्णगुण तथा रसगुण से गंधगुण अतत्/अन्य है। उसी तरह सुगंध पर्याय मीठी पर्याय से अतत्/अन्य है। जब आम की सुगंध पर्याय है, तब उसी आम की मीठी पर्याय है, ऐसा सहचर अविनाभाव है। इसलिये ऐसा जाना जाता है कि 'यह आम मीठा ही होना चाहिये क्योंकि इसी आम की सुगंध आती है। अर्थात् इस आम की सुगंध आती है, इसलिये इस आम का रस मीठा ही है।'

उसी तरह "जिस समय 'एकत्वविभक्त निजध्रुवशुद्ध ज्ञानदर्शन-आनंद आत्मा' को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्षज्ञान से जानता है (याने शुद्धात्मानुभव याने निर्विकल्पज्ञान है) उसी समय सम्यग्दर्शन पर्याय है ही" ऐसा सहचर अविनाभाव संबंध है।

देखिये **प्रवचनसार-गाथा नं. ८० 'जो जाणदि अरहंतं'** इत्यादि की **श्री जयसेनाचार्यविरचित तात्पर्यवृत्ति टीका-"... अविकल्पस्वरूपे प्राप्ते.... दर्शनमोहांधकारः प्रलीयते।"**

अर्थ :- जिस समय निर्विकल्पज्ञान होता है, उसी समय मिथ्यादर्शन का व्यय होता है याने सम्यग्दर्शन का उत्पाद होता है।

यहाँ ज्ञानगुण की '**निर्विकल्पज्ञान/शुद्धात्मानुभव यह ज्ञान गुण की पर्याय है** और सम्यग्दर्शन श्रद्धागुण की पर्याय है। ज्ञानगुण श्रद्धागुण से कथंचित् अतत्/अन्य है। इसलिये निर्विकल्प ज्ञानपर्याय सम्यग्दर्शन पर्याय से अतत्/अन्य है। इसलिये निर्विकल्प ज्ञानपर्याय याने शुद्धात्मानुभव ज्ञानपर्याय यह सम्यग्दर्शन पर्याय का अनात्मभूत लक्षण है।

देखिये पंचाध्यायी अध्याय २, श्लोक नं. ३८७ तथा श्लोक नं. ४०२ और ४०१ →

"अपि स्वात्मानुभूतिस्तु ज्ञानं ज्ञानस्य पर्ययात्।
अर्थाज्ज्ञानं न सम्यक्त्वमस्ति चेत् बाह्यलक्षणम्॥३८७॥"

अर्थ :- तथा स्वात्मानुभूति भी ज्ञान ही है; क्योंकि **शुद्धात्मानुभव ज्ञानगुण की पर्याय है।** अर्थात् शुद्धात्मानुभव ज्ञान गुण की पर्याय है, श्रद्धागुण की पर्याय नहीं है। श्रद्धागुण की पर्याय सम्यग्दर्शन है, उस सम्यग्दर्शन पर्याय का शुद्धात्मानुभव ज्ञानपर्याय अनात्मभूत लक्षण है।

"तत्राप्यात्मानुभूतिः सा विशिष्टं ज्ञानमात्मनः।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतमन्वयाद् व्यतिरेकतः॥४०२॥"

अर्थ :- उसमें भी वह शुद्धात्मानुभव आत्मा की विशिष्ट ज्ञानपर्याय है और शुद्धात्मानुभव ज्ञानपर्याय (निर्विकल्प ज्ञानपर्याय) का सम्यग्दर्शन पर्याय के साथ अन्वय तथा व्यतिरेक दोनों प्रकार से अविनाभाव पाया जाता है।

"प्रसिद्धं ज्ञानमेवैकं साधनादिविधौ चितः।
स्वानुभूत्येकहेतुश्च तस्मात् तत् परमं पदम्॥४०१॥"

अर्थ :- आत्मा की साधनादि विधि में एक ज्ञान ही प्रसिद्ध है और सम्यग्दर्शन का निर्णय करने के लिये स्वानुभव ज्ञानपर्याय याने निर्विकल्प ज्ञानपर्याय ही एकमेव हेतु है और समभाव का या सम्यक्चारित्र का निर्णय करने के लिये शुद्धात्मानुभव ज्ञानपर्याय याने निर्विकल्प ज्ञानपर्याय ही एकमेव साधन/हेतु है।

संस्कृत पृष्ठ नं. ५६-५७, परिच्छेद क्रमांक ५ →

'असाधारणधर्म के कथन करने को लक्षण कहते हैं' ऐसा किन्हीं (नैयायिक और हेमचन्द्र या अन्य कोई) का कहना है।'

पर वह ठीक नहीं है क्योंकि लक्ष्यधर्मिवचन का लक्षणधर्मवचन के साथ सामानाधिकरण्य (शाब्द-सामानाधिकरण्य) के अभाव का प्रसंग (दोष) आता है और दण्डादि अतद्धर्मरूप होते हुए भी उन दण्डादि में लक्षणपना है। लक्षणाभासरूप अव्याप्त अभिधान में भी असाधारणधर्मत्व है किन्तु उसमें समीचीन लक्षणपना नहीं है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है-

सदोष लक्षण को लक्षणाभास कहते हैं। उसके तीन भेद हैं, (१) अव्याप्त, (२) अतिव्याप्त और (३) असंभव। उनमें से-

(१) अव्याप्त लक्षणाभास- लक्ष्य के एकदेश में लक्षण के रहने को अव्याप्त लक्षणाभास कहते हैं। जैसे गाय का लक्षण शावलेयत्व।

(२) अतिव्याप्त लक्षणाभास- लक्ष्य और अलक्ष्य में लक्षण के रहने को अतिव्याप्त लक्षणाभास कहते हैं। जैसे गाय का ही लक्षण पशुत्व (पशुपना)।

(३) असंभवी लक्षणाभास - जिस की लक्ष्य में वृत्ति (रहना) बाधित हो अर्थात् जो लक्ष्य में बिलकुल ही न रहे, वह असम्भवी लक्षणाभास है। जैसे कर्मभूमिज और उत्कृष्ट भोगभूमिज मनुष्य का लक्षण सींग।

अब यहाँ गाय का शावलेयत्व यह लक्षण कुछ गायों में पाया जाता है, सभी गायों में नहीं पाया जाता है, इसलिये लक्ष्य एकदेशवर्ती अव्याप्त अभिधानरूप शावलेयत्व में असाधारणधर्मत्व है, तो भी लक्ष्यभूत गायमात्र को याने सभी गायों को अलग याने व्यावृत्त करने में समर्थ लक्षण नहीं है।

इसलिये "परस्पर मिली हुई वस्तुओं में से कोई एक वस्तु जिसके द्वारा व्यावृत्त (अलग) की जाती है, उसे लक्षण कहते हैं" यह ही लक्षण की व्याख्या ठीक है। उसका कथन करना 'लक्षणनिर्देश' है।

विशेषार्थ –यहाँ प्रस्तावना पृष्ठ नंबर ४६ पर छपा हुआ, '**असाधारणधर्मवचनं लक्षणम्**' देखना चाहिये। उसका हिंदी अर्थ प्रस्तावना पृष्ठ नं. – ४७-४८ है।

इसका स्पष्टीकरण-

शंका :– नैयायिक या हेमचंद्र या अन्य कोई असाधारणधर्म के कथन करने को लक्षण कहते हैं, वह क्यों समीचीन नहीं है?

बहुत से लोग पर्याय विशेषों में लुब्ध होते हैं, वे असाधारण पर्यायों की अपेक्षा करते हैं; और असाधारण की ही अपेक्षा करते हैं और असाधारणधर्मवचन को लक्षण मानते हैं, वह क्यों समीचीन नहीं?

समाधान – सदोष लक्षण को लक्षणाभास कहते हैं। उसके तीन भेद हैं- (१) अव्याप्त, (२) अतिव्याप्त और (३) असंभव। जो लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असंभवी दोषों से रहित है, वह लक्षण सम्यक् याने निर्दोष लक्षण है।

और 'असाधारण धर्म के कथन करने को लक्षण कहते हैं' इस लक्षण में (इसप्रकार लक्षण की व्याख्या में) अव्याप्तिदोष, अतिव्याप्तिदोष और असंभवदोष इन तीनों दोषों का अभाव नहीं है।

उसका स्पष्टीकरण–

सभी वादियों के द्वारा दण्डी देवदत्त, कुण्डली देवदत्त, वासवी देवदत्त, चष्मेवाला देवदत्त इत्यादि में दण्ड, कुण्डल, वासव, चष्मा आदि को देवदत्त का लक्षण स्वीकार किया है। लेकिन दण्ड, कुण्डल, वासव, गाय, बालबच्चे, चष्मा, मकान, शर्ट, अलंकार, सुवर्ण, रजत, रत्न, रथ आदि लक्षणों में असाधारणधर्मपना नहीं है; क्योंकि देवदत्त से दण्ड आदि पूर्णरूप से भिन्न (पृथक्) होने से दण्ड आदि देवदत्त से अभिन्न (अपृथक्) नहीं होते हैं; तथा दण्डादि देवदत्त के गुण तथा पर्याय नहीं हैं। आपने अपृथक्त्वपत्व को ही असाधारणधर्म माना है। [अर्थात् दण्ड/लाठी का देवदत्त में अत्यन्त अभाव है। दण्ड यह देवदत्त का गुण या पर्याय नहीं है, इसलिये दण्ड यह देवदत्त का असाधारणधर्म नहीं है।]

तथा लक्ष्यैकदेशमें [जिसका लक्षण किया जाता है, वह लक्ष्य है, ऐसे लक्ष्यके एक देश (भाग) में] अनात्मभूत लक्षणरूप दण्डादि में असाधारणधर्म का अभाव होने से अव्याप्ति है ही। इस तात्पर्य (भावार्थ) को आश्रय करके ग्रंथकार ने न्यायदीपिका में ऐसा कहा है कि, "दण्डादि अतद्धर्म में भी लक्षणपना है।"

यदि असाधारणधर्म को लक्षण का स्वरूप माना जाय, तो इस लक्षण में अव्याप्ति दोष आता है। दण्डादि असाधारणधर्म नहीं हैं, फिर भी वे पुरुष के लक्षण होते हैं। अग्नि की 'उष्णता', जीव का 'ज्ञान', पुद्गल का 'स्पर्श, रस, गंध, वर्ण' आदि जैसे अपने लक्ष्य में [जिसका लक्षण बनाते हैं, वह लक्ष्य है, उसमें] मिले हुए होते हैं, इसलिये वे उनके असाधारणधर्म कहे जाते हैं; वैसे दण्ड आदि पुरुष में मिले हुए नहीं हैं- उससे पृथक् हैं, इसलिये वे पुरुष के असाधारणधर्म नहीं हैं। इस प्रकार लक्षणरूप लक्ष्य के एकदेश अनात्मभूत दण्डादि लक्षण में असाधारणधर्म के न रहने से असाधारणधर्म यह लक्षण अव्याप्तिदोष युक्त है।

लक्ष्य के एकदेश में लक्षण के रहने को (सद्भाव को) अव्याप्त लक्षणाभास कहते हैं। जैसे गाय का शावलेयत्व।

लाल गाय काली गाय शावलेय गाय



इतना ही नहीं, इस **'असाधारणधर्म'** को लक्षण का स्वरूप मानने में अतिव्याप्ति दोष भी आता है, उसका स्पष्टीकरण-

लक्ष्य और अलक्ष्य में लक्षण के रहने को अतिव्याप्त लक्षणाभास कहते हैं। जैसे गाय का ही पशुत्व (पशुपना) लक्षण करना। यह 'पशुत्व' गायों को छोड़कर अश्व, हाथी आदि पशुओं में भी पाया जाता है। इसलिये 'पशुत्व' यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से युक्त है।



जैसे - जीव का ही अमूर्तत्व लक्षण करना। यह 'अमूर्तत्व' जीव में और आकाश में, धर्मद्रव्य में, अधर्मद्रव्य में तथा कालाणु द्रव्यों में भी पाया जाता है। इसलिये जीव का 'अमूर्तत्व' यह लक्षण अतिव्याप्त दोषयुक्त है।

अव्याप्तनामक लक्षणाभास (झूठे लक्षण) रूप शावलेयत्व (चित्रविचित्रपना) आदि में भी 'असाधारणधर्मपना' होने से अतिव्याप्ति है। जैसे- ''गाय का 'शावलेयत्व', जीव का 'मतिज्ञानपर्याय' अथवा 'भव्यत्व' आदि। इस तरह गाय, जीव आदि का लक्षण है'' ऐसा सुप्रतीत (ठीक) नहीं है क्योंकि–

(१) **'शावलेयत्व'** सब गायों में नहीं पाया जाता, वह (शावलेयत्व) कुछ ही गायों का धर्म है, इसलिये अव्याप्त है।

(२) **मतिज्ञानपर्याय** सब जीवों में नहीं पाया जाता (सर्वज्ञ भगवान में मतिज्ञान नहीं है) कुछ ही जीवों का धर्म है; अथवा **भव्यत्व** सब जीवों में नहीं पाया जाता, कुछ ही जीवों का धर्म है; अभव्यत्व सब जीवों में नहीं पाया जाता, कुछ ही जीवों का धर्म है; **क्रोध** (प्रमाद) सब जीवों में नहीं पाया जाता, कुछ ही जीवों का पर्यायधर्म है; **वीतरागता** (अप्रमत्तपना) सब जीवों में नहीं पायी जाती, कुछ ही जीवों का पर्यायधर्म है; मान सब जीवों में नहीं पाया जाता, कुछ ही जीवों का पर्यायधर्म है; **माया** सब जीवों में नहीं पायी जाती, कुछ ही जीवों का पर्यायधर्म है; **लोभ** सब जीवों में नहीं पाया जाता, कुछ ही जीवों का पर्यायधर्म है; **हास्य, रति, भय** आदि नोकषाय सब जीवों में नहीं पाये जाते हैं, कुछ ही जीवों का पर्यायधर्म है; **कृष्ण** भावलेश्या सब जीवों में नहीं पायी जाती है, कुछ ही जीवों की तथा कभी-कभी पर्याय-अवस्था-धर्म है; **पीत, पद्म, शुक्ल** भावलेश्या सब जीवों में नहीं पायी जाती है, कुछ ही जीवों की तथा कभी-कभी पर्याय-

अवस्था-धर्म है; **संसारपर्याय** अथवा **मोक्षपर्याय** सभी जीवों में नहीं पायी जाती, कुछ ही जीवों की पर्यायधर्म है; **विशिष्ट गुणस्थान** अथवा **विशिष्ट मार्गणास्थान** अथवा **विशिष्टपर्याप्ति** सब जीवों में नहीं पायी जाती, इसलिये ये पर्यायधर्म अव्याप्त हैं।

शाबलेयत्व में अथवा भव्यत्वादि में असाधारणधर्मत्व है; क्योंकि उनका गाय आदि से भिन्न वस्तुओं में सद्भाव नहीं है। उसका **अन्य में सद्भाव न रहना ही असाधारणधर्मपना है**। इसलिये अव्याप्त नामक लक्षणाभासरूप शाबलेयत्व में असाधारणधर्मत्व है, उसी तरह उससे विरुद्ध कालापना या श्वेतपना या पीलापना या लालपना में भी असाधारणधर्मत्व है।

अव्याप्त नामक लक्षणाभासरूप भव्यत्व में असाधारणधर्मत्व है, उसी तरह उससे विरुद्ध अभव्यत्व में और भव्यत्वाभव्यत्वरहित मोक्षपर्याय में भी असाधारणधर्मत्व है। तथा अव्याप्त नामक लक्षणाभासरूप सरागपर्याय में असाधारणधर्मत्व है, उसी तरह उससे विरुद्ध वीतराग पर्याय में भी असाधारणधर्मत्व है। तथा अव्याप्त नामक लक्षणाभासरूप मतिज्ञान पर्याय में असाधारणधर्मत्व है, उसी तरह उससे अन्य सर्वज्ञपर्याय में भी असाधारणधर्मत्व है।

इससे यह जानना चाहिये कि, '**असाधारणधर्मत्व**' की अतिव्याप्ति है। [याने असाधारणधर्म को लक्षण की व्याख्या या लक्षण करने में अतिव्याप्तिदोष आता है। लक्ष्य और अलक्ष्य में लक्षण के रहने को अतिव्याप्त लक्षणाभास कहते हैं।]

'असाधारणधर्म को लक्षण का स्वरूप मानना' ठीक नहीं; क्योंकि लक्ष्यरूप धर्मिवचन का लक्षणरूप धर्मवचन के साथ सामानाधिकरण्य (शाब्दसामानाधिकरण्य) के अभाव का प्रसंग (दोष) आता है। इसका स्पष्टीकरण इसप्रकार है-

सामानाधिकरण्य के दो प्रकार हैं- (१) आर्थसामानाधिकरण्य और (२) शाब्दसामानाधिकरण्य।

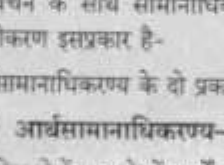
(१) आर्थसामानाधिकरण्य–

जिन दोनों या अनेकों अर्थों (पदार्थों) की एकत्र वृत्ति होती है, उन दोनों या अनेकों अर्थों में आर्थसामानाधिकरण्य होता है। यहाँ अर्थ याने (द्रव्य, गुण और पर्यायात्मक) पदार्थ या वस्तु समझना चाहिये।

जैसे - रूप (वर्ण) और रस इन दोनों की एकत्र वृत्ति होती है, इसलिये उन दोनों में आर्थसामानाधिकरण्य है। स्पर्श, रस, गंध और वर्ण इन चारों की एकत्र वृत्ति होती है, इसलिये उन चारों में आर्थसामानाधिकरण्य है।

जैसे - ज्ञान और दर्शन इन दोनों की एकत्र वृत्ति होती है, इसलिये उन दोनों में आर्थसामानाधिकरण्य है। ज्ञान, दर्शन, आनंद इन तीनों की एकत्र वृत्ति होती है, इसलिये उन तीनों में आर्थसामानाधिकरण्य है।

(२) शाब्दसामानाधिकरण्य–



जिन दोनों या अनेकों शब्दों का एक ही प्रतिपाद्य अर्थ है, उन दोनों या अनेकों शब्दों में शाब्दसामानाधिकरण्य होता है।

जैसे - घट और कलश इन दोनों शब्दों का प्रतिपाद्य अर्थ एक ही है।

यह नियम है कि, सब ही लक्ष्य-लक्षणभाव स्थलों में शाब्दसामानाधिकरण्य होता है; क्योंकि लक्ष्यवचन के द्वारा और लक्षणवचन के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ एक ही होता है।

जैसे- उष्ण-अग्नि, ज्ञान-जीव, सम्यग्ज्ञान-प्रमाण इत्यादि में उष्ण, ज्ञान और सम्यग्ज्ञान, ये लक्षणवचन (धर्मवचन) हैं; और अग्नि, जीव और प्रमाण ये लक्ष्यवचन (धर्मीवचन) हैं।

यहाँ लक्षणवचन के द्वारा जो प्रतिपाद्य अर्थ है, वह ही लक्ष्यवचन के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ है, लक्ष्यवचन के द्वारा भिन्न प्रतिपाद्य अर्थ नहीं है।

उसी तरह लक्ष्यवचन के द्वारा जो प्रतिपाद्य अर्थ है, वह ही लक्षणवचन के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ है, लक्षणवचन के द्वारा भिन्न प्रतिपाद्य अर्थ नहीं है। ''जिससे 'उष्ण' ऐसा कहने पर 'अग्नि' ऐसा कहा गया और 'अग्नि' ऐसा कहने पर 'उष्ण' ऐसा कहा गया'' इत्यादि जानने योग्य है।

वक्ता के उद्दिष्ट अर्थ का पूर्णरूप से याने अशेष धर्मरूप से याने साकल्य से अर्थ का प्रतिपादक पद या वाक्य अथवा महावाक्य को (क) प्रमाणवाक्य या (क) प्रमाणसप्तभंगी या (क) सकलादेशवाक्य सप्तभंगी कहते हैं। [पंचास्तिकायसंग्रह-गाथा नं. १४, राजवार्तिक-अध्याय ४ था, सूत्र ४२ की टीका; जयधवल- पुस्तक १, पृष्ठ १८५; श्लोकवार्तिक- अध्याय १, सूत्र ६ देखिये]

वक्ता के उद्दिष्ट अर्थ के अंश का प्रतिपादक पद या वाक्य अथवा महावाक्य को (ख) नयवाक्य याने (ख) नयसप्तभंगी याने (ख) विकलादेशवाक्य सप्तभंगी कहते हैं। [प्रवचनसार गाथा नं. ११५; राजवार्तिक-अध्याय ४, सूत्र ४२ की टीका; जयधवल-पुस्तक १, पृष्ठ १८६; श्लोकवार्तिक- अध्याय १, सूत्र ६, धवल-पुस्तक नं. ९ देखिये]

चार्ट नं. ७, १३, १९, २२ देखने के बाद आगे और भी देखिये-

(क) प्रमाणसप्तभंगी के वचन/वाक्य
अथवा सकलादेश सप्तभंगी के वचन } पंचास्तिकायसंग्रह-गाथा क्रमांक १४

(१) स्यात् यह उष्ण (गर्म) है ← यह वचन (ग) अभेदवृत्ति का है। **[यहाँ गुण द्वारा अखंड द्रव्य का संकेत है।]**

अथवा

स्यात् यह अग्नि है ← यह वचन भी (ग) अभेदवृत्ति का है। यहाँ वचनप्रयोग वक्ता के अभिप्राय पर अवलंबित है क्योंकि शाब्दसामानाधिकरण्य है।

(२) स्यात् यह उष्ण है ← यह वचन (घ) अभेदोपचार का है। (प्रज्वलित अग्नि है।) **[यहाँ पर्याय द्वारा अखंड द्रव्य का संकेत है।]**

अथवा

स्यात् यह अग्नि है ← यह वचन (घ) अभेदोपचार का है। (प्रज्वलित अग्नि है)। यहाँ वचनप्रयोग वक्ता के अभिप्राय पर अवलंबित है क्योंकि शाब्दसामानाधिकरण्य है।

(ख) नयसप्तभंगी के वचन/वाक्य
अथवा
विकलादेश सप्तभंगी के वचन } प्रवचनसार-गाथा क्रमांक ११५

(१) स्यात् उष्ण है ← यह वचन (च) भेदोपचार का है। **[यहाँ गुण द्वारा 'गुण' का संकेत है।]**

अथवा

स्यात् अग्नि है ← यह वचन भी (च) भेदोपचार का है। यहाँ वचन प्रयोग वक्ता के अभिप्राय पर अवलंबित है क्योंकि शाब्दसामानाधिकरण्य है।

(२) स्यात् उष्ण है ← यह वचन (छ) भेदवृत्ति का है। **[यहाँ पर्याय द्वारा 'पर्याय' का संकेत है।]**
अथवा

स्यात् अग्नि है ← यह भी वचन (छ) भेदवृत्ति का है। यहाँ वचनप्रयोग वक्ता के अभिप्राय पर अवलंबित है क्योंकि शाब्दसामाधिकरण्य है।

(क) प्रमाणसप्तभंगी के वचन →

(१) स्यात् यह ज्ञान है ← यह वचन (ग) अभेदवृत्ति याने निश्चयनय का है। **(यहाँ गुणद्वारा धर्मी का संकेत है।)**
अथवा

स्यात् यह जीव है ← यह वचन भी (ग) अभेदवृत्ति याने निश्चयनय का है। यहाँ वचन प्रयोग वक्ता के अभिप्राय पर अवलंबित है क्योंकि शाब्दसामानाधिकरण्य है।

(२) स्यात् यह ज्ञान है ← यह वचन (घ) अभेदोपचार याने अशुद्धनिश्चयनय का है। **(यहाँ पर्यायद्वारा धर्मी का संकेत है।)**
अथवा

स्यात् यह जीव है ← यह वचन भी (घ) अभेदोपचार याने अशुद्धनिश्चयनय का है। यहाँ वचनप्रयोग वक्ता के अभिप्राय पर अवलंबित है क्योंकि शाब्दसामानाधिकरण्य है।

(ख) नयसप्तभंगी के वचन →

(१) स्यात् ज्ञान है ← यह वचन (च) भेदोपचार याने सद्भूतव्यवहारनय का है। **(यहाँ 'गुण' का संकेत है।)**
अथवा

स्यात् जीव है ← यह वचन भी (च) भेदोपचार याने सद्भूतव्यवहारनय का है। **(यहाँ 'गुण' का संकेत है।)** यहाँ वचनप्रयोग वक्ता के अभिप्राय पर अवलंबित है क्योंकि शाब्दसामानाधिकरण्य है।

(२) स्यात ज्ञान है ← यह वचन (छ) भेदवृत्ति का है। **(यहाँ पर्याय का संकेत है।)**
अथवा

स्यात् जीव है ← यह वचन भी (छ) भेदवृत्ति का है।**(यहाँ पर्याय का संकेत है।)** यहाँ वचनप्रयोग वक्ता के अभिप्राय पर अवलंबित है क्योंकि शाब्दसामानाधिकरण्य है।

(क) प्रमाणसप्तभंगी के वचन →

स्यात ध्रुववान है ← यह वचन (ग) अभेदवृत्ति याने निश्चयनय का है। **(यहाँ धर्मी का संकेत है।)**
अथवा

स्यात् ध्रुव है ← यह वचन भी (ग) अभेदवृत्ति याने निश्चयनय का है। यहाँ वचनप्रयोग वक्ता के अभिप्राय पर अवलंबित है क्योंकि शाब्दसामानाधिकरण्य है।

(ख) नयसप्तभंगी के वचन →

स्यात् ध्रुव है ← यह वचन (च) भेदोपचार याने सद्भूत व्यवहारनय का है। **(यहाँ गुण का सं**
है।)

अथवा

स्यात् ध्रुववान है ← यह वचन भी (च) भेदोपचार याने सद्भूत व्यवहारनय का है। यहाँ वचनप्र
वक्ता के अभिप्राय पर अवलंबित है क्योंकि शाब्दसामानाधिकरण्य है।

(क) प्रमाणसप्तभंगी के वचन →

स्यात् पर्यायवान है ← यह वचन (घ) अभेदोपचार याने (ज) अशुद्धनिश्चयनय का है। **(यहाँ**
का संकेत है।)

अथवा

" स्यात् पर्याय है ← यह वचन भी (घ) अभेदोपचार याने (ज) अशुद्धनिश्चयनय का है।यहाँ वचनप्र
वक्ता के अभिप्राय पर अवलंबित है क्योंकि शाब्दसामानाधिकरण्य है।

(ख) नयसप्तभंगी के वचन →

स्यात् पर्याय है ← यह वचन (छ) भेदवृत्ति का है। **(यहाँ अकेली पर्याय का कथन है, ध्रुव**
धर्मी का कथन नहीं है।)

अथवा

स्यात् पर्यायवान है ← यह वचन भी (छ) भेदवृत्ति का है। **(यहाँ भी अकेली पर्याय का क**
है, ध्रुव और धर्मी का कथन नहीं है।) यहाँ वचनप्रयोग वक्ता के अभिप्राय पर अवलंबित है क्य
शाब्दसामानाधिकरण्य है।

देखिये-**समयसार-आत्मख्याति-परिशिष्ट** में लिखा है कि-

''अत्र तु आत्मवस्तुनि 'ज्ञानमात्रतया' अनुशास्यमाने अपि न तत्परिकोपः, ज्ञानमात्रस्य आत्मवस
स्वयं एव अनेकांतत्वात्।''

अर्थ :- यहाँ आत्मा नामक वस्तु को 'ज्ञानमात्र' से व्यपदेश करने पर भी स्याद्वाद का कोप नहीं; क्य
'ज्ञानमात्र' आत्मवस्तु के स्वयमेव अनेकान्तात्मकत्व है।

यहाँ 'ज्ञानमात्र' यह वचन (क) प्रमाणसप्तभंगी का वचन है।

और भी देखिये **समयसार-आत्मख्याति गाथा नं. १८१** तथा उसकी **आत्मख्याति टीका-**

''उवओगे उवओगो ....''

अर्थ :- उपयोग उपयोग में है।

यहाँ 'उपयोग' यह वचन 'ध्रुवज्ञानदर्शनात्मा' के लिये प्रयुक्त है याने (क) प्रमाणसप्तभंग
(ग) अभेदवृत्ति याने निश्चयनय का है।

आगे उसी गाथा की टीका में

''तेन ज्ञानं .... ज्ञाने एव स्यात्।''

अर्थ :- उससे 'ज्ञान' 'ज्ञान' में है।

यहाँ भी 'ज्ञान' यह वचन (क) प्रमाणसप्तभंगी के (ग) अभेदवृत्ति याने निश्चयनय का है।

आगे और भी देखिये **समयसार-गाथा २९२** की तात्पर्यवृत्ति-टीका (गा. ३१३)

"..... तथैव स्वपरप्रकाशकस्य च ज्ञानस्य च व्याख्यानं...."

उसी प्रकार स्वपरप्रकाशक 'ज्ञान' का व्याख्यान है।

यहाँ 'ज्ञान' यह वचन (ख) नयसप्तभंगी के (छ) भेदवृत्ति का याने 'अकेली ज्ञानपर्याय' का संकेत करता है, ध्रुव और धर्मी का नहीं।

आगे और भी देखिये- **राजवार्तिक - अध्याय ९, सूत्र १९, वार्तिक ६ →**

"रसवत्परित्याग इति चेत्; न मतोः लुप्तनिर्दिष्टत्वात्।"

यहाँ सूत्र में 'रस' का त्याग करना बाह्य तप है। यहाँ 'रस' यह वचन (क) प्रमाणसप्तभंगी का है क्योंकि शाब्दसामानाधिकरण्य है।

इसलिये प्रकरण या आगे-पीछे का संबंध देखकर ही अर्थ करना चाहिये।

आगे और भी देखिये **पंचास्तिकाय - गाथा १४ की समयव्याख्या** में लिखा है कि,

"सर्वस्य वस्तुनः स्वरूपादिना अशून्यत्वात्, पररूपादिना शून्यत्वात्... च इति।"

अर्थ :- क्योंकि (१) अशेषधर्मात्मक वस्तु का स्वरूपादि के द्वारा अशून्य (सद्भाव) है और (२) पररूपादि के द्वारा शून्य (अभाव) है, इत्यादि।

जयधवल-पुस्तक १, पृष्ठ १८५→

"... एकधर्मप्रधानभावेन साकल्येन वस्तुनः प्रतिपादकत्वात्।"

अर्थ :- क्योंकि एक धर्म के प्रधानभाव से अशेषधर्मात्मक वस्तु का प्रतिपादन किया है।

राजवार्तिक-अध्याय ४, सूत्र ४२, वार्तिक १४ →

"एकगुणमुखेन अशेषवस्तुरूपसंग्रहात् सकलादेशः।"

अर्थ :- एक गुण (अंश) के द्वारा अशेषधर्मात्मक वस्तुके ग्रहण करने को सकलादेश कहते हैं।

देखिये- **प्रवचनसार - गाथा ११५ की तत्त्वप्रदीपिका टीका "... द्रव्यस्य एकैकं धर्मं आश्रित्य विवक्षिताविवक्षितविधिप्रतिषेधाभ्यां अवतरन्ती सप्तभंगिका..."**

अर्थ :- द्रव्य के 'एक'-'एक' धर्म का आश्रय कर विवक्षित के विधि के द्वारा और अविवक्षित के निषेध के द्वारा सप्तभंगी अवतरती है।

देखिये- **जयधवल-पुस्तक १, पृष्ठ १८६→**

"... एकधर्मविशिष्टस्य एव वस्तुनः प्रतिपादनात्।"

अर्थ :- वस्तु के विशिष्ट एक धर्म का ही प्रतिपादन करते हैं।

देखिये - **राजवार्तिक-अध्याय ४, सूत्र ४२, वार्तिक १६ →**

"निरंशस्य अपि गुणभेदात् अंशकल्पना विकलादेशः।"

अर्थ :- वस्तु निरंश होते हुए भी गुण (धर्म) भेद से अंशकल्पना करना विकलादेश है।

उसी तरह **सप्तभंगीतरंगिणी, श्लोकवार्तिकादि ग्रंथ** भी आप देखिये।

(क) प्रमाणवाक्य या प्रमाणसप्तभंगी/ सकलादेशसप्तभंगी → एकधर्ममुख से अशेषधर्मात्मक वस्तु का प्रतिपादन किया जाता है। वह प्रमाणवाक्य है।

पंचास्तिकायसंग्रह-गाथा क्रमांक १४ में दव्वं याने 'द्रव्य' का कथन है।

(१) स्यात् ध्रुववान है ← यह वचन (ग) अभेदवृत्ति याने निश्चयनय का है। यह (क) प्रमाणसप्तभंगी का वचन है। यहाँ ध्रुवधर्मी का कथन है।

अथवा

स्यात् ध्रुव है ← यह वचन भी (ग) अभेदवृत्ति याने निश्चयनय का है। यह (क) प्रमाणसप्तभंगी का वचन है। यहाँ भी ध्रुवधर्मी का कथन है। शाब्दसामानाधिकरण्य है क्योंकि वचनप्रयोग वक्ता के अभिप्राय पर अवलंबित है।

(२) स्यात् पर्यायवान है ← यह वचन (घ) अभेदोपचार याने (ज) अशुद्धनिश्चयनय का है। यह (क) प्रमाणसप्तभंगी का वचन है। यहाँ पर्यायधर्मी का कथन है।

अथवा

स्यात् पर्याय है ← यह वचन भी (घ) अभेदोपचार याने (ज) अशुद्धनिश्चयनय का है। यह (क) प्रमाणसप्तभंगी का वचन है। यहाँ भी पर्यायधर्मी का कथन है ।

शाब्दसामानाधिकरण्य है क्योंकि वचनप्रयोग वक्ता के अभिप्राय पर अवलंबित है।

(३) स्यात् अवक्तव्यवान है ← यह वचन (क) प्रमाणसप्तभंगी का वचन है। यहाँ अवक्तव्य धर्मी का कथन है।

अथवा

स्यात् अवक्तव्य है। ← यह वचन भी (क) प्रमाण सप्तभंगी का वचन है। यहाँ भी अवक्तव्य धर्मी का कथन है ।

शाब्दसामानाधिकरण्य है क्योंकि वचनप्रयोग वक्ता के अभिप्राय पर अवलंबित है।

(ख) नयवाक्य या नयसप्तभंगी/ विकलादेशसप्तभंगी → वस्तु के विशिष्ट एक धर्म या अंश का प्रतिपादन किया जाता है। वह नयवाक्य है।

प्रवचनसार-गाथा क्रमांक **११५ में 'पज्जाएण दु केण वि'** याने किसी अंश के द्वारा द्रव्य के अंश का कथन है।

(१) स्यात् ध्रुव है ← यह वचन (च) भेदोपचार का है। यह (ख) नयसप्तभंगी का वचन है। यहाँ ध्रुवधर्म का कथन है।

अथवा

स्यात् ध्रुववान् है ← यह वचन भी (च) भेदोपचार का है। यह भी (ख) नयसप्तभंगी का वचन है। यहाँ भी ध्रुवधर्म का कथन है।

शाब्दसामानाधिकरण्य है क्योंकि वचनप्रयोग वक्ता के अभिप्राय पर अवलंबित है।

(२) स्यात् पर्याय है ← यह वचन (छ) भेदवृत्ति का है। यह (ख) नयसप्तभंगी का वचन है। यहाँ पर्यायधर्म का कथन है।

अथवा

स्यात् पर्यायवान है ← यह वचन भी (छ) भेदवृत्ति का है। यह (ख) नयसप्तभंगी का वचन है। यहाँ भी पर्यायधर्म का कथन है।

शाब्दसामानाधिकरण्य है क्योंकि वचनप्रयोग वक्ता के अभिप्राय पर अवलंबित है।

(३) स्यात् अवक्तव्य है ← यह वचन (ख) नयसप्तभंगी का वचन है। यहाँ अवक्तव्यधर्म का कथन है।

अथवा

स्यात् अवक्तव्यवान है ← यह वचन भी (ख) नयसप्तभंगी का वचन है। यहाँ भी अवक्तव्यधर्म का कथन है।

शाब्दसामानाधिकरण्य है क्योंकि वचनप्रयोग वक्ता के अभिप्राय पर अवलंबित है।

(४) स्यात् ध्रुवपर्यायवान है ← यह वचन (क) प्रमाणसप्तभंगी का वचन है। यहाँ ध्रुवपर्यायधर्मी का कथन है।

अथवा

स्यात् ध्रुवपर्याय है ← यह वचन भी (क) प्रमाणसप्तभंगी का वचन है। यहाँ भी ध्रुवपर्याय धर्मी का कथन है।

शाब्दसामानाधिकरण्य है क्योंकि वचनप्रयोग वक्ता के अभिप्राय पर अवलंबित है।

(५) स्यात् ध्रुव-अवक्तव्यवान है ← यह वचन (क) प्रमाणसप्तभंगी का वचन है। यहाँ ध्रुव-अवक्तव्य धर्मी का कथन है।

अथवा

स्यात् ध्रुव-अवक्तव्य है ← यह वचन भी (क) प्रमाणसप्तभंगी का वचन है। यहाँ भी ध्रुव-अवक्तव्य धर्मी का कथन है।

शाब्दसामानाधिकरण्य है क्योंकि वचनप्रयोग वक्ता के अभिप्राय पर अवलंबित है।

(६) स्यात् पर्याय-अवक्तव्यवान है ← यह वचन (क) प्रमाणसप्तभंगी का वचन है। यहाँ पर्याय-अवक्तव्य धर्मी का कथन है।

अथवा

स्यात् पर्याय-अवक्तव्य है ← यह वचन भी (क) प्रमाणसप्तभंगी का है। यहाँ भी पर्याय-अवक्तव्य धर्मी का कथन है।

शाब्दसामानाधिकरण्य है क्योंकि वचनप्रयोग वक्ता के अभिप्राय पर अवलंबित है।

(७) स्यात् ध्रुवपर्याय-अवक्तव्यवान है ← यह वचन (क) प्रमाणसप्तभंगी का है। यहाँ ध्रुवपर्याय-अवक्तव्य धर्मी का कथन है।

अथवा

स्यात् ध्रुवपर्याय-अवक्तव्य है ← यह वचन भी (क) प्रमाणसप्तभंगी का है। यहाँ भी ध्रुवपर्याय-अवक्तव्य धर्मी का कथन है।

शाब्दसामानाधिकरण्य है क्योंकि वचनप्रयोग वक्ता के अभिप्राय पर अवलंबित है।

(४) स्यात् ध्रुवपर्याय है ← यह वचन (ख) नयसप्तभंगी का वचन है। यहाँ ध्रुवपर्यायधर्म का कथन है।

अथवा

स्यात् ध्रुवपर्यायवान है ← यह वचन भी (ख) नयसप्तभंगी का वचन है। यहाँ भी ध्रुवपर्यायधर्म का कथन है।

शाब्दसामानाधिकरण्य है क्योंकि वचनप्रयोग वक्ता के अभिप्राय पर अवलंबित है।

(५) स्यात् ध्रुव-अवक्तव्य है ← यह वचन (ख) नयसप्तभंगी का वचन है। यहाँ ध्रुव-अवक्तव्यधर्म का कथन है।

अथवा

स्यात् ध्रुव-अवक्तव्यवान है ← यह वचन भी (ख) नयसप्तभंगी का वचन है। यहाँ भी ध्रुव-अवक्तव्यधर्म का कथन है।

शाब्दसामानाधिकरण्य है क्योंकि वचनप्रयोग वक्ता के अभिप्राय पर अवलंबित है।

(६) स्यात् पर्याय-अवक्तव्य है ← यह वचन (ख) नयसप्तभंगी का वचन है। यहाँ पर्याय-अवक्तव्य धर्म का कथन है।

अथवा

स्यात् पर्याय-अवक्तव्यवान है ← यह वचन भी (ख) नयसप्तभंगी का वचन है। यहाँ भी पर्याय-अवक्तव्यधर्म का कथन है।

शाब्दसामानाधिकरण्य है क्योंकि वचनप्रयोग वक्ता के अभिप्राय पर अवलंबित है।

(७) स्यात् ध्रुवपर्याय-अवक्तव्य है ← यह वचन (ख) नयसप्तभंगी का वचन है। यहाँ ध्रुवपर्याय-अवक्तव्यधर्म का कथन है।

अथवा

स्यात् ध्रुवपर्याय-अवक्तव्यवान है ← यह वचन भी (ख) नयसप्तभंगी का वचन है। यहाँ भी ध्रुवपर्याय-अवक्तव्यधर्म का कथन है।

शाब्दसामानाधिकरण्य है क्योंकि वचनप्रयोग वक्ता के अभिप्राय पर अवलंबित है।

और इससे यह सिद्ध हुआ कि, **जहाँ कहीं भी निर्दोष लक्ष्य-लक्षणभाव किया जाता है, वहाँ सर्वत्र ही लक्षणवचन और लक्ष्यवचन में शाब्दसामानाधिकरण्य है।**

और आपके (नैयायिक या हेमचंद्र या अन्य कोई के) इस प्रकृत प्रकरण में 'असाधारणधर्म को लक्षणपना स्वीकार करने पर' लक्षणवचन **धर्मवचन** (गुणों का कथन) होता है और लक्ष्यवचन **धर्मीवचन** (गुणी का कथन) होता है। लक्षणवचनरूप धर्मवचन में और लक्ष्यवचनरूप धर्मीवचन (गुणी का कथन) में शाब्दसामानाधिकरण्य नहीं होगा; क्योंकि आपके मत से लक्षणवचनरूप धर्मवचन के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ भिन्न है और लक्ष्यवचनरूप धर्मीवचन के द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ सर्वथा भिन्न है। 'धर्मवचन' का प्रतिपाद्य अर्थ 'धर्म' है, और 'धर्मीवचन' का प्रतिपाद्य अर्थ 'धर्मी' है, और वे परस्पर सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं, ऐसा आपका मत है।

इसलिये "असाधारणधर्म को लक्षण का 'लक्षण याने व्याख्या' स्वीकार करने पर **कहीं भी लक्ष्य-लक्षण भावस्थल में लक्ष्यवचन और लक्षणवचन में शाब्दसामानाधिकरण्य नहीं संभव होता है।** उससे शाब्दसामानाधिकरण्य अभावप्रयुक्त **असंभवदोष** आता ही है। **लौकिक व्यवहार का भी उच्छेद** होने का प्रसंग (दोष) आता है। लौकिक व्यवहार में "सफेद वस्त्र (कपड़ा) लाओ" ऐसा कहने पर सुननेवाला समझता है कि, 'सफेदवाला (श्वेत) वस्त्र लाना है'। यहाँ 'सफेद' यह वचन सफेदधर्मी याने सफेदपर्याय याने शुक्लपर्यायसहित स्पर्शरसगंधवर्णास्तित्ववस्तुत्वप्रमेयत्वादि अशेषधर्मात्मक वस्तु का कथन करता है याने (क) प्रमाणसप्तभंगी का वचन है। इत्यादि।

इसलिए 'साधारणधर्ममुख से' अथवा 'असाधारणधर्ममुख से' लक्षण का "लक्षण (व्याख्या)" करना योग्य नहीं है क्योंकि ऊपर कहे हुए दोष आते हैं। 'असाधारणधर्म को' लक्षण की व्याख्या (लक्षण) करने पर जैसे दोष आते हैं, वैसे दोष 'साधारणधर्म को' लक्षण की व्याख्या (लक्षण) करने पर भी आते हैं। 'साधारणधर्म को' लक्षण का लक्षण करने पर 'असाधारणधर्म को' लक्षण न मानने का भी प्रसंग (दोष) आता है।

इसलिये 'परस्पर एकत्र मिली हुई वस्तुओं में से **जिसके द्वारा** अन्यत्व (वस्तु को भिन्न/अलग) किया जाता है, **वह लक्षण है**' यह लक्षण की व्याख्या [लक्षण] निर्दोष है।

इसकी अभी के जीवन में उपयोगिता →

जब 'लक्षण' की व्याख्या अथवा 'लक्षण' का लक्षण जानोगे तो ही सच्चे लक्षण और झूठे लक्षणों की पहिचान होगी।

सुवर्ण खरीदना हो या रत्न खरीदना हो तो लक्षणों से परीक्षा की जाती है। नारियल खरीदना हो, तो अच्छा है या नहीं इसकी पहिचान योग्य लक्षणों से की जाती है। उसी तरह **अपने सम्यग्दर्शन की पहिचान योग्य लक्षणों से ही कर सकते हैं।** अपने आनंद की पहिचान याने सम्यक्-आनंद है या आनंदाभास (झूठा आनंद) है यह समझोगे नहीं तो दुःख में डूब जाओगे। हे प्यारे आत्मन्! इस पर सोचो, विचार करो।

यहाँ आकाशद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य, पुद्गलद्रव्य और जीवद्रव्य एक ही क्षेत्र में विद्यमान हैं; तो भी 'प्रत्येकद्रव्य के असाधारणधर्म याने असाधारणगुण के द्वारा अलग-अलग हैं' ऐसा भेदज्ञान कर सकते हैं।

जैसे आकाशद्रव्य का विशिष्ट व्यापक-अवगाहनहेतुत्व यह गुण असाधारण गुण है, इसलिये 'अन्य द्रव्यों से भिन्न है' ऐसा भेदज्ञान करते हैं।

धर्मद्रव्य का गतिहेतुत्व यह गुण असाधारणगुण है, इसलिये 'अन्य द्रव्यों से भिन्न है' ऐसा भेदज्ञान करते हैं।

अधर्मद्रव्य का स्थितिहेतुत्व यह गुण असाधारणगुण है, इसलिये 'अन्य द्रव्यों से भिन्न है' ऐसा भेदज्ञान करते हैं।

कालद्रव्य का वर्तनानिमित्तत्व यह गुण असाधारणगुण है, इसलिये 'अन्य द्रव्यों से भिन्न है' ऐसा भेदज्ञान करते हैं।

पुद्गलद्रव्य का स्पर्शरसगंधवर्णरूपमूर्तित्व ये असाधारणगुण हैं, इसलिये 'अन्यद्रव्यों से भिन्न है' ऐसा भेदज्ञान करते हैं।

जीवद्रव्य के ज्ञान-दर्शन ये गुण असाधारणगुण हैं, इसलिये 'अन्यद्रव्यों से भिन्न है', ऐसा भेदज्ञान करते हैं।

अब अनंतद्रव्यों में से सब जीव अलग हो गये। उसके पश्चात् 'स्वरूपास्तित्व ज्ञानदर्शनयुक्त असंख्यातप्रदेशमय यह मेरा जीव है' ऐसा विचार करने से स्वरूपास्तित्वगुण (अपने अस्तित्व) के द्वारा अपने जीव को अन्य जीवों से भिन्न किया। यह भेदज्ञान किया।

उसके पश्चात् अपने ही 'सच्चिदानंदध्रुवशुद्ध सामान्य के द्वारा याने साधारणधर्म के द्वारा पर्यायविशेषों से अलग (अन्य) है' ऐसा विचार किया, यह भेदज्ञान किया।

इस तरह विचार में, ज्ञान में असाधारणधर्म के द्वारा तथा साधारणधर्म के द्वारा अपने निज-ध्रुव-शुद्ध-ज्ञान-दर्शन-आनंदमय आत्मा को अन्यद्रव्यों से और अपनी पर्यायों से अलग किया।

इसलिये ऐसा भेदज्ञान प्राप्त करने के लिये योग्य लक्षण जानना आवश्यक है।

संस्कृत पृष्ठ नं. ५७, परिच्छेद नं. ६ →

विरोधी नाना युक्तियों की प्रबलता और दुर्बलता का निर्णय करने के लिये प्रवृत्त हुए विचार को परीक्षा कहते हैं। वह परीक्षा 'यदि ऐसा हो तो ऐसा होना चाहिए और यदि ऐसा हो तो ऐसा नहीं होना चाहिये' इसप्रकार से प्रवृत्त होती है।



विशेषार्थ– यदि सामने कोई पशु खड़ा है। उस समय यह प्रसंग आ जाये कि, 'यह पशु गाय है अथवा अश्व है' तब लक्षण देखे जायेंगे। वहाँ परीक्षा करनी है। **विरोधी नाना युक्तियों की प्रबलता और दुर्बलता का निर्णय करने के लिए प्रवृत्त हुए विचार को परीक्षा कहते हैं।** यदि सास्नादिमान है तो गाय होना चाहिये; और यदि सास्नादिमान नहीं है तो गाय नहीं है। यह सामनेवाला पशु सास्नादिमान लक्षणवाला है, इसलिये गाय है। अश्व नहीं है।

उसी तरह 'स्वयं एकत्वविभक्तनिजात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष जानता हूँ, याने मुझे निर्विकल्पज्ञान है। [शुद्धात्मानुभव है], इसलिये मुझे सम्यग्दर्शन है' ऐसा विचार करके अपने सम्यग्दर्शन की परीक्षा की जाती है।

प्रवचनसार-गाथा नं. ८० '**जो जाणदि अरहंतं**' इत्यादि की **श्रीजयसेनाचार्यरचित तात्पर्यवृत्ति टीका** में लिखा है कि, '' ..... **अविकल्पस्वरूपे प्राप्ते..... दर्शनमोहान्धकारः प्रलीयते।**''

अर्थ :- निर्विकल्पज्ञान प्राप्त होने पर उसी समय दर्शनमोह का व्यय हो जाता है।

अपने सम्यग्दर्शन की परीक्षा करनी ही चाहिये। देखिये **जयधवल-पुस्तक १, पृष्ठ ६ →**

'' ... **जुत्तिविरहियगुरुवयणादो पयट्टमाणस्स पमाणाणुसारित्तविरोहादो।**''

अर्थ :- क्योंकि जो शिष्य युक्ति की अपेक्षा किये बिना मात्र गुरुवचन के अनुसार प्रवृत्ति करता है, उसे प्रमाण के अनुसारी (सच्चा) मानने में विरोध आता है।

यदि रागी है, तो सम्यग्दृष्टि नहीं है।

देखिये **समयसार-गाथा नं. २०१-२०२ [आत्मख्याति] की श्री जयसेनाचार्यरचित तात्पर्यवृत्ति टीका-(गाथा २१२-२१३) →**

'' **रागी सम्यग्दृष्टिः न भवति...**''

अर्थ :- रागी सम्यग्दृष्टि नहीं होता है। अर्थात् अपने एकत्वविभक्त-आत्मा में याने 'अपने ध्रुवस्वभाव में निजपर्याय तथा परद्रव्यादि नहीं है' ऐसा प्रामाण्यसहित - प्रत्यक्षज्ञानरहित (स्वसंवेदनरहित याने स्वसंवित्तिशून्य) जीव सम्यग्दृष्टि नहीं होता है। इसलिये जिसको भेदज्ञान नहीं है, वह मिथ्याज्ञानी है, बहिरात्मा है।

इस तरह सम्यक् लक्षण को जानकर परीक्षा करनी चाहिये। प्रयोजनभूत जीवादि तत्त्वों की परीक्षा करनी ही चाहिये। भोग्य **विषय** की, भोगने के **साधन** की और उसके **फल** की परीक्षा अवश्य ही करनी चाहिये।

संस्कृत पृष्ठ नं. ५७, परिच्छेद नं. ७ →

(आ) प्रमाण और (ब) नय इनका भी उद्देश (नाम/अभिधान) सूत्र (प्रमाणनयैरधिगमः) में ही किया गया है। अब उनका लक्षणनिर्देश करना चाहिये, और परीक्षा यथा अवसर की जायेगी। 'उद्देश के अनुसार लक्षण का कथन होता है' इस न्याय के अनुसार प्रधान होने के कारण प्रथम उद्दिष्ट प्रमाण का पहले लक्षण किया जाता है।

विशेषार्थ – जानने के साधन अर्थात् (आ) प्रमाण और (ब) नय इनका उद्देश याने नामकथन (उनके नाम का कथन) सूत्र में किया गया है।

अब उनके लक्षणों का कथन करना चाहिये। उनके समीचीन लक्षणों को जानने के पश्चात् परीक्षा कर सकते हैं। वह परीक्षा यथा अवसर करनी ही चाहिये। (आ) प्रमाण भी ज्ञानपर्याय है और (ब) नय भी ज्ञानपर्याय है। इन दोनों प्रकार की ज्ञानपर्यायों का समीचीन लक्षण कहा जायेगा। इन समीचीन पर्यायों का '**सम्यग्ज्ञानत्व**' यह लक्षण है।

(आ) **प्रमाण ज्ञानपर्याय** का 'सम्यग्ज्ञानत्वसहित सकलादेशीपना' यह लक्षण है। और

(ब) **नय ज्ञानपर्याय** का 'सम्यग्ज्ञानत्वसहित विकलादेशीपना' यह लक्षण है। [देखो चार्ट नं. ७ और २०]

[प्रमाण सामान्य के लक्षण का कथन]

संस्कृत पृष्ठ नं. ५७, परिच्छेद नं. ८ →

सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं । यहाँ प्रमाण लक्ष्य है और 'सम्यग्ज्ञानत्व' उसका लक्षण है। जैसे सास्नादिमानत्व गाय का लक्षण है और उष्णता अग्निका लक्षण है।

यहाँ ज्ञानपर्याय के लक्षण में जो 'सम्यक्' पद का निर्देश किया है, वह संशय तथा विपर्यय और अनध्यवसाय के निराकरण करने के लिये किया है क्योंकि संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय-सहित ज्ञान अप्रमाण याने मिथ्याज्ञान हैं।

विशेषार्थ – सम्यग्ज्ञान को प्रमाण याने समीचीन ज्ञानपर्याय अथवा यथार्थ ज्ञानपर्याय कहते हैं।

यहाँ प्रमाण याने यथार्थ ज्ञानपर्याय लक्ष्य है, और 'सम्यग्ज्ञानत्व' यह उसका याने यथार्थ ज्ञानपर्याय का लक्षण है। जैसे 'सास्नादिमानपना' यह गाय का लक्षण है; 'उष्णता' यह अग्नि का लक्षण है; पार्श्वनाथ तीर्थंकर की मूर्ति का 'साँप' यह चिन्ह याने लक्षण है; आदिनाथ तीर्थंकर की मूर्ति का 'बैल' यह चिन्ह याने लक्षण है; 'शीतलता' यह जल का लक्षण है; 'उपयोग या ज्ञानदर्शनमय चेतनत्व' यह जीव का लक्षण है, 'विशिष्ट व्यापक अवगाहनत्व' यह आकाशद्रव्य का लक्षण है; 'गतिहेतुत्व गुण' धर्मद्रव्य का लक्षण है, 'स्थितिहेतुत्वगुण' अधर्मद्रव्य का लक्षण है; 'वर्तनाहेतुत्वगुण' कालद्रव्य का लक्षण है; 'स्पर्शरसगंधवर्णादि मूर्तिकत्व' पुद्गलद्रव्य का लक्षण है; 'क्षणिकत्व' यह अवस्था का लक्षण है; 'शाश्वत या अन्वयरूप अविनाशीत्व' यह ध्रुव या गुण का लक्षण है; वैसे ही **'सम्यग्ज्ञानत्व' यह यथार्थ ज्ञानपर्याय का लक्षण है।**

यहाँ सम्यग्ज्ञानत्व इस शब्द में 'सम्यक्' यह पद रखा है। इस 'सम्यक्' पद के द्वारा

(१) संशयज्ञान,

(२) विपर्ययज्ञान और

(३) अनध्यवसायज्ञान इनका निराकरण हो जाता है।

ये संशयज्ञान, विपर्ययज्ञान और अनध्यवसायज्ञान अप्रमाण याने प्रमाणाभास याने झूठे ज्ञान याने अयथार्थ ज्ञान याने मिथ्याज्ञानपर्यायें हैं। उसका खुलासा निम्नप्रकार है।

संस्कृत पृष्ठ ५७-५८, परिच्छेद ९ →

उसका स्पष्टीकरण →



विरुद्ध अनेककोटि को स्पर्श करनेवाले ज्ञान को संशयज्ञान कहते हैं। जैसे स्थाणु है अथवा पुरुष है, क्योंकि स्थाणु (ठूँठ) और पुरुष इनका ऊर्ध्वतादि साधारणधर्म का ज्ञान हुआ लेकिन उस स्थाणु (ठूँठ) के वक्र (टेढ़ापन), कोटर आदि तथा पुरुष के शिर, पैर आदि विशेष धर्मों के साधक प्रमाणों का अभाव होने से ज्ञान का (ज्ञानपर्याय में) अनेक कोटि (पक्ष) अवलंबित्व है।

विपरीत एक कोटि (पक्ष) का निश्चय करनेवाले ज्ञान को विपर्ययज्ञान कहते हैं। जैसे सीप में 'यह चांदी है' इसप्रकार का ज्ञान होना। यहाँ भी सादृश्यादि निमित्त के वश से (कारणों से) सीप से विपरीत चांदी का निश्चय होता है।

'कुछ है' ऐसे आलोचनमात्र को (ज्ञान को) अनध्यवसायज्ञान कहते हैं। जैसे- मार्ग में चलते हुए तृण, कंटक आदि के स्पर्श हो जाने पर ऐसा ज्ञान होना कि 'यह क्या (कुछ) है।' यह ज्ञान नाना पक्षों का अवगाहन न करने से संशयज्ञान नहीं और विपरीत एक पक्ष का निश्चय न करने से

विपर्ययज्ञान नहीं है। इसलिये उक्त दोनों ज्ञानों से यह ज्ञान पृथक् ही है; और ये तीनों ज्ञान अपने विषय में प्रमिति-यथार्थता को उत्पन्न न करने से अप्रमाण (प्रमाणाभास) हैं, सम्यग्ज्ञान नहीं हैं। अत: 'सम्यक्' पद से इनका व्यवच्छेद (निराकरण) हो जाता है।

'सम्यग्ज्ञानत्वं' इस शब्द में जो 'ज्ञान' पद है, उस 'ज्ञान' पद से प्रमाता, प्रमिति और 'च' शब्द से प्रमेय की व्यावृत्ति हो जाती है। यद्यपि वे (प्रमाता, प्रमिति, प्रमेय) निर्दोष होने से 'सम्यक्त्व' उनमें भी है, परंतु 'ज्ञानत्व (ज्ञानपना)' उन में नहीं है।

[इस तरह प्रमाण याने समीचीन ज्ञानपर्याय के लक्षण में दिये गये 'सम्यक्' और 'ज्ञान' ये दोनों पद सार्थक हैं।]

विशेषार्थ–

१. **संशयज्ञानपर्याय**–विरुद्ध अनेक (नाना) पक्षों को स्पर्श करनेवाले (चलित) ज्ञान को संशयज्ञान कहते हैं। जैसे– यह स्थाणु (ठूंठ) है अथवा पुरुष है। इस संशयज्ञान में स्थाणु में रहनेवाले और पुरुष में रहनेवाले ऊर्ध्वतादि (ऊंचाई आदि) साधारणधर्म का ज्ञान हुआ लेकिन उस स्थाणु (ठूंठ) के वक्र (टेढ़ापन), कोटर आदि तथा पुरुष के शिर, पैर आदि विशेष धर्मों का साधक ज्ञान न होने से ज्ञानपर्याय में अनेक पक्षों का अवलंबन याने चलित प्रतिपत्ति (चलितज्ञान) है।

जैसे–'यह साँप है या रस्सी है' यह संशयज्ञानपर्याय है।

'यह सीप है या चांदी है' यह संशयज्ञानपर्याय है।

'यह देह है या जीव है' यह संशयज्ञानपर्याय है।

'यह निश्चयनय का विषय है या व्यवहारनय का विषय है" यह संशयज्ञान है।

'यह ध्रुवद्रव्य है या क्षणिकपर्याय है' यह संशयज्ञान है।

शुद्धात्मानुभव करनेवाली ज्ञानपर्याय 'प्रत्यक्षज्ञान है या स्मृति परोक्षज्ञान है या प्रत्यभिज्ञान परोक्षज्ञान है या अनुमान परोक्षज्ञान है या नयज्ञान (अन्तर्जल्परूपज्ञान) है' यह संशयज्ञान है।

शुद्धात्मानुभव करने का फल 'समताभाव है या विषमभाव है अथवा शुद्धोपयोग है या शुभोपयोग है या संवरपूर्वक निर्जरा है या आस्रव-बंध है' यह संशयज्ञान है।

'यह अन्वयरूप गुण है या व्यतिरेकरूप पर्याय है' यह संशयज्ञान है।

संशयज्ञान को मिथ्याज्ञान कहते हैं; क्योंकि वह अपने-अपने विषय के बारे में यथार्थता को जानता नहीं है। उससे चित्त में व्यग्रता, आकुलता-दु:ख होता है।

देखिये–**प्रवचनसार - गाथा नं. २३२ की श्री अमृतचंद्राचार्यविरचित तत्त्वप्रदीपिका टीका**–

"न च अर्थनिश्चयं अन्तरेण ऐकाग्र्यं सिद्ध्येत्, यत: अनिश्चितार्थस्य कदाचित् निश्चिकीर्षाकुलितचेतस: समन्तत: दोलायमानस्य अत्यन्ततरलतया,... एकं भगवन्तं आत्मानं अपश्यत: सततं वैयग्र्यं एव स्यात्।"

अर्थ :–और पदार्थों के निश्चय के बिना एकाग्रता सिद्ध नहीं होती; क्योंकि जिसे पदार्थों का निश्चय नहीं है, वह कदाचित् निश्चिकीर्षा (निश्चय करने के) भावसे आकुलित, सर्वत: दोलायमान या डावाँडोल याने चलितचित्त की अत्यन्त तरलता याने चंचलता से निजध्रुवशुद्ध एकत्वविभक्त भगवान आत्मा को निर्णयरूप से न जानने से सतत व्यग्रता ही आती है, शुद्धात्मानुभव नहीं होता है।

२. **विपर्ययज्ञानपर्याय**– विपरीत एक पक्ष का निश्चय करनेवाले ज्ञान को विपर्ययज्ञान कहते हैं। जैसे - सीप में 'यह चांदी है' इस प्रकार का ज्ञान होना, यह विपरीतज्ञान (विपर्ययज्ञान) है।

रस्सी में 'यह साँप है' इस प्रकार का ज्ञान होना, यह विपर्ययज्ञान है। सफेद कागज़ में 'यह पीला कागज़ है' इस प्रकार जानना, यह विपर्ययज्ञान है।

निजध्रुवात्मा को 'यह मैं शरीर हूँ' ऐसा जानना विपर्ययज्ञान है।

श्वेत (सफेद) प्रकाश को जानकर उसको शुद्धात्मानुभव जानना, यह विपर्ययज्ञान है।

खट्टे, मीठे स्वाद को जानकर उसको शुद्धात्मानुभव जानना, यह विपर्ययज्ञान है।

कारणविपर्ययज्ञान, भेदाभेदविपर्ययज्ञान और स्वरूपविपर्ययज्ञान-ये विपर्ययज्ञान के भेद हैं।

कारणविपर्यय ज्ञान– 'रूपादिक कार्य का एक कारण है जो अमूर्त और नित्य है' ऐसा जानते हैं, वह कारणविपर्ययज्ञान है। कोई जानते हैं कि, पृथिवी जाति के परमाणु अलग हैं जो चार गुणवाले हैं; जल जाति के परमाणु अलग हैं जो तीन गुणवाले हैं; अग्नि जाति के परमाणु अलग हैं, जो दो गुणवाले हैं; और वायु जाति के परमाणु अलग हैं जो एक गुणवाले हैं; तथा ये परमाणु अपने समानजातीय कार्य को ही उत्पन्न करते हैं इत्यादि।

आस्रवरूप शुभोपयोग को संवरपूर्वक निर्जरा का कारण जानना, यह कारण-विपर्ययज्ञान है।

'शुद्धोपयोग से आस्रवबंध होता है' ऐसा जानना कारणविपर्ययज्ञान है।

भेदाभेदविपर्यय ज्ञान– 'द्रव्य से पर्याय को सर्वथा भिन्न जानना' भेदविपर्ययज्ञान है।

'पर्याय को द्रव्य से सर्वथा अभिन्न जानना' यह अभेदविपर्ययज्ञान है।

'स्पर्शरसगंधवर्णमय शरीर को निजात्मा से अभिन्न जानना' अभेदविपर्ययज्ञान है।

स्वरूपविपर्यय ज्ञान–रूपादि निर्विकल्प हैं अथवा रूपादि हैं ही नहीं अथवा रूपादि ज्ञेय के आकाररूप से परिणत हुआ विज्ञान ही है, उसका (ज्ञान का) आलम्बनभूत अन्य कोई बाह्य पदार्थ नहीं है। यह स्वरूपविपर्ययज्ञान है।

प्राणायाम को शुद्धात्मानुभव जानना, यह स्वरूपविपर्ययज्ञान है।

'इंद्रियजनित आनंद को अतीन्द्रिय आनंद जानना' यह विपर्ययज्ञान है।

'मनोजनित आनंद को अतीन्द्रिय आनंद जानना' यह विपर्ययज्ञान है।

'रागादि प्रशम भाव को अतीन्द्रिय आनंद (आत्मोत्थ आनंद) जानना' यह विपर्ययज्ञान है।

'रोमांच हो जाने को शुद्धात्मानुभव जानना' यह विपर्ययज्ञान है।

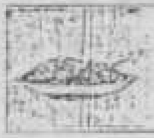
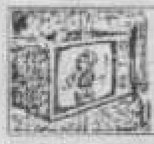
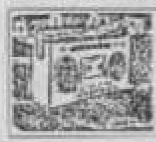
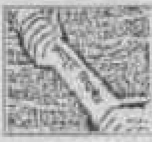
'पर को जानकर अतीन्द्रिय आनंद होता है' ऐसा जानना विपर्ययज्ञान है। (चार्ट नं. २२) देखिए।

३. **अनध्यवसायज्ञानपर्याय**– 'कुछ है' ऐसे आलोचनमात्र को (ज्ञान को/जानने को) अनध्यवसायज्ञानपर्याय कहते हैं।

अन् याने नहीं। अध्यवसाय याने निर्णय। इसलिये 'अन्+अध्यवसाय=नहीं+निर्णय=निर्णय नहीं। अर्थात् अनध्यवसाय याने निर्णय नहीं।

मैं तो आनंदानु, आनंदानु, आनंदानु धाम ।

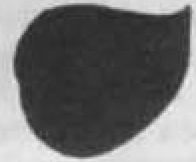
वस्तुनिष्ठ विज्ञान

विषय/ज्ञेय/OBJECT	ज्ञानपर्याय/KNOWLEDGE STATUS
 मनरहित अतींद्रिय निजशुद्धज्ञानस्वभाव आनंदगुणरहित	 निजशुद्धज्ञानस्वभाव आनंद है-सम्यग्ज्ञान है।
 थंड आईस्क्रिम आनंदगुणरहित	 थंड आईस्क्रिम आनंद है-विपरीतज्ञान है।
 खमंग चिवडा आनंदगुणरहित	 खमंग चिवडा आनंद है-विपरीतज्ञान है।
 सुगंधी फूल आनंदगुणरहित	 सुगंधी फूल आनंद है-विपरीतज्ञान है।
 टी.व्ही. आनंदगुणरहित	 टी.व्ही. आनंद है-विपरीतज्ञान है।
 डिस्को संगीत आनंदगुणरहित	 डिस्को संगीत आनंद है-विपरीतज्ञान है।
 बालक आनंदगुणरहित	 बालक आनंद है-विपरीतज्ञान है।
 विशेषज्ञपर्याय शाश्वत आनंदगुणरहित	 विशेषज्ञपर्याय शाश्वत आनंद है विपरीतज्ञान है।

[इसलिये (१) इन्द्रियजनित आनंद आनंदाभास याने विपर्यय आनंद याने असत्य आनंद है, (२) मनोजनित आनंद आनंदाभास याने विपर्यय आनंद याने असत्य आनंद है और (३) प्रशमजनित आनंद आनंदाभास याने विपर्यय आनंद याने असत्य आनंद है। और (४) निजात्मोत्थ आनंद ही सम्यक् अतीन्द्रिय आनंद है।]

चार्ट नं. २१

अभेदवृत्ति
ध्रुववान
(स्पर्शरसगंधवर्ण-
अस्तित्वादिगुणपिंडवाला)



अभेदोपचार पर्यायवान → काला → पीला → हरा | बर्तन, मेज आदि वा अन्य परसापेक्ष

अभेदोपचार
↓
ध्रुवपर्यायवान

भेदोपचार → ध्रुव

भेदवृत्ति → पर्याय → वर्तमानपर्याय का उत्पाद / पूर्वपर्याय का व्यय

अस्तित्वगुण →	**वर्तमान अस्तिपर्याय**	**पूर्व अस्तिपर्याय**
स्पर्शगुण →	नरम	कड़ा
रसगुण →	मीठा	खट्टा
गंधगुण →	सुगंध	असुगंध
वर्णगुण →	पीला	हरा
इत्यादि →	इत्यादि	इत्यादि

(क) प्रमाणसप्तभंगी

(१) स्यात् आम 'ध्रुववान' है। अभेदवृत्ति
(२) स्यात् आम 'पर्यायवान' है। अभेदोपचार
(३) स्यात् आम 'अवक्तव्यवान' है। अभेदोपचार
(४) स्यात् आम 'ध्रुवपर्यायवान' है। अभेदोपचार
(५) स्यात् आम 'ध्रुव-अवक्तव्यवान' है। अभेदोपचार
(६) स्यात् आम 'पर्याय-अवक्तव्यवान' है। अभेदोपचार
(७) स्यात् आम 'ध्रुवपर्याय-अवक्तव्यवान' है। अभेदोपचार

(ख) नयसप्तभंगी

(१) स्यात् 'ध्रुव' है। भेदोपचार
(२) स्यात् 'पर्याय' है। भेदवृत्ति
(३) स्यात् 'अवक्तव्य' है। भेदवृत्ति
(४) स्यात् 'ध्रुवपर्याय' है। भेदवृत्ति
(५) स्यात् 'ध्रुव-अवक्तव्य' है। भेदवृत्ति
(६) स्यात् 'पर्याय-अवक्तव्य' है। भेदवृत्ति
(७) स्यात् 'ध्रुवपर्याय-अवक्तव्य' है। भेदवृत्ति

जैसे मार्ग में चलते हुए तृण, कंटक आदि के स्पर्श हो जाने पर ऐसा ज्ञान होना कि, 'कुछ है'। यह ज्ञान नाना पक्षों को अवगाहन न करने से संशयज्ञान नहीं और विपरीत एक पक्ष का निश्चय न करने से विपर्ययज्ञान नहीं है। इसलिये उक्त दोनों ज्ञानों से अनध्यवसाय यह ज्ञान पृथक् ही है।

यदि कोई कहता है कि, "निर्विकल्पज्ञान (समाधि या शुद्धात्मानुभव ज्ञानपर्याय) में 'कुछ है' ऐसी जानकारी होती है।" तो यहाँ निर्णय नहीं इसलिये मिथ्याज्ञान है; और यह ज्ञान नाना पक्षों का अवगाहन न करने से संशयज्ञान नहीं और विपरीत एक पक्ष का निश्चय न करने से विपर्ययज्ञान नहीं है। इसलिये संशयज्ञान और विपर्ययज्ञान इन दोनों ज्ञानों से अनध्यवसाय यह ज्ञान पृथक् ही है।

ये संशयज्ञान, विपर्ययज्ञान तथा अनध्यवसायज्ञान अपने विषय में प्रमिति-यथार्थता को उत्पन्न न करने से अप्रमाण (प्रमाणाभास) हैं, सम्यग्ज्ञान नहीं हैं। अतः 'सम्यक्' पद से इनका व्यवच्छेद (निराकरण) हो जाता है।

समीचीन ज्ञानपर्याय का 'सम्यग्ज्ञानत्व' यह लक्षण कहा गया था। 'सम्यग्ज्ञानत्व' इस शब्द में जो 'ज्ञान' पद है उस ज्ञान पद से प्रमाता, प्रमिति और प्रमेय की व्यावृत्ति हो जाती है।

प्रमाता याने जाननेवाला।

प्रमिति याने जानने का फल।

प्रमेय याने ज्ञेय अथवा विषय अथवा जाना जानेवाला।

प्रमाता, प्रमिति तथा प्रमेय निर्दोष होने से उनमें भी 'सम्यक्पना' है, लेकिन 'ज्ञानत्व (ज्ञानपर्याय)' उनमें (प्रमाता, प्रमिति तथा प्रमेय में) नहीं है क्योंकि जाननेवाली ज्ञानपर्याय कथंचित् (किसी अपेक्षासे) प्रमाता, प्रमिति तथा प्रमेय से अन्य है।

जैसे आम के वर्णगुण से (भेदोपचार से) हरा अथवा पीत पर्याय (भेदवृत्ति) अन्य है।

जीव के श्रद्धागुण से (भेदोपचार से) मिथ्यादर्शन या सम्यग्दर्शन पर्याय (भेदवृत्ति) अन्य है। देखिये चार्ट नं. २१, चार्ट नं. १३, १९ [चार्ट नं. १९- प्रस्तावना पृष्ठ ५०पर देखिये।]

इसतरह प्रमाण याने समीचीन ज्ञानपर्याय के लक्षण में दिये गये 'सम्यक्' और 'ज्ञान' ये दोनों पद सार्थक (योग्य) हैं।

संस्कृत पृष्ठ ५८, संस्कृत परिच्छेद नं. १० →

शंका – प्रमाता प्रमिति को करनेवाला है। अतः वह ज्ञाता ही है, ज्ञानरूप नहीं हो सकता। इसलिये 'ज्ञान' पद से प्रमाता की तो व्यावृत्ति हो जाती है। लेकिन प्रमिति की व्यावृत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि प्रमिति भी सम्यग्ज्ञान है।

समाधान – यह कथन उस हालत में ठीक है, जब 'ज्ञान' पद यहाँ भावसाधन हो। लेकिन 'ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम्' अर्थात् 'जिसके द्वारा जाना जावे, वह ज्ञान है' इस प्रकार की व्युत्पत्ति को लेकर 'ज्ञान' पद करणसाधन इष्ट है। करण और आधार के अर्थ में (विषय में) अनट् प्रत्यय करने को कहा है। यहाँ जैनेन्द्रव्याकरण के अनुसार करण में भी 'अनट्' प्रत्यय का विधान है। भावसाधन में 'ज्ञान' पद का अर्थ प्रमितिमात्र (ज्ञप्तिमात्र) होता है; और भावसाधन से करणसाधन पद भिन्न है। (अर्थात् प्रमाण के लक्षण में 'ज्ञान' पद करणसाधन रूप से विवक्षित है, भावसाधन रूप से नहीं। अतः 'ज्ञान' पद से प्रमिति की व्यावृत्ति हो सकती है।)

इसी प्रकार 'प्रमाण' पद भी 'प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम्' इस व्युत्पत्ति को लेकर करणसाधन करना चाहिये। अन्यथा 'सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्' यहाँ करणसाधनरूप से प्रयुक्त 'सम्यग्ज्ञान' पद के साथ 'प्रमाण' पद का एकार्थप्रतिपादकरूप सामानाधिकरण्य नहीं बन सकेगा। (तात्पर्य यह है कि, 'प्रमाण' पद को करणसाधन न मानने पर और भावसाधन मानने पर 'प्रमाण' पद का अर्थ प्रमिति होगा और 'सम्यग्ज्ञान' पद का अर्थ प्रमाणज्ञान होगा; और ऐसी हालत में दोनों पदों का प्रतिपाद्य अर्थ भिन्न-भिन्न होने से शाब्दसामानाधिकरण्य नहीं बन सकेगा। अत: 'प्रमाण' पद को करणसाधन करना चाहिये।) इससे यह बात सिद्ध हो गयी कि, अज्ञाननिवृत्तिरूप अथवा अर्थपरिच्छेदरूप प्रमितिक्रिया में जो करण हो वह प्रमाण है। इसी बात को श्री वादिराजाचार्यजी ने अपने 'प्रमाणनिर्णय' ग्रंथ [पृ.१] में कहा- 'प्रमाण का प्रमाणत्व यही है, जो प्रमितिक्रिया के प्रति साधकतमरूप से करण (नियम से कार्य का उत्पादक) हो।'

विशेषार्थ – शंका-प्रमाता याने ज्ञाता याने जाननेवाला याने ध्याता। ज्ञान और ज्ञाता याने प्रमाता में कथंचित् भेद है।

कोई लोग ज्ञान और ज्ञाता (याने आत्मद्रव्य) इन में सर्वथा भेद मानते हैं। इसलिये प्रमाता (ध्याता या ज्ञाता या आत्मा) प्रमिति को करनेवाला है। अत: प्रमाता ज्ञाता ही है, ज्ञानरूप नहीं है।

कोई लोग 'ज्ञान बाहर से आता है' ऐसा मानते हैं, इसलिये आत्मा या प्रमाता या ध्याता को ज्ञान से पृथक् किया है।

इसलिये 'ज्ञान' पद से प्रमाता की तो व्यावृत्ति होती है। लेकिन प्रमिति की व्यावृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि प्रमिति भी सम्यग्ज्ञान है।

समाधान – 'ज्ञान पद से प्रमिति की व्यावृत्ति नहीं हो सकती' यह कथन उस हालत में ठीक है, जब 'ज्ञान' पद यहाँ भावसाधन हो। लेकिन 'ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम्' अर्थात् 'जिसके द्वारा जाना जावे, वह ज्ञान है' इस प्रकार की व्युत्पत्ति को लेकर 'ज्ञान' पद करणसाधन इष्ट है। यहाँ भावसाधन इष्ट नहीं।

[कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण नामक छह कारक हैं। जो स्वतंत्रतया-स्वाधीनता से करता है वह **कर्ता** है; कर्ता जिसे प्राप्त करता है वह **कर्म** है; साधकतम अर्थात् उत्कृष्ट साधन को **करण** कहते हैं; कर्म जिसे दिया जाता है अथवा जिसके लिये किया जाता है, वह **सम्प्रदान** है; जिसमें से कर्म किया जाता है, वह ध्रुववस्तु **अपादान** है, और जिसमें अर्थात् जिसके आधार से कर्म किया जाता है वह **अधिकरण** है। यह छह कारक व्यवहार और निश्चय के भेद से दो प्रकार के हैं। जहाँ पर के निमित्त से कार्य की सिद्धि कही जाती है वहाँ **व्यवहार कारक** हैं और जहाँ अपने ही उपादान कारण से कार्य की सिद्धि कही जाती है वहाँ **निश्चयकारक** हैं।

व्यवहार कारकों का दृष्टान्त इसप्रकार है- कुम्हार कर्ता है; घड़ा कर्म है; दंड, चक्र, चीवर इत्यादि करण हैं; कुम्हार जल भरनेवाले के लिये घड़ा बनाता है, इसलिये जल भरनेवाला सम्प्रदान है; टोकरी में से मिट्टी लेकर घड़ा बनता है; इसलिये टोकरी अपादान है; और पृथ्वी के आधार पर घड़ा बनता है, इसलिये पृथ्वी अधिकरण है। यहाँ सभी कारक भिन्न-भिन्न हैं। अन्य कर्ता है; अन्य कर्म है; अन्य करण है; अन्य सम्प्रदान है; अन्य अपादान और अन्य अधिकरण है। परमार्थत: कोई द्रव्य किसी का कर्ता-हर्ता नहीं हो सकता, इसलिये निश्चयदृष्टि से यह छहों व्यवहार-कारक असत्य हैं। वे मात्र उपचरित असद्भूत व्यवहारनय

से कहे जाते हैं। निश्चय से किसी द्रव्य का अन्य द्रव्य के साथ कार्य-कारणता का सम्बन्ध है ही नहीं।

निश्चय कारकों का दृष्टान्त इसप्रकार है :– मिट्टी स्वतंत्रतया घटरूप कार्य को प्राप्त होती है इसलिये मिट्टी कर्ता है और घड़ा कर्म है। अथवा, घड़ा मिट्टी से अभिन्न है इसलिये मिट्टी स्वयं ही कर्म है; अपने परिणमन स्वभाव से मिट्टी ने घड़ा बनाया इसलिये मिट्टी स्वयं ही करण है; मिट्टी ने घड़ारूप कार्य अपने को ही दिया इसलिये मिट्टी स्वयं सम्प्रदान है; मिट्टी ने अपने में से पिंडरूप अवस्था नष्ट करके घटरूप कर्म किया और स्वयं ध्रुव बनी रही इसलिये वह स्वयं ही अपादान है; मिट्टी ने अपने ही आधार से घड़ा बनाया इसलिये स्वयं ही अधिकरण है। इसप्रकार निश्चय से छहों कारक एक ही द्रव्य में हैं। परमार्थतः एक द्रव्य दूसरे द्रव्य की सहायता नहीं कर सकता और द्रव्य स्वयं ही, अपने को, अपने से, अपने लिये, अपने में से, अपने में कार्य करता है इसलिये निश्चय छह कारक ही परम सत्य हैं।

उपरोक्त प्रकार से द्रव्य स्वयं ही अपनी अनन्त शक्तिरूप सम्पदा से परिपूर्ण है इसलिये स्वयं ही छह कारकरूप होकर अपना कार्य करने के लिए समर्थ है, उसे बाह्य सामग्री कोई सहायता नहीं कर सकती।]

'**जो जानता है**, वह ज्ञान है' यह 'ज्ञान' पद की कर्तासाधन व्युत्पत्ति है।

'**जिसको** जानते हैं, (जो जाना जाता है), वह ज्ञान है' यह 'ज्ञान' पद की कर्मसाधन व्युत्पत्ति है।

'**जिसके द्वारा** जाना जाता है,' वह ज्ञान है, यह 'ज्ञान' पद की करणसाधन व्युत्पत्ति है।

'**जिसके लिये** जाना जाता है, वह ज्ञान है' यह 'ज्ञान' पद की संप्रदानसाधन व्युत्पत्ति है।

'**जिससे** जाना जाता है, वह ज्ञान है' यह 'ज्ञान' पद की अपादानसाधन व्युत्पत्ति है।

'**जिसमें** या जिस आधार पर जाना जाता है, वह ज्ञान है' यह 'ज्ञान' पद की अधिकरणसाधन व्युत्पत्ति है।

'कर्तासाधन ज्ञान, कर्मसाधन ज्ञान, करणसाधन ज्ञान, संप्रदानसाधन ज्ञान, अपादानसाधन ज्ञान और अधिकरणसाधन ज्ञान इनमें जो साधारण जाननामात्र परिणाम है अथवा जानना तथा जानने का फल इनमें जो साधारण जानना मात्र परिणाम है उसको जाननामात्र याने ज्ञप्तिमात्र याने प्रमितिमात्र परिणाम है वह ज्ञान है'। यह 'ज्ञान' पद की **भावसाधन** व्युत्पत्ति है।

यह 'ज्ञान' पद की भावसाधन व्युत्पत्ति और 'ज्ञान' पद की करणसाधन व्युत्पत्ति-इन में कथंचित् भेद है। इसलिये करणसाधन याने भावसाधन नहीं है।

इसलिये 'प्रमाण' के (समीचीन ज्ञानपर्याय के) लक्षण में ('सम्यग्ज्ञान' इस लक्षण में) 'ज्ञान' पद करणसाधन विवक्षित है, भावसाधन विवक्षित नहीं। अतः 'ज्ञान' पद से प्रमिति की व्यावृत्ति हो सकती है।

इसी प्रकार 'प्रमाण' पद भी 'प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम्' अर्थात् 'जिसके द्वारा जाना जाता है, वह प्रमाण है' इस व्युत्पत्ति को लेकर करणसाधन करना चाहिये। अन्यथा 'सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं' यहाँ करणसाधनरूप से प्रयुक्त 'सम्यग्ज्ञान' पद के साथ 'प्रमाण' पद का एकार्थप्रतिपादकरूप सामानाधिकरण्य नहीं बन सकेगा। भावार्थ यह है कि, 'प्रमाण' पद को करणसाधन न मानने पर और भावसाधन मानने पर

'प्रमाण' पद का अर्थ प्रमिति होगा और 'सम्यग्ज्ञान' पद का अर्थ प्रमाणज्ञान होगा। ऐसी हालत में दोनों शब्दों का कथन किया जानेवाला अर्थ भिन्न-भिन्न होने से शब्दसामानाधिकरण्य नहीं बन सकता। इसलिये 'प्रमाण' पद को करणसाधन करना चाहिये।

इससे यह बात सिद्ध हो गई कि, अज्ञान का नाश अथवा अर्थपरिच्छेदरूप प्रमिति क्रिया में जो करण हो वह प्रमाण है। इसी बात को श्री वादिराजाचार्यजी ने अपने **'प्रमाणनिर्णय' ग्रंथ, पृष्ठ १** में कहा है कि, 'प्रमाण वही है, जो प्रमिति क्रिया के प्रति साधकतमरूप से करण (नियम से कार्य का उत्पादक) हो।'

इससे सुस्पष्ट है कि, 'ज्ञान ही जानने का साधकतम साधन है।' यह ही उपादानदृष्टि है। यह ही बात समयप्राभृत के कर्ताकर्म अधिकार में श्री कुंदकुंदाचार्यजी ने कथन की है। निश्चयनय से कार्य का कर्ता या साधन उपादान १००% है, निमित्त ०% याने अकिञ्चित्कर है।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि **'ज्ञान'** की **करणसाधन व्युत्पत्ति** है और **'चारित्र' की कर्मसाधन व्युत्पत्ति** है। देखिये श्री अकलंकदेव विरचित **तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक) अध्याय १, सूत्र १, वार्तिक ४-**

''ज्ञानदर्शनयोः करणसाधनत्वं, कर्मसाधनः चारित्रशब्दः ॥४॥ ज्ञानं दर्शनं इति करणसाधनौ एतौ शब्दौ 'करणाधिकरणयोः' [जैने. २।४।९९] इति युटो विधानात्। कर्मसाधनः चारित्रशब्दः, 'भूवदिगृभ्यो णित्रश्चरेर्वृत्ते' [उणादि. ४।१७७-७८] इति कर्मणि विधानात्। ज्ञानदर्शनशक्तिविशेषशुद्धिसन्निधाने जीवादीन् अर्थान् आत्मा जानाति पश्यति वा येन तज्ज्ञानं दर्शनं च। चारित्रमोहोपशमक्षयक्षयोपशमसद्भावे 'चर्यते तद् इति चारित्रम्'।''

अर्थ :- ज्ञान और दर्शन शब्द करणसाधन हैं और चारित्र शब्द कर्मसाधन है।

ज्ञान और दर्शन शब्द करणसाधन हैं–

करणाधिकरणयोः [जैनेन्द्र व्या. २।४।९९] इस सूत्र से युट् प्रत्यय होकर करणसाधन बनता है और भूवदिगृभ्यो णित्रश्चरेर्वृत्ते [उणादि. ४।१७७-७८] इस सूत्र से चारित्रशब्द कर्मसाधन बनता है।

जिस ज्ञानदर्शन-शक्तिविशेष की शुद्धि के सन्निधान में आत्मा 'जिसके द्वारा' जीवादि अर्थों को जानता है, वह **ज्ञान** है, और जिसके द्वारा जीवादि अर्थों को देखता है वह **दर्शन** है। **चारित्रमोह के उपशम के अथवा क्षय के अथवा क्षयोपशम के सद्भावमें 'जो चारित्र हो जाता है, वह चारित्र है'।**

इससे यह सिद्ध होता है कि, साधना करनेवाले के लिये 'ज्ञान' यह करणसाधन है; अर्थात् वस्तुस्वरूप को जानकर प्रामाण्यसहित प्रत्यक्षज्ञान के द्वारा अपने ध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा को जानते समय आत्मा का मोहरागद्वेषरहित परिणाम हो जाता है **वह सम परिणाम चारित्र है। वह चारित्र कर्मसाधन है, करणसाधन नहीं।**

(a) जिसने ६ द्रव्य, ७ तत्त्व, ९ पदार्थ, निश्चयनय, व्यवहारनय आदि मूलभूत वस्तुस्वरूप जाना है, अपने प्रमादों को नष्ट करना चाहता है, मोहरागद्वेष नष्ट करना चाहता है, विकल्पों को नष्ट करना चाहता है, निर्विकल्पसमाधि करना चाहता लेकिन अभी तक निर्विकल्पसमाधि (निर्विकल्पज्ञान याने शुद्धात्मानुभव) प्राप्त नहीं किया है, उसको और

(b) जिसने वस्तुस्वरूप जानकर निर्विकल्पसमाधि याने निर्विकल्पज्ञान याने शुद्धात्मानुभव प्राप्त करके सम्यग्दर्शन प्राप्त किया है, मोक्षमार्गस्थ है, अभी सम्यग्ज्ञानदर्शनसहित सविकल्पज्ञान है, विकल्पप्रवाह बह रहा है, उसको कहते हैं कि,

आपको निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा मालूम है, वह विषय-ज्ञेय-ध्येय-प्रमेय-अनुभाव्य है; उस निजध्रुवात्मा को बाहर से कहीं से लाना नहीं है, वह प्रमेय-विषय यहीं आपके पास अभी मौजूद है ही । अब उसको प्रामाण्यसहित प्रत्यक्षज्ञान से जानो याने अब आप उसका प्रत्यक्ष विचार कीजिए याने प्रत्यक्षज्ञान करो; ज्ञानोपयोग से उसको जानो, यह प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष जानना ही प्रमाण है क्योंकि 'जिस के द्वारा जानते हैं वह ज्ञान है' ऐसी करणसाधन 'ज्ञान' पद की व्युत्पत्ति है।

अभी आप अपने निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा की तरफ उपयोग लगाते ही प्रथम दर्शनोपयोग (निराकारोपयोग) होगा, उसके बाद मतिज्ञान होगा, वह स्वानुभवमतिज्ञान ही निर्विकल्पज्ञान याने निर्विकल्पसमाधि याने शुद्धात्मानुभव है, उसी समय समता है याने बुद्धिपूर्वक मोहरागद्वेष नहीं हैं, सम्यक्-आनंद है, दुःख नहीं है। यह जानने का साधन स्वाधीन-साधन है, पराधीन-साधन नहीं।

संस्कृत पृष्ठ ५९, संस्कृत परिच्छेद ११, १२ →

शंका – इस प्रकार से (सम्यक् और ज्ञान पद विशिष्ट करण साधनरूप) प्रमाण का लक्षण मानने पर भी इन्द्रिय और लिंगादि (चिह्न आदि) में उसकी अतिव्याप्ति है, क्योंकि इन्द्रिय और लिंगादि भी जाननेरूप प्रमितिक्रिया में करण होते हैं। 'आँख से जानते हैं, धूम से जानते हैं, शब्द से जानते हैं' इसप्रकार का व्यवहार हम देखते ही हैं?

समाधान – इन्द्रियादिक में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है, क्योंकि इन्द्रियादिक प्रमिति के प्रति साधकतम साधन नहीं हैं। इस का खुलासा इस प्रकार है-

'प्रमिति प्रमाण का फल (कार्य) है' इसमें किसी भी (वादी अथवा प्रतिवादी) व्यक्ति को विवाद नहीं है अर्थात् सभी को मान्य है; और वह प्रमिति अज्ञाननिवृत्तिरूप है। अतः प्रमिति की उत्पत्ति में जो करण हो, उसे अज्ञानविरोधी होना चाहिये किन्तु इन्द्रियादिक अज्ञान के विरोधी नहीं हैं क्योंकि इन्द्रियादिक अचेतन हैं। इसलिये अज्ञानविरोधी चेतनधर्म याने ज्ञान को ही करण मानना योग्य है। लोक में भी अन्धकार को दूर करने के लिये उससे विरुद्ध प्रकाश को ही खोजा जाता है, घटादिक को नहीं क्योंकि घटादिक अन्धकार के विरोधी नहीं हैं (अन्धकार के साथ भी घटादिक रहते हैं, इसलिये उनसे अन्धकार की निवृत्ति नहीं होती। वह तो प्रकाश से ही होती है)।

विशेषार्थ-शंका – 'जिस के द्वारा जाना जावे वह ज्ञान है' इस प्रकार से (सम्यक् और ज्ञान पद विशिष्ट) प्रमाण का लक्षण मानने पर भी इन्द्रियों में, जड़ पुद्गलमय मन में, प्रकाश में, शरीर में और लिंगादि में उस की अतिव्याप्ति है; क्योंकि इन्द्रियादि भी जाननेरूप प्रमिति क्रिया में करण होते हैं। 'स्पर्शनेन्द्रिय से जानते हैं, रसनेन्द्रिय से जानते हैं, घ्राणेन्द्रिय से जानते हैं, आँख से जानते हैं, कर्णेन्द्रिय से जानते हैं, मन से जानते है, प्रकाश से जानते हैं, चश्मे से जानते हैं, शरीर से जानते हैं, मस्तिष्क से जानते हैं, गोनॅड (ग्रंथियों) से जानते हैं, प्राणायाम से जानते हैं, धूम से जानते हैं, शब्द से जानते हैं' इसप्रकार का व्यवहार हम देखते हैं?

समाधान – इन्द्रियादि में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है क्योंकि इन्द्रियादि प्रमिति के प्रति साधकतम (जिसके द्वारा सुनिश्चित कार्य हो ऐसे साधन) नहीं हैं। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है-

'प्रमिति प्रमाण (ज्ञान) का फल (कार्य) है' इसमें किसी भी (वादी अथवा प्रतिवादी) व्यक्ति को विवाद नहीं है अर्थात् सभी को मान्य है; और वह प्रमिति अज्ञान के नाशरूप है। इसलिये प्रमिति की उत्पत्ति में जो करण हो, वह अज्ञान का नाश करनेवाला होना चाहिये। लेकिन इन्द्रियादि अज्ञान के विरोधी नहीं हैं क्योंकि इन्द्रियें, मन, प्रकाश, शरीर, चष्मा, मस्तिष्क, ग्रंथियाँ, प्राणायाम, शरीरसंहनन, धूम, शब्द (ध्वनि) आदि अचेतन हैं। इसलिये अज्ञानविरोधी चेतनधर्म याने ज्ञान को ही जानने का साधन (करण) मानना योग्य है।

लौकिक में भी अन्धकार को दूर (नष्ट) करने के लिये अन्धकार का विरोधी प्रकाश का उपाय किया जाता है, घट या चौकी या मेज आदि का उपाय नहीं किया जाता क्योंकि घट, चौकी, मेज आदि अन्धकार का नाश करनेवाले नहीं हैं, वे घटादि अन्धकार के साथ भी रहते हैं। अन्धकार का नाश प्रकाश से ही होता है और घटादिक में प्रकाश नहीं है। उसी तरह जानकारी (ज्ञान) प्राप्त होने के लिये ज्ञान ही साधकतम साधन है।

अपने को निर्विकल्पज्ञान या शुद्धात्मानुभव होने के लिये ज्ञान ही साधकतम साधन है, शरीर अथवा शरीरसंहनन अथवा तीर्थक्षेत्र अथवा गुरु अथवा शास्त्र अथवा प्राणायाम आदि अपने लिये साधकतम साधन या कर्ता नहीं हैं।

संस्कृत पृष्ठ ५९, संस्कृत परिच्छेद नं. १३ →

दूसरी बात यह है कि, इन्द्रिय आदि (अथवा अन्य पदार्थ) अस्वसंवेदी (अपने को न जाननेवाले) होने से वस्तुओं का भी ज्ञान करने में याने जानने में साधकतम साधन या कर्ता नहीं हैं क्योंकि जो अपना अवभासन (ज्ञान या प्रकाश या ख्याति) करने में असमर्थ है, वह पर (अर्थ या वस्तु या ज्ञेय या विषय) का अवभासन (ज्ञान) नहीं कर सकता। लेकिन ज्ञान 'स्व' और 'पर' (अर्थ या वस्तु या ज्ञेय विषय)' का अवभासन (ज्ञान) करनेवाला है, ऐसा प्रतीति में आता है; जैसे प्रदीप आदिक 'स्व' और 'पर' का प्रकाशन करनेवाला है। इससे यह सिद्ध हुआ कि, पदार्थों का ज्ञान कराने में इन्द्रियादि साधकतम साधन न होने से करण नहीं हैं।

विशेषार्थ – कोई रमेश एक कमरे में बैठा है। उस कमरे की खिड़कियाँ बंद हैं। इतने में रमेश की माँ उस कमरे में आ गयी। माँ ने खिड़की खोल दी। रमेश खिड़की में से बाहर का पेड़ (वृक्ष) देखता है। खिड़की बंद थी तब खिड़की नहीं जानती थी और खिड़की खोल दी तब भी खिड़की नहीं जानती है। रमेश पेड़ को जानता है। वैसे ही इन्द्रियाँ खिड़कियों के समान हैं। यह शरीर कमरे के समान है। उस के बीच में रहनेवाला जीव जानता है, इन्द्रियाँ तथा शरीर जानने की क्रिया नहीं करते हैं। रमेश ने पेड़ को जाना, उसी समय रमेश 'अपना खुद' का भी निर्णय करता है।

भो आत्मन्! आत्मवैभव के उद्घाटन में क्षमा, मार्दव आदि दश धर्मोंको आमंत्रित करो। ज्ञान की कुंकुम पत्रिका बनाओ। संयमसुंदरी को शाश्वत निजभोग का सौभाग्य तिलक लगाओ। ऐसा परमानन्द का उत्सव मनाओ।

निज वैभव के दशरत्न उत्तम संयम - १५३

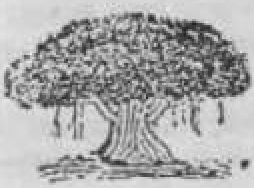
(चार्ट नं. ४)

ज्ञान

स्व पर/अर्थ

मैं	पेड़ को देखता हूँ।

विषय



जिनदत्त यात्रा करते हुए रमेश के घर पर आ गये। रमेश ने जिनदत्त से पूछा-आप कहाँ से आये? जिनदत्त ने जवाब दिया कि मैं श्रवणबेलगोला से आया हूँ।

रमेश – आपने 'श्रवणबेलगोला में' में क्या देखा?

जिनदत्त – श्रवणबेलगोला में 'बाहुबली की मूर्ति' को देखा।

रमेश – किसने 'बाहुबली की मूर्ति' देखी?

जिनदत्त – 'मैंने' ही 'बाहुबली की मूर्ति' देखी।

अर्थात्

ज्ञानपर्याय

स्व पर/अर्थ

मैंने	बाहुबली की मूर्ति देखी

अर्थात्

स्व पर/अर्थ

मैं	बाहुबली की मूर्ति देखता हूँ

विषय



यहाँ 'मैं' [अहं] के वेदन को स्वसंवेदन कहते हैं और पेड़ या बाहुबली की मूर्ति को पर अथवा अर्थ अथवा विषय या ज्ञेय कहते हैं।

रमेश – आपने और क्या किया?

जिनदत्त – मैंने 'निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा' का अनुभव किया।

रमेश – किसने 'निजध्रुवशुद्धात्मा' जाना?

जिनदत्त – 'मैंने' ही 'निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा' को प्रत्यक्ष जाना, मेरी पांच साल की उम्रवाली बेटी सीता ने 'अपने निजध्रुवात्मा' को नहीं जाना।

अर्थात् [चार्ट नं. ४ का चित्र देखिये]

चार्ट नं. ४

छद्मस्थ जीव का दर्शनोपयोगपूर्वक ज्ञानोपयोग

स्व — पर/अर्थ — विषय

↑ ज्ञानोपयोग — मैं निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा को जानता हूँ

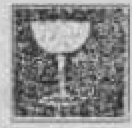
↑ दर्शनोपयोग — मैं



स्व — पर/अर्थ

↑ ज्ञानोपयोग — मैं ठंडी आइस्क्रीम को जानता हूँ

↑ दर्शनोपयोग — मैं



स्व — पर/अर्थ

↑ ज्ञानोपयोग — मैं मीठी शक्कर के स्वाद को जानता हूँ

↑ दर्शनोपयोग — मैं



स्व — पर/अर्थ

↑ ज्ञानोपयोग — मैं सुगंध को जानता हूँ

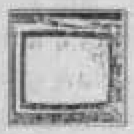
↑ दर्शनोपयोग — मैं



स्व — पर/अर्थ

↑ ज्ञानोपयोग — मैं लाल रंगीन वस्त्र को जानता हूँ

↑ दर्शनोपयोग — मैं



स्व — पर/अर्थ

↑ ज्ञानोपयोग — मैं ध्वनि/संगीत को सुनता [जानता] हूँ

↑ दर्शनोपयोग — मैं



स्व — पर/अर्थ

↑ ज्ञानोपयोग — मैं बालक को जानता हूँ

↑ दर्शनोपयोग — मैं



[मैं/स्व/ **भावप्रमेय** को जाननेवाली ज्ञानपर्याय के अविभाग प्रतिच्छेद उस ही जीवद्रव्य के असंख्यात सभी प्रदेशों में हैं और **अर्थ** याने पर या **विषय** को जाननेवाली ज्ञानपर्याय के अविभाग प्रतिच्छेद भी उस ही जीवद्रव्य के सभी असंख्यात प्रदेशों में हैं।]

इस तरह एक ज्ञानोपयोग पर्याय में 'स्व का' (याने पर्याय का याने स्वयं का याने भावप्रमेय का) वेदन प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष होता है और बाह्यप्रमेय का या अर्थ का या पर का भी वेदन होता है। [दर्शनोपयोग पर्याय में 'स्व का' याने पर्याय का याने भावप्रमेय का वेदन होता है लेकिन बाह्यप्रमेय/अर्थ या पर का वेदन नहीं होता, इसलिये दर्शनोपयोग पर्याय को **निराकारोपयोग** कहते हैं।]

आकाशद्रव्य में, धर्मद्रव्य में, अधर्मद्रव्य में, कालद्रव्य में, तथा पुद्गलद्रव्य में, 'स्व'का संवेदन अर्थात् स्वसंवेदन नहीं है। पुद्गल के स्कंधों में भी स्वसंवेदन नहीं है। कॉम्प्युटर में स्वसंवेदन नहीं है। इन्द्रिय, शरीर, प्रकाश, शब्द आदि में स्वसंवेदन नहीं है। इसलिये इन्द्रियादि अस्वसंवेदी (अपने को न जाननेवाले) होने से वस्तुओं का ज्ञान करने में याने जानने में साधकतम साधन या कर्ता नहीं हैं क्योंकि **जो अपना अवभासन करने में समर्थ नहीं है, वह पर याने अर्थ याने ज्ञेय या विषय या बाह्यप्रमेय का अवभासन (ज्ञान) नहीं कर सकता है।**

लेकिन ज्ञान 'स्व' और 'पर अथवा अर्थ' का अवभासन (ज्ञान) करनेवाला है, ऐसा प्रतीति में आता है। जैसे प्रदीप 'स्व' और 'पर' का प्रकाशन करनेवाला है।

एक अन्धेरा कमरा है। उसमें चौकी, वस्त्र, मेज, अलमारी, बर्तन आदि वस्तुयें हैं। लेकिन वे 'स्व' प्रकाशक भी नहीं हैं और पर को भी प्रकाशित नहीं करती हैं और अंधकार को भी दूर नहीं कर सकती हैं। पश्चात् वहाँ प्रदीप प्रज्वलित किया तो प्रदीप स्वयं को प्रकाशित करता है और अन्धकार को दूर करता है और चौकी, वस्त्र, मेज, अलमारी, बर्तन आदि को भी प्रकाशित करता है। इसलिये प्रदीप स्वयं का प्रकाशन करनेवाला है और अन्य को याने पर को याने अर्थ को प्रकाशन करनेवाला है। इस तरह ज्ञानोपयोग पर्याय 'स्व' को याने अपने को प्रकाशन करनेवाला है और 'पर या अर्थ' को प्रकाशन करनेवाला है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि, पदार्थों का ज्ञान कराने में इन्द्रियादिक साधकतम साधन न होने से करण नहीं हैं। तथा कॉम्प्युटर में स्वसंवेदन न होने से यह सिद्ध होता है कि कॉम्प्युटर में ज्ञानपर्याय नहीं है, ज्ञानगुण नहीं और कॉम्प्युटर जीव नहीं है। जीव में [निगोद से लेकर सिद्ध तक के प्रत्येक जीव में अर्थात् सभी जीवों में] प्रत्येक समय में 'स्व' संवेदन है, इसलिये कोई भी जीव कॉम्प्युटर नहीं है, कोई भी जीव अचेतन नहीं है। जीव में स्वसंवेदनपर्याय है, चेतनगुण है, जीवद्रव्य है।

संस्कृत पृष्ठ ५९, संस्कृत परिच्छेद नं. १४ →

'आँख से जानते हैं' इत्यादि व्यवहार में उपचार शरण है और उपचार प्रवृत्ति में सहकारित्व निबन्धन (कारण) है। सहकारीपना होने से इन्द्रियादिक उसके याने प्रमिति या ज्ञानके साधक हैं, किन्तु करण याने साधकतम साधन या कर्ता नहीं हैं क्योंकि अतिशयवान (जिसके द्वारा नियम से कार्य हो, ऐसे अतिशयवान) साधकविशेष में करणत्व होता है (अन्य में करणत्व नहीं होता है)। जैसा कि जैनेन्द्रव्याकरण में कहा है कि, 'साधकतम: करण: [१।२।११३]' याने साधकतम को करण कहते हैं। इससे इन्द्रियादिक में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है।

विशेषार्थ →

कार्य– छद्मस्थ को उष्ण स्पर्श का ज्ञान हो गया।

उपादान	निमित्त		साधकतम साधन अथवा कर्ता
१०० % ज्ञान की परिणति हो गयी।	१०० % स्पर्शन इंद्रिय है।	१०० % अग्नि है।	**ज्ञान-उपादान**- १००% साधकतम साधन या कर्ता है। **ज्ञेय-अग्नि-निमित्त**- ०% है (याने अग्नि साधकतम साधन अथवा कर्ता नहीं है।) **स्पर्शनेन्द्रिय- निमित्त**- ०% है (याने स्पर्शनेन्द्रिय साधकतम साधन अथवा कर्ता नहीं है।)
↓ असद्भूत व्यवहारनय से व्यवस्था			↓ वास्तविकता से व्यवस्था

कार्य– छद्मस्थ को मीठा रस का ज्ञान हो गया।

उपादान	निमित्त		साधकतम साधन अथवा कर्ता
१०० % ज्ञान की परिणति हो गयी।	१०० % रसनेन्द्रिय है।	१०० % शक्कर है।	**ज्ञान-उपादान**- १००% साधकतम साधन या कर्ता है। **ज्ञेय-शक्कर-निमित्त**- ०% है (याने शक्कर साधकतम साधन अथवा कर्ता नहीं है।) **रसनेन्द्रिय- निमित्त**- ०% है (याने रसनेन्द्रिय साधकतम साधन अथवा कर्ता नहीं है।)
↓ असद्भूत व्यवहारनय से व्यवस्था			↓ वास्तविकता से व्यवस्था

कार्य– छद्मस्थ को सुगंध का ज्ञान हो गया।

उपादान	निमित्त		साधकतम साधन अथवा कर्ता
१०० % ज्ञान की परिणति हो गयी।	१०० % घ्राणेन्द्रिय है।	१०० % सुगंधी वस्तु है।	**ज्ञान-उपादान**- १००% साधकतम साधन या कर्ता है। **ज्ञेय-सुगंधी वस्तु-निमित्त**- ०% है (याने सुगंधी वस्तु साधकतम साधन या कर्ता नहीं है।) **घ्राणेन्द्रिय- निमित्त**- ०% है (याने घ्राणेन्द्रिय साधकतम साधन अथवा कर्ता नहीं है।)
↓ असद्भूत व्यवहारनय से व्यवस्था			↓ वास्तविकता से व्यवस्था

कार्य—छद्मस्थ को लाल रंग का ज्ञान हो गया।

उपादान	निमित्त		साधकतम साधन अथवा कर्ता
१०० % ज्ञान की परिणति हो गयी।	१०० % आँख इंद्रिय है।	१०० % लाल रंग का वस्त्र है।	**ज्ञान-उपादान**- १००% साधकतम साधन या कर्ता है। **ज्ञेय-लाल वस्त्र -निमित्त**- ०% है (याने लाल वस्त्र साधकतम साधन अथवा कर्ता नहीं है।) **आँख इन्द्रिय- निमित्त**- ०% है (याने आँख इन्द्रिय साधकतम साधन अथवा कर्ता नहीं है।)
↓ असद्भूत व्यवहारनय से व्यवस्था			↓ वास्तविकता से व्यवस्था

कार्य—छद्मस्थ को ध्वनि या शब्द का (उपदेश का) ज्ञान हो गया।

उपादान	निमित्त			साधकतम साधन अथवा कर्ता
१०० % ज्ञान की परिणति हो गयी।	१०० % **कर्णेन्द्रिय** है।	१०० % ध्वनि या शब्द है।	१००% सम्यग्ज्ञानी **उपदेशक** है।	**ज्ञान-उपादान**- १००% साधकतम साधन या कर्ता है। **ज्ञेय-ध्वनि या शब्द-निमित्त**- ०% है (याने ध्वनि या शब्द साधकतम साधन अथवा कर्ता नहीं है।) **कर्णेन्द्रिय**- निमित्त- ०% है (याने कर्णेन्द्रिय साधकतम साधन अथवा कर्ता नहीं है।) सम्यग्ज्ञानी उपदेशक निमित्त- ०% है (याने सम्यग्ज्ञानी उपदेशक साधकतम साधन अथवा कर्ता नहीं है।)
↓ असद्भूत व्यवहारनय से व्यवस्था				↓ वास्तविकता से व्यवस्था

स्पर्शनेन्द्रिय से या रसनेन्द्रिय से या घ्राणेन्द्रिय से या आँख से या कर्णेन्द्रिय से या मन से या ध्वनि से या पर पदार्थ से या शब्द से या प्रकाश से या सम्यग्ज्ञानी उपदेशक से या शरीर से या संहनन से या ज्ञेय से या क्षेत्र से या तीर्थक्षेत्र से या लिंग से या बाह्य अन्य किसी से जानते हैं, इत्यादि यह सब व्यवहार में उपचार से याने असद्भूत व्यवहारनय से कथन किया जाता है। उपचार से या असद्भूत व्यवहारनय से सहकारीपना का संबंध दिखाया है। सहकारीपना से इन्द्रियादिक प्रमिति के या जानने के बाह्यसाधन या निमित्तमात्र हैं, इसलिये साधकतम साधन या कर्ता नहीं हैं; क्योंकि अतिशयवान (याने जिसके द्वारा नियम से कार्य हो ऐसे) साधकविशेष में करणत्व होता है, जो साधकतम साधन नहीं है उसमें करणत्व नहीं होता है। **जैनेन्द्र व्याकरण** में पूज्यपादाचार्यजी ने कहा है कि साधकतम को करण कहते हैं। उसीतरह **प्रवचनसार** की **श्री अमृतचंद्राचार्यरचित- तत्त्वप्रदीपिका गाथा १६** की टीका में भी साधकतम को करण कहा है। इसलिये इन्द्रियादिक में साधकतम साधनपना नहीं होने से इन्द्रियादिक में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं है।

संस्कृत पृष्ठ ५९, संस्कृत परिच्छेद नंबर १५→

शंका—इन्द्रियादि में लक्षण की अतिव्याप्ति न होने पर भी धारावाहिकज्ञानों में अतिव्याप्ति

है क्योंकि वे सम्यग्ज्ञान हैं। लेकिन धारावाहिक ज्ञानों की आर्हत्मत-जैनदर्शन में प्रमाणता नहीं मानी है?

(जैन) समाधान—एक ही घट (घड़े) में घटविषयक अज्ञान के निराकरण करने के लिये प्रवृत्त हुये पहले घटज्ञान से घट की सम्यक् प्रमिति (सम्यक् जानकारी) हो जाने पर फिर 'यह घट है, यह घट है' इस प्रकार उत्पन्न हुए उत्तरोत्तर ज्ञान वास्तव में धारावाहिक ज्ञान हैं। ये ज्ञान अज्ञाननिवृत्तिरूप प्रमिति के साधकतम साधन नहीं हैं; क्योंकि अज्ञान की निवृत्ति पहले ज्ञान से ही हो जाती है। फिर उनमें (धारावाहिक ज्ञानों में) लक्षण की अतिव्याप्ति कैसे हो सकती है? क्योंकि यह गृहीतग्राही (ग्रहण किये हुए अर्थ को ही ग्रहण करते) हैं।

विशेषार्थ-शंका-समीचीन ज्ञानपर्याय का 'सम्यग्ज्ञान' यह लक्षण है। 'सम्यग्ज्ञान' इस लक्षण की अतिव्याप्ति इन्द्रियादिक निमित्तों में नहीं होती, यह ऊपर के कथन से मान्य हो गया। 'ज्ञान ही जानने का साधकतम साधन है' यह मान्य हो गया। अब



(४) यह घट है। ↑

(३) यह घट है। ↑

(२) यह घट है। ↑

(१) यह घट है। ↑

इस तरह प्रथम क्षण में 'यह घट है' ऐसा जाना। दूसरे क्षण में 'यह घट है' ऐसा जाना। तीसरे क्षण में 'यह घट है' ऐसा जाना। चतुर्थ क्षण में 'यह घट है', ऐसा जाना। इस तरह धाराप्रवाहरूप जानने को धारावाहिक ज्ञान कहते हैं। यहाँ प्रथम क्षण में 'ज्ञानपर्याय' ही जानने का साधकतम साधन है, दूसरे क्षण में भी 'ज्ञानपर्याय' ही जानने का साधमतम साधन है, तीसरे आदि क्षणों में भी 'ज्ञानपर्याय' ही जानने का साधकतम साधन है। तो यहाँ इस तरह के धारावाहिक ज्ञानों में समीचीन ज्ञानपर्याय के 'सम्यग्ज्ञान' इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जावेगी क्योंकि वे धारावाहिक ज्ञान ज्ञानपर्याय ही हैं और वे धारावाहिक ज्ञान सम्यग्ज्ञान हैं, लेकिन जैनदर्शन (आर्हत्मत) में धारावाहिक ज्ञानों की प्रमाणता नहीं मानी है?

(जैन)-समाधान-एक ही घट (घड़े) में घटविषयक अज्ञान के (अज्ञान-संशय, विपर्यय, तथा अनध्यवसाय के) निराकरण करने के लिये प्रवृत्त हुये पहले क्षण में हुये घटज्ञान से घट के बारे में सम्यक् प्रमिति याने सम्यक् जानकारी (सम्यक् परिच्छित्ति) हो जाने पर फिर दूसरे क्षण में 'यह घट है' तीसरे क्षण में 'यह घट है' इस प्रकार उत्पन्न हुए ज्ञान धारावाहिक ज्ञान हैं। वे (दूसरे, तीसरे आदि क्षणों में होनेवाले) ज्ञान अज्ञाननिवृत्तिरूप प्रमिति के साधकतम साधन नहीं हैं क्योंकि घटविषयक अज्ञान का नाश तथा घटविषयक ज्ञान का उत्पाद पहले (घटविषयक पहले) ज्ञान से ही हो जाता है। इसलिये धारावाहिक ज्ञानों में 'सम्यग्ज्ञान' इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती है क्योंकि दूसरी बार, तीसरी बार आदि ज्ञान में ग्रहण किये हुये ही घट अर्थ को ग्रहण करते हैं।

लोक व्यवहार में विशेष बोधरहित बार-बार, वही-वही जानने को पागलपना कहते हैं। [सर्वज्ञपर्याय बार-बार सर्वज्ञ-सर्वज्ञ रूपसे प्रकट होती है तो भी उसमें प्रामाण्य ही है। एक अपेक्षा से बार-बार वही-वही जानती है तो भी वह मिथ्या धारावाही ज्ञान नहीं है। दूसरी अपेक्षा से जैसे ज्ञेय पदार्थ प्रतिक्षण उत्पादव्ययध्रुवरूप से परिणमन करते हैं, वैसे ही ज्ञान भी परिच्छित्ति की अपेक्षा से भंगत्रयरूप से परिणमन करता है।

इसलिये सर्वज्ञ की ज्ञानपर्याय में गृहीतग्राहीपना नहीं है। श्रेणी आरूढ़ सातिशय अप्रमत्त सप्तम गुणस्थान में, अपूर्वकरण अष्टम आदि गुणस्थानों में निजध्रुवात्मा का शुद्धात्मानुभव करते हैं, तो भी वह मिथ्या धारावाही ज्ञान नहीं है क्योंकि अपूर्व-अपूर्व परम आनंदानुभव होता है तथा गृहीतग्राहीपना नहीं है।)

संस्कृत पृष्ठ ६०, संस्कृत परिच्छेद नं. १६ →

शंका–यदि गृहीतग्राही ज्ञान को अप्रमाण मानेंगे तो घट को जान लेने के बाद दूसरे किसी कार्य में उपयोग के लग जाने पर पीछे घट के ही देखने पर उत्पन्न हुआ पश्चाद्वर्ती ज्ञान पुनः अप्रमाण हो जायेगा क्योंकि धारावाहिक ज्ञान की तरह वह भी गृहीतग्राही है– (अपूर्वार्थग्राहक नहीं है) ?

समाधान –नहीं; जाने गये पदार्थ में भी कोई समारोप (अज्ञान-संशय, विपरीत तथा अनध्यवसाय) हो जाने पर वह पदार्थ अदृष्ट (नहीं जाने गये) के समान है। परीक्षामुखसूत्र ग्रंथ में श्री माणिक्यनंदी आचार्यजी ने अध्याय १, सूत्र ५ में कहा है कि, ''दृष्टोऽपि समारोपात् तादृक्'' याने ग्रहण किया हुआ भी पदार्थ अज्ञान-संशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय के हो जाने पर ग्रहण नहीं किये हुए के समान है।

विशेषार्थ – [सूचना-संदृष्टि/आलेख नीचे से ऊपर पढ़ना क्योंकि अवस्थायें ऊर्ध्वरूप ही होती हैं।]



शंकाकार कहता है कि, यदि गृहीतग्राही ज्ञान को अप्रमाण मानोगे तो 'घट' को सवेरे ८-०० बजे जाना, उसके पश्चात् हाथी को जाना, उसके पश्चात् वृक्ष को जाना, फिर 'उस ही घट' को सवेरे ९-३० बजे जाना। यह सवेरे ९-३० बजे का उस ही घट को जाननेवाला ज्ञान अप्रमाण (झूठा ज्ञान) हो जायेगा क्योंकि धारावाहिक ज्ञान की तरह वह भी गृहीतग्राही है?

समाधान–नहीं; जाने गये भी पदार्थ में कोई समारोप याने अज्ञान या संशय या विपरीत या अनध्यवसाय ज्ञान हो जाने पर वह पदार्थ नहीं जाने गये (अदृष्ट) के समान है।

समयसार-गाथा नं. १०२ (आत्मख्याति गाथा नं. ९५) की श्रीजयसेनाचार्य विरचित तात्पर्यवृत्ति– **"यथा घटाकारविकल्पपरिणतिज्ञानं घटः इति। तथा तद्धर्मास्तिकायः अयं इत्यादिविकल्पः यदा ज्ञेयतत्त्वविचारकाले करोति जीवः तदा शुद्धात्मस्वरूपं विस्मरति...."**

श्रद्धा	ज्ञान	चारित्र
↑ सम्यग्दर्शन	निजध्रुवात्मा-एकाग्र-निर्विकल्पज्ञान ↑	शुद्ध ↑
↑ सम्यग्दर्शन	यह धर्म-(व्यग्र-सविकल्पज्ञान) ↑	शुभ ↑
↑ सम्यग्दर्शन	यह घट-(व्यग्र-सविकल्पज्ञान) ↑	अशुभ ↑
↑ सम्यग्दर्शन	यह धर्मास्तिकाय-(व्यग्र-सविकल्पज्ञान) ↑	शुभ ↑
↑ सम्यग्दर्शन	एकत्वविभक्तनिजात्मा का (निर्विकल्पज्ञान) ↑	शुद्ध ↑
↑ मिथ्यादर्शन	पर ↑	शुभ ↑

अर्थ–जैसे घटाकार विकल्परूप परिणतज्ञान को 'घट' ऐसा कहते हैं, वैसे जब ज्ञेयतत्त्व के विचारकाल में 'यह धर्मास्तिकाय है' इत्यादि विकल्प जीव करता है, तब 'निजध्रुवशुद्धात्मस्वभाव' की उपयोगरूप ज्ञानपर्याय नहीं रहती है...।

इसलिये शुद्धात्मानुभव के समय में 'निजध्रुवात्मा' को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्षज्ञान से जानना चाहिये।

संस्कृत पृष्ठ नं. ६०, संस्कृत परिच्छेद नं. १७→

समीचीन ज्ञानपर्याय के 'सम्यग्ज्ञान' इस लक्षण की इन्द्रिय, लिंग, शब्द, धारावाहिक ज्ञानादि में अतिव्याप्ति नहीं होती, इस कथन से निर्विकल्पक सत्तालोचनरूप दर्शनोपयोग में 'सम्यग्ज्ञानत्व' इस लक्षण की अतिव्याप्ति का निराकरण हो गया क्योंकि दर्शनोपयोग का अव्यवसायरूपपना से (अनिश्चायकरूपपना से) प्रमिति के प्रति करणपना का अभाव है; और निराकारोपयोग में ज्ञानपना का अभाव है। श्री पूज्यपादाचार्यजी ने सर्वार्थसिद्धि–अध्याय २, सूत्र ९ की टीका में कहा है कि– दर्शनोपयोग निराकार है और ज्ञानोपयोग साकार है। इस तरह समीचीन ज्ञानपर्याय का 'सम्यग्ज्ञान' यह लक्षण अतिव्याप्त नहीं है; और अव्याप्त नहीं है क्योंकि प्रत्यक्षज्ञान तथा परोक्षज्ञान इन दोनों लक्ष्यों में व्यापकरूप से विद्यमान रहता है; और असम्भव भी नहीं है क्योंकि लक्ष्य (प्रत्यक्षज्ञान और परोक्षज्ञान) में 'सम्यग्ज्ञान' इस लक्षण का रहना बाधित नहीं है।

विशेषार्थ– [चार्ट नं. ४]

चेतनोपयोग		विषय
केवलदर्शन/स्व	केवलज्ञान/पर/अर्थ	
मैं	निजध्रुव व अन्य सर्व को जानता हूँ।	सर्व

साकार —↓

स्व | अर्थ/पर/विषय | विषय

↑ छद्मस्थका ज्ञानोपयोग } मैं निजध्रुवशुद्धात्मा को जानता हूँ | निजध्रुवशुद्धात्मा

स्व | निराकार

↑ छद्मस्थका दर्शनोपयोग } मैं

साकार —↓

स्व | अर्थ/पर/विषय

छद्मस्थका ज्ञानोपयोग } मैं अनन्तचतुष्टयवाले अर्हन्त को जानता हूँ | अर्हन्त

स्व | निराकार —↓

छद्मस्थका दर्शनोपयोग } मैं

साकार —↓

स्व | अर्थ/पर/विषय

छद्मस्थका ज्ञानोपयोग } मैं गाय को जानता हूँ। | गाय

स्व | निराकार —↓

छद्मस्थका दर्शनोपयोग } मैं

चेतनागुण के ज्ञानगुण और दर्शनगुण ये दो भेद हैं। ज्ञानगुण की ज्ञानोपयोग यह पर्याय है और दर्शनगुण की दर्शनोपयोग यह पर्याय है। **अन्तर्मुख चित्प्रकाश को दर्शनोपयोग कहते हैं और बहिर्मुख चित्प्रकाश को ज्ञानोपयोग कहते हैं।** दर्शनोपयोग निराकार होता है और ज्ञानोपयोग साकार होता है। अर्हन्त और सिद्धों को केवलदर्शन तथा केवलज्ञान युगपत् होते हैं। केवलदर्शन और केवलज्ञान दोनों मुख्य होते हैं और एक समय में होते हैं, जैसे सूरज का प्रकाश और उष्णता युगपत् होते हैं। यह पृष्ठ २०४ पर संदृष्टि में दिखाया है।

लेकिन छद्मस्थ में दर्शनोपयोग (निराकार) पूर्वक ज्ञानोपयोग (साकार) होता है। छद्मस्थ जीव में दर्शनोपयोगपूर्वक ज्ञानोपयोग होता है। यह पृष्ठ २०५ पर संदृष्टि में दिखाया है। प्रदीप में प्रकाश की मुख्यता होती है और उष्णता की गौणता होती है, इसलिये प्रकाशक कहते हैं। अंगार अवस्थापन्न कोयले में प्रकाश की गौणता होती है और उष्णता की मुख्यता होती है। [छद्मस्थ के ज्ञानोपयोग के समय 'मैं' याने 'स्व' का वेदन गौण है और 'अर्थ' का वेदन मुख्य है, इसलिये छद्मस्थ में जब 'दर्शनोपयोग गौण है तथा ज्ञानोपयोग मुख्य है' उस समय उस स्व को ज्ञानोपयोग कहा गया; और छद्मस्थ में जब 'दर्शनोपयोग मुख्य है तथा ज्ञानोपयोग नहीं है, लब्धिरूप ज्ञानपरिणाम है' उस समय उसको दर्शनोपयोग कहा गया। इसलिये छद्मस्थ में 'प्रथम दर्शनोपयोग होता है और पश्चात् ज्ञानोपयोग होता है' ऐसा क्रम है।]

कुमति ज्ञान के समय या कुश्रुत ज्ञान के समय या कुअवधि ज्ञान के समय या सम्यक्मति ज्ञान के समय या सम्यक् श्रुतज्ञान के समय या सम्यक्-अवधिज्ञान के समय या सम्यक् मनःपर्ययज्ञान के समय 'मैं (अहं) याने 'स्व' का वेदन है और अर्थ का भी वेदन है। यदि 'मैं (अहं) ' का वेदन नहीं मानोगे तो आत्मा अचेतन (जड़) मानने की आपत्ति आयेगी, लेकिन आत्मा सदाकाल चेतन ही रहता है। इसलिये **निगोद से लेकर सिद्ध तक के सभी जीव 'मैं (अहं)' याने 'स्व' की प्रतीति हर समय में करते हैं।**

दर्शनोपयोग के समय भी 'मैं (अहं)' याने 'स्व' का वेदन है ही। इसलिये प्रत्येक जीव को 'मैं (अहं)' याने 'स्व' का वेदन प्रति समय में है। लेकिन दर्शनोपयोग निराकार है; इसलिये दर्शनोपयोग का प्रमिति के प्रति करणपना का अभाव है। इसलिये समीचीन ज्ञानपर्याय के 'सम्यग्ज्ञान' इस लक्षण की दर्शनोपयोग में अतिव्याप्ति नहीं है।

शुद्धात्मानुभव ज्ञानगुण की पर्याय है, दर्शनगुण की पर्याय नहीं है। शुद्धात्मानुभव श्रद्धागुण की भी पर्याय नहीं है। शुद्धात्मानुभव चारित्रगुण की भी पर्याय नहीं है। शुद्धात्मानुभव के समय 'निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा' का ज्ञान में निर्णय है, इसलिये समाधि में या शुद्धात्मानुभव में या निर्विकल्प ज्ञान में 'कुछ जाना नहीं जाता, रहस्य है और गूढ़ है' इन अज्ञानमतों का निराकरण हो गया।

इस तरह समीचीन ज्ञानपर्याय का 'सम्यग्ज्ञान' यह लक्षण अव्याप्त नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान तथा परोक्ष ज्ञान इन दोनों लक्ष्यों में व्यापकरूप से विद्यमान रहता है।

समीचीन ज्ञानपर्याय का 'सम्यग्ज्ञान' यह लक्षण असंभव भी नहीं है क्योंकि लक्ष्यरूप प्रत्यक्षज्ञान में तथा लक्ष्यरूप परोक्षज्ञान में 'सम्यग्ज्ञान' इस लक्षण का रहना बाधित नहीं है।

(चार्ट नं. १४) **निजध्रुवचिदानंदात्मा को जानने की पद्धति →**

'यह' मैं ध्रुवचिदानंदात्मा हूँ	←	यहाँ 'यह' (इदन्ता) की प्रतीति है, इसलिये यह **'प्रत्यक्षज्ञान'** है, यह शुद्धात्मानुभव है, निर्विकल्पज्ञान है।
'वह' मैं ध्रुवचिदानंदात्मा था	←	यहाँ 'वह' (तत्ता) की प्रतीति है, इसलिये यह **'स्मरणज्ञान'** है, परोक्षज्ञान है, शुद्धात्मानुभव नहीं।
जो मैं पूर्व में ध्रुवचिदानंदात्मा था वह यह ध्रुवचिदानंदात्मा हूँ।	←	यहाँ 'वह + यह' के संकलन (इदन्ता और तत्ता के संकलन) की प्रतीति है, इसलिये यह **'प्रत्यभिज्ञान'** है, परोक्षज्ञान है, शुद्धात्मानुभव नहीं।
जो-जो जीव है वह-वह ध्रुवचिदानंदात्मा है।	←	यहाँ 'जो-जो + वह-वह' रूप व्याप्ति की प्रतीति है, इसलिये यह **'तर्कज्ञान'** है, यह परोक्षज्ञान है, शुद्धात्मानुभव नहीं।
मैं ध्रुवचिदानंदात्मा हूँ, क्योंकि यह पर्याय है साध्य साधन	←	यहाँ 'साधन के द्वारा साध्य की' प्रतीति है, इसलिये **'अनुमानज्ञान'** है, यह परोक्षज्ञान है, शुद्धात्मानुभव नहीं।
मैं ध्रुवचिदानंदात्मा हूँ	←	यहाँ 'अन्तर्जल्प' रूप प्रतीति है, इसलिये यह **'नयज्ञान'** है, परोक्षज्ञान है, शुद्धात्मानुभव नहीं।

पर्याय को जानने की पद्धति →

'यह' मैं दुःखी हूँ।	←	यहाँ 'यह' (इदन्ता) की प्रतीति है, इसलिये यह **'प्रत्यक्षज्ञान'** है।
'वह' मैं दुःखी था।	←	यहाँ 'वह' (तत्ता) की प्रतीति है, इसलिये यह **'स्मरणज्ञान'** है, परोक्षज्ञान है।
जो मैं पूर्व में दुःखी था, वह यह दुःखी हूँ।	←	यहाँ 'यह + वह' के संकलन (इदन्ता और तत्ता के संकलन) की प्रतीति है इसलिये यह **'प्रत्यभिज्ञान'** है, परोक्षज्ञान है।
जो-जो जीव शल्यसहित होता है वह-वह दुःखी होता है।	←	यहाँ 'जो-जो + वह-वह' रूप व्याप्ति की प्रतीति है, इसलिये यह **'तर्कज्ञान'** है, परोक्षज्ञान है।
मैं दुःखी हूँ, क्योंकि मेरे हृदय में शल्य है। साध्य साधन	←	यहाँ 'साधन के द्वारा साध्य' की प्रतीति है, इसलिये यह **'अनुमानज्ञान'** है, परोक्षज्ञान है।
मैं दुःखी हूँ	←	यहाँ 'अंतर्जल्प' रूप प्रतीति है, इसलिये यह **'नयज्ञान'** है, परोक्षज्ञान है।

[प्रमाण के प्रामाण्य का निरूपण]

संस्कृत पृष्ठ नं. ६०, संस्कृत परिच्छेद नं. १८ →

शंका – प्रमाण का 'प्रामाण्य' यह क्या है?

समाधान – जाने हुए विषय में व्यभिचार (दोष, मिथ्यापना) का न होना 'प्रामाण्य' है।

विशेषार्थ – प्रमाण याने ज्ञानपर्याय। प्रामाण्य याने सच्चापना। अर्थात् ज्ञानपर्याय का सच्चापना।

श्रीसमंतभद्राचार्यरचित देवागम स्तोत्र-कारिका नं. ८३ →

भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवः।
बहिःप्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च ते॥८३॥

अर्थ :– भावप्रमेय याने 'स्व' याने 'मैं (अहं)' प्रमेय की अपेक्षा से प्रमाणाभास नहीं है, लेकिन बाह्य याने अर्थ याने परप्रमेय की अपेक्षा से प्रमाण और प्रमाणाभास की व्यवस्था है क्योंकि प्रमाण में संवादकपना है और प्रमाणाभास में विसंवादकपना है। जैसे–

ज्ञानपर्याय — विषय

भावप्रमेय/स्व — बाह्य/अर्थ/पर

मैं	साँप को जानता हूँ।	रस्सी
'स्व या अहं या मैं' की प्रतीति प्रत्यक्ष है और प्रमाण ही है।	यहाँ 'साँप है' ऐसा जानना प्रमाणाभास ज्ञान है, क्योंकि बाह्य विषय 'रस्सी' है।	

ज्ञानपर्याय — विषय

भावप्रमेय/स्व — बाह्य/अर्थ/पर

मैं	अश्व को जानता हूँ।
'स्व या अहं या मैं' की प्रतीति प्रत्यक्ष है और प्रमाण ही है।	यहाँ 'अश्व है' ऐसा जानना प्रमाण ज्ञान है, क्योंकि बाह्य विषय 'अश्व ही' है।

विषय: अश्व



ज्ञानपर्याय — विषय

भावप्रमेय/स्व — बाह्य/अर्थ/पर

मैं	यह निजध्रुवात्मा हूँ।
'स्व या अहं या मैं' की प्रतीति प्रत्यक्ष है और प्रमाण ही है।	यहाँ 'निजध्रुवात्मा हूँ' ऐसा प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष जानना प्रमाण ज्ञान है; क्योंकि बाह्यविषय 'निजध्रुवात्मा ही' है।

विषय: निजध्रुवात्मा



इसलिये जाने हुए विषय में व्यभिचार का न होना प्रमाण का प्रामाण्य है।

क्र.	अनुभाव्य/भोग्य विषय/ध्येय ज्ञेय/प्रमेय	अनुभव विषयी/ध्यान ज्ञान (विचार)/प्रमाण	
(१)	निजध्रुव ज्ञानानंद स्वभाव	निजध्रुव ज्ञानानंद स्वभाव	सम्यक् अतीन्द्रिय आनंद
(२)	अशुद्धपर्याय शाश्वत आनंदरहित है।	अशुद्धपर्याय शाश्वत आनंद है।	आनंदाभास
(३)	एकदेश शुद्धपर्याय शाश्वत आनंदरहित है।	एकदेश शुद्धपर्याय शाश्वत आनंद है।	आनंदाभास
(४)	पूर्णशुद्धपर्याय शाश्वत आनंदरहित (केवलज्ञानपर्याय)	पूर्णशुद्धपर्याय शाश्वत आनंद है। (केवलज्ञानपर्याय)	आनंदाभास
(५)	धन आनंद गुणरहित	धन आनंद है।	आनंदाभास
(६)	शरीर आनंद गुणरहित	शरीर आनंद है।	आनंदाभास
(७)	ठंडा स्पर्श आनंद गुणरहित	ठंडा स्पर्श आनंद है।	आनंदाभास
(८)	मीठा रस आनंद गुणरहित	मीठा रस आनंद है।	आनंदाभास
(९)	सुगंध आनंद गुणरहित	सुगंध आनंद है।	आनंदाभास
(१०)	नील वर्ण आनंद गुणरहित	नील वर्ण आनंद है।	आनंदाभास
(११)	ध्वनि-शब्द आनंद गुणरहित	ध्वनि-शब्द आनंद है।	आनंदाभास

जैनमत/वस्तुनिष्ठ-विज्ञान (चार्ट नं. १०)

• ज्ञान के प्रामाण्य की उत्पत्ति •

–१– ज्ञानपर्याय (समीचीन)→ विषय

(यह चाचा है) [यह मेरी जानकारी सत्य ही है] — पुरुष चाचा

↓ 'ट' अविभागप्रतिच्छेदों का समूह → ↓ क्षणिक उपादानज्ञानपर्याय सामान्यसामग्री

↓ 'ग' अविभागप्रतिच्छेदों का समूह → ↓ क्षणिक उपादानज्ञानपर्याय विशेषसामग्री, प्रामाण्य

'ट' से 'ग' अन्य है।
याने 'ट' से 'ग' पर है।
इसलिये 'ट' से 'ग' परत: है।
इसलिये ज्ञान के प्रामाण्य की उत्पत्ति परत: है।

–२– ज्ञानपर्याय (संशय) विषय

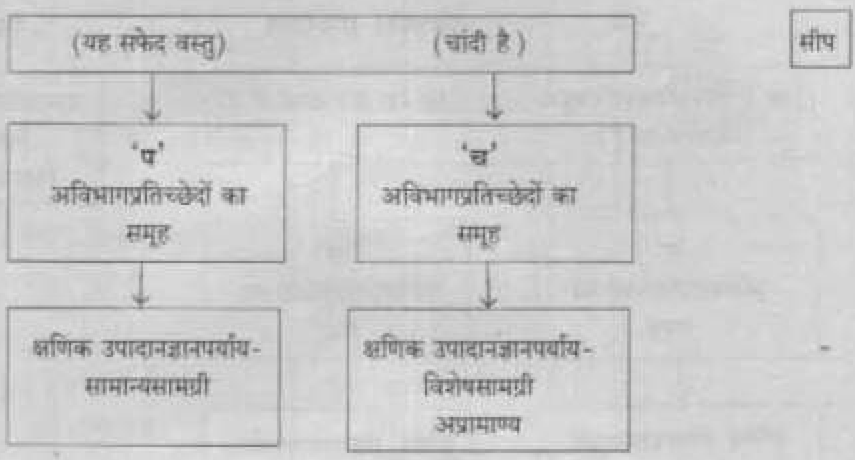
(यह चाचा है) (ऐसा लगता है) — पुरुष चाचा

↓ 'म' अविभागप्रतिच्छेदों का समूह → ↓ क्षणिक उपादानज्ञानपर्याय सामान्यसामग्री

↓ 'क' अविभागप्रतिच्छेदों का समूह → ↓ **क्षणिक उपादानज्ञानपर्याय विशेषसामग्री, अप्रामाण्य**

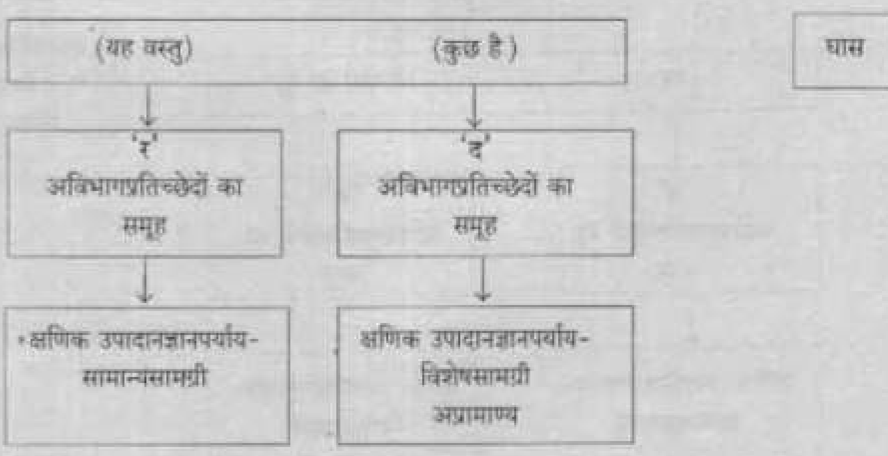
'म' से 'क' अन्य है, इसलिये परत: है, इसलिये ज्ञान के अप्रामाण्य की उत्पत्ति परत: है।
यहाँ 'म' के समान 'ट' है, इसलिये उनको क्षणिक उपादानपर्याय ज्ञानसामान्यसामग्री कहते हैं। क्योंकि '**पुरुष चाचा**' सामान्य दोनों में जाना गया है; अर्थात् सच्चे ज्ञान में और झूठे ज्ञान में '**पुरुष चाचा**' जाना गया है। इतनी समानता होने से वह सामान्य है, इसलिये क्षणिक उपादानपर्याय ज्ञानसामान्यसामग्री समान है।

–३– ज्ञानपर्याय (विपर्यय) विषय



यहाँ 'प' से 'च' अन्य है, इसलिये ज्ञान के अप्रामाण्य की उत्पत्ति परतः है।

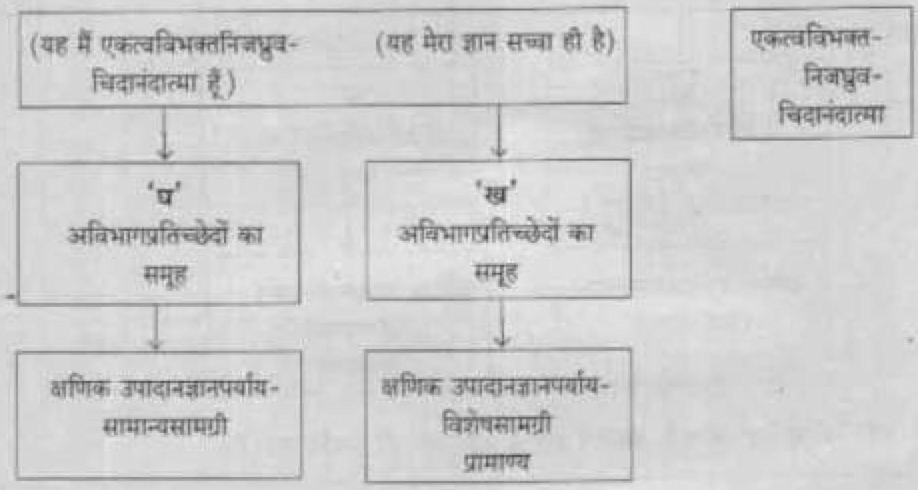
–४– ज्ञानपर्याय (अनध्यवसाय) विषय



यहाँ 'र' से 'द' अन्य है, इसलिये ज्ञान के अप्रामाण्य की उत्पत्ति परतः है।

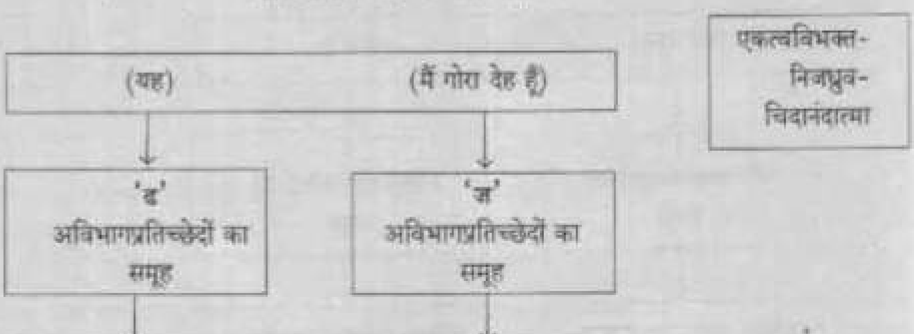
ज्ञान के प्रामाण्य की उत्पत्ति

—५— ज्ञानपर्याय-सम्यग्ज्ञान विषय



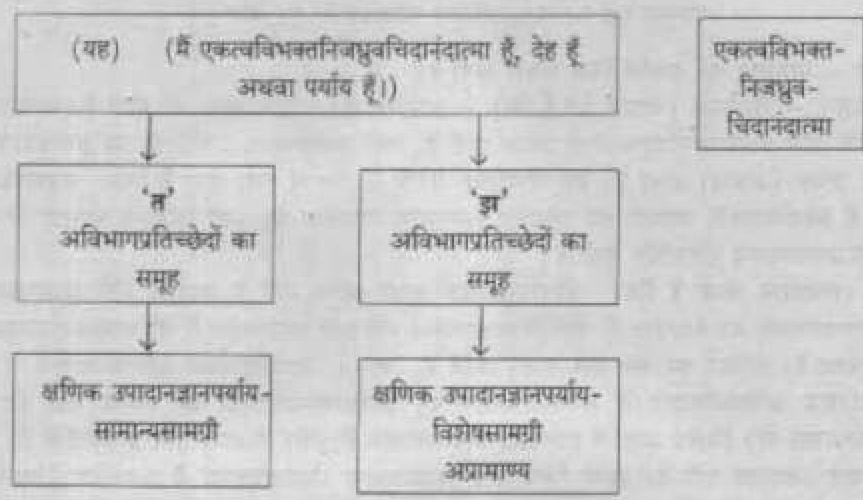
यहाँ 'घ' से 'ख' अन्य है, इसलिये ज्ञान के प्रामाण्य की उत्पत्ति परत: है।

—६— ज्ञानपर्याय-विपर्यय-मिथ्याज्ञान विषय



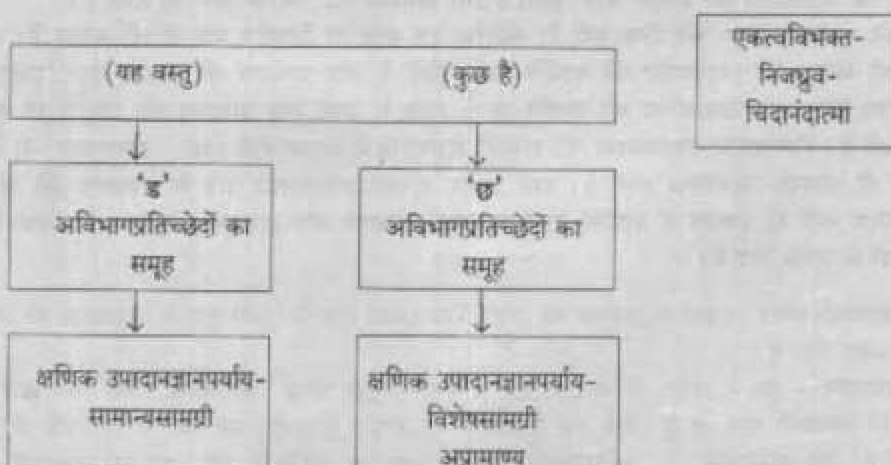
यहाँ 'द' से 'ज' अन्य है, इसलिये ज्ञान के अप्रामाण्य की उत्पत्ति परत: है।

–७– ज्ञानपर्याय-संशय-मिथ्याज्ञान विषय



यहाँ 'त' से 'झ' अन्य है, इसलिये ज्ञान के अप्रामाण्य की उत्पत्ति परतः है।

–८– ज्ञानपर्याय-अनध्यवसाय-मिथ्याज्ञान विषय



यहाँ 'ड' से 'छ' अन्य है, इसलिये ज्ञान के अप्रामाण्य की उत्पत्ति परतः है।

[प्रमाण के प्रामाण्य का निरूपण]

संस्कृत पृष्ठ ६०-६१, संस्कृत परिच्छेद नं. १८ और १९→

शंका – प्रामाण्य की उत्पत्ति किस प्रकार होती है?

समाधान – मीमांसक (जवाब देते हैं कि) – प्रामाण्य की उत्पत्ति स्वत: ही होती है। अर्थात् जो ज्ञानपर्याय जिस ज्ञानसामान्यसामग्री से उत्पन्न होती है, उसी ज्ञानसामान्यसामग्री से उस ज्ञानपर्याय का प्रामाण्य उत्पन्न (उत्पाद) होता है। हम मीमांसक लोगों के ग्रंथ में ऐसा कहा है कि- 'प्रामाण्य की उत्पत्ति में ज्ञानविशेषादि सामग्री को छोड़कर ज्ञानपर्याय उत्पादक हेतु (जो सामान्य सामग्री है वह) स्वत: ही प्रामाण्यरूप परिणमित होती है।'

जैन (समाधान करते हैं कि)- मीमांसक का कथन योग्य नहीं है क्योंकि जैसे सम्यग्ज्ञान में ज्ञानसामान्यसामग्री का सद्भाव है, वैसे मिथ्याज्ञानरूप संशयादि ज्ञानपर्याय में भी ज्ञानसामान्यसामग्री का सद्भाव है। लेकिन हम जैन ऐसे कथन करते हैं, कि– ('सम्यग्ज्ञानरूप क्षणिकोपादान में और मिथ्याज्ञानरूप क्षणिकोपादान में क्षणिकोपादानरूप) ज्ञानसामान्यसामग्री का साम्य होते हुए भी (क्षणिकोपादान के) विशेष अंश में संशयादि अप्रमाणज्ञान हैं; और वे सम्यग्ज्ञान प्रमाणज्ञान हैं, ऐसा यह विभाग अकारण नहीं है। इससे जिस तरह अप्रमाणरूप संशयादिज्ञानों में दोषादिक हेत्वन्तरको स्वीकार करते हैं, उसी तरह सम्यग्ज्ञानरूप प्रमाणज्ञान में भी ''प्रामाण्यनिबंधनरूप हेत्वन्तर को अवश्य स्वीकार करना चाहिये। अन्यथा यह प्रमाण (सम्यग्ज्ञान) है और वह अप्रमाण (मिथ्याज्ञान) है, ऐसा विभाग नहीं प्राप्त होता।''

मीमांसकादि- (प्रामाण्य और अप्रामाण्य के भिन्न कारण सिद्ध हो भी जायें) तथापि हम तो यही कहेंगे कि अप्रामाण्य की उत्पत्ति परत: होती है और प्रामाण्य की उत्पत्ति स्वत: ही होती है।

जैन – ऐसा कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि यह बात तो विपरीत पक्ष में भी समान है। कोई यह भी कहेगा कि अप्रामाण्य की उत्पत्ति स्वत: होती है और प्रामाण्य की उत्पत्ति परत: होती है। इसलिये जिस तरह अप्रामाण्य की उत्पत्ति परत: होती है, उसी तरह प्रामाण्य की उत्पत्ति भी परत: ही होती है। जिसप्रकार वस्त्रसामान्य की सामग्री लालवस्त्र में कारण नहीं होती, 'लालपना' के लिये अन्य ही सामग्री आवश्यक होती है। उसी प्रकार ज्ञानसामान्यसामग्री ज्ञान के प्रामाण्य की उत्पत्ति में कारण नहीं हो सकती है क्योंकि दो भिन्न कार्य (प्रमाण और प्रामाण्य) अवश्य ही भिन्न-भिन्न कारणों से उत्पन्न होते हैं।

विशेषार्थ-शंका – ज्ञान के प्रामाण्य की उत्पत्ति किस प्रकार होती है? और ज्ञान के अप्रामाण्य की उत्पत्ति किस प्रकार होती है?

समाधान – पृष्ठ नं. २११ पर चार्ट नं. १० में देखो- 'पुरुष चाचा' को जानते समय 'यह चाचा है, यह मेरी जानकारी सत्य ही है' ऐसी एक ज्ञानपर्याय की उत्पत्ति हो गयी। उस एक ही ज्ञानपर्याय में 'यह चाचा है' ऐसे जाननेवाले 'ट' अविभागप्रतिच्छेदों के समूह की उत्पत्ति है और 'यह मेरी जानकारी सत्य ही है' ऐसे जाननेवाले 'ग' अविभागप्रतिच्छेदों के समूह की उत्पत्ति है। यहाँ 'ट' अविभागप्रतिच्छेदों के समूह को क्षणिक उपादान ज्ञानपर्याय सामान्यसामग्री कहते हैं और 'ग' अविभागप्रतिच्छेदों के समूह को क्षणिक उपादान ज्ञानपर्याय विशेषसामग्री कहते हैं, वह ज्ञान का प्रामाण्य है। 'ट' अविभागप्रतिच्छेदों के समूह की उत्पत्ति से 'ग' अविभागप्रतिच्छेदों के समूह की उत्पत्ति अन्य है, इसलिये प्रामाण्य की उत्पत्ति परत: होती है।

चार्ट नं. १० (१) कार्य- रमेश ने जाना कि 'यह पुरुष चाचा है, यह मेरी जानकारी सत्य है।'

	उपादान			निमित्त					
त्रिकालवर्ती उपादान	क्षणिक उपादान			ज्ञेय			ज्ञानावरण द्रव्यकर्म का क्षयोपशम		
रमेश की ज्ञानादिगुण-युक्त आत्मा है	'मैं- याने अहं या स्व' की प्रत्यक्ष प्रामाण्य-सहित प्रतीति है।	'यह पुरुष चाचा है' अर्थात् 'ट' अविभाग-प्रतिच्छेदों का समूह याने ज्ञानसामान्य-सामग्री स्वत: है।	'यह मेरी जानकारी सत्य ही है' अर्थात् 'ग' अविभागप्रतिच्छेदों का समूह याने ज्ञानविशेषसामग्री याने प्रामाण्य है, परत: है।	पुरुष चाचा है	काल द्रव्य है	प्रकाश है	'यह पुरुष चाचा है' इस ज्ञेय के बारे में ज्ञानावरण द्रव्यकर्म का क्षयोपशम है। तथा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के बारे में ज्ञानावरण द्रव्यकर्म का क्षयोपशम है।	'यह मेरी जानकारी सत्य ही है' इस प्रकार के प्रामाण्य के बारे में ज्ञानावरण-द्रव्यकर्म का क्षयोपशम है।	इत्यादि

↓ प्रामाण्य की उत्पत्ति में इनकी चर्चा नहीं है।

↓ ज्ञानसामान्यसामग्री के बारे में और प्रामाण्य के बारे में इस प्रकृत प्रकरण में (ज्ञान के प्रामाण्य की उत्पत्ति के बारे में) इनकी चर्चा है।

↓ प्रामाण्य की उत्पत्ति के बारे में इनकी चर्चा नहीं है।

चार्ट नं. १० (२) कार्य- देवदत्त ने जाना कि 'यह कागज पीला है'।

उपादान				निमित्त							
त्रिकालवर्ती उपादान	क्षणिक उपादान			ज्ञेय				ज्ञानावरण द्रव्यकर्म का क्षयोपशम			
देवदत्त की ज्ञानादि-गुणयुक्त आत्मा है।	'मैं यानी अहं या स्व' की प्रत्यक्ष प्रामाण्य-सहित प्रतीति है।	'यह कागज है' अर्थात् 'म' अविभाग-प्रतिच्छेदों का समूह यानी ज्ञानसामान्य-सामग्री स्वतः है।	'पीला है' अप्रामाण्य है यानी 'द' अविभाग-प्रतिच्छेदों का समूह यानी ज्ञानविशेषसामग्री यानी अप्रामाण्य है, परतः है।	सफेद कागज है	काल-द्रव्य है।	प्रकाश है।	नेत्र इन्द्रिय है और पीलिया रोग है।	विशिष्ट कागज के बारे में और पीले के बारे में ज्ञानावरण द्रव्यकर्म का क्षयोपशम है।	सांव्य-वहारिक प्रत्यक्ष का क्षयोपशम है।	अप्रामाण्य के बारे में ज्ञानावरण द्रव्यकर्म का क्षयोपशम है।	इत्यादि
अप्रामाण्य की उत्पत्ति में इनकी चर्चा नहीं है।		ज्ञानसामान्यसामग्री के बारे में और अप्रामाण्य के बारे में इस प्रकृत प्रकरण में (ज्ञान के अप्रामाण्य की उत्पत्ति के बारे में) चर्चा है।		अप्रामाण्य की उत्पत्ति के बारे में इनकी चर्चा नहीं है।							

इसतरह दिगम्बर जैन कहते हैं, तब

मीमांसकादि कहते हैं, कि-

''अप्रामाण्य के बारे में आप जैनों ने जो कथन किया है, वह कथन हम को मान्य है। अर्थात् देवदत्त ने जाना कि 'यह कागज पीला है' इस में 'म' अविभागप्रतिच्छेदों का समूह याने ज्ञानसामान्यसामग्री से 'द' अविभागप्रतिच्छेदों का समूह याने अप्रामाण्य (ज्ञानविशेषसामग्री) अलग है याने परत: है। अर्थात् ज्ञान के अप्रामाण्य की उत्पत्ति परत: है, यह हम को मान्य है।

लेकिन रमेश ने जाना कि 'यह पुरुष चाचा है, यह मेरी जानकारी सत्य ही है', इसमें 'ट' अविभागप्रतिच्छेदों का समूह ज्ञानसामान्यसामग्री है, उस 'ट' अविभागप्रतिच्छेदों के द्वारा ही प्रामाण्य की उत्पत्ति होती है, ऐसा हम मीमांसकादि मानते हैं, वहाँ प्रामाण्य की उत्पत्ति के लिये 'ग' अविभागप्रतिच्छेदों का समूह मानने की आवश्यकता नहीं है।''

जैन – 'ज्ञानसामान्यसामग्री से ज्ञानसामान्यपर्याय होती है और उस ज्ञानसामान्यसामग्री से ही ज्ञान के प्रामाण्य की उत्पत्ति होती है' यह आपका कथन ठीक नहीं है; क्योंकि जैसे सम्यग्ज्ञान में ज्ञानसामान्यसामग्री का सद्भाव है, वैसे मिथ्याज्ञानरूप संशयादि ज्ञानपर्याय में भी ज्ञानसामान्यसामग्री का सद्भाव है। पृष्ठ नं. २०८ से २१४ तक देखिये।

सम्यग्ज्ञानरूप क्षणिक उपादान में और मिथ्याज्ञानरूप क्षणिक उपादान में ज्ञानसामान्यसामग्री समान होते हुए भी क्षणिक उपादान के विशेष अंश में भी संशयादि अप्रमाण ज्ञान हैं और सम्यग्ज्ञान प्रमाण हैं, ऐसा विभाग अकारण नहीं है। जिस तरह संशय ज्ञान में, विपर्यय ज्ञान में, तथा अनध्यवसाय ज्ञान में ज्ञानसामान्यसामग्री के अविभागप्रतिच्छेदों से अप्रामाण्य के अविभागप्रतिच्छेद अलग हैं अर्थात् ज्ञान के अप्रामाण्य की उत्पत्ति परत: स्वीकार करते हैं; उसी तरह 'सम्यग्ज्ञानरूप प्रमाणज्ञान में भी ज्ञान के ज्ञानसामान्यसामग्रीवाले अविभागप्रतिच्छेदों की उत्पत्ति से प्रामाण्य के (ज्ञान के प्रामाण्य के) अविभागप्रतिच्छेदों की उत्पत्ति अलग याने अन्य याने परत: होती है' ऐसा स्वीकार करना चाहिये, अन्यथा (नहीं तो) यह सम्यग्ज्ञान है और वह मिथ्याज्ञान है- ऐसा भेद नहीं हो सकेगा, यह दोष आयेगा।

जैसे काले वस्त्र में पटसामान्यसामग्री से कालापन विशेषसामग्री अन्य (परत:) है; उसी तरह 'लाल वस्त्र में केवल (अकेले) पटसामान्यसामग्री से वस्त्र किया और वस्त्र का लालपना भी पटसामान्यसामग्री से ही किया' ऐसा कथन करना योग्य नहीं है क्योंकि लालपना के लिये लाल विशेषसामग्री पट सामान्यसामग्री से अन्य (परत:) है। वैसे ही क्षणिक उपादान ज्ञानपर्याय सामान्यसामग्री ज्ञानपर्याय के प्रामाण्य की उत्पत्ति में कारण नहीं हो सकती क्योंकि दो भिन्न कार्य अवश्य ही भिन्न-भिन्न कारणों से होते हैं।

संस्कृत पृष्ठ ६१, संस्कृत परिच्छेद २०-२१ →

शंका – ज्ञान के प्रामाण्य की ज्ञप्ति कैसी होती है?

समाधान – अभ्यस्त विषय में प्रामाण्य की ज्ञप्ति (निर्णय) स्वत: होती है, लेकिन अनभ्यस्त विषय में प्रामाण्य की ज्ञप्ति परत: होती है।

शंका – अभ्यस्त विषय क्या है और अनभ्यस्त विषय क्या है?

समाधान – अपने परिचित गांव के तालाब का जल वगैरह अभ्यस्त विषय हैं, और अपरिचित वस्तु अनभ्यस्त विषय है।

शंका – स्वत: क्या है और परत: क्या है?

समाधान – ज्ञानज्ञापक से ही उसी समय में जो प्रामाण्य की ज्ञप्ति होती है, उस को स्वत: कहते हैं।

और ज्ञानज्ञापकसे अन्य समय में जो प्रामाण्य की ज्ञप्ति होती है, उस को परत: कहते हैं।

उस अभ्यस्त विषय के बारे में-

अभ्यस्त जलविषय में 'जल है' ऐसी ज्ञानपर्याय उत्पन्न होती है, उसी समय में उस ही ज्ञानपर्याय का प्रामाण्य भी जाना जाता ही है; अन्यथा (नहीं तो) उत्तरक्षण में निःशंक प्रवृत्ति नहीं होगी, लेकिन जलज्ञान के बाद निःशंकप्रवृत्ति होती है। अतः ज्ञान के प्रामाण्य की ज्ञप्ति स्वतः (उसी समय में) होती है।

लेकिन अनभ्यस्त विषय के बारे में-

अनभ्यस्त जलविषय में जलज्ञान उत्पन्न होने पर 'मुझे जलविषय का ज्ञान हो गया' ऐसी जानकारी होने पर भी उस ज्ञानपर्याय के प्रामाण्य का निर्णय अन्य समय में (अन्य काल में) ही होता है क्योंकि अन्यथा उत्तरकाल में संशयज्ञान नहीं होना चाहिये। लेकिन ऐसा संशयज्ञान उत्पन्न होता है कि, 'मुझे जलज्ञान हो गया, लेकिन वह जल है अथवा जलाभास (मृगमरीचिका) है?' इस सन्देह (संशयज्ञान) के बाद ही कमलों की गन्ध (का ज्ञान), ठंडी हवा के आने (का ज्ञान) आदि से अनुमान ज्ञान के द्वारा जलज्ञान तथा उस ज्ञान के प्रामाण्य का ज्ञान करता है क्योंकि अन्यथा (जल के बिना) कमल की गन्ध, ठण्डी हवा आदि नहीं आ सकती है। [अतः यह सिद्ध हो गया कि अनभ्यस्त विषय में ज्ञानपर्याय के प्रामाण्य की ज्ञप्ति परतः (अन्य समय में) होती है।]

विशेषार्थ – अपरिचित स्थान में देवदत्त गया। वहाँ उसको दोपहर में दो बजे जल के बारे में (क) ज्ञान उत्पन्न हो गया। उसके बाद (ख) जल है या जलाभास है, ऐसा संशयज्ञान हो गया।

उसके बाद कमल की गन्ध सहित ठण्डी हवा का ज्ञान हो गया, उससे जल के बारे में (ग) जलज्ञान तथा उस का प्रामाण्यज्ञान हो गया।

संदृष्टि देखिये-

अभ्यस्त है, प्रामाण्य स्वतः है याने उसी 'च' क्षण में जलज्ञान तथा प्रामाण्य हो गया।		च	जल छानकर जल से लोटा भरा।
अभ्यस्त है, प्रामाण्य स्वतः है याने उसी 'घ' क्षण में जलज्ञान तथा प्रामाण्य हो गया।		घ ↑	जल में स्नान कर रहा।
अभ्यस्त है, प्रामाण्य स्वतः है वह 'ग' क्षण में ही जाना।	{ ↑	ग	यहाँ जल ही है, यह सत्य है क्योंकि कमल की गन्ध है, ठण्डी हवा है।
	↑	ख	संशयज्ञान–जल है या जलाभास है।
अनभ्यस्त इसका प्रमाण 'ग' ज्ञानपर्याय द्वारा 'ग' क्षण में हो गया, इसलिये परतः है।	{ ↑	क	जलज्ञान है।

दूसरा उदाहरण – प्रमेयकमलमार्तण्ड-अध्याय १, सूत्र नं. १३ की टीका [प्रकाशक- श्री लाला मुसद्दीलाल जैन चैरीटेबल ट्रस्ट, दिल्ली- भाग १, पृष्ठ ४८६] "कृषीवलादय: अपि हि अनभ्यस्तबीजादिविषये प्रथमतरं तावच्छरावादौ अल्पतरबीजवपनादिना बीजाबीजनिर्धारणाय प्रवर्तन्ते, पश्चात् दृष्टसाधर्म्यात् परिशिष्टस्य बीजाबीजतया निश्चितस्य उपयोगाय परिहाराय च अभ्यस्तबीजादिविषये तु नि:संशयं प्रवर्तन्ते।"

अर्थ :– किसानादि लोग भी अनभ्यस्त बीजादि विषय में प्रथमतर (सब से पहले) सकोरा, गमला आदि में अल्पतर (थोड़े से) बीजों को बो करके बीज या अबीज की परीक्षा करते हैं कि– इस गमले में अमुक बीज बोये तो अंकुर बढ़िया आये या नहीं इत्यादि। जब उन किसानों को बीज और अबीज की परीक्षा हो जाती है, तब उनमें से जिनके अंकुर ठीक उगे उन्हें बोने योग्य समझकर उन्हीं के समान जो बीज रखे थे उनका तो खेती में उपयोग करते हैं और जो अबीज हैं, उनका खेती में उपयोग नहीं करते हैं। लेकिन वे अभ्यस्त बीजादि विषय में नि:संशय प्रवर्तन करते हैं।

इसकी संदृष्टि देखिये –

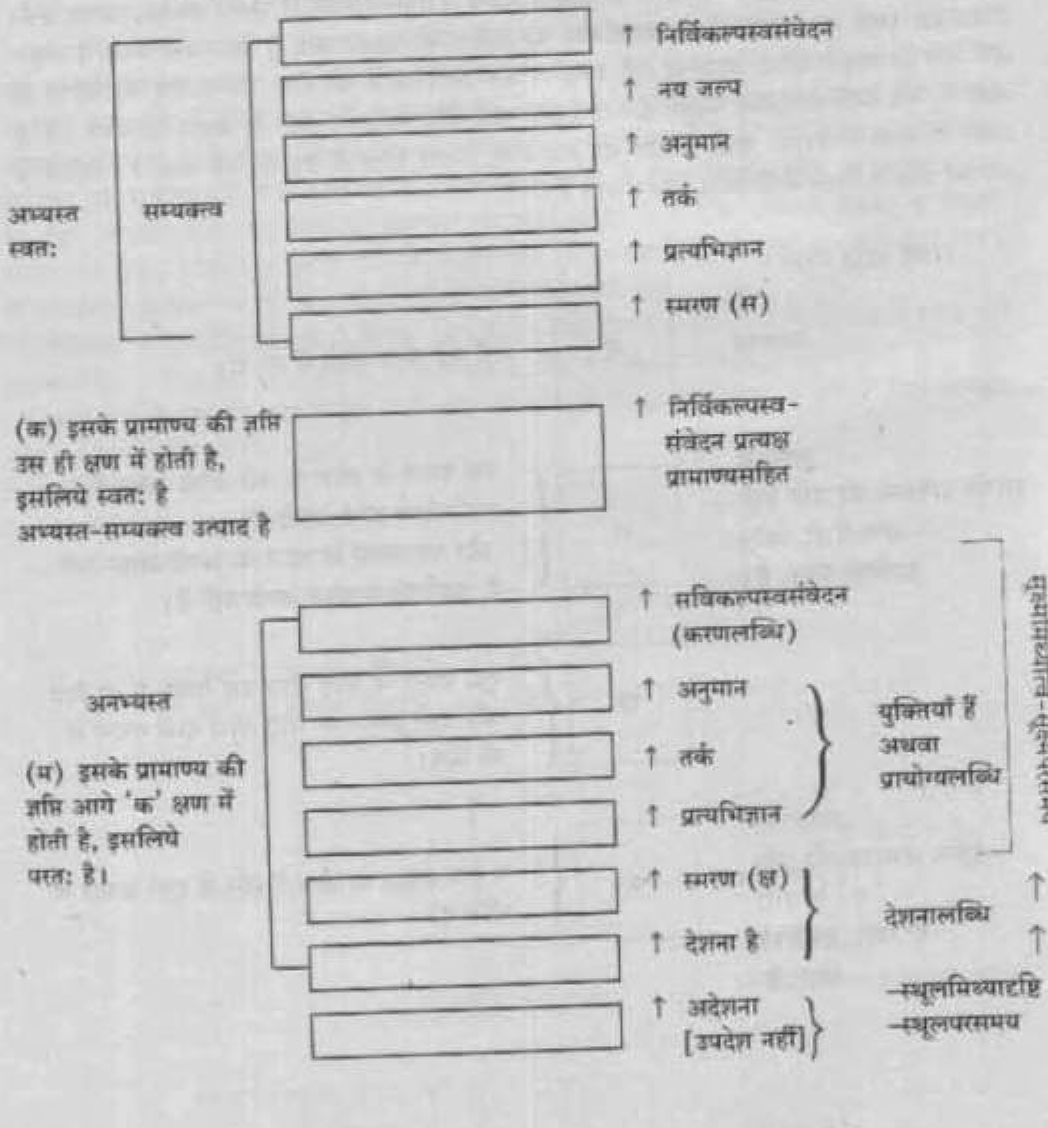
अभ्यस्त	घ	ये बड़े बीज खेती में बो दो।
अभ्यस्त इसकी प्रामाण्य की ज्ञप्ति इसी क्षण में हो गयी। इसलिये स्वत: है।	ग	↑ इस गमले के बीज के बड़े अच्छे अंकुर हैं, इसलिये वे बीज अच्छे हैं। और उस गमले के बीज के अच्छे अंकुर नहीं हैं, इसलिये वे बीज अच्छे नहीं हैं।
	ख	↑ एक प्रकार के थोड़े बीज इस गमले में बो दिये और दूसरे प्रकार के थोड़े बीज दूसरे गमले में बो दिये।
अनभ्यस्त इसके प्रामाण्य की ज्ञप्ति 'ग' के द्वारा हो गयी, इसलिये परत: है	क	↑ ये एक प्रकार के बीज हैं और वे दूसरे प्रकार के बीज हैं।

चार्ट नं. ५]

• ज्ञान के प्रामाण्य की ज्ञप्ति •

अभ्यस्त में स्वतः (अर्थात् उस ही क्षण में) होती है।

अनभ्यस्त में परतः (अर्थात् उस क्षण से आगे अन्य क्षण में) होती है।



समयसार की ५ वीं गाथा की आत्मख्याति टीका और तात्पर्यवृत्ति का भावार्थ यह है कि –[चार्ट नं. ५]

प्रथम सकल उद्भासि स्यात्पदमुद्रित शब्दब्रह्म की उपासना की याने देशनालब्धि प्राप्त की।

उसके पश्चात् समस्तविपक्षक्षोदक्षम अतिशुद्ध युक्तियों से परीक्षा की। अर्थात् प्रत्यभिज्ञान से, तर्कज्ञान से और अनुमानज्ञान से परीक्षा की। अर्थात् प्रायोग्यलब्धि हो गयी। उसके बाद सम्यग्ज्ञानी के साथ चर्चा की और फिर परीक्षा की। याने प्रायोग्यलब्धि हो गयी।

उसके पश्चात् सविकल्प स्वसंवेदन किया।

उसके बाद स्वानुभव प्रत्यक्षज्ञान से निर्णय किया। उस की संदृष्टि पृष्ठ नं. २२१ पर देखिये।

संस्कृत पृष्ठ नं. ६१, संस्कृत परिच्छेद नं. २२→

यौग (नैयायिक और वैशेषिक)– प्रामाण्य की उत्पत्ति के समान प्रामाण्य की ज्ञप्ति भी पर से ही होती है।

जैन–'प्रामाण्य की उत्पत्ति परतः होती है' यह आपका कथन योग्य है; और 'प्रामाण्य की ज्ञप्ति अभ्यस्त विषय में स्वतः ही होती है' यह जब सयुक्तिक सिद्ध हो गया तब 'प्रामाण्य की ज्ञप्ति परतः ही होती है' ऐसा अवधारण (स्वतःपना का निराकरण) नहीं हो सकता है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि प्रामाण्य की उत्पत्ति परतः ही होती है, लेकिन प्रामाण्य की ज्ञप्ति अभ्यस्तविषय में स्वतः होती है और अनभ्यस्तविषय में परतः होती है। प्रमाणपरीक्षा ग्रंथ में ऐसा कहा है कि –

श्लोकार्थ– प्रमाण से इष्ट की संसिद्धि होती है क्योंकि अप्रमाण (प्रमाणाभास) से इष्ट की सिद्धि मानोगे तो अतिप्रसंग (दोष) आयेगा। अभ्यस्तविषय में प्रामाण्य की ज्ञप्ति स्वतः होती है और अनभ्यस्त विषय में प्रामाण्य की ज्ञप्ति परतः होती है। [प्रमाणपरीक्षा पृष्ठ ६३]

विशेषार्थ– शंकाकार–यौग आदि– प्रामाण्य की ज्ञप्ति अभ्यस्तविषय में परतः होती है और अनभ्यस्तविषय में भी प्रामाण्य की ज्ञप्ति पर से ही (परतः) होती है।

जैन– 'प्रामाण्य की ज्ञप्ति अभ्यस्तविषय में स्वतः होती है' इसका निराकरण करना ठीक नहीं है क्योंकि 'प्रामाण्य की ज्ञप्ति अभ्यस्तविषय में स्वतः होती है' यह सयुक्तिक सिद्ध हो गया है। 'अभ्यस्तविषय में प्रामाण्य की ज्ञप्ति पर से (परतः) होती है' ऐसा मानने में अनवस्था दोष आता है।

जिस समय 'एकत्वविभक्तनिजात्मा' का निर्विकल्पज्ञान होता है, उसी समय में प्रामाण्य की ज्ञप्ति होती है। ऐसा मानने में अनवस्था दोष नहीं आता है।

'एकत्वविभक्तनिजात्मा' का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्षज्ञान होने से इष्ट की सम्यक्सिद्धि [सम्यक्-आनंद की प्राप्ति] होती है। मिथ्याज्ञान से इष्ट [सम्यक्-आनंद] की सिद्धि नहीं होती है।

देखो चार्ट नं. ८

कोष्टक

क्र.	आगमभाषा [वस्तु में क्या-क्या है और कैसी व्यवस्था है, यह आगमभाषा बताती है।]		अध्यात्मभाषा	फल	सम्यक्त्वी
क	द्रव्य	पर्याय	परमानंद और शांतता प्राप्ति के लिये स्वद्रव्य-सकलादेशी एकत्वविभक्तनिजात्मा का आश्रय करता है।	समीचीन है, क्योंकि आगमभाषा में स्यात् द्रव्य, स्यात् पर्याय परस्पर सापेक्ष है वह योग्य है और अध्यात्मभाषा योग्य है।	मिथ्यात्व
ख	द्रव्य	पर्याय	परमानंद और शांतता प्राप्ति के लिये पर्याय अथवा अन्य द्रव्य का आश्रय करता है।	असमीचीन है, क्योंकि अध्यात्मभाषा में भूल है। (व्यवहाराभासी)	मिथ्यात्व
ग	द्रव्य	०	परमानंद और शांतता प्राप्ति के लिये स्वद्रव्य का आश्रय करता है।	असमीचीन है, क्योंकि आगमभाषा में भूल है। (निश्चयाभासी)	मिथ्यात्व
घ	०	पर्याय	परमानंद और शांतता प्राप्ति के लिये पर्याय का आश्रय करता है।	असमीचीन है, क्योंकि आगमभाषा में और अध्यात्मभाषा में भूल है। (व्यवहाराभासी)	मिथ्यात्व
च	द्रव्य	पर्याय	परमानंद और शांतता प्राप्ति के लिये स्वद्रव्य और पर्याय का आश्रय करता है।	असमीचीन है, क्योंकि अध्यात्मभाषा में भूल है। (उभयाभासी)	मिथ्यात्व
छ	०	०	परमानंद और शांतता प्राप्ति के लिये स्वद्रव्य का आश्रय करता है। (अज्ञानी निर्णयरहित जीव)	असमीचीन है, क्योंकि आगमभाषा के बारे में अज्ञान है।	मिथ्यात्व
ज	०	०	परमानंद और शांतता प्राप्ति के लिये पर्याय का आश्रय करता है। (अज्ञानी निर्णयरहित जीव)	असमीचीन है, क्योंकि आगमभाषा के बारे में अज्ञान है और अध्यात्मभाषा में भूल है।	मिथ्यात्व
झ	द्रव्य	पर्याय	शुद्धात्मानुभूति के लिये आश्रय करने योग्य स्वद्रव्य विकलादेशी है।	असमीचीन है क्योंकि अध्यात्मभाषा के बारे में अज्ञान है।	मिथ्यात्व
ट	पर्यायनिरपेक्ष द्रव्य	द्रव्यनिरपेक्ष पर्याय	परमानंद और शांतता प्राप्ति के लिये स्वद्रव्य का आश्रय करता है।	असमीचीन है, क्योंकि आगमभाषा में भूल है।	मिथ्यात्व
ठ	पर्यायनिरपेक्ष द्रव्य	द्रव्यनिरपेक्ष पर्याय	परमानंद और शांतता प्राप्ति के लिये पर्याय अथवा अन्य द्रव्य का आश्रय करता है।	असमीचीन है, क्योंकि आगमभाषा में और अध्यात्मभाषा में भूल है।	मिथ्यात्वी
ड	पर्यायनिरपेक्ष द्रव्य	द्रव्यनिरपेक्ष पर्याय	परमानंद और शांतता प्राप्ति के लिये निरपेक्ष स्वद्रव्य और पर्याय का आश्रय करता है।	असमीचीन है, क्योंकि आगमभाषा में और अध्यात्मभाषा में भूल है।	मिथ्यात्वी

संस्कृत पृष्ठ ६२, संस्कृत परिच्छेद नं. २३ →

इस तरह प्रमाण का लक्षण सुव्यवस्थित होने पर भी जिन लोगों का दुरभिनिवेशवश यह भ्रम है कि बौद्धादिकों का भी माना हुआ प्रमाण का लक्षण वास्तविक लक्षण है, उनके उपकार के लिये बौद्धादिकों के प्रमाण लक्षणों की परीक्षा की जाती है।

विशेषार्थ– इस तरह प्रमाण का लक्षण सुव्यवस्थित होने पर भी अन्य तरह से किये हुए 'प्रमाण के लक्षणों का' परिहार करते हैं।

संस्कृत पृष्ठ ६२, संस्कृत परिच्छेद नं. २४ →

[बौद्धों के प्रमाणलक्षण की समीक्षा]

बौद्ध– 'जो ज्ञान अविसंवादी है वह ज्ञान प्रमाण है'।

जैन– आपका कथन योग्य नहीं है; क्योंकि वह यह अविसंवादित्व असंभव होने से लक्षण नहीं हो सकता है। आपके द्वारा (१) प्रत्यक्षज्ञान और (२) अनुमानज्ञान- ऐसे प्रमाण के दो भेद माने गये हैं। आपके 'न्यायबिंदु' ग्रंथ में कहा है 'सम्यग्ज्ञान के दो भेद हैं– (१) प्रत्यक्ष और (२) अनुमान।' उनमें से प्रत्यक्षज्ञान में अविसंवादीपना संभव नहीं है क्योंकि वह निर्विकल्पक (निर्विचारक) होने से अपने विषय का निश्चायक न होने के कारण संशयादिरूप समारोप का निराकरण नहीं कर सकता है; और अनुमान में भी अविसंवादीपना संभव नहीं है क्योंकि बौद्ध मत के अनुसार अनुमान भी अपरमार्थभूत- अवास्तविक सामान्य को विषय करनेवाला है। (इस तरह बौद्धों का वह प्रमाण का लक्षण असंभवदोष से दूषित होने से सम्यक् लक्षण नहीं है।)

विशेषार्थ– शंका– 'जो ज्ञान या ध्यान या विपश्यना ध्यान अविसंवादी है' वह ज्ञान प्रमाण है अर्थात् वह ध्यान/विपश्यना ध्यान समीचीन है।

समाधान– आपका कथन योग्य नहीं है क्योंकि असंभव दोष आता है। आपके मत में (१) **प्रत्यक्षज्ञान** याने स्वलक्षणप्रत्यक्षज्ञान या निर्विचारकज्ञान या निर्विचारकध्यान और (२) **अनुमानज्ञान**; ऐसे प्रमाण या ध्यान के दो भेद माने गये हैं। उनमें से प्रत्यक्षज्ञान या निर्विचारकध्यान में अविसंवादीपना संभव नहीं है क्योंकि वह ध्यान या अनुभूति में निर्विचारक होने से, अपने विषय का निर्णायक न होने से संशयज्ञान, विपर्ययज्ञान, अनध्यवसाय या अज्ञान का निराकरण नहीं कर सकता है; और उस विपश्यना ध्यान के समय में वास्तविक समता नहीं है क्योंकि उस विपश्यना ध्यान में निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा विषय नहीं है।

अनुमान में भी अविसंवादीपना संभव नहीं है। बौद्धों के मत के अनुसार अनुमान भी अवास्तविक सामान्य को विषय करनेवाला है। बौद्धों ने वस्तु के उत्पाद और व्यय अंश ही माने हैं, वस्तु का ध्रुव अंश नहीं माना है। देखिये चार्ट नं. ८ में 'घ'।

इस तरह बौद्धों का वह प्रमाण का लक्षण असंभव दोष से दूषित है। इसलिये विपश्यना ध्यान पद्धति योग्य नहीं है।

संस्कृत पृष्ठ ६२, संस्कृत परिच्छेद नं. २५ →

[कुमारिलभट्टीय प्रमाणलक्षण की समीक्षा]

भाट्टमीमांसक– ''अनधिगत तथाभूतार्थनिश्चायक को प्रमाण कहते हैं''।

जैन– यह लक्षण अव्याप्तिदोष से दूषित है, क्योंकि भाट्ट के द्वारा प्रमाणरूप में माने हुए धारावाहिक ज्ञानों में अपूर्वार्थग्राहीपना नहीं है।

भाट्टमीमांसक– अगले-अगले क्षणविशेषविशिष्टार्थावभासकपना से उनमें अनधिगतार्थ-निश्चायकपना है।

जैन– यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि क्षण अत्यन्त सूक्ष्म हैं, उनको लक्षित करना-जानना सम्भव नहीं है। इसलिये धारावाहिक ज्ञानों में लक्षण की अव्याप्ति निश्चित है।

विशेषार्थ– शंका– अनधिगत याने जो पहले नहीं जाने हुए। तथाभूत याने यथार्थ। **अनधिगततथाभूतार्थ** याने जो पहले नहीं जाने हुए यथार्थ अर्थ का निश्चय (निर्णय) करानेवाला है, वह प्रमाण है।

समाधान–प्रमाण का यह लक्षण अव्याप्ति दोषयुक्त है, क्योंकि भाट्ट के द्वारा प्रमाणरूप में माने हुए धारावाहिक ज्ञानों में अपूर्व अर्थग्राहीपना नहीं है। इसलिये भाट्टों के पूर्वापर कथन में सुसंवाद नहीं है।

शंका– उत्तरोत्तर पर्यायविशेषविशिष्टार्थावभासकपना से धारावाहिक ज्ञानों में अनधिगतार्थ निश्चायकपना है।

समाधान– यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि प्रतिसमयवर्ती पर्याय अतिसूक्ष्म है। अल्पज्ञ या छद्मस्थ जीव के द्वारा सूक्ष्म समयवर्ती पर्याय को जानना सम्भव नहीं है।

कुछ और विशेषार्थ–

केवलज्ञानी की प्रतिसमय सर्वज्ञपर्याय प्रगट होती है। प्रत्येक समय में सर्वज्ञपर्याय प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष युगपत् सर्व द्रव्य, सर्व गुण और अनाद्यनन्त सर्व पर्यायों को जानती है।

इस समय में केवलज्ञानपर्याय में 'क २' यह पर्याय वर्तमानरूप से झलकती है। देखो संदृष्टि–

केवलज्ञानपर्याय→

• • • •	क १	क २	क ३	क ४	क ५	क ६		• • • • • • •
		↑						

अनादि ... अनंत

इस समय में केवलज्ञानपर्याय में 'क ३' यह पर्याय वर्तमानरूप से झलकती है। देखो संदृष्टि–

केवलज्ञानपर्याय→

• • • •	क १	क २	क ३	क ४	क ५	क ६		• • • • • • •
			↑					

अनादि ... अनंत

इस समय में केवलज्ञानपर्याय में 'क ४' यह पर्याय वर्तमानरूप से झलकती है। देखो संदृष्टि–

केवलज्ञानपर्याय→

• • • •	क १	क २	क ३	क ४	क ५	क ६		• • • • • • •
				↑				

अनादि ... अनंत

इस समय में केवलज्ञानपर्याय में 'क ५' यह पर्याय वर्तमानरूप से झलकती है। देखो संदृष्टि–

केवलज्ञानपर्याय→

• • • •	क १	क २	क ३	क ४	क ५	क ६		• • • • • • •
					↑			

अनादि अनंत

इस समय में केवलज्ञानपर्याय में 'क ६' यह पर्याय वर्तमानरूप से झलकती है। देखो संदृष्टि–

केवलज्ञानपर्याय→

• • • •	क १	क २	क ३	क ४	क ५	क ६		• • • • • • •
						↑		

अनादि अनंत

इस तरह प्रत्येक समयवर्ती केवलज्ञानपर्याय में प्रत्यक्ष सर्व द्रव्य, सर्व गुण और सर्व अनाद्यनन्तपर्यायें झलकती हैं तथापि प्रत्येक समय में वर्तमानरूप से प्रत्यक्ष सूक्ष्म परिवर्तन भी प्रत्यक्ष ज्ञात होता है। वह सूक्ष्म परिवर्तन ही अपूर्वार्थ है।

अप्रमत्तसंयत-क्षपकगुणस्थान में निजध्रुवात्मा का अनुभव करता है, वह अपूर्वार्थ है। फिर **अपूर्वकरण-क्षपकगुणस्थान** में निजध्रुवात्मा का अनुभव करता है, वह भी अपूर्वार्थ है। फिर **अनिवृत्तिकरण- क्षपकगुणस्थान** में निजध्रुवात्मा का अनुभव करता है, वह भी अपूर्वार्थ है। फिर **सूक्ष्मसांपराय- क्षपकगुणस्थान** में निजध्रुवात्मा का अनुभव करता है, वह भी अपूर्वार्थ है। फिर **क्षीणमोह-गुणस्थान** में निजध्रुवात्मा का अनुभव करता है, वह भी अपूर्वार्थ है। फिर **सयोगकेवली-गुणस्थान** में केवलज्ञान पर्याय में सर्वज्ञ होता है, वह भी अपूर्वार्थ है।

अप्रमत्तसंयत-उपशमगुणस्थान में निजध्रुवात्मा का अनुभव करता है, वह अपूर्वार्थ है। फिर **अपूर्वकरण-उपशमगुणस्थान** में निजध्रुवात्मा का अनुभव करता है, वह भी अपूर्वार्थ है। फिर **अनिवृत्तिकरण-उपशमगुणस्थान** में निजध्रुवात्मा का अनुभव करता है, वह भी अपूर्वार्थ है। फिर **सूक्ष्मसांपराय- उपशमगुणस्थान** में निजध्रुवात्मा का अनुभव करता है, वह भी अपूर्वार्थ है। फिर **उपशांतकषाय-उपशमगुणस्थान** में निजध्रुवात्मा का अनुभव करता है, वह भी अपूर्वार्थ है।

इसलिये क्षपकश्रेणी में और उपशमश्रेणी में मिथ्या धारावाहिक ज्ञान नहीं हैं।

संस्कृत पृष्ठ ६२-६३, संस्कृत परिच्छेद नं. २६ →

[प्राभाकरमीमांसक के प्रमाणलक्षण की समीक्षा]

प्रभाकरमीमांसक– 'अनुभूति को प्रमाण कहते हैं'।

जैन–आपका यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि 'अनुभूति' शब्द को भावसाधन मानने पर करणलक्षणरूप प्रमाण में और करणसाधन मानने पर भावसाधन लक्षणरूप प्रमाण में अव्याप्ति होती है, क्योंकि करणसाधन और भावसाधन दोनों में ही आप प्राभाकरमीमांसकों के यहाँ प्रामाण्य (प्रमाणता) माना है। जैसा कि शालिकानाथ ने कहा है–

"जब प्रमाण शब्द 'भावसाधनरूप' मानते हैं, तब 'संविद् याने ज्ञान' ही प्रमाण है और जब

प्रमाण शब्द 'करणसाधनरूप' मानते हैं, तब 'आत्मा और मन का सन्निकर्ष' प्रमाण होता है।''

विशेषार्थ–प्राभाकरमीमांसकों ने भावसाधन को और करणसाधन को सर्वथा भिन्न माना है। प्राभाकरमीमांसक–अनुभूति (अनुभव) को प्रमाण कहते हैं।

जैन–आप लोग भावसाधन को और करणसाधन को सर्वथा भिन्न-भिन्न मानते हैं। तब 'अनुभूति (अनुभव) को प्रमाण कहते हैं' यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि 'अनुभूति शब्द को भावसाधन मानने पर' यह लक्षण करणसाधनलक्षणरूप प्रमाण में नहीं जाता है और 'अनुभूति शब्द को करणसाधन मानने पर' यह लक्षण भावसाधनलक्षणरूप प्रमाण में नहीं जाता है। इसलिये अव्याप्ति दोष आता है क्योंकि करणसाधन और भावसाधन दोनों में ही आप प्राभाकरमीमांसकों के यहाँ प्रामाण्य माना है। आपके शालिकानाथ के द्वारा रचित ग्रंथ में कहा है कि– ''जब प्रमाण शब्द 'भावसाधनरूप' मानते हैं तब 'संविद् याने ज्ञान' ही प्रमाण है और जब प्रमाण शब्द 'करणसाधनरूप' मानते हैं तब 'आत्मा और मन का सन्निकर्ष' प्रमाण होता है।''

इसलिये अव्याप्ति दोष आता है।

शंका–'अनुभूति' को प्रमाण कहने में दोष आता है तो फिर ''जिनागम में सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के समय शुद्धात्मानुभव (निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्षज्ञान) होता है; अर्थात् सम्यग्दर्शन और शुद्धात्मानुभव (शुद्धात्मानुभूति) में अन्वय तथा व्यतिरेक बताया है। जब तक शुद्धात्मानुभव (निर्विकल्पज्ञान) न हो तब तक सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति नहीं होती है और मिथ्यादर्शन का व्यय नहीं होता है;'' इसमें क्यों बाधा नहीं आती?

समाधान– जिनागम के उस वचन में बाधा नहीं आती है, क्योंकि-

(१) जिनागम में भावसाधन और करणसाधन को **सर्वथा भिन्न-भिन्न नहीं** माना है,

(२) जिनागम में ज्ञान अथवा प्रमाण शब्द से वाच्य को **करणसाधन** माना है,

(३) शुद्धात्मानुभव से ही सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति मानते हैं अर्थात् **एकत्वविभक्तनिजात्मा के प्रामाण्यसहित प्रत्यक्षज्ञान से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति मानते हैं**; और अन्य क्षणों में सम्यग्दर्शन सहित होनेवाले परोक्षज्ञान को भी सम्यग्ज्ञान याने प्रमाण कहते हैं। [इसके लिये पृष्ठ नं. २२१ पर चार्ट नं. ५ देखिये।]

संस्कृत पृष्ठ ६३, संस्कृत परिच्छेद नं. २७ →

[नैयायिकों के प्रमाणलक्षण की समीक्षा]

नैयायिक– 'प्रमा के प्रति जो करण है' वह प्रमाण है।

जैन– यह लक्षण भी प्रमादकृत-दोषयुक्त है क्योंकि आप नैयायिकादि द्वारा प्रमाणरूप में माने गये ईश्वर में ही वह लक्षण अव्याप्त है। महेश्वर प्रमा का अधिकरण तो है, लेकिन करण नहीं है (नित्यत्व के करणत्व असंभव होने से) और यह अनुक्त उपालम्भ (भी) नहीं है क्योंकि यौग अग्रेसर उदयन ने ऐसा कहा है कि 'तन्मे प्रमाणं शिवः' अर्थात् वह ईश्वर (शिव) मुझे प्रमाण है।

उस अव्याप्ति दोष से बचने के लिये (वे पुनः अर्थ बदलते हैं) कोई बालिश (माधवाचार्य) कहते हैं-

नैयायिक–जो प्रमा (ज्ञान) का साधन है अथवा प्रमा (ज्ञान) का अधिकरण होने पर प्रमा से जो व्याप्त है, वह प्रमाण है।

जैन–यह आपका कथन भी योग्य नहीं है क्योंकि ज्ञान के करणसाधन अथवा अधिकरणसाधन

में से किसी एक को प्रमाण मानने पर लक्षण की परस्पर में अव्याप्ति होती है।

विशेषार्थ– नैयायिकादिकों ने करणसाधन और अधिकरणसाधन को सर्वथा भिन्न माना है।

नैयायिकादि– 'प्रमा याने ज्ञान के प्रति जो करण है' वह प्रमाण है।

जैन–यह प्रमाण का लक्षण भी दोषयुक्त है क्योंकि आप नैयायिकादि द्वारा प्रमाणरूप में माने गये ईश्वर में ही वह लक्षण अव्याप्त है- महेश्वर प्रमा याने ज्ञान का अधिकरण तो है लेकिन करण नहीं है।

[कुछ अज्ञानी लोग 'अर्हन्त ही मुझे प्रमाण है' ऐसा मानते हैं, वह भी भूल है। उसी तरह 'सम्मेदशिखरजी अथवा सिद्धक्षेत्र अथवा अतिशयक्षेत्र मुझे प्रमाण है' वह भी भूल है। उसी तरह 'पंडित या पण्डिता या मुनि या अन्य कोई व्यक्तिविशेष मुझे प्रमाण है' वह भी भूल है। उसी तरह 'वज्रऋषभनाराचसंहनन मुझे प्रमाण है' वह भी भूल है। उसी तरह 'समचतुरस्रसंस्थान या व्यक्तिमत्त्व मुझे प्रमाण है' वह भी भूल है। उसी तरह 'बहुत भीड़ मुझे प्रमाण है', वह भी भूल है।]

नैयायिक– 'जो प्रमा याने ज्ञान का साधन है अथवा प्रमा याने ज्ञान का अधिकरण है, वह प्रमाण है' ऐसा मानेंगे।

जैन–यह आपका कथन योग्य नहीं है क्योंकि ज्ञान के करणसाधन अथवा अधिकरणसाधन में से किसी एक को प्रमाण मानने पर लक्षण की परस्पर में अव्याप्ति होती है। ज्ञान का करणसाधनरूप जब प्रमाण का लक्षण किया जायेगा तब 'ज्ञान का अधिकरणरूप प्रमाण लक्ष्य में' करणसाधनरूप लक्षण नहीं रहेगा, और जब ज्ञान का अधिकरणरूप प्रमाण का लक्षण माना जायेगा तब 'ज्ञान के करणसाधनरूप प्रमाण लक्ष्य में' अधिकरणसाधनरूप लक्षण घटित नहीं होगा। तथा ज्ञान का करणसाधन और अधिकरणसाधन दोनों को सभी लक्ष्यों का लक्षण माना जाय तो कहीं भी लक्षण नहीं जायेगा। सन्निकर्ष आदि केवल करणसाधन हैं, प्रमाण के अधिकरण नहीं हैं; और ईश्वर केवल (खालिस) ज्ञान का आश्रय याने अधिकरण है, प्रमा (ज्ञान) का करणसाधन नहीं है; क्योंकि ईश्वर का ज्ञान नित्य है। 'ज्ञान का करणसाधन भी हो और ज्ञान का अधिकरण भी हो' ऐसा कोई प्रमाण लक्ष्य नहीं है। इसलिये नैयायिकादिकों का भी उक्त लक्षण सुलक्षण नहीं है।

संस्कृत पृष्ठ नं. ६४, संस्कृत परिच्छेद नं. २८→

दूसरों के द्वारा माने गये और भी प्रमाण के सामान्य लक्षण हैं। (जैसे सांख्यादि 'इन्द्रियव्यापार' को प्रमाण का लक्षण मानते हैं। जरन्नैयायिकादि 'कारकसाकल्य' को प्रमाण मानते हैं, आदि। लेकिन) वे सब विचार करने पर सुलक्षण सिद्ध नहीं होते। इसलिये उनकी यहाँ उपेक्षा कर दी गयी है।

इसलिये यह निष्कर्ष सिद्ध हुआ कि 'स्व तथा पर का प्रकाश करनेवाला सविकल्प और अपूर्वार्थग्राही (अगृहीतग्राही) सम्यग्ज्ञान ही पदार्थों के अज्ञान को नष्ट करने में समर्थ है, इसलिये प्रमाण है' इस तरह आर्हत् मत है।

विशेषार्थ–दूसरों के द्वारा माने गये प्रमाण के अन्य लक्षण हैं, लेकिन वे योग्य लक्षण नहीं हैं।

सांख्यादि– हम 'इन्द्रियव्यापार' को प्रमाण का लक्षण कहते हैं।

जैन–यह आपका कथन ठीक नहीं है, क्योंकि इन्द्रिय अचेतन है। अचेतन इन्द्रिय जानने का साधकतम साधन नहीं है।

सिद्ध भगवान अशरीरी हैं, इन्द्रियाँ नहीं हैं तो भी वे सब जानते हैं। अर्हन्त भगवान सब जानते हैं, लेकिन इन्द्रिय तथा मन का व्यापार नहीं है। **शुद्धात्मानुभव करते समय छद्मस्थ जीव का भी इन्द्रियव्यापार नहीं रहता है।**

अन्नैयायिकादि– हम 'कारकसाकल्य' को प्रमाण कहते हैं।

कार्य–आँख से सफेद वर्ण जाना।

उपादान	निमित्त			साधकतम साधन अथवा कर्ता
१००% ज्ञान की परिणति है।	आँख १००% है।	ज्ञेय सफेद वस्तु १००% है।	इत्यादि १००% है।	उपादान १००% + निमित्त १००% मिलकर कार्य होता है।

असद्भूतव्यवहारनय (उपादान, निमित्त) — निश्चयनय (साधकतम साधन अथवा कर्ता)

जैन–यह आपका कथन योग्य नहीं है, क्योंकि ज्ञान ही जानने का साधकतम साधन अथवा कर्ता है, निमित्त अकिञ्चित्कर है। जैसे-

कार्य–सफेद वर्ण जाना।

उपादान	निमित्त			साधकतम साधन अथवा कर्ता
१००% ज्ञान की परिणति है।	आँख १००% है।	ज्ञेय सफेद वस्तु १००% है।	इत्यादि १००% है।	उपादान १००% है। निमित्त– (१) आँख – ०% है। (२) ज्ञेय – ०% है। (३) इत्यादि – ०% है।

असद्भूतव्यवहारनय (उपादान, निमित्त) — निश्चयनय (साधकतम साधन अथवा कर्ता)

इसलिये यह निष्कर्ष सिद्ध हुआ कि '**स्व तथा पर' को जाननेवाला सविकल्प (साकार) और अपूर्वार्थग्राही सम्यग्ज्ञान ही पदार्थों के अज्ञान को नष्ट करने में समर्थ है, इसलिये प्रमाण है।**

	ज्ञानपर्याय	विषय
स्व	पर/अर्थ	
मैं	सफेद/वस्तु को जानता हूँ।	सफेद वस्तु

	ज्ञानपर्याय	विषय
स्व	पर/अर्थ	
मैं	निजध्रुवचिदात्मा को जानता हूँ।	निजध्रुवचिदात्मा

शंका– यहाँ ज्ञानपर्याय को सविकल्प कहा है, फिर अन्यत्र प्रवचनसार में और समयसार आदि में शुद्धध्यान या शुद्धात्मानुभव को निर्विकल्प ज्ञान कहा है, वह कैसे?

समाधान–श्री कुंदकुंदाचार्यजी **प्रवचनसार-गाथा नं. १२४** में कहते हैं कि, '**णाणं अट्ठवियप्पो**' याने अर्थविकल्प (अर्थात् स्व-पर को जाननेवाला) वह ज्ञान है।

उस गाथा की टीका में **श्री अमृतचंद्राचार्यजी** कहते हैं कि– ''**अर्थविकल्पः तावत् ज्ञानम्। तत्र कः खलु अर्थः, स्वपरविभागेन अवस्थितं विश्वं, विकल्पः तदाकारावभासनम्। यः तु मुकुरुन्दहृदयाभोग इव युगपदवभासमानस्वपराकारः अर्थविकल्पः तद् ज्ञानम्।**''

अर्थ :– अर्थविकल्प वह ज्ञान है। वहाँ अर्थ याने क्या? स्व-पर के विभाग से अवस्थित विश्व वह अर्थ है। उसके आकारों का अवभासन होना वह विकल्प (विचार) है; और दर्पण के निज विस्तार की भांति (अर्थात् जैसे दर्पण के निज विस्तार में स्व और पर आकार एक ही साथ प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार) जिसमें एक ही साथ स्व-पर आकार अवभासित होते हैं, ऐसा अर्थविकल्प वह ज्ञान है।

इसलिये जो-जो ज्ञानपर्याय है, वह विकल्प याने साकार अथवा विचार है।

'जब एकत्वविभक्तनिजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा' को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष जानते हैं, तब जो निर्विकल्प ज्ञानपर्याय (शुद्धात्मानुभवपर्याय या शुद्धध्यानपर्याय) है, उस ज्ञानपर्याय में 'एकत्वविभक्तनिजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा' का विचार याने विकल्प याने साकार है, निर्विचार नहीं है।

देखिये– **समयसार-गाथा नं. २९२ (आत्मख्याति)** की **श्री जयसेनाचार्यरचित तात्पर्यवृत्ति और बृहद्द्रव्यसंग्रह-गाथा नं. ४२** की श्री **ब्रह्मदेवरचित** व्याख्या में–

''**तथा स्वशुद्धात्मसंवित्तिरूपं वीतरागस्वसंवेदनज्ञानं अपि स्वसंवित्त्याकारैकविकल्पेन सविकल्पं अपि बहिर्विषयानीहितसूक्ष्मविकल्पानां सद्भावे अपि सति तेषां मुख्यत्वं नास्ति तेन कारणेन निर्विकल्पं अपि भण्यते।**''

अर्थ :– उसी प्रकार स्वशुद्धात्मा के संवेदनरूप वीतरागस्वसंवेदनज्ञान भी स्वसंवित्तिरूप याने निजध्रुवशुद्धचिदात्मा का आकारवाला ज्ञान **एक दृष्टि से सविकल्प भी है**, वहाँ बाह्यविषयों के अनिच्छित (अबुद्धिपूर्वक) सूक्ष्मविकल्पों का सद्भाव होते हुए भी उन विकल्पों की मुख्यता नहीं है, इस कारण से **निर्विकल्प ज्ञान** भी कहा गया है।

इस प्रकार **श्रीपरमार्हताचार्य धर्मभूषणयतिविरचित न्यायदीपिका** में **प्रमाणसामान्यलक्षण** का प्रकाश करनेवाला पहला प्रकाश पूर्ण हुआ।

❖❖

ॐ

द्वितीय अध्याय

प्रत्यक्षप्रकाश

संस्कृत पृष्ठ नं. ६५, संस्कृत परिच्छेद नं. १ →

[प्रमाण को दो प्रकार से विभाजित करके प्रत्यक्ष का लक्षण कहते हैं।]

अब प्रमाणविशेष का स्वरूप बताने के लिये यहाँ कथन किया जाता है।

प्रमाण के दो भेद हैं– (१) प्रत्यक्ष और (२) परोक्ष। उसमें से–

विशद प्रतिभास को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। यहाँ 'प्रत्यक्ष' लक्ष्य है और 'विशद प्रतिभासत्व' लक्षण है। इसका भावार्थ यह है कि, जिस प्रमाणभूत ज्ञान का प्रतिभास विशद है, वह प्रत्यक्ष ज्ञान है।

विशेषार्थ–ज्ञानपर्याय के दो भेद हैं–(१) प्रत्यक्ष ज्ञान और (२) परोक्ष ज्ञान। इससे यह निर्णय होता है कि, जब किसी वस्तु को जान रहा है तब यदि परोक्ष ज्ञान से नहीं जानता है तो प्रत्यक्ष ज्ञान से जानता है। अथवा जब परोक्ष ज्ञान से जानता है, तब प्रत्यक्ष ज्ञान से नहीं जानता है।

परोक्ष ज्ञान तथा प्रत्यक्ष ज्ञान ये ज्ञान के पर्यायधर्म हैं, चारित्र के पर्यायधर्म नहीं हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान और परोक्ष ज्ञान शरीर की क्रिया नहीं है।

प्रत्यक्ष ज्ञानपर्याय :– विशद प्रतिभास याने स्पष्टज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञानपर्याय कहते हैं।

यहाँ 'प्रत्यक्ष' लक्ष्य है। (जिसका लक्षण किया जाता है, वह लक्ष्य है।) और विशद प्रतिभासत्व लक्षण है। अर्थात् जिस प्रमाणभूत ज्ञान की प्रतीति विशद है, वह प्रत्यक्ष ज्ञानपर्याय है।

संस्कृत पृष्ठ नं. ६५-६६, संस्कृत परिच्छेद नं. २ →

शंका– 'विशद प्रतिभासत्व' किसे कहते हैं?

समाधान–ज्ञानावरण कर्म के क्षय से अथवा विशिष्ट क्षयोपशम से उत्पन्न होनेवाला और शब्द तथा अनुमानादि ज्ञानों में असंभवरूप जो अनुभवसिद्ध नैर्मल्य (निर्मलत्व) है, वही नैर्मल्यत्व (निर्मलत्व याने निर्मलपना) 'विशदप्रतिभासत्व' है। किसी आप्त (प्रामाणिक) पुरुष के 'अग्नि है' इस प्रकार के वचन से; और 'यह प्रदेश अग्निमय है, क्योंकि धुआँ है' इस प्रकार के धूमादि लिंग से उत्पन्न हुए ज्ञान की अपेक्षा 'यह अग्नि है' इस प्रकार से उत्पन्न इन्द्रिय ज्ञान में विशेषता देखी जाती है। वह विशेषता ही निर्मलता, विशदता और स्पष्टता इत्यादि शब्दों द्वारा कही जाती है। भगवान अकलंकदेव आचार्यजी ने भी 'न्यायविनिश्चय' ग्रंथ में कहा है कि–

'स्पष्ट, यथार्थ और सविकल्प ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान का लक्षण कहा है।' इसका व्याख्यान

स्याद्वादविद्यापति श्री वादिराजाचार्यजी ने 'न्यायविनिश्चयविवरण' में इस प्रकार किया है कि, 'निर्मल प्रतिभासत्व ही स्पष्टत्व है' और यह सभी परीक्षकों के अनुभव में आता है तथा वह किसी प्रकार से बाधित नहीं होता है। इसलिये 'विशद प्रतिभासात्मक ज्ञान को जो प्रत्यक्ष कहा है' वह बिल्कुल ठीक कहा है।

विशेषार्थ–शंका–यह विशद प्रतिभासपना याने क्या है?

समाधान–लोक में कहा जाता है कि, 'आँखों से देखने में और कान से सुनने में चार उँगलियों का भेद (फर्क) है'। अर्थात् आँखों से जो जाना गया वह निर्मल है; और शब्दों को सुनकर जो जाना गया है उसमें वह विशेषता (निर्मलता) नहीं है। विशिष्ट अविभागप्रतिच्छेदों की रचना से उत्पन्न होनेवाला और 'शब्द सुनकर' उत्पन्न होनेवाले ज्ञान में असंभवरूप जो अनुभवसिद्ध निर्मलत्व है, वही निर्मलपना 'विशद प्रतिभासत्व' है। जैसे किसी आप्त (प्रामाणिक) पुरुष के 'अग्नि है' इस प्रकार के शब्दों (वचन) से उत्पन्न हुए ज्ञान की अपेक्षा 'यह अग्नि है' इस प्रकार के उत्पन्न इन्द्रियज्ञान में विशेषता देखी जाती है। वह विशेषता ही निर्मलता, विशदता और स्पष्टता इत्यादि शब्दों द्वारा कही जाती है।

विशिष्ट अविभागप्रतिच्छेदों की रचना से उत्पन्न होनेवाला और अनुमान ज्ञान में असंभवरूप जो अनुभवसिद्ध निर्मलत्व है, वही निर्मलपना 'विशद प्रतिभासत्व' है। जैसे 'यह प्रदेश अग्निवाला है, क्योंकि धुआँ है' इस प्रकार के धूमादि लिंग (चिह्न) से उत्पन्न हुए ज्ञान की अपेक्षा 'यह अग्नि है' इस प्रकार से उत्पन्न इन्द्रियज्ञान में विशेषता देखी जाती है। वह विशेषता ही निर्मलता, विशदता और स्पष्टता इत्यादि द्वारा कही जाती है।

विशिष्ट अविभागप्रतिच्छेदों की रचना से उत्पन्न होनेवाला और स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगम अथवा नयादि ज्ञानों में असंभवरूप जो अनुभवसिद्ध नैर्मल्य (निर्मलत्व) है, वही निर्मलत्व, विशद प्रतिभासत्व या स्पष्टत्व है।

'एकत्वविभक्त निजात्मा' को उपदेश के द्वारा जानते हैं तब शब्द या वचन या नय द्वारा जानते हैं, उस ज्ञान की अपेक्षा **'यह एकत्वविभक्त निजात्मा मैं हूँ'** इस प्रकार के एकदेश अतीन्द्रियज्ञान में अथवा सर्वदेश अतीन्द्रियज्ञान में विशेषता है। पृष्ठ नं. २०७ पर चार्ट नं. १४ देखिये।

'एकत्वविभक्त निजात्मा' को स्मरण से जानते हैं, उस ज्ञान की अपेक्षा **'यह एकत्वविभक्त निजात्मा मैं हूँ'** इस प्रकार के एकदेश अतीन्द्रियज्ञान में अथवा सर्वदेश अतीन्द्रियज्ञान में विशेषता है।

'एकत्वविभक्त निजात्मा' को प्रत्यभिज्ञानवाली युक्ति से अथवा तर्कज्ञानवाली युक्ति से अथवा अनुमानज्ञानवाली युक्ति से जानते हैं, उन ज्ञानों की अपेक्षा **'यह एकत्वविभक्त निजात्मा मैं हूँ'** इस प्रकार के एकदेश अतीन्द्रियज्ञान में अथवा सर्वदेश अतीन्द्रियज्ञान में विशेषता याने निर्मलता है।

संस्कृत पृष्ठ नं. ६६, संस्कृत परिच्छेद नं. ३→

[बौद्धों के या विपश्यना ध्यान के प्रत्यक्षलक्षणपने का निराकरण]

सौगत [ताथागत/बौद्ध] – 'कल्पना अपोढ अभ्रान्तज्ञान' को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। यहाँ 'कल्पना अपोढ' शब्दों से सविकल्पक (विचार) की व्यावृत्ति की गयी है, 'अभ्रान्त' शब्द से आभासज्ञान (मिथ्याज्ञान) की व्यावृत्ति की गयी है; और उससे प्रत्यक्ष ज्ञान (अथवा अनुभूति अथवा विपश्यना ध्यान) यह समीचीन निर्विकल्पक (निर्विचार) है, यह कथन समीचीन है।

जैन– यह आपका कथन बालचेष्टा याने अज्ञान है; **क्योंकि निर्विकल्पक याने निर्विचार ज्ञान (या विपश्यना ध्यान) का प्रामाण्य ही दुर्लभ है, क्योंकि वह संशयादिरूप समारोप का अविरोधी है। इससे**

निर्विकल्पक (निर्विचार) ज्ञान में प्रत्यक्षपना कैसे शक्य है अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान (अथवा विपश्यना ध्यान) प्रत्यक्ष ज्ञान (अथवा शुद्धध्यान) नहीं है क्योंकि व्यवसायात्मक (विचार याने सविकल्प) ज्ञान में ही प्रामाण्य की व्यवस्था सिद्ध है।

विशेषार्थ–बौद्धादि– कल्पना याने विचार, अपोढ याने रहित; 'कल्पना अपोढ अभ्रान्त ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान या अनुभूति या शुद्धज्ञान या विपश्यना ध्यान कहते हैं। अर्थात् विचार रहित अथवा निर्विचार अभ्रान्त ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं।

जैन–यह आपका कथन योग्य नहीं है क्योंकि निर्विकल्प याने निर्विचार ज्ञान या विपश्यना ध्यान में अभ्रान्त या प्रामाण्य ही नहीं है क्योंकि निर्विचार याने जानकारी नहीं हुई; इसलिये संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और अज्ञान का नाश नहीं होता है। जब निर्विकल्प याने विचार रहित याने जानकारी रहित है तब वह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है और वह परोक्ष ज्ञान भी नहीं है क्योंकि व्यवसायात्मक (याने विचार याने सविकल्प) ज्ञान में प्रामाण्य की व्यवस्था है। जहाँ जाना ही नहीं गया वहाँ अज्ञान है, मिथ्याज्ञान है।

शुद्धध्यान में अथवा शुद्धात्मानुभव में '**एकत्वविभक्त निजात्मा (निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा)**' का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष जानना है।

संस्कृत पृष्ठ नं. ६६-६७, संस्कृत परिच्छेद नं. ४→

बौद्धादि–निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रत्यक्षप्रमाण है क्योंकि निर्विकल्पक ज्ञान अर्थ से उत्पन्न होता है और निर्विकल्पक ज्ञान ही परमार्थसत् स्वलक्षणजन्य है, लेकिन सविकल्पक ज्ञान ऐसा नहीं है क्योंकि उस सविकल्पक ज्ञान में अपरमार्थभूत सामान्य का विषयपना होने से अर्थजत्व का अभाव है।

जैन–आपका यह कथन योग्य नहीं है क्योंकि जिस तरह प्रकाश से ज्ञानपर्याय की उत्पत्ति नहीं होती है, उसी तरह अर्थ से (ज्ञेय वस्तु से) ज्ञानपर्याय की उत्पत्ति नहीं होती है। इसका खुलासा इस प्रकार है–

अन्वय (कारण के होने पर कार्य का होना) और व्यतिरेक (कारण के अभाव में कार्य का न होना) से कार्य-कारणभाव जाना जाता है। इस व्यवस्था के अनुसार 'प्रकाश' ज्ञान का कारण नहीं है, क्योंकि प्रकाश के अभाव में भी रात्रि में विचरनेवाले बिल्ली, चूहे, उल्लु आदि को ज्ञान की उत्पत्ति होती है; और प्रकाश के सद्भाव में भी उल्लु आदि को ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है। उस प्रकाश की तरह अर्थ (ज्ञेय वस्तु) भी ज्ञान की उत्पत्ति में कारण नहीं है क्योंकि अर्थ के अभाव में भी केशमशकादि ज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिये ज्ञान अर्थजन्य कैसे हो सकता है? अर्थात् ज्ञान अर्थजन्य नहीं हो सकता है। परीक्षामुखसूत्र ग्रंथ में भी कहा है– 'अर्थ और प्रकाश ज्ञान के कारण नहीं हैं' (अध्याय २, सूत्र-६) और बात यह है कि 'प्रमाणता में कारण अर्थ-अव्यभिचार है ('ज्ञेय वस्तु जैसी है वैसी ही जानना' इसके साथ प्रामाण्य का नियामक या अविनाभाव संबंध है), लेकिन अर्थजन्यत्व से (पदार्थ/ज्ञेय वस्तु से उत्पन्न होने के साथ) प्रामाण्य का नियामक संबंध नहीं है। आपके मत में भी स्वसंवेदन को प्रत्यक्ष विषयजन्य न होने पर भी प्रमाण माना गया है। (यहाँ यह नहीं कहा जा सकता है कि 'स्वसंवेदन प्रत्यक्ष चूंकि अपने से उत्पन्न होता है, इसलिये वह भी विषयजन्य ही है) क्योंकि कोई भी वस्तु अपने से ही उत्पन्न नहीं होती किन्तु अपने से भिन्न कारणों से ही उत्पन्न होती है।

विशेषार्थ–बौद्ध अथवा अन्य– 'निर्विकल्पज्ञान याने निर्विचार' को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं; और निर्विकल्पज्ञान अर्थ (पदार्थ) से उत्पन्न होता है (अर्थ याने ज्ञेय वस्तु से ज्ञान की उत्पत्ति होती है)। निर्विकल्पज्ञान (याने

निर्विचार अथवा शुद्धध्यान अथवा शुद्धधर्म अथवा विपश्यना ध्यान) ही परमार्थसत् है तथा निर्विकल्पज्ञान ही स्वलक्षणजन्य है, लेकिन सविकल्प नहीं (याने निर्विकल्पज्ञान या विपश्यना ध्यान विचार रहित है); और जो सविकल्पज्ञान है, उसमें अपरमार्थभूत सामान्य का विषय होने से अर्थजत्व (पदार्थ से उत्पन्नत्व) का अभाव है।

[बौद्ध अथवा अन्य कोई लोग वस्तु को क्षणिक मानते हैं, केवल उत्पाद-व्यय मानते हैं, ध्रुव अंश नहीं मानते। पृष्ठ नं. २२३ चार्ट नं. ८ में 'घ' देखिये।

क्रमांक	आगमभाषा (वस्तु में क्या-क्या है और कैसी व्यवस्था है)		अध्यात्मभाषा (परम आनंद, शांति के लिये क्या करना)
घ	वस्तु में ध्रुव या सामान्य नहीं है।	वस्तु उत्पन्न होती है और स्वयमेव नष्ट होती है, क्षणिक सत् है।	शान्ति के लिये 'ध्रुव कुछ भी नहीं है, यह सब क्षणिक है, चित्क्षण (चेतनपर्याय) उत्पन्न होता है और स्वयमेव नष्ट होता है, उसको साक्षीभाव से जानो अथवा शून्य हो जाओ।' अथवा 'यह अनित्य है, ऐसा जानकर उसका विचार न करना याने सर्वथा विचार रहित बनो।' 'वस्तु शाश्वत है' ऐसा जानना अपरमार्थ है।]

जैन – आपका यह कथन योग्य नहीं है क्योंकि जिस तरह प्रकाश से ज्ञानपर्याय की उत्पत्ति नहीं होती है, उसी तरह अर्थ से (ज्ञेय वस्तु से) ज्ञानपर्याय की उत्पत्ति नहीं होती है। इसका स्पष्टीकरण- अन्वय (कारण के होनेपर कार्य का होना) और व्यतिरेक (कारण के अभाव में कार्य का न होना) से कार्य-कारणभाव जाना जाता है। इस व्यवस्था के अनुसार प्रकाश ज्ञानपर्याय में कारण नहीं है क्योंकि प्रकाश के अभाव में भी रात्रि में विचरनेवाले बिल्ली, चूहे आदि को ज्ञानपर्याय की उत्पत्ति होती है और प्रकाश के सद्भाव में भी उल्लू वगैरह को ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है। इस प्रकाश की तरह अर्थ (ज्ञेय वस्तु) भी ज्ञान की उत्पत्ति में कारण नहीं है; क्योंकि अर्थ (ज्ञेय वस्तु) के अभाव में भी केशमशकादि ज्ञान उत्पन्न होता है।

'पदार्थ (ज्ञेय वस्तु) से ज्ञान उत्पन्न होता है, इसलिये ज्ञान में प्रमाणता आती है' यह कथन योग्य नहीं है; क्योंकि **ज्ञेय वस्तु जैसी है, वैसी जानना इसके साथ प्रामाण्य का संबंध है।**

जब कोई कहता है कि, 'मेरी बेटी का ससुराल नजदीक हो तो ठीक'। इसमें भी उस जीव ने 'ज्ञेय वस्तु से ज्ञान की उत्पत्ति होती है' ऐसा माना है, यह भूल है।

'बच्चे की या पिता की या माता की या पत्नी की या गुरु की फोटो हो तो ज्ञान होता है' इसमें भी ज्ञेय वस्तु से ज्ञान की उत्पत्ति होती है, ऐसी मान्यता है; वह भी भूल है।

'भगवान की या अर्हन्त की मूर्ति हो तो सामायिक या ध्यान होता है' इसमें भी ज्ञेय वस्तु से ज्ञान या ध्यान की उत्पत्ति होती है तथा मूर्ति न हो तो सामायिक या ध्यान नहीं होता, ऐसी मान्यता है; वह भी भूल है।

'ज्ञेय वस्तु से ज्ञान की उत्पत्ति होती है' ऐसी मान्यता से परिग्रह की वृद्धि करता है अथवा परिग्रह की इच्छा होती है।

ज्ञेय वस्तु अथवा प्रकाश अथवा गुरु आदि पदार्थ ज्ञान की या ध्यान की उत्पत्ति में साधकतम कारण नहीं हैं। **यह सम्यक् वस्तु-व्यवस्था जानने से परिग्रह की इच्छा नष्ट होती है।** मेरा ज्ञान ज्ञेय के आधीन नहीं है।

बौद्ध के मत में भी—

स्व अर्थ/पर

मैं	नील जानता हूँ

↑

इस 'स्वसंवेदन' को प्रत्यक्ष ज्ञान माना है और वह 'स्वसंवेदन प्रत्यक्ष विषय (ज्ञेय/अर्थ) से उत्पन्न न होने पर भी बौद्ध के द्वारा प्रमाण माना गया है।

कोई-कोई लोग ऐसा कहते हैं कि, "आगे का तथा पीछे का कुछ मालूम नहीं; जो अभी वर्तमान में है वही सत्य है, अनाद्यनन्त या शाश्वत कुछ नहीं याने सामान्य नित्य ऐसा कुछ नहीं है, उस 'नित्यसामान्य' का विचार करना भ्रान्ति है"। लेकिन उनका कथन अयोग्य है क्योंकि आगमभाषा से वस्तु नित्य-ध्रुव-शाश्वत होकर अवस्थारूप परिणमन करती है। देखिये **चार्ट नं. ८→**

क्रमांक	आगमभाषा		अध्यात्मभाषा	फल
क	स्यात् नित्य है।	स्यात् क्षणिक है।	मेरी आत्मा शाश्वतशुद्ध-ज्ञानदर्शनमय है।	सम्यक्त्व है।

इस तरह सम्यक् वस्तुस्वरूप जानने से परमानंद की प्राप्ति होती है।

संस्कृत पृष्ठ ६७, संस्कृत परिच्छेद नं. ५→

बौद्धादि–यदि ज्ञान अर्थ (ज्ञेय वस्तु) से उत्पन्न नहीं होता तो वह उस अर्थ (ज्ञेय वस्तु) का प्रकाशक कैसे होता है?

जैन– भो आयुष्यमान्! दीपक घटादि पदार्थों से उत्पन्न नहीं होता फिर भी दीपक घटादि का प्रकाशक है, यह देखकर आपको सन्तोष कर लेना चाहिये।

बौद्धादि– ज्ञान का विषय (ज्ञेय या ध्येय या अर्थ) के साथ यह प्रतिनियम कैसे बनेगा कि घटज्ञान का घट ही विषय है, पट नहीं? अर्थजत्व ही विषयप्रतिनियम का कारण है, क्योंकि इस ज्ञेय वस्तु से ज्ञान उत्पन्न हुआ है, इसलिये इसी ज्ञेय वस्तु को ही ज्ञान जानता है (अन्य ज्ञेय वस्तु से ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ है, इसलिये अन्य ज्ञेय वस्तु को नहीं जानता); लेकिन ऐसा आप मानते नहीं?

जैन– योग्यता ही विषयप्रतिनियम का कारण है।

शंका– योग्यता याने क्या?

जैन–स्वावरणक्षयोपशम को योग्यता कहते हैं। माणिक्यनंदी आचार्यरचित परीक्षामुखसूत्र ग्रंथ (अध्याय २, सूत्र ९) में कहते हैं कि, 'स्वावरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यता के द्वारा प्रतिनियत अर्थ की व्यवस्था होती है।'

विशेषार्थ– बौद्ध या अन्य कोई– इस चौकी को जाननेवाला ज्ञान इस चौकी से ही उत्पन्न होता है; इस

घट को जाननेवाला ज्ञान इस घट से ही उत्पन्न होता है; वस्त्र को जाननेवाला ज्ञान वस्त्र से ही उत्पन्न होता है; इसलिये ही पदार्थों का परिग्रहण करते हैं, संरक्षण करते हैं। यदि ज्ञान ज्ञेय वस्तु से उत्पन्न नहीं होता है तो ज्ञान इस ही ज्ञेय वस्तु को जानता है, अन्य को नहीं जानता है, यह कैसे सिद्ध होगा?

जैन–भो आयुष्मान्! जिस तरह दीपक घटादि पदार्थों से उत्पन्न नहीं होता है फिर भी दीपक घटादि का प्रकाशक है, उसी तरह ज्ञान ज्ञेय वस्तुओं से उत्पन्न नहीं होता है फिर भी ज्ञान ज्ञेय वस्तु को जानता है, यह जानकर आपका संतोषजनक समाधान हो जायेगा।

बौद्ध या अन्य कोई– 'ज्ञान ज्ञेय वस्तु से उत्पन्न होता है इसलिये अर्थजत्व को ज्ञान में विषय का प्रतिनियामक कारण है ऐसा हम मानते हैं; और जिस ज्ञेय वस्तु से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी को विषय करता है, अन्य को विषय नहीं करता है, इस प्रकार व्यवस्था हम मानते हैं; लेकिन उसे आप नहीं मानते हैं तो फिर ज्ञान का विषय के साथ यह प्रतिनियम कैसे बनेगा कि घटज्ञान का विषय घट ही है, पट नहीं?'

जैन– 'योग्यता' ही विषयप्रतिनियम का कारण है।

अर्थात् **कार्य होने की उस समय की योग्यता होती है।** याने **अविभागप्रतिच्छेद की** अथवा **अविभागप्रतिच्छेदों की रचना होने की उस समय की पर्याय की योग्यता होती है,** उससे कार्य होता है। यह नियम **आकाशद्रव्य** की पर्याय होते समय भी है। उसी तरह **धर्मद्रव्य** की पर्याय होते समय भी वही नियम है। उसी तरह **अधर्मद्रव्य** की पर्याय होते समय भी वही नियम है। उसी तरह **कालाणु द्रव्य** की पर्याय होते समय '**योग्यता याने अविभागप्रतिच्छेदों की रचना होने की योग्यता**' का नियम है। उसी तरह **पुद्गलद्रव्य** की पर्याय होते समय 'योग्यता' का नियम है। **जीवद्रव्य** की पर्याय होते समय '**उस समय की योग्यता**' का नियम है।

उसी तरह गुण की पर्याय होते समय '**योग्यता**' का नियम है। उसी तरह ज्ञानगुण की ज्ञानपर्याय होते समय योग्यता का नियम है। इसलिये '**योग्यता**' ही विषयप्रतिनियमकारण है। ज्ञानपर्याय में 'अहं या मैं या स्व' का संवेदन होने की 'योग्यता' ही विषय प्रतिनियम का कारण है। उसी तरह अर्थ या पर या ज्ञेय या ध्येय को जानने की 'योग्यता याने अविभागप्रतिच्छेदों की रचना होने की योग्यता' विषयप्रतिनियम का कारण है, उसी समय विशिष्ट-विशिष्ट विषय के आवरणकर्मों का क्षयोपशम या क्षय होता है।

केवलज्ञान की प्रथम पर्याय होते समय विशिष्ट अविभागप्रतिच्छेदों की रचना होती है, उसी समय सर्व ज्ञानावरण द्रव्यकर्मों का क्षय होता है। केवलज्ञान की द्वितीय पर्याय होते समय विशिष्ट अविभागप्रतिच्छेदों की रचना होती है, उसी समय द्रव्यकर्मों का सद्भाव ही नहीं था इसलिये द्रव्यकर्मों के क्षय का प्रसंग नहीं है। उसी तरह केवलज्ञान की तृतीय पर्याय होते समय विशिष्ट अविभागप्रतिच्छेदों की रचना होती है। उसी तरह आगे-आगे की पर्यायों में समझ लेना चाहिये।

छद्मस्थ जीवों में जिस विषय का ज्ञान होता है उस विषय के बारे में विशिष्ट अविभागप्रतिच्छेदों की रचना होती है, उसी समय उस विषय के बारे में ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है; और यदि उस विषय को **प्रत्यक्ष** जानता है तो प्रत्यक्षस्वरूप के अविभागप्रतिच्छेदों की रचना की योग्यता होती है, उसी समय प्रत्यक्षस्वरूप के ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है; और यदि उस विषय को **परोक्ष** जानता है तो परोक्षस्वरूप के अविभागप्रतिच्छेदों की रचना की योग्यता होती है, उसी समय परोक्षस्वरूप के ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है; और यदि **प्रामाण्यरूप** से जानता हो तो प्रामाण्यस्वरूप के अविभागप्रतिच्छेदों की रचना की योग्यता होती है, उसी समय प्रामाण्यस्वरूप के ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है; और यदि **अप्रामाण्यरूप** से जानता है तो अप्रामाण्यस्वरूप के अविभागप्रतिच्छेदों की रचना की योग्यता होती है, उसी समय अप्रामाण्यस्वरूप के ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है।

जिस प्रकार का **मतिज्ञान** हो उसी प्रकार के मतिज्ञानस्वरूप के अविभागप्रतिच्छेदों की रचना की योग्यता होती है, उसी समय उसी प्रकार के ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है। उसी तरह **श्रुतज्ञान** में या **अवधिज्ञान** में या **मन:पर्ययज्ञान** में भी समझ लेना चाहिये। उसी तरह **स्मृतिमतिज्ञान** या **स्मृतिश्रुतज्ञान** या **प्रत्यभिज्ञानमतिज्ञान** या **प्रत्यभिज्ञानश्रुतज्ञान** या **तर्कमतिज्ञान** या **तर्कश्रुतज्ञान** या **अनुमानमतिज्ञान** या **अनुमानश्रुतज्ञान** या **नयज्ञान** में भी समझ लेना चाहिये और यदि **उपयोगस्वरूप** जानना हो तो उपयोग स्वरूप का अथवा यदि **लब्धिस्वरूप** हो तो लब्धिस्वरूप का क्षयोपशम होता है। इसका विस्तार श्लोकवार्तिक में पढ़िये।

जब कोई मिथ्यादृष्टि जीव सम्यग्ज्ञानी का उपदेश सुनता है तब **सांव्यवहारिक कर्णेन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान होता है। उसके बाद उसका भावार्थरूप** ज्ञान होता है, वह प्रत्यभिज्ञानस्वरूप परोक्ष से जानता है याने देशना मिली याने **देशनालब्धि** प्राप्त हो गयी लेकिन 'एकत्वविभक्तनिजात्मा' को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष नहीं जानता है।

फिर उस देशना (उपदेश) का स्मरण करता है, लेकिन 'एकत्वविभक्तनिजात्मा' को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष नहीं जानता है।

फिर प्रत्यभिज्ञान से जानता है, लेकिन 'एकत्वविभक्तनिजात्मा' को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष नहीं जानता है।

फिर तर्कज्ञान से जानता है, लेकिन 'एकत्वविभक्तनिजात्मा' को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष नहीं जानता है।

फिर अनुमान से जानता है, लेकिन 'एकत्वविभक्तनिजात्मा' को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष नहीं जानता है।

प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान ज्ञानों को युक्तियाँ कहते हैं, परोक्षज्ञान कहते हैं। उस समय प्रायोग्यलब्धि तक आया है।

फिर 'एकत्वविभक्तनिजात्मा' का सविकल्पसंवेदन करता है लेकिन विशिष्ट प्रामाण्य प्रकट नहीं हुआ है, याने करणलब्धि में है। तब तक मिथ्याज्ञानी है।

फिर 'एकत्वविभक्तनिजात्मा' को प्रत्यक्ष जानता है, उसी समय विशिष्ट प्रामाण्य प्रकट होता है। तब सम्यग्ज्ञान पर्याय प्रकट होती है, उसी समय सम्यग्दर्शन है, समचारित्र है। [इस ही ग्रंथ के पृष्ठ नं. २२१ पर संदृष्टि देखिये]

जब 'एकत्वविभक्तनिजात्मा' को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्षज्ञान के द्वारा जानता है, तब उसी समय **'एकत्वविभक्तनिजात्मा'** के बारे में ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है, **प्रत्यक्षज्ञान** के बारे में ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है और **प्रामाण्य** के बारे में ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है; जब मतिज्ञान के द्वारा **उपयोगरूप** से जानता है तब **उपयोगरूप स्वानुभवमतिज्ञानावरण कर्म** का क्षयोपशम होता है तथा **लब्धिरूप स्वानुभवश्रुतज्ञानावरण कर्म** का क्षयोपशम होता है अथवा जब श्रुतज्ञान के द्वारा उपयोगरूप से जानता है तब **उपयोगरूप स्वानुभवश्रुतज्ञानावरणकर्म** का क्षयोपशम होता है तथा **लब्धिरूप स्वानुभवमतिज्ञानावरणकर्म** का क्षयोपशम होता है।

जिस समय 'एकत्वविभक्तनिजात्मा' को **प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष** जानता है, उसी समय समता प्रकट होती है।

देखिये – **प्रवचनसार-गाथा ८०-'जो जाणदि अरहंतं'** इत्यादि की श्री **जयसेनाचार्यविरचित तात्पर्यवृत्ति** टीका में लिखा है कि, "**...अविकल्पस्वरूपे प्राप्ते.... दर्शनमोहान्धकार: प्रलीयते।**"

अर्थ–अविकल्प (निर्विकल्प) आत्मानुभव प्राप्त होता है, उसी समय में दर्शनमोहान्धकार नष्ट होता है।

देखिये–श्री **समंतभद्राचार्यरचित देवागम स्तोत्र-कारिका नं. १०२– [परीक्षामुखसूत्र-अध्याय ५, सूत्र-१ अज्ञाननिवृत्ति: ... उपेक्षा: च फलम्।] " उपेक्षा फलं आद्यस्य...। ...अज्ञाननाश:... स्वगोचरे ॥१०२॥ "**

भावार्थ–जिस समय 'एकत्वविभक्तनिजात्मा' को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष जानता है, उसी समय उसके बारे में अज्ञान का नाश होता है तथा उसका फल उपेक्षा अर्थात् समता पर्याय प्रकट होती है।

देखिये धवल-पुस्तक नं. १, पृष्ठ नं. ५७ [तथा **पंचास्तिकायसंग्रह की श्री जयसेनाचार्य रचित तात्पर्यवृत्ति** की पीठिका में]

"तत्र साक्षात् प्रत्यक्षं अज्ञानविनाशः सज्ज्ञानोत्पत्तिः ... प्रतिसमयं असंख्यातगुणश्रेण्या कर्मनिर्जरा च।"

अर्थ– जिस समय 'एकत्वविभक्त निजात्मा' को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष जाननेवाली पर्याय की उत्पत्ति होती है उसी समय में उसके बारे में अज्ञान का नाश होता है, यह साक्षात् फल है और उस समय में असंख्यात गुणश्रेणी रूप से कर्म निर्जरा होती है।

और भी देखिये – **पंचाध्यायी– अध्याय २, श्लोक नं. २०३ और ४०७** →

"मत्याद्यावरणस्योच्चैः कर्मणोऽनुदयाद्यथा।
दृङ्मोहस्योदयाभावादात्मशुद्धोपलब्धिः स्यात् ॥२०३॥"

अर्थ–इसलिये ऐसा जानना चाहिये कि, जिस तरह मति आदि ज्ञानों के आवरण करनेवाले कर्मों के अनुदय से 'एकत्वविभक्तनिजात्मा' की शुद्ध उपलब्धि होती है, उसी तरह दर्शनमोहनीयकर्म के उदय के अभाव से भी वह शुद्धात्मानुभूति होती है। अर्थात् उसी समय अनंतानुबंधी के अभाव में चारित्र की वीतरागपर्याय प्रकट होती है।

"हेतुस्तत्रापि सम्यक्त्वोत्पत्तिकालेऽस्त्यवश्यतः।
तज्ज्ञानावरणस्योच्चैरस्त्यवस्थान्तरं स्वतः ॥४०७॥"

अर्थ–इसका कारण यह है कि, सम्यग्दर्शनपर्याय की उत्पत्ति के समय में स्वात्मानुभवज्ञानावरण का क्षयोपशम स्वतः नियम से होता है।

इसलिये-प्रथमोपशम सम्यक्त्वी चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव के पास सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (व्रत न होते हुए भी सम परिणामरूप सम्यक्चारित्र) ये तीनों रत्न एक काल में (एक समय में) युगपत् होते हैं। इसलिये प्रथमोपशम सम्यक्त्वी अव्रती चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव मोक्षमार्गस्थ ही है।

जीव ही जानने की क्रिया कर सकता है क्योंकि जीव में ज्ञानगुण है। आकाश, धर्म, अधर्म, काल और पुद्गल में ज्ञानगुण नहीं है, इसलिये उन अचेतन द्रव्यों में जानने के लिये त्रिकालवर्ती उपादान नहीं है, उसी तरह उन अचेतन द्रव्यों में क्षणिक योग्यतावाला उपादान भी नहीं है।

शंका–यदि जीव में ज्ञानगुण होने से त्रिकालवर्ती उपादान है, तो सभी पर्यायें युगपत् होनी चाहिये।

समाधान– (अ) पूर्वपर्यायविशिष्टद्रव्य को उपादान याने कारण कहते हैं अथवा (ब) उस समय की विशिष्टपर्यायसहित द्रव्य को उपादान कहते हैं और विशिष्टपर्यायसहित द्रव्य को उपादेय याने कार्य कहते हैं; और विशिष्ट योग्यता ही कार्य का प्रतिनियमकारण है। इसलिये सभी पर्यायें युगपत् नहीं होती हैं।

शंका–भरतचक्रवर्ती का मरीचि जो लड़का था उस वक्त या मरीचि ने जब मुनिव्रत धारण किया उस वक्त ही उसको सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र क्यों नहीं हो गया, वह भी जीव था, जैसे भरत के वर्द्धमानादि ९२३ पुत्र थे (वे भी पूर्व में नित्यनिगोद में थे और फिर द्वीन्द्रिय-इन्द्रगोप हुए थे, फिर मनुष्य भव में आये थे, प्रथम मिथ्यात्वी थे, पश्चात् सम्यक्त्वी हो गये थे)।

समाधान–प्रत्येक कार्य होने के लिये **योग्यता ही प्रतिनियमकारण** होने से उस समय मरीचि की

मिथ्यादृष्टि-मिथ्याज्ञानी-मिथ्याचारित्रवाला होने की पर्यायगत योग्यता थी।

किसी भी गुण की पर्याय होने के लिये अथवा किसी भी जीव या अजीवद्रव्य की पर्याय होने के लिये योग्यता प्रतिनियमकारण है। यह जानकर **'मैं ध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा हूँ' ऐसा प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष जानने से सम्यक्-आनंद की प्राप्ति होती है। अभी तुरन्त ही शान्ति मिलती है।**

श्री रविषेणाचार्यविरचित पद्मपुराण में लिखा है कि **'यद्यथा भाव्यं कः करोति तदन्यथा।'**

अर्थ–जो जैसा होने की योग्यतावाला होता है उसको उससे अन्यथा कौन कर सकता है?

शंका–अभी इस पंचमकाल में हम क्यों पैदा हो गये?

समाधान–हमारी इस समय की योग्यता ही ऐसी थी।

शंका–आगे भविष्य में हम को केवलज्ञान या मोक्ष क्यों होगा? अभी हमको केवलज्ञान या मोक्ष क्यों नहीं होता है?

समाधान–उस-उस समय की योग्यता से ही हम को केवलज्ञान या मोक्ष होगा। अभी इस समय में केवलज्ञान या मोक्ष होने की हमारी योग्यता नहीं है।

अभी इस समय में मोक्षमार्गस्थ रहने की योग्यता है, इसलिये मोक्षमार्गस्थ हैं।

शंका–अभी बरसात क्यों हो रही है?

समाधान – अभी उस-उस पुद्गल परमाणु में और उन-उन पुद्गल स्कंधों में बरसातस्वरूप होने की योग्यता है, इसलिये अभी बरसात हो रही है।

शंका – अभी यहाँ कोई जीव शान्त और कोई जीव अशान्त क्यों है?

समाधान – अभी यहाँ जिस जीव की शान्त होने की योग्यता है वह शान्त है और जिस जीव की अशान्त होने की योग्यता है, वह अशान्त है।

इस तरह लौकिक या पारमार्थिक शंकाओं का समाधान हो जाता है।

एक अपेक्षा से **शुद्धात्मानुभव ज्ञानपर्याय अपने आत्मा से उत्पन्न होती है और अपने निजध्रुवशुद्ध-चिदात्मा को जानती है, इसलिये अर्थजन्यता है**; (क्योंकि वह जीवद्रव्य के ज्ञान गुण से ही सदाकाल उत्पन्न होती है) लेकिन अन्य पदार्थ को जानते समय उस ज्ञेय पदार्थ से उत्पन्न नहीं होती है।

संस्कृत पृष्ठ ६७-६८, संस्कृत परिच्छेद नं. ६→

बौद्धादि – ज्ञानपर्याय ज्ञेयपदार्थ के आकाररूप होती है, इसलिये उसी ज्ञेय पदार्थ को जानती है।

जैन – उपर्युक्त विवेचन से 'ज्ञानपर्याय ज्ञेयपदार्थ के आकाररूप होती है, इसलिये वह उसी ज्ञेयपदार्थ को जानती है' इसका भी निराकरण हो गया; क्योंकि जैसे प्रकाश्य-पदार्थ के आकाररूप न होते हुए भी प्रदीप पदार्थ को प्रकाशित करता है, वैसे ज्ञानपर्याय ज्ञेयपदार्थ के आकाररूप न होते हुए भी ज्ञेयपदार्थ को जानती है। इसलिये जिस तरह प्रामाण्य में तदाकार (पदार्थाकार याने ज्ञेयाकार) होना निरर्थक (अप्रयोजक) है, उसी तरह प्रामाण्य में ज्ञेयपदार्थ से उत्पत्ति होना (अर्थजन्यता) अप्रयोजक (निरर्थक) है। सविकल्पक विषयभूत सामान्य का परमार्थत्व ही है, क्योंकि उस सामान्य का अबाधितपना है। लेकिन सौगताभिमतवाले ही स्वलक्षण में विवाद है। इसलिये प्रत्यक्षज्ञान में निर्विकल्पकरूपत्व (निर्विचारत्व याने विचाररहितत्व) नहीं है।

विशेषार्थ – बौद्ध या अन्य कोई मानते हैं- ज्ञानपर्याय ज्ञेयपदार्थ के आकाररूप होती है, इसलिये उसी ज्ञेयपदार्थ को जानती है।

जैन – 'ज्ञानपर्याय ज्ञेयपदार्थ के आकाररूप होती है, इसलिये वह उसी ज्ञेयपदार्थ को जानती है' इसका भी खण्डन पूर्वोक्त कथन से हो गया; क्योंकि जैसे चौकी, घट, दीवार, वस्त्र, अलमारी, कुर्सी, मेज, बर्तन आदि प्रकाश्य पदार्थों के आकाररूप न होते हुए भी **प्रदीप** चौकी, घट, दीवार, वस्त्र, अलमारी, कुर्सी, मेज, बर्तन आदि प्रकाश्य पदार्थों को **प्रकाशित करता है**, वैसे ही **ज्ञानपर्याय** चौकी, घट, दीवार, वस्त्र, अलमारी, पहाड़, पत्थर, कुर्सी, मेज, बर्तन आदि ज्ञेयवस्तुओं के आकाररूप न होते हुए भी चौकी, घट आदि ज्ञेयवस्तुओं को जानती है।

शंका – **प्रवचनसार-गाथा नं. ३७ की तत्त्वप्रदीपिका टीका में श्री अमृतचन्द्राचार्यजी** लिखते हैं कि, " ... **दृश्यते हि छद्मस्थस्यापि वर्तमानमिव व्यतीतं अनागतं वा वस्तु चिन्तयत: संविदालम्बित: तदाकार:। किंच चित्रपटस्थानीयत्वात् संविद:, यथा हि चित्रपटयां अतिवाहितानां अनुपस्थितानां वर्तमानानां च वस्तूनां आलेख्याकारा: साक्षादेकक्षण एव अवभासन्ते, तथा संविद्‌भित्तौ अपि।...**"

अर्थ – (जगत में) दिखाई देता है कि– छद्मस्थ के भी जैसे वर्तमान वस्तु का चिंतवन करते हुए ज्ञान उसके आकार का अवलम्बन करता है, उसी प्रकार भूत और भविष्यत वस्तु का चिन्तवन करते हुए भी ज्ञान उसके आकार का अवलम्बन करता है।

और **ज्ञान चित्रपट के समान है।** जैसे चित्रपट में अतीत, अनागत और वर्तमान वस्तुओं के आलेख्याकार साक्षात् एक क्षण में ही भासित होते हैं; उसी प्रकार ज्ञानस्वरूपी भित्ति में भी अतीत, अनागत और वर्तमान पर्यायों के ज्ञेयाकार साक्षात् एक क्षण में ही भासित होते हैं।

यहाँ ज्ञानपर्याय ज्ञेय वस्तु के आकार का अवलम्बन करती है, ऐसा लिखा है तो फिर उपर्युक्त विवेचन से कैसे अविसंवाद है?

समाधान – यहाँ **प्रवचनसार** की **तत्त्वप्रदीपिका** टीका में '**आकार**' शब्द का अर्थ '**विकल्प अथवा विचार**' ऐसा है। इसलिये सुसंवाद है। इसलिये ज्ञानपर्याय चौकी को जानते समय चौकी के समान लम्बा, चौड़ा, तथा उंचा आकारवाला नहीं होता है।

इसलिये शुद्धात्मानुभव अथवा शुद्धध्यान अथवा सामायिक करते समय ज्ञानपर्याय में आत्मा का आकार या संस्थान नहीं जाना जाता है।

जब ज्ञानपर्याय अपनी आत्मा को जानती है तब वह पर्याय अपनी आत्मा के क्षेत्र में सर्वत्र है, इसलिये ज्ञानपर्याय अपनी आत्मा के विषय के आकारस्वरूप होती है, यही एक अपेक्षासे तदाकारता है। लेकिन अन्य ज्ञेय को जानते समय अन्य ज्ञेय के आकारस्वरूप ज्ञानपर्याय होती नहीं है, यही एक अपेक्षा से तदाकारता नहीं है।

इसलिये जिस तरह प्रामाण्य में तदाकार (पदार्थाकार अथवा ज्ञेयाकार) होना निरर्थक है; उसी तरह प्रामाण्य में ज्ञेयपदार्थ से उत्पन्न हो जानापना (अर्थजन्यता) भी निरर्थक है।

बौद्ध या अन्य किसी का जो यह कथन था कि 'सविकल्प ज्ञानपर्याय का विषय जो सामान्य है, वह सामान्य अपरमार्थ याने अवस्तु है (अर्थात् सामान्य वस्तु नहीं है)' यह उनका कथन अयोग्य है; क्योंकि 'सामान्य' भी वस्तु है याने सामान्य में परमार्थपना है, क्योंकि सामान्य में अबाधितपना है। लेकिन सौगताभिमत या विपश्यना ध्यानपद्धति के अभिमत स्वलक्षणप्रत्यक्षज्ञान में बाधा है क्योंकि ये प्रत्यक्षज्ञान को विचाररहित मानते हैं। लेकिन **प्रत्यक्षज्ञान में अथवा निर्विकल्प ज्ञान में विचार है।**

संस्कृत पृष्ठ ६८-६९, संस्कृत परिच्छेद नं. ७ से १०→

[यौग अभिमत सन्निकर्ष के प्रत्यक्षपने का निराकरण]

यौग (नैयायिक और वैशेषिक) अथवा अन्य कोई-सन्निकर्ष को (इंद्रिय और पदार्थ के संबंध को)

प्रत्यक्षज्ञान कहते हैं।

जैन – आपका यह कथन योग्य नहीं है क्योंकि सन्निकर्ष अचेतन है, इसलिये प्रमिति होने के लिये वह 'सन्निकर्ष' करण कैसे होगा? प्रमिति रूप कार्य होने के लिये सन्निकर्ष में करणत्व नहीं है, तो फिर सन्निकर्ष में प्रमाणत्व कैसे हो सकता है? अर्थात् प्रमाणत्व नहीं है, तो फिर सन्निकर्ष में प्रत्यक्षज्ञानत्व भी नहीं हो सकता है।

और यह बात है कि- चक्षु इन्द्रिय रूप का ज्ञान सन्निकर्ष के बिना ही करती है क्योंकि वह (रूप चक्षु के लिये) अप्राप्यकारी है। इसलिये सन्निकर्ष के अभाव में भी प्रत्यक्ष ज्ञान होने से प्रत्यक्ष ज्ञान में सन्निकर्षरूपता ही नहीं है। चक्षु इन्द्रिय को यहाँ अप्राप्यकारी कहा गया है, वह अप्रसिद्ध नहीं है; क्योंकि प्रत्यक्ष से चक्षु इन्द्रिय में अप्राप्यकारिता ही प्रतीति में आती है।

यौग अथवा अन्य कोई– यद्यपि चक्षु इन्द्रिय की प्राप्यकारिता (पदार्थ को प्राप्त करके प्रकाशित करना याने सन्निकर्षता) प्रत्यक्ष से मालूम नहीं होती है तथापि उसे परमाणु की तरह अनुमान से सिद्ध करेंगे। जिस तरह परमाणु प्रत्यक्ष से सिद्ध न होने पर भी 'परमाणु है, क्योंकि स्कन्धादि कार्य अन्यथा नहीं हो सकते' इस अनुमान से उसकी सिद्धि होती है। उसी तरह 'चक्षु इन्द्रिय पदार्थ को प्राप्त कर के प्रकाश करती है, क्योंकि वह बहिरिन्द्रिय है (बाहर से देखी जानेवाली इन्द्रिय है), जो बहिरिन्द्रिय है वह पदार्थ को प्राप्त कर के ही प्रकाश करती है, जैसे स्पर्शन इन्द्रिय'। इस अनुमान से चक्षु में प्राप्यकारिता की सिद्धि होती है और प्राप्यकारिता ही सन्निकर्ष है। इसलिये चक्षु इन्द्रिय में सन्निकर्ष की अव्याप्ति नहीं है; अर्थात् चक्षु इन्द्रिय भी सन्निकर्ष के होने पर ही रूपज्ञान कराती है। इसलिये सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष मानने में कोई दोष नहीं है।

जैन :– आपका यह कथन योग्य नहीं है क्योंकि यह सम्यक् अनुमान नहीं है। उसका स्पष्टीकरण– इस अनुमान में 'चक्षु' इस पद (शब्द) के द्वारा कौन से चक्षु को 'पक्ष' किया है, लौकिक चक्षु को अथवा अलौकिक चक्षु को पक्ष किया है?

यदि प्रथम याने लौकिक चक्षु को पक्ष किया जाये तो हेतु कालात्ययापदिष्ट (बाधितविषय) नामक हेत्वाभास है क्योंकि गोलकरूप लौकिक चक्षु विषय के पास जाती हुई किसी को भी प्रतीत न होने से उसकी विषयप्राप्ति प्रत्यक्ष से बाधित है। यदि अलौकिक (किरणरूप) चक्षु को पक्ष किया जाये तो हेतु आश्रयासिद्ध है क्योंकि किरणरूप अलौकिक चक्षु अभी तक सिद्ध नहीं है; और वृक्ष की शाखा और चन्द्रमा का एक ही काल में ग्रहण होने से चक्षु अप्राप्यकारी ही प्रसिद्ध होती है। इस प्रकार सन्निकर्ष के बिना भी चक्षु के द्वारा रूपज्ञान (वर्णज्ञान) होता है। इसलिये सन्निकर्ष अव्याप्त होने से प्रत्यक्ष का स्वरूप नहीं है, यह बात सिद्ध हो गई।

और इस प्रमेय का प्रपञ्च (विस्तार) प्रमेयकमलमार्तण्ड ग्रन्थ में सुलभ है लेकिन यहाँ संग्रह ग्रंथ होने से इस न्यायदीपिका में उसका विस्तार नहीं किया है।

इस प्रकार बौद्धाभिमत निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है और यौगाभिमत इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष भी प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है।

शंका – तो फिर प्रत्यक्ष ज्ञान का लक्षण क्या है?

समाधान – विशदप्रतिभासस्वरूप ज्ञान ही प्रत्यक्ष है, यह सिद्ध हो गया।

विशेषार्थ – यौग या अन्य कोई-सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। सन्निकर्ष याने इन्द्रिय और ज्ञेय पदार्थ- इनके नजदीक आने के संबंध को सन्निकर्ष कहते हैं। [जैसे कोई आदमी बालक को देख रहा है।

वह उस बालक के नजदीक जाकर देखेगा, उस बालक को स्पर्श करेगा, उस बालक को उठा लेगा, चूमेगा। और ऐसा भी देखने को मिलेगा कि- कोई कार खड़ी है, उसको दूर से देखेगा, फिर नजदीक जायेगा, फिर उस कार को स्पर्श करेगा, फिर उस कार के स्टीअरिंग को भी जीभ से चाटेगा।

कोई खिलौना है, वह दूर से दिखता है, कोई उस खिलौने को देखेगा, फिर उस खिलौने को स्पर्श करेगा, फिर जीभ से चाटेगा।

कोई भगवान् की मूर्ति को देखेगा, फिर उस मूर्ति के अति निकट जायेगा, फिर उस मूर्ति को स्पर्श करेगा, उसके बिना उस आदमी को चैन नहीं पड़ेगी।

इस प्रकार उसने सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष ज्ञान माना है।]

जैन-सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष ज्ञान मानना योग्य नहीं है। सन्निकर्ष से ध्यान में तल्लीनता आती है, ऐसा मानना योग्य नहीं है क्योंकि सन्निकर्ष अचेतन है। इन्द्रियाँ अचेतन हैं। बाह्य अनेक पदार्थ अचेतन हैं। **अनेक अचेतन पदार्थ एकत्र आने पर भी चेतनपर्याय की उत्पत्ति नहीं होती है।** इसलिये प्रमिति होने के लिये सन्निकर्ष साधकतम साधन नहीं है। सन्निकर्ष में साधकतम साधनत्व न होने से प्रमाणत्व (ज्ञानत्व) नहीं है। इसलिये सन्निकर्ष में प्रत्यक्ष-ज्ञानत्व नहीं है।

और यह है कि– चक्षु इन्द्रिय रूप (रंग/वर्ण) का ज्ञान सन्निकर्ष के बिना ही कराती है क्योंकि चक्षु ज्ञेयपदार्थ से दूर रहकर रूप का ज्ञान कराती है अर्थात् चक्षु अप्राप्यकारी है। चक्षु इन्द्रिय को अप्राप्यकारी कहना झूठा नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष से चक्षु इन्द्रिय में अप्राप्यकारिता ही प्रतीति में आती है।

यौग अथवा अन्य कोई– यद्यपि चक्षु इन्द्रिय की प्राप्यकारिता याने सन्निकर्षता याने पदार्थ के निकट या नजदीक जाकर जानने की क्रिया होना प्रत्यक्ष से मालूम (ज्ञात) नहीं होती है तथापि उसे अनुमान से सिद्ध करेंगे। जैसे छद्मस्थ मतिश्रुतज्ञानी परमाणु को प्रत्यक्ष ज्ञान से नहीं जानता है, लेकिन अनुमान से परमाणु को जानता है। जैसे 'परमाणु है, क्योंकि स्कन्धादि कार्य अन्यथा नहीं हो सकते हैं। यह गेहूँ हैं, इनको पीसने से आटा बनता है, आटा तथा जल से लोई स्कंध बनता है, उससे रोटी बनती है, फिर रोटी का खंड-खंड करते हैं, उस खंड के और-और खंड करते हैं, अन्तिम भाग का फिर खंड नहीं होगा, ऐसा जो द्रव्य होगा, वह परमाणु होगा।' उसी तरह 'चक्षु इन्द्रिय पदार्थ को प्राप्त कर प्रकाश करती है क्योंकि वह बाह्य इन्द्रिय है, जो बाह्य इन्द्रिय है वह पदार्थ को प्राप्त कर ही प्रकाश करती है, जैसे स्पर्शन इन्द्रिय' इस अनुमान से नेत्र में प्राप्यकारिता की सिद्धि होती है और प्राप्यकारिता ही सन्निकर्ष है। इसलिये नेत्र इन्द्रिय में सन्निकर्ष की अव्याप्ति नहीं है। अर्थात् चक्षु इन्द्रिय सन्निकर्षता के होने पर ही रूप का ज्ञान कराती है। इसलिये सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष ज्ञान मानने में कोई दोष नहीं है।

जैन– आपका यह कथन योग्य नहीं है क्योंकि यह सम्यक् अनुमान नहीं है। उसका स्पष्टीकरण– गोलकरूप लौकिक चक्षु विषय के पास जाती हुई किसी को भी प्रतीत न होने से उसकी विषयप्राप्ति प्रत्यक्ष से बाधित है; और किरणरूप अलौकिक चक्षु अभी तक सिद्ध नहीं है।

वृक्ष की शाखा और चन्द्रमा का एक ही काल में ग्रहण होने से चक्षु की अप्राप्यकारिता प्रसिद्ध ही है। इस प्रकार सन्निकर्ष (सन्निकटता) के बिना भी नेत्र के द्वारा रूपज्ञान होता है। इसलिये सन्निकर्ष यह लक्षण सभी ज्ञानों में न जाने से प्रत्यक्ष ज्ञान का स्वरूप नहीं है, यह सिद्ध हो गया।

'जो लोग मूर्ति का दर्शन करते समय, उस मूर्ति को स्पर्श करते हैं, स्पर्श किये बिना उनको अच्छा नहीं लगता, चैन नहीं पड़ती है'। याने उन्होंने सन्निकर्षता को प्रत्यक्ष ज्ञान माना है। वह भूल है।

'जो लोग गुरु की वंदना करते समय, उस गुरु को स्पर्श करते हैं, स्पर्श किये बिना उनको ठीक नहीं लगता।' याने उन्होंने सन्निकर्षता को प्रत्यक्ष ज्ञान माना है। वह भूल है क्योंकि स्पष्टता यह प्रत्यक्ष ज्ञान का लक्षण है।

यह सम्यक् वस्तुविज्ञान जानने से दर्शन अथवा वंदन करते समय दूर से ही दर्शन या वंदन करेंगे और परिग्रह साथ रखने की इच्छा भी नहीं रहेगी/होगी।

इस प्रकार 'बौद्धादि अभिमत विचाररहित को प्रत्यक्ष ज्ञान मानना,' योग्य नहीं है।

इसलिये 'शुद्धात्मानुभव में अथवा शुक्लध्यान में या समाधि में विचाररहित होता है' यह मान्यता योग्य नहीं है।

इसलिये मदिरा या अफीम या चरस अथवा तमाखू अथवा प्राणायाम अथवा ट्रंक्विलाइजर्स अथवा काम्पोज (नशीला पदार्थ) इत्यादि का सेवन करना समाधि नहीं है। यह जानने से उन पदार्थों का सेवन नहीं किया जायेगा।

इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष (नजदीक आने) को प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं कहते हैं। यह जानने से अन्य वस्तुओं को पास रखने की अथवा संग्रह करने की इच्छा नहीं होती है क्योंकि स्पष्टता या विशदता ही प्रत्यक्ष ज्ञान का लक्षण है।

संस्कृत पृष्ठ नं. ६९-७० संस्कृत परिच्छेद नं. ११→

(प्रत्यक्ष ज्ञान के दो भेद कर सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष का लक्षण और उसके भेदों का कथन)

वह प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का है।

(१) सांव्यवहारिक और (२) पारमार्थिक

सांव्यवहारिक प्रत्यक्षज्ञान :- एकदेशस्पष्टज्ञान को सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं तात्पर्य यह है कि - जो ज्ञान कुछ निर्मल है, वह सांव्यवहारिकप्रत्यक्ष ज्ञान है। उसके चार भेद हैं। (१) अवग्रह, (२) ईहा, (३) अवाय और (४) धारणा।

अवग्रह :- इन्द्रियार्थसमवधान समनंतर समुत्थ सत्तालोचनानंतरभावी याने इन्द्रिय और पदार्थ के संबंध होने के बाद उत्पन्न हुये निराकार दर्शनोपयोग के अनंतर होनेवाले सत्ता अवांतरजातिविशिष्टवस्तुग्राही ज्ञान विशेष को अवग्रह कहते हैं। जैसे 'यह पुरुष है'। यह संशयज्ञान नहीं है क्योंकि विषयान्तर का निराकरण कर के अपने विषय का ही निश्चय कराता है; और संशय उससे विपरीत लक्षणवाला है। श्री अकलंकदेव आचार्यरचित राजवार्तिक में ऐसा कहा है कि- "(१) अनेकार्थ, अनिश्चित, अपर्युदासात्मक जो संशय है, उससे विपरीत अवग्रह होता है; और (२) संशय निर्णय का विरोधी है, लेकिन अवग्रह ज्ञान निर्णय का विरोधी नहीं है।"

ईहा :- अवग्रहगृहीतार्थसमुद्भूतसंशय के निराकरण के लिये जो यत्न होता है, वह ईहा है। जैसे अवग्रह ज्ञान के द्वारा 'यह पुरुष है' इस प्रकार का निश्चय किया गया था, इससे यह 'दक्षिणीय है अथवा उत्तरीय है' इस प्रकार का संशय होने पर उसको दूर करने के लिये "यह दक्षिणीय (दाक्षिणात्य) होना चाहिये" ऐसा ईहा नाम का ज्ञान उत्पन्न होता है।

अवाय :- भाषादि विशेष का ज्ञान होने से याथात्म्य (जैसा है वैसा ही) अवगमरूप ज्ञान को

अवाय कहते हैं। जैसे–' यह पुरुष दक्षिणीय ही है'।

धारणा :– अवाय से निश्चित किये गये पदार्थ को कालान्तर में अविस्मरण (न भूलने) की योग्यता से उसी (यह पुरुष दक्षिणीय ही है) का ज्ञान होना धारणा है। जिससे भविष्य में भी ' वह (तत्ता) ' इस प्रकार का स्मरण होता है।

विशेषार्थ–जो ज्ञानपर्याय स्पष्टता से जानती है, वह प्रत्यक्ष ज्ञानपर्याय है। प्रत्यक्ष ज्ञान के दो भेद हैं। (१) सांव्यवहारिक प्रत्यक्षज्ञान [चार्ट नं. ७, (आ १)]। (२) पारमार्थिकप्रत्यक्ष ज्ञान [चार्ट नं. ७, (आ २, आ ३, आ ४, आ ५)]।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ज्ञान– एकदेश स्पष्ट ज्ञान को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। स्मरण (याद) ज्ञानपर्याय की अपेक्षा से सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में एकदेश स्पष्टता है। प्रत्यभिज्ञानपर्याय की अपेक्षा से सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में एकदेश स्पष्टता है। तर्कज्ञानपर्याय की अपेक्षा से सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में एकदेश स्पष्टता है। अनुमान ज्ञानपर्याय की अपेक्षा से सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में एकदेश स्पष्टता है। आगम ज्ञानपर्याय अथवा नय ज्ञानपर्याय की अपेक्षा से सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में एकदेश स्पष्टता है।

'यह दूध उष्ण है' यह मैंने स्पर्शन इन्द्रिय से प्रत्यक्ष जाना। 'यह पदार्थ मीठा है' यह मैंने रसनेन्द्रिय से प्रत्यक्ष जाना। 'यह वस्तु सुगंधी है' यह मैंने घ्राणेन्द्रिय (नाक) से प्रत्यक्ष जाना। 'यह कागज़ सफेद है' यह मैंने नेत्र इन्द्रिय से प्रत्यक्ष जाना (देखा)। 'यह ध्वनि (आवाज़) अच्छी है' यह मैंने कर्णेन्द्रिय से प्रत्यक्ष सुनी (जानी)। इस तरह व्यवहार में प्रतीति करते हैं, उसको सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। उस सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ज्ञान में एकदेश स्पष्टता है, इसलिये प्रत्यक्ष है; उसमें चारित्र या आचरण का संबंध नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष या परोक्ष ये ज्ञानगुण की पर्यायें हैं, चारित्र गुण की पर्याय नहीं अथवा शरीर की क्रिया या बाह्यचारित्र की पर्याय नहीं है।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ज्ञान के चार भेद हैं। (१) अवग्रह (२) ईहा, (३) अवाय और (४) धारणा।

अवग्रह– इन्द्रिय और पदार्थ (ज्ञेय वस्तु) के सम्बन्ध होने के बाद उत्पन्न हुए निराकार दर्शनोपयोग के अनन्तर होनेवाले और अवान्तरसत्ताजाति (सामान्यविशेष) से युक्त वस्तु (ज्ञेय) को ग्रहण करनेवाली विशिष्ट ज्ञानपर्याय को अवग्रह कहते हैं। जैसे–

(१) 'यह पुरुष है' यह ज्ञान संशय नहीं है क्योंकि विषयान्तर (अन्य विषय) का निराकरण करके अपने विषय का ही निश्चय करता है। अर्थात् 'यह पुरुष है', चौकी आदि नहीं। यहाँ 'यह पुरुष' उसका विषय है और जो चौकी आदि हैं वे अन्य विषय हैं, उनका निराकरण करके 'यह पुरुष है' इस अपने विषय का ही निश्चय करता है।

(२) 'यह कागज़ है' पुरुष, चौकी आदि नहीं। यहाँ 'यह कागज़' उसका विषय है और जो पुरुष आदि हैं वे अन्य विषय हैं, उनका निराकरण करके 'यह कागज़ है' इस अपने विषय का ही निश्चय करता है।

संशय उससे विपरीत लक्षणवाला है। राजवार्तिक में ऐसा कहा है कि–

(१) 'संशय नाना अर्थ (ज्ञेय) विषयक, अनिश्चायक और अन्य का अव्यवच्छेदक (निराकरण न करनेवाला) होता है किन्तु अवग्रह एक अर्थ (ज्ञेय) विषयक, निश्चयात्मक और अपने विषय से अन्य विषय का व्यवच्छेदक (निराकरण करनेवाला) होता है; और

(२) '**संशय निर्णय का विरोधी है, लेकिन अवग्रह निर्णय का विरोधी नहीं है**। याने संशयज्ञान

में ज्ञेय वस्तु का निश्चय नहीं होता है और अवग्रह में ज्ञेय वस्तु का निश्चय होता है। अतः अवग्रह संशयज्ञान से भिन्न हैं।

उसी तरह **निराकार दर्शनोपयोग से अवग्रह अन्य है** क्योंकि निराकार दर्शनोपयोग में अर्थ या ज्ञेय वस्तु या पर या बाह्य वस्तु का ग्रहण नहीं होता, केवल चित्प्रकाश का (स्व या मैं या अहं या उस पर्याय का स्वयं) ग्रहण होता है।

	स्व	अर्थ/पर
निराकार दर्शनोपयोग पर्याय→	मैं	

निराकार दर्शनोपयोग पर्याय में कर्ता (ग्राहक), कर्म (ग्राह्य) सम्बन्ध नहीं है; और अवग्रह यह ज्ञानोपयोग है, साकार है। **अवग्रह में कर्ता (ग्राहक), कर्म (ग्राह्य) सम्बन्ध है।**

	स्व	अर्थ/पर/ज्ञेय	विषय
अवग्रह ज्ञानोपयोग पर्याय→	मैं	इस पुरुष को जानता हूँ।	पुरुष
	↕ ग्राहक कर्ता	↕ ग्राह्य कर्म	

ईहा– अवग्रह से जाने हुए अर्थ (ज्ञेय वस्तु) के बारे में विशिष्ट-विशेष जो जानना होता है वह ईहा है। जैसे–

	स्व	अर्थ/पर/ज्ञेय	विषय
ईहा ज्ञानोपयोग →	मैं	इस दक्षिणी पुरुष को जानता हूँ	पुरुष
↑ अवग्रह ज्ञानोपयोग	मैं	इस पुरुष को जानता हूँ	↑
↑ निराकार दर्शनोपयोग	मैं		↑

यहाँ निराकार दर्शनोपयोग में 'मैं (स्व)' की प्रतीति हो गयी, अवग्रह ज्ञानोपयोग में 'इस पुरुष' की प्रतीति हो गयी और ईहा ज्ञानोपयोग में 'दक्षिणी' की और विशेष प्रतीति हो गयी।

अथवा अवग्रह से जाने हुए अर्थ में उत्पन्न संशय को दूर करने के लिये ज्ञान का जो यत्न होता है, उसे ईहा कहते हैं। जैसे अवग्रहज्ञान से 'यह पुरुष है' इस प्रकार का निश्चय किया गया था, इससे यह 'दक्षिणीय है अथवा उत्तरीय है' इस प्रकार का संशय होने पर उसको दूर करने के लिये 'यह दक्षिणीय होना चाहिये' ऐसा ईहा ज्ञान होता है।

अवाय – भाषा, वेष और वेष-भूषा आदि के विशेष को जानकर यथार्थता का निश्चय करना अवाय है। जैसे 'यह दक्षिणीय ही है।'

यहाँ 'ही' का निर्णय विशेष है।

धारणा – अवायज्ञान से निश्चित किये गये अर्थ (ज्ञेय) को कालान्तर में अविस्मरण की योग्यता से उसी का ज्ञान होना धारणा है। जिससे भविष्यकाल में भी 'वह (तत्ता)' इस प्रकार का स्मरण होता है। भावार्थ यह है कि- पदार्थ (ज्ञेय/अर्थ) का निश्चय होने के बाद जो उस को अविस्मरण रूप से संस्कार (याने वासना) स्थिर हो जाता है और जो स्मरण का जनक होता है वही धारणा ज्ञान है। धारणा को संस्कार ज्ञान भी कहते हैं।

संस्कृत पृष्ठ नं. ७०, संस्कृत परिच्छेद नं. १२→

शंका – तो फिर पूर्व-पूर्वज्ञान-गृहीतार्थग्राहकपना से ईहादिक ज्ञानों को धारावाहिकज्ञानों के समान अप्रामाण्य मानने का प्रसंग आयेगा?

समाधान – यह दोष (प्रसंग) नहीं आता, क्योंकि विषय भेद होने से अगृहीतग्राहकपना है। उसका स्पष्टीकरण-

'जो अवग्रह का विषय है, वह ईहा का विषय नहीं है; और जो ईहा का विषय है, वह अवाय का विषय नहीं है; और जो अवाय का विषय है, वह धारणा का विषय नहीं है' इस तरह परिशुद्धप्रतिभावालों को यह सुलभ ही है।

ये अवग्रहादि चारों ज्ञान भी जब इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न होते हैं तब उनको इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहते हैं और जब वे अनिन्द्रिय से उत्पन्न होते हैं, तब उनको अनिन्द्रियप्रत्यक्ष कहते हैं। इन्द्रियाँ पांच हैं- (१) स्पर्शन, (२) रसना, (३) घ्राण, (४) चक्षु और (५) श्रोत्र (कर्ण)। लेकिन मन अनिन्द्रिय है। इन दोनों के निमित्तक यह लोकसंव्यवहार में प्रत्यक्ष है, ऐसा प्रसिद्धपना होने से उन ज्ञानों को 'सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष' ऐसा कहा जाता है। परीक्षामुखसूत्र ग्रन्थ में भी कहा है कि- ''इन्द्रिय और मन निमित्तक एकदेश स्पष्टज्ञान सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है।'' यह अमुख्य प्रत्यक्ष है; क्योंकि उसमें उपचारसिद्धत्व है, लेकिन वास्तव में तो परोक्ष ही है क्योंकि उसमें मतिज्ञानत्व है।

शंका – वह मतिज्ञान परोक्ष कैसे है?

समाधान – 'आद्य दो ज्ञान परोक्ष हैं' ऐसा तत्त्वार्थसूत्र में कहा है। प्रथम दो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष हैं' ऐसा सूत्रार्थ है; और यहाँ उपचारमूलक एकदेश वैशद्य है, इस तरह इतना विवेचन पर्याप्त है।

विशेषार्थ- शंका – अवग्रहज्ञान के द्वारा सफेद वस्तु जानी गयी और ईहाज्ञान के द्वारा सफेद वस्तु जानी गयी, इसलिये पूर्व के (पहले की) अवग्रहज्ञान के द्वारा जानी हुई वस्तु को ही ईहा ज्ञान ने जाना; इसलिये गृहीतग्राहीपना होने से धारावाहिक ज्ञान के समान अप्रामाण्य मानने का प्रसंग (दोष) आता है।

अवग्रहज्ञान के द्वारा जो सफेद वस्तु जानी गयी, वही जानी हुई वस्तु ईहाज्ञान के द्वारा जानी गयी, वही जानी हुई वस्तु अवायज्ञान के द्वारा जानी गयी; इसलिये जानी हुई वस्तु ही जानी गयी (अर्थात् गृहीतग्राहीपना) होने से धारावाहिकज्ञान के समान अप्रामाण्य मानने का दोष आता है।

अवग्रहज्ञान के द्वारा जो सफेद वस्तु जानी गयी, वही जानी हुई वस्तु ईहाज्ञान के द्वारा जानी गयी, वही

जानी हुई वस्तु अवायज्ञान के द्वारा जानी गयी, वही जानी हुई वस्तु धारणा ज्ञान के द्वारा जानी गयी; इसलिये गृहीतग्राहीपना होने से धारावाहिक ज्ञान के समान अप्रामाण्य मानने का दोष आता है।

समाधान – अवग्रहज्ञान के द्वारा जो सफेद वस्तु जानी, वही वस्तु ईहा, अवाय और धारणा ज्ञान के द्वारा जानी जाने पर भी धारावाहिक ज्ञानों के समान अप्रामाण्य मानने का दोष नहीं आता क्योंकि कथंचित् विषयभेद होने से अगृहीतग्राहकपना है।

उसका स्पष्टीकरण- जो अवग्रह का विषय है, वह ईहा का विषय नहीं है। जैसे-

	चेतनोपयोग स्व	पर/अर्थ	विषय
ईहा ज्ञानोपयोग- ↑	मैं	सफेद वस्तु ध्वजा जानता हूँ।	सफेद वस्तु ध्वजा है।
अवग्रह ज्ञानोपयोग- ↑	मैं	सफेद वस्तु जानता हूँ।	
निराकार दर्शनोपयोग- ↑	मैं		

इस तरह अवग्रहज्ञान के द्वारा 'सफेद वस्तु है' इतना ही जाना, लेकिन 'ध्वजा है' यह नहीं जाना।

ईहाज्ञान के द्वारा 'सफेद वस्तु है' यह समान अंश जाना और 'ध्वजा है' यह विशेष अंश भी जाना; इसलिये अवग्रहज्ञान के विषय से ईहा ज्ञान का विषय भिन्न है। अतः विषय भेद होने से अगृहीतग्राहकपना है।

जो ईहा ज्ञान का विषय है, वह अवाय ज्ञान का विषय नहीं है। जैसे-

	चेतनोपयोग स्व	पर/अर्थ	विषय
अवाय ज्ञानोपयोग- ↑	मैं	सफेद वस्तु ध्वजा ही जानता हूँ।	सफेद वस्तु ध्वजा है।
ईहा ज्ञानोपयोग- ↑	मैं	सफेद वस्तु ध्वजा जानता हूँ।	
अवग्रह ज्ञानोपयोग- ↑	मैं	सफेद वस्तु जानता हूँ।	
निराकार दर्शनोपयोग- ↑	मैं		

इस तरह अवग्रहज्ञान के द्वारा 'सफेद वस्तु है' इतना ही जाना, लेकिन 'ध्वजा ही है' यह नहीं जाना।

ईहा ज्ञान के द्वारा 'सफेद वस्तु ध्वजा है' इतना ही जाना, लेकिन 'ही है' यह नहीं जाना।

ईहा तथा अवाय ज्ञान के द्वारा 'सफेद वस्तु ध्वजा है' यह समान अंश जाना, लेकिन अवाय ज्ञान के द्वारा 'ही है' यह विशेष अंश भी जाना; इसलिये अवग्रह तथा ईहा ज्ञानों के विषय से अवाय ज्ञान का विषय भिन्न है। अत: विषयभेद होने से अगृहीतग्राहकपना है।

जो अवायज्ञान का विषय है, वह धारणा ज्ञान का विषय नहीं है।

इन्द्रियाँ पांच हैं- (१) स्पर्शन, (२) रसना, (३) घ्राण, (४) चक्षु और (५) श्रोत्र (कर्ण)। जब स्पर्शनेन्द्रिय या रसनेन्द्रिय या घ्राणेन्द्रिय या कर्णेन्द्रिय के द्वारा व्यंजनावग्रह होता है तब परोक्षज्ञान होता है। जब स्पर्शनेन्द्रिय या रसनेन्द्रिय या घ्राणेन्द्रिय या नेत्रेन्द्रिय या कर्णेन्द्रिय के द्वारा अर्थावग्रह, ईहा, अवाय, धारणा ये ज्ञान होते हैं तब उनको इन्द्रियप्रत्यक्ष कहते हैं। जब मन के द्वारा अर्थावग्रह, ईहा, अवाय, धारणा ये ज्ञान होते हैं; तब उनको मानसप्रत्यक्ष कहते हैं। इन्द्रियप्रत्यक्ष और मानसप्रत्यक्ष लौकिक संव्यवहार में प्रत्यक्ष हैं, ऐसी प्रसिद्धि होने से उन ज्ञानों को सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं क्योंकि वे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ज्ञान एकदेश स्पष्ट हैं। वे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ज्ञान अमुख्य प्रत्यक्ष हैं क्योंकि उनके उपचारसिद्धत्व है। लेकिन वास्तव में परोक्ष हैं, क्योंकि उनमें मतिज्ञानत्व है।

शंका – लेकिन वह मतिज्ञान परोक्ष कैसे है?

समाधान–'आद्य मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष हैं' ऐसा उत्सर्ग (स्थूल) कथन **तत्त्वार्थसूत्र** ग्रंथ में है।

यहाँ सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ज्ञान को उपचार से प्रत्यक्ष कहा है क्योंकि स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगम, नयज्ञान इनकी अपेक्षा से सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ज्ञान में एकदेश स्पष्टपना है। लेकिन केवल आत्मसापेक्ष नहीं है क्योंकि बाह्यत: इन्द्रिय अथवा मन की अपेक्षा है, इसलिये वास्तविकता से (केवल आत्मसापेक्षता की अपेक्षा से) सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ज्ञान परोक्षज्ञान ही है।

लेकिन शुद्धस्वात्मानुभवमतिज्ञान और शुद्धस्वात्मानुभवश्रुतज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है क्योंकि वे एकदेश अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष हैं।

देखिये समयसार–तात्पर्यवृत्ति–गाथा १९१→

"को विदिदच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज रूवमिणं।
पच्चक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्टंतं॥"

श्रीजयसेनाचार्यरचित तात्पर्यवृत्ति टीका "यद्यपि केवलज्ञानापेक्षया रागादिविकल्परहितं स्वसंवेदनरूपं भावश्रुतज्ञानं शुद्धनिश्चयनयेन परोक्षं भण्यते, तथापि इन्द्रियमनोजनितसविकल्पज्ञानापेक्षया प्रत्यक्षं। तेन कारणेन आत्मा स्वसंवेदनज्ञानापेक्षया प्रत्यक्ष: भवति, केवलज्ञानापेक्षया पुन: परोक्ष: अपि भवति। सर्वथा परोक्ष: एव इति वक्तुं न आयाति।"

अर्थ – "कोई ज्ञानी साधु सांप्रत- इस समय (इस पंचमकाल में) यह प्रवर्तमान आत्मस्वरूप प्रत्यक्ष ही परोक्षज्ञान में याने क्षयोपशमज्ञान में दिख गया, ऐसा कहेगा। (अर्थात् सांप्रतकाल में शुद्धात्मानुभव प्रत्यक्ष होता है, ऐसा सम्यग्ज्ञानी जीव ही कहेगा।)"

"यद्यपि केवलज्ञान की अपेक्षा से रागादि विकल्परहित स्वसंवेदनज्ञानरूप भावश्रुतज्ञान को अभेदोपचार से-पर्यायार्थिक पूर्णशुद्धनिश्चयनय से परोक्ष कहते हैं तथापि इन्द्रियमनोजनित-सविकल्पज्ञान की (क्षयोपशमज्ञान की) अपेक्षा से ४, ५, और ७ से १२ गुणस्थानवर्ती स्वसंवेदनज्ञान को **अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष** कहते हैं। इस कारण से आत्मा स्वसंवेदनज्ञान की अपेक्षा से प्रत्यक्ष है और केवलज्ञान की अपेक्षा से क्षयोपशम सम्यग्ज्ञानियों का (४ से १२ गुणस्थानवर्तियों का) शुद्धात्मानुभव परोक्ष भी है। क्षयोपशमजनित (४ से १२ गुणस्थानवर्तियों का) शुद्धात्मानुभव **सर्वथा परोक्ष ही है, ऐसा कहने में नहीं** आता है।"

शुद्धात्मानुभवमतिज्ञान और शुद्धात्मानुभवश्रुतज्ञान ये पारमार्थिक प्रत्यक्ष ज्ञान हैं।

संस्कृत पृष्ठ नं. ७०-७१, संस्कृत परिच्छेद नं. १३→

[पारमार्थिकप्रत्यक्ष ज्ञान का लक्षण और भेद]

पारमार्थिकप्रत्यक्ष ज्ञान :- सर्वरूप से विशद ज्ञान को पारमार्थिक प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं।

जो ज्ञान संपूर्णरूप से (साकल्य से) स्पष्ट है, वह पारमार्थिक प्रत्यक्ष है, मुख्य प्रत्यक्ष है; ऐसा है। उसके दो भेद हैं- (१) सकल और (२) विकल। उसमें से-

विकल पारमार्थिक प्रत्यक्षज्ञान:- कतिपय (कुछ) विषय को जाननेवाले ज्ञान को विकल-पारमार्थिक प्रत्यक्षज्ञान कहते हैं। उसके भी दो भेद हैं- (१) अवधिज्ञान और (२) मन:पर्ययज्ञान।

अवधिज्ञान :- अवधिज्ञानावरण के क्षयोपशम और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम के समय उत्पन्न होनेवाले, मूर्तिकद्रव्यमात्र को विषय करनेवाले ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं।

मन:पर्ययज्ञान :- मन:पर्ययज्ञानावरण तथा वीर्यान्तराय के क्षयोपशम के समय उत्पन्न होनेवाले परमनोगतार्थविषय करनेवाले ज्ञान को मन:पर्ययज्ञान कहते हैं।

मतिज्ञान के समान अवधिज्ञान के और मन:पर्ययज्ञान के अवान्तरभेद तत्त्वार्थराजवार्तिक और श्लोकवार्तिक ग्रन्थों से जानना चाहिये।

विशेषार्थ- केवल आत्मसापेक्ष तथा सर्वरूप से विशदज्ञान को पारमार्थिक प्रत्यक्षज्ञान कहते हैं। उसके सकल और विकल ऐसे दो भेद हैं।

विकल पारमार्थिक प्रत्यक्षज्ञान-अल्प अंशों को जाननेवाले ज्ञान को विकल पारमार्थिक प्रत्यक्षज्ञान कहते हैं। उसके भेद- (आ ३) मन:पर्ययज्ञान, (आ ४) अवधिज्ञान, (आ ५) मतिज्ञान और (आ ५) श्रुतज्ञान हैं। इसके लिये चार्ट नंबर ७ देखिये।

(आ ३) मन:पर्ययज्ञान स्व-पर प्रकाशक-ज्ञान है।

मन:पर्ययज्ञानपर्याय		विषय
स्व	पर/अर्थ	
मैं	परमनोगत सुवर्ण अंगूठी जानता हूँ।	मनोगत सुवर्ण अंगूठी

(आ ४) अवधिज्ञान भी स्व-पर प्रकाशक-ज्ञान है।

अवधिज्ञानपर्याय		विषय
स्व	पर/अर्थ	
मैं	मकान जानता हूँ।	मकान

(आ ५) मतिज्ञान भी स्व-पर प्रकाशक है।

शुद्धात्मानुभव मतिज्ञानपर्याय		विषय
स्व	पर/अर्थ	
मैं (मैं	निजध्रुवशुद्धज्ञानानंदात्मा जानता हूँ। स्वध्रुवशुद्धज्ञानानंदात्मा जानता हूँ।)	निजध्रुव-शुद्धज्ञानानंदात्मा

(आ ५) श्रुतज्ञान भी स्व-पर प्रकाशक है।

	शुद्धात्मानुभव श्रुतज्ञानपर्याय	विषय
स्व	पर/अर्थ	
मैं	निजध्रुवशुद्धज्ञानानंदात्मा जानता हूँ।	निजध्रुव-शुद्धज्ञानानंदात्मा
(मैं	स्वध्रुवशुद्धज्ञानानंदात्मा जानता हूँ।)	

अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञानों के द्वारा शुद्धात्मानुभव नहीं होता है क्योंकि ध्रुवात्मा अमूर्तिक (अरूपी) है और अवधिज्ञान तथा मन:पर्ययज्ञान का विषय मूर्तिक पुद्गलद्रव्य है।

जो लोग 'अवधिज्ञान की समाधि' मानते हैं, वह योग्य नहीं। जो लोग 'मन:पर्ययज्ञान की समाधि' मानते हैं, वह योग्य नहीं। जो लोग 'भविष्य जाननेवाले मति-श्रुतज्ञान को समाधि' मानते हैं, वह भी योग्य नहीं।

संस्कृत पृष्ठ नं. ७१, संस्कृत परिच्छेद नं. १४, १५ →

सकल पारमार्थिक प्रत्यक्षज्ञान – सर्व द्रव्यपर्यायों-विषयों को सकल, ऐसा कहते हैं; और सब द्रव्यों तथा उनकी सब पर्यायों को प्रत्यक्ष जाननेवाले ज्ञान को सकलपारमार्थिक प्रत्यक्षज्ञान ऐसा कहते हैं; और वह सकलप्रत्यक्षज्ञान ज्ञानावरणादि घातिकर्मों का नाश होते समय उत्पन्न होनेवाला केवलज्ञान ही है क्योंकि सर्व द्रव्यों और सर्व पर्यायों में केवलज्ञान की (ही) प्रवृत्ति है, [ऐसा तत्त्वार्थसूत्र का वचन है।] ऐसा केवलज्ञानी का उपदेश है।

इस प्रकार अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये तीन ज्ञान संपूर्णरूप से वैशद्य होने से पारमार्थिक प्रत्यक्ष हैं; और आत्ममात्र सापेक्षपना होने से संपूर्णत: वैशद्य हैं।

विशेषार्थ–जिस समय सर्वज्ञ याने केवलज्ञान अवस्था प्रकट होती है, उस समय ज्ञानावरणादि घातिकर्मों का नाश होता है। सर्वज्ञपर्याय का उत्पाद हो गया, इसलिये ज्ञानगुण में सर्वज्ञत्व शक्ति है। जो सर्वज्ञ अवस्था प्रकट होती है, उसमें कब क्या होगा, यह सब सुनिश्चितरूप से जाना जाता है। इसलिये **अवस्था क्रमनियमित** है, यह सिद्ध होता है। **पुरुषार्थ** आदि भी जाना जाता है। **अवस्था (पर्याय) क्रमनियमित** है और **गुण अक्रम** (सहभू) हैं।

स्थूलनय से (उत्सर्गनय से) अवधिज्ञान, मन:पर्ययज्ञान और केवलज्ञान इनमें सम्पूर्णरूप से वैशद्य है क्योंकि आत्ममात्रसापेक्ष है; और सूक्ष्मनय से (अपवादनय से) [आ ५] शुद्धात्मानुभवमतिज्ञान तथा [आ ५] शुद्धात्मानुभवश्रुतज्ञान इनमें भी सम्पूर्णरूप से वैशद्य है क्योंकि आत्ममात्रसापेक्ष है; और इन्द्रियादिक परपदार्थ की अपेक्षा नहीं है।

संस्कृत पृष्ठ नं. ७१-७२, संस्कृत परिच्छेद नं. १६ →

शंका– केवलज्ञान (सर्वज्ञपर्याय) में पारमार्थिकप्रत्यक्षत्व रहो (मान्य है)। लेकिन अवधिज्ञान-मन:पर्ययज्ञानों को पारमार्थिकप्रत्यक्ष मानना योग्य नहीं क्योंकि अवधिज्ञान-मन:पर्ययज्ञानों में विकलपना है।

समाधान– यह आपका कथन योग्य नहीं है क्योंकि यहाँ साकल्य और वैकल्य इनमें विषयोपाधिकत्व है। उसका स्पष्टीकरण - सर्व द्रव्यों और सर्व पर्यायों को विषय करनेवाला केवलज्ञान है लेकिन अवधिज्ञान

और मन:पर्ययज्ञान कतिपयविषय होने से विकल हैं। इतने मात्र से अवधिमन:पर्ययज्ञानों की पारमार्थिकपना से च्युति नहीं होती है। केवलज्ञान के समान अवधिज्ञान में और मन:पर्ययज्ञान में स्वविषय में साकल्य से वैशद्य है, इसलिये अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान भी पारमार्थिक प्रत्यक्षज्ञान ही हैं।

विशेषार्थ – शंका – [आ २] केवलज्ञान में पारमार्थिक प्रत्यक्षत्व है, यह मान्य है। लेकिन [आ ३] मन:पर्ययज्ञान, [आ ४] अवधिज्ञान, [आ ५] स्वानुभव मतिज्ञान और [आ ५] स्वानुभव श्रुतज्ञान इनको पारमार्थिक प्रत्यक्ष मानना योग्य नहीं, क्योंकि अवधि आदि ज्ञानों में विकलपना (एकदेश स्पष्टपना) है, केवलज्ञान के समान उनमें साकल्य (संपूर्णरूप) से स्पष्टपना नहीं है।

समाधान – यह आपका कथन योग्य नहीं है, क्योंकि पारमार्थिक प्रत्यक्षज्ञान के (१) सकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष और (२) विकल पारमार्थिक प्रत्यक्ष ऐसे जो भेद हैं, वे भेद **विषय की अपेक्षा से भेद हैं;** स्पष्ट जानने की अपेक्षा से वे भेद नहीं हैं। सर्व द्रव्यों और सर्व पर्यायों को विषय करनेवाला केवलज्ञान है, वह जैसे आत्ममात्रसापेक्षपना से स्पष्ट जानता है; वैसे ही अल्पपर्यायों सहित पुद्गलद्रव्य को जाननेवाले अवधिज्ञान-मन:पर्ययज्ञान भी आत्ममात्र सापेक्षपना से स्पष्ट जानते हैं और [आ ५] स्वानुभव मतिज्ञान (निर्विकल्प शुद्धात्मानुभव मतिज्ञान) तथा [आ ५] स्वानुभव श्रुतज्ञान (निर्विकल्प शुद्धात्मानुभव श्रुतज्ञान) भी **आत्ममात्र सापेक्षपना से स्पष्ट जानते हैं।** इसलिये [आ ३] मन:पर्ययज्ञान, [आ ४] अवधिज्ञान, [आ ५] स्वानुभव मतिज्ञान और [आ ५] स्वानुभव श्रुतज्ञान इन में पारमार्थिक प्रत्यक्षज्ञानत्व है।

संस्कृत पृष्ठ नं. ७२, संस्कृत परिच्छेद नं. १७ →

[अवधि आदि तीन ज्ञानों के अतीन्द्रियप्रत्यक्षत्व का प्रतिपादन]

शंका – अक्ष याने चक्षु आदि इन्द्रियाँ। इन्द्रिय को अक्ष कहते हैं। इन्द्रिय से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसको प्रत्यक्ष (प्रति+अक्ष=प्रत्यक्ष) कहना ठीक है लेकिन इन्द्रियनिरपेक्ष अवधि आदि ज्ञानों को प्रत्यक्ष कहना ठीक नहीं है।

समाधान – यह कथन योग्य नहीं क्योंकि इन्द्रियनिरपेक्ष होते हुए भी आत्ममात्रसापेक्षवाले [आ २] केवलज्ञान, [आ ३] मन:पर्ययज्ञान, [आ ४] अवधिज्ञान, [आ ५] स्वात्मानुभव मतिज्ञान और [आ ५] स्वात्मानुभव श्रुतज्ञान इनके प्रत्यक्षत्व का विरोध नहीं आता है। प्रत्यक्षता का प्रयोजक स्पष्टत्व ही है, इन्द्रियजन्यत्व प्रत्यक्षता का प्रयोजक नहीं। इस कारण से ही 'स्पष्टत्व' यह लक्षण [आ २] केवलज्ञान, [आ ३] मन:पर्ययज्ञान, [आ ४] अवधिज्ञान, [आ ५] स्वात्मानुभव मतिज्ञान और [आ ५] स्वात्मानुभव श्रुतज्ञान इन में होने से वे प्रत्यक्ष हैं। इसलिये ज्ञानत्व से प्रतिपन्न [आ १] मतिज्ञान, [आ १] श्रुतज्ञान, [आ २] केवलज्ञान, [आ ३] मन:पर्ययज्ञान, [आ ४] अवधिज्ञान, [आ ५] स्वात्मानुभव मतिज्ञान और [आ ५] स्वात्मानुभव श्रुतज्ञान इन में से (इन्द्रियमनोजनित या प्रतीत्यन्तर की अपेक्षावाले) [आ १] मतिज्ञान और [आ १] श्रुतज्ञान परोक्ष हैं। शेष अन्य ज्ञानों को प्रत्यक्ष कहा है।

संस्कृत पृष्ठ ७२, संस्कृत परिच्छेद नं. १८ →

शंका – तो फिर इन को प्रत्यक्ष शब्दवाच्यत्व कैसे है?

समाधान – हम इन्हें रूढ़ि से प्रत्यक्ष कहते हैं।

विशेषार्थ – शंका – [आ २] केवलज्ञान, [आ ३] मन:पर्ययज्ञान, [आ ४] अवधिज्ञान, [आ ५] स्वात्मानुभव

मतिज्ञान और [आ५] स्वात्मानुभव श्रुतज्ञान ये ज्ञान आत्ममात्रसापेक्षपने से उत्पन्न होते हैं, तो फिर इन को प्रत्यक्ष शब्द से क्यों कहा जाता है? क्योंकि प्रति+अक्ष=प्रत्यक्ष, ऐसा है; अक्ष याने इन्द्रिय; अतः इन्द्रियों की अपेक्षा रखनेवाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं।

समाधान– हम इन को रूढ़ि से प्रत्यक्ष कहते हैं। अर्थात् लौकिक या यौगिक में अक्ष याने इन्द्रिय, ऐसा अर्थ है; वह प्रत्यक्ष शब्द का व्युत्पत्ति अर्थ न करके **(प्रति + अक्ष = अपेक्षा + अक्ष याने आत्मा)** आत्ममात्रसापेक्षवाले इन ज्ञानों को प्रत्यक्ष कहते हैं क्योंकि प्रत्यक्षज्ञान में स्पष्टता है। वह स्पष्टता केवलज्ञानादि में है, इसलिये आत्ममात्रसापेक्षवाले ज्ञानों को प्रत्यक्ष कहते हैं।

संस्कृत पृष्ठ ७३, संस्कृत परिच्छेद नं. १९ →

अथवा व्युत्पत्ति अर्थ भी इन में मौजूद है। 'अक्ष्णोति व्याप्नोति जानाति इति अक्ष आत्मा' अर्थात् जो व्याप्त करे - जाने उसे अक्ष कहते हैं और वह आत्मा है। इस व्युत्पत्ति को लेकर अक्ष शब्द का अर्थ आत्मा भी होता है। इसलिये उस अक्ष याने आत्मा मात्र की अपेक्षा लेकर उत्पन्न होनेवाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहने में क्या बाधा है? अर्थात् कोई बाधा नहीं है।

शंका– यदि ऐसा माना जाय तो इन्द्रियजन्य ज्ञान अप्रत्यक्ष कहलायेगा?

समाधान–हे वत्स! हमें खेद है कि आप भूल जाते हैं। हम यह कह आये हैं कि वास्तव में इन्द्रियजन्य ज्ञान उपचार से प्रत्यक्ष है। इसलिये वह इच्छानुसार अप्रत्यक्ष हो, इस में हमारी कोई हानि नहीं है।

इस विवेचन से 'इन्द्रियनिरपेक्ष ज्ञान को परोक्ष' कहने की मान्यता का भी खण्डन हो जाता है, क्योंकि अविशदता (अस्पष्टता) को ही परोक्ष का लक्षण माना गया है।

विशेषार्थ– जिस प्रकार इन्द्रियसापेक्षता प्रत्यक्षता में प्रयोजक नहीं है, उसी प्रकार इन्द्रियनिरपेक्षता परोक्षता में भी प्रयोजक नहीं है लेकिन **प्रत्यक्षता में स्पष्टता प्रयोजक** है, उसी तरह **परोक्षता में अस्पष्टता कारण** है।

संस्कृत पृष्ठ नं. ७३, संस्कृत परिच्छेद नं. २० →

शंका– 'इस अतीन्द्रिय ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान मानना' यह अति साहस (मूर्खता) की बात है क्योंकि वह असंभव है। यदि असंभव की भी कल्पना करे तो आकाश के फूल आदि को भी सत्य मानने का प्रसंग (दोष) आयेगा।

समाधान – यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि आकाश के फूल आदि अप्रसिद्ध (असद्भाव) हैं, लेकिन अतीन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान प्रमाण से सिद्ध है। वह इस प्रकार से है-

जो केवलज्ञान अतीन्द्रिय है, वह अल्पज्ञ (किंचिज्ज्ञ) कपिल आदि के असंभव होने पर भी अर्हन्त में अवश्य संभव है; वे अर्हन्त भगवान निश्चित ही सर्वज्ञ हैं।

विशेषार्थ– **शंका** – इन्द्रियज्ञान ही प्रत्यक्ष है; क्योंकि हम इन्द्रिय से जानते हैं, मस्तिष्क से जानते हैं, यह प्रत्यक्ष है। ऐसी व्यवस्था प्रतीति में आती हुई भी 'अतीन्द्रियज्ञान को प्रत्यक्ष मानना' यह ठीक नहीं है। झूठी कल्पना है।

समाधान – 'अतीन्द्रियज्ञान प्रत्यक्ष है', क्योंकि प्रमाण से सिद्ध है। जो केवलज्ञान है, वह अल्पज्ञ जीव में असंभव होने पर भी उसका अर्हन्त में अवश्य सद्भाव है, क्योंकि अर्हन्त सर्वज्ञ हैं; और अनुमान से सर्वज्ञ की सिद्धि होती है। इसमें कुछ भी असत्य कल्पना (विचार) नहीं है।

अपने में सर्वज्ञत्व शक्ति है, इसलिये एक समय में सभी जानकारी प्राप्त होने की कोशिश (यत्न) करते हैं। सभी भोग एक साथ एक समय में प्राप्त हों, ऐसी इच्छा करते हैं। आप जब चित्रपट देखना चाहते हैं, उसी समय ध्वनि भी सुनना चाहते हैं, उसी समय वातानुकूलता योग्य स्पर्शनेंद्रिय के विषय की जानकारी होने की भी इच्छा करते हैं, उसी समय सुगंध जानने के लिये सुगंधी फूल, इत्र भी रखते हैं। उसी समय कुछ स्वादिष्ट पदार्थ का स्वाद लेने की चेष्टा भी करते हैं। उसी प्रकार के लॉज, होटल, विश्रामधाम में जाते हैं; और सब कुछ जानने के लिये टी.व्ही., टेलिफोन, वृत्तपत्र (अखबार) आदि की व्यवस्था बनाने का यत्न करते हैं। यह अज्ञान है, इसलिये दुःखी हैं क्योंकि अपने में सर्वज्ञत्व शक्ति है; और भी सर्वज्ञ की सिद्धि करनेवाला कथन आगे करते हैं।

संस्कृत पृष्ठ ७४, संस्कृत परिच्छेद २१→

[प्रसंगवश सर्वज्ञसिद्धि]

शंका – सर्वज्ञता ही जब अप्रसिद्ध है तब आप यह कैसे कह सकते हैं कि 'अर्हन्त भगवान सर्वज्ञ हैं' क्योंकि जो सामान्यरूप से कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है, उसका किसी खास (विशिष्ट) जगह में व्यवस्थापन नहीं हो सकता है?

समाधान – यह आपका कथन ठीक नहीं है क्योंकि - 'सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि वे अनुमेय हैं, जैसे अग्नि आदि पदार्थ' इस अनुमान से सर्वज्ञत्व सिद्ध है।

श्री स्वामी समन्तभद्राचार्यजी ने भी गंधहस्ती महाभाष्य के प्रारम्भ में आप्तमीमांसा स्तवन (स्तुति) में कहा है-

''सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि वे अनुमेय है, जैसे अग्नि आदि। इस अनुमान से सर्वज्ञ की सिद्धि होती है। (कारिका ५)''

विशेषार्थ– शंका – सर्वज्ञता ही प्रसिद्ध नहीं है। यहाँ अल्पज्ञ जीव हैं। कुछ विषयों को जानते हैं, सभी द्रव्यों और सभी अवस्थाओं को, सभी गुणों को जाननेवाला यहाँ कोई प्रतीति में नहीं आता है। तब 'अर्हन्त सर्वज्ञ हैं' यह कथन ठीक नहीं है।

समाधान – यह आपका कथन योग्य नहीं है, क्योंकि अनुमान से सर्वज्ञ की सिद्धि होती है। 'सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं क्योंकि वे अनुमेय हैं, प्रमेय हैं। जैसे- यहाँ से धुआँ देखा। धुआँ से अनुमान किया कि वहाँ अग्नि है। यहाँ अग्नि को अनुमान से जाना। वह अग्नि 'परोक्ष ज्ञान' का विषय याने प्रमेय हो गयी। उस गली में स्थित लोगों ने उसी अग्नि को प्रत्यक्ष ज्ञान से जाना। वह अग्नि 'प्रत्यक्षज्ञान' का विषय याने प्रमेय है। उसी तरह सूक्ष्म पदार्थ, अन्तरित पदार्थ और दूरवर्ती पदार्थ हम परोक्षज्ञान से जानते हैं; उन पदार्थों में प्रमेयत्व है, इसलिये वे पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय होते हैं। जिस किसी जीव को सब द्रव्य और सब पर्यायें प्रत्यक्ष हैं, वह जीव सर्वज्ञ है। **श्री कुंदकुंदाचार्यरचित प्रवचनसार-ग्रंथ में भी सर्वज्ञ की सिद्धि की है। (देखिये गाथा १ से ८० तक।)**

संस्कृत पृष्ठ ७४, संस्कृत परिच्छेद नं. २२→

सूक्ष्म अर्थात् स्वभावविप्रकृष्ट, जैसे परमाणु आदि। अन्तरित याने कालविप्रकृष्ट, जैसे भूतकालीन राम आदि। दूर याने देशविप्रकृष्ट जैसे मेरु आदि। ये 'स्वभाव-काल-देशविप्रकृष्ट पदार्थ' धर्मीपना से विवक्षित हैं। उनका 'किसी के प्रत्यक्ष होना' यह साध्य है। यहाँ प्रत्यक्षत्व (प्रत्यक्ष होना) याने प्रत्यक्षज्ञान का विषयपना, यह भावार्थ है क्योंकि विषयी-धर्म (ज्ञानपर्याय) का विषय में भी उपचार किया जा सकता है। यहाँ 'अनुमेयत्व' यह हेतु है।' 'अग्नि आदि' दृष्टान्त है। 'अग्नि आदि' दृष्टान्त में 'अनुमेयत्व' यह हेतु 'किसी के प्रत्यक्ष है' इस साध्य के साथ पाया जाता है। इस तरह 'अनुमेयत्व' यह हेतु 'परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थों में' भी 'किसी के प्रत्यक्ष है' इस साध्य की सिद्धि करता ही है; और परमाणु आदि में अनुमेयत्व की असिद्धि नहीं है क्योंकि उनमें 'अनुमेयत्व है' इसके बारे में सभी को विवाद नहीं है अर्थात् सभी मतवाले इन पदार्थों को अनुमेय मानते हैं।

विशेषार्थ – विप्रकृष्ट याने दूर। दूसरे जीव के चित्त में होनेवाले मूर्त या अमूर्त पदार्थ के विचार तथा परमाणु आदि पदार्थ स्वभाव से विप्रकृष्ट हैं, वे सूक्ष्म हैं। भूतकालीन रामपांडवादि, भाविकालीन तीर्थंकरादि और एक समयवर्ती पर्याय छद्मस्थों (असर्वज्ञों) को प्रत्यक्ष न होने से काल की अपेक्षा से कालविप्रकृष्ट-अन्तरित हैं। दूरक्षेत्र में स्थित मेरु पर्वत आदि क्षेत्र की अपेक्षा से देशविप्रकृष्ट हैं, दूर हैं।

वे स्वभाव-काल-देशविप्रकृष्ट याने सूक्ष्म-अन्तरित-दूरवर्ती पदार्थ धर्मीपना से यहाँ विवक्षित हैं, अर्थात् वे पक्ष हैं। वे सूक्ष्म पदार्थ और दूरवर्ती पदार्थ 'किसी के प्रत्यक्ष हैं' यह साध्य है। यहाँ प्रत्यक्ष शब्द का अर्थ 'प्रत्यक्षज्ञान के विषय' यह विवक्षित है क्योंकि ज्ञान (विषयी) के धर्म (पर्याय अथवा अंश) का विषय में उपचार किया है।

यहाँ 'अनुमेयत्व' यह हेतु है; और जो-जो अनुमान (परोक्षज्ञान) के विषय होते हैं, वे-वे किसी प्रत्यक्षज्ञान के विषय होते हैं जैसे 'अग्नि आदि' यह अन्वयदृष्टान्त है। अग्नि आदि दृष्टान्त में 'अनुमेयत्व याने प्रमेयत्व' यह हेतु 'किसी के प्रत्यक्ष हैं' इस साध्य के साथ पाया जाता है याने अविनाभाव है। इस तरह 'परमाणु आदि सूक्ष्म पदार्थों में' भी अनुमेयत्व याने प्रमेयत्व है। यह अनुमेयत्व हेतु 'परमाणु आदि में' भी 'किसी के प्रत्यक्ष हैं' इस साध्य की सिद्धि करता ही है।

परमाणु आदि में 'अनुमेयत्व' है क्योंकि स्कन्ध के खण्ड होते हैं, उस के और भी खण्ड करने पर अन्तिम अणुरूप द्रव्य ही परमाणु है। इसलिये परमाणु में अनुमेयत्व है। अनुमेय याने जो अनुमान से जाना जाता है। अथवा जो अनुमेय है, वह प्रमेय है। जो-जो वस्तु परोक्षज्ञान का विषय/प्रमेय होती है, वह-वह वस्तु किसी प्रत्यक्षज्ञान का विषय/प्रमेय भी होती है। वस्तुमात्र के 'प्रमेयत्व गुण' के बारे में किसी को भी विरोध नहीं है। इसलिये सर्व द्रव्यों को और सर्व पर्यायों को प्रत्यक्ष जाननेवाली सर्वज्ञपर्याय होती है।

संस्कृत पृष्ठ नं ७४-७५, संस्कृत परिच्छेद नं. २३→

शंका – सूक्ष्मादि पदार्थों को प्रत्यक्ष सिद्ध करने के द्वारा किसी के सम्पूर्ण पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, यह मान्य है। लेकिन 'वह ज्ञान अतीन्द्रियज्ञान है' यह कैसे?

समाधान – इस प्रकार, यदि वह ज्ञान ऐन्द्रियक (इन्द्रियजन्य) हो तो वह ज्ञान अशेष विषय को जाननेवाला नहीं होगा क्योंकि इन्द्रियों की स्वयोग्य विषय में ही ज्ञानजनकत्वशक्ति है; और सूक्ष्मादि

पदार्थ इन्द्रियों के योग्य विषय नहीं हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि अशेष विषय को जाननेवाला वह ज्ञान अनैन्द्रियक (अतीन्द्रिय) ही है। और इस अर्थ के बारे में सर्वज्ञवादियों को विवाद नहीं है। जो बाह्य (नैयायिकादि) हैं वे भी कहते हैं कि- 'अदृष्टादि (पुण्य-पापादि) किसी के प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि उनमें प्रमेयत्व है'।

विशेषार्थ – शंका– सूक्ष्मादि पदार्थों को प्रत्यक्ष ज्ञान जानता है और सम्पूर्ण पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, यह ठीक है। लेकिन सम्पूर्ण पदार्थों को याने सर्व द्रव्यों को और सर्व पर्यायों को जाननेवाला ज्ञान 'अतीन्द्रियज्ञान' है, यह कैसे?

समाधान – इन्द्रियों की स्वयोग्यविषय में ही ज्ञानजनकत्व शक्ति है। स्पर्शनेंद्रिय स्पर्श को स्थूलरूप से जानती है, सूक्ष्म रूप से नहीं जानती, अस्पर्शादि को नहीं जानती। इसी तरह अन्य इन्द्रियाँ भी स्वयोग्यविषय में ज्ञानजनकत्वशक्तिवाली हैं। सूक्ष्मादि पदार्थ इन्द्रियों के योग्य विषय नहीं हैं, इसलिये सम्पूर्ण विषयों को जाननेवाला ज्ञान 'अतीन्द्रियज्ञान' ही है।

संस्कृत पृष्ठ नं. ७५, संस्कृत परिच्छेद नं. २४→

[सामान्य से प्रसिद्ध सर्वज्ञता को अरिहंत भगवान में सिद्ध करते हैं।]

शंका – इस प्रकार अशेषविषयसाक्षात्कारित्वलक्षणवाला अतीन्द्रियप्रत्यक्षज्ञान किसी को होता है, यह ठीक है लेकिन वह सर्वज्ञता अर्हन्त को है, यह कैसे? क्योंकि 'किसी के' यह सर्वनाम शब्द है और सर्वनाम शब्द सामान्य का ज्ञापक है।

समाधान – यह सत्य है क्योंकि प्रकृत अनुमान से 'सामान्यता से' सर्वज्ञत्व की सिद्धि की गयी है। 'अर्हन्त सर्वज्ञ हैं' यह अन्य अनुमान से सिद्ध करते हैं। वह इस तरह- 'अर्हन्त सर्वज्ञ होने के योग्य हैं, क्योंकि वे निर्दोष हैं, किन्तु जो सर्वज्ञ नहीं है वह निर्दोष नहीं है- जैसे रथ्यापुरुष (सड़क पर घूमनेवाला/पागल)।'

यह केवलव्यतिरेकी हेतुजन्य अनुमान है।

विशेषार्थ– शंका – 'कोई जीव सर्वज्ञ है, यह सामान्य सर्वज्ञ सिद्धि ठीक है, लेकिन 'अर्हन्त' को सर्वज्ञत्व है यह कैसे? क्योंकि 'कोई' यह शब्द सामान्य का ज्ञापक (सामान्य का संकेत करनेवाला) है।

समाधान – यह सत्य है क्योंकि प्रकृत अनुमान से '**कोई जीव सर्वज्ञ है अथवा अशेष विषय को प्रत्यक्ष जाननेवाली पर्याय सर्वज्ञपर्याय है**, यह सामान्य से सर्वज्ञत्व की सिद्धि है। अब अन्य अनुमान से 'अर्हन्त सर्वज्ञ हैं' यह सिद्ध करते हैं। जैसे- 'अर्हन्त सर्वज्ञ हैं, क्योंकि वे निर्दोष हैं; किन्तु जो सर्वज्ञ नहीं है, वह निर्दोष नहीं है- जैसे पागल आदमी।'

संस्कृत पृष्ठ नं. ७६, संस्कृत परिच्छेद नं. २५→

आवरण और रागादि ये दोष हैं और इनसे रहितता को निर्दोषत्व कहते हैं। वह निर्दोषत्व सर्वज्ञता के बिना निश्चित ही नहीं हो सकता है क्योंकि अल्पज्ञ के आवरणादि दोषों का अभाव नहीं है। इससे अर्हन्त में निर्दोषत्व है; इस हेतु से अर्हन्त के सर्वज्ञत्व की सिद्धि होती ही है; और अर्हत्परमेष्ठी में 'निर्दोषत्व है' क्योंकि अर्हन्त के वचन युक्तिशास्त्र से अविरोधी हैं। 'अर्हन्त के वचन युक्तिशास्त्र से अविरोधी हैं यह सुव्यवस्थित ही है' क्योंकि अर्हत् अभिमत मोक्ष तथा मोक्ष का कारण और संसार

तथा संसार का कारण और अनेकधर्मात्मक चेतन तथा अचेतन तत्त्व का प्रमाण से अबाधितपना है।

विशेषार्थ – आवरण (याने पुद्गल द्रव्यकर्म) और रागादि (याने भावकर्म) को दोष कहते हैं। व्यवहारनय से द्रव्यकर्मरहित और भावकर्मरहित को निर्दोषपना कहते हैं। सर्वज्ञ के बिना वह निर्दोषता (दोषरहितपना) नहीं होती है क्योंकि अल्पज्ञ के आवरणादि दोषों का अभाव नहीं है। इसलिये निर्दोषत्व (दोषरहितपना) इस हेतु से अर्हन्त के सर्वज्ञता की सिद्धि होती है।

शंका – अर्हन्त दोषरहित हैं, यह कैसे?

समाधान – अर्हन्त दोषरहित हैं क्योंकि अर्हन्त के वचन युक्ति से तथा शास्त्र से अविरोधी हैं।

शंका – अर्हन्त के वचन युक्ति से और शास्त्र से अविरोधी हैं, यह कैसे?

समाधान – अर्हन्त के वचन युक्ति से और शास्त्र से विरोध रहित हैं, क्योंकि

(१) अर्हन्त के द्वारा कथन किया हुआ मोक्ष और मोक्षमार्ग प्रमाण से सिद्ध होता है; और

(२) अर्हन्त के द्वारा कथन किया हुआ संसार और संसार का कारण प्रमाण से सिद्ध होता है; और

(३) अर्हन्त के द्वारा कथन किया हुआ अनेकधर्मात्मक चेतनतत्त्व और अनेकधर्मात्मक अचेतनतत्त्व प्रमाण से सिद्ध है।

इसलिये अर्हन्त यथार्थ प्रवक्ता हैं; और यथार्थ प्रवक्ता होने से अर्हन्त दोषरहित हैं; और दोषरहित होने से अर्हन्त सर्वज्ञ हैं।

संस्कृत पृष्ठ नं. ७६-७७-७८ संस्कृत परिच्छेद नं. २६, २७→

शंका – इस प्रकार से भी अर्हन्त की सर्वज्ञता सिद्ध होने पर अर्हन्त ही सर्वज्ञ हैं, यह कैसे? क्योंकि कपिलादि में भी सर्वज्ञता सम्भाव्य (शक्य) है।

समाधान – कपिलादि सर्वज्ञ नहीं हैं क्योंकि कपिलादि में सदोषपना है। वे सदोष हैं क्योंकि कपिलादि के वचन न्याय से और आगम से विरुद्ध हैं; और उनके माने हुए (अभिमत) मोक्षादि तत्त्व को और सर्वथा एकान्त को प्रमाण से बाधा आती है। इसलिये कपिलादि सर्वज्ञ नहीं हैं, अर्हन्त ही सर्वज्ञ हैं।

श्री स्वामी समन्तभद्राचार्यरचित आप्तमीमांसा स्तुति में ऐसा कथन किया है कि (कारिका ६,७)-

भो अर्हन्त! आप ही सर्वज्ञ हैं क्योंकि आप निर्दोष हैं; और आपका वचन युक्तिशास्त्र से अविरोधी है। आपके वचन में विरोध नहीं है क्योंकि आपके इष्ट (मोक्षादि तत्त्व) प्रमाण से बाधित नहीं हैं। लेकिन आपके अमृतरूप मत से बाह्य रहनेवाले, आप्ताभिमानसे दग्ध सर्वथा एकान्तवादियों का इष्ट (तत्त्व) प्रत्यक्ष से बाधित होता है।

इन दो कारिकाओं के द्वारा पराभिमत तत्त्व में बाधा और स्वाभिमत तत्त्व में अबाधा बताई है। उसी का ही समर्थन करने के लिये 'भावैकान्ते' इत्यादि [कारिका ९] से 'स्यात्कारः सत्यलाञ्छनः' [कारिका ११२] तक आप्तमीमांसा (देवागमस्तोत्र) में वर्णन किया है। इसलिये यहाँ विस्तार से कथन नहीं किया है।

विशेषार्थ– शंका – इस प्रकार से भी अर्हन्त की सर्वज्ञता सिद्ध होने पर अर्हन्त ही सर्वज्ञ हैं, अन्य नहीं,

यह कैसे? क्योंकि कॉम्प्युटर भी सर्वज्ञ हो सकता है, कपिल में भी सर्वज्ञता सम्भाव्य है, बौद्ध में भी सर्वज्ञता सम्भाव्य है, मस्करी (मंखली) में अथवा अन्य में भी सर्वज्ञता सम्भाव्य है।

समाधान – भो प्रभु! ॐ! कॉम्प्युटर अथवा रोबो अचेतन है क्योंकि **उसमें स्वसंवेदन नहीं है।** कॉम्प्युटर में **ज्ञानगुणरूप त्रिकालवर्ती उपादान नहीं है और ज्ञानपर्यायरूप क्षणिक उपादान भी नहीं है,** यह प्रथम अध्याय में प्रतिपादन किया था। इसलिये कॉम्प्युटर में सर्वज्ञता नहीं है।

कपिलादि में ज्ञानदर्शनमय चेतनागुण है, इसलिये त्रिकालवर्ती उपादान है, लेकिन कपिलादि की ज्ञानपर्याय में सर्वज्ञपर्याय बनने का क्षणिक उपादान नहीं है, क्योंकि–

(१) कपिल ने जो जाना था, वही वचन में आया है;
(२) बौद्ध ने जो जाना था, वही वचन में आया है;
(३) मस्करीने जो जाना था, वही वचन में आया है;
(४) वैशेषिक ने जो जाना था, वही वचन में आया है;
(५) अन्य के द्वारा जो जाना है, वही वचन में आया है; और

उनके वचन न्याय से (वस्तुस्वरूप से) और आगम से विरुद्ध हैं। उनके अभिमत मोक्षादितत्त्व को/आनंदतत्त्व को और सर्वथा एकान्त को प्रमाण से बाधा आती है। उसके कुछ उदाहरण प्रथम और द्वितीय अध्याय में आये हैं और कुछ उदाहरण तृतीय अध्याय में हैं; और अष्टसहस्री, पंचास्तिकायसंग्रह, प्रवचनसार, समयसार, बृहद्द्रव्यसंग्रह, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, परमात्मप्रकाश, प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र आदि ग्रन्थों में हैं। इसलिये कपिलादि सर्वज्ञ नहीं हैं क्योंकि वे सदोष हैं; और अर्हन्त ही सर्वज्ञ हैं क्योंकि वे निर्दोष हैं ।

संस्कृत पृष्ठ नं. ७८, संस्कृत परिच्छेद नं. २८→

इस प्रकार से वह अतीन्द्रिय केवलज्ञान अर्हन्त को ही है, ऐसा सिद्ध हो गया। उनके वचनप्रामाण्य से अवधिज्ञान में और मन:पर्ययज्ञान में निर्दोष अतीन्द्रिय प्रत्यक्षपना है, इसकी सिद्धि होती है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि- (१) सांव्यवहारिक और (२) पारमार्थिक, ऐसे दो प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञान हैं।

इस प्रकार श्री परमार्हताचार्य धर्मभूषण यति विरचित न्यायदीपिका में प्रत्यक्षप्रमाण का प्रकाश करनेवाला द्वितीय प्रकाश पूर्ण हुआ ।

विशेषार्थ – निर्दोष होने से अर्हन्त सर्वज्ञ हैं याने सर्व द्रव्यों और सर्व पर्यायों को अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान से जानते हैं। अर्हन्त के वचन सत्य होने से उनके द्वारा यह कथन किया गया है कि (आ ३) मन:पर्ययज्ञान, (आ ४) अवधिज्ञान, (आ ५) स्वानुभव मतिज्ञान और (आ ५) स्वानुभव श्रुतज्ञान इनमें अतीन्द्रिय प्रत्यक्षपना है और इनमें पारमार्थिक प्रत्यक्षपना है; और केवलज्ञान में तो पारमार्थिक प्रत्यक्षपना है ही।

द्वितीय अध्याय पूर्ण हुआ।

ॐ

अध्यात्मन्यायदीपिका

तृतीय अध्याय

परोक्ष प्रकाश

संस्कृत पृष्ठ नं. ७१, संस्कृत परिच्छेद नं. १→

अब परोक्ष प्रमाण का कथन करते हैं। परोक्ष ज्ञान–अविशदप्रतिभास को परोक्ष कहते हैं। यहाँ परोक्ष लक्ष्य है, और अविशदप्रतिभासत्व लक्षण है। 'जिस ज्ञान का प्रतिभास विशद नहीं है, वह परोक्ष प्रमाण है' ऐसा भावार्थ है। वैशद्य का लक्षण पहले (प्रत्यक्ष प्रकाश अध्याय में पृष्ठ २३१ पर) कह आये हैं। उससे अन्य याने अवैशद्य अर्थात् अस्पष्टत्व है। यह भी अनुभवसिद्ध ही है।

विशेषार्थ – जानने के (ज्ञान के) या ध्यान के मुख्य साधन दो ही हैं। पहले यह कथन कर आये हैं कि '**सभी ध्यान ज्ञानपर्यायात्मक ही है**, इसमें किसी को भी विवाद नहीं है। [**श्लोकवार्तिक-अध्याय ९, सूत्र २७ की संस्कृत गद्य टीका–**

"... **सर्वस्य ध्यानस्य ज्ञानात्मकत्वप्रसिद्धेः।**"]

अतः एक अपेक्षा से निजध्रुवशुद्धात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष जानना शुद्ध ध्यान है। परोक्ष जानना अशुद्ध ध्यान है।

ज्ञानपर्याय के प्रत्यक्ष ज्ञान और परोक्ष ज्ञान– ये दो भेद हैं। यदि कोई व्यक्ति किसी वस्तु को जान रहा है, उस समय जब परोक्ष ज्ञान से जानता नहीं अर्थात् तब पारिशेषन्याय से वह उस वस्तु को प्रत्यक्ष ज्ञान से जान रहा है, यह सिद्ध होता है। प्रत्यक्ष ज्ञानपर्याय का विशदप्रतिभास यह लक्षण है, उसका कथन द्वितीय अध्याय में किया है। यहाँ परोक्ष ज्ञानपर्याय के लक्षण का कथन करते हैं। अविशदप्रतिभास यानी अस्पष्टज्ञान को परोक्ष ज्ञान कहते हैं। जैसे अग्नि लक्ष्य है और अग्नि का लक्षण उष्णता है, गाय लक्ष्य है और गाय का लक्षण सास्नादिमानपना है, जीव लक्ष्य है और जीव का लक्षण ज्ञान-दर्शन है; वैसे यहाँ परोक्ष ज्ञानपर्याय लक्ष्य है और अविशदप्रतिभासपना लक्षण है। जिस ज्ञानपर्याय में स्पष्ट प्रतीति नहीं है, वह परोक्ष ज्ञानपर्याय है।

यह समझ में आने से ध्यान करनेवाले जीव को यह ख्याल में आता है कि मैं निजध्रुवात्मा को प्रत्यक्ष ज्ञान से जान रहा हूँ अथवा परोक्ष ज्ञान से जान रहा हूँ। इसके लिये देखिए चार्ट नं. १४।

चार्ट नं. १४

निजध्रुव चिदानंद आत्मा को जानने की पद्धति

1. 'यह' मैं ध्रुवचिदानंदात्मा हूँ। ← यहाँ 'यह' (इदन्ता) की प्रतीति है, इसलिये यह '**प्रत्यक्ष ज्ञान**' है, शुद्धात्मानुभव है, निर्विकल्प ज्ञान है।
2. 'वह' मैं ध्रुवचिदानंदात्मा था। ← यहाँ 'वह' (तत्ता) की प्रतीति है, इसलिये यह '**स्मरणज्ञान**' है, परोक्ष ज्ञान है, शुद्धात्मानुभव नहीं।
3. जो मैं पूर्व में ध्रुवचिदानंदात्मा था, वह यह ध्रुवचिदानंदात्मा हूँ। ← यहाँ 'वह + यह' के संकलन (इदन्ता और तत्ता के संकलन) की प्रतीति है, इसलिये वह '**प्रत्यभिज्ञान**' है, परोक्ष ज्ञान है, शुद्धात्मानुभव नहीं।
4. जो-जो जीव है वह-वह, ध्रुवचिदानंदात्मा है। ← यहाँ 'जो-जो + वह-वह' रूप व्याप्ति की प्रतीति है, इसलिये यह '**तर्कज्ञान**' है, यह परोक्ष ज्ञान है, शुद्धात्मानुभव नहीं।
5. मैं ध्रुवचिदानंदात्मा हूँ, क्योंकि यह पर्याय है। (साध्य) (साधन) ← यहाँ 'साधन के द्वारा साध्य की' प्रतीति है, इसलिये '**अनुमानज्ञान**' है, यह परोक्ष ज्ञान है, शुद्धात्मानुभव नहीं।
6. मैं ध्रुवचिदानंदात्मा हूँ। ← यहाँ 'अन्तर्जल्प' रूप प्रतीति है, इसलिये यह '**नयज्ञान**' है, परोक्ष ज्ञान है, शुद्धात्मानुभव नहीं।

पर्याय को जानने की पद्धति

1. 'यह' मैं दुःखी हूँ। ← यहाँ 'यह' (इदन्ता) की प्रतीति है, इसलिये यह '**प्रत्यक्ष ज्ञान**' है।
2. 'वह' मैं दुःखी था। ← यहाँ 'वह' (तत्ता) की प्रतीति है, इसलिये यह '**स्मरणज्ञान**' है, परोक्ष ज्ञान है।
3. जो मैं पूर्व में दुःखी था, वह यह दुःखी हूँ। ← यहाँ 'यह + वह' के संकलन (इदन्ता और तत्ता के संकलन) की प्रतीति है इसलिये यह '**प्रत्यभिज्ञान**' है, परोक्ष ज्ञान है।
4. जो-जो जीव शल्यसहित होता है, वह-वह दुःखी होता है। ← यहाँ 'जो-जो + वह-वह' रूप व्याप्ति की प्रतीति है, इसलिये यह '**तर्कज्ञान**' है, परोक्ष ज्ञान है।
5. मैं दुःखी हूँ, क्योंकि मेरे हृदय में शल्य है। (साध्य) (साधन) ← यहाँ 'साधन के द्वारा साध्य' की प्रतीति है, इसलिये यह '**अनुमानज्ञान**' है, परोक्ष ज्ञान है।
6. मैं दुःखी हूँ। ← यहाँ 'अंतर्जल्प' रूप प्रतीति है, इसलिये यह '**नयज्ञान**' है, परोक्ष ज्ञान है।

संस्कृत पृष्ठ नंबर ७९, संस्कृत परिच्छेद नंबर २ →

शंका (बौद्ध आदि)– 'सामान्यमात्र-विषयत्व' यह परोक्ष प्रमाण का लक्षण है, ऐसा मानो।

समाधान (जैन)– यह आपका कथन योग्य नहीं क्योंकि प्रत्यक्ष की तरह परोक्ष का भी सामान्यविशेषात्मक वस्तु विषय होने से यह लक्षण असम्भवदोष युक्त है। उसका स्पष्टीकरण- जिस प्रकार घटादि विषयों में प्रवर्तमान प्रत्यक्ष प्रमाण घटादिगत घटत्वादिक सामान्याकार को और व्यक्तिरूप व्यावृत्ताकार को युगपत् ही प्रकाशन करनेवाला उपलब्ध होता है, उसी प्रकार घटादि विषयों में प्रवर्तमान परोक्ष ज्ञानपर्याय भी घटादिगत घटत्वादिक सामान्याकार को और व्यक्तिरूप व्यावृत्ताकार को युगपत् ही प्रकाशन करनेवाला उपलब्ध होता है। इसलिये 'सामान्यमात्रविषयत्व' यह परोक्ष ज्ञान का लक्षण नहीं, लेकिन 'अवैशद्यत्व' यह परोक्ष ज्ञानपर्याय का लक्षण है। सामान्य और विशेष में से किसी एक को विषय करनेवाला मानने पर तो प्रमाणपना की ही अनुपपत्ति है क्योंकि सर्व प्रमाणों का सामान्यविशेषात्मकवस्तुविषयपना माना गया है। परीक्षामुखसूत्र ग्रन्थ में कहा भी है कि– "सामान्यविशेषात्मक वस्तु प्रमाण का विषय है।" (अ.४- सूत्र १) इसलिये अविशद प्रतिभास को जो परोक्ष ज्ञानपर्याय का लक्षण कहा है, वह बिलकुल ठीक है।

विशेषार्थ – शंका– 'जो ज्ञानपर्याय केवल सामान्य को विषय करे वह परोक्ष ज्ञानपर्याय है' ऐसा परोक्ष ज्ञानपर्याय का लक्षण मानेंगे।

समाधान– यह आपका कथन ठीक नहीं है; क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञानपर्याय की तरह परोक्ष ज्ञानपर्याय भी सामान्य और विशेषरूप वस्तु को विषय करती है। इसलिये 'केवल सामान्य को जाननेवाले ज्ञान को परोक्ष ज्ञान कहते हैं' यह आपके द्वारा कथन किया हुआ परोक्ष ज्ञानपर्याय का लक्षण असंभवदोष युक्त है।

जिस प्रकार घटादि विषयोंको जाननेवाला प्रत्यक्ष ज्ञान भी घट के घटत्वरूप सामान्य को और विशिष्ट व्यक्तिरूप घटपर्यायरूप विशेष को, अन्य घट, वस्त्र, चौकी, मेज आदि से भिन्न करके युगपत् जानता है। अथवा निजध्रुवात्मा को जाननेवाला प्रत्यक्ष ज्ञान अपने आत्मद्रव्य (जीवद्रव्य) के ध्रुवसत्सामान्य को और विशिष्ट व्यक्तिरूप (स्वरूप-अस्तित्वरूप) विशेष को पर्याय तथा अन्य पदार्थोंसे भिन्न करके युगपत् जानता है। अथवा इस वस्त्र को जाननेवाला प्रत्यक्ष ज्ञान वस्त्र के वस्त्रपनारूप सामान्य को और विशिष्ट व्यक्तिरूप इस वस्त्रपर्यायरूप विशेष को अन्य वस्त्र घटादि से व्यावृत्त करके युगपत् जानता है। अथवा दुःखमय निजात्मा के सत्रूप सामान्य को और विशिष्ट व्यक्तिरूप अपनी दुःखपर्यायरूप विशेष को अपनी सुखपर्याय, तथा अन्य द्रव्यों से भिन्न करके युगपत् जानता है।

उसी प्रकार घटादि विषयों को जाननेवाला परोक्ष ज्ञानपर्याय भी घट के घटत्वरूप सामान्य को और विशिष्ट घटपर्यायरूप विशेष को युगपत् (एक काल में) जानता है। इसलिये 'केवल सामान्य को विषय करना' परोक्ष ज्ञानपर्याय का लक्षण नहीं है, लेकिन अविशदता (अस्पष्टता) ही परोक्ष ज्ञानपर्याय का लक्षण है।

इसी तरह 'केवल विशेष को विषय करना' परोक्ष ज्ञानपर्याय का लक्षण नहीं है। सामान्य और विशेष में किसी एक को विषय करनेवाला मानने पर तो प्रमाणता ही नहीं आती है क्योंकि सभी प्रमाण सामान्य और विशेष इन दोनों स्वरूप वस्तु को विषय करनेवाले माने गये हैं। इसलिये अविशद (अस्पष्ट) प्रतिभास को परोक्ष ज्ञानपर्याय का लक्षण कहा है, यह लक्षण ठीक है।

संस्कृत पृष्ठ नं. ८०, संस्कृत परिच्छेद नं. ३ →

उस परोक्ष ज्ञान के पांच भेद हैं– (१) स्मृति, (२) प्रत्यभिज्ञान, (३) तर्क, (४) अनुमान और (५) आगम। ये पांचों ही परोक्ष प्रमाण प्रत्ययान्तर (ज्ञानान्तर) की अपेक्षा से उत्पन्न होते हैं। स्मरणज्ञान को पूर्व अनुभव की अपेक्षा होती है; प्रत्यभिज्ञान को स्मरण और अनुभव की अपेक्षा होती है; तर्कज्ञान को अनुभव, स्मरण और प्रत्यभिज्ञान की अपेक्षा होती है; अनुमान ज्ञान को लिंगदर्शन और व्याप्तिस्मरण आदि की अपेक्षा होती है; और आगमज्ञानपर्याय को शब्दश्रवण, संकेतग्रहण आदि की अपेक्षा होती है। लेकिन प्रत्यक्ष प्रमाण को ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं होती, प्रत्यक्ष ज्ञान स्वतंत्र रूप से यानी ज्ञानान्तर निरपेक्ष रूपसे ही उत्पन्न होता है। स्मरणज्ञान आदि को यह प्रत्ययान्तर की अपेक्षा है। यह उन ज्ञानों के अपने-अपने (प्रकरण के) निरूपण के समय कथन करेंगे।

विशेषार्थ – अस्पष्ट ज्ञान को परोक्ष ज्ञान कहते हैं। परोक्ष ज्ञान के (१) स्मृति, (२) प्रत्यभिज्ञान, (३) तर्क, (४) अनुमान और (५) आगमज्ञानपर्याय ये पांच भेद हैं। जिस जीव को स्मरणज्ञान होता है, वह स्मरणज्ञान उत्पन्न होते समय उसी जीव की उस विशिष्ट विषय के बारे में पूर्व जानकारी की अपेक्षा होती है; अर्थात् स्मरणज्ञान उत्पन्न होने में पूर्व अनुभव की अपेक्षा होती है; यानी स्मरणज्ञान पर्याय उत्पन्न होने में ज्ञानान्तर (प्रत्ययान्तर) की अपेक्षा होती है। ज्ञानान्तर यानी दूसरी ज्ञानपर्याय।

जिस तरह स्मरणज्ञानपर्याय उत्पन्न होने में दूसरी ज्ञानपर्याय की अपेक्षा होती है उसी तरह प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगमज्ञानपर्याय उत्पन्न होने में ज्ञानान्तर की अपेक्षा होती है। स्मरणज्ञान को पूर्व अनुभव ज्ञानपर्याय की अपेक्षा होती है। प्रत्यभिज्ञान को स्मरण और अनुभव ज्ञानपर्यायों की अपेक्षा होती है। तर्कज्ञानपर्याय उत्पन्न होने में अनुभव, स्मरण और प्रत्यभिज्ञान इन ज्ञानपर्यायों की अपेक्षा होती है। अनुमानज्ञानपर्याय की उत्पत्ति होने में लिंगदर्शन और व्याप्तिस्मरण आदि ज्ञानपर्यायों की अपेक्षा होती है। और आगमज्ञानपर्याय की उत्पत्ति होने में शब्दश्रवण और इस शब्द का (ध्वनि का) यह-यह अर्थ है, इस प्रकार के संकेत ग्रहण आदि की अपेक्षा होती है।

लेकिन प्रत्यक्ष ज्ञानपर्याय में ज्ञानान्तर (दूसरी ज्ञानपर्याय) की अपेक्षा नहीं होती, प्रत्यक्ष ज्ञान स्वतन्त्ररूप से यानी ज्ञानान्तर निरपेक्ष ही उत्पन्न होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान में 'इदन्ता यानी यह' का उल्लेखरूप भाव रहता है।

[स्मृतिज्ञानपर्याय]

संस्कृत पृष्ठ नंबर ८०, संस्कृत परिच्छेद नंबर ४ →

शंका – स्मृति किसे कहते हैं?

समाधान – 'तत्ता यानी वह' ऐसे आकार (निर्णय) रूप पूर्व अनुभूतवस्तु को विषय करनेवाली स्मृति होती है, जैसे वह देवदत्त। यहाँ पूर्व अनुभूत ही देवदत्त 'तत्ता यानी वह' रूप से जाना जाता है। इस कारण से यह प्रतीति 'तत्ता यानी वह' उल्लेखिनी और अनुभूत विषयवाली है क्योंकि अननुभूत विषय के बारे में स्मृतिज्ञानपर्याय उत्पन्न नहीं होती है। और उसका मूलकारण अनुभवरूप धारणास्वरूप ज्ञानपर्याय ही है; क्योंकि अवग्रह, ईहा, अवाय ये ज्ञानपर्यायें होने पर भी धारणारूप ज्ञानपर्याय के अभाव में स्मृतिज्ञानपर्याय की उत्पत्ति नहीं होती हैं। धारणाज्ञानपर्याय ही उस प्रकार का आत्मा में संस्कार करती है, जिससे वह आत्मा कालान्तर में भी उस अनुभूत विषय का स्मरण उत्पन्न करा देती है। वह यह धारणा के विषय में समुत्पन्न 'तत्ता यानी वह' उल्लेखिज्ञान स्मृतिज्ञानपर्याय है, ऐसा सिद्ध होता है।

विशेषार्थ–जो भी उपयोगरूप ज्ञानपर्याय है, वह स्वार्थ यानी स्वपर-प्रकाशक होती है। यह चार्ट नं. ४ पर अध्यात्मन्यायदीपिका–पृष्ठ नंबर १९८ और १९९ के बीच में दिखाया है। उसी तरह पृष्ठ १९८ और १९९ पर देखिये। उसी तरह पृष्ठ नं. २०८ पर भी देखिये। स्व यानी भावप्रमेय है और अर्थ अथवा पर यानी बाह्यप्रमेय है। उसमें 'स्व यानी अहं यानी भावप्रमेय' को जाननेवाला ज्ञान प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान है। वह **'स्व/अहं/भावप्रमेय' का जानना निगोद से लेकर सिद्ध तक के सभी जीवों को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा होता है।** लेकिन 'अर्थ यानी पर यानी बाह्यप्रमेय' को जाननेवाला ज्ञान (१) प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा (२) अप्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा (३) प्रामाण्यसहित परोक्ष ज्ञान अथवा (४) अप्रामाण्यसहित परोक्ष ज्ञान होता है।

इसके आधार के लिये देखिये **अष्टसहस्री** [सत् दान समिती, सोलापुर द्वारा प्रकाशित] **श्लोक नं. ८३, पृष्ठ नंबर २४६ और २४८**–

अष्टसहस्री पृष्ठ नं. २४६–

"सर्वसंवित्तेः स्वसंवेदनस्य कथंचित् प्रमाणत्वोपपत्तेः तदपेक्षायां सर्वं प्रत्यक्षं, न कश्चित्प्रमाणाभासः..."

अर्थ–सभी ज्ञानपर्यायों के स्वसंवेदन को कथंचित् प्रमाणत्व होने से स्वसंवेदन की अपेक्षा में सभी प्रत्यक्ष हैं, कोई भी स्वसंवेदन प्रमाणाभास नहीं है।

अष्टसहस्री-पृष्ठ नं. २४८–

"नभसि केशादिज्ञानं हि बहिर्विसंवादकत्वात् प्रमाणाभासं, स्वरूपे संवादकत्वात् प्रमाणम्।"

अर्थ–आकाश के बारे में 'केशादि है' ऐसा जानना प्रमाणाभास (झूठा ज्ञान) है क्योंकि वहाँ केशादि नहीं होने से विसंवाद है; और जब वही ज्ञान 'स्व' का वेदन करता है, तब वहाँ वह ज्ञानपर्याय विद्यमान होने से 'जैसा है वैसा जाना' है; इसलिये 'स्व' के बारे में जानने से वह ज्ञान संवादक होने से प्रमाण है।

ज्ञानपर्याय — **विषय**

स्व (भावप्रमेय) — अर्थ/पर (बहिःप्रमेय) — [आकाश है, केशादि नहीं]

[मैं] — ['यह केशादि है' ऐसा जानता हूँ]

↑ यह अंश प्रामाण्य-सहित **प्रत्यक्ष ज्ञान** है। — ↑ यह अंश **प्रमाणाभास** है

ज्ञानपर्याय　　　　　　　　　　विषय

स्व　　　　　　　　अर्थ/पर

[मैं]	['यह गाय है' ऐसा जानता हूँ।]
↑ यह अंश प्रामाण्यसहित **प्रत्यक्ष ज्ञान** है।	↑ यह अंश प्रामाण्यसहित **प्रत्यक्ष ज्ञान** है।



ज्ञानपर्याय　　　　　　　　　　विषय

स्व　　　　　　　　अर्थ/पर

[मैं]	['यह देवदत्त है' ऐसा जानता हूँ।]
↑ यह अंश प्रामाण्यसहित **प्रत्यक्ष ज्ञान** है।	↑ यह अंश प्रामाण्यसहित **प्रत्यक्ष ज्ञान** है।



इसतरह 'यह यानी इदन्ता उल्लेखी, स्पष्टता लक्षणवाला और प्रत्ययान्तर (ज्ञानान्तर) की अपेक्षा न रखनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है।

और 'तत्ता यानी वह' ऐसे आकाररूप (उल्लेखरूप) पूर्व काल में अनुभूत (जाने हुए) वस्तु को विषय करनेवाले ज्ञान को स्मरण ज्ञान अथवा याद अथवा स्मृति कहते हैं। जैसे—'वह' देवदत्त। यहाँ भूतकाल में जाना हुआ (अनुभूत) ही देवदत्त 'तत्ता यानी वह' रूप से जाना जाता है। इससे इस स्मरण ज्ञान में 'तत्ता यानी वह' रूप प्रतीति है और अनुभूत विषय की प्रतीति है क्योंकि न जाने हुए विषय के बारे में स्मरण ज्ञानपर्याय उत्पन्न नहीं होती है। अर्थात् →

स्मृतिज्ञानपर्याय　　　　　　　　　　विषय

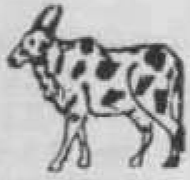
स्व　　　　　　　　अर्थ/पर

[मैं]	['वह देवदत्त था' ऐसा जानता हूँ।]
↑ यह अंश प्रामाण्यसहित **प्रत्यक्ष ज्ञान** है।	↑ यह अंश प्रामाण्यसहित स्मृति **परोक्ष ज्ञान** है।



स्मरणज्ञानपर्याय

विषय



स्व	अर्थ/पर
[मैं]	['वह गाय थी' ऐसा जानता हूँ।]
↑ {वह अंश प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान है।}	↑ {वह अंश प्रामाण्यसहित स्मृति परोक्ष ज्ञान है।}

प्रत्यक्ष ज्ञानपर्याय

विषय: दुःखमय निज जीव

स्व	अर्थ/पर
[मैं]	['वह मैं दुःखमय जीव हूँ' ऐसा जानता हूँ।]
↑ {वह अंश प्रत्यक्ष ज्ञान है।}	↑ {वह अंश प्रत्यक्ष ज्ञान है।}

स्मृतिज्ञानपर्याय

विषय: दुःखमय निज जीव

स्व	अर्थ/पर
[मैं]	['वह मैं दुःखमय जीव था' ऐसा जानता हूँ।]
↑ {वह अंश प्रत्यक्ष ज्ञान है।}	↑ {यह अंश 'स्मृति' परोक्ष ज्ञान है।}

प्रत्यक्ष ज्ञानपर्याय

विषय: अल्पज्ञ निज जीव

स्व	अर्थ/पर
[मैं]	['वह मैं अल्पज्ञ जीव हूँ' ऐसा जानता हूँ।
↑ {वह अंश प्रत्यक्ष ज्ञान है।}	↑ {यह अंश प्रत्यक्ष ज्ञान है। यह शुद्धात्मानुभव नहीं है।}

स्मृतिज्ञानपर्याय — विषय

स्व — अर्थ/पर

[मैं] ['वह मैं अल्पज्ञ जीव था' ऐसा जानता हूँ।] — अल्पज्ञ निज जीव

↑ { यह अंश प्रत्यक्ष ज्ञान है। }

↑ { यह अंश 'स्मृति' **परोक्ष ज्ञान** है। }

प्रत्यक्ष ज्ञानपर्याय — विषय

स्व — अर्थ/पर

[मैं] ['यह मैं ध्रुवशुद्ध जीव हूँ' ऐसा जानता हूँ।] — **ध्रुवशुद्ध निजात्मा**

↑ { यह अंश **प्रत्यक्ष ज्ञान** है। }

↑ { यह अंश **प्रत्यक्ष ज्ञान** है। अर्थात् यह शुद्धात्मानुभव है। }

स्मृतिज्ञानपर्याय — विषय

स्व — अर्थ/पर

[मैं] ['वह मैं ध्रुवशुद्ध जीव था' ऐसा जानता हूँ। — **ध्रुवशुद्ध निजात्मा**

↑ { यह अंश **प्रत्यक्ष ज्ञान** है। }

↑ { यह अंश स्मृति **परोक्ष ज्ञान** है। अर्थात् यह शुद्धात्मानुभव नहीं है। }

शंका– "आपने 'यह मैं ध्रुवशुद्धजीव हूँ' ऐसे जाननेवाले ज्ञान को शुद्धात्मानुभव कहा और 'वह मैं ध्रुवशुद्धजीव था' ऐसे जाननेवाले स्मृतिज्ञान को शुद्धात्मानुभव नहीं कहा।" यह आपका कथन ठीक नहीं क्योंकि 'वह मैं ध्रुवशुद्धजीव था' इस ज्ञानपर्याय को शुद्धात्मानुभव मानना चाहिये क्योंकि **प्रमेयरत्नमाला** [विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला, C/o चौखम्बा विद्याभवन, चौक, वाराणसी-१, संस्करण-प्रथम, विक्रम संवत् २०२० के] ग्रंथ, द्वितीय समुद्देश **सूत्र ५ की** टीका में पृष्ठ नंबर ७३–

"स्मृत्यादिस्वरूपसंवेदनं मानसमेवेति नापरं स्वसंवेदनं नाम अध्यक्षं अस्ति।"

भावार्थ– तथा स्मृति आदि स्वरूप-संवेदन होता है, वह भी मानस प्रत्यक्ष ही है।

और **लघीयस्त्रय प्रकरण** के श्लोक नं. ६१ की विवृति में श्री अकलंकदेव आचार्यजी लिखते हैं कि–

"अनिन्द्रियप्रत्यक्षं स्मृतिसंज्ञाचिन्ताभिनिबोधात्मकम्॥"

अर्थ–स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्कज्ञान) और अभिनिबोधात्मक (अनुमानज्ञान) ये ज्ञानपर्यायें अनिन्द्रियप्रत्यक्ष है।

समाधान–आपने 'प्रमेयरत्नमाला और लघीयस्त्रय प्रकरण की विवृत्ति में से जो उद्धरण दिये हैं' उसका अर्थ आपके समझ में नहीं आया है क्योंकि लघीयस्त्रय प्रकरण और उस की विवृत्ति का स्पष्टीकरण करनेवाला श्री प्रभाचन्द्राचार्यजी कृत **न्यायकुमुदचन्द्र** नाम का ग्रन्थ है। **न्यायकुमुदचन्द्र** [माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला प्रकाशन] **भाग नं. २, पृष्ठ नं. ६८३, पंक्ति नंबर ११ से २०– "ननु स्मृत्यादीनां परोक्षतया पूर्वं प्रतिपादितत्वात् कथं अत्र प्रत्यक्षतया प्रतिपादनं युक्तं पूर्वापरविरोधप्रसंगात्; इति अपि अचर्चिताभिधानम्, यत्र अंशे तेषां स्पष्टत्वं तत्र एव प्रत्यक्षत्वप्रतिपादनात्। 'स्वरूपे' एव हि तेषां स्पष्टत्वं अतः तत्र एव प्रत्यक्षत्वम् आत्मज्ञानम् इति अभिसम्बन्धात्। बहिरर्थे तु अस्य अस्पष्टत्वात् परोक्षता इति न कश्चित् दोषः।"**

भावार्थ–प्रश्न–'स्मृति आदि ज्ञानपर्यायों में परोक्षपना है' ऐसा प्रतिपादन पहले किया था, अब यहाँ 'उन ही स्मृति आदि ज्ञानपर्यायों में प्रत्यक्षपना है' ऐसा प्रतिपादन करना कैसे योग्य है क्योंकि इससे तो पूर्व-अपर कथन में विरोध का प्रसंग आता है।

उत्तर–यह आपका कथन ठीक नहीं है क्योंकि 'जिस अंश में उन में स्पष्टत्व है, उस अंश में ही प्रत्यक्षत्व है' ऐसा प्रतिपादन किया है।'स्वरूप में' ही स्मृति आदि ज्ञानपर्यायों में स्पष्टत्व है, इसलिये उन ज्ञानपर्यायों के स्वरूप यानी आत्मज्ञान यानी भावप्रमेय के ज्ञान में प्रत्यक्षत्व है लेकिन 'बाह्य अर्थ यानी बाह्यप्रमेय के ज्ञान में अस्पष्टत्व होने से स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान ज्ञानपर्यायों में परोक्षता ही है, इसलिये उसमें कोई दोष नहीं है।

अर्थात्

स्मृतिज्ञानपर्याय **विषय**

स्व/आत्मज्ञान/भावप्रमेय **अर्थ/बाह्यप्रमेय/पर**

[मैं] ['वह मैं ध्रुवशुद्ध जीव था' ऐसा जानता हूँ।] | ध्रुवशुद्ध निजात्मा

[यह अंश **प्रत्यक्ष ज्ञान** है।] [यह अंश **स्मृति परोक्ष ज्ञान** ही है। शुद्धात्मानुभव नहीं; **प्रत्यक्ष ज्ञान** नहीं।]

शंका–प्रत्यक्ष ज्ञान और स्मृतिज्ञान पर्यायों को जानने से क्या लाभ होता है?

समाधान–ज्ञानपर्यायें जानने के साधन हैं। ज्ञानपर्याय साधन के द्वारा भोग लेते हैं। (१) जैसे प्रत्यक्ष ज्ञान साधन के द्वारा भोग लेने में मग्नपना या गाढत्व आता है, वैसे परोक्ष ज्ञान साधन के द्वारा भोग लेने में मग्नपना या गाढत्व नहीं आता है। इसलिये 'यह मैं ध्रुवशुद्धचिदानंदात्मा हूँ' ऐसा जानने या विचार करने में निर्मलत्व या मग्नत्व या गाढत्व है और 'वह मैं ध्रुवशुद्धचिदानंदात्मा था' ऐसा स्मरणरूप विचार करने में (स्मरणज्ञान में) वह निर्मलत्व नहीं।

(२) कोई भी साधक स्वयं (खुद) यह निर्णय कर सकता है कि, मैं '**निजध्रुवशुद्धात्मा**' को **प्रत्यक्ष ज्ञान** से जान रहा हूँ अथवा **स्मरणज्ञान** से जान रहा हूँ। तब साधक '**यह मैं निजध्रुवशुद्धात्मा हूँ**' ऐसा विचार करेगा याने **प्रत्यक्ष ज्ञान** से जानेगा अर्थात् शुद्धात्मानुभव करेगा। बार-बार **प्रत्यक्ष ज्ञान** से '**निजध्रुवशुद्धात्मा**' को जानने का प्रयत्न करेगा।

(३) 'मैं **प्रत्यक्ष ज्ञान** से जानता हूँ' अथवा 'मैं **स्मरणज्ञान** से जानता हूँ' इसके बारे में किसी दूसरे से पूछने की आवश्यकता नहीं।

(४) '**निजध्रुवशुद्धात्मा**' को जाननेवाले '**प्रत्यक्ष ज्ञान**' के साधन के बारे में अज्ञान, संशय, विपरीत और अनध्यवसाय दोष नहीं रहेंगे।

(५) सामायिक यानी ध्यान अर्थात् '**निजध्रुवशुद्धात्मा**' को **प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान** से जानना। इसलिए प्राणायाम करना, जाप करना अथवा श्लोक याद करना अथवा गाथा याद (स्मरण) करना सामायिक नहीं है।

देखिए श्लोकवार्तिक-अध्याय ९, सूत्र २७, पृष्ठ नंबर ५०१ (नाथारंगजी प्रकाशन) →

"**प्राणापाननिग्रहः ध्यानं इति चेत्; न, शरीरपातप्रसंगात्।....। मात्राकालपरिगणनं ध्यानं इति चेत्; न, ध्यानातिक्रमात्। तथा चित्तवैयग्र्यात्। एतेन जपस्य ध्यानत्वं प्रतिषिद्धम्।**"

भावार्थ– 'प्राणापाननिग्रह करना, ही ध्यान है' ऐसा मानना ठीक नहीं क्योंकि शरीरपात का प्रसंग (दोष) आता है। 'मात्राकालपरिगणन करना ही ध्यान है' ऐसा मानना ठीक नहीं क्योंकि ध्यान का अतिक्रम होता है और चित्त में व्यग्रता होती है। इससे जप को शुद्धध्यान अथवा शुद्धात्मानुभव मानने का निषेध हो गया।

शंका– यहाँ आपने निजध्रुवशुद्धात्मा को जाननेवाले, 'यह यानी इदन्ता' उल्लेखिरूप ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहा है, लेकिन 'व्यंजनावग्रह' ज्ञानपर्याय में भी 'यह यानी इदन्ता' उल्लेखिरूप ज्ञान होता है और व्यंजनावग्रह परोक्ष ज्ञान है; तो फिर विरोध आयेगा?

समाधान– भो प्रभो! ॐ! स्पर्शनेंद्रिय से अथवा रसनेंद्रिय से अथवा घ्राणेंद्रिय से अथवा कर्णेंद्रिय से व्यंजनावग्रह होता है; नेत्रेंद्रिय से अथवा मन से अथवा अतींद्रिय ज्ञान से व्यंजनावग्रह नहीं होता है। इसलिये विरोध अथवा दोष नहीं आता।

स्मरणज्ञान में 'वह यानी तत्ता' रूप से होनेवाली प्रतीति है; स्मरणज्ञान का मूल कारण धारणा नामक 'यह यानी इदन्ता उल्लेखी' प्रत्यक्ष ज्ञान ही है क्योंकि अवग्रह ज्ञानपर्याय होने पर भी धारणा ज्ञानपर्याय के अभाव में स्मृतिज्ञानपर्याय की उत्पत्ति नहीं होती। तथा अवग्रह, ईहा ज्ञानपर्यायें होने पर भी धारणा ज्ञानपर्याय के अभाव में स्मृतिज्ञानपर्याय की उत्पत्ति नहीं होती। तथा अवग्रह, ईहा, अवाय ज्ञानपर्यायें होने पर भी धारणा ज्ञानपर्याय के अभाव में स्मृतिज्ञानपर्याय की उत्पत्ति नहीं होती है। धारणा ज्ञानपर्याय ही उस प्रकार का आत्मा में संस्कार करती है, जिससे वह आत्मा कालान्तर में भी उस अनुभूत विषय का स्मरण उत्पन्न करा देती है। इसलिये धारणा के विषय में 'तत्ता यानी वह' उल्लेखिज्ञान स्मृतिज्ञानपर्याय है, ऐसा सिद्ध होता है।

संस्कृत पृष्ठ नं. ८०, संस्कृत परिच्छेद नं. ५→

शंका– **इस प्रकार से धारणा के द्वारा गृहीत विषय में ही स्मरणज्ञान उत्पन्न होता है, तो गृहीतग्राही होने से उसके अप्रमाणता का प्रसंग आता है?**

समाधान– **वह आपका कथन ठीक नहीं क्योंकि विषयविशेष का सद्भाव है, जैसे ईहाज्ञान में विषयविशेष का सद्भाव है। अर्थात् जैसे अवग्रहादिगृहीत विषयों का ईहादि में विषयविशेष का सद्भाव होने से अपने-अपने विषय के समारोपव्यवच्छेदकपना से प्रामाण्य है वैसे स्मरण का भी धारणागृहीतविषय में प्रवृत्त होने पर भी प्रमाणता (प्रामाण्य) ही है। धारणा का 'इदन्ता' (यह) अवच्छिन्न (सहित) विषय है, लेकिन स्मरण का 'तत्ता' (वह) अवच्छिन्न (सहित) विषय है; और स्मरण अपने विषय के सम्बन्धी अस्मरणादिरूप समारोप का व्यवच्छेदक होने से प्रमाण ही है।**

प्रमेयकमलमार्तण्ड में भी कहा है कि→

'विस्मरण, संशय और विपर्ययलक्षणरूप समारोप है और उस समारोप को दूर करने से वह स्मृति प्रमाण है' (अर्थात् स्मरणज्ञान में प्रामाण्य है)।

विशेषार्थ–शंका–शनि के दिन देवदत्त को धारणा ज्ञानपर्याय के द्वारा जाना। फिर रवि के दिन उसी देवदत्त की याद आ गयी; अर्थात् रवि के दिन देवदत्त को स्मृतिज्ञानपर्याय के द्वारा जाना। इसलिये 'देवदत्त' यह विषय गृहीतग्राही विषय है यानी जाने हुए देवदत्त विषय को ही स्मरण ज्ञानपर्याय ने जाना तो फिर गृहीतग्राही होने से स्मृति को अप्रमाणता का प्रसंग आता है। इस प्रकार से धारणा ज्ञानपर्याय के द्वारा गृहीतविषय के बारे में ही स्मरण ज्ञानपर्याय उत्पन्न होती है, इसलिये गृहीतग्राही होने से स्मरणज्ञान में अप्रमाणता है।

समाधान–यह आपका कथन ठीक नहीं है क्योंकि विषयविशेष का सद्भाव है।



(४) यह घट है।

↑

(३) यह घट है।

↑

(२) यह घट है।

↑

(१) यह घट है।

यहाँ नंबर (१) 'यह घट है' यह सच्चा ज्ञान है। लेकिन नंबर (२) यह घट है, नंबर (३) यह घट है, और नंबर (४) यह घट है, इन ज्ञानपर्यायों में गृहीतग्राहीपना है तथा अपूर्व अर्थग्राहीपना न होने से मिथ्याज्ञान यानी अप्रमाण/प्रमाणाभास हैं।'

[अध्यात्मन्यायदीपिका भाग १, अध्याय १, पृष्ठ २०१ से २०३ देखिये।]

किन्तु जिस तरह ईहादि ज्ञान में विषयविशेष का सद्भाव है। [अध्यात्मन्यायदीपिका भाग १, अध्याय २, पृष्ठ नंबर २४५ से २४८ देखिये।]

	चेतनोपयोग		विषय
	स्व	पर/अर्थ	
अवाय ज्ञानोपयोग	मैं	यह सफेद वस्तु ध्वजा <u>ही</u> जानता हूँ।	
↑			
ईहा ज्ञानोपयोग	मैं	यह <u>सफेद वस्तु ध्वजा</u> जानता हूँ।	सफेद वस्तु ध्वजा है।
↑			
अवग्रह ज्ञानोपयोग	मैं	यह <u>सफेद वस्तु</u> जानता हूँ।	
↑			
निराकार दर्शनोपयोग	मैं		

जैसे अवग्रहादिक के द्वारा ग्रहण किये हुए अर्थ को विषय करनेवाले ईहादि ज्ञानपर्यायों में कथंचित् विषयभेद

होने से अपने विषय के बारे में संशयरहित, विपरीतरहित, अनध्यवसायरहित और अज्ञानरहित होने से प्रामाण्य है; वैसे धारणा ज्ञानपर्याय के द्वारा जाना हुआ जो विषय है, उसी विषय को जानने में स्मरण ज्ञानपर्याय की प्रवृत्ति होने पर भी स्मरण ज्ञानपर्याय में प्रामाण्य है।

प्रत्यक्ष ज्ञान में 'इदन्ता यानी यह' उल्लेखरूप (आकाररूप) होता है। **समयसार** - गाथा नंबर १ में '**इणं**' शब्द है। उस '**इणं**' शब्द का अर्थ '**इदं प्रत्यक्षीभूतं' यानी 'यह' यानी 'प्रत्यक्ष', ऐसा श्री जयसेनाचार्य रचित तात्पर्यवृत्ति में किया है।**

और भी देखिये प्रवचनसार - गाथा नंबर १ में '**एस**' शब्द है। उसकी टीका में श्री अमृतचंद्राचार्यजी ने '**एष: स्वसंवेदनप्रत्यक्ष...**' यानी यह स्वसंवेदनप्रत्यक्ष, ऐसा अर्थ किया है। **श्री जयसेनाचार्यरचित तात्पर्यवृत्ति में 'एष: अहं.... स्वसंवेदनप्रत्यक्ष:' यानी 'यह... स्वसंवेदन प्रत्यक्ष' ऐसा अर्थ किया है।**

अष्टसहस्री में और प्रमेयकमलमार्तण्ड में भी "**प्रत्यक्ष ज्ञान में 'इदन्ता यानी यह'** आकार होता है" ऐसा कहा है।

धारणा ज्ञानपर्याय भी प्रत्यक्ष ज्ञान है। धारणा ज्ञानपर्याय में 'इदन्ता यानी यह' आकार होता है और स्मरण ज्ञानपर्याय में 'तत्ता यानी वह' आकार होता है। स्मरण ज्ञानपर्याय अपने विषय के बारे में अस्मरणरहित, संशयरहित, विपरीतरहित और अनध्यवसायरहित होने से प्रमाण ही है।

संस्कृत पृष्ठ नं. ८१, संस्कृत परिच्छेद नं. ६ →

और यदि 'अनुभूत विषय में प्रवृत्त होता है' इतने से स्मरण अप्रमाण हो तो अनुमित अग्नि के विषय में पश्चात् प्रवृत्त होनेवाला प्रत्यक्ष ज्ञान भी अप्रमाण ठहरेगा।

विशेषार्थ–'स्मरणज्ञानपर्याय धारणा के द्वारा जाने हुए विषय में प्रवृत्त होता है' इतने से यदि वह स्मरण अप्रमाण (प्रमाणाभास) हो तो अनुमान से जानी हुई अग्नि को जानने के लिये पीछे प्रवृत्त हुआ प्रत्यक्ष ज्ञानपर्याय भी अप्रमाण (प्रमाणाभास) ठहरेगा किन्तु ऐसा तो होता नहीं है। अर्थात् धूम देखकर प्रथम अग्नि का अनुमान किया, परोक्ष ज्ञान हो गया। पश्चात् उस जानी हुई अग्नि को प्रत्यक्ष ज्ञान से जाना। तो भी वह प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमाण (सत्यज्ञान) ही है, असत्यज्ञान (प्रमाणाभास) नहीं है। इसलिये स्मरणज्ञानपर्याय अप्रमाण नहीं है।

शंका–हिन्दी अध्यात्मन्यायदीपिका पृष्ठ २२१ पर ज्ञान के प्रामाण्य की ज्ञप्ति का चार्ट है। वहाँ 'पंक्ति नंबर १९ वाले स्मरण' को मिथ्याज्ञान कहा है, यह कैसे?

समाधान–जिस जीव ने देशना जानी। उसके पश्चात् उसी जीव ने उसी का स्मरण किया उतना सही रूप से स्मरण किया है; लेकिन उस ज्ञानपर्याय में 'निजध्रुवशुद्धात्मा' का 'प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान का विशिष्ट प्रामाण्य' नहीं है, इसलिये वह स्मरण मिथ्याज्ञान है और उसी समय मिथ्यादर्शन भी मौजूद है।

शंका–हिन्दी अध्यात्मन्यायदीपिका पृष्ठ नंबर २२१ पर, "पंक्ति नंबर १० वाले स्मरण" को सम्यग्ज्ञान क्यों कहा है?

समाधान–'निजध्रुवशुद्धात्मा' को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा जाना, उसी समय सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन है; और उसके पश्चात् होनेवाले स्मरण ज्ञान के समय में भी 'निजध्रुवशुद्धात्मा' के बारे में प्रामाण्य स्मरणज्ञानपर्याय में मौजूद है। इसलिये वह स्मरण सम्यग्ज्ञान है। उसी समय सम्यग्दर्शन भी है।

शंका–'निजध्रुवशुद्धात्मा' को जाननेवाले प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान का महत्त्व है और स्मरण को गौणत्व है।

समाधान–यह सत्य है; क्योंकि स्मरणज्ञानपर्याय से प्रत्यक्ष ज्ञान पर्याय में निर्मलता है।

संस्कृत पृष्ठ ८१, संस्कृत परिच्छेद नं. ७ →

और अविसंवादिपना से स्मृति प्रमाण है, जैसे प्रत्यक्षादि ज्ञानपर्याय प्रमाण है। स्मरण करके निक्षेपादि वस्तुओं में प्रवर्तमान को विषयविसंवाद नहीं होता है। लेकिन जहाँ वह विसंवाद है, वहाँ स्मरणाभासत्व है जैसे प्रत्यक्षाभास होता है। इस प्रकार से 'स्मरण नाम का पृथक् प्रमाण है' यह सिद्ध हो गया।

विशेषार्थ– जिस प्रकार अविसंवादवाला प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमाण है। अर्थात् जैसी वस्तु है, वैसी ही जानी जाय तो वह प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमाण है। उसी तरह अविसंवादवाला स्मरण ज्ञानपर्याय भी प्रमाण है, प्रमाणाभास नहीं। दस दिन पहले इस अलमारी में समयसार की किताब रखी थी। उसकी अब याद करके' उस समयसार ग्रंथ' को लेने के लिये प्रवृत्ति करता है और उस को वह ग्रंथ बराबर प्राप्त होता है, इसलिये स्मरण करके पूर्व में रखी हुई वस्तुओं को लेने में प्रवर्तमान ज्ञान का विसंवाद नहीं होता है। इससे स्मरणज्ञान प्रमाण है। लेकिन जैसे 'सीप को यह चांदी है' इस तरह जाननेवाला प्रत्यक्ष ज्ञान झूठा यानी प्रत्यक्षाभास है क्योंकि विसंवाद है। वैसे जहाँ विसंवाद है, वहाँ स्मरणाभासपना है। लेकिन सविकल्प अवस्था में सम्यग्ज्ञानी जीव भी गाथा, श्लोक का स्मरण करता है। सविकल्प अवस्था में सम्यग्ज्ञानी जीव जिनेंद्र भगवान का स्मरण करता है। सविकल्प अवस्था में सम्यग्ज्ञानी 'निजध्रुवात्मा' का स्मरण करता है। तो यह जानना प्रमाण है।

[प्रत्यभिज्ञान का निरूपण]

संस्कृत पृष्ठ ८१-८२, संस्कृत परिच्छेद नं. ८-९ →

अनुभवस्मृतिहेतुकसंकलनात्मक ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते है। इदन्तोल्लेखिज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान (अनुभव) है, तत्ता उल्लेखिज्ञान स्मरण है। उन दोनों से उत्पन्न होनेवाला और पूर्वोत्तर ऐक्य, सादृश्य, विलक्षणता आदि को विषय करनेवाला ऐसा जो संकलनरूप ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यभिज्ञान है; ऐसा जानो। जैसे वह ही यह जिनदत्त है, उस गाय के समान यह गवय है और उस गाय से यह भैंस विलक्षण है। इत्यादि।

उनमें पहले उदाहरण में जिनदत्त की पूर्वोत्तर दशाओं में व्यापक एकत्व प्रत्यभिज्ञान का विषय है। 'वह-यह' एकत्वप्रत्यभिज्ञान है। लेकिन दूसरे उदाहरण में पूर्व अनुभूत बैल का उसके प्रतियोगिक गवय में समानता है। 'वह-यह' सादृश्यप्रत्यभिज्ञान है, और तीसरे उदाहरण में पूर्व अनुभूत गाय की उसके प्रतियोगिक भैंस में विषमता है। यह वैसादृश्यप्रत्यभिज्ञान है। इस प्रकार अन्य भी प्रत्यभिज्ञान के भेद हैं, उनको यथा प्रतीति स्वयं समझ में ले लीजिये। इन सभी में भी अनुभव-स्मृतिसापेक्षपना होने से प्रत्यभिज्ञान के हेतुपना है।

विशेषार्थ– 'इदन्ता यानी यह' आकारवाला अनुभव और 'तत्ता यानी वह' आकारवाला स्मरण इन के संकलनात्मक (जोड़रूप) ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। दस साल पहले जो जिनदत्त देखा था, वह ही यह जिनदत्त है। यहाँ 'वह और यह' का संकलन है। दस साल पहले की अवस्था और अभी की अवस्था इन दोनों में जो व्यापकरूप एकत्व है, उस एकत्व को जाननेवाला यह एकत्वप्रत्यभिज्ञान है। प्रत्यभिज्ञान भी स्वार्थ याने स्व-पर प्रकाशक है। जैसे–

जो भी उपयोगरूप ज्ञानपर्याय है, वह स्वार्थ यानी स्व-पर प्रकाशक होती है। वह चार्ट नं. ४ पर, अध्यात्मन्यायदीपिका के पृष्ठ नंबर १९८ और १९९ के बीच में दिखाया है। और स्मृति के प्रकरण में हिन्दी अध्यात्मन्यायदीपिका पृष्ठ नं. २६१ से २६७ तक देखिये।

एकत्वप्रत्यभिज्ञानपर्याय — विषय

स्व — अर्थ/पर

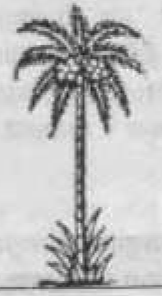
[मैं] ['पहले जो जिनदत्त था, अभी वह ही यह जिनदत्त है' ऐसा जानता हूँ।] — जिनदत्त

↑ यह अंश प्रत्यक्ष है। — ↑ यह अंश परोक्ष ज्ञान है, प्रत्यभिज्ञान है।

एकत्वप्रत्यभिज्ञानपर्याय — विषय

स्व — अर्थ/पर

[मैं] ['पहले जो पेड़ था, अभी वह ही यह पेड़ है' ऐसा जानता हूँ।]



↑ यह अंश प्रत्यक्ष है। — ↑ यह अंश परोक्ष ज्ञान है, प्रत्यभिज्ञान है।

एकत्वप्रत्यभिज्ञानपर्याय — विषय

स्व — अर्थ/पर

[मैं] ['पहले जो सुवर्ण था, अभी वह ही यह सुवर्ण है' ऐसा जानता हूँ।] — सुवर्ण

↑ यह अंश प्रत्यक्ष है। — ↑ यह अंश परोक्ष ज्ञान है, प्रत्यभिज्ञान है।

एकत्वप्रत्यभिज्ञानपर्याय — विषय

स्व — अर्थ/पर

[मैं] ['पहले जो मैं दुःखी था, वह ही यह मैं दुःखी हूँ' ऐसा जानता हूँ।] — दुःखी

↑ यह अंश प्रत्यक्ष है। — ↑ यह अंश परोक्ष ज्ञान है, प्रत्यभिज्ञान है।

एकत्वप्रत्यभिज्ञानपर्याय — विषय

स्व	अर्थ/पर	विषय
[मैं]	['पहले जो मैं अल्पज्ञ था, वह ही यह मैं अल्पज्ञ हूँ' ऐसा जानता हूँ।]	अल्पज्ञ
↑ यह अंश प्रत्यक्ष है।	↑ यह अंश परोक्ष ज्ञान है, प्रत्यभिज्ञान है।	

एकत्वप्रत्यभिज्ञानपर्याय — विषय

स्व	अर्थ/पर	विषय
[मैं]	['पहले जो मैं ध्रुवात्मा था, अभी वह ही यह मैं ध्रुवात्मा हूँ 'ऐसा जानता हूँ।]	निजध्रुवात्मा
↑ यह अंश प्रत्यक्ष है।	↑ यह अंश परोक्ष ज्ञान है, प्रत्यभिज्ञान है, शुद्धात्मानुभव नहीं है।	

सादृश्यप्रत्यभिज्ञान–पहले जानी हुई वस्तु को लेकर **दूसरी वस्तु** में रहनेवाली सदृशता प्रत्यभिज्ञान का विषय है। इस प्रकार की ज्ञानपर्याय को सादृश्यप्रत्यभिज्ञान **कहते हैं। उदाहरणार्थ**– पहले जानी हुई गाय को लेकर गवय में रहनेवाली समानता/सदृशता प्रत्यभिज्ञान का विषय है।

सादृश्यप्रत्यभिज्ञानपर्याय — विषय

स्व	अर्थ/पर	विषय
[मैं]	['पहले जो गाय देखी थी, , अभी उसके समान यह गवय है' ऐसा जानता हूँ।]	गवय
↑ यह अंश प्रत्यक्ष है।	↑ यह अंश परोक्ष ज्ञान है, प्रत्यभिज्ञान है।	

सादृश्यप्रत्यभिज्ञानपर्याय — विषय

स्व	अर्थ/पर
[मैं]	['पहले जो अग्नि देखी थी, , उसके समान यह अग्नि है' ऐसा जानता हूँ।]
↑ यह अंश प्रत्यक्ष है।	↑ यह अंश परोक्ष ज्ञान है, प्रत्यभिज्ञान है।



सादृश्यप्रत्यभिज्ञानपर्याय — विषय

स्व — अर्थ/पर

[मैं]	['पहले जो दुःखी देखा था, उसके समान यह मैं दुःखी हूँ' ऐसा जानता हूँ।]	दुःखी
↑ यह अंश प्रत्यक्ष है।	↑ यह अंश परोक्ष ज्ञान है, प्रत्यभिज्ञान है।	

सादृश्यप्रत्यभिज्ञानपर्याय — विषय

स्व — अर्थ/पर

[मैं]	['शास्त्र में कहा था कि जाननेवाला जीव होता है, उसके समान यह मैं जाननेवाला जीव हूँ' ऐसा जानता हूँ।]	ध्रुव आत्मा
↑ यह अंश प्रत्यक्ष है।	↑ यह अंश परोक्ष ज्ञान है, सादृश्यप्रत्यभिज्ञान है, शुद्धात्मानुभव नहीं है।	

सादृश्यप्रत्यभिज्ञानपर्याय — विषय

स्व — अर्थ/पर

[मैं]	['पहले जो अर्हन्त के द्रव्यगुण जाने थे, उसके समान यह मेरे द्रव्यगुण है' ऐसा जानता हूँ।]	द्रव्य गुण
↑ यह अंश प्रत्यक्ष है।	↑ यह अंश परोक्ष ज्ञान है, सादृश्यप्रत्यभिज्ञान है, शुद्धात्मानुभव नहीं है।	

सादृश्यप्रत्यभिज्ञानपर्याय — विषय

स्व — अर्थ/पर

[मैं]	['पहले जो सिद्ध का ध्रुवात्मा जाना था, उसके समान यह मैं ध्रुवात्मा हूँ' ऐसा जानता हूँ।]	ध्रुवात्मा
↑ यह अंश प्रत्यक्ष है।	↑ यह अंश परोक्ष ज्ञान है, सादृश्यप्रत्यभिज्ञान है, शुद्धात्मानुभव नहीं है।	

वैसादृश्यप्रत्यभिज्ञान– पहले जानी हुई वस्तु को लेकर दूसरी वस्तु में रहनेवाली विलक्षणता प्रत्यभिज्ञान का विषय है। इस प्रकार के ज्ञानपर्याय को वैसादृश्यप्रत्यभिज्ञान कहते हैं। उदाहरणार्थ– पहले जानी हुई गाय को लेकर भैंसा में रहनेवाली असमानता/विलक्षणता प्रत्यभिज्ञान का विषय है।

वैसादृश्यप्रत्यभिज्ञानपर्याय		विषय
स्व	अर्थ/पर	
[मैं]	['पहले जो गाय देखी थी, उससे विलक्षण यह भैंसा है' ऐसा जानता हूँ।]	भैंसा
↑ यह अंश प्रत्यक्ष है।	↑ यह अंश परोक्ष ज्ञान है, प्रत्यभिज्ञान है, शुद्धात्मानुभव नहीं है।	

वैसादृश्यप्रत्यभिज्ञानपर्याय		विषय
स्व	अर्थ/पर	
[मैं]	['पहले जो वीतरागी अनन्तचतुष्टयी अर्हन्त को जाना था, उससे विलक्षण यह मैं रागी हूँ' ऐसा जानता हूँ।]	रागी
↑ यह अंश प्रत्यक्ष है।	↑ यह अंश परोक्ष ज्ञान है, वैसादृश्यप्रत्यभिज्ञान है, शुद्धात्मानुभव नहीं है।	

वैसादृश्यप्रत्यभिज्ञानपर्याय		विषय
स्व	अर्थ/पर	
[मैं]	['पहले जो मुक्त जीव को जाना था, उससे विलक्षण यह मैं संसारी हूँ' ऐसा जानता हूँ।]	संसारी
↑ यह अंश प्रत्यक्ष है।	↑ यह अंश परोक्ष ज्ञान है, वैसादृश्यप्रत्यभिज्ञान है, शुद्धात्मानुभव नहीं है।	

'पूर्व में अव्रती सम्यक्त्वी अवस्था में जो मैंने शुद्धात्मानुभव किया था, उससे इस व्रती अवस्था में विशेष दृढ़ता और विशेष स्थिरतावाला यह शुद्धात्मानुभव है' यह वैसादृश्य प्रत्यभिज्ञान है, परोक्ष ज्ञान है।

स्व	वैसादृश्यप्रत्यभिज्ञानपर्याय अर्थ/पर	विषय
[मैं]	'पहले जो सर्वज्ञ को जाना था, उससे विलक्षण यह मैं अल्पज्ञ सम्यग्ज्ञानी हूँ।' ऐसा जानता हूँ।]	सम्यग्ज्ञानी
↑ यह अंश प्रत्यक्ष है।	↑ यह अंश परोक्ष ज्ञान है, वैसादृश्यप्रत्यभिज्ञान है, शुद्धात्मानुभव नहीं है।	

स्व	वैसादृश्यप्रत्यभिज्ञानपर्याय अर्थ/पर	विषय
[मैं]	'पहले जो पशु को जाना था, उससे विलक्षण यह मैं मनुष्य हूँ' ऐसा जानता हूँ।]	मनुष्य
↑ यह अंश प्रत्यक्ष है।	↑ यह अंश परोक्ष ज्ञान है, वैसादृश्यप्रत्यभिज्ञान है, शुद्धात्मानुभव नहीं है।	

स्व	वैसादृश्यप्रत्यभिज्ञानपर्याय अर्थ/पर	विषय
[मैं]	'पहले जो इंद्रियजनित सुख को जाना था, उससे विलक्षण यह अतीन्द्रिय आनंद है,' ऐसा जानता हूँ।]	अतींद्रिय आनंद
↑ यह अंश प्रत्यक्ष है।	↑ यह अंश परोक्ष ज्ञान है, वैसादृश्यप्रत्यभिज्ञान है, शुद्धात्मानुभव नहीं है।	

इस तरह इदन्ता उल्लेखी प्रत्यक्ष ज्ञान और तत्ता उल्लेखी स्मरणज्ञान इनके जोड़रूप [संकलनात्मक] ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।

संस्कृत पृष्ठ ८२, संस्कृत परिच्छेद नं. १०→

शंका [बौद्ध आदि] – अनुभव और स्मृति इनसे व्यतिरिक्त [भिन्न] ऐसा प्रत्यभिज्ञान नहीं है।

समाधान [जैन]–यह आपका कथन असत्य है क्योंकि अनुभव में वर्तमानकालवर्ती विवर्तमात्र प्रकाशपना है और स्मृति में अतीत विवर्तद्योतकपना है, ऐसी वस्तुव्यवस्था है। तो फिर इस अनुभव में और स्मृति में अतीतवर्तमानकाल संकलित ऐक्य, सादृश्य आदिरूप विषय का अवगाहीपना कैसे होगा? (अर्थात् नहीं है।) इससे स्मरण और अनुभव इन दोनों से अलग/भिन्न प्रत्यभिज्ञान है, ऐसा तथा उन दोनों के अनन्तर होनेवाला एकत्व, सादृश्य आदि को विषय करनेवाला जो संकलनात्मक ज्ञान होता है, वह ही प्रत्यभिज्ञान है।

विशेषार्थ– शंका–प्रत्यक्ष और स्मरण इन दोनों से अलग (भिन्न) प्रकार का प्रत्यभिज्ञान नाम का कोई ज्ञान नहीं है क्योंकि पूर्व और उत्तर अवस्थाओं को विषय करनेवाला एक ज्ञानपर्याय शक्य नहीं है, क्योंकि विषय भिन्न ही है; तत्ता उल्लेखी ज्ञान परोक्ष है तथा इदन्ता उल्लेखी ज्ञान प्रत्यक्ष है। इसलिये प्रत्यक्ष और परोक्ष इन का जोडरूप एक ज्ञान शक्य नहीं है। लेकिन प्रत्यक्ष और स्मरण, ये दो जुदी (अलग)-जुदी (अलग) ज्ञानपर्यायें हैं।

समाधान – यह आपका कथन ठीक नहीं है; क्योंकि प्रत्यक्ष (अनुभव) में 'इदन्ता यानी यह' उल्लेखवाला वर्तमानकालवर्ती विवर्तमात्र को जानता है और स्मरण (याद) में 'तत्ता यानी वह' अतीत विवर्त को जानता है, ऐसी वस्तुव्यवस्था है। इसलिये 'भूतकालीन और वर्तमानकालीन के संकलनात्मक **एकत्व**' को अनुभव (प्रत्यक्ष ज्ञान) अथवा स्मरण जानता नहीं। और 'अतीतवर्तमानकालसंकलित **सादृश्य** (समानता) को अनुभव (प्रत्यक्ष) अथवा स्मरण जानता नहीं। और अतीतवर्तमानकालसंकलित **विसदृशता** को अनुभव (प्रत्यक्ष) अथवा स्मरण जानता नहीं। इसलिये अनुभव तथा स्मरण इन दोनों से भिन्न प्रकारका और उनके बाद में होनेवाली और उन एकत्व, सदृशता, विलक्षणता को विषय करनेवाली जो जोड़रूप (संकलनात्मक) ज्ञानपर्याय होती है, वह प्रत्यभिज्ञान है।

अर्थात् (१) अभी सबेरे आठ बजे 'यह जिनदत्त है' ऐसा जाना। (२) फिर एक साल पहले जो जिनदत्त जाना था, उसका स्मरण हो गया। (३) उसके बाद 'एक साल पहले जो जिनदत्त जाना था वह ही यह जिनदत्त है' ऐसा जाना; इस तृतीय प्रकार से जानना नंबर १ ज्ञानपर्याय से और नंबर २ ज्ञानपर्याय से भिन्न प्रकार का है। इस तृतीय प्रकार को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। इस प्रत्यभिज्ञान में 'वह (तत्ता) और यह (इदन्ता)' की संकलनात्मकता (जोड़रूपता) है।

संस्कृत पृष्ठ ८२, संस्कृत परिच्छेद नं. ११ →

अन्य (वैशेषिकादि अन्य) –एकत्वप्रत्यभिज्ञान को स्वीकार करके भी उसका प्रत्यक्ष ज्ञान में अन्तर्भाव करने की कल्पना करते हैं। उसका स्पष्टीकरण ऐसा है कि– 'जो इन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधायी है, वह प्रत्यक्ष है' यह प्रसिद्ध है और इन्द्रियों से अन्वयव्यतिरेक संबंध रखनेवाला यह प्रत्यभिज्ञान है, इसलिये वह प्रत्यक्ष है।

जैन–यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि इन्द्रियों का वर्तमानदशापरामर्शमात्र में उपक्षीणपना होने से वर्तमानातीतदशाव्यापकरूप ऐक्य को जानना सिद्ध नहीं होता है। इन्द्रियों की अविषय में प्रवृत्ति मानना योग्य नहीं है; अन्यथा चक्षु के द्वारा रसादि का भी ज्ञान होने का प्रसंग आयेगा।

विशेषार्थ–अन्य–एकत्वप्रत्यभिज्ञान को मान्य करते हैं, लेकिन एकत्वप्रत्यभिज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान मानते हैं, परोक्ष ज्ञान नहीं मानते क्योंकि 'जो इन्द्रियों के सद्भाव में होता है और इन्द्रियों के अभाव में नहीं होता' वह प्रत्यक्ष है। इस तरह इन्द्रियों के सद्भाव में यह प्रत्यभिज्ञान होता है और इन्द्रियों के अभाव में यह प्रत्यभिज्ञान नहीं होता। इसलिये यह प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है।

जैन – आपका यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि इन्द्रियाँ वर्तमान को जानती है, इसलिये इन्द्रियाँ वर्तमान तथा अतीत में रहनेवाले, ऐसे व्यापकरूप एकत्व को नहीं जानती। 'जो इन्द्रियों का विषय नहीं, उसको इन्द्रियाँ

जानती है' ऐसा मानना ठीक नहीं। अन्यथा नेत्र के द्वारा रस जानने का प्रसंग (दोष) आयेगा।

शंका – लघीयस्त्रयप्रकरण के श्लोक नं. ६१ की विवृत्ति में श्री अकलंकाचार्य जी ऐसा लिखते हैं कि–

''अनिन्द्रियप्रत्यक्षं स्मृतिसंज्ञाचिन्ताभिनिबोधात्मकम्।''

अर्थ – स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोधात्मक (अनुमान) ये ज्ञानपर्यायें अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष है।

इस आगम कथन से ऐसा सिद्ध होता है कि- एकत्वप्रत्यभिज्ञान, सादृश्यादि प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष है। अर्थात् 'जो पहले जिनदत्त था वह यह जिनदत्त है' यह एकत्वप्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष है और 'जो पूर्व में सिद्धपरमात्मा का ध्रुवशुद्धात्मा जाना था, उनके समान यह मेरा ध्रुवशुद्धात्मा है' यह सादृश्यप्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष है। और 'पूर्व में जो आगम से एकत्वविभक्तात्मा का स्वरूप जाना था उनके समान यह मेरा एकत्वविभक्तात्मा है' यह सादृश्यप्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष है। फिर इस कथन के साथ आपके कथन का सुसंवाद कैसे?

समाधान – आपने जो आगम का उद्धरण दिया है। उस आगम के वचन का अभिप्राय आपके समझ में नहीं आया क्योंकि उस आगम का स्पष्टीकरण करनेवाला 'न्यायकुमुदचन्द्र' नाम का ग्रन्थ है, उसमें लिखा है कि–

''ननु स्मृत्यादीनां परोक्षतया पूर्वं प्रतिपादितत्वात् कथं अत्र प्रत्यक्षतया प्रतिपादनं युक्तं पूर्वापरविरोधप्रसंगात्;

इति अपि अचर्चिताभिधानम्, यत्र अंशे तेषां स्पष्टत्वं तत्र एव प्रत्यक्षत्वप्रतिपादनात्। 'स्वरूपे' एव हि तेषां स्पष्टत्वं अतः तत्र एव प्रत्यक्षत्वम् आत्मज्ञानम् इति अभिसम्बन्धात्। बहिरर्थे तु अस्य अस्पष्टत्वात् परोक्षता इति न कश्चित् दोषः।''

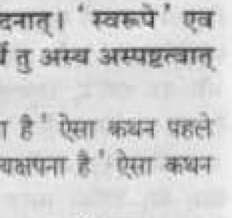
''**भावार्थ–प्रश्न** – 'स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान ज्ञानपर्यायों में परोक्षपना है' ऐसा कथन पहले किया था; अब यहीं 'उन ही स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान ज्ञानपर्यायों में प्रत्यक्षपना है' ऐसा कथन करना कैसे योग्य है क्योंकि पूर्व और अपर कथन में विरोध का प्रसंग आता है?

उत्तर – यह आपका कथन ठीक नहीं है क्योंकि 'जिस अंश में उन में स्पष्टत्व है, उस अंश में ही प्रत्यक्षत्व है' ऐसा कथन किया है। 'स्वरूप' में ही स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि पर्यायों में स्पष्टत्व है; इसलिये उन ज्ञानपर्यायों के स्वरूप यानी आत्मज्ञान यानी भावप्रमेय के ज्ञान में प्रत्यक्षत्व है; लेकिन बाह्य अर्थ यानी बाह्यप्रमेय के ज्ञान में अस्पष्टत्व होने से स्मृति, प्रत्यभिज्ञान आदि ज्ञानपर्यायों में परोक्षता ही है; इसलिये उस में कोई दोष नहीं है।'' अर्थात्–

एकत्वप्रत्यभिज्ञानपर्याय **विषय**

स्व/आत्मज्ञान/भावप्रमेय **अर्थ/बाह्य अर्थ/पर**

[मैं]	[पहले जो जिनदत्त था अभी वह यह जिनदत्त है' ऐसा जानता हूँ।]
↑	↑
यह अंश प्रत्यक्ष है। यह स्वरूप का ज्ञान है, यह पर्याय का 'स्व' है, पर्याय का आत्मा है यानी पर्याय के स्वरूप का ज्ञान है।	यह अंश परोक्ष ज्ञान है, एकत्वप्रत्यभिज्ञान है। यह अर्थ का यानि बाह्य अर्थ का यानी पर का ज्ञान है।



एकत्वप्रत्यभिज्ञानपर्याय — **विषय**

स्व/आत्मज्ञान/भावप्रमेय	**अर्थ/बाह्य अर्थ/पर**	**विषय**
[मैं]	['पहले जो मैं ध्रुवशुद्धचिदानंदात्मा था, वह ही यह मैं ध्रुवशुद्धचिदानंदात्मा हूँ' ऐसा जानता हूँ।]	स्व ध्रुव शुद्ध चिदानंदात्मा
↑ यह अंश प्रत्यक्ष है, यह स्वरूप का ज्ञान है, यह पर्याय का 'स्व' है, यह स्वध्रुवात्मा का ज्ञान नहीं।	↑ यह अंश परोक्ष ज्ञान है, यह स्वध्रुवात्मा का एकत्वप्रत्यभिज्ञान है। यह अंश प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं क्योंकि 'वह यह' उल्लेखवाली जोड़रूप प्रतीति है।	

लेकिन प्रत्यक्ष ज्ञानपर्याय नीचे की संदृष्टि में दिखायी है।

प्रत्यक्ष ज्ञानपर्याय — **विषय**

स्व/आत्मज्ञान/भावप्रमेय	**अर्थ/बाह्य अर्थ/पर**	**विषय**
[मैं]	['यह मैं ध्रुवशुद्धचिदानंदात्मा हूँ' ऐसा जानता हूँ।]	स्व ध्रुव शुद्ध चिदानंदात्मा
↑ यह अंश प्रत्यक्ष है, यह स्वरूप का ज्ञान है, यह पर्याय का 'स्व' है, यह स्वध्रुवात्मा का ज्ञान नहीं।	↑ यह अंश प्रत्यक्ष ज्ञान है, यह **शुद्धात्मानुभव है,** यह स्वध्रुवात्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान है, यह 'यह यानी इदन्ता' उल्लेखी ज्ञान है। यह प्रत्यभिज्ञान नहीं।	

शंका–इंद्रियाँ वर्तमानदशापरामर्श में उपक्षीण होती हैं, तो क्या इन्द्रियाँ केवल वर्तमान अवस्था/पर्याय जानती है अथवा ध्रुवगुण भी जानती हैं?

समाधान–इन्द्रियाँ सामान्यविशेषात्मक वस्तु को (धर्मिधर्मसमूह को) जानती हैं। जैसे स्पर्शनेंद्रिय ने उष्ण वस्तु जानी। यहाँ उष्ण वह अवस्था (पर्याय) है और वस्तु वह धर्मी है। तो स्पर्शनेंद्रिय ने धर्मिधर्म (सामान्यविशेष) को जाना। उसी तरह स्पर्शनेंद्रिय ने स्पर्शवाली वस्तु जानी। यहाँ स्पर्श यह अन्वय (ध्रुव) गुण है और वस्तु धर्मी है। तो स्पर्शनेंद्रिय ने धर्मिधर्म को जाना, उष्णपर्याय अथवा शीतपर्याय अथवा स्निग्धपर्याय अथवा रूक्षपर्याय को नहीं जाना। इससे सिद्ध हुआ कि, इन्द्रियाँ वर्तमान में रहनेवाले गुण को (ध्रुव को) जानती हैं। वर्तमान में वस्तु की अवस्था है और गुण भी हैं। जैसे नेत्र पीतवस्तु को जानता है, वैसे नेत्र रंगीन वस्तु को जानता है।

संस्कृत पृष्ठ नं. ८३, संस्कृत परिच्छेद नं. १२→

शंका (वैशेषिक आदि)–यह सत्य है कि, इन्द्रियों का वर्तमानदशा अवगाहीपना ही है, तथापि

वे इन्द्रियाँ सहकारिसमवधानसामर्थ्य से पूर्वोत्तरदशा को व्यापनेवाले एकत्व की भी प्रतीति करेंगी, जैसे अंजनसंस्कृत नेत्र व्यवहित पदार्थ को जानते हैं। नेत्र का व्यवहितार्थ को जानने की सामर्थ्य नहीं है लेकिन अंजन के संस्कार के वश से व्यवहित अर्थ को जानने का सामर्थ्य नेत्र में आता है। उसी के समान (भ्रान्ति) स्मरणादि से सहकृत इन्द्रियाँ ही दशाद्वयव्यापक एकत्व को जानेंगी। इसलिये प्रमाणान्तर (अन्य प्रमाण) की कल्पना करने की क्या आवश्यकता है अर्थात् प्रत्यभिज्ञानरूप भिन्न प्रमाण की कल्पना करना छोड दो।

समाधान (जैन) – यह आपका कथन असत्य है; क्योंकि सहकारिसहस्रसमवधान रहने पर भी अविषय में प्रवृत्ति नहीं होती। अंजनसंस्कारादि से सहित नेत्र की रूपादिस्वरूप ही स्वविषय में प्रवृत्ति होती है, लेकिन रसादि अविषय में प्रवृत्ति नहीं होती। और अविषयरूप पूर्वोत्तरावस्थाव्यापकरूप एकत्व को जानने में इन्द्रियों की प्रवृत्ति नहीं होती। उस कारण से पूर्वोत्तर अवस्थाओं में व्यापकरूप एकत्व की प्रतीति करने के लिये प्रमाणान्तर का अन्वेषण (शोध/खोज) करना आवश्यक है क्योंकि सर्वत्र भी विषय-विशेष के द्वारा प्रमाण के भेद की व्यवस्था होती है।

विशेषार्थ-शंका – यह सत्य है कि इन्द्रियाँ वर्तमान को ही जानती हैं। तथापि वे इन्द्रियाँ सहकारिसमवधानसामर्थ्य से पूर्वपर्याय तथा उत्तरपर्याय को व्यापनेवाले एकत्व की भी प्रतीति करेंगी, जैसे अंजनसंस्कारित नेत्र (१) भूगर्भ में ढककर रखे हुए रत्न आदि को अथवा (२) दीवार के अन्दर रखे हुए पदार्थ को अथवा (३) अन्य क्षेत्र में या अन्य कमरे में रखे हुए पदार्थ को जानते हैं। व्यवहित वस्तु को जानने का नेत्र का सामर्थ्य नहीं है, लेकिन अंजन के संस्कार से संस्कारित नेत्र व्यवहित वस्तु को जानता है। उसी के समान स्मरणादि से सहकृत इन्द्रियाँ दो पर्यायों में व्यापकर रहनेवाले एकत्व को जानेंगी। इसलिये प्रत्यक्ष और स्मरण से अन्य प्रमाण (ज्ञान) की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं।

समाधान – आपका कथन ठीक नहीं है क्योंकि सहकारी हजारों समवधान रहनेपर भी अविषय (स्वविषय छोड़कर अन्य विषय) में प्रवृत्ति नहीं होती। अंजनसंस्कारादि से सहित नेत्र रूप (वर्ण) को जानती है, रस को नहीं जानती क्योंकि नेत्र का विषय वर्ण है, नेत्र का विषय रस नहीं है। पूर्वपर्याय तथा उत्तरपर्याय इनको व्यापनेवाले व्यापकरूप एकत्व जानने में इन्द्रियों की प्रवृत्ति नहीं होती है। इससे पूर्वोत्तर अवस्था व्यापकरूप एकत्व को जाननेवाला जो ज्ञान है वह प्रत्यक्ष ज्ञान तथा स्मरणज्ञानों से अन्य ज्ञान है, उसको एकत्वप्रत्यभिज्ञान कहते हैं।

शंका – 'निजध्रुवशुद्धचिदानंदात्मा' को जाननेवाले एकत्वप्रत्यभिज्ञान अथवा स्मरण अथवा तर्क अथवा अनुमान अथवा आगमज्ञान अथवा नयज्ञान को सहकारी तीर्थक्षेत्रादि अथवा वज्रवृषभनाराचसंहननादि अथवा अणुव्रतादि अथवा महाव्रतादि का साथ देंगे और 'निजध्रुवात्मा' को जाननेवाले स्मरण अथवा एकत्वप्रत्यभिज्ञान अथवा तर्क अथवा अनुमान अथवा आगम अथवा नयज्ञान इनका प्रत्यक्ष ज्ञान में अन्तर्भाव करेंगे।

समाधान – यह आपका कथन ठीक नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान का और स्मरणादि ज्ञानों का लक्षण भिन्न-भिन्न है। और संहनन, तीर्थक्षेत्र, व्रत आदि जानने के साधकतम साधन नहीं है।

संस्कृत पृष्ठ नं. ८३, संस्कृत परिच्छेद नं. १३ →

और यह है कि – 'वह ही यह है' यह ज्ञान अस्पष्ट ही है । इससे भी उसका प्रत्यक्ष ज्ञान में अन्तर्भाव नहीं होता है। यह अवश्य ही जानना चाहिये कि नेत्र आदि इन्द्रियों में एकत्वप्रत्यभिज्ञान करने की सामर्थ्य नहीं है। अन्यथा लिंगदर्शनव्याप्तिस्मरणादि से सहकृत नेत्रादिक ही अग्नि आदि का अनुमान ज्ञान उत्पन्न करेंगे और अनुमानज्ञान भी पृथक् (अन्य/अलग) प्रमाण (ज्ञान) न मानने का प्रसंग (दोष) आयेगा।

शंका – स्वविषयमात्र में ही इन्द्रियों का चरितार्थपना होने से नेत्रादि इन्द्रियाँ लिंगिज्ञान/अनुमान में प्रवर्तन करने के लिये समर्थ नहीं है।

समाधान – तो फिर प्रत्यभिज्ञान ने कौनसा अपराध किया है? अर्थात् प्रत्यभिज्ञान पृथक् प्रमाण मानने में कुछ भी अपराध नहीं है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि; प्रत्यभिज्ञान नामक पृथक् प्रमाण है।

विशेषार्थ – और यह है कि– 'तत्ता (वह) और इदन्ता (यह)' इनके जोड़रूप (संकलनरूप) होनेवाला ज्ञान अस्पष्ट ही है और इस को प्रतीत्यन्तर (दूसरे ज्ञानपर्याय) की अपेक्षा है। इसलिये 'इदन्ता (यह)' उल्लेखसहित, स्पष्ट ज्ञानसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से प्रत्यभिज्ञान पृथक् (अन्य) ही है। यह अवश्य ही जानना चाहिए कि स्पर्शनेंद्रिय, रसनेंद्रिय, घ्राणेंद्रिय, नेत्रेंद्रिय और कर्णेंद्रिय इनमें एकत्वप्रत्यभिज्ञान करने की सामर्थ्य नहीं है। जैसे लिंगदर्शनव्याप्तिस्मरणादि से सहकृत नेत्रादि इन्द्रियाँ अनुमान नहीं करती है क्योंकि अनुमानज्ञानपर्याय और प्रत्यक्ष ज्ञान भिन्न-भिन्न ज्ञानपर्यायें हैं।

संस्कृत पृष्ठ नं. ८३-८४, संस्कृत परिच्छेद नं. १४→

शंका (नैयायिक, मीमांसक आदि) – सादृश्यप्रत्यभिज्ञान यह उपमान नामक पृथक् प्रमाण मानना चाहिये।

समाधान (जैन) – यह आपका कथन ठीक नहीं है क्योंकि उपमान (सादृश्यप्रत्यभिज्ञान) स्मरणानुभवपूर्वक संकलनज्ञानरूप प्रत्यभिज्ञानपना का उल्लंघन नहीं करता है। अन्यथा 'गाय से विलक्षण भैंसा है' इत्यादि विसदृशत्व की प्रतीति को और 'यह इससे दूर है' इत्यादि आपेक्षिक (सप्रतियोगिक) प्रतीति को पृथक् प्रमाण मानना चाहिये। इसलिये जिस प्रकार वैसादृश्यादि ज्ञानों में प्रत्यभिज्ञान का लक्षण पाया जाने से वे प्रत्यभिज्ञान हैं, उसी प्रकार सादृश्यविषयक ज्ञान में भी प्रत्यभिज्ञान के लक्षण होने से वह प्रत्यभिज्ञान ही है। ऐसी ही प्रामाणिक पद्धति है।

विशेषार्थ– शंका (नैयायिकादि) – 'पहले जो जाना था, उसके समान यह है' इस प्रकार की जो प्रतीति होती है, उसको उपमान नामक भिन्न/पृथक् प्रमाण मानना चाहिये।

समाधान – 'पहले जो जाना था, उसके समान यह है' इसप्रकार की जो प्रतीति होती है, उसमें अनुभव (इदन्ता उल्लेखी प्रत्यक्ष ज्ञान) और स्मरण (तत्ता उल्लेखी ज्ञान) इनका संकलन है। इसलिये प्रत्यभिज्ञानपना ही है।

शंका – प्रत्यक्ष ज्ञान और प्रत्यभिज्ञान पर्यायों को जानने से क्या लाभ होता है?

समाधान – ज्ञानपर्याय जानने का साधन है। ज्ञानपर्याय साधन के द्वारा भोग लेते हैं।

(१) जैसे प्रत्यक्ष ज्ञान साधन के द्वारा भोग लेने में मग्नपना या गाढत्व आता है, वैसे परोक्ष ज्ञान साधन के द्वारा भोग लेने में मग्नपना या गाढत्व नहीं आता है। इसलिये 'यह मैं ध्रुवशुद्धचिदानंदात्मा हूँ' ऐसा प्रत्यक्ष जानना या विचार करने में निर्मलत्व या मग्नत्व या गाढत्व है और 'जो मैं पूर्व में ध्रुवशुद्धचिदानंदात्मा था वह यह मैं ध्रुवशुद्धचिदानंदात्मा हूँ' ऐसा एकत्वप्रत्यभिज्ञान करने में अथवा 'जैसे सिद्ध जीव का ध्रुवात्मा है वैसे मेरा ध्रुवात्मा है' ऐसा सादृश्यप्रत्यभिज्ञान करने में वह निर्मलत्व नहीं है।

(२) कोई भी साधक स्वयं (खुद) यह निर्णय कर सकता है कि, मैं 'निजध्रुवात्मा' को प्रत्यक्ष ज्ञान से जान रहा हूँ अथवा स्मरणज्ञान से जान रहा हूँ अथवा प्रत्यभिज्ञान से जान रहा हूँ। तब साधक 'यह मैं निजध्रुवशुद्धात्मा हूँ' ऐसा विचार करेगा यानी प्रत्यक्ष ज्ञान से जानेगा अर्थात् शुद्धात्मानुभव करेगा। बार-बार प्रत्यक्ष ज्ञान से 'निजध्रुवशुद्धात्मा' को जानने का प्रयत्न करेगा।

(३) 'मैं प्रत्यक्ष ज्ञान से जानता हूँ' अथवा 'मैं स्मरणज्ञान से जानता हूँ' अथवा 'मैं प्रत्यभिज्ञान से जानता

है' इसके बारे में किसी दूसरे से पूछने की आवश्यकता नहीं है।

(४) 'निजध्रुवशुद्धात्मा' को जाननेवाले 'प्रत्यक्ष ज्ञान' के साधन के बारे में अज्ञान, संशय, विपरीतता और अनध्यवसाय नहीं रहेंगे।

(५) प्रत्यभिज्ञान को युक्ति कहते हैं। तर्क को युक्ति कहते हैं। अनुमान को युक्ति कहते हैं। उपदेश सुना और स्मरण न रहा। उससे उपदेश सुनकर ख्याल में रखना ठीक है, लेकिन युक्ति तथा प्रत्यक्ष ज्ञान से परीक्षा नहीं की। और उपदेश सुना और वैसे स्मरण (याद) किया, उसको तोतारटन्त कहते हैं क्योंकि युक्ति से तथा प्रत्यक्ष से परीक्षा नहीं की।

उपदेश सुनकर ख्याल में रखा, फिर स्मरण किया, उसके बाद प्रत्यभिज्ञान से जाना यानी युक्ति से परीक्षा की, तब तोतारटन्त नहीं रहा।

[तर्क का निरूपण]

संस्कृत पृष्ठ नं. ८४-८५, संस्कृत परिच्छेद नं. १५ →

शंका – प्रत्यभिज्ञान रहा आवे (मान्य है)। तो फिर तर्क किसे कहते हैं?

समाधान – व्याप्तिज्ञान को तर्क कहते हैं। साध्य और साधन इनके गम्य (बोध्य) और गमक (बोधक) भाव को दिखानेवाला व्यभिचार की गंध को सहन न करनेवाला जो संबंध-विशेष है, उसको व्याप्ति अथवा अविनाभाव कहते हैं। उस सामर्थ्य से ही धूम आदि ही अग्नि आदि का बोध कराते हैं, लेकिन घटादि पदार्थ अग्नि आदि का बोध नहीं कराता क्योंकि घटादिका अग्नि के साथ व्याप्ति यानी अविनाभाव नहीं है; और अविनाभाव जिसका अपर (दूसरा) नाम है ऐसी उस व्याप्ति का ज्ञान करने में जो साधकतम है, वह यह तर्क नाम का पृथक् (भिन्न) प्रमाण (ज्ञान) है, ऐसा अर्थ है। श्लोकवार्तिकभाष्य में कहा है कि,– 'साध्य और साधन के संबंध के बारे में अज्ञाननाशरूप फल में जो साधकतम है, वह तर्क है' [१-१३-११५]। ऊह यह तर्क का दूसरा नाम है। और वह तर्क उस व्याप्ति को सकलदेशकाल उपसंहार के द्वारा विषय करता है।

विशेषार्थ – व्याप्तिज्ञान को तर्क कहते हैं। साध्य और साधन इनके गम्य और गमक भाव को दिखानेवाला दोषरहित जो संबंधविशेष है, उसको व्याप्ति अथवा अविनाभाव कहते हैं। व्याप्ति अथवा अविनाभाव की सामर्थ्य से ही धूम (साधन) अग्नि (साध्य) का बोध कराते हैं, क्योंकि घटादि का अग्नि के साथ व्याप्ति यानी अविनाभाव नहीं है। धूम के सद्भाव में अग्नि का सद्भाव है और अग्नि के अभाव में धूम का अभाव ही रहता है, ऐसी व्याप्ति है (ऐसा अविनाभाव है)।

भय अथवा दुःख के सद्भाव में जीव का सद्भाव है और जीव के अभाव में दुःख का अभाव ही है, ऐसी व्याप्ति है। चेतनोपयोग के सद्भाव में जीव है और जीव के अभाव में चेतनोपयोग का अभाव है, ऐसी व्याप्ति है। स्वसंवेदन ('अहं' के वेदन) के सद्भाव में जीव का सद्भाव है और जीव के अभाव में स्वसंवेदन ['अहं' के वेदन] का अभाव है, ऐसी व्याप्ति है।

विशिष्ट व्यापक अवगाहन के सद्भाव में आकाश का सद्भाव है और आकाश के अभाव में विशिष्ट व्यापक अवगाहन का अभाव है, ऐसी व्याप्ति है।

वर्तनाहेतुत्व के सद्भाव में कालद्रव्य का सद्भाव है और कालद्रव्य के अभाव में वर्तनाहेतुत्व का अभाव है, ऐसी व्याप्ति है।

अमूर्त गतिहेतुत्व के सद्भाव में धर्मद्रव्य का सद्भाव है और धर्मद्रव्य के अभाव में गतिहेतुत्व का अभाव है, ऐसी व्याप्ति है।

स्थितिहेतुत्व के सद्भाव में अधर्मद्रव्य का सद्भाव है और अधर्मद्रव्य के अभाव में स्थितिहेतुत्व का अभाव

है, ऐसी व्याप्ति है।

स्पर्श-रस-गंध-वर्ण के सद्भाव में पुद्गलद्रव्य का सद्भाव है और पुद्गल के अभाव में स्पर्श-रस-गंध-वर्ण का अभाव है, ऐसी व्याप्ति है।

जहाँ स्पर्श है वहाँ रस-गंध-वर्ण है, ऐसी व्याप्ति है। जहाँ रस है वहाँ स्पर्श-गंध-वर्ण है, ऐसी व्याप्ति है। जहाँ गंध है वहाँ स्पर्श-रस-वर्ण है, ऐसी व्याप्ति है। जहाँ वर्ण है वहाँ स्पर्श-रस-गंध है, ऐसी व्याप्ति है।

जहाँ ज्ञानगुण है वहाँ श्रद्धानंददर्शन है। जहाँ श्रद्धागुण है वहाँ ज्ञानदर्शनानंद है। जहाँ आनंद है वहाँ ज्ञानदर्शनश्रद्धा है, ऐसी व्याप्ति है। जहाँ निश्चयसम्यग्दर्शन है वहाँ निश्चयसम्यग्ज्ञानचारित्र है, ऐसी व्याप्ति है, यह चतुर्थगुणस्थान से शुरू (प्रारंभ) होती है। जहाँ निश्चयसम्यग्ज्ञान है वहाँ निश्चयसम्यग्दर्शनचारित्र है, ऐसी व्याप्ति है, यह चतुर्थगुणस्थान से प्रारंभ होती है। जहाँ निश्चयसम्यक्चारित्र है वहाँ निश्चयसम्यग्दर्शनज्ञान है, ऐसी व्याप्ति है, यह चतुर्थगुणस्थान से प्रारंभ होती है। प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्य का निश्चयसम्यग्दर्शन (मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का उपशम अथवा मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का क्षयोपशम अथवा मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का क्षय) के साथ अविनाभाव अथवा व्याप्ति नहीं है। और अविनाभावरूप व्याप्ति का ज्ञान कराने में जो साधकतम है, वह यह तर्क नाम का पृथक् (अलग) प्रमाण (ज्ञानपर्याय) है।

ऊह यह तर्क का दूसरा नाम है। वह तर्क उस व्याप्ति को सर्वदेश तथा सर्वकाल इनमें उपसंहार के द्वारा विषय करता है। जैसे विदेहक्षेत्र में अव्रती सम्यक्त्वी जीवों में जिस तरह निश्चयसम्यग्ज्ञान की निश्चयसम्यग्दर्शनचारित्र के साथ व्याप्ति है वैसे यहाँ इस भरतक्षेत्र में, नरक में और स्वर्ग में अव्रती सम्यक्त्वी जीवों में उसी तरह निश्चयसम्यग्ज्ञान की निश्चयसम्यग्दर्शनचारित्र के साथ व्याप्ति है। जैसे चतुर्थकाल में अव्रती सम्यक्त्वी जीव में जिस तरह निश्चयसम्यग्ज्ञान की निश्चयसम्यग्दर्शनचारित्र के साथ व्याप्ति थी वैसे इस पंचमकाल में अव्रती सम्यक्त्वी जीव में उसी तरह निश्चयसम्यग्ज्ञान की निश्चयसम्यग्दर्शनचारित्र के साथ व्याप्ति है।

जैसे इस भारत में दो और तीन का संकलन (जोड़) करनेपर पांच होते हैं, वैसे अमेरिका में दो और तीन का संकलन करने पर पांच ही होते हैं। जैसे भूतकाल में दो और तीन का संकलन करने पर पांच होते थे, वैसे वर्तमानकाल में दो और तीन का संकलन करने पर पांच होते हैं और भविष्यकाल में भी दो और तीन का संकलन करने पर पांच ही होंगे।

संस्कृत पृष्ठ नं. ८५, संस्कृत परिच्छेद नं. १६ →

शंका– इसका उदाहरण क्या है?

समाधान– 'जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है' यह तर्क का उदाहरण है। यहाँ धूम के होने पर अनेक बार अग्नि की उपलब्धि होती है और अग्नि के अभाव में धूम की अनुपलब्धि देखी जाने पर 'सब जगह (सर्वत्र) और सब काल में (सर्वदा) धूम अग्नि का व्यभिचारी नहीं है (अग्नि के सद्भाव में ही धूम होता है, अग्नि के अभाव में धूम का भी अभाव होता है।)' इसप्रकार का जो सर्वदेश और सर्वकाल रूपसे अविनाभाव (व्याप्ति) को ग्रहण करनेवाला ज्ञान बाद में उत्पन्न होता है, वह तर्क नाम का प्रत्यक्षादिक से भिन्न ही प्रमाण है। प्रत्यक्ष ज्ञान निकटवर्ती ही धूम और अग्नि के सम्बन्ध का ज्ञान कराता है, इसलिये प्रत्यक्ष ज्ञान व्याप्ति का ज्ञान नहीं करा सकता। कारण व्याप्ति सर्वक्षेत्रकालोपसंहारवती होती है।

विशेषार्थ– 'जहाँ-जहाँ भावलिंग होता है, वहाँ-वहाँ द्रव्यलिंग होता है' यह तर्क का उदाहरण है। यहाँ भावलिंग के होने पर अनेक बार द्रव्यलिंग की उपलब्धि होती है और द्रव्यलिंग के अभाव में सप्रमादि (अप्रमत्तादि) गुणस्थानों का अभाव होता है। यह जानने पर विदेहक्षेत्र, भरतक्षेत्रादि सब जगह और चतुर्थकाल, पंचमकालादि

में भावलिंग (अप्रमत्तसंयतवाले सप्तमादि गुणस्थान) द्रव्यलिंग का व्यभिचारी नहीं है। इस प्रकार का जो सर्वदेश और सर्वकालरूप से अविनाभाव को ग्रहण करनेवाला ज्ञान बाद में उत्पन्न होता है, वह तर्क नाम का प्रत्यक्षादिक से भिन्न ही ज्ञान है। प्रत्यक्ष ज्ञान व्याप्ति का ज्ञान नहीं करा सकता है; क्योंकि व्याप्ति सर्वक्षेत्र-सर्वकाल उपसंहारवाली होती है।

'जहाँ-जहाँ स्पर्श होता है, वहाँ-वहाँ वह पुद्गल ही होता है' ऐसा जानना तर्क है। जहाँ-जहाँ रस है, वहाँ-वहाँ पुद्गल ही है। जहाँ-जहाँ गंध है, वहाँ-वहाँ पुद्गल ही है। जहाँ-जहाँ वर्ण है, वहाँ-वहाँ पुद्गल ही है। यहाँ के स्पर्श-रस-गंध-वर्णवान वस्तु को जानने पर अमेरिकादि क्षेत्र की वस्तुओं को जानने की इच्छा नहीं रही। यहाँ के पुद्गल के समान ही भोगभूमि के पुद्गल वस्तुओं को जानने की अभिलाषा नहीं रही। यहाँ के स्पर्श-रस-गंधवर्णादि के समान ही स्वर्ग के पुद्गल होते हैं इसलिये उनके भोग लेने की इच्छा नहीं रहती है। व्याप्ति ज्ञान के द्वारा परोक्षरूप से अनंत द्रव्य जाने गये। इसलिये अनंत द्रव्यों को जानने की अथवा भोगने की इच्छा नहीं रही। सम्यग्ज्ञान होने से इच्छायें अथवा कांक्षायें अथवा तृष्णायें नष्ट हो जाती हैं।

जहाँ-जहाँ 'अहं' यानी स्वसंवेदन है वहाँ-वहाँ जीव है, ऐसा जानना तर्क है। जहाँ-जहाँ चित्त में शल्य है वहाँ-वहाँ दुःख है, ऐसा जानना तर्क है। जहाँ-जहाँ ज्ञान है वहाँ-वहाँ जीव है, ऐसा जानना तर्क है। जहाँ-जहाँ जीव है, वहाँ-वहाँ ध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा है, ऐसा जानना तर्क है। जहाँ-जहाँ पर्याय है, वहाँ-वहाँ ध्रुवद्रव्य है। जहाँ-जहाँ परिणमन है, वहाँ-वहाँ ध्रुवद्रव्य है, ऐसा जानना तर्क है। जहाँ-जहाँ निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से जाना जाता है वहाँ-वहाँ सम्यग्दर्शन है, ऐसा जानना तर्क है। जब-जब 'निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा' को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से जाना जाता है यानी निर्विकल्पज्ञान यानी शुद्धात्मानुभव है उस-उस समय समता भाव है। जो-जो जीव है वह-वह ध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा है; यह व्याप्ति है, यह परोक्ष ज्ञान है, प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं, शुद्धात्मानुभव नहीं।

संस्कृत पृष्ठ ८५, संस्कृत परिच्छेद नं. १७ →

शंका–यद्यपि प्रत्यक्ष ज्ञानमात्र व्याप्ति को विषय करने में समर्थ नहीं है, तथापि विशिष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान व्याप्ति को विषय करने में समर्थ है। उसका स्पष्टीकरण– रसोईशाला आदि में धूम और अग्नि को प्रथम देखा, वह एक प्रत्यक्ष हो गया। इसके बाद अनेकों बार और अनेक प्रत्यक्ष हो गये लेकिन वे सब प्रत्यक्ष ज्ञान व्याप्ति को विषय करने में समर्थ नहीं। लेकिन पहले-पहले (पूर्व-पूर्व) के अनुभव किये धूम और अग्नि का स्मरण तथा तत्सजातीयत्वानुसंधानरूप प्रत्यभिज्ञान से सहित होकर कोई प्रत्यक्ष-विशेष (विशिष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान) सर्वोपसंहारवती व्याप्ति को विषय कर सकता है। और स्मरण-प्रत्यभिज्ञानसहित प्रत्यक्ष विशेष (विशिष्ट प्रत्यक्ष) व्याप्ति को विषय करने में समर्थ है, तब तर्क नामक पृथक् (भिन्न) प्रमाण मानने की क्या आवश्यकता है? (अर्थात् तर्क नामक पृथक् प्रमाण मानना ठीक नहीं है।)

समाधान–ऐसा कथन करनेवाले न्यायमार्ग के बारे में अनभिज्ञ हैं, क्योंकि 'सहकारी सहस्रसमवधान (कारण) रहनेपर भी अविषय में प्रवृत्ति नहीं होती है' ऐसा कथन पूर्व में कर आये हैं। इससे 'प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण होता है' यह कथन ठीक नहीं है। यह योग्य है कि स्मरण-प्रत्यभिज्ञान और अनेकों बार हुआ प्रत्यक्ष इनका संकलन होकर ऐसे एक ज्ञान को उत्पन्न करता है कि, जो व्याप्ति को जानने में समर्थ है। और वह ही तर्क है, लेकिन अनुमानादि के द्वारा व्याप्ति को जानना संभव ही नहीं है।

विशेषार्थ–शंका–यद्यपि अकेला प्रत्यक्ष ज्ञान (प्रत्यक्षमात्र) व्याप्ति को जानने में समर्थ नहीं है, तथापि

विशिष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान व्याप्ति को जानने के लिये समर्थ है। उसका स्पष्टीकरण-रसोईगृह में धूम और अग्नि को प्रथम बार प्रत्यक्ष देखा, वह एक प्रत्यक्ष हो गया। उसके बाद दूसरी बार अन्यत्र कहीं पर धूम और अग्नि को प्रत्यक्ष देखा। फिर कहीं अन्यत्र धूम और अग्नि को तीसरी बार प्रत्यक्ष देखा। इस तरह अनेकों बार धूम और अग्नि को प्रत्यक्ष देखा। लेकिन वे सब प्रत्यक्ष ज्ञान व्याप्ति को जानने के लिये समर्थ नहीं हैं। लेकिन पूर्व-पूर्व के (पहले-पहले के) अनुभव किये हुए धूम और अग्नि का स्मरण तथा तत्सजातीयत्व के अनुसंधानरूप प्रत्यभिज्ञान से सहित कोई विशिष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान व्याप्ति को जान सकता है। और स्मरण-प्रत्यभिज्ञानसहित विशिष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान व्याप्ति को जानने के लिये समर्थ है। तब प्रत्यक्ष से, स्मरण से और प्रत्यभिज्ञान से तर्क नामक पृथक् (भिन्न) प्रमाण मानने की क्या आवश्यकता है?

समाधान–प्रत्यक्ष से तर्क को पृथक् न मानना, ठीक नहीं है। स्मरण से तर्क को पृथक् न मानना, ठीक नहीं है। प्रत्यभिज्ञान से तर्क को पृथक् न मानना, ठीक नहीं है। 'क्योंकि सहकारी सहस्र कारण रहनेपर भी अविषय में प्रवृत्ति नहीं होती है' ऐसा कथन पहले कर आये हैं। इसलिये प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा व्याप्ति का ग्रहण नहीं होता है। यह योग्य है कि-स्मरण, प्रत्यभिज्ञान और अनेकों बार का प्रत्यक्ष इनका संकलन होकर ऐसे एक ज्ञान को उत्पन्न करता है-जो व्याप्ति को जानने में समर्थ है-वह ही तर्क है। स्मरण के द्वारा भी व्याप्ति को जानना संभव नहीं है। प्रत्यभिज्ञान के द्वारा भी व्याप्ति को जानना संभव नहीं है। और अनुमान के द्वारा भी व्याप्ति को जानना संभव नहीं है।

शंका–लघीयस्त्रयप्रकरण के श्लोक नं. ६१ की विवृत्ति में श्री अकलंकाचार्यजी ऐसा लिखते हैं कि–

''अनिन्द्रियप्रत्यक्षं स्मृतिसंज्ञाचिन्ताभिनिबोधात्मकम्।''

अर्थ–स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोधात्मक (अनुमान) ये ज्ञानपर्यायें अनिन्द्रियप्रत्यक्ष हैं।

इस आगम कथन से ऐसा सिद्ध होता है कि–तर्क प्रत्यक्ष ज्ञान है। फिर इस कथन के साथ आपके कथन का सुसंवाद कैसे?

समाधान–आपने जो आगम का उद्धरण दिया है उस आगम के वचन का अभिप्राय आपके समझ में नहीं आया है। क्योंकि उस आगम का स्पष्टीकरण करनेवाला '**न्यायकुमुदचन्द्र**' नामका ग्रन्थ है, उसमें लिखा है कि–

''ननु स्मृत्यादीनां परोक्षतया पूर्वं प्रतिपादितत्वात् कथं अत्र प्रत्यक्षतया प्रतिपादनं युक्तं पूर्वापरविरोधप्रसंगात्,

इति अपि अचर्चिताभिधानम्, यत्र अंशे तेषां स्पष्टत्वं तत्र एव प्रत्यक्षत्वप्रतिपादनात्। 'स्वरूपे' एव हि तेषां स्पष्टत्वं अत: तत्र एव प्रत्यक्षत्वं आत्मज्ञानम् इति अभिसम्बन्धात्। बहिरर्थे तु अस्य अस्पष्टत्वात् परोक्षता इति न कश्चित् दोष:।''

''**भावार्थ**–प्रश्न–'स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान ज्ञानपर्यायों में परोक्षपना है' ऐसा कथन पहले किया था; अब यहाँ 'उन ही स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान ज्ञानपर्यायों में प्रत्यक्षपना है' ऐसा कथन करना कैसे योग्य है; क्योंकि पूर्व और अपर कथन में विरोध का प्रसंग आता है?

उत्तर–यह आपका कथन ठीक नहीं है; क्योंकि 'जिस अंश में उनमें स्पष्टत्व है, उस अंश में ही प्रत्यक्षत्व है' ऐसा कथन किया है। 'स्वरूप' में ही स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क आदि पर्यायों में स्पष्टत्व है; इसलिये उन ज्ञानपर्यायों के स्वरूप यानी आत्मज्ञान यानी भावप्रमेय के ज्ञान में प्रत्यक्षत्व है; लेकिन बाह्य अर्थ यानी बाह्य प्रमेय के ज्ञान में अस्पष्टत्व होने से स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क आदि ज्ञानपर्यायों में परोक्षता ही है; इसलिये उसमें कोई दोष नहीं।''

तर्कज्ञानपर्याय

स्व/आत्मज्ञान/भावप्रमेय	अर्थ/बाह्य अर्थ/पर
[मैं]	['जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है' ऐसा जानता हूँ।]
↑ यह अंश प्रत्यक्ष है। यह स्वरूप का ज्ञान है, यह पर्याय का 'स्व' है, पर्याय का आत्मा है यानी पर्याय के स्वरूप का ज्ञान है।	↑ यह अंश परोक्ष ज्ञान है, यह तर्कज्ञानपर्याय है, यह अर्थ यानी बाह्य अर्थ यानी पर का ज्ञान है।

तर्कज्ञानपर्याय

स्व/आत्मज्ञान/भावप्रमेय	अर्थ/बाह्य अर्थ/पर
[मैं]	['जहाँ-जहाँ चित्त में शल्य होता है, वहाँ-वहाँ दुःख होता है' ऐसा जानता हूँ।]
↑ यह अंश प्रत्यक्ष है। यह स्वरूप का ज्ञान है, यह पर्याय का 'स्व' है, यह स्वध्रुवात्मा का ज्ञान नहीं है।	↑ यह परोक्ष ज्ञान है, यह तर्कज्ञानपर्याय है।

तर्कज्ञानपर्याय

स्व/आत्मज्ञान/भावप्रमेय	अर्थ/बाह्य अर्थ/पर/बाह्य प्रमेय
[मैं]	['जहाँ-जहाँ जीव है, वहाँ-वहाँ ध्रुवशुद्धचिदानंदात्मा है' ऐसा जानता हूँ।]
↑ यह अंश प्रत्यक्ष है। यह स्वरूप का ज्ञान है, यह पर्याय का 'स्व' है, यह स्वध्रुवात्मा का ज्ञान नहीं है।	↑ यह परोक्ष ज्ञान है, यह तर्कज्ञानपर्याय है, यह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। यह शुद्धात्मानुभव नहीं है।

ध्रुवशुद्धचिदानंदात्मा को जाननेवाला तर्क प्रत्यक्ष ज्ञान से पृथक् (अन्य) है; क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान की संदृष्टि नीचे दिखायी है।

प्रत्यक्ष ज्ञानपर्याय

स्व/आत्मज्ञान/भावप्रमेय	अर्थ/बाह्य अर्थ/पर/बाह्य प्रमेय
[मैं]	['वह मैं ध्रुवशुद्धचिदानंदात्मा हूँ' ऐसा जानता हूँ।]
↑	↑
यह अंश प्रत्यक्ष है। यह स्वरूप का ज्ञान है, यह पर्याय का 'स्व' है, यह पर्याय का आत्मज्ञान है, यह 'स्वध्रुवशुद्धात्मा' का ज्ञान नहीं है।	यह अंश प्रत्यक्ष ज्ञान है, यह **शुद्धात्मानुभव** है, यह 'स्वध्रुवशुद्धात्मा' का प्रत्यक्ष ज्ञान है, यह 'इदन्ता यानी यह' उल्लेखी ज्ञान है। यह तर्कज्ञान नहीं है।

इसलिये तर्क प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं।

संस्कृत पृष्ठ नं. ८६, संस्कृत परिच्छेद नं. १८ →

बौद्ध – प्रत्यक्षपृष्ठभावी [निर्विकल्प (निर्विचार) प्रत्यक्ष के बाद का] विकल्प व्याप्ति को ग्रहण करता है, ऐसा हम मानते हैं।

जैन – उनको ऐसा प्रश्न करना चाहिये कि वह विकल्प प्रमाण है अथवा अप्रमाण है?

बौद्ध – प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्प को हम अप्रमाण मानते हैं।

जैन – यदि प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्प को अप्रमाण मानते हो तो फिर उससे ग्रहण की हुई व्याप्ति में प्रामाण्य कैसे सिद्ध होगा? अर्थात् वह व्याप्तिज्ञान प्रमाणाभास है।

बौद्ध – 'व्याप्ति को ग्रहण करनेवाला ज्ञान प्रमाण है' ऐसा मानेंगे।

जैन – तो फिर व्याप्ति को ग्रहण करनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है अथवा अनुमान ज्ञान है? व्याप्ति को जाननेवाला ज्ञानपर्याय प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है, क्योंकि व्याप्ति को जाननेवाले ज्ञान में अस्पष्ट प्रतिभासत्व है। और 'व्याप्ति को ग्रहण करनेवाली ज्ञानपर्याय अनुमान ज्ञानपर्याय है' ऐसा भी आप नहीं मान सकते, क्योंकि व्याप्ति का ज्ञान होते समय लिंगदर्शनादि की अपेक्षा नहीं है (और अनुमान को लिंगदर्शनादि की अपेक्षा है)।

बौद्ध – तब व्याप्ति को जाननेवाले ज्ञान को प्रत्यक्ष और अनुमान इनसे पृथक् प्रमाण मानेंगे।

जैन – तो फिर व्याप्ति को जाननेवाला तर्क है। इसलिये तर्क नामक पृथक् प्रमाण की सिद्धि हो गयी।

विशेषार्थ – बौद्ध – ज्ञान के दो भेद मानते हैं– (१) प्रत्यक्ष यानी स्वसंवेदन अथवा स्वलक्षणप्रत्यक्ष और (२) अनुमान। प्रत्यक्ष ज्ञान को निर्विकल्पज्ञान यानी निर्विचारक मानते हैं। 'प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा स्वलक्षणप्रत्यक्ष ज्ञान होने के बाद जो ज्ञान होता है, वह विकल्पज्ञान है' उसको प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्प कहते हैं। 'वह विकल्प व्याप्ति को जानता है' ऐसा हम बौद्ध मानते हैं।

जैन – वह विकल्प सच्चा ज्ञान (प्रमाण) है अथवा अप्रमाण (प्रमाणाभास) है?

बौद्ध–प्रत्यक्षपृष्ठभावी होनेवाले विकल्प को अप्रमाण (असत्य ज्ञान यानी प्रमाणाभास) मानते हैं।

जैन–यदि प्रत्यक्षपृष्ठभावी विकल्प को अप्रमाण (मिथ्याज्ञान) मानते हो तो फिर उस विकल्प के द्वारा जानी गयी व्याप्ति भी अप्रमाण (मिथ्याज्ञान) है। उसमें प्रामाण्य नहीं है। अर्थात् आपके मतसे वह व्याप्तिज्ञान प्रमाणाभास है।

बौद्ध–यह दोष आता है, तो फिर 'व्याप्ति को जाननेवाले ज्ञान को प्रमाण (सच्चा ज्ञान) है' ऐसा मानेंगे।

जैन–तो फिर व्याप्ति को जाननेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान है अथवा अनुमान ज्ञान है, क्योंकि आप बौद्धों ने प्रत्यक्ष ज्ञान और अनुमान ये दो ही प्रकार के ज्ञान माने हैं। व्याप्ति को जाननेवाला ज्ञानपर्याय प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है, क्योंकि व्याप्ति को जाननेवाले ज्ञान में अस्पष्टपना है। और 'व्याप्ति को जाननेवाला ज्ञानपर्याय अनुमान ज्ञानपर्याय है' ऐसा भी आप अथवा कोई भी नहीं मान सकता; क्योंकि व्याप्ति का ज्ञान होते समय लिंगदर्शन आदि की अपेक्षा नहीं है और अनुमान को लिंगदर्शन आदि की अपेक्षा है।

इसलिये व्याप्ति को जाननेवाला तर्क ज्ञान है। वह तर्क प्रत्यक्ष से और अनुमान से पृथक् प्रमाण है। वह तर्क स्मरण से पृथक् प्रमाण है। तर्कज्ञान प्रत्यभिज्ञान से पृथक् प्रमाण है।

शंका–प्रत्यक्ष ज्ञान और तर्कज्ञान पर्यायों को जानने से क्या लाभ होता है?

समाधान–ज्ञानपर्याय जानने के साधन हैं। ज्ञानपर्याय साधन के द्वारा भोग लेते हैं।

(१) जैसे प्रत्यक्ष ज्ञान साधन के द्वारा भोग लेने में मग्नपना या गाढत्व आता है, वैसे परोक्ष ज्ञान साधन के द्वारा भोग लेने में मग्नपना अथवा गाढत्व नहीं आता है। इसलिये 'यह मैं ध्रुवशुद्धचिदानंदात्मा हूँ' ऐसा प्रत्यक्ष जानना अथवा विचार करने में निर्मलत्व अथवा मग्नत्व या गाढत्व है और 'जो-जो जीव है, वह-वह ध्रुवशुद्धचिदानंदात्मा है' ऐसा तर्कज्ञान करने में वह निर्मलत्व नहीं है।

(२) कोई भी साधक स्वयं (खुद) यह निर्णय कर सकता है कि, मैं 'निजध्रुवात्मा' को प्रत्यक्ष ज्ञान से जान रहा हूँ अथवा स्मरणज्ञान से जान रहा हूँ अथवा प्रत्यभिज्ञान से जान रहा हूँ अथवा तर्कज्ञान से जान रहा हूँ। तब साधक 'यह मैं निजध्रुवशुद्धात्मा हूँ' ऐसा विचार करेगा यानी प्रत्यक्ष ज्ञान से जानेगा अर्थात् शुद्धात्मानुभव करेगा। बार-बार प्रत्यक्ष ज्ञान से 'निजध्रुवशुद्धात्मा' को जानने का प्रयत्न करेगा।

(३) 'मैं प्रत्यक्ष ज्ञान से जानता हूँ' अथवा 'मैं तर्कज्ञान से जानता हूँ' इसके बारे में किसी दूसरे को पूछने की आवश्यकता नहीं।

(४) 'निजध्रुवशुद्धात्मा' को जाननेवाले 'प्रत्यक्ष ज्ञान' के साधन के विषय में अज्ञान, संशय, विपरीत और अनध्यवसाय नहीं रहेंगे।

(५) तर्कज्ञान को युक्ति कहते हैं। प्रत्यभिज्ञान को युक्ति कहते हैं। अनुमान को युक्ति कहते हैं। उपदेश सुना और स्मरण न रहा। उससे उपदेश सुनकर ख्याल में रखना ठीक है, लेकिन युक्ति तथा प्रत्यक्ष ज्ञान से परीक्षा नहीं की। और उपदेश सुना वैसे स्मरण किया, उसको तोतारटन्त कहते हैं, क्योंकि युक्ति से तथा प्रत्यक्ष से परीक्षा-नहीं की। उपदेश सुनकर ख्याल में रखा, फिर स्मरण किया, उसके बाद प्रत्यभिज्ञान से जाना और उसके बाद तर्कज्ञान से और परीक्षा की, तब तोतारटन्त नहीं रहा।

(६) जानना ज्ञान का कार्य है, व्रत का नहीं।

शंका–'निजध्रुवशुद्धचिदानंदात्मा' को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से जाना यानी शुद्धात्मानुभव यानी निर्विकल्पज्ञान हो गया, सम्यग्ज्ञान हो गया उसी समय सम्यग्दर्शन का उत्पाद हो गया। उसके पश्चात् सविकल्पज्ञान हो गया, तो उस सविकल्पज्ञान को (यानी उस नयज्ञान अथवा स्मरण को अथवा प्रत्यभिज्ञान को अथवा

तर्कज्ञान को अथवा अनुमान ज्ञान को अथवा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ज्ञान को) मिथ्याज्ञान मानेंगे तो चलेगा क्या ?

समाधान– 'निजध्रुवशुद्धचिदानंदात्मा' को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से जाना यानी शुद्धात्मानुभव यानी निर्विकल्पज्ञान हो गया, सम्यग्ज्ञान हो गया, उसी समय सम्यग्दर्शन का उत्पाद हो गया। उसके पश्चात् सविकल्पज्ञान हो गया, यदि उसी समय लब्धरूप शुद्धात्मानुभव है तो सम्यग्ज्ञान है, उसी समय सम्यग्दर्शन है। और यदि सविकल्पज्ञान हो गया और उसी समय लब्धरूप शुद्धात्मानुभव नहीं है तो उसी समय मिथ्याज्ञान है और उसी समय मिथ्यादर्शन है।

[अनुमान का निरूपण]

संस्कृत पृष्ठ नं. ८६, संस्कृत परिच्छेद नं. १९ →

अब अनुमान का वर्णन करते हैं।

अनुमान– साधन से साध्य का ज्ञान होने को अनुमान कहते हैं।

यहाँ अनुमान यह लक्ष्यनिर्देश है और ' साधन से साध्य का ज्ञान होना ' यह लक्षणनिर्देश (लक्षणकथन) है।

साधनरूप धूमादि लिंग से साध्यरूप अग्नि आदि लिंगी के विषय में जो ज्ञान होता है, वह अनुमान है; क्योंकि उस साध्य के ज्ञान में ही अग्नि आदि साध्यज्ञान की उत्पत्ति तथा अग्नि आदि साध्य के अज्ञान का नाश करने का करणपना है। और केवल (खालिश यानी अकेला) साधन का ज्ञान अनुमान नहीं है; क्योंकि उसमें साधन सम्बन्धी अज्ञान-नाश करने का समर्थपना है, साध्यसंबंधी अज्ञान-नाश करने का समर्थपना नहीं है।

नैयायिक– हम लिंगज्ञान (साधन के ज्ञान) को ही अनुमान का लक्षण मानते हैं।

जैन– यह आपके द्वारा जो अनुमान का लक्षण किया है, वह अविनीत/अविचारी लोगों के द्वारा परिकल्पित होने से ठीक नहीं है, यह पूर्व कथन में बताया गया है क्योंकि ' अनुमानप्रमाणस्वरूपलाभ में व्याप्तिस्मरण से सहकृत (युक्त) लिंगपरामर्श कारण है ' ऐसा हम मानते हैं। जैसे- स्मरणादि स्वरूपलाभ में अनुभवादि हैं। उसका स्पष्टीकरण-धारणा नामक अनुभव (प्रत्यक्ष ज्ञान) स्मृति की उत्पत्ति में हेतु है। तात्कालिक अनुभव और स्मृति ये दोनों प्रत्यभिज्ञान की उत्पत्ति में हेतु हैं। साध्यसाधनविषयक स्मृति, प्रत्यभिज्ञान और अनुभव तर्क में हेतु हैं। उसी प्रकार व्याप्तिस्मरणादिसहकृत लिंगज्ञान अनुमान की उत्पत्ति में निबन्धन (हेतु) है, वह अकेला लिंगज्ञान अनुमान नहीं है; यह कथन सुसंगत ही है।

विशेषार्थ– अनुमान-साधन अथवा लिंग से अथवा हेतु से साध्य का ज्ञान होने को अनुमान कहते हैं।

जैसे गाय यह लक्ष्य है। जीव यह लक्ष्य है। अग्नि यह लक्ष्य है। वैसे यहाँ अनुमान यह लक्ष्य है।

जैसे 'सास्नादिमान' यह लक्षण है। उपयोग यह लक्षण है। (स्वसंवेदन यह लक्षण है।) उष्णता यह लक्षण है। वैसे यहाँ 'साधन से साध्य का ज्ञान होना' यह लक्षण है।

धुम (धुआँ) यह साधन है। बाजू के मकान से बाहर आनेवाले धूम को देखा (जाना)। 'वहाँ धूम (धुआँ) है, इसलिये वहाँ अग्नि है' ऐसा जाना। यह अनुमान है। उस ज्ञान में अग्नि-साध्यज्ञान की उत्पत्ति हो गयी, उसी समय वहाँ अग्निसंबंधी अज्ञान का नाश (व्यय) हो गया। इसलिये उस अनुमान में अग्निरूप साध्य का ज्ञान उत्पन्न करने का सामर्थ्य है और उस अग्निरूप साध्य का अज्ञान दूर करने का सामर्थ्य है। केवल धूम को जानना अनुमान ज्ञान नहीं है। क्योंकि उसमें धूम के सम्बन्धी अज्ञान दूर करने की सामर्थ्य है, अग्निसंबंधी

अज्ञान दूर करने की सामर्थ्य नहीं है।

विशिष्ट गंध यह साधन है। बाजू के मकान से आनेवाली विशिष्ट गंध को जाना। फिर 'वहाँ विशिष्ट गंध है, इसलिये वहाँ दूध जल गया है' ऐसा जाना। यह अनुमान है।

'हातों के नखों में सफेदपना और गड्ढा है, इसलिये इस जीव के शरीर में लोहक्षार (हिमोग्लोबीन) की कमी है' ऐसा जानना अनुमान है। 'बाजू के कमरे से विशिष्ट मीठी गंध आती है, इसलिये वहाँ रोटी जल रही है' ऐसा जानना अनुमान है। 'यह लडका मिट्टी खाता है, इसलिये उसके शरीर में लोहक्षार की कमी है' ऐसा जानना अनुमान है।

'मैं' पेड़ (वृक्ष) को देखता (जानता) हूँ। यह 'मैं' के वेदन को स्वसंवेदन कहते हैं। 'यहाँ मेरे में स्वसंवेदन है, इसलिये मैं जीव हूँ' ऐसा जानना अनुमान है। 'अभी मैंने निजध्रुवशुद्धात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा जाना है (यानी अभी मुझे अव्रती अवस्था में निर्विकल्प शुद्धात्मानुभव हो गया), इसलिये मुझे सम्यग्दर्शन हो गया है तथा दर्शनमोहका व्यय हो गया अर्थात् मैं अविरतसम्यक्त्वी/चतुर्थ गुणस्थानवर्ती हूँ' ऐसा जानना अनुमान है।

[**प्रवचनसार-गाथा नं. ८०-'जो जाणदि अरहंतं'** इत्यादि की श्री जयसेनाचार्य विरचित तात्पर्यवृत्ति में लिखा है कि–

''तदनन्तरं अविकल्पस्वरूपे प्राप्ते.... दर्शनमोहान्धःकारः प्रलीयते।''

अर्थ– उसके (करणत्रय के) अनन्तर निर्विकल्प शुद्धात्मानुभव प्राप्त (उत्पाद) होता है उसी समय.... दर्शनमोह का व्यय होता है।

प्रवचनसार-गाथा नं. ८६- 'जिणसत्थादो अट्ठे' इत्यादि की श्री जयसेनाचार्य विरचित तात्पर्यवृत्ति में लिखा है कि,–

''...वीतरागसर्वज्ञप्रणीतशास्त्रात् 'एगो मे सस्सदो अप्पा' इत्यादि परमात्मोपदेशकश्रुतज्ञानेन तावत् आत्मानं जानीते कश्चित्भव्यः, तदनन्तरं विशिष्टाभ्यासवशेन परमसमाधिकाले रागादिविकल्परहितमानसप्रत्यक्षेण च तं एव आत्मानं परिच्छिनत्ति तथैव अनुमानेन वा। तथा हि- अत्र एव देहे निश्चयनयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावः परमात्मा अस्ति। कस्मात् हेतोः ? निर्विकारस्वसंवेदनप्रत्यक्षत्वात् सुखादिवत् इति...''

अर्थ– वीतरागसर्वज्ञप्रणीत शास्त्र से 'मेरा आत्मा शाश्वत एक है' इत्यादि परमात्मा के उपदेशक श्रुतज्ञान के द्वारा कोई भव्य आत्मा को जानता है, और उसके बाद विशिष्ट अभ्यास के वश से परमसमाधिकाल में रागादिविकल्परहित मानसप्रत्यक्ष ज्ञान से ही उस ही आत्मा को जानता है अथवा निर्विकल्प शुद्धात्मानुभव करके उसके बाद अनुमान से निर्णय करता है कि 'मैंने निर्विकल्प शुद्धात्मानुभव किया है इसलिये मुझे सम्यग्दर्शन है, सम्यक्चारित्र है, निश्चयमोक्षमार्गस्थ हूँ ही। उसका स्पष्टीकरण– ''यहाँ ही देह में निश्चयनय से शुद्धबुद्ध एक स्वभावस्वरूपी परमात्मा है; क्योंकि निर्विकारस्वसंवेदनप्रत्यक्षपना है, जैसे सुखादि संवेदन है' इस प्रकार के अनुमान से निर्णय करता है।]

'चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव वीतरागी है; क्योंकि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव को अनंतानुबन्धिक्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदयजनित पाषाणरेखादि समान रागादि का अभाव है' ऐसा जानना अनुमान है।

'पंचम गुणस्थानवर्ती जीव वीतरागी है; क्योंकि पंचम गुणस्थानवर्ती जीव को अनंतानुबन्धिक्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदयजनित पाषाणरेखादि समान रागादि का और अप्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभजनित भूमिरेखादि समान रागादि का अभाव है' ऐसा जानना अनुमान है।

'इसमें क्रोधपर्याय है, इसलिये उसमें ध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा है' ऐसा जानना अनुमान है।

'मुझमें भयपर्याय है, इसलिये मैं ध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा हूँ' ऐसा जानना अनुमान है।

'मुझमें जानने की क्रिया होती है, इसलिये मुझमें ज्ञानगुण है' ऐसा जानना अनुमान है । मुझमें ज्ञानगुण है, इसलिये मैं ध्रुवशुद्धज्ञानानंदात्मा हूँ' ऐसा जानना अनुमान है, परोक्ष ज्ञान है, शुद्धात्मानुभव नहीं, प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं ।

शंका – लघीयस्त्रयप्रकरण के श्लोक नं. ६१ की विवृति में श्री अकलंकाचार्यजी ऐसा लिखते हैं कि,

"अनिन्द्रियप्रत्यक्षं स्मृतिसंज्ञाचिन्ताभिनिबोधात्मकम्।"

अर्थ – स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोध (अनुमान) ये ज्ञानपर्यायें अनिन्द्रियप्रत्यक्ष हैं।

तब यह कैसे ?

समाधान – आपने जो यह उद्धरण दिया है, उसका स्पष्टीकरण करनेवाला श्री प्रभाचन्द्राचार्यकृत न्यायकुमुदचन्द्र नाम का ग्रन्थ है। **न्यायकुमुदचन्द्र** [माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला प्रकाशन] भाग नंबर २, पृष्ठ नंबर ६८३, पंक्ति नंबर १९ से २०–

"ननु स्मृत्यादीनां परोक्षतया पूर्वं प्रतिपादितत्वात् कथं अत्र प्रत्यक्षतया प्रतिपादनं युक्तं पूर्वापरविरोधप्रसंगात् ;

इति अपि अचर्चिताभिधानम्, यत्र अंशे तेषां स्पष्टत्वं तत्र एव प्रत्यक्षत्वप्रतिपादनात्। 'स्वरूपे' एव हि तेषां स्पष्टत्वं अतः तत्र एव प्रत्यक्षत्वम् आत्मज्ञानम् इति सम्बन्धात्। बहिरर्थे तु अस्य अस्पष्टत्वात् परोक्षता इति न कश्चित् दोषः।"

"**भावार्थ-प्रश्न** – 'स्मृति आदि ज्ञानपर्यायों में परोक्षपना है' ऐसा प्रतिपादन पहले किया था अब यहाँ उसी स्मृति आदि ज्ञानपर्यायों में प्रत्यक्षपना है' ऐसा प्रतिपादन करना कैसे योग्य है; क्योंकि पूर्व-अपर कथन में विरोध का प्रसंग आता है ?

उत्तर – यह आपका कथन ठीक नहीं है; क्योंकि 'जिस अंश में उन में स्पष्टत्व है; उस अंश में ही प्रत्यक्षत्व है,' ऐसा प्रतिपादन किया है। 'स्वरूप' में ही स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान ज्ञानपर्यायों में स्पष्टत्व है; इसलिये उन ज्ञानपर्यायों के स्वरूप यानी आत्मज्ञान यानी भावप्रमेय के ज्ञान में प्रत्यक्षत्व है; लेकिन 'बाह्य अर्थ यानी बाह्य प्रमेय के ज्ञान में अस्पष्टत्व होने से स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान ज्ञानपर्यायों में परोक्षता ही है, इसलिये उसमें कोई दोष नहीं है।"

अनुमानज्ञानपर्याय

स्व/आत्मज्ञान/भावप्रमेय	अर्थ/बाह्य अर्थ/बाह्य प्रमेय/पर
[मैं]	['वहाँ अग्नि है; क्योंकि वहाँ धूम है' ऐसा जानता हूँ।]
↑	↑
यह अंश प्रत्यक्ष है, यह स्वरूप का ज्ञान है, यह पर्याय का 'स्व' है, यह पर्याय का आत्मज्ञान है, यह 'स्वध्रुवशुद्धात्मा' का ज्ञान नहीं है।	यह अंश परोक्ष ज्ञान है, यह अनुमानज्ञान है।

अनुमानज्ञानपर्याय

स्व/आत्मज्ञान/भावप्रमेय	अर्थ/बाह्य अर्थ/बाह्य प्रमेय/पर
[मैं]	['मैं दुःखी हूँ, क्योंकि मेरे चित्त में शल्य है' ऐसा जानता हूँ।]
↑	↑
यह अंश प्रत्यक्ष है, यह स्वरूप का ज्ञान है, यानी यह पर्याय का 'स्व' है, यह पर्याय का आत्मज्ञान है, यह 'स्वध्रुवशुद्धात्मा' का ज्ञान नहीं है।	यह अंश परोक्ष ज्ञान है, यह अनुमान ज्ञान है, यह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है।

अनुमानज्ञानपर्याय

स्व/आत्मज्ञान/भावप्रमेय	अर्थ/बाह्य अर्थ/बाह्य प्रमेय/पर
[मैं]	['मैं ध्रुवशुद्धचिदानंदात्मा हूँ, क्योंकि मुझमें यह पर्याय है' ऐसा जानता हूँ।]
↑	↑
यह अंश प्रत्यक्ष है, यह स्वरूप का ज्ञान है, यानी यह पर्याय का 'स्व' है, यह पर्याय का आत्मज्ञान है, यह 'स्वध्रुवशुद्धात्मा' का ज्ञान नहीं है।	यह अंश परोक्ष ज्ञान है, यह अनुमानज्ञान है, यह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं, यह शुद्धात्मानुभव नहीं है।

प्रत्यक्ष ज्ञानपर्याय

स्व/आत्मज्ञान/भावप्रमेय	अर्थ/बाह्य अर्थ/बाह्य प्रमेय/पर
[मैं]	['यह मैं ध्रुवशुद्धचिदानंदात्मा हूँ' ऐसा जानता हूँ।]
↑	↑
यह अंश प्रत्यक्ष है, यह स्वरूप का ज्ञान है, यानी यह पर्याय का 'स्व' है, यह पर्याय का आत्मज्ञान है, यह 'स्वध्रुवशुद्धात्मा' का ज्ञान नहीं है।	यह अंश प्रत्यक्ष ज्ञान है, यह शुद्धात्मानुभव है, यह 'स्वध्रुवशुद्धात्मा' का प्रत्यक्ष ज्ञान है, यह निर्विकल्पज्ञान है, यह 'इदन्ता यानी यह' उल्लेखी ज्ञान है। यह अनुमान ज्ञान नहीं है।

इसलिये अनुमान ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं कहा है।

शंका–प्रत्यक्ष ज्ञान और अनुमान ज्ञान पर्यायों को जानने से क्या लाभ होता है?

समाधान–ज्ञानपर्याय जानने के साधन हैं। ज्ञानपर्याय साधन के द्वारा भोग लेते हैं।

(१) जैसे प्रत्यक्ष ज्ञान साधन के द्वारा भोग लेने में मग्नपना यानी गाढत्व आता है, वैसे परोक्ष ज्ञान साधन के द्वारा भोग लेने में मग्नपना अथवा गाढत्व नहीं आता है। इसलिये 'यह मैं ध्रुवशुद्धचिदानंदात्मा हूँ' ऐसा प्रत्यक्ष जानना अथवा विचार करने में निर्मलत्व अथवा मग्नत्व या गाढत्व है और 'मैं ध्रुवशुद्धचिदानंदात्मा हूँ; क्योंकि मेरे में पर्याय है' ऐसा अनुमान ज्ञान करने में वह निर्मलत्व नहीं है।

(२) कोई भी साधक स्वयं (खुद) यह निर्णय कर सकता है कि,– मैं 'निजध्रुवात्मा' को प्रत्यक्ष ज्ञान से जान रहा हूँ अथवा स्मरणज्ञान से जान रहा हूँ अथवा प्रत्यभिज्ञान से जान रहा हूँ अथवा तर्कज्ञान से जान रहा हूँ अथवा अनुमानज्ञान से जान रहा हूँ। तब साधक 'यह मैं निजध्रुवशुद्धात्मा हूँ' ऐसा विचार करेगा यानी प्रत्यक्ष ज्ञान से जानेगा अर्थात् शुद्धात्मानुभव करेगा। बार-बार प्रत्यक्ष ज्ञान से 'निजध्रुवशुद्धात्मा' को जानने का प्रयत्न करेगा।

(३) 'मैं प्रत्यक्ष ज्ञान से जानता हूँ' अथवा 'मैं अनुमान से जानता हूँ' इसके बारे में किसी दूसरे को पूछने की आवश्यकता नहीं है।

(४) 'निजध्रुवशुद्धात्मा' को जाननेवाले "प्रत्यक्ष ज्ञान" के बारे में अज्ञान, संशय, विपरीत और अनध्यवसाय नहीं रहेंगे।

(५) अनुमान को युक्ति कहते हैं। प्रत्यभिज्ञान को युक्ति कहते हैं। तर्क को युक्ति कहते हैं। उपदेश सुना और स्मरण न रहा। उससे उपदेश सुनकर ख्याल में रखना ठीक है, लेकिन युक्ति तथा प्रत्यक्ष ज्ञान से परीक्षा नहीं की। उपदेश सुना और वैसे स्मरण किया, उसको तोतारटन्त कहते हैं; क्योंकि युक्ति से तथा प्रत्यक्ष से परीक्षा नहीं की। उपदेश सुनकर ख्याल में रखा, फिर स्मरण किया, उसके बाद प्रत्यभिज्ञान से जाना और उसके बाद तर्कज्ञान से जाना और उसके बाद अनुमान से जाना, इस तरह युक्ति से परीक्षा की तब तोतारटन्त नहीं रहा। उपदेश सुनकर ख्याल में रखा। फिर स्मरण किया, उसके बाद प्रत्यभिज्ञान से जाना और उसके बाद तर्क से जाना और उस के बाद अनुमान से जाना, इस तरह युक्ति से परीक्षा की। उसके बाद प्रत्यक्ष से जाना और प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से जाना। यह जानने की क्रिया अव्रती जीव करता है। और यह जानने की क्रिया व्रती जीव भी करता। जानना ज्ञान का कार्य है।

शंका–[नैयायिक आदि]–केवल लिंग के ज्ञान को ही अनुमान मानेंगे। जैसे धूम (धूआँ) को जाना, उसको ही अग्नि का ज्ञान मानेंगे?

समाधान–यह आपका कथन ठीक नहीं है; क्योंकि अनुमान ज्ञान में व्याप्तिस्मरणसहित लिंगपरामर्श कारण है। अर्थात् धूम को जाना, फिर 'जहाँ-जहाँ धूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है' ऐसी व्याप्ति का स्मरण किया, फिर 'यहाँ धूम है, इसलिये यहाँ अग्नि है' ऐसा अनुमान किया। इसलिये अकेला धूम जाना और उसके साथ व्याप्ति के ज्ञान का स्मरण नहीं है अथवा व्याप्ति का ज्ञान नहीं है तब अनुमान की उत्पत्ति नहीं होती है। धूम का ज्ञान अलग है और अग्नि का ज्ञान अलग है।

शंका–केवल स्वसंवेदन (अहं की प्रतीति) को ही अनुमान मानेंगे?

समाधान–यह आपका कथन ठीक नहीं; क्योंकि अहं की प्रतीति यानी स्वसंवेदन की प्रतीति के साथ व्याप्तिज्ञान का स्मरण नहीं है, इसलिये स्वसंवेदन को अनुमान ज्ञान नहीं कह सकते हैं। स्वसंवेदन कर के फिर 'जहाँ-जहाँ स्वसंवेदन (अहं का वेदन) होता है, वहाँ-वहाँ जीव होता है' ऐसा व्याप्तिज्ञान करके फिर 'यहाँ स्वसंवेदन (अहं का वेदन) होता है, इसलिये मैं जीव हूँ' ऐसा अनुमान ज्ञान उत्पन्न होता है।

'यहाँ चित्त में शल्य है' ऐसा केवल साधन का ज्ञान होना, यह अनुमान नहीं है। क्योंकि शल्य को जानकर, फिर 'जहाँ-जहाँ शल्य होता है, वहाँ-वहाँ दुःखी होता है' ऐसी व्याप्ति का स्मरण करके फिर 'यहाँ चित्त में शल्य है, इसलिये मैं दुःखी हूँ' ऐसा जानना अनुमान ज्ञान है।

'यहाँ चित्त में भय है' ऐसा केवल साधन का ज्ञान होना, यह अनुमान नहीं है। क्योंकि भय को जानकर फिर 'जहाँ-जहाँ भय होता है, वहाँ-वहाँ जीव है' ऐसी व्याप्ति का स्मरण करके फिर 'यहाँ भय है, इसलिये यहाँ जीव है' ऐसा अनुमान ज्ञान उत्पन्न होता है।

'यहाँ क्रोध है' ऐसा केवल साधन का ज्ञान होना, यह अनुमान नहीं है। क्योंकि क्रोध को जानकर फिर 'जहाँ-जहाँ पर्याय होती है, वहाँ-वहाँ द्रव्य में ध्रुव होता है' ऐसी व्याप्ति का स्मरण करके फिर 'यहाँ क्रोधपर्याय है, इसलिये यहाँ जीव ध्रुव है' ऐसा अनुमान ज्ञान उत्पन्न होता है।

'यहाँ ज्ञान है' ऐसा केवल साधन का ज्ञान होना, यह अनुमान नहीं है। क्योंकि ज्ञान को जानकर फिर 'जहाँ-जहाँ ज्ञान होता है, वहाँ-वहाँ ध्रुवशुद्धज्ञानानंदात्मा होता है' ऐसी व्याप्ति का स्मरण करके फिर 'यहाँ ज्ञान है, इसलिये मैं ध्रुवशुद्धज्ञानानंदात्मा हूँ' ऐसा अनुमान ज्ञान उत्पन्न होता है।

इसलिये केवल साधन के ज्ञान को अनुमान ज्ञान नहीं कह सकते हैं।

संस्कृत पृष्ठ नं. ८७, संस्कृत परिच्छेद नं. २० →

(नैयायिक आदि) शंका–जैनमत में साधन को ही अनुमान में हेतु माना है। लेकिन साधनज्ञान को अनुमान में हेतु नहीं माना है। क्योंकि आपका वचन इस तरह है कि,– 'साधन से साध्य का विज्ञान होने को अनुमान कहते हैं'।

जैन–समाधान–यह आपका कथन योग्य नहीं है; क्योंकि 'साधन से इत्यादि' कथन में 'साधन' इस शब्द का अर्थ 'निश्चयपथप्राप्त धूम आदि से' यह विवक्षित अर्थ है। क्योंकि अनिश्चयपथप्राप्त धूम आदि को साधनपना ही प्राप्त नहीं होता है। वैसा ही तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ग्रंथ में कहा है कि– ''साधन से साध्य का ज्ञान होने को विद्वानों द्वारा अनुमान कहा जाता है।'' इस वार्तिक का यह अर्थ है कि– 'जाने हुए साधनरूप धूमादि से साध्यरूप अग्नि आदि का जो ज्ञान होता है, उसको अनुमान कहते हैं' क्योंकि जिस धूमादिक साधन को जाना नहीं है, उस साधन को साध्य का ज्ञान होने में कारण मानेंगे तो सोये हुए अथवा जिन्होंने धूमादिक साधन को ग्रहण नहीं किया है, उनको भी अग्नि आदि साध्य का ज्ञान हो जाने का प्रसंग (दोष) आयेगा। इससे जाने हुए साधन के ज्ञान से होनेवाला साध्य का ज्ञान ही साध्यविषयक (साध्य के संबंधी) अज्ञान दूर करने से अनुमान है, लेकिन लिंगज्ञानादि अनुमान नहीं है। ऐसा श्री अकलंकादि प्रामाणिक विद्वान कहते हैं।

विशेषार्थ–शंका– 'साधन से साध्य का विज्ञान होने को अनुमान कहते हैं' इस आगम के वचन में **'साधन से'** ऐसा शब्द है **'साधन के ज्ञान से'** ऐसे शब्द नहीं है। इसलिये साधन को ही अनुमान में कारण/हेतु माना है, **साधन के ज्ञान को** अनुमान में कारण नहीं माना है। अर्थात् धूम को ही अग्निरूप साध्य का ज्ञान होने में कारण माना है, धूम के ज्ञान को अग्निरूप साध्य के ज्ञान होने में कारण नहीं माना है।

समाधान–यह आपका कथन ठीक नहीं है; क्योंकि 'साधन से इत्यादि' कथन में 'साधन' इस शब्द का अर्थ 'निश्चयपथप्राप्त साधन' यानी 'साधन का सुज्ञान' ऐसा विवक्षित अर्थ है। क्योंकि **जिस साधन का सुज्ञान ही नहीं है, उस साधन में साधनपना ही नहीं है।** अर्थात् यदि धूम का सुज्ञान नहीं है तो उस धूम साधन में साधनपना ही नहीं है।

'साधन से साध्य का ज्ञान होने को अनुमान कहते हैं' इस आगमवचन का यह अर्थ है कि–'साधन के सुज्ञान से साध्य का ज्ञान होने को अनुमान ज्ञान कहते हैं'। अर्थात् धूम के सुज्ञान से अग्नि का ज्ञान

होने को अग्नि संबंधी अनुमान कहते हैं। क्योंकि जिस धूमादिक साधन को नहीं जाना है, उस धूम साधन को अग्नि साध्य का ज्ञान होने में कारण मानेंगे तो सोये हुए अथवा जिन्होंने धूमादिक साधन जाना नहीं है, उनको भी अग्नि साध्य का ज्ञान हो जाने का प्रसंग आता है किन्तु वैसा नहीं होता है। इसलिये धूम साधन का सुज्ञान चाहिये और 'धूम तथा अग्नि संबंधी तर्क का सुज्ञान चाहिये, उस तर्क का स्मरण करके धूम के ज्ञान से अग्नि का ज्ञान होता है।'

सभी जीवों को 'अहं यानी स्व यानी भावप्रमेय' की प्रतीति प्रत्येक समय में होती है। तो भी 'जहाँ पर्याय होती है, वहाँ द्रव्य होता है' इस प्रकार की व्याप्ति नहीं जानते हैं, इसलिये बहुत से जीव 'अपने में जीवद्रव्य है' इसका अनुमान नहीं कर सकते हैं। इसलिये साधन का ज्ञान, व्याप्ति का स्मरण आदि आवश्यक हैं।

[साधन का कथन]

संस्कृत पृष्ठ नं. ८८, संस्कृत परिच्छेद नं. २१ →

शंका–वह साधन क्या है, जिससे होनेवाले साध्य के ज्ञान को अनुमान कहा है?

समाधान–जिस की साध्य के साथ अन्यथानुपपत्ति (अविनाभाव) निश्चित है, उसे साधन कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि- जिसकी साध्य के अभाव में नहीं होने रूप व्याप्ति-अविनाभाव आदि पर्यायवाची नामोंवाली साध्यान्यथानुपपत्ति [साध्य के होने पर ही होना अर्थात् साधन के सद्भाव में साध्य का सद्भाव नियम से रहना और साध्य के अभाव में साधन का भी सद्भाव नहीं रहना]– तर्क नामक प्रमाण द्वारा निर्णीत है, वह साधन है। श्री कुमारनन्दि भट्टारकजी ने भी कहा है कि- ''साधन (लिंग) का 'अन्यथानुपपत्ति' ही एक लक्षण है, ऐसा स्वीकार किया जाता हैं।''

विशेषार्थ-शंका–अनुमान में साध्य का ज्ञान जिस साधन के द्वारा हो जाता है, उस साधन का क्या लक्षण है?

समाधान–जिसकी साध्य के साथ अन्यथानुपपत्ति है, उसे साधन कहते हैं। अन्यथानुपपत्ति यानी साध्य के अभाव में साधन का सद्भाव नहीं रहना, इसको अन्यथानुपपत्ति कहते हैं। अन्यथा यानी साध्य के न होनेपर, अनुपपत्ति यानी साधन न रहना। साध्य के सद्भावमें ही साधन का रहना। अर्थात् साधन का सद्भाव रहने पर नियम से साध्य का सद्भाव पाया जाता ही है। जैसे धूम के सद्भाव में अग्नि का नियम से सद्भाव रहता है। शिंशपा के सद्भाव में वृक्ष का नियम से सद्भाव होता ही है। आम्र के सद्भाव में वृक्ष का नियम से सद्भाव होता ही है।

भावलिंग के सद्भाव में नग्नत्वादि द्रव्यलिंग का नियम से सद्भाव होता ही है। उपयोगरूप शुद्धात्मानुभव यानी निजध्रुवशुद्धात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान यानी निर्विकल्प ज्ञान के सद्भाव रहने पर निश्चयसम्यग्दर्शन का सद्भाव नियम से रहता ही है। निश्चयसम्यग्दर्शन यानी मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का उपशम अथवा मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का क्षयोपशम अथवा मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का क्षय होना। सम्यग्दर्शन के अभाव में निजध्रुवशुद्धात्मा के प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान का भी नियम से सद्भाव रहता नहीं।

इस जानकारी का अपने जीवन में यह लाभ है कि,– ''मूलभूत वस्तुस्वरूप को जानकर मैंने निजध्रुवशुद्धात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से जाना है, इसलिये मेरे में निश्चयसम्यग्दर्शनपर्याय है। अर्थात् अव्रती मैं मोक्षमार्गस्थ हूँ। इस तरह अपने आपको निर्णय हो जाता है। किसी दूसरे से पूछने की आवश्यकता नहीं।''

कृपया देखिए **प्रवचनसार-गाथा नं. ८० 'जो जाणदि अरहंतं' इत्यादि की श्री जयसेनाचार्य रचित तात्पर्यवृत्ति- '' ...... अविकल्पस्वरूपे प्राप्ते...... दर्शनमोहान्धकारः प्रलीयते।''**

अर्थ–अविकल्पस्वरूप प्राप्त [निजध्रुवशुद्धात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त] होते समय दर्शनमोह अंधकार नष्ट होता है याने सम्यग्दर्शन का उत्पाद होता है। (कृपया देखिए– चार्ट नं. १)

ॐ

श्री समयसार– श्री जयसेनाचार्यजीकृत तात्पर्यवृत्ति गाथा नं. २९५-२९६
(आत्मख्याति गाथा नं. २७६-२७७) की टीका पर से –

व्यवहारमोक्षमार्ग याने व्यवहारसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र याने सराग सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र है।	मोक्ष नहीं है।	मिथ्यात्वादि ७ प्रकृतियों का उपशम नहीं हैं। अथवा – मिथ्यात्वादि ७ प्रकृतियों का क्षयोपशम नहीं है। अथवा – मिथ्यात्वादि ७ प्रकृतियों का क्षय नहीं है।	निजशुद्धपारिणामिकभाव का आश्रय न करने से शुद्धत्मानुभूति नहीं है। याने मिथ्यात्वी है याने निश्चयसम्यग्दर्शनज्ञान- चारित्र नहीं है।
व्यवहारमोक्षमार्ग याने व्यवहारसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र याने सरागसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र है।	मोक्ष हैं	मिथ्यात्वादि ७ प्रकृतियों का उपशम हैं। अथवा – मिथ्यात्वादि ७ प्रकृतियों का क्षयोपशम है। अथवा – मिथ्यात्वादि ७ प्रकृतियों का क्षय है।	निजशुद्धपारिणामिकभाव का आश्रय करने से शुद्धात्मानुभूति है। याने वीतरागसम्यग्दर्शनज्ञान- चारित्र है। याने निश्चयसम्यग्दर्शनज्ञान- चारित्र है।
प्रथमानुयोग, चरणानुयोग	करणानुयोग		द्रव्यानुयोग
आगमभाषा			अध्यात्मभाषा

श्री जयसेनाचार्यजी (१) द्रव्यानुयोग का प्रथमानुयोग के साथ, (२) द्रव्यानुयोग का करणानुयोग के साथ, (३) द्रव्यानुयोग का चरणानुयोग के साथ, (४) द्रव्यानुयोग का न्यायग्रंथों के साथ तुलनात्मक विवेचन करते हैं। अध्यात्मन्याय भी दिखाते हैं।

संस्कृत	हिंदी	ऐसा हिंदी अर्थ करने के लिये अन्य ग्रंथों का आधार
धवल-पुस्तक १, पृष्ठ-१५२ → **(१) प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणं सम्यक्त्वम्। सति एवं असंयतसम्यग्दृष्टिगुणस्य अभावः स्यात् इति चेत्,**	**(१) प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य इनकी बाह्य अभिव्यक्ति को सम्यक्त्व का लक्षण कहते हैं।** **शंकाकार** – यदि प्रशमादि भावों को सम्यक्त्व का लक्षण माना जाय तो असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान का अभाव होने का प्रसंग आयेगा ? [अर्थात् प्रशमादि की अभिव्यक्ति मिथ्यात्वी जीव में भी दिखाई देती हैं तब प्रशमादि की अभिव्यक्ति होना यह लक्षण सम्यक्त्वी और मिथ्यात्वी जीवों में चला गया। इसलिये प्रशमादि यह लक्षण व्यभिचारी (दोषयुक्त) है। इसलिये असंयत-सम्यग्दृष्टि गुणस्थान का अभाव होने का प्रसंग आयेगा। (आपत्ति आयेगी) ?]	**परमात्मप्रकाश-गाथा नं. १४३** – (अ.२, गाथा १७) की ब्रह्मदेवकृत संस्कृत टीका में– "प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणम् सरागसम्यक्त्वं भण्यते, तदेव व्यवहारसम्यक्त्वं इति।" **अर्थ** – प्रशमादि की अभिव्यक्ति को सरागसम्यक्त्व कहते हैं, वह ही व्यवहारसम्यक्त्व है। **पंचास्तिकायसंग्रह-समयव्याख्या १७२ की टीका में श्री अमृतचंद्राचार्यजी** लिखते हैं कि– "ये तु केवलव्यवहारावलम्बिनः ते खलु भिन्नसाध्यसाधनभावावलोकनेन अनवरतं नितरां खिद्यमाना मुहुर्मुहुर्धर्मादिश्रद्धानरूपाध्यवसायानुस्यूतचेतसः प्रभूतश्रुतसंस्काराधिरोपितविचित्रविकल्पजालकल्माषितचैतन्यवृत्तयः, समस्तयतिवृत्तसमुदायरूपतपःप्रवृत्तिरूपकर्मकाण्डोड्डमराचलिताः, कदाचित् किंचित् रोचमानाः, कदाचित् किंचित् विकल्पयन्तः, कदाचित् किंचित् आचरन्तः, दर्शनाचरणाय कदाचित् **प्रशाम्यन्तः**, कदाचित् **संविजमानाः**, कदाचित् **अनुकम्पमानाः**, कदाचित् आस्तिक्यं उद्वहन्तः.... **कर्मचेतनाप्रधानत्वात् दुरनिवारिताशुभकर्मप्रवृत्तयोऽपि समुपात्तशुभकर्मप्रवृत्तयः**, सकलक्रियाकाण्डाडम्बरोत्तीर्णदर्शनज्ञानचारित्रैक्यपरिणतिरूपां ज्ञानचेतनां मनाक् अपि असंभावयन्तः... सुचिरं संसारसागरे भ्रमन्ति इति।" जो केवल व्यवहार अवलम्बी है वे वास्तव में भिन्न साध्यसाधन भाव के अवलोकन द्वारा निरंतर अत्यंत खेद पाते हुए पुनः-पुनः धर्मादि के श्रद्धान रूप विकल्प में चित्त लगाते हैं, बहुत श्रुत के संस्कारों के कारण विचित्र विकल्प जालों में फँसे रहते हैं और समस्त यति-आचार के समुदायरूप तप में सदा प्रवृत्ति करते रहते हैं; कभी किसी विषय की रुचि व विकल्प करते हैं और कभी कुछ आचरण करते हैं; (१) दर्शनाचरण के लिए-प्रशम, संवेग, अनुकम्पा व आस्तिक्य को धारण करते हैं... कर्मचेतना की प्रधानता के कारण यद्यपि अशुभ कर्मप्रवृत्ति का उन्होंने अत्यंत निवारण किया है तथापि शुभकर्मप्रवृत्ति को जिन्होंने बराबर ग्रहण किया हैं, ऐसे वे सकल क्रियाकाण्ड के आडम्बर से पार उतरी हुई दर्शनज्ञानचारित्र की ऐक्य परिणतिरूप ज्ञानचेतना को किंचित् भी न उत्पन्न करते हुए... अत्यंत दीर्घकाल तक संसारसागर में भ्रमण करते हैं।

संस्कृत	हिंदी	ऐसा हिन्दी अर्थ करने के लिये अन्य ग्रन्थों का आधार
सत्यं एतत्, शुद्धनये समाश्रियमाणे।	**आचार्य**– यह सत्य है (यह आपका कहना सत्य है)। प्रशमादि की अभिव्यक्ति यह लक्षण शुद्धनय (यहाँ यह शुद्धनय आगमभाषा का है याने शुद्धनय अर्थात् आगमभाषा का संग्रहनय है अर्थात् अध्यात्मभाषा का उपचार या व्यवहारनय है उस व्यवहारनय) के आश्रय से किया है। अर्थात् प्रशमादि की अभिव्यक्ति यह लक्षण व्यवहारनय से है।	**श्लोकवार्तिक**– अ. १, सू. २ **"सर्वेषु सरागेषु सद्दर्शनं प्रशमादिभिः अनुमीयते इति अनभिधानात् ..."** अर्थात् सभी सरागियों में प्रशमादि के द्वारा सम्यक्त्व का निर्णय होता है, ऐसा कथन नहीं किया है, इसलिये प्रशमादि यह लक्षण व्यभिचारी (अतिव्याप्ति दोष से युक्त) है।
(२) अथवा तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्। अस्य गमनिकोच्यते- आप्तागमपदार्थाः तत्त्वार्थाः तेषु श्रद्धानं अनुरक्तता सम्य-ग्दर्शनम् इति लक्ष्यनिर्देशः। कथं पौरस्त्येन लक्षणेन अस्य लक्षणस्य न विरोधः चेत्, न एष दोषः शुद्धाशुद्धनय-समाश्रयणात्।	(२) अथवा आप्त आगम पदार्थ ये तत्त्वार्थ हैं। उन तत्त्वों में या पदार्थों में श्रद्धान, अनुरक्तता यह सम्यग्दर्शन का लक्षण अशुद्धनय से याने (आगमभाषा के अशुद्ध संग्रहनय से याने अध्यात्मभाषा के व्यवहारनय से) है। सम्यग्दर्शन यह लक्ष्य है। **शंकाकार**–प्रशमादि की अभिव्यक्तिरूप लक्षण से तत्त्वार्थश्रद्धानरूप लक्षण के साथ विरोध क्यों नहीं आता है? **आचार्य**– यह दोष नहीं है क्योंकि प्रशमादि की अभिव्यक्ति यह लक्षण शुद्धनय के आश्रित (आगमभाषा के शुद्धसंग्रहनय के अर्थात् अध्यात्मभाषा के उपचार/व्यवहारनय के आश्रित) है। और तत्त्वार्थश्रद्धान यह लक्षण आगमभाषा के अशुद्धसंग्रहनय अर्थात् अध्यात्मभाषा के व्यवहारनय के आश्रित है।	**समयसार** – तात्पर्यवृत्ति गाथा २९५-२९६ (आत्मख्याति २७६-२७७) की श्री जयसेनाचार्यकृत संस्कृत टीका– इसका वर्णन चार्ट नं. १, पृष्ठ नंबर २९५ पर देखिये। **समयसार** – ता.वृ. गाथा-१५– (आ. ख्या. १३) की श्री जयसेनाचार्यकृत टीका में नवपदार्थों के श्रद्धान को व्यवहारसम्यक्त्व कहा है।

संस्कृत	हिंदी	ऐसा हिन्दी अर्थ करने के लिये अन्य ग्रन्थों का आधार
(३) अथवा तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वं, अशुद्धतरनयसमाश्रयणात्।	अथवा तत्त्वरुचि (शुद्धात्मानुभव) यह सम्यक्त्व का लक्षण है। यह लक्षण अशुद्धतर नयाश्रित (आगमभाषा के अशुद्धतर संग्रहनयाश्रित याने अध्यात्मभाषा के शुद्धनयाश्रित) है।	**समयसार – ता. वृ. गाथा-२** **''विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावे निजपरमात्मनि यत् रुचिरूपं सम्यग्दर्शनं तत्र एव रागादिरहितस्वसंवेदनं ज्ञानं तथा एव निश्चलानुभूतिरूपं वीतरागचारित्रं...''** यहाँ अपने ध्रुवज्ञानदर्शनस्वभावात्मा की रुचि (शुद्धात्मानुभूति को) सम्यग्दर्शन कहा है। **परमात्मप्रकाश –** गाथा १४३ – (अ.२, गाथा १७) की संस्कृत टीका – **''वीतरागसम्यक्त्वं निजशुद्धात्मानुभूतिलक्षणम् वीतरागचारित्राविनाभूतं तदेव निश्चयसम्यक्त्वं इति।''** निजशुद्धात्मानुभूति को वीतरागसम्यक्त्व कहते हैं, यह वीतरागचारित्राविनाभूत है, वह ही निश्चय सम्यक्त्व है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि श्री वीरसेन स्वामी (धवल टीकाकार) शुद्धात्मानुभूति को ही सम्यग्दर्शन का निर्दोष लक्षण मानते हैं और वह शुद्धात्मानुभूति लक्षण ही निश्चयसम्यक्त्व या वीतरागसम्यक्त्व है और निश्चयसम्यक्त्व चतुर्थ गुणस्थान के प्रथमोपशम या क्षयोपशम या क्षायिक सम्यक्त्व में प्रारंभ होता है।

और प्रशमादि यह लक्षण व्यभिचारी है। इसलिये सरागसम्यक्त्व व्यभिचारी है।

कृपया देखिए– **पंचाध्यायी –** अध्याय नं. २, श्लोक नंबर ४०१, ४०२, ४०५ और ४०७ →

''प्रसिद्धं ज्ञानमेवैकं साधनादिविधौ चितः।
स्वानुभूत्येकहेतुश्च तस्मात् तत् परमं पदम्॥४०१॥
तत्राप्यात्मानुभूतिः सा विशिष्टं ज्ञानमात्मनः।
सम्यक्त्वेनाविनाभूतमन्वयाद्व्यतिरेकतः॥४०२॥

अर्थ– साधनादि विधि में चित् का एक ज्ञान ही प्रसिद्ध साधन है और शुद्धस्वात्मानुभव ज्ञानपर्याय ही सम्यग्दर्शनादि साधनों का निर्णय करने में साधन है (अर्थात् अपने को सम्यग्दर्शन हुआ है या नहीं हुआ है, इसका निर्णय करने के लिये शुद्धस्वात्मानुभव ज्ञानपर्याय ही साधन है)। इसलिये वह ज्ञान शुद्धस्वात्मानुभव ज्ञानपर्याय का परम (श्रेष्ठ) पद है। उसमें भी वह आत्मानुभव आत्मा की विशिष्ट ज्ञानपर्याय है और उसका सम्यग्दर्शन के साथ अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार से अविनाभाव पाया जाता है।

तद्यथा स्वानुभूतौ वा तत्काले वा तदात्मनि।
अस्त्यवश्यं हि सम्यक्त्वं यस्मात्सा न विनापि तत्।।४०५।।

अर्थ–खुलासा इस प्रकार है– जब स्वानुभव होता है या स्वानुभव का काल रहता है तब उसरूप आत्मा में सम्यक्त्व अवश्य पाया जाता है, क्योंकि सम्यग्दर्शन के बिना स्वानुभव नहीं हो सकता है।

हेतुस्तत्रापि सम्यक्त्वोत्पत्तिकालेऽस्त्यवश्यत:।
तज्ज्ञानावरणस्योच्चैरस्त्यवस्थान्तरं स्वत: ।।४०७।।

अर्थ–इसका कारण यह है कि, सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय स्वात्मानुभवरूप ज्ञानावरण कर्म की अवस्था पलट जाती है अर्थात् क्षयोपशम स्वयमेव नियम से होता है।

इसका आशय यह है कि,– एक अपेक्षा से सम्यग्दर्शन सीधे अपने अस्तित्व को नहीं सूचित करता है। लेकिन स्वात्मानुभव ज्ञान के द्वारा सम्यग्दर्शन का अस्तित्व जाना जाता है क्योंकि जीव को 'यह मैं शाश्वतशुद्धज्ञानानंदात्मा हूँ' ऐसा प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, अर्थात् अपने सम्यग्ज्ञान के अस्तित्व का निर्णय हो जाता है। यह खुद के (अपने) समझ में आता है।

और भी देखिये → करणानुयोग कर्मशास्त्र–**षट्खंडागम–धवल–पुस्तक नं. १, सूत्र नं. ११५** की टीका में श्री वीरसेनाचार्यजी लिखते हैं कि,- **''किं तद्ज्ञानकार्यमिति चेत्, तत्त्वार्थे रुचि: प्रत्यय: श्रद्धा चारित्रस्पर्शनं च।''**

अर्थ–शंका– वह ज्ञान का क्या कार्य है?
समाधान–'तत्त्वार्थ में रुचि, प्रत्यय, श्रद्धा और चारित्रस्पर्शन करना' यह ज्ञान का कार्य है।

और भी देखिए→ श्री माणिक्यनन्दिरचित **परीक्षामुखसूत्र-अध्याय नं. ५, सूत्र नं. १- ''अज्ञाननिवृत्ति:...... उपेक्षाश्च फलम्।''**

भावार्थ–निजध्रुवशुद्धात्मा संबंधी अज्ञान दूर होना अर्थात् निजध्रुवशुद्धात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान होना साक्षात् फल है और ज्ञानपर्याय से अन्यपर्याय का यानी निर्मोहगुण की (श्रद्धागुण की और चारित्रगुण की) पर्याय में उपेक्षा यानी समता भाव/वीतराग पर्याय होती है।

सम्यग्दर्शन का उत्पाद होता है और मिथ्यादर्शन का व्यय होता है।

निजध्रुवशुद्धात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान करता है। सम्यग्ज्ञान का उत्पाद होता है और मिथ्याज्ञान का व्यय होता है।

अविरतसम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान का उत्पाद होता है और मिथ्यादर्शन प्रथम गुणस्थान का व्यय होता है।

सविकल्पस्वसंवेदन करता है। } करणलब्धि है।

अनुमानज्ञान से परीक्षा करता है।
तर्कज्ञान से परीक्षा करता है।
प्रत्यभिज्ञान से परीक्षा करता है। } प्रायोग्यलब्धि है।

स्मरण करता है।
देशना है। } देशनालब्धि है।

अदेशना [उपदेश नहीं] } स्थूल मिथ्यादृष्टि

अनादि मिथ्यादृष्टि है। मिथ्याज्ञानी है।

सम्मुख मिथ्यादृष्टि है।

इसलिये 'निजध्रुवशुद्धात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान' यह अन्यथानुपपत्तिलक्षणवाला हेतु है। अन्यथानुपपत्तिलक्षणयुक्त हेतु से नियम से साध्य की सिद्धि होती है।

[साध्य के लक्षण का कथन]

संस्कृत पृष्ठ नं. ८८, संस्कृत परिच्छेद नं. २२ →

शंका – वह साध्य क्या है; जिसका अविनाभाव साधनलक्षण है, ऐसा कहा गया है?

समाधान – साध्य - शक्य, अभिप्रेत और अप्रसिद्ध को साध्य कहते हैं।

(१) शक्य – जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित न होने से सिद्ध किया जा सकता है।

(२) अभिप्रेत – जो वादी को सिद्ध करने के लिये अभिमत (इष्ट) है। और

(३) अप्रसिद्ध – जो (प्रतिवादी को) संदेहादि (संशयादि) से युक्त होने से योग्य निर्णीत नहीं है।

इस तरह जो शक्य, अभिप्रेत और अप्रसिद्ध इन लक्षणों से युक्त है, वह ही साध्य है।

यदि अशक्य (बाधित) को साध्य मानेंगे तो अग्नि में अनुष्णता (उष्णता का अभाव) आदि को भी साध्य होने का प्रसंग (दोष) आयेगा।

यदि अनभिप्रेत को साध्य मानेंगे तो अतिप्रसंग होने से स्व-इष्ट साध्य की सिद्धि नहीं होगी।

यदि (प्रतिवादी को) प्रसिद्ध रहनेवाले विषय को साध्य मानेंगे तो अनुमान करना व्यर्थ हो जायेगा।

न्यायविनिश्चय ग्रन्थ में श्लोक नं. १७२ में कहा है कि, शक्य, अभिप्रेत और अप्रसिद्धलक्षणवाला साध्य होता है और उन लक्षणों से जो विपरीत होता है, वह साध्याभास है अर्थात् जो विरुद्धादि हैं वे साध्याभास हैं क्योंकि वे साधन के विषय नहीं हैं।

विशेषार्थ – शंका – अन्यथानुपपत्तिलक्षणवाले हेतु से नियम से साध्य की सिद्धि होती है, ऐसे साध्य का क्या लक्षण है?

समाधान – शक्य, अभिप्रेत और अप्रसिद्ध इन तीन लक्षणों से युक्त साध्य होता है।

(१) **शक्य** – जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित न होने से सिद्ध किया जा सकता है। जैसे - इस पर्वत (पहाड़) पर धूम है, इसलिये वहाँ 'अग्नि है'; क्योंकि जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है। इस तरह 'अग्नि है' यह साध्य सिद्ध करना 'शक्य' है।

इस देह में जानने की क्रिया होती है, इसलिये इस देह में 'जीव है', क्योंकि जहाँ-जहाँ जानने की क्रिया होती है वहाँ-वहाँ जीव होता है। इस तरह 'जीव है' यह साध्य सिद्ध करना 'शक्य' है।

उस देह में जानने की क्रिया नहीं होती है, इसलिये उस देह में 'जीव नहीं है, देह मृत कलेवर है, देह अजीव है' क्योंकि जहाँ-जहाँ जानने की क्रिया नहीं है वहाँ-वहाँ अजीव द्रव्य होता है, अचेतन है। इस तरह 'अजीव' सिद्ध करना 'शक्य' है।

मुझमें अहं/स्व की प्रतीति होती है इसलिये मैं जीव हूँ। इस तरह जीव की सिद्धि करना 'शक्य' है।

मैं क्रोधी हूँ, इसलिये मुझमें ध्रुवशुद्धात्मद्रव्य है क्योंकि जहाँ पर्याय है वहाँ ध्रुवद्रव्य होता ही है। इस तरह निजध्रुवशुद्धात्मा की सिद्धि करना 'शक्य' है।

मुझमें 'अहं/स्व' की प्रतीति प्रत्यक्ष होती है इसलिये मेरा जीवद्रव्य भी प्रत्यक्ष है; क्योंकि अंश प्रत्यक्ष है तो अंशी (द्रव्य) भी प्रत्यक्ष है। इसलिये अपने जीवद्रव्य के प्रत्यक्षता की सिद्धि करना शक्य है।

मैं 'निजध्रुवशुद्धात्मा' को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष जानता हूँ इसलिये मैं अव्रती निश्चयसम्यग्दर्शनवाला हूँ, मैं मोक्षमार्गस्थ हूँ। इसतरह अव्रती जीव को भी अपने सम्यग्दर्शन की और मोक्षमार्गस्थपना की सिद्धि करना 'शक्य' है।

इसी तरह 'सम्यक्-आनंद' इस साध्य की सिद्धि करना 'शक्य' है। इसी तरह 'शुद्धध्यान' इस साध्य की सिद्धि करना 'शक्य' है।

(२) **अभिप्रेत** – जो वादी को सिद्ध करने के लिये इष्ट है।

इस अपने देह में 'अपना जीव है' यह सिद्ध करना इष्ट है।

अपने जीव द्रव्य में अभी 'ध्रुवशुद्ध है' यह सिद्ध करना इष्ट है।

अपने ध्रुवशुद्धात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष जानने से सम्यक्-आनंद प्राप्त होता है, यह सिद्ध करना इष्ट है।

अपने को सम्यग्दर्शन हो गया है, यह सिद्ध करना इष्ट है।

मिथ्यादर्शन रहने से दुःख है, यह सिद्ध करना इष्ट है।

राग रहने से दुःख है, यह सिद्ध करना इष्ट है।

द्वेष रहनेसे दुःख है, यह सिद्ध करना इष्ट है।

मिथ्याज्ञान रहने से दुःख है, यह सिद्ध करना इष्ट है। इत्यादि।

(३) **अप्रसिद्ध** – जो संशय अथवा विपरीत अथवा अनध्यवसाय अथवा अज्ञान होने से निर्णीत नहीं है।

जैसे – वस्तु अनेकान्तात्मक है, यह मालूम नहीं है (अर्थात् वस्तु अनेकान्तात्मक है, यह अप्रसिद्ध है)।

किसीको वस्तु की परिणमनशीलता मालूम नहीं है इसलिये असिद्ध है।

किसीको वस्तु का ध्रुव अप्रसिद्ध है।

किसीको 'ध्रुव शुद्ध है' यह अप्रसिद्ध है।

किसीको 'निजध्रुवशुद्धात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष जानने से सम्यक्-आनंद प्राप्त होता है' यह अप्रसिद्ध है।

'अव्रती सम्यक्त्वी मोक्षमार्गस्थ है' यह अप्रसिद्ध है।

'इन्द्रियजनित सुख दुःख ही है' यह अप्रसिद्ध है।

'आस्रवबंधवाला शुभोपयोग वास्तविक मोक्षमार्ग नहीं' यह अप्रसिद्ध है।

'निजध्रुवशुद्धात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष जानते समय अव्रती जीव को शुद्धोपयोग है' यह अप्रसिद्ध है।

'शुद्धोपयोग से ही मोक्षमार्गस्थ होता है, यह अप्रसिद्ध है। इत्यादि अप्रसिद्धवाले साध्य को अनुमान के द्वारा प्रसिद्ध किया जाता है।

इसतरह जो शक्य, अभिप्रेत और अप्रसिद्ध इन लक्षणों से युक्त है, वही साध्य है।

यदि अशक्य/बाधित को साध्य मानेंगे तो अग्नि में अनुष्णता (ठण्ड) को भी साध्य होनेका प्रसंग/दोष आयेगा। क्योंकि अग्नि को स्पर्श करते ही उष्णता की ही प्रतीति आती है, ठण्डक की प्रतीति नहीं होती। इसलिये बाधित/अशक्य लक्षण युक्त को साध्य नहीं करते हैं।

यदि कोई वास्तविकता से 'जीव को वर्णगुणवाला है ऐसा सिद्ध करने के लिये अनुमान करता है तो यह 'अशक्य है' क्योंकि जीव में अवर्ण (अरूप) गुण है।

यदि कोई 'आकाश को वर्णगुणवाला है' ऐसा सिद्ध करने के लिये अनुमान करता है, तो यह 'अशक्य' है; क्योंकि आकाश में अवर्ण गुण है (अर्थात् आकाश में वर्ण गुण नहीं है)।

यदि कोई 'धर्मद्रव्य को वर्णगुणवाला है' ऐसा सिद्ध करने के लिये अनुमान करता है तो यह 'अशक्य' है; क्योंकि धर्मद्रव्य में अवर्ण गुण है।

यदि कोई 'अधर्मद्रव्य को वर्णगुणवाला है' ऐसा सिद्ध करने के लिये अनुमान करता है तो यह 'अशक्य' है; क्योंकि अधर्मद्रव्य में अवर्ण गुण है।

यदि कोई 'कालाणुद्रव्य को वर्णगुणवाला है' ऐसा साध्य सिद्ध करना चाहता है तो 'अशक्य' है; क्योंकि कालाणु में अवर्ण गुण है।

यदि कोई 'अशुभोपयोग मोक्षमार्ग है' ऐसा सिद्ध करना चाहता है तो यह 'अशक्य' है।

नीचे की मान्यता अतिस्थूल मिथ्यात्व है।

↑ पर की निंदा का विचार है। (सविकल्पज्ञान)	अशुभोपयोग है।	प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन है। ↑
↑ पर की स्तुति का विचार है। (सविकल्पज्ञान) ↑	शुभोपयोग है।	अनादि मिथ्यात्व है। ↑ ↑
ज्ञान का परिणमन	चारित्र का परिणमन	श्रद्धा का परिणमन

क्योंकि – देखिए नियमसार गाथा – १४३ →

"वट्टदि जो सो समणो अण्णवसो होदि असुहभावेण।
तह्मा तस्स दु कम्मं आवस्सयलक्खणं ण हवे॥१४३॥

अर्थ – जो अशुभभाव से वर्तता है, वह श्रमण अन्यवश है; इसलिये उसे आवश्यकस्वरूप कर्म नहीं है।

इसलिये 'अशुभोपयोग को मोक्षमार्ग मानना' मिथ्यात्व है।

और भी देखिये **प्रवचनसार**- गाथा नंबर १२ →

"असुहोदएण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो।
दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिद्दुदो भमदि अच्चंतं॥१२॥

अर्थ – अशुभोदय से आत्मा कुमनुष्य, तिर्यंच और नारकी होकर हजारों दुःखों से सदा पीड़ित होता हुआ संसार में अत्यन्त भ्रमण करता है।

यदि कोई 'शुभोपयोग मोक्षमार्ग है' ऐसा सिद्ध करना चाहता है तो यह 'अशक्य' है।

नीचे की मान्यता स्थूलमिथ्यात्व है।

ज्ञान का परिणमन	चारित्र का परिणमन	श्रद्धा का परिणमन
↑ पर की स्तुति का विचार है। (सविकल्पज्ञान)	शुभोपयोग है	प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन है। ↑
↑ पर की निंदा का विचार है। (सविकल्पज्ञान) ↑	अशुभोपयोग है।	अनादि मिथ्यात्व है। ↑ ↑

क्योंकि देखिए- **पंचास्तिकायसंग्रह** गाथा- '**अण्णाणादो णाणी जदि**' इत्यादि की श्री जयसेनाचार्य रचित तात्पर्यवृत्ति में लिखा है कि,– " .... **यदि पुनः शुद्धात्मभावनासमर्थः अपि तां त्यक्त्वा शुभोपयोगात् एव मोक्षः भवति इति एकान्तेन मन्यते तदा स्थूलपरसमयपरिणामेन अज्ञानी मिथ्यादृष्टिः भवति...।**"

अर्थ–और 'यदि शुद्धात्मभावना करने के लिये समर्थ होते हुए भी शुद्धात्मभावना को छोड़कर शुभोपयोग से ही मोक्ष होता है [अर्थात् शुभोपयोग से ही मोक्षमार्ग होता है यानी शुभोपयोग के समय ही सम्यग्दर्शन पर्याय का उत्पाद होता है और अनादि मिथ्यात्व का व्यय होता है] ऐसा एकान्त से मानता है, तब स्थूलपरसमयपरिणाम से अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि होता है।

और भी देखिए **प्रवचनसार**- गाथा नंबर ७९ →

"चत्ता पावारंभं समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्मि।
ण जहदि जदि मोहादी ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं॥७९॥

अर्थ–पापारम्भ को छोड़कर शुभचारित्र में उद्यत होने पर भी यदि जीव मोहादि को नहीं छोड़ता हैं, तो वह शुद्ध आत्मा को प्राप्त नहीं होता है।

और भी देखिए **समयसार– गाथा नं. १४६ →**

''सोवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं॥१४६॥

अर्थ– जैसे सोने की बेड़ी भी पुरुष को बांधती है और लोहे की भी बांधती है, इसी प्रकार शुभ तथा अशुभ किया हुआ कर्म जीव को बांधता है।

और भी देखिए **प्रवचनसार– गाथा नंबर ७४ →**

''जदि संति हि पुण्णाणि य परिणामसमुब्भवाणि विविहाणि।
जणयंति विसयतण्हं जीवाणं देवदंताणं॥७४॥

अर्थ– यदि शुभोपयोग परिणाम से उत्पन्न होनेवाले विविध पुण्य विद्यमान हैं, तो वे देवों तक के जीवों को विषयतृष्णा उत्पन्न करते हैं।

प्रवचनसार - गाथा नं. ७६ →

''सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा॥७६॥

अर्थ– जो इन्द्रियों से प्राप्त होता है, वह सुख परसंबंधयुक्त, बाधासहित, विच्छिन्न, बन्ध का कारण और विषम है, इस प्रकार वह दुःख ही है।

और भी देखिए– **प्रवचनसार– गाथा नंबर ७७ →**

''ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो॥७७॥

अर्थ– इसप्रकार पुण्य और पाप में अन्तर नहीं है, ऐसा जो नहीं मानता वह मोहाच्छादित होता हुआ घोर अपार संसार में परिभ्रमण करता है।

और भी देखिए **समयसार - गाथा नं. १४५** और उसकी श्री अमृतचंद्राचार्यरचित आत्मख्याति टीका →

''कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि॥१४५॥

अर्थ– 'अशुभ कर्म कुशील है और शुभ कर्म सुशील है' ऐसा तुम जानते हो। किन्तु जो शुभ कर्म जीव को संसार में प्रवेश कराता है, वह शुभ कर्म सुशील कैसे हो सकता है?

अर्थात् शुभ कर्म/शुभोपयोग संसारमार्ग है, शुभोपयोग मोक्षमार्ग नहीं है।

आत्मख्याति संस्कृत टीका	हिन्दी अर्थ
शुभाशुभजीवपरिणामनिमित्तत्वे सति कारणभेदात्,	व्यवहारवादी कहता है कि, (१) किसी कर्म में शुभ जीवपरिणाम निमित्त रहते समय कारण होने से और किसी कर्म में अशुभ जीवपरिणाम निमित्त रहते समय कारण होने से कारणों में भेद है,

आत्मख्याति संस्कृत टीका	हिन्दी अर्थ
शुभाशुभपुद्गलपरिणाममयत्वे सति स्वभावभेदात्,	(२) कोई कर्म शुभ पुद्गलपरिणाममय होने से और कोई कर्म अशुभ पुद्गलपरिणाममय होने से स्वभावों में भेद है,
शुभाशुभफलपाकत्वे सति अनुभवभेदात्	(३) कोई कर्म शुभ फलवाला होने से और कोई कर्म अशुभ फलवाला होने से फलों के अनुभव से भेद है, और
शुभाशुभमोक्षबन्धमार्गाश्रितत्वे सति आश्रयभेदात् च एकं अपि कर्म किञ्चित् शुभं किञ्चित् अशुभं इति केषांचित् किल पक्षः।	(४) शुभ मोक्षमार्ग के आश्रित होने से और अशुभ बंधमार्ग के आश्रित होनेसे आश्रयों में भेद है; इसलिये यद्यपि कर्म एक है तथापि कोई शुभ (शुभोपयोग) मोक्षमार्ग है और अशुभ बंधमार्ग है।
स तु सप्रतिपक्षः।	उसको जवाब देते हैं कि - परन्तु वह प्रतिपक्षसहित है। (अर्थात् शुभोपयोग मोक्षमार्ग नहीं है।)
तथाहि–	उसका स्पष्टीकरण–
शुभः अशुभः वा जीवपरिणामः केवलाज्ञानमयत्वात् एकः, तदेकत्वे सति कारणाभेदात् एकं कर्म।	(१) शुभ अथवा अशुभ जीवपरिणाम केवल अज्ञानमय होने से एक है और उनके एक होने से उनके कारणों में भेद नहीं है; इसलिये कर्म एक है।
शुभः अशुभः वा पुद्गलपरिणामः केवलपुद्गलमयत्वात् एकः, तदेकत्वे सति स्वभावाभेदात् एकं कर्म।	(२) शुभ अथवा अशुभ पुद्गलपरिणाम (अशुद्ध-परिणाम) केवल पुद्गलमय (केवल अशुद्धमय) होने से एक है और उनके एक होने से (अशुद्ध होने से) उनके स्वभावों में भेद नहीं है; इसलिये कर्म एक है।
शुभः अशुभः वा फलपाकः केवलपुद्गलमयत्वात् एकः, तदेकत्वे सति अनुभवाभेदात् एकं कर्म।	(३) शुभ अथवा अशुभ फलरूप होनेवाला विपाक केवल पुद्गलमय (अशुद्ध) होने से एक है और उनके एक होने से (अशुद्ध होने से) अनुभवों में भेद नहीं है; इसलिये कर्म एक है।
शुभाशुभौ मोक्षबन्धमार्गौ तु प्रत्येकं केवलजीवपुद्गलमयत्वाद् अनेकौ, तदनेकत्वे सति अपि	इसतरह (पृष्ठ ३०२-३०३ पर चार्ट देखिए) आपके कथन में 'शुभ मोक्षमार्ग है और अशुभ बन्धमार्ग है' लेकिन (वह ठीक नहीं क्योंकि) शुद्ध (शुद्धोपयोग) मोक्षमार्ग है और शुभ बन्धमार्ग है क्योंकि केवल जीवमयपना से (शुद्धोपयोग से) मोक्षमार्ग और केवल पुद्गलमयपना से (अशुद्धोपयोग से) बन्धमार्ग इसतरह अनेक हैं, और 'शुद्धोपयोग मोक्षमार्ग है तथा शुभाशुभ बन्धमार्ग है' ऐसा अनेकपना रहने से,
केवलपुद्गलमयबन्धमार्गाश्रितत्वेन आश्रयाभेदात् एकं कर्म।	(४) केवल पुद्गलमय बन्धमार्ग के आश्रितपना से आश्रयों में भेद नहीं है; इसलिये एक कर्म है। अर्थात् जैसे अशुभ संसारमार्ग है, वैसे शुभ भी संसारमार्ग (बन्धमार्ग) है यानी शुभ मोक्षमार्ग नहीं है।

इस ही गाथा की श्री जयसेनाचार्य रचित तात्पर्यवृत्ति में लिखा है कि,–

''निश्चयवादी ब्रूते कथं तत् पुण्यकर्म सुशीलं शोभनं भवति? यत् जीवं संसारे प्रवेशयति। हेतुस्वभावानुभवबंधरूपाश्रयाणां निश्चयेन अभेदात् कर्मभेदः नास्ति इति।''

अर्थ– निश्चयवादी/सम्यग्ज्ञानी कहता है कि, 'वह पुण्यकर्म (शुभ/शुभोपयोग) सुशील/अच्छा कैसे हो सकता है; जो शुभ/शुभोपयोग संसार में प्रवेश कराता है? अर्थात् शुभोपयोग मोक्षमार्ग नहीं है; क्योंकि निश्चयनय से हेतु, स्वभाव, अनुभव और बन्धरूप आस्रवों का अभेद होने से शुभ और अशुभ इन में भेद नहीं है।'

इसलिये **'शुभोपयोग मोक्षमार्ग है' यह सिद्ध करना 'अशक्य' है।**

यदि अनभिप्रेत को साध्य मानेंगे तो अतिप्रसंग होने से स्वेष्ट (स्व इष्ट) साध्य की सिद्धि नहीं होगी। 'अशुभोपयोग मोक्षमार्ग है' ऐसा सिद्ध करना अनिष्ट है। अर्थात् 'अशुभोपयोग सम्यक्-आनंद है' ऐसा सिद्ध करना अनिष्ट है। 'अशुभोपयोग से समता भाव आता है' यह सिद्ध करना अनिष्ट है। 'शुभोपयोग मोक्षमार्ग है' यह सिद्ध करना अनिष्ट है, क्योंकि शुभोपयोग संसारमार्ग है। अर्थात् 'शुभोपयोग सम्यक्-आनंद है' ऐसा सिद्ध करना अनिष्ट है। 'शुभोपयोग से समताभाव आता है' यह सिद्ध करना अनिष्ट है क्योंकि शुभोपयोग विषमभाव है। इत्यादि।

यदि प्रसिद्ध/मालूम/मान्य रहनेवाले को साध्य मानेंगे तो अनुमान करना व्यर्थ हो जायेगा। जिसको द्रव्य की क्षणिकता मान्य है, उसको द्रव्य की क्षणिकता बताना निरर्थक है। जिसको द्रव्य की शाश्वतता मान्य है, उसको द्रव्य की शाश्वतता बताना व्यर्थ है। जिसको द्रव्य की नित्यानित्यात्मकता मान्य है उसको द्रव्य की नित्यानित्यात्मकता बताना व्यर्थ है।

संस्कृत पृष्ठ नं. ८८-८९, संस्कृत परिच्छेद नं. २३-२४ →

इसका यह अर्थ है कि,– जो शक्य, अभिप्रेत और अप्रसिद्ध है; वह साध्य है। उससे अन्य लक्षणवाले साध्याभास हैं।

शंका– वे साध्याभास कौन से हैं?

समाधान– विरुद्ध आदि साध्याभास हैं। विरुद्ध साध्याभास यानी जो साध्य प्रत्यक्षादि से बाधित है। यहाँ 'आदि' शब्द से 'अनभिप्रेत और प्रसिद्ध' यह अर्थ लेना चाहिये। क्योंकि 'साधन के द्वारा विषय करना अशक्य है' ऐसा श्री अकलंकदेव का अभिप्राय है। लेकिन उनके सम्पूर्ण अभिप्राय को स्याद्वादविद्यापति श्री वादिराज आचार्य जानते हैं। (अर्थात् श्री अकलंकदेव रचित उस कारिका के अर्थ का विशद तथा विस्तृत कथन श्री वादिराजजी के द्वारा न्यायविनिश्चय की टीका में किया है।)

साधन तथा साध्य इन दोनों को लेकर श्लोकवार्तिक ग्रन्थ में ऐसा कथन किया है कि, ''जिसका अन्यथानुपपत्तिमात्र लक्षण है, वह ही साधन है। और जो शक्य, अभिप्रेत तथा अप्रसिद्ध है; वह ही साध्य है।'' [१।१३।१२१]

इसप्रकार 'अविनाभाव निश्चयरूप एक लक्षणवाले साधन से शक्य, अभिप्रेत तथा अप्रसिद्धरूप साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं' यह सिद्ध हुआ।

विशेषार्थ– इन न्यायग्रन्थों को पढ़ने से लौकिक व्यवहार में सुधार हो जाता है, तथा अध्यात्मिक निर्णय भी अच्छा हो जाता है। जैसे बीमारी के अथवा रोगी (मरीज) के लक्षणों से (चिन्हों से/हेतु से/लिंग से/साधन से) बीमारी अथवा रोग का अनुमान किया जाता है। वैसे इस जीव को दुख की बीमारी/रोग है, उसका

मूल कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र है। इस जीव के अस्तित्व का निर्णय करना आवश्यक है। 'जीव है' यह साध्य है और इस साध्य में शक्य, अभिप्रेत, अप्रसिद्ध ये लक्षण हैं।

इस भरतक्षेत्र में, इस पंचमकाल में पैदा हुए इस संज्ञी पंचेंद्रिय (मनसहित पांचों इन्द्रियवाले) जीव को सम्यक्-आनंद की →

(१) अल्प प्राप्ति/अनुभूति अव्रती अवस्था में भी होती है।

(२) मध्यम प्राप्ति देशव्रती अवस्था में होती है और

(३) उससे अधिक प्राप्ति महाव्रती अवस्था में होती है। यह साध्य है, और उस साध्य में शक्य, अभिप्रेत, अप्रसिद्ध ये लक्षण हैं। उस सम्यक्-आनंद को प्राप्त करने के लिये सम्यग्ज्ञान/शुद्धात्मानुभव [निजध्रुवचिदानंदात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान] चाहिये; तो अपने को 'सम्यग्ज्ञान है' और अपने को 'सम्यग्दर्शन है' इसका निर्णय करना आवश्यक है। इन साध्यों में शक्य, अभिप्रेत, अप्रसिद्ध ये लक्षण हैं। 'सम्यक्चारित्र है' अथवा 'अंशात्मक वीतराग है' इस साध्य में शक्य, अभिप्रेत, अप्रसिद्ध ये लक्षण हैं। इत्यादि।

जो शक्य, अभिप्रेत और अप्रसिद्ध है; वह साध्य है। और जो शक्य नहीं है, वह साध्याभास है। और जो अभिप्रेत नहीं है, वह साध्याभास है। और जो प्रसिद्ध है, वह साध्याभास है।

शंका – वे साध्याभास कौनसे है ?

समाधान – (१) 'इन्द्रियजनित दुःख दुःख है' यह इन्द्रियजनित दुःख सब जीवों को प्रसिद्ध है, इसलिये 'इन्द्रियजनित दुःख दुःख है' यह साध्याभास है।

(२) 'इन्द्रियजनित सुख सुख है। ऐसा साध्य अनिष्ट (अनभिप्रेत) है; इसलिये साध्याभास है।

(३) 'मानस सुख सुख है' ऐसा साध्य अनिष्ट (अनभिप्रेत) है; इसलिये साध्याभास है।

(४) 'प्रशमजनित सुख सुख है' ऐसा साध्य अनिष्ट (अनभिप्रेत) है; क्योंकि 'आत्मोत्थ आनंद' ही सच्चा सुख है। इसलिये 'प्रशमजनित सुख सुख है' यह साध्याभास है।

देखिये **द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र** [भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन] **गाथा नं. ४००, पृष्ठ नंबर १९९→**

"इंदियमणस्स पसमज आदुत्थं तहय सोक्खं चउभेयं।
लक्खणदो णियलक्खं अणुहवणे होइ आदुत्थं॥४००॥"

अर्थ – इंद्रियजन्य सुख, मनोजनित सुख, प्रशमजनित सुख और आत्मोत्थ सुख इस प्रकार सुख के चार भेद हैं। लक्षण के द्वारा निजध्रुवशुद्धात्मा का अनुभव करने में आत्मोत्थ सुख होता है।

देखिए प्रवचनसार-गाथा नं. १३ →

"अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवमणंतं।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुध्दुवओगप्पसिद्धाणं॥१३॥"

अर्थ – शुद्धोपयोग से प्रसिद्धों का सुख अतिशय, आत्मोत्थ (आत्मोत्पन्न) विषयातीत, अनुपम, अनन्त (अविनाशी) और अविच्छिन्न (अटूट) है।

प्रवचनसार - गाथा नं. ७६ →

"सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा॥७६॥"

अर्थ – जो इंद्रियों से प्राप्त होता है, वह सुख (१) परसम्बन्धयुक्त, (२) बाधासहित, (३) विच्छिन्न, (४) बन्ध का कारण और (५) विषम है। इसप्रकार वह दुःख ही है। इत्यादि।

(५) 'क्षोभ करने से समता आती है' ऐसा साध्य करना अशक्य है, इसलिये साध्याभास है। इत्यादि।

जो शक्य, अभिप्रेत तथा अप्रसिद्ध है; वह साध्य है और जिसका अन्यथानुपपत्तिमात्र लक्षण है, वही साधन है।

अन्यथानुपपत्तिमात्र लक्षणवाले साधन से नियम से साध्य की सिद्धि होती है।

जो अव्रती जीव मूलभूत वस्तुस्वरूप को जानकर निजध्रुवशुद्धात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से जानता है; उसको सम्यग्दर्शन होता है, मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है।

जो अव्रती जीव 'निजध्रुवशुद्धात्मा का अनुभव' करता है, उसको सम्यक्-आनंद प्राप्त होता है; इससे इच्छा का व्यय होता है। इससे वह बार-बार शुद्धात्मानुभव करता है, इसलिये विषयकषायों में रुचि नहीं होती। यदि अतिस्थिरता, दृढ़ता बढ़ती है तो महाव्रती होता है। यदि मध्यम स्थिरता, दृढ़ता होती है तो देशव्रती होता है।

इसप्रकार 'अविनाभावनिश्चयरूप एक लक्षणवाले साधन से शक्य, अभिप्रेत, तथा अप्रसिद्धरूप साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं' यह सिद्ध हो गया।

[अनुमान के भेद का और स्वार्थानुमान का कथन]

संस्कृत पृष्ठ नं. ८९, संस्कृत परिच्छेद नं. २५ →

अनुमान के दोन भेद हैं- (१) स्वार्थ अनुमान और (२) परार्थ अनुमान। उनमें-

स्वार्थ अनुमान-स्वयं ही निश्चित जाने हुए साधन से साध्य का ज्ञान होने को स्वार्थ अनुमान कहते हैं। दूसरे के उपदेश [परोपदेश] की अपेक्षा न करके स्वयं ही निश्चित जाने हुए और पहले तर्क प्रमाण से जाने गये और व्याप्ति के स्मरणसहित धूमादिक साधन से पर्वत आदिक धर्मी में अग्नि आदि साध्य का जो ज्ञान होता है उसको स्वार्थानुमान कहते हैं; ऐसा भावार्थ है। जैसे- 'यह पर्वत अग्निमान है, क्योंकि धूमवानपना है।' यह भी ज्ञानरूप स्वार्थानुमान का शब्द के द्वारा उल्लेख है। जैसे 'यह घट है' ऐसे शब्द के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान का उल्लेख है। 'यह पर्वत अग्निमान है, क्योंकि धूमवानपना है।' इस प्रकारसे प्रमाता जानता है; ऐसी स्वार्थानुमानस्थिति है; ऐसा जानना चाहिये।

विशेषार्थ-स्वार्थानुमान- अपने द्वारा निश्चित/निर्णयरूप जाने गये साधन के ज्ञान से साध्य का ज्ञान अपने को हो जाना, स्वार्थ अनुमान है। इस स्वार्थ अनुमान को दूसरे के उपदेश की अपेक्षा नहीं है।

जैसे जिस रमेश ने धूम और अग्नि का अविनाभाव सम्बन्ध/व्याप्ति तर्कज्ञान से जाना था। उसी रमेश ने स्वयं 'पर्वत पर धूम है' ऐसा जाना और धूम तथा अग्नि सम्बन्धी व्याप्ति का अथवा तर्क का स्मरण किया और 'उस पर्वत पर धूम है, इसलिये पर्वत पर अग्नि है' ऐसा 'अग्नि के बारे में स्वयं अनुमान' किया; वहाँ कोई उपदेश नहीं देता है; इसलिये वह स्वार्थ अनुमान है।

वैसे किसी अव्रती संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव ने ६ द्रव्य, ७ तत्त्व, निश्चयनय, व्यवहारनय आदि मूलभूत वस्तुस्वरूप को जाना और 'जहाँ निजध्रुवशुद्धात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान है, वहाँ सम्यग्दर्शन है और जहाँ सम्यग्दर्शन नहीं है, वहाँ निजध्रुवात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है' ऐसी व्याप्ति तर्कज्ञान से जानी-उसी जीव ने निजध्रुवशुद्धात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान किया। उसके पश्चात् निजध्रुवशुद्धात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान तथा सम्यग्दर्शन सम्बन्धी व्याप्ति का अथवा तर्क का स्मरण किया और मुझमें निजध्रुवशुद्धात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान हो गया है, इसलिये मुझमें सम्यग्दर्शन है' ऐसा 'अपने सम्यग्दर्शन पर्याय' के बारे में स्वयं अनुमान किया, इसलिये वह स्वार्थ अनुमान है।

एक पवनलाल नाम का अव्रती सम्यक्त्वी था। एक दिन पवनलाल का रमेश से झगड़ा हो गया। तब एक घंटे के बाद किसी आदमी ने पवनलाल को 'आप मिथ्याज्ञानी है', क्योंकि अभी आप क्रोधी हो गये थे' ऐसा कहा। फिर दूसरे आदमी ने पवनलाल को कहा कि, 'आप मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि अभी आप क्रोधी हो गये थे।'

उस समय पवनलाल अपने चित्त में विचार करता है कि –

"मेरे द्वारा क्रोध हो गया, यह मेरा अपराध था। वह अपराध नष्ट हो जावे। आगे मैं शांत रहने का प्रयत्न करूँगा। मुझमें अप्रत्याख्यानादि कषाय हैं, उससे मैं अशुद्ध हूँ। लेकिन मुझमें अनंतानुबंधिमिथ्यात्वोदयजनित क्रोधादि नहीं है; क्योंकि मूलभूत वस्तुस्वरूप को जानकर मेरे ध्रुवशुद्धात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से जाना था। मैं सम्यग्ज्ञानी हूँ, मैं सम्यग्दृष्टि हूँ, क्योंकि –

(१) सम्यक्-आनंद का जो योग्य भोग्य वा अनुभाव्य विषय है, वह निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा ही विषय है। उसके बारे में संशय, विपरीत, अनध्यवसाय तथा अज्ञान मेरे में नहीं है क्योंकि ६ द्रव्यों के सामान्य-विशेषगुणों को मैं जानता हूँ, निश्चयनय तथा व्यवहारनयों को मैं जानता हूँ, उपादान-निमित्त आदि मैं जानता हूँ, ७ तत्त्व/नवपदार्थ इनके संबंधी निश्चयनय तथा व्यवहारनय और भूतार्थ तथा अभूतार्थ जानता हूँ। प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगम तथा नय इन युक्तियों के द्वारा उनकी मैंने परीक्षा की है तथा प्रत्यक्षज्ञान से परीक्षा की है। गुणस्थानों, मार्गणास्थानों को मैं जानता हूँ। यथायोग्य आचरण आदि के बारे में मैं जानता हूँ।

(२) निजध्रुवशुद्धात्मा को जानने के प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान साधन को मैं बराबर जानता हूँ। उस साधन के बारे में संशय, विपरीत, अनध्यवसाय तथा अज्ञान मेरे में नहीं हैं। निजध्रुवशुद्धात्मा को मैंने प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से ही जाना था, क्योंकि मैंने जैसा निजध्रुवशुद्धात्मा जाना है, वैसा ही 'यह निजध्रुवशुद्धात्मा है (यह मैं ध्रुवशुद्धात्मा हूँ)।' शुद्धात्मानुभव करते समय 'स्मृतिज्ञान साधन नहीं था, प्रत्यभिज्ञान साधन नहीं था, तर्कज्ञान साधन नहीं था, अनुमानज्ञान साधन नहीं था, नयज्ञान साधन नहीं था, इसलिये परोक्ष ज्ञान नहीं थे, इदन्ता (यह) उल्लेखी ज्ञान था और प्रतीत्यन्तर (दूसरी ज्ञानपर्याय) की अपेक्षावाला ज्ञान नहीं था, इसलिये प्रत्यक्ष ज्ञान ही था। इसलिये 'निजध्रुवशुद्धात्मा' का अनुभव करते समय प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान ही साधन था।

(३) निजध्रुवशुद्धात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से जानने (अनुभव) का उसी समय फल सम (वीतराग/शुद्ध) परिणाम ही था, क्योंकि

(a) सभी के पास ध्रुवशुद्ध है [शुद्धनिश्चयनय से सब शुद्ध हैं/**सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया**], इसलिये सब समान है,

(b) उस समय बुद्धिपूर्वक अशुभ भाव नहीं था, क्योंकि उस समय किसी की निंदा आदि नहीं की थी और उस समय बुद्धिपूर्वक शुभ भाव नहीं था क्योंकि उसी समय किसी की स्तुति आदि नहीं की थी,

(c) उस समय बुद्धिपूर्वक मोहरागद्वेष नहीं थे; क्योंकि उस समय मैं निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा का भोग ले रहा था, उसमें मेरा शाश्वत आनंदगुण था, इसलिये आनंद के लिये पर वस्तु की इच्छा नहीं थी और 'सच्चे आनंद की पर्याय प्राप्त हो' ऐसी भी इच्छा नहीं थी, आसक्ति नहीं थी अर्थात् दर्शनमोह नहीं था और उस समय पर के प्रति बुद्धिपूर्वक राग नहीं था। [जैसे धन के प्रति अथवा महान पद (अवस्था) अथवा नाम की प्रसिद्धि के प्रति राग होता है वैसा राग नहीं था क्योंकि सच्ची शाश्वत आनंदवाली निजवस्तु का भोग ले रहा था] और उस समय किसी प्रकार का बुद्धिपूर्वक द्वेष नहीं था क्योंकि आनंदवाली निजात्मवस्तु मुझ में शाश्वत है, इसलिये निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा नष्ट होने का भय (डर) नहीं था, इत्यादि,

(d) निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से जानते समय बुद्धिपूर्वक चिन्ता नहीं थी, क्योंकि सच्चे आनंद का अनुभव हो रहा था, इसलिये निराकुलता थी [धन लाने की/कमाने की/धन के रक्षण की चिन्ता होती है अथवा अन्य के बारे में चिन्ता होती है अथवा नाम की प्रसिद्धि के बारे में चिन्ता होती है; वैसी चिन्ता नहीं थी], इत्यादि।

इसतरह "(१) विषय, (२) साधन और (३) फल इन तीनों के बारे में, भूल (गल्ती) न होने से मैं सम्यग्ज्ञानी हूँ, मैं सम्यग्दृष्टि हूँ और सम्यक् अव्रतचारित्रवाला हूँ। मैं निश्चयमोक्षमार्गस्थ हूँ। मैं मिथ्याज्ञानी नहीं हूँ, मैं मिथ्यादृष्टि नहीं हूँ और मैं मिथ्या अव्रतचारित्रवाला नहीं हूँ।" परोपदेश की अपेक्षा न करके पवनलाल ने स्वयं वह उपरोक्त अनुमान किया, इसलिये वह स्वार्थ अनुमान है।

↑	क्षयोपशमसम्यक्त्व	धन के विचार	↑	अशुभोपयोग	↑
↑	क्षयोपशमसम्यक्त्व	ध्रुवतत्त्व बतानेवाले प्रभु की जय।	↑	शुभोपयोग	↑
↑	प्रथमोपशमसम्यक्त्व	ध्रुवशुद्धज्ञानानंदात्मा ही हूँ। (अन्तर्जल्प)	↑		
↑	प्रथमोपशमसम्यक्त्व	वह मैं ध्रुवशुद्धज्ञानानंदात्मा हूँ।	↑	शुद्धोपयोग	↑
↑	अनादिमिथ्यात्व	द्रव्यगुणपर्याय के द्वारा परमात्मदेव की स्तुति।	↑	शुभोपयोग	↑
↑	अनादिमिथ्यात्व	गृहारम्भकार्य के विचार	↑	अशुभोपयोग	↑
	श्रद्धा का परिणमन	ज्ञान का परिणमन		चारित्र का परिणमन	

वह पवनलाल आगे विचार करता है कि–

सवेरे ५ बजे शुद्धात्मानुभव किया था, उस समय 'निजध्रुवशुद्धात्मा' को प्रत्यक्ष ज्ञान से ही जाना था। जैसा निजध्रुवशुद्धात्मा है, वैसा ही जाना था। इसलिये असत्य ज्ञान/झूठा ज्ञान/प्रमाणाभास नहीं है। 'इदन्ता' उल्लेखी प्रत्यक्ष ज्ञान से ही जाना था; वह स्मरणज्ञान, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगमज्ञान, नयज्ञान नहीं था। [देखो चार्ट नं. १८, पृष्ठ नं. २५९]; क्योंकि स्मरण 'तत्ता' उल्लेखी होता है। प्रत्यभिज्ञान 'इदन्ता और तत्ता' का संकलन होता है। तर्क व्याप्तिरूप होता है। साधन से साध्य का ज्ञान होना अनुमान है। आगमज्ञान को आप्तवचन की अपेक्षा है। नयज्ञान अन्तर्जल्पवाला है, इसलिये सवेरे ५ बजे निजध्रुवशुद्धात्मा को जाननेवाले ज्ञान स्मरणादिरूप परोक्ष ज्ञान नहीं थे, सवेरे ५ बजे प्रत्यक्ष ज्ञान ही था। इसलिये प्रामाण्य ही है, सम्यग्ज्ञान ही है।



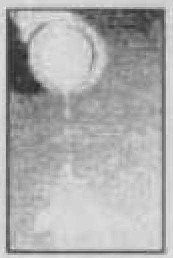
↑

← [सवेरे १० बजे का विषय]

सवेरे १० बजे क्रोध (झगड़ा) हो गया, उस समय गिरे हुए दूध के बर्तन का विषय था। सवेरे १० बजे उस गिरे हुए दूध के बर्तन के विषय से सवेरे ५ बजे के ज्ञानपर्याय को झूठा/असत्य/अप्रमाण ज्ञान सिद्ध नहीं कर सकते; क्योंकि सवेरे ५ बजे 'निजध्रुवशुद्धात्मा' विषय था और 'निजध्रुवशुद्धात्मा' ही जाना था। इसलिये प्रतिभातविषय-अव्यभिचारित्व था, प्रामाण्य था।

↑ निजध्रुव शुद्धात्मा ← [सवेरे ५ बजे का विषय]

↑ सबेरे १० बजेका → विषय ज्ञानपर्याय ↑



गिरा हुआ दूध का बर्तन है, पर है, अच्छा नहीं

↑ ○ — ○ ↑
↑ ○ — ○ ↑
↑ ○ — ○ ↑
↑ ○ — ○ ↑
↑ ○ — ○ ↑
↑ ○ — ○ ↑
↑ ○ — ○ ↑
↑ ○ — ○ ↑

विषय ज्ञानपर्याय ↑

↑ सबेरे ५ बजे का → निजध्रुवशुद्धज्ञानानंदात्मा — यह मैं ध्रुवशुद्धज्ञानानंदात्मा हूँ।

उसके पश्चात् पवनलाल चित्त में विचार करता है कि –

इसतरह सबेरे ५ बजे शुद्धात्मानुभव किया था, इसलिये सबेरे ५ बजे सम्यग्ज्ञानी था। सम्यग्ज्ञानी हूँ इसलिये सम्यग्दृष्टि था और सबेरे ५ बजे बुद्धिपूर्वक वीतराग यानी सम्यक् अव्रतचारित्र/सम परिणाम था।

और अभी सबेरे १० बजे क्रोध (झगड़ा) होते समय भी मैं सम्यग्ज्ञानी और सम्यग्दृष्टि था; क्योंकि सबेरे १० बजे गिरे हुए दूध के बर्तन को जानते समय वह पर है, वह मेरा शाश्वत स्व नहीं, ऐसा जाना था; अर्थात् उस समय सत्ता-असत्ता का भेदज्ञान था, कारणविपर्यय नहीं था, स्वरूपविपर्यय नहीं था और भेदाभेदविपर्यय नहीं था। निजध्रुवशुद्धात्मा के संबंधी विशिष्ट प्रामाण्य सबेरे १० बजे के ज्ञानपर्याय में था, इसलिये सबेरे १० बजे भी मैं सम्यग्ज्ञानी था। इसलिये सबेरे १० बजे सम्यग्दृष्टि था। इसलिये सम्यक् असंयम (अव्रत) चारित्र था क्योंकि अनंतानुबंधिमिथ्यात्वोदयजनित रागादि नहीं है।

परोपदेशरहित पवनलाल ने स्वयं यह अनुमान किया, इसलिये स्वार्थानुमान है।

[सबेरे १० बजे पवनलाल में जो क्रोध था, वह अप्रत्याख्यानादि क्रोध है, अनंतानुबंधिमिथ्यात्वोदयजनित क्रोध नहीं।]

इसतरह आप लोग भी अपने सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र के बारे में विचार करके/स्वार्थ अनुमान करके निर्णय कर सकते हैं। दूसरे को पूछने की आवश्यकता नहीं है।

आगे पवनलाल विचार करता है कि –

अभी भी मैं मेरे ध्रुवशुद्धात्मा का पर के साथ एकत्व न करने से और मेरे ध्रुवशुद्धात्मा के साथ पर का

एकत्व न करने से तथा इसप्रकार से स्व-पर भेदज्ञान होने से और निजध्रुवशुद्धात्मा के बारे में विशिष्ट प्रामाण्यसहित ज्ञान होने से अभी मैं सम्यग्ज्ञानी हूँ इसलिये अभी मैं सम्यग्दृष्टि हूँ। इसलिये अभी मैं सम्यक् असंयम (अव्रत) चारित्रवाला हूँ। इस प्रकार स्वार्थानुमान करता है।

आगे पवनलाल विचार करता है कि–

मैं सम्यग्ज्ञानी, सम्यग्दृष्टि और सम्यक् असंयम (अव्रत) चारित्रवाला हूँ; इसलिये मोक्षमार्गस्थ हूँ। इस प्रकार स्वार्थानुमान करता है।

मैं सम्यग्दृष्टि, सम्यग्ज्ञानी और सम्यक् असंयम (अव्रत) चारित्रवाला हूँ; इसलिये चतुर्थ गुणस्थानवर्ती हूँ। इस प्रकार स्वार्थानुमान करता है।

इसप्रकार अपने बारे में अन्यथानुपपत्तिलक्षणवाले हेतु से स्वार्थानुमान कर सकते हैं।

अन्य किसी के उपदेश की अपेक्षा न रखकर हिरालाल ने स्वयं अनुमान (स्वार्थानुमान) किया कि,- इस वस्तु को यहाँ जगह दी गयी (अवगाहन दिया), इसलिये अवगाहन देनेवाला आकाशद्रव्य है; क्योंकि जहाँ उपादान कार्यरत होता है वहाँ निमित्त होता है (ऐसा व्यवहारनय से कहा है)।

अन्य किसी के उपदेश की अपेक्षा न रखकर कांतिलाल ने स्वयं अनुमान (स्वार्थानुमान) किया कि,- यहाँ जीव और पुद्गलों का गमन होता है, इसलिये उन उपादानों में गमन क्रिया होती है, इसलिये यहाँ निमित्तरूप गतिहेतुत्ववाला धर्मद्रव्य है।

अन्य किसी के उपदेश की अपेक्षा न रखकर संजय ने स्वयं अनुमान (स्वार्थानुमान) किया कि,- गमन करनेवाले वे उपादानरूप जीव और पुद्गल यहाँ स्थित हो रहे हैं, इसलिये निमित्तरूप स्थितिहेतुत्ववाला अधर्मद्रव्य यहाँ है।

अन्य किसी के उपदेश की अपेक्षा न रखकर शशिकांत ने स्वयं अनुमान (स्वार्थानुमान) किया कि,- यहाँ उपादान रूप हरा पत्ता पीला हो गया, इसलिये निमित्तरूप परिवर्तनहेतुत्ववाला कालाणुद्रव्य यहाँ होना चाहिये।

अन्य किसी के उपदेश की अपेक्षा न करके रमेश ने स्वयं अनुमान (स्वार्थानुमान) किया कि,- यहाँ उपादानरूप हरा आम पीला हो गया, इसलिये निमित्तरूप वर्तनागुणवाला कालाणुद्रव्य यहाँ होना चाहिये।

अन्य किसी के उपदेश की अपेक्षा न करके जयकुमार ने स्वयं अनुमान (स्वार्थानुमान) किया कि,- यहाँ उपादान रूप सुगंधित आम दुर्गन्धवाला हो गया, इसलिये निमित्तरूप वर्तनाहेतुवाला कालाणुद्रव्य होना चाहिये।

[illegible] की जच्की (प्रसूति) हो गयी। पेट में से एक देह बाहर गिरा, उस समय बर्तन का आवाज होने से उस [illegible] हुए बालक में भय हो गया, यह रेखाने देखा और परोपदेश की अपेक्षा न करके रेखा ने स्वयं अनुमान (स्वार्थानुमान) किया कि,- उस पैदा हुए देह में भय हो गया, इसलिये उस देह में जीव है, वह [illegible] मुर्दा नहीं, जिंदा बालक है।

परोपदेश की अपेक्षा न करके आप स्वयं अनुमान (स्वार्थानुमान) कर सकते हैं कि 'मैं' इस लाल चित्र को [illegible] रहा हूँ। यह मुझमें 'मैं यानी अहं यानी स्वसंवेदन' की प्रतीति होती है, इसलिये मुझमें चेतनगुण है।

मुझमें वस्तु को जानने की क्रिया होती है, इसलिये मुझमें ज्ञानगुण है।

[illegible] मुझमें कभी सुख अवस्था, कभी दुःख अवस्था होती है; इसलिये मुझमें आनंदगुण है।

मुझमें ज्ञानानंदादि गुण हैं, इसलिये मुझमें ध्रुवज्ञानानंदात्मा है। [यह अनुमान परोक्ष ज्ञान है, प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं, शुद्धात्मानुभव नहीं, निर्विकल्प ज्ञान नहीं।]

मुझमें क्रोधपर्याय/अशुद्धपर्याय है, तो फिर पर्याय है इसलिये मुझमें ध्रुवद्रव्य है।

मुझमें अशुद्धपर्याय है तो फिर पर्याय (व्याप्य) है इसलिये मुझमें ध्रुवशुद्धद्रव्य है। यह स्वार्थानुमान है, परोक्ष ज्ञान है, प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं, शुद्धात्मानुभव नहीं।

अभी मैंने मेरे ध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से जाना था, इसलिये, (१) निजध्रुवज्ञानदर्शनानंदात्मा के विषय संबंधी उपयोगरूप मतिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम हुआ और (२) प्रामाण्यरूप ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम हुआ और (३) प्रत्यक्षरूप मतिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम हुआ और उसके बाद (४) उपयोगरूप श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम हुआ तथा प्रामाण्यरूप ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम हुआ तथा प्रत्यक्षरूप श्रुतज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम हुआ और उसी समय निजध्रुवशुद्धात्मा संबंधी लब्धिरूप मतिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम हुआ। और

अभी मुझे शुद्ध स्वात्मानुभव हो गया है और मैं अव्रती हूँ; इसलिये मैं अव्रती सम्यक्त्वी हूँ और मुझे दर्शनमोह (मिथ्यादर्शन) का व्यय हो गया। अब मुझे मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का क्षयोपशम है। और

अभी मुझे मेरे ध्रुवशुद्धज्ञानानंदात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान हो गया, इसलिये उसी समय शुद्ध स्वात्मानुभव के वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम हो गया। और

अभी मुझे मेरे ध्रुवशुद्धज्ञानानंदात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान हो गया, इसलिये उसी समय शुद्ध स्वात्मानुभव के बारे में दर्शनावरण कर्म (अचक्षुदर्शनावरण कर्म) का क्षयोपशम हो गया।

बार-बार मैं शुद्धात्मानुभव करता ही हूँ और सम्यग्दृष्टि हूँ ही। अब मैंने सम्यग्दर्शनपूर्वक पंच उदुम्बर का और मद्य, मधु (शहद), मांस का सम्पूर्ण जीवन तक प्रतिज्ञापूर्वक त्याग किया है; इसलिये मैं पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक हो गया।

शंका–आप 'निजध्रुवशुद्धात्मा' के बारे में अनुमान ज्ञानपर्याय को परोक्ष ज्ञान कहते हो; लेकिन **लघियस्त्रयप्रकरण श्लोक नं. ६१ की विवृत्ति** में ऐसा लिखा है कि,-

"अनिन्द्रियप्रत्यक्षं स्मृतिसंज्ञाचिन्ताभिनिबोधात्मकम्।"

अर्थ–स्मृति, संज्ञा (प्रत्यभिज्ञान), चिन्ता (तर्क) और अभिनिबोधात्मक (अनुमान) ये ज्ञानपर्यायें अनिन्द्रियप्रत्यक्ष हैं।

इस आगम कथन से ऐसा सिद्ध होता है कि,- 'यहाँ मुझमें पर्याय है, इसलिये मुझमें मेरा ध्रुवशुद्धात्मा है' ऐसा अनुमान प्रत्यक्ष ज्ञान है। तो फिर इस कथन के साथ आपके कथन का सुसंवाद कैसे?

समाधान–आपने जो आगम का उद्धरण दिया है। उस आगम के वचन का अभिप्राय आपके समझ में नहीं आया क्योंकि उस आगम का स्पष्टीकरण करनेवाला **'न्यायकुमुदचन्द्र'** नामका ग्रन्थ है, उसमें लिखा है कि-

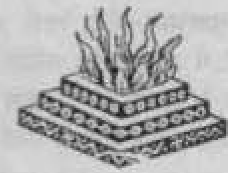
"ननु स्मृत्यादीनां परोक्षतया पूर्वं प्रतिपादितत्वात् कथं अत्र प्रत्यक्षतया प्रतिपादनं युक्तं पूर्वापरविरोधप्रसंगात्;

इति अपि अचर्चिताभिधानम्, यत्र अंशे तेषां स्पष्टत्वं तत्र एव प्रत्यक्षत्वप्रतिपादनात्। 'स्वरूपे' एव हि तेषां स्पष्टत्वं अतः तत्र एव प्रत्यक्षत्वम् इति अभिसम्बन्धात्। बहिरर्थे तु अस्य अस्पष्टत्वात् परोक्षता इति न कश्चित् दोषः।"

भावार्थ–प्रश्न–'स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान ज्ञानपर्यायों में परोक्षपना है' ऐसा कथन पहले किया था; अब यहाँ 'उन ही स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान ज्ञानपर्यायों में प्रत्यक्षपना है' ऐसा कथन

करना कैसे योग्य है; क्योंकि पूर्व और अपर कथन में विरोध का प्रसंग आता है?

उत्तर—यह आपका कथन ठीक नहीं है; क्योंकि 'जिस अंश में उन में स्पष्टत्व है, उस अंश में ही प्रत्यक्षत्व है' ऐसा कथन किया है। '**स्वरूप**' में ही स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क और अनुमान पर्यायों में **स्पष्टत्व** है, इसलिये उन ज्ञानपर्यायों के स्वरूप यानी आत्मज्ञान यानी भावप्रमेय के ज्ञान में **प्रत्यक्षत्व** है; लेकिन **बाह्य अर्थ** यानी **बाह्य प्रमेय** के ज्ञान में **अस्पष्टत्व** होने से स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान ज्ञानपर्यायों में **परोक्षता** ही है। इसलिये उसमें कोई दोष नहीं। अर्थात्—

अनुमानज्ञानपर्याय		**विषय**
स्व/आत्मज्ञान/भावप्रमेय	**अर्थ/बाह्य अर्थ/पर**	
मैं	'वहाँ पर्वत पर धूम है, इसलिये वहाँ अग्नि है' ऐसा जानता हूँ।	
↑	↑	
यह अंश प्रत्यक्ष है, यह स्वरूप का ज्ञान है, यह पर्याय का 'स्व' है, पर्याय का आत्मा है यानी पर्याय के स्वरूप की प्रतीति है।	यह अंश परोक्ष ज्ञान है, अनुमान ज्ञान है। यह अर्थ यानी बाह्य-अर्थ यानी बाह्य प्रमेय यानी पर का ज्ञान है	

अनुमानज्ञानपर्याय		**विषय**
स्व/आत्मज्ञान/भावप्रमेय	**अर्थ/बाह्य अर्थ/पर**	
मैं	'यहाँ मेरे में पर्याय है, इसलिये यहाँ मेरा ध्रुवशुद्धात्मा है' ऐसा जानता हूँ।	निजध्रुवशुद्धात्मा
↑	↑	
यह अंश प्रत्यक्ष है, यह स्वरूप का ज्ञान है, यानी यह पर्याय का 'स्व' है, यह स्वध्रुवात्मा का ज्ञान नहीं।	यह अंश परोक्ष ज्ञान है, यह 'स्वध्रुवात्मा' का अनुमान ज्ञान है, यह अंश प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं, यह शुद्धात्मानुभव नहीं।	

लेकिन प्रत्यक्ष ज्ञानपर्याय नीचे की संदृष्टि में दिखाई है।

प्रत्यक्ष ज्ञानपर्याय			विषय
स्व/आत्मज्ञान/भावप्रमेय		अर्थ/बाह्य अर्थ/पर	
मैं		'यह मैं ध्रुवशुद्धात्मा हूँ' ऐसा जानता हूँ।	
↑		↑	निजध्रुवशुद्धात्मा
यह अंश प्रत्यक्ष है, यह स्वरूप का ज्ञान है, यानी यह पर्याय का 'स्व' है, यह स्वध्रुवात्मा का ज्ञान नहीं।		यह अंश प्रत्यक्ष ज्ञान है, यह शुद्धात्मानुभव है, यह 'स्वध्रुवात्मा' का प्रत्यक्ष ज्ञान है, यह अनुमान ज्ञान नहीं।	

शंका– इस स्वार्थानुमान का ज्ञान करने से जीवन में क्या लाभ है?

समाधान–रोटी पकाते समय उपयोगी है। चावल आदि को पकाते समय उपयोगी है। व्याधि का निर्णय करने में उपयोगी है। फसल के बारे में निर्णय करने में लाभ होता है। यह जिन्दा (जीवन्त) है अथवा मर गया है, इसका निर्णय करने में उपयोगी है। इत्यादि रूप से लौकिक जीवन में लाभ होता है और अपने को शान्ति प्राप्त करने के लिये उपयोगी (लाभदायक) है। आध्यात्मिक जीवन में लाभ होता है। जैसे–

(A) (१) भोग्य **विषय** के निर्णय के लिये और
(२) सम्यक्-आनंद का भोग लेने के **साधन** का निर्णय करने के लिये और
(३) सम्यक्-**फल** का निर्णय करने के लिये स्वार्थानुमान उपयोगी है।

(B) **अपने सम्यग्दर्शन** का निर्णय करने के लिये उपयोगी है।

(C) सम्यक् मोक्षमार्ग का/**सम्यक्-आनंद** का निर्णय करने के लिये उपयोगी है।

(D) क्षयोपशम सम्यग्दर्शन के सद्भाव में सविकल्प अवस्था में सम्यक्त्व प्रकृति का उदय रहता है, इसलिये कभी-कभी स्वयं के सम्यग्दर्शन के बारे में शंका, कांक्षा के विकल्प/विचारतरंग चित्त में आते हैं, तब स्वार्थानुमान के द्वारा स्वयं की शंका, कांक्षा का समाधान किया जाता है।

(E) स्वयं में स्वयं का स्थितिकरण करने के लिये स्वार्थानुमान उपयोगी है।

(F) स्वयं की सल्लेखना के लिये स्वार्थानुमान उपयोगी है।

इत्यादि।

संस्कृत पृष्ठ नं. ८९, संस्कृत परिच्छेद नं. २६ →

[स्वार्थानुमान के अंगों का कथन]

और इस स्वार्थानुमान के तीन अंग हैं- (१) धर्मी, (२) साध्य और (३) साधन। उनमें से -

(१) साधन – साधन गमकपना से अंग है।

(२) साध्य – साध्य गम्यपना से अंग है।

(३) धर्मी – धर्मी साध्यधर्माधारपना से अंग है।

आधारविशेषनिष्ठता से ही साध्यसिद्धि करना अनुमान का प्रयोजन है। (जैसे पर्वत पर अग्नि है।)

लेकिन व्याप्तिनिश्चयकाल में ही धर्ममात्र का सिद्धपना है। जैसे ' जहाँ-जहाँ धूमवानपना है, वहाँ-वहाँ अग्निमानपना है। '

विशेषार्थ– परोपदेश के बिना अपने द्वारा किये जानेवाले अनुमान के तीन अंग (अवयव) हैं– (१) धर्मी, (२) साध्य और (३) साधन। उनमें से–

(१) **धर्मी**–साध्यधर्म के आधार को धर्मी अथवा पक्ष कहते हैं। जैसे–

'पर्वत पर अग्नि है; क्योंकि पर्वत पर धूम/धुआँ है' इसमें 'पर्वत' यह धर्मी है। क्योंकि पर्वत यह अग्निरूप साध्यधर्म का आधार है।

'इस शरीर में जीव है; क्योंकि उस शरीर पर उष्ण (गर्म) जल डालते ही वह रोने लगा।' इसमें 'शरीर' यह धर्मी (पक्ष) है, क्योंकि शरीर यह जीवरूप साध्यधर्म का आधार है।

'इस शरीर में मेरा जीवद्रव्य है, क्योंकि मैं यानी अहं की मुझे प्रतीति होती है।' इसमें 'शरीर' यह धर्मी (पक्ष) है, क्योंकि 'मेरा जीवद्रव्यरूप' साध्यधर्म का आधार यह शरीर है।

'इस जीव में ध्रुव है, क्योंकि क्रोधपर्याय है।' इसमें 'जीव' यह धर्मी (पक्ष) है; क्योंकि 'ध्रुवरूप' साध्यधर्म का आधार है।

'इस जीव में ध्रुव है; क्योंकि जानने की क्रिया [ज्ञानपर्याय] है।' इसमें 'जीव' यह धर्मी (पक्ष) है; क्योंकि 'ध्रुवरूप' साध्यधर्म का आधार है।

'इस जीव में मिथ्यादर्शन पर्याय है, क्योंकि वह कहता है कि– "अव्रती को प्रथमोपशम सम्यक्त्व का उत्पाद होते समय शुभोपयोग रहता है अर्थात् निजध्रुवशुद्धात्मानुभव नहीं रहता'।" इसमें 'जीव' यह धर्मी (पक्ष) है; क्योंकि 'मिथ्यादर्शन पर्यायरूप' साध्यधर्म का आधार है।

'मेरे इस जीव में सम्यग्दर्शन पर्याय है, क्योंकि मैं निजध्रुवशुद्धात्मानुभव करता हूँ।' इसमें 'मेरा जीव' यह धर्मी (पक्ष) है; क्योंकि सम्यग्दर्शन पर्यायरूप साध्यधर्म का आधार है। इत्यादि।

इसतरह **साध्यधर्म के आधार को धर्मी अथवा पक्ष कहते हैं।**

(२) **साध्य**–साधन के द्वारा आधाररूप धर्मी में सिद्ध किया जानेवाला अर्थात् गम्य होनेवाला साध्यरूप अंग यानी अवयव है। जैसे–

'पर्वत पर अग्नि है; क्योंकि पर्वत पर धूम है।' इसमें 'अग्नि है' यह साध्य है।

'इस शरीर में जीव है; क्योंकि उस शरीर पर उष्ण जल डालते ही वह रोने लगा।' इसमें 'जीव है' यह साध्य है।

'इस शरीर में मेरा जीव द्रव्य है; क्योंकि मैं यानी अहं की मुझे प्रतीति होती है।' इसमें 'मेरा जीवद्रव्य है' यह साध्य है।

'इस जीव में ध्रुव है; क्योंकि क्रोधपर्याय है।' इस अनुमान में 'ध्रुव है' यह साध्य है।

'इस जीव में ध्रुव है; क्योंकि ज्ञानपर्याय है।' इस अनुमान में 'ध्रुव है' यह साध्य है।

'इस जीव में मिथ्यादर्शन पर्याय है; क्योंकि वह कहता है कि "अव्रती को प्रथमोपशम सम्यक्त्व का उत्पाद होते समय निजध्रुवशुद्धात्मानुभव नहीं रहता'।" इस अनुमान में 'मिथ्यादर्शन पर्याय है' यह साध्य है।

'मेरे इस जीव में सम्यग्दर्शन पर्याय है; क्योंकि मैं निजध्रुवशुद्धात्मानुभव करता हूँ।' इस अनुमान में 'सम्यग्दर्शन पर्याय है' यह साध्य है। इत्यादि

इसतरह साध्य गम्यपना से अंग यानी अवयव है।

(३) **साधन**—साधन गमकपना से अंग यानी अवयव है। जैसे—

'पर्वत पर अग्नि है; क्योंकि पर्वत पर धूम/धुआँ है।' इस अनुमान में 'धूम है' यह साधन गमकपना से अंग/अवयव है।

'इस शरीर में जीव है; क्योंकि उस शरीर पर उष्ण जल डालते ही वह रोने लगा।' इस अनुमान में 'वह रोने लगा अर्थात् वह दुःखी हुआ' यह साधन गमकपना से अंग है।

'इस शरीर में मेरा जीवद्रव्य है; क्योंकि मैं यानी अहं यानी स्वसंवेदन की मुझे प्रतीति होती है।' इस अनुमान में 'मैं यानी अहं यानी स्वसंवेदन की प्रतीति होती है' यह साधन गमकपना से अंग/अवयव है।

'इस जीव में ध्रुव है; क्योंकि क्रोधपर्याय है।' इस अनुमान में 'क्रोधपर्याय है' यह साधन गमकपना से अंग है।

'इस जीव में ध्रुव है; क्योंकि ज्ञानपर्याय है।' इस अनुमान में 'ज्ञानपर्याय है' यह साधन गमकपना से अंग है।

'इस जीव में मिथ्यादर्शन पर्याय है; क्योंकि वह कहता है कि- "अव्रती को प्रथमोपशम सम्यक्त्व का उत्पाद होते समय निजध्रुवशुद्धात्मानुभव नहीं रहता'।" इस अनुमान में 'वह कहता है कि- अव्रती को प्रथमोपशम सम्यक्त्व का उत्पाद होते समय निजध्रुवशुद्धात्मानुभव नहीं रहता' यह साधन गमकपना से अंग/अवयव है।

'मेरे इस जीव में सम्यग्दर्शन पर्याय है; क्योंकि मैं निजध्रुवशुद्धात्मानुभव करता हूँ।' इस अनुमान में 'मैं निजध्रुवशुद्धात्मानुभव करता हूँ' यह साधन गमकपना से अंग है। इत्यादि

इसतरह साधन गमकपना से अंग है।

आधारविशेषनिष्ठता से ही साध्य की सिद्धि करना अनुमान का प्रयोजन है।

लेकिन व्याप्ति के निर्णय के समय (काल) में धर्ममात्र (धर्मसामान्य) का सिद्धपना है। जैसे 'जहाँ-जहाँ धूमवानपना है, वहाँ-वहाँ अग्निमानपना है।' और अनुमान में विशिष्ट स्थान/धर्मी अथवा पक्ष में 'विशिष्ट साध्य' की सिद्धि की जाती है, जैसे विशिष्ट पर्वत पर अग्नि है और प्रत्यक्ष ज्ञान में विशिष्ट पर्वत पर विशिष्ट अर्थात् घास/काष्ठ/लकड़ी/कोयला आदि की अग्नि और अग्नि के ज्वालाओंका संस्थान, नील/पीत वर्ण आदि का ज्यादा (अनुमान से भी और विशेष) निर्णय है; उस तरह का विशेष निर्णय व्याप्ति/तर्क ज्ञान में नहीं इसलिये धर्ममात्र (धर्म के साधारण/सामान्य) का सिद्धपना है।

'जहाँ-जहाँ ज्ञानपर्याय है, वहाँ-वहाँ जीवद्रव्य है।' इस व्याप्ति के निर्णय के समय (काल) में धर्ममात्र (धर्मसामान्य) का सिद्धपना है। और अनुमान में विशिष्ट स्थान/धर्मी अथवा पक्ष में 'विशिष्ट साध्य' की सिद्धि की जाती है, जैसे– 'इस मेरे देह में (यह विशिष्ट स्थान है)', 'मेरा जीवद्रव्य है' (यह विशिष्ट साध्य है) इस विशिष्ट साध्य की सिद्धि की और प्रत्यक्ष ज्ञान में 'यह मैं एक ध्रुवशुद्धचिदात्मद्रव्य हूँ, अन्य (पर) कुछ नहीं' यह विशिष्ट निर्णय है; उस तरह का विशिष्ट निर्णय व्याप्ति/तर्कज्ञान में नहीं इसलिये धर्ममात्र (धर्म के साधारण/सामान्य) का सिद्धपना है।

'जहाँ-जहाँ शुद्धात्मानुभव ज्ञानपर्याय है, वहाँ-वहाँ सम्यग्दर्शन है' इस व्याप्ति के निर्णय के समय (काल) में धर्ममात्र (धर्मसामान्य) का सिद्धपना है। और अनुमान में विशिष्ट स्थान/धर्मी अथवा पक्ष में 'विशिष्ट साध्य' की सिद्धि की जाती है, जैसे– मेरे जीव में (यह विशिष्ट स्थान है), 'मुझे सम्यग्दर्शन है' (यह विशिष्ट साध्य है) इस विशिष्ट साध्य की सिद्धि की। इस तरह का विशिष्ट निर्णय व्याप्ति/तर्कज्ञान में नहीं, इसलिये धर्ममात्र (धर्मसामान्य) का सिद्धपना है।

'जहाँ-जहाँ सम्यग्दर्शन पर्याय है, वहाँ-वहाँ मिथ्यात्व-अनंतानुबंधिजनित मोहरागद्वेष नहीं है' इस व्याप्ति

इसतरह साध्यरूप धर्म और साध्यरूप धर्म का आधारवाला धर्मी इन दोनों के समुदायलक्षणवाले को पक्ष अथवा आस्था अथवा संधा अथवा प्रतिज्ञा कहते हैं। और 'पुद्गल-परिणाम होने से शुद्धात्मानुभूति से भिन्न हैं' यह हेतु है। इसतरह वहाँ व्याख्यान में पक्ष और हेतु ये दोनों अनुमान के अंग है। ऐसा जानो।

स्वार्थानुमान के तीन अथवा दो अंग हैं, ऐसा कथन करने में कुछ भी विरोध नहीं है। केवल कथन करने की शैली (पद्धति) में भेद है, लेकिन भावार्थ में भेद नहीं हैं।

स्वार्थानुमान में जो धर्मीपना से [यानी जो साध्य का आधार है, उसरूप से] अंग है, वह आधाररूप धर्मी प्रसिद्ध ही होता है, अप्रसिद्ध नहीं।

[धर्मी तीन प्रकार से प्रसिद्ध होता है, इसका निरूपण]

संस्कृत पृष्ठ नं. ९०, संस्कृत परिच्छेद नंबर २८-२९ →

धर्मी की प्रसिद्धि (१) कहीं तो प्रमाण से, (२) कहीं विकल्प से और (३) कहीं प्रमाण और विकल्प इन दोनों से होती है।

(१) प्रमाणसिद्धधर्मी – प्रत्यक्षादिक प्रमाणों में से किसी एक प्रमाण से धर्मी का निर्णय होना प्रमाणसिद्धधर्मी है।

(२) विकल्पसिद्धधर्मी – अनिश्चितप्रामाण्याप्रामाण्यप्रत्ययगोचरपना लक्षणवाला विकल्पसिद्धधर्मी हैं।

(३) प्रमाणविकल्पसिद्धधर्मी – जहाँ प्रमाण और विकल्प इन दोनों से धर्मी का निर्णय होना प्रमाणविकल्पसिद्धधर्मी है। उनमें से –

(१) प्रमाणसिद्धधर्मी का उदाहरण – धूमवानपना से अग्निमानपना साध्य रहने पर जहाँ अग्नि सिद्ध की जाती है, वह 'पर्वत' प्रत्यक्ष ज्ञान से जाना जाता है। यहाँ 'पर्वत' यह प्रमाणसिद्धधर्मी का उदाहरण है।

(२) विकल्पसिद्धधर्मी का उदाहरण –

(A) 'सर्वज्ञ है; क्योंकि सुनिश्चित-असंभवद्बाधकप्रमाण है' ऐसा अस्तित्वरूप साध्य रहनेपर 'सर्वज्ञ' यह विकल्पसिद्धधर्मी है। अथवा

(B) खरविषाण (गधे के सींग) नहीं है, ऐसा नास्तित्वरूप साध्य रहनेपर 'खरविषाण' यह विकल्पसिद्धधर्मी है।

सर्वज्ञ का सद्भाव सिद्ध करने के पहले प्रत्यक्षादि प्रमाण से सर्वज्ञ सिद्ध नहीं है, लेकिन प्रतीतिमात्र से 'सर्वज्ञ' सिद्ध है; इसलिये 'सर्वज्ञ' यह विकल्पसिद्धधर्मी है। और खरविषाण का भी अभाव (नास्तित्व) सिद्ध करने के पहले (प्रतीतिमात्र से) खरविषाण सिद्ध है; इसलिये 'खरविषाण' यह भी विकल्पसिद्धधर्मी है।

(३) उभयसिद्धधर्मी [प्रमाणविकल्पसिद्धधर्मी] का उदाहरण- 'शब्द परिणामी है, क्योंकि कृतकपना है' यहाँ 'शब्द' यह उभयसिद्धधर्मी का उदाहरण है। वर्तमान का शब्द प्रत्यक्षगम्य है और भूतकाल के तथा भविष्यकाल के शब्द विकल्पगम्य हैं। वे सभी शब्द धर्मी होने से प्रमाणविकल्पसिद्ध [उभयसिद्ध] धर्मी हैं।

प्रमाणसिद्धधर्मी और उभयसिद्धधर्मी इन दोनों धर्मियों के साध्य में कामचार [यथेच्छ यानी उनमें कोई नियम नहीं ऐसा] है। लेकिन विकल्पसिद्धधर्मी रहनेपर सद्भाव अथवा अभाव ये दो प्रकार के ही साध्य होते हैं; ऐसा नियम है।

परीक्षामुखसूत्रग्रन्थ में ऐसा कहा है कि- 'विकल्पसिद्धधर्मी रहनेपर (१) सत्ता और (२) असत्ता ये दो प्रकार के साध्य होते हैं। [३-२८]'

विशेषार्थ– साध्य के आधार को धर्मी कहते हैं। उस धर्मी की प्रसिद्धि के तीन प्रकार हैं– (१) प्रमाणप्रसिद्धधर्मी, (२) विकल्पसिद्धधर्मी और (३) प्रमाणविकल्पसिद्धधर्मी।

(१) प्रमाणप्रसिद्धधर्मी– प्रत्यक्षादिक ज्ञानों में से किसी ज्ञान के द्वारा धर्मी का निर्णय होना प्रमाणसिद्धधर्मी है। जैसे– 'इस पर्वत पर अग्नि है, क्योंकि उस पर्वत पर धूम है।' इस अनुमान में 'पर्वत' यह प्रत्यक्ष ज्ञान से जाना। इसलिये 'पर्वत' यह प्रमाणप्रसिद्धधर्मी है।

'बाजू के मकान में दूध जल गया है, क्योंकि उस मकान से विशिष्ट गंध आती है।' इस अनुमान में 'मकान' यह प्रत्यक्ष ज्ञान से जाना। इसलिये 'मकान' यह प्रमाणप्रसिद्धधर्मी है।

'इस शरीर में जीव है; क्योंकि उसको भय हो रहा है।' इस अनुमान में 'शरीर' यह प्रत्यक्ष ज्ञान से जाना। इसलिये 'शरीर' यह प्रमाणप्रसिद्धधर्मी है।

'मेरे शरीर में जीव है; क्योंकि मेरे में 'अहं' यानी मैं यानी स्वसंवेदन है।' इस अनुमान में 'मेरा शरीर' यह प्रत्यक्ष ज्ञान से जाना। इसलिये 'मेरा शरीर' यह प्रमाणप्रसिद्धधर्मी है।

'मेरे जीव में ज्ञानगुण है; क्योंकि मेरे में ज्ञानपर्याय (जानने की क्रिया) है।' इस अनुमान में मेरा जीव प्रत्यक्ष ज्ञान से (अथवा परोक्ष ज्ञान से) जाना। इसलिये 'मेरा जीव' यह प्रमाणप्रसिद्धधर्मी है।

'मेरे जीव में ध्रुवशुद्धज्ञानानंद है; क्योंकि मेरे जीव में अशुद्धपर्याय है।' इस अनुमान में 'मेरा जीव' प्रत्यक्ष ज्ञान से अथवा परोक्ष ज्ञान से जाना। इसलिये 'मेरा जीव' यह प्रमाणप्रसिद्धधर्मी है।

'मेरे जीव में सम्यग्दर्शन पर्याय है; क्योंकि मैं शुद्धात्मानुभव करता हूँ।' इस अनुमान में 'मेरा जीव' प्रत्यक्ष ज्ञान से जाना। इसलिये 'मेरा जीव' यह प्रमाणप्रसिद्धधर्मी है। इत्यादि।

(२) विकल्पसिद्धधर्मी– जिसके प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य का निर्णय नहीं हुआ, ऐसे ज्ञान से जहाँ धर्मी की सिद्धि होती है; उसे विकल्पसिद्धधर्मी कहते हैं। जैसे–

(A) 'सर्वज्ञ है; क्योंकि सर्वज्ञ के सद्भाव के बाधक प्रमाणों का अभाव सुनिश्चित है।' (अर्थात् सर्वज्ञ के अस्तित्व को बाधा देनेवाला कोई प्रमाण नहीं है।) यहाँ सर्वज्ञ का सद्भाव सिद्ध करने में 'सर्वज्ञ' यह विकल्पसिद्धधर्मी है। क्योंकि सर्वज्ञ का सद्भाव सिद्ध करने के पहले प्रत्यक्षादिक किसी भी ज्ञान के द्वारा सर्वज्ञ को नहीं जाना है, इसलिये केवल कल्पना से सिद्ध है। इसलिये 'सर्वज्ञ' यह विकल्पसिद्धधर्मी है।

(B) 'खरविषाण (गधे की सींग) नहीं है; क्योंकि उसको सिद्ध करनेवाले ज्ञान का अभाव सुनिश्चित है।' इस अनुमान में 'खरविषाण' यह विकल्पसिद्धधर्मी है। क्योंकि खरविषाण का अभाव सिद्ध करने के पहले कल्पना से खरविषाण सिद्ध है।

'शशविषाण (खरगोश की सींग) नहीं है; क्योंकि उसको सिद्ध करनेवाले प्रमाण का सुनिश्चित अभाव है।' इस अनुमान में 'शशविषाण' यह विकल्पसिद्धधर्मी है। क्योंकि शशविषाण का अभाव सिद्ध करने के पहले कल्पना से शशविषाण सिद्ध है।

(३) प्रमाणविकल्पसिद्धधर्मी– जहाँ प्रमाण और कल्पना इन दोनों से धर्मी का जानना होता है वह प्रमाणविकल्पसिद्धधर्मी है। जैसे– 'शब्द अपरिणामी है, क्योंकि कृतकपना है।' इस अनुमान में 'शब्द' यह प्रमाणविकल्पसिद्धधर्मी है। क्योंकि वर्तमानकालीन शब्द को प्रत्यक्ष ज्ञान से जाना और भूत तथा भविष्यकालीन शब्दों की कल्पना की गयी।

जब विकल्पसिद्धधर्मी होती है, तब (१) सद्भाव/सत्ता और (२) अभाव ये दो प्रकार के ही साध्य होते

हैं, अन्य प्रकार के साध्य नहीं होते हैं; ऐसा नियम है।

लेकिन वैसा नियम प्रमाणसिद्धधर्मी तथा प्रमाणविकल्पसिद्धधर्मी के साध्य के बारे में नहीं है।

संस्कृत पृष्ठ नं. ९०-९१, संस्कृत परिच्छेद नं. ३०→

इसप्रकार परोपदेशरहित स्वयं जाने गये साधन से धर्मिनिष्ठता के साथ साध्य के बारे में जो विज्ञान होता है, वह स्वार्थानुमान है; यह सिद्ध हो गया। ऐसा कहा गया है कि– परोपदेश का अभाव रहने पर भी साधन से साध्य का जो ज्ञान द्रष्टा को होता है, उसको स्वार्थानुमान कहते हैं।

विशेषार्थ– इस तरह दूसरे के उपदेश के बिना स्वयं अपने द्वारा जाने गये साधन से धर्मी के आधेयरूप रहनेवाले साध्य के बारे में जो अपने को ज्ञान होता है, वह स्वार्थानुमान है; यह सिद्ध हो गया। जैसे– दूसरे के उपदेश के बिना रमेश ने 'पर्वत पर धूम है' ऐसा देखा और रमेश ने स्वयं विचार किया कि,– 'पर्वत पर धूम हैं, इसलिये पर्वत पर अग्नि है।' यह स्वार्थानुमान है, परार्थानुमान नहीं है क्योंकि रमेश को किसी दूसरे व्यक्ति ने उपदेश नहीं किया था।

ॐ! भो भव्य जीवो! आप अव्रती हो तो भी मूलभूत वस्तुस्वरूप को जानकर शुद्धात्मानुभव कर, उससे अपने सम्यग्दर्शन का निर्णय कीजिए, अपने सम्यक्-आनंद का निर्णय कीजिए, अपने मोक्षमार्ग का निर्णय कीजिए और अपने मोक्ष का/शाश्वत आनंद का निर्णय कीजिए।

[परार्थानुमान]

संस्कृत पृष्ठ नं. ९०-९१, संस्कृत परिच्छेद नं. ३१→

परोपदेश की अपेक्षा लेकर जो साधन से साध्य का ज्ञान होता है; वह परार्थानुमान है। इसका यह अर्थ है कि– प्रतिज्ञाहेतुरूप परोपदेशवश से श्रोता को साधन से साध्य का जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह परार्थानुमान है। जैसे– 'यह पर्वत अग्निवाला है, ऐसा सिद्ध होने योग्य है; क्योंकि धूमवानपना उसके बिना दिखाई नहीं देता है' ऐसा किसी पर के द्वारा वाक्यप्रयोग/उपदेश/कथन करने पर, उस के अर्थ का विचार करने से स्मृतिव्याप्तिक श्रोता को अनुमान ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

विशेषार्थ– जैसे देवदत्त ने कहा कि, 'इस पर्वत पर धूम (धुआँ) दिखाई देता है, इसलिये इस पर्वत पर अग्नि है।' इसकी अपेक्षा लेकर सुननेवाले रमेश को धूम साधन से अग्नि साध्य का जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह परार्थानुमान है।

अशोक ने कहा कि,– 'यह आम है, इसलिये वृक्ष है।' इस वाक्य को सुननेवाले हिरालाल को आम साधन से वृक्ष/पेड़ साध्य का जो ज्ञान होता है, वह परार्थानुमान है।

शांतिलाल वैद्य ने कहा कि, 'यह जानता है, इसलिये इस पैदा हुए देह में जीव है।' इस वाक्य को सुननेवाले त्रिशला को परार्थानुमान हो गया कि– 'जाननेवाली क्रिया इसमें होती है, इसलिये इस देह में जीव है ।'

साधू ने कहा कि,– 'इस अग्नि में वर्णगुण है, इसलिये इस अग्नि में रसगुण है।' इस वाक्य को सुनकर श्रोता को वर्णगुण साधन से अग्नि के रसगुण साध्य का जो ज्ञान हो गया, वह परार्थानुमान है।

अजित ने कहा कि,– 'इस वायु में स्पर्शगुण है, इसलिये इस वायु में रसगंधवर्णगुण है।' इस वाक्य को सुनकर रतिलाल को स्पर्शगुण साधन से रसगंधवर्ण साध्य का जो ज्ञान हो गया, वह परार्थानुमान है।

जहाँ परिणमन/पर्याय है, वहाँ ध्रुवद्रव्य है और जहाँ ध्रुवद्रव्य है, वहाँ पर्याय है। साधु ने कहा कि,– 'उस चींटी में जानने की क्रिया होती है, इसलिये चींटी में ध्रुवशुद्धात्मा है।' इस वाक्य को सुनकर अव्रती गृहस्थ

रमणलाल को– 'उस चींटी में जानने की क्रिया होती है, इसलिये चींटी में ध्रुवशुद्धात्मा है,' यह परार्थानुमान हो गया।

जहाँ परिणमन/पर्याय है, वहाँ ध्रुवशुद्धपरिणामिकभाव है। साधु ने कहा कि,– 'इस अव्रती रमणलाल में क्रोधपर्याय है, इसलिये अव्रती रमणलाल में ध्रुवशुद्धात्मा है।' इस वाक्य को सुनकर अव्रती गृहस्थ रमणलाल को 'अपने में अशुद्धपर्याय (क्रोधपर्याय) है, इसलिये मेरे में ध्रुवशुद्धात्मा है' यह परार्थानुमान हो गया।

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञान के धारक श्री गणधराचार्यजी ने कहा कि,– 'इस अव्रती पवनलाल ने शुद्धात्मानुभव किया है, इसलिये इस अव्रती पवनलाल को सम्यग्दर्शन है।' इस उपदेश को सुनकर अव्रती पवनलाल को 'मैंने शुद्धात्मानुभव किया है, इसलिये मुझे सम्यग्दर्शन है' यह अनुमान हो गया। पवनलाल को जो अनुमान ज्ञानपर्याय उत्पन्न हो गयी, वह परार्थानुमान है।

मतिश्रुतावधिमनःपर्ययज्ञान के धारक श्री गणधराचार्यजी ने आगे कहा कि,– "इस अव्रती पवनलाल को शुद्धात्मानुभव है, क्योंकि इस पवनलाल को एकत्वविभक्तनिजध्रुवशुद्धात्मा के संबंधी प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान के 'ज्ञानावरण द्रव्यकर्म का क्षयोपशम हो गया है' यह हम विकलपारमार्थिकप्रत्यक्षज्ञान से [अवधिज्ञान से] जानते हैं। क्योंकि द्रव्यकर्म पुद्गल होने से अवधिज्ञान का विषय है।"

श्री जयसेनाचार्यजी कहते हैं कि,–

[समयसार आत्मख्याति गाथा नं. १७७-१७८ की तात्पर्यवृत्ति]

संस्कृत	हिंदी	
"**रागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेः न भवन्ति;** [पक्ष/प्रतिज्ञा]	'सम्यग्दृष्टि [चतुर्थादि गुणस्थानवर्ती] को रागद्वेषमोह नहीं हैं [अर्थात् सम्यग्दृष्टि (चतुर्थादि गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि) वीतरागी है];	यह पक्ष यानी प्रतिज्ञा है। और
सम्यग्दृष्टित्वान्यथानुपपत्तेः इति हेतुः।"	क्योंकि सम्यग्दृष्टित्व है, यह अन्यथानुपपत्तिलक्षणवाला हेतु है।'	यह हेतु है।

इस अनुमान वाक्य (श्री आचार्य जयसेन द्वारा दिये हुए प्रतिज्ञा-हेतुरूप उपदेश) को जानकर आपको साधन/हेतु [अर्थात् चतुर्थ गुणस्थानवर्ती में सम्यग्दर्शन है इस हेतु/साधन] से साध्य [चतुर्थ गुणस्थानवर्ती में 'रागद्वेषमोह नहीं हैं', इस साध्य] का जो अनुमान ज्ञान उत्पन्न होता है, यह परार्थानुमान है।

अर्थात् 'प्रथमोपशम सम्यक्त्वी को चतुर्थ गुणस्थान में प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन है, इसलिये प्रथमोपशम सम्यक्त्वी चतुर्थ गुणस्थानवर्ती में वीतरागता है' जो यह अनुमान ज्ञान आप को हो गया, वह परार्थानुमान है, क्योंकि आपने श्री आचार्य जयसेन के उपदेश से जाना है।

'क्षयोपशम सम्यक्त्वी को चतुर्थ गुणस्थान में क्षयोपशम सम्यग्दर्शन है, इसलिये क्षयोपशम सम्यक्त्वी चतुर्थ गुणस्थानवर्ती में वीतरागता है' जो यह अनुमान ज्ञान आप को हो गया, वह परार्थानुमान है, क्योंकि आपको श्री जयसेनाचार्यजी के उपदेश से ज्ञात हो गया।

'क्षायिक सम्यक्त्वी को चतुर्थ गुणस्थान में क्षायिक सम्यग्दर्शन है, इसलिये क्षायिक सम्यक्त्वी को चतुर्थ गुणस्थान में वीतरागता है' जो यह अनुमान ज्ञान आप को हो गया, वह परार्थानुमान है, क्योंकि आप को श्री जयसेनाचार्यजी के उपदेश से ज्ञात हो गया।

देखिये **समयसार 'रागो दोसो मोहो य'** इत्यादि [आत्मख्याति गाथा नं. १७७-१७८] गाथाओं की श्री जयसेनाचार्यरचित तात्पर्यवृत्ति [अध्यात्मयोगी प.पू. श्री. १०८ वीरसागरजी महाराजजी द्वारा किया गया 'समयसार' का भावानुवाद।]

[पृष्ठ नं. १९२-१९३] →

संस्कृत	हिन्दी		
तथाहि– अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदयजनिताः रागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेः न सन्ति इति पक्षः।	सम्यग्दृष्टि को अनंतानुबन्धिक्रोधमानमायलोभमिथ्यात्वोदयजनित रागद्वेषमोह नहीं है (अर्थात् चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव वीतरागी है)।		यह पक्ष यानी प्रतिज्ञा है।
कस्मात्? इति चेत्,	क्योंकि		
केवलज्ञानाद्यनंतगुणसहितपरमात्मोपादेयत्वे सति	अध्यात्मभाषा से केवलज्ञानादि अनंतगुणसहित यानी निजध्रुवशुद्ध	आगमभाषा से	
वीतरागसर्वज्ञप्रणीतषट्द्रव्यपंचास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थरुचिरूपस्य मूढत्रयादिपंचविंशतिदोषरहितस्य- ''संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरुहा य उवसमो भत्ती। वच्छल्लं अनुकंपा गुणट्ठ सम्मत्तजुत्तस्स॥'' इति गाथाकथितलक्षणस्य चतुर्थगुणस्थानवर्तिसरागसम्यक्त्वस्य अन्यथानुपपत्तेः इति हेतुः।	परमपारिणामिकभाववाले आत्मा का शुद्धात्मानुभव चतुर्थ गुणस्थानवर्ती को है, उस समय (वह) हेतु है।	वीतरागसर्वज्ञ कथित ६ द्रव्य, ५ अस्तिकाय, ७ तत्त्व, ९ पदार्थ की रुचिरूप और मूढत्रयादि पच्चीस दोषरहित और संवेग, निर्वेद, निंदा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य, अनुकम्पा इन आठ गुणों से सहित चतुर्थ गुणस्थानवर्ती को सम्यक्त्व है।	यह हेतु है।

श्री जयसेनाचार्यजी कहते हैं कि →

संस्कृत	हिन्दी	
[समयसार- 'परमाणुमित्तयंपि हु' इत्यादि गाथाओं की टीका (आत्मख्याति गाथा नं. २०१-२०२)] "किंच-रागी सम्यग्दृष्टि: न भवति इति भणितं भवद्भि:। तर्हि चतुर्थपंचमगुणस्थानवर्तिन: तीर्थंकरकुमारभरतसगररामपांडवादय: सम्यग्दृष्टय: न भवन्ति ? इति तत् न,	शंका–रागी जीव सम्यग्दृष्टि (शुद्धात्मानुभववाले) नहीं होते हैं। यदि ऐसा कहते हो तो चतुर्थ-पंचम– गुणस्थानवर्ती तीर्थंकर, भरत, सगर, राम और पांडव कुमार अवस्था में सम्यग्दृष्टि (शुद्धात्मानुभववाले) नहीं होते हैं ?	
	समाधान– आप कहते हैं, ऐसा नहीं है यानी चतुर्थ-पंचम-गुणस्थानवर्ती जीव सम्यग्दृष्टि (शुद्धात्मानुभववाले) हैं;	यह पक्ष यानी प्रतिज्ञा है।
मिथ्यादृष्टयपेक्षया त्रिचत्वारिंशत्-प्रकृतीनां बंधाभावात् सरागसम्यग्दृष्टय: भवन्ति। कथं इति चेत्,	क्योंकि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षासे ४३ प्रकृतियों के बंध का अभाव होने से सराग सम्यग्दृष्टि हैं।	यह हेतु है और
चतुर्थगुणस्थानवर्तिनां जीवानां अनंतानुबन्धिक्रोधमानमायालोभ-मिथ्यात्वोदयजनितानां पाषाणरेखादि-समानानां रागादीनां अभावात्।"	चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव सम्यग्दृष्टि हैं; क्योंकि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीवों को अनंतानुबंधिक्रोधमानमायालोभ-मिथ्यात्वोदयजनित पाषाणरेखादि के समान रागादि का अभाव है।	यह पक्ष यानी प्रतिज्ञा है यह हेतु है।

[चतुर्थ गुणस्थान में आगे की ४३ प्रकृतियों का संवर (बंध का अभाव) है – (१) मिथ्यात्व, (२) हुंडकसंस्थान, (३) नपुंसकवेद, (४) असंप्राप्तासृपाटिका संहनन, (५) एकेन्द्रिय, (६) स्थावर, (७) आतप, (८) सूक्ष्म, (९) अपर्याप्त, (१०) साधारण, (११) द्वीन्द्रिय, (१२) त्रीन्द्रिय, (१३) चतुरिन्द्रिय, (१४) नरकगति, (१५) नरकगत्यानुपूर्वी, (१६) नरकायु, (१७) अनंतानुबंधी क्रोध, (१८) अनंतानुबंधी मान, (१९) अनंतानुबंधी माया, (२०) अनंतानुबंधी लोभ, (२१) स्त्यानगृद्धि, (२२) निद्रानिद्रा, (२३) प्रचलाप्रचला, (२४) दुर्भग (२५) दुःस्वर, (२६) अनादेय, (२७) न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान, (२८) स्वातिसंस्थान, (२९) कुब्जकसंस्थान, (३०) वामनसंस्थान, (३१) वज्रनाराचसंहनन, (३२) नाराचसंहनन, (३३) अर्धनाराचसंहनन, (३४) कीलितसंहनन, (३५) अप्रशस्तविहायोगति, (३६) स्त्रीवेद, (३७) नीचगोत्र, (३८) तिर्यंचगति, (३९) तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, (४०) उद्योत, (४१) तिर्यंच आयु, (४२) आहारक और (४३) आहारकमिश्र इन ४३ प्रकृतियों के बंध का अभाव चतुर्थ गुणस्थान में है।]

इस अनुमान वाक्य (श्री आचार्य जयसेन द्वारा दिये हुए प्रतिज्ञा-हेतुरूप उपदेश) को जानकर आपको साधन/हेतु [अर्थात् चतुर्थ गुणस्थानवर्ती में अनंतानुबंधी क्रोधमानमायालोभमिथ्यात्व के उदय में होनेवाले रागद्वेषमोह का

अभाव है, इस हेतु] से साध्य [चतुर्थ गुण...वर्ती में सम्यग्दर्शन है, इस साध्य] का जो अनुमान ज्ञान उत्पन्न होता है, वह परार्थानुमान है।

श्री जयसेनाचार्यजी कहते हैं कि →

संस्कृत	हिन्दी	
[सम ार 'सव्वे पुव्वणिबद्धा' इत्यादि गा की टीका → (आत्मख्याति गाथा नं. १७३ से १७६)]		
" ...सम्यग्दृष्टि: अबंधक: भणित: इति।	...सम्यग्दृष्टि अबन्धक है, ऐसा कहा गया है।	
किंच विस्तर:, मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया चतुर्थगुणस्थाने सरागसम्यग्दृष्टि:	इसका विस्तार यह है कि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अव्रती सम्यग्दृष्टि अबंधक हैं;	यह पक्ष यानी प्रतिज्ञा है।
त्रिचत्वारिंशत् प्रकृतीनां अबंधक:।	क्योंकि आगमभाषा से मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से ४३ प्रकृतियों का अबंधक है और	यह हेतु है,
...निश्चयेन तु वीतरागस्वसंवेदनलक्षणं च इति।..."	अध्यात्मभाषा से/निश्चयनय से वीतरागस्वसंवेदन चतुर्थ गुणस्थान में है। इत्यादि।	यह हेतु है।

इस अनुमान वाक्य (श्री आचार्य जयसेन द्वारा दिये हुए प्रतिज्ञाहेतुरूप उपदेश) को जानकर आपको साधन/हेतु [चतुर्थ गुणस्थान में मिथ्यात्वादि ४३ प्रकृतियों के बंध का अभाव है इस हेतु] से साध्य [चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अबंधक है, इस साध्य] का जो अनुमान ज्ञान उत्पन्न होता है, वह परार्थानुमान है।

श्री जयसेनाचार्यजी कहते हैं कि →

संस्कृत	हिन्दी	
[समयसार 'उवभोगमिंदियेहिं' इत्यादि गाथा की टीका (आत्मख्याति गाथा नं. १९३)]		
" .... य: तु चतुर्थगुणस्थानवर्ती सरागसम्यग्दृष्टि: तस्य गौणवृत्त्या ग्रहणं, ...कथं इति चेत् ?	जो चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अव्रती सम्यग्दृष्टि है, उसकी गौणता यानी जघन्यता अर्थात् अल्पता से ग्रहण करना,	यह पक्ष यानी प्रतिज्ञा है।
मिथ्यादृष्टे: सकाशात् असंयतसम्यग्दृष्टे: अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभ-मिथ्यात्वोदयजनिता:.... रागादय: न सन्ति ।	क्योंकि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षासे असंयत सम्यग्दृष्टि को अनंतानुबंधिक्रोधमानमाया-लोभमिथ्यात्वोदयजनित रागादि नहीं हैं ।	यह हेतु है
किंच सम्यग्दृष्टे: संवरपूर्विका निर्जरा भवति, मिथ्यादृष्टे: तु गजस्नानवत् बंधपूर्विका भवति, तेन कारणेन मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया सम्यग्दृष्टि: अबंधक: इति।"	इसलिये अव्रती सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती को संवरपूर्वक निर्जरा है, लेकिन मिथ्यादृष्टि की गजस्नान (हाथी के स्नान के) समान बंधपूर्वक निर्जरा है, इसलिए मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से अव्रती सम्यक्त्वी अबंधक है ।	

इस अनुमान वाक्य (श्री आचार्य जयसेन द्वारा दिये हुए प्रतिज्ञा-हेतुरूप उपदेश) को जानकर आपको साधन/हेतु से साध्य का जो अनुमान ज्ञान उत्पन्न होता है, वह परार्थानुमान है।

श्री कुंदकुंदाचार्यजी कहते हैं कि →

प्राकृत	हिन्दी	
[नियमसार गाथा नं. ५३] **"सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा।" अंतरहेऊ भणिदा**	(१) जिनसूत्र और (२) उसको जाननेवाले पुरुषों के अंतरंग अभिप्राय इन दोनों को सम्यक्त्व के निमित्त है, ऐसा कहा गया है [जैसे (१) जिनसूत्र और (२) दो चारण ऋद्धिधारी मुनियों के अंतरंग अभिप्राय ये सिंह को प्राप्त हो गये सम्यग्दर्शन के निमित्त है, ऐसा कहा गया है]	यह पक्ष यानी प्रतिज्ञा है।
दंसणमोहस्स खयपहुदी ॥५३॥	क्योंकि दर्शनमोह के उपशम/क्षयोपशम/क्षय प्रभृति हैं। [क्योंकि सिंह को प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन हो गया। बाद में क्षयोपशम सम्यग्दर्शन हो गया ।]	यह हेतु है।

इस अनुमान वाक्य (श्री आचार्य कुंदकुंद द्वारा दिये हुए प्रतिज्ञा-हेतुरूप उपदेश) को जानकर आपको साधन/हेतु [दर्शनमोह का उपशम अथवा क्षयोपशम अथवा क्षय है, इस हेतु] से साध्य [(१) जिनसूत्र और (२) उस को जाननेवाले पुरुषों के अंतरंग अभिप्राय इन दोनों को सम्यक्त्व के निमित्त हैं, इस साध्य] का जो अनुमान ज्ञान उत्पन्न होता है, वह परार्थानुमान है ।

श्री पद्मप्रभमलधारिदेवजी कहते हैं कि →

संस्कृत	हिन्दी	
[नियमसार गाथा नं. ५३ की टीका] "अस्य सम्यक्त्वपरिणामस्य बाह्यसहकारिकारणं वीतरागसर्वज्ञमुख-कमलविनिर्गतसमस्तवस्तुप्रतिपादन-समर्थद्रव्यश्रुतमेव तत्त्वज्ञानं इति । ये मुमुक्षवः तेऽपि उपचारतः पदार्थनिर्णयहेतुत्वात् अंतरंगहेतवः इति उक्ताः;	इस सम्यक्त्वपरिणाम के एक बाह्य सहकारि-कारण वीतरागसर्वज्ञमुखकमलविनिर्गत-समस्तवस्तुप्रतिपादनसमर्थ द्रव्यश्रुत ही तत्त्वज्ञान है और दूसरा बाह्य सहकारिकारण जो मुमुक्षु हैं वे भी उपचार से पदार्थनिर्णयहेतुपना से उन सम्यग्ज्ञानी मुमुक्षुओं के अंतरंग अभिप्राय है। ऐसा कहा गया है [जैसे- (१) जिनसूत्र और (२) दो चारणऋद्धिधारी मुनियों के अंतरंग अभिप्राय सिंह को प्राप्त हो गये सम्यग्दर्शन के ये बाह्य निमित्तकारण हैं, ऐसा कहा गया है]।	यह पक्ष यानी प्रतिज्ञा है ।
दर्शनमोहनीयकर्मक्षयप्रभृतेः सकाशात् इति।"	क्योंकि दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम/क्षयोपशम/क्षय प्रभृति हैं [क्योंकि सिंह को प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन हो गया, बाद में क्षयोपशम सम्यग्दर्शन हो गया] ।	यह हेतु है।

इस अनुमान वाक्य (श्री पद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा दिये हुए प्रतिज्ञा-हेतुरूप उपदेश) को जानकर आपको साधन/हेतु [दर्शनमोह का उपशम अथवा क्षयोपशम अथवा क्षय है, इस हेतु] से साध्य [(१) जिनसूत्र और (२) उस जाननेवाले पुरुषों के अंतरंग अभिप्राय इन दोनों को सम्यक्त्व का निमित्त कहा हैं, इस साध्य] का जो अनुमान ज्ञान उत्पन्न होता है, वह परार्थानुमान है।

शंका – परार्थानुमान का जीवन में क्या लाभ है?

समाधान – (१) व्याधि/बीमारी का निर्णय करने में और वैद्यकीय शास्त्र पढ़ाने में उपयोगी है।

(२) कब बरसात होगी, वह निर्णय करने के लिये उपयोगी है।

(३) गर्भ में पुत्र है अथवा कन्या है, इसका निर्णय करने के लिये उपयोगी है।

(४) खेती का शास्त्र पढ़ाने में उपयोगी है।

(५) यंत्र/मशिनरी के शास्त्र पढ़ाने में उपयोगी है।

(६) रासायनिक/केमिकल शास्त्र पढ़ाने में उपयोगी है।

(७) जलपर्यटन/जलजहाज का शास्त्र पढ़ाने में उपयोगी है।

(८) भोजनादि पकाना आदि का शास्त्र पढ़ाने में उपयोगी है।

(९) हवाई जहाज/विमान शास्त्र पढ़ाने में उपयोगी है।

(१०) अनेक प्रकार के लौकिक शास्त्र के लिये उपयोगी है।

(११) सम्यक्-आनंद का निर्णय कराने के लिये उपयोगी है।

(१२) सम्यक्-भोग्य विषय का निर्णय कराने के लिये उपयोगी है।

(१३) सम्यक् भोग लेने के सम्यक्-साधन का निर्णय कराने के लिये उपयोगी है।

(१४) सम्यग्दर्शन का निर्णय कराने के लिये उपयोगी है।

(१५) सम्यक् मोक्षमार्ग का निर्णय कराने के लिये उपयोगी है।

(१६) सम्यक् मोक्ष का निर्णय कराने के लिये उपयोगी है।

(१७) क्षयोपशम सम्यग्दर्शन के सद्भाव में सविकल्प अवस्था में सम्यक्प्रकृति का उदय रहता है, इसलिये कभी-कभी दूसरे को सम्यग्दर्शन के बारे में शंका, कांक्षा के विकल्प अथवा विचार-तरंग उत्पन्न होते हैं तब परार्थानुमान के द्वारा दूसरे के शंका, कांक्षा का समाधान किया जाता है।

(१८) दूसरे का स्थितिकरण करने/कराने के लिये परार्थानुमान उपयोगी होता है।

(१९) सल्लेखना के समय दूसरों को समझाने के लिये निर्यापक आचार्य अनुमान का उपयोग करते/कराते है।

(२०) इत्यादि।

शंका – यहाँ इस नगर में कोई केवलज्ञानी/सर्वज्ञ, अथवा मनःपर्ययज्ञानी अथवा सम्यक् अवधिज्ञानी नहीं है, इसलिये दूसरे के शुद्धात्मानुभव पर्याय को हम अर्थात् सम्यक् मतिश्रुतज्ञानी नहीं जानते, तब हम दूसरे का स्थितिकरण कैसे कर सकते हैं?

समाधान – जिसका स्थितिकरण करना है, उस जीव से (रमेश से) आप (दिनकर) पूछो कि, –

(१) भो! (रमेश!) आप ६ द्रव्य के नाम और लक्षण जानते हो या नहीं जानते हो?

(२) भो! (रमेश!) यदि आप ६ द्रव्य के (a) सामान्यगुण (b) विशेषगुण और (c) उनकी पर्यायों को जानते हो तो उसमें से जीवद्रव्य को अलग करके विचार में (ज्ञान में/जानने में) ले लीजिए।

(३) भो! (रमेश!) अब उन अनंत जीवों में से अपने असंख्यात प्रदेशवाले अस्तित्वज्ञानादि गुणवाले जीव को जानने में [ज्ञान में/विचार में] ले लीजिए।

(४) भो! (रमेश!) अब उस अपने अनंतगुणों के पिण्ड को जानने में [ज्ञान/विचार में] ले लीजिए।

(५) भो! (रमेश!) अब इस अपने एकत्वविभक्त निजध्रुवात्मा को आपने जाना तो पर्यायें और परद्रव्यें गौण (तिरोभूत) हो गयी।

(६) भो! (रमेश!) आप पर्यायरूप से जानते हो तो गुणों को और द्रव्य को गौण किया।

(७) भो! (रमेश!) आप ७ तत्त्व, ९ पदार्थ, निश्चयनय, व्यवहारनय, उपादान, निमित्त, अनेकांत, स्याद्वाद इत्यादि मूलभूत वस्तुस्वरूप जानते हो क्या?

(८) भो! (रमेश!) आपके ध्रुवशुद्धचिदानंदात्मा के बारे में आपको संशय, विपरीत, अनध्यवसाय, अज्ञान है क्या?

(९) भो! (रमेश!) आपके ध्रुवचिदानंदात्मा के बारे में आपको संशय, विपरीत, अनध्यवसाय, अज्ञान नहीं तो फिर विषय के बारे में भूल नहीं। अब निजध्रुवशुद्धचिदानंदात्मा को जानने के परोक्ष ज्ञानसाधन और प्रत्यक्ष ज्ञानसाधन के लक्षण मालूम है क्या?

(१०) भो! (रमेश!) आपको परोक्ष ज्ञानसाधन और प्रत्यक्ष ज्ञानसाधन के योग्य लक्षण मालूम है तो उन प्रकारों से जानकर प्रयोग कीजिए।

(११) भो! (रमेश!) आपने निजध्रुवशुद्धचिदानंदात्मा को परोक्ष ज्ञान से और प्रत्यक्ष ज्ञान से जाना है। तो फिर अब अपने ध्रुवशुद्धात्मा को प्रत्यक्ष ज्ञान से जानो। आपको विषय के बारे में और प्रत्यक्ष ज्ञानसाधन के बारे में योग्य जानकारी है। अभी निजध्रुवशुद्धात्मा को प्रत्यक्ष ज्ञान से जानो।

(१२) भो! (रमेश!) अभी आपने अपने ध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से जाना है तो उस समय कौनसी चिंता अथवा आकुलता हो गयी?

(१३) भो! (रमेश!) अभी आपने अपने ध्रुवशुद्धचिदानंदात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से जाना, तब उस समय कुछ भी चिंता अथवा आकुलता नहीं थी, इसलिये आप बुद्धिपूर्वक सम्यक् आनंदी थे अर्थात् सम्यक् फल प्राप्त हो गया। फिर से अभी निजध्रुवशुद्धात्मा को प्रत्यक्ष ज्ञान से जानो।

(१४) भो! (अव्रती रमेश!) अभी आपने अपने ध्रुवशुद्धात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से जाना, तब निजध्रुवशुद्धात्मा को छोड़कर अन्य किसी के बारे में निंदादिरूप अशुभभाव अथवा स्तवनादिरूप शुभभाव किये क्या?

(१५) भो! (अव्रती रमेश!) अभी आपने अपने ध्रुवशुद्धात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से जाना, तब अशुभ अथवा शुभ परिणाम नहीं किये, इसलिये शुद्धोपयोग किया।

देखिए प्रवचनसार गाथा नं. १८१–

'सुहपरिणामो पुण्णं' इत्यादि की श्री जयसेनाचार्यरचित तात्पर्यवृत्ति–

संस्कृत	हिन्दी
"अथ द्रव्यरूपपुण्यपापबंधकारणत्वात् शुभाशुभपरिणामयोः पुण्यपापसंज्ञां शुभाशुभरहितशुद्धोपयोगपरिणामस्य मोक्षकारणत्वं च कथयति–	द्रव्यरूपपुण्यपापबंधकारणपना होने से शुभाशुभ परिणामों की पुण्यपाप संज्ञा है और शुभाशुभरहित शुद्धोपयोगपरिणाम को मोक्षकारणपना है। [अर्थात् शुभाशुभ को मोक्षकारणपना नहीं है] ऐसा कहते हैं। [मोक्षकारणत्व यानी मोक्षमार्ग]
द्रव्यपुण्यबन्धकारणत्वात् शुभपरिणामः पुण्यं भण्यते।	द्रव्यपुण्यबन्धकारणपना से शुभपरिणाम पुण्य कहा जाता है।
द्रव्यपापबन्धकारणत्वात् अशुभपरिणामः पापं भण्यते।	द्रव्यपापबन्धकारणपना से अशुभपरिणाम पाप कहा जाता है।
केषु विषयेषु यः असौ शुभाशुभपरिणामः ?	**शंका**–जो यह शुभपरिणाम और जो यह अशुभपरिणाम है वे कौनसे विषय के बारे में विचार करने से होते हैं?
निजशुद्धात्मनः सकाशात् अन्येषु शुभाशुभबहिर्द्रव्येषु।	**समाधान**–निजध्रुवशुद्धात्मा को छोड़कर शुभाशुभ परद्रव्यों के बारे में विचार करने से वे शुभ-अशुभ परिणाम होते हैं।
परिणामः न अन्यगतः अनन्यगतः स्वस्वरूपस्थः इत्यर्थः।	जो अन्यगत (अन्य का विचार करता) नहीं है, वह अनन्यगत परिणाम है अर्थात् स्वस्वरूपस्थ यानी निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनात्मा का विचार है। निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनात्मा को प्रामाण्यसहित-प्रत्यक्ष ज्ञान से जानना ही शुद्धोपयोगलक्षणवाला परिणाम है।
सः इत्थंभूतः शुद्धोपयोगलक्षणः परिणामः दुःखक्षयकारणं दुःखक्षयाभिधानमोक्षस्य कारणं भणितः।"	निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा को प्रामाण्यसहित-प्रत्यक्ष ज्ञान से जानना ही दुःख के नाश/व्यय का कारण है अर्थात् दुःखक्षय नामक मोक्ष यानी सम्यक्-आनंद का कारण/साधन/ मार्ग है। ऐसा कहा गया है।

(१६) भो! (अव्रती रमेश!) जब आपने अपने ध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से जाना, तब आपने अन्य किस वस्तु के बारे में बुद्धिपूर्वक आसक्ति (मोह) और राग अथवा द्वेष किया था क्या?

(१७) भो! (अव्रती रमेश!) आप कहते हैं कि,– 'स्वध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से जाना तब उसी समय सम्यक्-आनंद मिल रहा था, इसलिये पर के बारे में आसक्ति/इच्छा नहीं थी और पर के बारे में राग (अनुराग/प्रेम) नहीं था और पर के बारे में द्वेष नहीं था, अर्थात् धन अथवा शरीर अथवा नामवारी के बारे में आसक्ति/इच्छा और राग अथवा द्वेष होता है वैसा परिणाम नहीं था।' इस आपके कथन से यह सिद्ध होता है कि, 'जब आप स्वध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से जान रहे थे तब बुद्धिपूर्वक मोहरागद्वेष नहीं थे अर्थात् बुद्धिपूर्वक सम परिणाम था अर्थात् बुद्धिपूर्वक वीतराग परिणाम था।

देखिए समयसार गाथा नंबर १८६ –

"सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धमेवप्पयं लहदि जीवो।"

अर्थ – निजध्रुवशुद्धात्मा को जानने से जीव शुद्ध ही आत्मा को प्राप्त करता है।

देखिये परीक्षामुखसूत्र ग्रन्थ-अध्याय ५ वाँ, सूत्र नंबर १ –

"अज्ञाननिवृत्तिः... ... उपेक्षाः च फलम्।"

भावार्थ – निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा के बारे में अज्ञान नाश होता है अर्थात् निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उसी समय उपेक्षा अर्थात् सम परिणामरूप फल होता है।

देखिए नियमसार गाथा नं. १०२ –

"एगो मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।"

अर्थ – मेरा आत्मा एक शाश्वत ज्ञानदर्शनलक्षणवाला है।

यही कथन सामायिक पाठ में भी है।

इसलिये भो! (अव्रती रमेश!) आप निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष जानते थे तब बुद्धिपूर्वक सम परिणाम था।

(१८) भो! (अव्रती रमेश!) वस्तु का जो त्रैकालिक (त्रिकालवर्ती रहनेवाला) स्वभाव है, वह धर्म है [वत्थुसहावो धम्मो]। इसलिये स्वध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा ही आपका त्रिकालवर्ती (त्रैकालिक) स्वभाव अर्थात् धर्म है। जब आपने अपने ध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से जाना यानी प्रकाशन किया अर्थात् स्वसमयप्रवृत्ति हो गयी अर्थात् निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा [स्वरूप] में चरण हो गया अर्थात् आपका सम परिणाम हो गया। [स्वरूपे चरणं चारित्रम्।] वह सम परिणाम/पर्याय ही पर्यायार्थिकनय से धर्म है। भो अव्रती रमेश! आपकी पर्याय में दर्शनमोह नहीं है अर्थात् सम्यग्दर्शन है और अनंतानुबंधिमिथ्यात्वोदयजनितरागद्वेष नहीं है अर्थात् वीतरागचारित्र है। देखिये प्रवचनसार - गाथा नं. ७ –

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो॥७॥

अर्थ – 'चारित्र वास्तव में धर्म है, जो धर्म है वह सम परिणाम है और आत्मा का मोहक्षोभरहित परिणाम ही सम परिणाम है' ऐसा निर्देश किया गया है।

[चारित्र = धर्म
धर्म = सम
सम = मोहरागद्वेषरहित आत्मा का परिणाम
सम = चारित्र (चारित्र आत्मा का परिणाम है)।
∴ चारित्र = धर्म = सम]

(१९) भो! (अव्रती रमेश!) वस्तु का जो त्रिकालवर्ती रहनेवाला स्वभाव है, वह उसका शाश्वत धर्म है। आप जीववस्तु हैं। आपका ध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा आपका स्वभाव है, वह ध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा आपका शाश्वत धर्म है। जब आपने अपने ध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से जाना, उसी समय आपकी सम्यक्-आनंद परिणति/पर्याय थी, वह परिणाम पर्यायार्थिकनय से क्षणिक धर्म है। वह सम्यक्-आनंद परिणाम ही सम्यक्-आनंदी जीना/जीवन है।

देखिए प्रवचनसार गाथा नं. ८-

....।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो ॥८॥

भावार्थ- ....अपने ध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से जानना धर्मपरिणाम है।

देखिए धवल-पुस्तक नंबर १, सूत्र नंबर ११५ की टीका में श्री वीरसेनाचार्यजी लिखते हैं कि-
"किं तद् ज्ञानकार्यं इति चेत्, तत्त्वार्थे रुचिः प्रत्ययः श्रद्धा चारित्रस्पर्शनं च।"

अर्थ-प्रश्न- उस ज्ञान का क्या कार्य है?

उत्तर-'तत्त्वार्थ में रुचि, प्रत्यय, श्रद्धा और चारित्र का धारण करना' यह ज्ञान का कार्य है।

यह सुनकर वह जीव (रमेश नामक अव्रती जीव) यह विचार करता है कि, 'मैंने निजध्रुवशुद्धात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से जाना है यानी शुद्धात्मानुभव है अर्थात् निर्विकल्पज्ञान है, इसलिये मुझे सम्यग्दर्शन है, इसलिये मैं मोक्षमार्गस्थ हूँ ही'।'

संस्कृत पृष्ठ नं. ९१, संस्कृत परिच्छेद नं. ३२ →

शंका (नैयायिकादि) - परोपदेशवाक्य ही परार्थानुमान है।
समाधान (जैन) - उन शंकाकारों से इसतरह प्रश्न पूछने योग्य है कि,-

(१) क्या वह वाक्य मुख्य अनुमान है? अथवा
(२) क्या वह वाक्य गौण अनुमान है?
(१) वह वाक्य तो मुख्य अनुमान नहीं है, क्योंकि वाक्य अज्ञानरूप (अचेतन) है।
(२) यदि यह वाक्य गौण अनुमान है तो यह हम को मान्य है; क्योंकि वह वाक्य परार्थानुमान ज्ञान के लिये निमित्तमात्र है, इसलिये परार्थानुमानवाक्य पर परार्थानुमान का व्यपदेश हो सकता है। जैसे- 'घी आयु है' ऐसा व्यपदेश होता है [उपचारनय से वाक्य पर 'परार्थानुमान' ऐसा व्यपदेश किया जाता है]।

विशेषार्थ-शंका-"देवदत्त ने कहा कि- 'इस पर्वत पर धूम (धुआँ) दिखाई देता है, इसलिये इस पर्वत पर अग्नि है।' इस वचन की अपेक्षा लेकर सुननेवाले रमेश को धूम साधन से अग्नि साध्य का जो ज्ञान

उत्पन्न होता है, वह परार्थानुमान है।'' ऐसा ठीक नहीं है। लेकिन देवदत्त ने जो वाक्य कथन किया, वह वाक्य ही परार्थानुमान है। अर्थात् 'इस पर्वत पर धूम (धुआँ) दिखाई देता है, इसलिये इस पर्वत पर अग्नि है' यह वाक्य ही परार्थानुमान है। ऐसा मानेंगे तो क्या होगा ?

समाधान–रमेश से देवदत्त पर (भिन्न) है। देवदत्त के द्वारा जो कथन किया वह परोपदेश है।

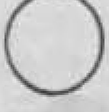
देवदत्त ने कहा कि, → 'इस पर्वत पर धूम दिखाई देता है, इसलिये पर्वत पर अग्नि है'।	यह कथन असद्भूत व्यवहारनय से है; क्योंकि देवदत्त जीव है वह चेतन जीव कर्ता और वह अचेतन भाषावर्गणारूप वाक्य कर्म है।

वाक्य

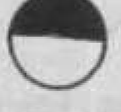
'इस पर्वत पर धूम दिखाई देता है, इसलिये पर्वत पर अग्नि है'।	← यह वाक्यपर्याय अचेतन पुद्गलद्रव्य की पर्याय है। ← यह वाक्यपर्याय चेतन जीवद्रव्य की पर्याय नहीं। ← यह वाक्य अचेतन है अर्थात् ज्ञानरहित है, इसलिये यह वाक्य अनुमान नहीं, क्योंकि 'अनुमान' यह ज्ञानपर्याय है।

इसलिये अचेतन वाक्यपर्याय पर अनुमान ज्ञानपर्याय का आरोप/उपचार करने से परोपदेशवाक्य गौणरूप से अर्थात् उपचाररूप से अनुमान है। वह परोपदेशवाक्य मुख्य अनुमान नहीं अर्थात् परोपदेशवाक्य अनुमानरूप ज्ञानपर्याय नहीं।

जैसे 'घी (घृत) आयु है' ऐसा कथन किया जाता है। वहाँ घी आयु नहीं है तो भी घी पर उपचारनय से 'आयु है' ऐसा उपचार किया जाता है। वैसे परोपदेश अनुमान वचन पर उपचारनय से 'परार्थानुमान' ऐसा उपचार कथन किया जाता है।



जब देवदत्त ने अनुमान से स्वयं ऐसा जाना कि 'इस पर्वत पर धूम है, इसलिये पर्वत पर अग्नि है।' तब देवदत्त ने (आ १) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञानसाधन से जाना। [देखो चार्ट नं. ७ और चार्ट नं. २०]



और जब देवदत्त ने (ब) विकलादेशी नयज्ञान साधन से जाना वह अनुमान-नयज्ञान है। उसी क्षण/काल में कण्ठ, जिह्वा (जीभ), तालु, ओष्ठ आदि का हलन-चलन हुआ उसी समय/काल में भाषावर्गणा का ध्वनि/वाक्यरूप ध्वनि हो गया।

अनुमानज्ञान (आ १) प्रमाण सकलादेशी है और अनुमान-नयज्ञान (ब) नयज्ञान विकलादेशी भी है। देखिए **स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा नं. २६७** और उसकी श्री शुभचन्द्रविरचित टीका–

'' जं जाणिज्जइ जीवो इंदियवावारकायचिट्ठाहिं।
तं अणुमाणं भण्णदि तं पि णयं बहुविहं जाण॥ २६७॥ ''

गाथार्थ—इन्द्रियव्यापारकायचेष्टाओं से जो जीव जाना जाता है, वह अनुमान है और उसरूप भी नयज्ञान अर्थात् अनुमान-नयज्ञान भी है, उसके भी अनेक भेद हैं।

संस्कृत टीका

" इन्द्रियव्यापारकायचेष्टाभिः स्पर्शनरसन-घ्राणचक्षुःश्रोत्रैः मनसा च व्यापारैः गमनागमनादिलक्षणैः कायचेष्टाभिः शरीराकारविशेषैः जीवः आत्मा यत् जानाति

तं अपि अनुमाननयं ज्ञानं भणति कथयति।
अथवा इन्द्रियाणां स्पर्शनादीनां व्यापाराः विषयाः स्पर्शरसगंधवर्णशब्दरूपाः तैः जीवः यत् जानाति तत् अनुमानज्ञानं कथयति।

साधनात् साध्यविज्ञानं अनुमानं,
इष्टं अबाधितं असिद्धं साध्यम्।

साध्याविनाभावित्वेन निश्चितः हेतुः।

यथा - पर्वतः अयं अग्निमान् धूमवत्त्वात् महानसवत्, इत्यादि अनुमानं ज्ञानं, तद् अपि नयम्।

परोक्षज्ञानं बहुविधं अनेकप्रकारं स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदं जानीहि। "

हिन्दी

इन्द्रियव्यापारकायचेष्टाओं से स्पर्शन-रसन-घ्राण-नेत्र-श्रोत्र और मन इनके द्वारा और गमन-आगमन आदि लक्षणों के द्वारा, कायचेष्टाओं के द्वारा, शरीराकारविशेषों के द्वारा जीव/आत्मा जिसको जानता है,

उसको भी अनुमान-नयज्ञान कहते हैं।

अथवा स्पर्शनादि इंद्रियों के स्पर्शरसगंधवर्णशब्दरूप विषय व्यापार है, उनके द्वारा जीव जिसको जानता है, उसको अनुमान ज्ञान कहते हैं।

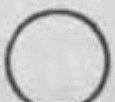
साधन से साध्य का ज्ञान होना अनुमान है।
इष्ट, अबाधित, असिद्ध लक्षणवाला साध्य होता है।

साध्य के साथ अविनाभावीपना से निश्चितलक्षणवाला हेतु होता है।

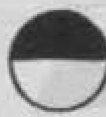
जैसे– 'वह पर्वत अग्निमान है, क्योंकि धूमवान् है, जैसे रसोईघर।' इत्यादि अनुमान ज्ञान है। वह भी नयज्ञान है।

परोक्ष ज्ञान के अनेक प्रकार है। उसके स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगमज्ञान इन भेदों को जानो।

[देखो चार्ट नं. ७ और २०]

आ → 

अनुमान को जानने के प्रकार → (आ १) प्रमाण - सकलादेशी
और (ब) नयज्ञान - विकलादेशी

 ← ब

स्मृति के जानने के प्रकार-(आ १) प्रमाण–सकलादेशी और (ब) नयज्ञान–विकलादेशी। क्योंकि स्मृति स्वयं ने जानी। उसके पश्चात् वचन के द्वारा वह स्मरण का विषय दूसरे को कहते हैं। जैसे–अभी श्री बाहुबली मूर्ति की याद आयी थीं। बाद में वचन में कहा गया।

[देखो चार्ट नं. ७ और २०]

प्रत्यभिज्ञान के जानने के प्रकार–(अ १) प्रमाण–सकलादेशी और (ब) नयज्ञान–विकलादेशी। क्योंकि प्रत्यभिज्ञान स्वयं ने किया। उसके पश्चात् वचन के द्वारा वह प्रत्यभिज्ञान का विषय दूसरे को कहते हैं। जैसे–'पूर्व में जो मैं ध्रुवशुद्धचिदानंदात्मा था वह यह मैं ध्रुवशुद्धचिदानंदात्मा हूं।' [देखो चार्ट नं. ७ और २०]

तर्कज्ञान को जानने के प्रकार–(अ १) प्रमाण–सकलादेशी और (ब) नयज्ञान-विकलादेशी। क्योंकि तर्क स्वयं ने किया। उसके पश्चात् वचन के द्वारा वह तर्क का विषय दूसरे को कहते हैं। जैसे–'जो-जो जीव है वह-वह ध्रुवशुद्धचिदानंदात्मा है' [देखो चार्ट नं. ७ और २०]।

स्मृतिवचन, प्रत्यभिज्ञानवचन और तर्कवचन भी नयज्ञान है क्योंकि सम्यग्ज्ञानी के जो-जो वचन हैं, वह-वह नय है।

देखिये **प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका**–

"जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा।"

अर्थ–जितने वचन के प्रकार है, उतने नयवाद होते ही हैं।

[परार्थानुमानप्रयोजक वाक्य के प्रतिज्ञा-हेतुरूप दो अंगों का वर्णन]

संस्कृत पृष्ठ नं. ९१, संस्कृत परिच्छेद नं. ३३ →

उस स्वार्थानुमान की अंगसम्पत्ति के समान इस परार्थानुमान की अंगसम्पत्ति है। और परार्थानुमानप्रयोजक वाक्य के (१) प्रतिज्ञा और (२) हेतु ये दो अवयव (अंग) है। उसमें से–

(१) प्रतिज्ञा–धर्मी-धर्म समुदायरूप पक्ष के वचन को प्रतिज्ञा कहते हैं। जैसे-यह पर्वत अग्निमान है।

(२) हेतु–साध्याविनाभावी साधनवचन को हेतु कहते हैं। जैसे-(a) धूमवानपना (धुआँपना) की अन्यथानुपपत्ति है अथवा (b) धूमवानपना (धुआँवानपना) की तथोपपत्ति है। इन [(a) और (b) इन] दोनों हेतुप्रयोगों के कथन में वैचित्र्यमात्र है। प्रथम (a) के कथन में 'धूमवत्त्वान्यथानुपपत्ति है' इसका भावार्थ ऐसा है कि, – अग्निमानपना के अभाव में धूमवानपना की अनुपपत्ति है' ऐसा निषेधमुख से कथन है। लेकिन दूसरे (b) के कथन में 'धूमवानपना की तथोपपत्ति है' इसका भावार्थ ऐसा है कि,-'अग्निमानपना के सद्भाव में ही धूमवानपना का सद्भाव है' ऐसा विधिमुख से कथन है। लेकिन अर्थ (भावार्थ) में भेद नहीं है; क्योंकि दोनों हेतुप्रयोगों में भी अविनाभावी साधन के कथन में समानता है। इसलिये उन दोनों हेतुप्रयोगों में से किसी एक का कथन करना योग्य है; क्योंकि दोनों पद्धति (शैली अथवा ढंग) का प्रयोग करने पर पौनरुक्त्य दोष आता है। और (१) उस पूर्वोक्त लक्षणवाली प्रतिज्ञा और (२) इन दोनों हेतुप्रयोगों में से कोई एक प्रकार का हेतुप्रयोग; 'ये दो परार्थानुमानवाक्य के अवयव (अंग) है' ऐसा सिद्ध हो गया। क्योंकि व्युत्पन्न (समझदार) श्रोता को उतने मात्र से ही अनुमिति (अनुमान ज्ञानपर्याय) उत्पन्न हो जाती है।

विशेषार्थ–स्वार्थानुमान के जितने अवयव थे, उतने ही परार्थानुमान के अवयव होते हैं। और दूसरे को अनुमान होने के लिये जो वाक्यप्रयोग करते हैं, उस वाक्य के (१) प्रतिज्ञा और (२) हेतु, ये दो अवयव हैं।

प्रतिज्ञा–धर्मी (साध्य का आधार) और धर्म (साध्य) इनके समुदायरूप पक्ष के वचन को प्रतिज्ञा कहते हैं। जैसे–'यह पर्वत अग्निमान है।' यहाँ 'अग्निमान है' वह साध्य है अर्थात् 'अग्निमान है' वह धर्म है।

और यही अग्नि इस साध्यरूप धर्म का ' यह पर्वत ' आधार है। अर्थात् ' यह पर्वत ' यही धर्मी है। इसलिये–

(१) यह पर्वत/धर्मी और (२) 'अग्निमान है' यह धर्म इनके (धर्मी-धर्म के) समुदायरूप पक्ष वचन को प्रतिज्ञा कहते हैं।

(२) हेतु–साध्य के अविनाभावीवाले साधन का कथन करनेवाले वचन को हेतु कहते हैं। जैसे–

(a) धूमवानपना की अन्यथानुपपत्ति है। अर्थात् धूम (धुआँ) वाला अन्यथा नहीं हो सकता है अर्थात् अग्नि नहीं होती तो धूम की उपपत्ति (प्राप्ति/सद्भावरूप अवस्था) नहीं होती। इसमें निषेधमुख से कथन है। अथवा

(b) धूमवानपना की तथोपपत्ति है। अर्थात् धूम वाला का सद्भाव तथा यानी अग्नि के सद्भाव रहने पर ही है। इसमें विधिमुख से कथन है।

प्रथम (a) अर्थात् अन्यथानुपपत्ति और दूसरी (b) अर्थात् तथोपपत्ति इन दोनों कथन के प्रकार या शैली या ढंग या पद्धति में अर्थ (भाव) भेद नहीं है; क्योंकि दोनों हेतुप्रयोगों में भी अविनाभावी साधन के कथन में समानता है। इसलिये (a) अन्यथानुपपत्ति और (b) तथोपपत्ति में से किसी एक का कथन करना योग्य है। क्योंकि दोनों पद्धति से हेतुप्रयोग करनेपर पौनरुक्त्य दोष आता है। [पौनरुक्त्य यानी फिर से वही कहना। पौनरुक्त्य दोष अर्थात् फिर से वही कहना, ऐसा दोष आता है; क्योंकि फिर से वही कथन करने से कुछ भी लाभ नहीं होगा।]

और भी देखिए–

प्रतिज्ञा–' यह मैं अव्रती जीव मोहरागद्वेषरहित (वीतराग) हूँ।' यहाँ ' मोहरागद्वेषरहित (वीतराग) हूँ, यह साध्यधर्म है और यही मोहरागद्वेषरहित (वीतराग) इस साध्यधर्म का ' यह मैं अव्रती जीव ' आधाररूप धर्मी है। इसलिये ' यह मैं अव्रती जीव 'धर्मी और ' मोहरागद्वेषरहित (वीतराग) हूँ, ' यह धर्म इनके (धर्मी-धर्म के) समुदायरूप पक्षवचन को प्रतिज्ञा कहते हैं।

हेतु–' सम्यक्त्व की अन्यथानुपपत्ति है। ' अर्थात् सम्यक्त्व अन्यथा नहीं हो सकता है। अर्थात् मोहरागद्वेषरहितता (वीतरागता) नहीं होती तो सम्यक्त्व/सम्यग्दर्शन की उपपत्ति नहीं दिखाई देती है। यह निषेधमुख से कथन है।

प्रतिज्ञा–' यह मैं अव्रती जीव सम्यग्दृष्टि हूँ। ' यहाँ ' यह मैं अव्रती जीव ' धर्मी है और ' सम्यग्दृष्टि हूँ ' यह साध्यधर्म है। इनके (धर्मी-धर्म के) समुदायरूप पक्षवचन को प्रतिज्ञा कहते हैं।

हेतु–' अनंतानुबंधी मिथ्यात्वोदयजनित पाषाणरेखादि के समान रागादि का अभाव है। ' यह साधन/हेतु सम्यग्दर्शन साध्य के साथ अविनाभावी साधन है। इसलिये इस साध्याविनाभावी साधनवचन को हेतु कहते हैं।

प्रतिज्ञा–' मैं अव्रती हूँ तो भी मेरे में सम्यग्दर्शन पर्याय है। ' यहाँ ' मेरा जीव ' यह धर्मी है और ' सम्यग्दर्शन है ' यह साध्यधर्म है। इनके (धर्मी-धर्म के) समुदायरूप पक्षवचन को प्रतिज्ञा कहते हैं।

हेतु–' क्योंकि मैंने शुद्धात्मानुभव (निजध्रुवज्ञानदर्शनानंदात्मा का प्रामाण्यसहित–प्रत्यक्ष ज्ञान) किया है। यह सम्यग्दर्शनरूप साध्य का अविनाभावी साधन है। इस साधनवचन को हेतु कहते हैं।

प्रतिज्ञा–' इस देह में मैं जीव हूँ। ' यहाँ ' यह देह ' धर्मी है और ' मैं जीव हूँ ' यह साध्यधर्म है। इनके (धर्मी-धर्म के) समुदायरूप पक्षवचन को प्रतिज्ञा कहते हैं।

हेतु–' क्योंकि मुझमें " स्वसंवेदन " (अहं/मैं की प्रतीति) है ' यह ' मैं जीव हूँ ' इस साध्य का अविनाभावी साधन है। इस साधनवचन को हेतु कहते हैं।

प्रतिज्ञा – 'मेरे जीव में शुद्धध्रुव है।' यहाँ 'मेरा जीव' धर्मी है और 'मुझमें शुद्धध्रुव है' यह साध्यधर्म है। इनके (धर्मी-धर्म के) समुदायरूप पक्षवचन को प्रतिज्ञा कहते हैं।

हेतु – 'क्योंकि मुझमें अशुद्धपर्याय अथवा अशुभभाव है' यह 'मेरे शुद्धध्रुव' साध्य का अविनाभावी साधन है। इस साधनवचन को हेतु कहते हैं।

प्रतिज्ञा – 'मेरे जीव में शुद्धध्रुव है।' यहाँ 'मेरा जीव' धर्मी है और 'मुझमें शुद्धध्रुव है' यह साध्यधर्म है। इनके (धर्मी-धर्म के) समुदायरूप पक्षवचन को प्रतिज्ञा कहते हैं।

हेतु – 'क्योंकि मुझमें अशुद्धपर्याय अथवा शुभभाव है' यह 'मेरे शुद्धध्रुव' साध्य का अविनाभावी साधन है। इस साधनवचन को हेतु कहते हैं।

प्रतिज्ञा – 'यह वस्तु वृक्ष है।' यहाँ 'यह वस्तु' धर्मी है और 'वृक्ष है' यह साध्यधर्म है। इनके (धर्मी-धर्म के) समुदायरूप पक्षवचन को प्रतिज्ञा कहते हैं।

हेतु – 'क्योंकि आम्रत्व है।' यह 'वृक्ष' साध्य का अविनाभावी साधन है। इस साधनवचन को हेतु कहते हैं।

प्रतिज्ञा – 'मेरे जीव में आनंदगुण है।' यहाँ 'मेरा जीव' धर्मी है और 'आनंदगुण है' यह साध्यधर्म है। इनके (धर्मी-धर्म के) समुदायरूप पक्षवचन को प्रतिज्ञा कहते हैं।

हेतु – 'क्योंकि मुझमें दुःखपर्याय है।' यह 'आनंदगुण है' इस साध्य का अविनाभावी साधन है। इस साधनवचन को हेतु कहते हैं।

प्रतिज्ञा – 'यह मैं कार्यसिद्धपरमात्मा (मुक्त) हो जाऊँगा ही।' यहाँ 'यह मैं (जीव)' धर्मी है और 'कार्यसिद्धपरमात्मा हो जाऊँगा ही' यह साध्यधर्म है। इनके (धर्मी-धर्म के) समुदायरूप पक्षवचन को प्रतिज्ञा कहते हैं।

हेतु – 'क्योंकि मुझमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र है।' यह 'कार्यसिद्धपरमात्मा (मुक्त) हो जाऊँगा' इस साध्य का अविनाभावी-साधन है। इस साधनवचन को हेतु कहते हैं।

[नैयायिकादि अभिमत पांच अवयव का निराकरण]

संस्कृत पृष्ठ नं. १२ से १३, संस्कृत परिच्छेद नं. ३४-३५ →

नैयायिकादि – परार्थानुमानप्रयोग के 'यथोक्त प्रतिज्ञा और हेतु इन दो अवयवों के साथ उदाहरण, उपनय और निगमन' ऐसे पाँच अवयव है और हमारे न्यायसूत्र में ऐसा कथन है कि, – 'प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन' ये पांच अवयव हैं। उनके लक्षणपूर्वक उदाहरण –

(१) प्रतिज्ञा – पक्षवचन को प्रतिज्ञा कहते हैं। जैसे – यह पर्वत अग्निमान है।

(२) हेतु – साधनत्व प्रकाशनार्थ पंचम्यंत लिंगवचन को हेतु कहते हैं। जैसे 'धूमवानपना होने से' [क्योंकि धूमवान है]।

(३) उदाहरण – व्याप्तिपूर्वक दृष्टांतवचन को उदाहरण कहते हैं। जैसे-

(a) साधर्म्य उदाहरण-जो-जो धूमवान होता है, वह-वह अग्निमान होता है; जैसे-रसोईघर। यह साधर्म्य उदाहरण है।

(b) वैधर्म्य उदाहरण - जो-जो अग्निमान नहीं होता है, वह-वह धूमवान नहीं होता है; जैसे-तालाब। यह वैधर्म्य उदाहरण है।

उदाहरण के प्रथम भेद/साधर्म्य उदाहरण में हेतु की अन्वयव्याप्ति दिखाई जाती है और उदाहरण के द्वितीय भेद/वैधर्म्य उदाहरण में हेतु की व्यतिरेकव्याप्ति दिखाई जाती है।

वह इसतरह – (a) अन्वयव्याप्तिप्रदर्शनस्थान को अन्वयदृष्टांत कहते हैं।

(b) व्यतिरेक – व्याप्तिप्रदर्शनस्थान को व्यतिरेकदृष्टांत कहते हैं।

इसतरह दृष्टांतद्विविध्य होने से वचनरूप उदाहरण के भी दो भेद हैं, ऐसा जानना चाहिये। और इन दो उदाहरण के प्रयोगों में से किसी एक के प्रयोग से ही पर्याप्तपना होने से दूसरे प्रकार के उदाहरण का प्रयोग करना अनावश्यक है।

(४) उपनय – दृष्टांत की अपेक्षा से पक्ष में हेतु के उपसंहारवचन को उपनय कहते हैं। जैसे रसोईघर धूमवान है वैसे पर्वत धूमवान है। और

(५) निगमन – हेतुपूर्वक पुन: पक्षवचन को निगमन कहते हैं। जैसे-यह पर्वत धूमवान होने से यह पर्वत अग्निमान ही है।

ये पाँच अवयव परार्थानुमानप्रयोग के हैं। इन पाँचों अवयवों में से किसी एक अवयव का अभाव रहने पर वीतराग कथा में और विजिगीषु कथा में अनुमान उत्पन्न नहीं होता है, ऐसा हम नैयायिकों का मत है।

जैन - यह आपका अविचार करके किया हुआ अभिमत है; क्योंकि वीतराग कथा में शिष्य के आशय के अनुरोध से अधिक भी अवयवों का कथन किया जा सकता है तो भी विजिगीषु कथा में प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अवयव पर्याप्त होने से अप्रयोजनरूप अन्य अवयवों की क्या आवश्यकता है? अर्थात् अन्य अवयवों की आवश्यकता नहीं है।

विशेषार्थ – नैयायिकादि-परार्थानुमान के प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये पाँच अवयव होते हैं। जैसे-

यह पर्वत अग्निमान है,	(१) पक्षवचन को प्रतिज्ञा कहते हैं।
क्योंकि धूमवान है,	(२) साधनत्व प्रकाशन के लिये जो लिंगवचन का कथन किया, वह हेतु है।
जो-जो धूमवान होता है, वह-वह अग्निमान होता है; जैसे-रसोईघर अथवा	(३) अन्वयव्याप्तिपूर्वक दृष्टांतवचन उदाहरण है अथवा
जो-जो अग्निमान नहीं होता है, वह-वह धूमवान नहीं होता है; जैसे तालाब	व्यतिरेकव्याप्तिपूर्वक दृष्टांतवचन उदाहरण है।
जैसे रसोईघर धूमवान है, वैसे पर्वत धूमवान है	(४) दृष्टांत की अपेक्षा से पक्ष में हेतु के उपसंहारवचन को उपनय कहते है।
यह पर्वत धूमवान होने से वह पर्वत अग्निमान ही है।	(५) हेतुपूर्वक पक्षवचन को निगमन कहते हैं।

प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन इन पाँच अवयवों में से किसी एक का अभाव रहने पर वीतराग कथा में अथवा विजिगीषु कथा (जय-पराजय कथा) में अनुमान उत्पन्न नहीं होता है, ऐसा नैयायिक आदियों का मत है।

जैन – 'वीतराग कथा में और विजिगीषु कथा में परार्थानुमानवाक्य में प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन ये पाँचों ही अवयव रहने ही चाहिये' ऐसा जो आपका कथन है, वह ठीक नहीं है; क्योंकि वीतराग कथा में प्रतिपाद्य (शिष्य अथवा सहधर्मी) के आशय के अनुरोध से अधिक भी अवयवों का कथन किया जा सकता है, लेकिन जय-पराजय (विजिगीषु) कथा में प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अवयवों का कथन करना

चाहिये; उदाहरण, उपनय और निगमन इनके कथन की विजिगीषु कथा में आवश्यकता नहीं है।

वीतराग कथा में परार्थानुमानवाक्य कहते समय–

(१) किसी को प्रतिज्ञा और हेतु कहने से ही समझ में आयेगा,

(२) किसी को प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण कहने से ही समझ में आयेगा,

(३) किसी को प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण और उपनय कहने से ही समझ में आयेगा,

(४) किसी को प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन कहने से ही समझ में आयेगा,

(५) किसी को प्रतिज्ञा, हेतु, अनेकों उदाहरण, उपनय और निगमन कहने से ही समझ में आयेगा।

[जय-पराजय कथा में प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अवयव पर्याप्त हैं।]

संस्कृत पृष्ठ नं. ९३-९४, संस्कृत परिच्छेद नं. ३६ →

उसका स्पष्टीकरण–

(१) विजिगीषु कथा–वादिप्रतिवादियों में स्वमतस्थापनार्थ जय-पराजय (जीत-हार) तक परस्पर में प्रवर्तमान वचनव्यापार को विजिगीषु कथा कहते हैं। और

(२) वीतराग कथा–गुरु-शिष्यों में अथवा रागद्वेषरहित विशिष्ट विद्वानों में तत्त्वनिर्णय तक परस्पर में प्रवर्तमान वचनव्यापार को वीतराग कथा कहते हैं।

और उनमें से विजिगीषु कथा (जीत-हार कथा) को 'वाद' ऐसा कहा जाता है।

कोई लोग (नैयायिक आदि) वीतराग कथा को 'वाद' ऐसा कहते हैं, लेकिन वह उनका पारिभाषिक (कथनमात्र) ही है, क्योंकि लोक में गुरु-शिष्य आदि में होनेवाली चर्चा को वाद नहीं कहा जाता, विजिगीषुवचनव्यवहार के बारे में ही वादत्व प्रसिद्ध है। जैसे स्वामी समन्तभद्राचार्य ने सभी सर्वथैकान्तवादियों को वाद में जीत लिया और उस वाद में परार्थानुमानवाक्य के प्रतिज्ञा और हेतु ये दो अवयव ही उपकारक हैं, उदाहरणादिक उपकारक नहीं हैं।

उसका स्पष्टीकरण–परार्थानुमानवाक्य में (१) लिंगवचनात्मक हेतु अवश्य होना चाहिये, क्योंकि लिंगज्ञान का अभाव रहने पर अनुमिति का उदय नहीं होता है और (२) पक्षवचनरूप प्रतिज्ञा भी अवश्य होनी चाहिए, क्योंकि अन्यथा अभिमत साध्य के विशिष्ट आधार के निश्चय का अभाव रहने पर साध्य के बारे में सन्देह रहनेवाले श्रोता को अनुमिति उत्पन्न नहीं होती। परीक्षामुखसूत्र ग्रंथ-अध्याय ३, सूत्र ३७ में ऐसा कहा है कि,–'प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अनुमान के अवयव है।' इसका भावार्थ यह है कि,–वाद में प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही परार्थानुमान के अवयव हैं। 'ही' इस अवधारण से वाद में उदाहरण, उपनय, निगमन ये अवयव नहीं होते हैं; ऐसा सूचित किया है, क्योंकि व्युत्पन्न का ही वाद में अधिकार है; क्योंकि प्रतिज्ञा-हेतु के प्रयोगमात्र से ही उदाहरणादि प्रतिपाद्यरूप गम्यमान अर्थ को व्युत्पन्न के द्वारा जानना शक्य है। यदि गम्यमान (जाने जाते हुए) भी अभिधान (कथन) करने पर पौनरुक्त्य दोष आता है।

विशेषार्थ–विजिगीषु कथा-वादी और प्रतिवादी इनमें अपना-अपना मत स्थापन करने के लिये जीत (जय)-हार (पराजय) तक परस्पर में प्रवर्तमान वचनव्यापार को विजिगीषु कथा कहते हैं। जैसे-श्री अकलंकदेव आचार्य वादी थे और बौद्ध प्रतिवादी थे। श्री अकलंकदेव आचार्यजी ने अपना मत स्थापन करने के लिये और प्रतिवादी बौद्ध ने अपना मत स्थापन करने के लिये जय-पराजय तक परस्पर में वचनव्यापार किया। वह वचनव्यापार विजिगीषु कथा है। और

(२) वीतराग कथा–श्री गौतम गणधर आचार्य और श्रेणिक इनमें तत्त्वनिर्णयक तक परस्पर में वचन-व्यापार हो गया। वह वचनव्यापार वीतराग कथा है। वीरसागर मुनि और ब्रूस कॉस्टेन [बलभद्र] इन में तत्त्वनिर्णय तक वचनव्यापार हो गया। वह वचनव्यापार वीतराग कथा है। पं. कहान और पं. हुकुमचंद भारिल्ल इन दो विद्वानों में तत्त्वनिर्णय तक वचनव्यापार हो गया। वह वचनव्यापार वीतराग कथा है। ब्र. जगन्मोहनलाल और ब्र. माणिकचंद इन दो विद्वानों में तत्त्वनिर्णय तक वचनव्यापार हो गया। वह उचनव्यापार वीतराग कथा है। पं. फुलचन्द और पं. ब्र. जगन्मोहनलाल इन दो विद्वानों में तत्त्व के बारे में वचनव्यापार हो गया। वह वचनव्यापार वीतराग कथा है। पं. फुलचंद और पं. मक्खनलाल आदि विद्वानों में खानिया ग्राम में तत्त्व के बारे में वचनव्यापार हो गया। वह वीतराग कथा है। पं. नरेन्द्र और ब्रूस (बलभद्र) इनमें तत्त्व के बारे में वचनव्यापार हो गया। वह वीतराग कथा है। यह वाद नहीं।

विजिगीषु कथा को वाद ऐसा कहा जाता है। न्यायालयों में विजिगीषु कथा होती है।

श्री समन्तभद्राचार्यजी ने सभी सर्वथा एकान्तवादियों को वाद में जीत लिया और उस वाद में प्रतिज्ञा और हेतु; ये दो ही अवयव उपकारक हैं, उदाहरण, उपनय तथा निगमन इनकी आवश्यकता नहीं।

इसका स्पष्टीकरण–परार्थानुमानवाक्य में (१) लिंगवचनात्मक हेतु (हेतु का कथन) अवश्य करना चाहिये, क्योंकि हेतु/लिंग के ज्ञान का अभाव रहने पर अनुमान ज्ञानपर्याय की प्राप्ति नहीं होती है और (२) पक्ष का भी कथन अवश्य करना चाहिये, क्योंकि अभिमत साध्य के आधार के बारे में ज्ञान न रहने पर संशयवाले श्रोता को अनुमान ज्ञानपर्याय उत्पन्न नहीं होती है।

वाद में (विजिगीषु कथा में) प्रतिज्ञा और हेतु इन दो का ही कथन अवश्य करना चाहिये।

संस्कृत पृष्ठ नं. ९४, संस्कृत परिच्छेद नं. ३७ →

शंका [बौद्ध]–यदि ऐसा है तो 'प्रतिज्ञाप्रयोग करने पर भी पुनरुक्तता ही आती है; क्योंकि प्रतिज्ञा द्वारा कथन किया जानेवाला पक्ष भी प्रस्तावादि द्वारा गम्यमान (ज्ञात) होता है। इसलिये लिंगवचनरूप एक हेतु ही वाद में प्रयोग करने योग्य है।'

समाधान [जैन]–ऐसा कथन करनेवाला बौद्ध पशु स्वयं अपनी दुर्विदग्धता प्रकट कर रहा है, क्योंकि केवल हेतु का ही प्रयोग करने पर व्युत्पन्न को भी साध्य के संबंधी संशय की निवृत्ति नहीं होती है। इसलिये प्रतिज्ञा का प्रयोग अवश्य करना चाहिये। परीक्षामुखसूत्र ग्रंथ-अध्याय ३, सूत्र ३४ में कहा है कि–'साध्य के संबंधी संशय दूर करने के लिये प्रस्तावादि द्वारा जाने हुए पक्ष का भी कथन करना चाहिये।' इस प्रकार 'वाद' की अपेक्षा से परार्थानुमान के प्रतिज्ञा और हेतु ये दो ही अवयव है, उससे कम नहीं अथवा अधिक नहीं है, यह सिद्ध हो गया। और इस अवयव विचार के विस्ताररूप वर्णन के लिये पत्रपरीक्षा द्रष्टव्य है।

विशेषार्थ-शंका–'परार्थानुमानवाक्य में (१) प्रतिज्ञा और (२) हेतु इनका कथन करना **चाहिये' यह आपका** कथन ठीक नहीं, क्योंकि प्रतिज्ञा का प्रयोग करने पर पुनरुक्त दोष आता **है, क्योंकि प्रतिज्ञा द्वारा कथन किया** जानेवाला पक्ष भी प्रस्तावादि (प्रकरण आदि) द्वारा ज्ञात **हो जाता है। इसलिये** वाद में लिंगवचनरूप एक हेतु का कथन/प्रयोग करना चाहिये। जैसे–**'धूम है' इतना ही कथन करने** पर श्रोता को अग्नि के बारे में अनुमान उत्पन्न होता है।

समाधान–ऐसा कथन करना ठीक नहीं हैं; क्योंकि केवल हेतु का कथन करनेपर व्युत्पन्न/समझदार व्यक्ति **को भी साध्य संबंधी संशय** नष्ट नहीं होता है। इसलिये प्रतिज्ञा का प्रयोग अवश्य करना चाहिये।

केवल 'धुआँ है' ऐसा कहने से कहाँ पर धुआँ है और कहाँ पर अग्नि है इसका ज्ञान नहीं होता है। इसलिये पक्ष/प्रतिज्ञा का कथन करना आवश्यक है।

[वीतराग कथा में अधिक अवयवों का प्रयोग]

संस्कृत पृष्ठ नं. ९४, संस्कृत परिच्छेद नं. ३८ →

लेकिन वीतराग कथा में प्रतिपाद्य के आशय के अनुरोध से (१) प्रतिज्ञा और हेतु ये दो अवयव अथवा (२) प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण ये तीन अवयव अथवा (३) प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण और उपनय ये चार अवयव अथवा (४) प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये पाँच अवयव होते हैं; ऐसी यथायोग्य प्रयोग करने की परिपाटी है। कुमारनन्दि भट्टारक के द्वारा ऐसा कहा गया है कि,– 'प्रतिपाद्य के अनुरोध से प्रयोगपरिपाटी है।'

इसप्रकार वह प्रतिज्ञादिरूप परोपदेश से उत्पन्न होनेवाला (ज्ञान) परार्थानुमान है। ऐसा कहा गया है कि–

श्लोकार्थ–'परोपदेश को सापेक्ष रखकर साधन से साध्य का जो वेदन (ज्ञान) श्रोता को उत्पन्न हो जाता है, वह परार्थानुमिति है' ऐसा माना गया है।

इसतरह अनुमान के (१) स्वार्थ और (२) परार्थ ये दो भेद हैं और ये दो अनुमान 'साध्य के साथ जिसका अविनाभाव निश्चित है' ऐसे लक्षणरूप हेतु/साधन से उत्पन्न हो जाते हैं।

विशेषार्थ–लेकिन वीतराग कथा में प्रतिपाद्य [जिसको बताना है उस शिष्य] के आशय की अपेक्षा से (१) प्रतिज्ञा और हेतु ये दो अवयव अथवा (२) प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण ये तीन अवयव अथवा (३) प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण और उपनय ये चार अवयव अथवा (४) प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये पाँच अवयव कथन किये जाते हैं।

इस तरह स्वार्थ-अनुमान और परार्थ-अनुमान हैं। ये दो अनुमान साध्य के साथ जिसका अविनाभाव निश्चित है, ऐसे हेतु/साधन से उत्पन्न हो जाते हैं अर्थात् अन्यथानुपपत्तिलक्षणवाले साधन/हेतु से अनुमान उत्पन्न हो जाता है।

जैसे–'मैंने अभी अव्रत अवस्था में निजध्रुवात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष जाना/अनुभव किया, इसलिये मैं सम्यग्दर्शनवाला हूँ, मैं चतुर्थ गुणस्थानवाला हूँ' यह स्वार्थानुमान हो गया।

'उस मकान से धूम (धुआँ) बाहर आ रहा है, इसलिये उस मकान में अग्नि है' ऐसा रमेश के कहनेपर अशोक को जो अनुमान हो गया, वह परार्थानुमान है।

'उस देह में जीव है, क्योंकि वह जानता है' यह गुरु का वचन सुनकर शिष्य को जो अनुमान हो गया, वह परार्थानुमान है।

''प्रथमोपशम सम्यग्दर्शनवाला चतुर्थ गुणस्थान [अविरत सम्यक्त्व गुणस्थान] का उत्पाद और मिथ्यात्व गुणस्थान का व्यय होते समय निर्विकल्पज्ञान [निजध्रुवशुद्धात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान] होता है, ऐसा दिनेश नहीं मानता हैं; इसलिये दिनेश मिथ्यादृष्टि है'' ऐसा अशोक का वचन सुनकर संगीता को जो अनुमान उत्पन्न हो गया, वह परार्थानुमान है।

इस तरह स्वार्थानुमान और परार्थानुमान 'अन्यथानुपपत्ति लक्षणवाले हेतु से' उत्पन्न होते हैं।

[बौद्धाभिमत त्रैरूप्यहेतुलक्षण का निरास]

संस्कृत पृष्ठ नं. ९५, संस्कृत परिच्छेद नं. ३९-४० →

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से 'अन्यथानुपपत्ति एक लक्षणवाला हेतु अनुमिति का प्रयोजक है' ऐसा आर्हत मत में सत्य कथन होने पर भी उसका विचार न करके दूसरे (बौद्ध आदि) अन्य प्रकार से हेतु का लक्षण करते हैं। उसमें से–

ताथागत (बौद्ध) - पक्षधर्मत्वादि तीन लक्षणवाले हेतु से अनुमान उत्पन्न होता है। उसका स्पष्टीकरण- हेतु के →

(१) पक्षधर्मत्व, (२) सपक्ष में सत्त्व और (३) विपक्ष से व्यावृत्ति, ये तीन लक्षण हैं। उनमें साध्यधर्म से विशिष्ट धर्मी को पक्ष कहते हैं; जैसे-अग्नि का अनुमान करते समय पर्वत पक्ष है और उस पक्ष में व्याप्य होकर हेतु का रहना 'पक्षधर्मत्व' है। साध्यसजातीयधर्मवाला धर्मी सपक्ष है; जैसे अग्नि का ही अनुमान करते समय महानस (रसोईघर) सपक्ष है, उसमें सर्वत्र अथवा एकदेश में हेतु का रहना 'सपक्ष में सत्त्व' है। साध्यविरुद्धधर्मवाला धर्मी विपक्ष है; जैसे अग्नि का अनुमान करने में तालाब विपक्ष है, उन सभी विपक्षों से हेतु का व्यावृत्त होना, विपक्ष से व्यावृत्ति है। इन तीनों रूपों से मिलकर हेतु का लक्षण होता है। उनमें से किसी एक का अभाव रहने पर हेत्वाभासपना होता है।

जैन–आपका कथन ठीक नहीं है; क्योंकि अपक्षधर्मरूप कृत्तिकोदयादि हेतु में शकटोदयादि साध्य का गमकपना दिखायी देता है। जैसे–'मुहूर्तान्त में शकट का उदय होगा, क्योंकि अभी कृत्तिका का उदय हो रहा है।' इसमें 'शकट' धर्मी (पक्ष) है, 'मुहूर्तान्त में उदय' यह साध्य है और 'कृत्तिका का उदय' यह हेतु है। पक्षीकृत शकट में [पक्ष में] कृत्तिकोदय यह हेतु नहीं रहता है, इसलिये कृत्तिकोदय हेतु में पक्षधर्म यह लक्षण (रूप) नहीं है। तो भी अन्यथानुपपत्तिवाले लक्षण के बल से शकटोदयरूप नामक साध्य का गमक है ही। इसलिये बौद्धाभिमत हेतु के लक्षण अव्याप्त हैं।

विशेषार्थ–बौद्धादि-अन्यथानुपपत्ति यह हेतु का लक्षण ठीक नहीं है। पक्षधर्मत्व, सपक्ष में सत्त्व और विपक्ष से व्यावृत्ति इन तीन रूपवाला (लक्षणवाला) हेतु होता है।

साध्यधर्म से विशिष्ट धर्मी को 'पक्ष' कहते हैं। पक्ष में हेतु का सद्भाव रहना उसको पक्षधर्मत्व कहते हैं। जैसे–'यह पर्वत अग्निमान है, क्योंकि धूमवान है।' इस अनुमान में 'पर्वत' यह पक्ष है और पर्वत पर धूम है अर्थात् धूम इस हेतु में पक्षधर्मत्व है।

सपक्ष में हेतु का सद्भाव रहना, उसको सपक्ष में सत्त्व कहते हैं। जैसे-'यह पर्वत अग्निमान है, क्योंकि धूमवान है, जो-जो धूमवान होता है वह-वह अग्निमान होता है, जैसे रसोईशाला।' यहाँ अग्निमान पर्वत यह पक्ष है और रसोईशाला यह सपक्ष है और रसोईशाला में धूम है, इसलिये धूम इस हेतु में 'सपक्ष में सत्त्व है।'

विपक्ष में हेतु का न रहना, उसको विपक्ष से व्यावृत्ति कहते हैं। जैसे-अग्निमान पर्वत का विपक्ष तालाब है, क्योंकि तालाब में अग्नि नहीं है और तालाब में धूम भी नहीं है, इसलिये धूम इस हेतु में विपक्ष (तालाब) से व्यावृत्ति है।

इसतरह (१) पक्षधर्मत्व, (२) सपक्षसत्त्व और (३) विपक्ष से व्यावृत्ति इन तीन रूपों का मिलकर हेतु का लक्षण होता है। उनमें से किसी एक का (पक्षधर्मत्व अथवा सपक्षसत्त्व अथवा विपक्ष से व्यावृत्ति का)

अभाव रहने पर हेत्वाभासपना होता है।

जैन–यह आपका कथन ठीक नहीं है; क्योंकि अपक्षधर्मरूप (पक्षधर्मत्व न रहनेवाले) कृत्तिकोदयादि हेतु में शकटोदयादि साध्य का गमकपना दिखाई देता है। जैसे-'एक मुहूर्त के बाद शकट नक्षत्र का उदय होगा, क्योंकि अभी कृत्तिका नक्षत्र का उदय हो रहा है।' इस अनुमान में शकट नक्षत्र पक्ष है। 'एक मुहूर्त के बाद शकटोदय होगा' यह साध्य है। और 'कृत्तिकोदय' यह हेतु है। 'शकट' इस पक्ष में कृत्तिकोदय यह हेतु नहीं रहता, इसलिये कृत्तिकोदय इस हेतु में 'पक्षधर्मत्व' यह लक्षण नहीं है तो भी 'अन्यथानुपपत्तिवाले लक्षण' के बल से शकटोदयरूप साध्य गमक है ही। इसलिये बौद्ध के द्वारा 'हेतु के जो लक्षण' कथन किये गए हैं, वे लक्षण अव्याप्त दोषयुक्त हैं।

संस्कृत पृष्ठ नं. ९५-९६-९७, संस्कृत परिच्छेद नं. ४१ से ४३ →

[नैयायिकाभिमत पाञ्चरूप्यहेतुलक्षण का निरास]

नैयायिक–हेतु का पाँचरूपवाला लक्षण है, ऐसा कहते हैं। उसका स्पष्टीकरण– (१) पक्षधर्मत्व, (२) सपक्ष में सत्त्व, (३) विपक्ष से व्यावृत्ति, (४) अबाधितविषयत्व और (५) असत्प्रतिपक्षत्व ये पाँच रूप हैं। प्रथम के तीन लक्षण बौद्धों के कथन में ऊपर आ गए हैं।

साध्यविपरीतनिश्चायकप्रबलप्रमाणरहितपना को अबाधितविषयत्व कहते हैं।

तादृशसमबलप्रमाणशून्यत्व को असत्प्रतिपक्षत्व कहते हैं। जैसे-'यह पर्वत अग्निमान है, क्योंकि धूमवानपना है, जो-जो धूमवान होता है वह-वह अग्निमान होता है जैसे रसोईगृह, जो-जो अग्निमान नहीं होता है वह-वह धूमवान नहीं होता है जैसे तालाब, और (रसोईगृह जैसे धूमवान है) वैसे यह पर्वत धूमवान है और यह पर्वत धूमवान होने से अग्निमान ही है।'

यहाँ अग्निमानपनारूप साध्यधर्म से सहित विशिष्ट पर्वतरूप धर्मी पक्ष है, और धूमवानपना यह हेतु है और उस हेतु में पक्षधर्मत्व है, क्योंकि पक्षीकृत पर्वत में हेतु का सद्भाव है। उस धूमवान हेतु में 'सपक्ष में सत्त्व भी है, क्योंकि सपक्षरूप रसोईगृह में धूमवानपना है।'

शंका–कुछ सपक्षों में धूमवानपना नहीं रहता है, क्योंकि अंगाररूप अवस्थाप्राप्त अग्निवाले स्थानों में धूम (धूआँ) नहीं होता है। तो फिर कैसे?

समाधान–यह शंका ठीक नहीं; क्योंकि सपक्ष-एकदेशवृत्तिवाला भी हेतु होता है क्योंकि पहले यह कहा गया है कि, सपक्ष में सर्वत्र अथवा एकदेश में हेतु के रहने को 'सपक्ष में सत्त्व' कहते हैं।

और धूम इस हेतु की विपक्ष से व्यावृत्ति भी है, क्योंकि धूमवानपना का तालाबादि सब विपक्षों से व्यावृत्ति है।

और धूम इस हेतु में अबाधितविषयत्व भी है; क्योंकि धूमवानपना हेतु का जो विषय अग्निमान नामक साध्य है, वह प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अबाधित है।

और धूम इस हेतु में असत्प्रतिपक्षत्व भी है, क्योंकि अग्निरहितत्व साधकसमबलप्रमाण का असम्भव है।

और यह पाँचरूप्यसम्पत्ति ही धूमवानपना के स्वसाध्यसाधकत्व में निबन्धन है। इसतरह ही सभी सद्हेतुओं की रूपपञ्चकसम्पत्ति जाननी चाहिए (विचारणीय है)।

इन पाँचरूपों में से किसी एक का अभाव रहने से (१) असिद्ध, (२) विरुद्ध, (३) अनैकान्तिक,

(४) कालात्ययापदिष्ट और (५) प्रकरणसम आख्य/नामक पाँच हेत्वाभास सम्पन्न होते हैं। उसका स्पष्टीकरण–

(१) जिस हेतु का पक्ष में रहना अनिश्चित है, वह असिद्ध हेत्वाभास है। जैसे 'शब्द अनित्य है, क्योंकि नेत्र का विषय है।' यहाँ 'नेत्र का विषय है', यह हेतु पक्षीकृत शब्द में नहीं रहता है, क्योंकि शब्द में श्रावणत्व है। इसलिये पक्षधर्मविरह से नेत्रविषयपना असिद्ध हेत्वाभास है।

(२) जो हेतु साध्य के विपरीत के साथ व्याप्त है, वह विरुद्ध है। जैसे-'शब्द नित्य है, क्योंकि कृतकपना है।' यहाँ 'कृतकत्व' यह हेतु नित्यत्व साध्य के विपरीत अनित्यत्व के साथ व्याप्त है और आकाशादि सपक्षों में अविद्यमान हैं, इसलिये विरुद्ध हेत्वाभास है।

(३) जो हेतु व्यभिचारी है, वह अनैकान्तिक है। जैसे-'शब्द अनित्य है, क्योंकि प्रमेयत्व है।' यहाँ प्रमेय यह हेतु साध्यभूत अनित्यत्व का व्यभिचारी है, क्योंकि आकाशादि विपक्षों में नित्यत्व के साथ भी वह हेतु रहता है। इसलिये विपक्ष से व्यावृत्ति का अभाव होने से अनैकांतिक हेत्वाभास है।

(४) जिस हेतु का विषय अर्थात् साध्य प्रत्यक्षादि प्रमाण से बाधित है, वह कालात्ययापदिष्ट है। जैसे- 'अग्नि अनुष्ण (ठंडी) है, क्योंकि पदार्थ है।' यहाँ पदार्थ इस हेतु को अनुष्णत्वरूप स्वविषय (साध्य) में उष्णत्वग्राहक प्रत्यक्ष ज्ञान से बाधा आती है, इसलिये अबाधितविषयपना का अभाव होने से कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास है।

(५) जो हेतु प्रतिसाधनप्रतिरुद्ध है, वह हेतु प्रकरणसम है। जैसे- 'शब्द अनित्य है, क्योंकि नित्यधर्मरहितत्व है।' यहाँ नित्यधर्मरहित यह हेतु प्रतिसाधन से प्रतिरुद्ध है।

शंका–वह प्रतिसाधन यानी क्या?

समाधान–'शब्द नित्य है, क्योंकि अनित्यधर्मरहितत्व है' ऐसा नित्यत्वसाधन है। इसलिये असत्प्रतिपक्षत्व का अभाव होने से नित्यधर्मरहितत्व इस हेतु में प्रकरणसमत्व है।

इसलिये पाँचरूपता हेतु का लक्षण है। उनमें से किसी एक का अभाव रहनेपर हेत्वाभास का प्रसंग आ जाने से जो कहा गया था कि 'हेतुलक्षणरहित है तो भी हेतु के समान जो भासमान होते हैं वे हेत्वाभास हैं' यह ठीक ही कहा गया है। हेतु के पाँचरूपों में से कोई एक रूप न होने से हेतुलक्षणरहित है और कुछ रूप होने से हेतु के समान (भान्ति) प्रतीति में आते हैं, ऐसा वचन है।

जैन–आप नैयायिक के द्वारा कथन किया गया हेतु का पाँचरूपता यह लक्षण भी ठीक नहीं है, क्योंकि शकटोदयरूप साध्य का पक्षधर्मरहितवाला भी कृत्तिकोदय यह हेतु दिखाई देता है। इसलिये पाँचरूपता यह लक्षण अव्याप्ति दोष से युक्त है।

विशेषार्थ–नैयायिकादि- अन्यथानुपपत्ति यह हेतु का लक्षण ठीक नहीं हैं। (१) पक्षधर्मत्व, (२) सपक्ष में सत्व, (३) विपक्ष से व्यावृत्ति, (४) अबाधितविषयत्व और (५) असत्प्रतिपक्षत्व इन पाँचरूपवाला (लक्षणवाला) हेतु होता है। पक्षधर्मत्व, सपक्ष में सत्व और विपक्ष से व्यावृत्ति इन तीनों का व्याख्यान बौद्धाभिमत हेतुलक्षण के पहले कथन में आ गया है।

साध्य से विपरीत (अथवा बाधा) को निश्चय करनेवाले प्रबल (समर्थ) प्रमाणों का न होना **अबाधितविषयपना** है।

साध्य के अभाव को निश्चय करनेवाले समान बल के प्रमाणों का न होना **असत्प्रतिपक्षत्व** है।

जैसे–

यह पर्वत अग्निमान है,	[१] (यह प्रतिज्ञा है।)
क्योंकि धूमवान है,	[२] (यह हेतु है।)
जो-जो धूमवान होता है वह-वह अग्निमान होता है, जैसे रसोईगृह,	[३] (यह अन्वयदृष्टान्त है।) (यह सपक्ष है।)
जो-जो अग्निमान नहीं है वह-वह धूमवान नहीं होता, जैसे तालाब,	(यह व्यतिरेकदृष्टान्त है।) (यह विपक्ष है।)
और रसोईगृह जैसा धूमवान है वैसा पर्वत धूमवान है,	[४] (यह उपनय है।)
यह पर्वत धूमवान है इसलिये यह पर्वत अग्निमान है	[५] (यह निगमन है।)

इन पाँच अवयवरूप अनुमान प्रयोग में अग्निरूप साध्यधर्म से युक्त पर्वतरूप धर्मी पक्ष है और धूम यह हेतु है। धूम इस हेतु में **पक्षधर्मत्व** है, क्योंकि वह धूम पक्षरूप पर्वत पर है। धूम इस हेतु में '**सपक्ष में सत्त्व**' है, क्योंकि सपक्षरूप रसोईगृह में धूम है।

शंका–अंगार अवस्था प्राप्त अग्निमान प्रदेश में धूम का अभाव है, इसलिये कुछ सपक्षों में धूम नहीं रहता है तो फिर हेतु में 'सपक्ष में सत्त्व' यह रूप नहीं रहता है। इसलिये क्या आपके कथन में बाधा नहीं आती?

समाधान–ऐसी बाधा नहीं आती है, क्योंकि सपक्ष अर्थात् दृष्टान्त सर्वदेश अथवा एकदेश भी होता है। इसलिये सपक्ष में सर्वत्र अथवा एकदेश में हेतु के सद्भाव को '**सपक्ष में सत्त्व**' कहते हैं।

धूम इस हेतु की '**विपक्षों से व्यावृत्ति**' है क्योंकि तालाब आदि सभी विपक्षों में धूम का सद्भाव नहीं है।।

धूम इस हेतु में '**अबाधितविषयत्व**' भी है क्योंकि धूमवान इस हेतु का जो विषयरूप अग्निमान साध्य है, वह प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अबाधित है।

और धूम इस हेतु में '**असत्प्रतिपक्षत्व**' भी है; क्योंकि यहाँ अग्नि के अभाव की सिद्धि करनेवाले समान बल के प्रमाण का अभाव है।

और यह पाँचरूप्यसम्पत्ति ही धूमवानपना का अपने साध्य के साधकत्व में निबन्धन है। इसतरह सभी सद्हेतुओं में पाँचरूप्यसम्पत्ति का सद्भाव रहना ही चाहिये और अन्यथानुपपत्ति यह हेतु का लक्षण नहीं, ऐसा कुछ लोगों का मत है।

यदि इन पाँचरूपों से किसी एक का अभाव रहेगा तो (१) असिद्ध, (२) विरुद्ध, (३) अनैकान्तिक, (४) कालात्ययापदिष्ट और (५) प्रकरणसम नामके पाँच हेत्वाभास होते हैं। उनका स्पष्टीकरण–

(१) जिस हेतु का पक्ष में रहना निश्चित नहीं है, वह हेतु असिद्ध हेत्वाभास है। जैसे 'शब्द अनित्य है, क्योंकि नेत्र का विषय है।' यहाँ 'नेत्र का विषय है' यह हेतु पक्षरूप शब्द (ध्वनि) में नहीं है, क्योंकि शब्द (ध्वनि) कानों/श्रोत्रेंद्रिय/कर्णेंद्रिय से सुना/जाना जाता है और नेत्र/आँख का विषय रंग/वर्ण अर्थात् सफेद, पीत, नील आदि है, लिखे हुए अथवा छपे हुए शब्द/ध्वनि न होकर छपे हुए शब्द अथवा लिखे हुए शब्द/रंग (Colour) है। इसलिये पक्षधर्मरहितपना से नेत्रविषयपना असिद्ध हेत्वाभास है।

(२) जो हेतु साध्य से विपरीत/विरुद्ध (असाध्य) के साथ व्याप्त/रहता है, वह विरुद्ध है। जैसे–'शब्द नित्य है, क्योंकि कृतकपना [किया हुआपना/कृत्रिमपना] है।' यहाँ 'कृतकत्व' यह हेतु नित्यत्व साध्य के विरुद्ध क्षणिकत्व के साथ व्याप्त है और नित्य रहनेवाले आकाशादि सपक्षों में नहीं रहता है, इसलिये विरुद्ध हेत्वाभास है।

(३) जो हेतु पक्ष में और विपक्ष में भी रहता है [अर्थात् व्यभिचारी है], वह हेतु अनैकांतिक [एक के साथ नहीं अर्थात् पक्ष और विपक्ष ऐसे दोनों के साथ रहता है ऐसा] है। जैसे–'शब्द अनित्य (क्षणिक) है, क्योंकि प्रमेयत्व है।' यहाँ प्रमेयत्व यह हेतु साध्यरूप अनित्य/क्षणिक में है और प्रमेयत्व यह हेतु अनित्य साध्य के विपक्ष (विरुद्धपक्ष) नित्यत्व में भी रहता है। इसलिये विपक्ष से व्यावृत्ति का अभाव रहने से अनैकान्तिक हेत्वाभास है।

(४) जिस हेतु का विषय अर्थात् साध्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों से बाधित है, वह कालात्ययापदिष्ट है। जैसे- 'अग्नि ठण्डी/अनुष्ण है, क्योंकि पदार्थ है।' यहाँ पदार्थ इस हेतु को अनुष्णत्वरूप स्वविषय/स्वसाध्य में उष्णत्व को जाननेवाले प्रत्यक्ष ज्ञान से बाधा आती है, इसलिये अबाधितविषयपना का अभाव रहने से कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास है।

(५) जो हेतु प्रतिसाधनप्रतिरुद्ध [प्रतिसाधन से सहित है, ऐसा] है, वह हेतु प्रकरणसम है। जैसे- 'शब्द अनित्य है, क्योंकि नित्यधर्मरहितत्व [शब्द में नित्यधर्म नहीं] है।' यहाँ नित्यधर्मरहित यह हेतु प्रतिसाधन [विरुद्ध साधन] से प्रतिरुद्ध है अर्थात् नित्यधर्मरहित इस हेतु का विरुद्धसाधनरूप अनित्यधर्मरहितवाला साधन है। अर्थात् 'शब्द नित्य है, क्योंकि अनित्यधर्मरहित है' ऐसा नित्यत्वसाधन है। इस तरह एक के विरुद्ध दूसरे समान बलवाले प्रमाण का सद्भाव है अर्थात् प्रतिपक्षसहित यानी सत्प्रतिपक्ष है। इसलिये असत्प्रतिपक्ष का अभाव रहने से नित्यधर्मरहित इस हेतु में प्रकरणसमत्व है।

इसलिये पाँच प्रकार के सदोष हेतुओं का अभाव करने के लिये सद्हेतु में पाँचरूपता चाहिये, ऐसा कुछ लोगों का कथन है।

जैन–आपके द्वारा कथन किया गया हेतु का 'पाँचरूपता' यह लक्षण भी ठीक नहीं है, क्योंकि शकटोदयरूप साध्य का पक्षधर्मरहितवाला भी कृत्तिकोदय यह हेतु दिखाई देता है। इसलिये पाँचरूपता यह लक्षण अव्याप्ति दोष से युक्त है।

'एक मुहूर्त के बाद शकट नक्षत्र का उदय होगा, क्योंकि अभी कृत्तिका नक्षत्र का उदय हो रहा है।' इस अनुमान में 'कृत्तिका नक्षत्र का उदय' अर्थात् कृत्तिकोदय यह हेतु है। और वह हेतु शकटरूप पक्ष का धर्म नहीं है अर्थात् कृत्तिकोदय इस हेतु में पक्षधर्मत्व नहीं है। ऐसे पक्षधर्मरहितवाले कृत्तिकोदय हेतु से शकटोदयरूप साध्य की सिद्धि होती है, क्योंकि कृत्तिकोदय इस हेतु में पक्षधर्मरहितपना होते हुए भी 'अन्यथानुपपत्ति अर्थात् अविनाभाव' यह लक्षण विद्यमान है।

संस्कृत पृष्ठ नं. ९७-९८, संस्कृत परिच्छेद नं. ४४ से ४७ →

जैन–और भी देखिये-केवलान्वयी हेतु में और केवलव्यतिरेकी हेतु में पाँचरूपता का अभाव रहने पर भी केवलान्वयी हेतु में और केवलव्यतिरेकी हेतु में गमकत्व है, ऐसा उनके (नैयायिकादि के) द्वारा माना गया है। उसका स्पष्टीकरण– वे (नैयायिकादि) तीन प्रकार के हेतु मानते हैं– (१) अन्वयव्यतिरेकी हेतु, (२) केवलान्वयी हेतु और (३) केवलव्यतिरेकी हेतु। उनमें से (१) अन्वयव्यतिरेकी हेतु पाँचरूप से उपपन्न है। जैसे-'शब्द अनित्य है, क्योंकि कृतकपना है, जो-जो कृतक होता है वह-वह अनित्य होता है, जैसे घट, जो-जो अनित्य नहीं होता वह-वह कृतक नहीं होता, जैसे आकाश, और घट जैसा कृतक है वैसा शब्द कृतक है और शब्द कृतक होने से शब्द अनित्य ही है।' यहाँ पक्षरूप शब्द में अनित्यत्व सिद्ध किया जा रहा है। वहाँ कृतकत्व यह हेतु है। उस कृतकत्व में पक्षीकृत शब्द का धर्मपना होने से कृतकत्व हेतु में पक्षधर्मत्व है। घटादि सपक्ष में कृतकत्व रहने से कृतकत्व हेतु में 'सपक्ष में सत्त्व' है और नित्यत्ववाले आकाशादि में कृतकत्व न रहने से कृतकत्व हेतु में 'विपक्ष से व्यावृत्ति' है। इस कारण से 'कृतकत्व हेतु' अन्वयव्यतिरेकी हेतु है।

(२) विपक्षरहित पक्षसपक्षवृत्तिवाला केवलान्वयी हेतु होता है। जैसे–अदृष्टादि किसी को तो प्रत्यक्ष है, क्योंकि अनुमेयपना है, जो-जो अनुमेय रहता है वह-वह किसी को प्रत्यक्ष है जैसे-अग्नि आदि। यहाँ 'अदृष्टादि' यह पक्ष है, 'किसी को प्रत्यक्ष है' यह साध्य है और 'अनुमेयपना' यह हेतु है और 'अग्नि आदि' यह अन्वयदृष्टान्त है। पक्षीकृत अदृष्टादि में 'अनुमेयत्व' यह हेतु है और सपक्षरूप अग्नि आदि में अनुमेयत्व यह हेतु है। इस कारण से 'अनुमेयत्व' इस हेतु में पक्षधर्मत्व और 'सपक्ष में सत्त्व' है और यहाँ विपक्ष है ही नहीं, क्योंकि सभी का पक्ष और सपक्ष में अन्तर्भाव हो गया। इसलिये 'विपक्ष से व्यावृत्ति' है ही नहीं, क्योंकि व्यावृत्ति को अवधि अर्थात् मर्यादा/सीमा है, और वह मर्यादा/सीमा/ अवधि न होने से यहाँ विपक्ष नहीं है। शेष अन्वयव्यतिरेकी के भाँति/समान द्रष्टव्य है।

(३) सपक्षरहित, पक्षवृत्तिवाला और विपक्षव्यावृत्तिवाला हेतु केवलव्यतिरेकी हेतु होता है। जैसे-'जीवित शरीर जीवसहित होना चाहिए' क्योंकि वह प्राणादिवाला है, जो-जो जीवसहित नहीं होता है, वह-वह प्राणादिवाला नहीं होता, जैसे लोष्ठ (मिट्टी का ढेला)। यहाँ 'जीवित शरीर' यह पक्ष है और 'जीवसहितत्व' यह साध्य है और 'प्राणादिवाला' यह हेतु है और लोष्ठादि (मिट्टी का ढेला आदि) व्यतिरेकदृष्टांत है। पक्षीकृत जीवित शरीर में प्राणादिवाला यह हेतु रहता है और विपक्षरूप लोष्ठादि से व्यावृत्त है और यहाँ सपक्ष है ही नहीं, क्योंकि सभी का पक्ष और विपक्ष में अंतर्भाव

हो गया है। शेष अन्वयव्यतिरेक हेतु के भाँति/समान द्रष्टव्य है।

"इसतरह इन तीन हेतुओं में अन्वयव्यतिरेकी हेतु में ही पाँचरूपता है, क्योंकि केवलान्वयी हेतु में 'विपक्ष से व्यावृत्ति' का अभाव है और केवलव्यतिरेकी हेतु में 'सपक्ष में सत्त्व' का अभाव है।" इसलिये नैयायिक के मतानुसार ही हेतु का पाँचरूप्य यह लक्षण व्यभिचार दोष से युक्त है। लेकिन अन्यथानुपपत्तिलक्षण का सभी सद्हेतुओं में व्याप्तत्व होने से 'अन्यथानुपपत्ति' को हेतु का लक्षण मानना ठीक है, क्योंकि अन्यथानुपपत्तिलक्षण के अभाव में हेतु का स्वसाध्यगमकपना सिद्ध नहीं होता है।

विशेषार्थ – जैन – और अधिक स्पष्टीकरण देखिए – नैयायिक हेतु के अन्यथानुपपत्तिलक्षण को मानते नहीं और नैयायिक हेतु का पाँचरूपता लक्षण मानते हैं, लेकिन वह पाँचरूपता लक्षण उन्हीं (नैयायिकों के) द्वारा माने गये सभी हेतुओं में नहीं जाता है। जैसे केवलान्वयी हेतु में पाँचरूपता लक्षण का अभाव है, केवलव्यतिरेकी हेतु में पाँचरूपता लक्षण का अभाव है। अन्वयव्यतिरेकी हेतु में पाँचरूपता लक्षण का सद्भाव है। नैयायिक तीन प्रकार के हेतु मानते हैं। (१) अन्वयव्यतिरेकी, (२) केवलान्वयी और (३) केवलव्यतिरेकी।

(१) अन्वयव्यतिरेकी हेतु में हेतु का पाँचरूपता लक्षण है। जैसे–

'शब्द अनित्य है,	यह प्रतिज्ञा है।	(I) यहाँ अनित्य साध्य का आधाररूप 'शब्द' पक्ष है, पक्ष में कृतक यह हेतु है, इसलिये कृतक हेतु में पक्षधर्मत्व है।
क्योंकि कृतक है,	यह हेतु है।	
जो-जो कृतक होता है वह-वह अनित्य होता है जैसे घट,	यह अन्वयदृष्टांत है, यह सपक्ष है।	(II) यहाँ अनित्य साध्य का 'घट' सपक्ष है, सपक्ष में कृतक यह हेतु है, इसलिये कृतक हेतु में 'सपक्ष में सत्त्व' है।
जो-जो अनित्य नहीं होता वह-वह कृतक नहीं होता जैसे नित्य आकाश,	यह व्यतिरेकदृष्टांत है, यह विपक्ष है।	(III) यहाँ अनित्य साध्य का 'नित्य आकाश' विपक्ष है, विपक्ष में कृतक यह हेतु नहीं है, इसलिये कृतक हेतु में 'विपक्ष से व्यावृत्ति' है।
घट जैसा कृतक है वैसा शब्द कृतक है,	यह उपनय है।	
यह शब्द कृतक होने से शब्द अनित्य है।'	यह निगमन है।	

(IV) कृतक हेतु का अनित्यत्व यह साध्य अर्थात् विषय किसी भी प्रमाण से बाधित न होने से कृतक हेतु में अबाधितविषयत्व है। और

(V) प्रतिपक्षी साधन न होने से कृतक हेतु में असत्प्रतिपक्षत्व है।

इसतरह अन्वयव्यतिरेकी [सपक्ष में रहना और विपक्ष में न रहना ऐसे] कृतकहेतु में (I) पक्षधर्मत्व, (II) सपक्ष में सत्त्व, (III) विपक्ष से व्यावृत्ति, (IV) अबाधितविषयत्व और (V) असत्प्रतिपक्षत्व ये पाँचरूप हैं। लेकिन

(२) केवलान्वयी हेतु में पाँचरूपता लक्षण का अभाव है। जैसे-

'अदृष्टादि (पुण्यपापादि) किसी के प्रत्यक्ष हैं,	यह प्रतिज्ञा है ।	(I) यहाँ अदृष्टादि पक्ष है, पक्ष में अनुमेयत्व (अनुमान से जानने योग्य) यह हेतु है, इसलिये अनुमेयत्व हेतु में पक्षधर्मत्व है।
क्योंकि अनुमान से जाने जाते (अनुमेय) हैं	यह हेतु है ।	
जो-जो अनुमान से जाने जाते (अर्थात् अनुमेय) हैं वे-वे किसी के प्रत्यक्ष हैं, जैसे-अग्नि आदि।'	यह अन्वयदृष्टांत है, यह सपक्ष है।	(II) यहाँ 'अग्नि आदि' सपक्ष है, उस सपक्ष में अनुमेयत्व यह हेतु है, इसलिये अनुमेयत्व हेतु में 'सपक्ष में सत्त्व' है।

(III) अनुमेयत्व हेतु में 'विपक्ष से व्यावृत्ति' नहीं है क्योंकि सभी का पक्ष और सपक्ष में अंतर्भाव हो गया।

(IV) अनुमेयत्व हेतु का 'किसी के प्रत्यक्ष है' यह साध्य अर्थात् विषय किसी भी प्रमाण से बाधित न होने से 'अनुमेयत्व हेतु में अबाधितविषयत्व' है।

(V) प्रतिपक्षी साधन न होने से अनुमेयत्व हेतु में 'असत्प्रतिपक्षत्व' है।

इसतरह केवलान्वयी अनुमेयत्व हेतु में 'विपक्ष से व्यावृत्ति' न रहने पर भी साध्य का गमक है, ऐसा नैयायिक ने माना है। इसलिये केवलान्वयी हेतु में पाँचरूपता लक्षण का अभाव रहने पर भी सद्हेतु माना है। इसलिये हेतु का पाँचरूपता यह लक्षण 'अव्याप्त' दोषयुक्त है। और

(२) केवलव्यतिरेकी हेतु में भी हेतु के पाँचरूपता लक्षण का अभाव है। जैसे –

'जीवित शरीर जीवसहित होता है,	यह प्रतिज्ञा है।	(I) यहाँ 'जीवसहित है' इस साध्य का 'जीवित शरीर' यह पक्ष है, पक्ष में प्राणादिवाला यह हेतु है, इसलिये प्राणादिवाला हेतु में पक्षधर्मत्व है।
क्योंकि प्राणादिवाला है,	यह हेतु है।	
जो-जो जीवसहित नहीं होता वह-वह प्राणादिवाला नहीं होता, जैसे-लोष्ठादि (मिट्टी का ढेला आदि)'	यह व्यतिरेकदृष्टांत है, यह विपक्ष है।	(III) यहाँ 'जीवसहित है' इस साध्य का 'लोष्ठ आदि' विपक्ष है, विपक्ष में 'प्राणादिवाला' यह हेतु नहीं है, इसलिये प्राणादिवाला हेतु में 'विपक्ष से व्यावृत्ति' है।

(II) प्राणादिवाला हेतु में 'सपक्ष में सत्त्व' नहीं है, क्योंकि सभी का पक्ष और विपक्ष में अंतर्भाव हो गया।

(IV) प्राणादिवाला हेतु का 'किसी के प्रत्यक्ष है' यह साध्य अर्थात् विषय किसी भी प्रमाण से बाधित न होने से 'प्राणादिवाला हेतु में अबाधितविषयत्व' है।

(V) प्रतिपक्षी साधन न होने से प्राणादिवाला हेतु में असत्प्रतिपक्षत्व है।

इसतरह केवलव्यतिरेकी प्राणादिवाला हेतु में 'सपक्ष में सत्त्व' न रहने पर भी साध्य का गमक है, ऐसा

नैयायिक ने माना है। इसलिये केवलव्यतिरेकी हेतु में पाँचरूपता लक्षण का अभाव रहने पर भी सद्धेतु माना है। इसलिये हेतु का पाँचरूपता यह लक्षण अव्याप्त दोषयुक्त है।

इसतरह अन्वयव्यतिरेकी, केवलान्वयी और केवलव्यतिरेकी इन तीन प्रकार के हेतुओं में अन्वयव्यतिरेकी हेतु ही पाँचरूपता लक्षणवाला है और केवलान्वयी तथा केवलव्यतिरेकी हेतुओं में पाँचरूपता लक्षण का अभाव है। इसलिये नैयायिकों के मतानुसार ही पाँचरूपता लक्षण में दोष है।

लेकिन अन्यथानुपपत्ति लक्षण का सद्भाव सभी सद्धेतुओं में है। इसलिये अन्यथानुपपत्ति लक्षणवाला ही हेतु स्वसाध्य का गमक होता है। इसलिये अन्यथानुपपत्ति को ही हेतु का लक्षण मानना योग्य है।

संस्कृत पृष्ठ नं. ९८-९९, संस्कृत परिच्छेद नं. ४८ →

नैयायिक – असिद्धादि पाँच दोषों के निवारण के लिये पाँचरूप हैं।

जैन – यह ठीक नहीं है, क्योंकि हमारे द्वारा माने गये अन्यथानुपपत्तिमानपना से निश्चितपना में ही उन असिद्धादि पाँच दोषों का निवारणपना सिद्ध है। उसका स्पष्टीकरण-

साध्यान्यथानुपपत्तिमानपना रहनेपर निश्चयपथप्राप्तपना वह वास्तव में हेतु का लक्षण है। परीक्षामुखसूत्र- अध्याय ३ रा, सूत्र नं. १५ में कहा गया है कि, 'साध्याविनाभावित्व से निश्चितवाला (निश्चित किया हुआ) हेतु होता है' और यह लक्षण असिद्ध हेत्वाभास (असिद्धादि हेत्वाभासों) में नहीं हैं। शब्द की अनित्यता सिद्ध करने के लिये अभिप्रेत जो 'चाक्षुषत्व (नेत्रेंद्रिय का विषय) है' ऐसा हेतु दिया जाता है, वह शब्द का स्वरूप ही नहीं [अर्थात् शब्द/ध्वनि में नेत्रेंद्रिय का विषय होने की योग्यता नहीं] तब उस हेतु में अन्यथानुपपत्तिमानपना से निश्चयपथप्राप्ति कैसे है? [अर्थात् उस हेतु में अन्यथानुपपत्तिमानपना से निश्चयपथप्राप्ति नहीं है।] इसलिये उस हेतु का साध्य के साथ अविनाभाव का निश्चय न होने से ही यह हेतु असिद्ध हेत्वाभास है। लेकिन उस हेतु में पक्षधर्मत्व का अभाव है इसलिये वह हेतु हेत्वाभास नहीं, क्योंकि पक्षधर्मत्व के बिना भी कृत्तिकोदयादि हेतुओं को उस अन्यथानुपपत्ति लक्षण के सद्भाव से सम्यक् हेतु कहते हैं, और विरुद्धादि हेत्वाभासों में अन्यथानुपपत्तिलक्षण का अभाव स्पष्ट ही है। विरुद्ध, व्यभिचारी, बाधितविषय और सत्प्रतिपक्ष इन में अविनाभाव का निश्चय नहीं है। इसलिये 'जिस हेतु में अन्यथानुपपत्तिमानपना रहने पर योग्य देश की निश्चयपथप्राप्ति है, वही सम्यक् हेतु है, उससे अन्य हेतु हेत्वाभास है' ऐसा सिद्ध हो गया।

विशेषार्थ – नैयायिक → असिद्धादि पाँच दोषों का निवारण करने के लिये हेतु का पाँचरूपता लक्षण है।

जैन – वह ठीक नहीं है, क्योंकि अन्यथानुपपत्तिमानपना से निश्चय करने पर 'असिद्ध, विरुद्ध, अनैकान्तिक (व्यभिचारी), बाधितविषय और सत्प्रतिपक्ष' इन पाँच दोषों का अभाव हो जाता है। उसका स्पष्टीकरण –

'जो साध्य का अविनाभावी है अर्थात् साध्य के रहने पर रहता है (अर्थात् साधन/हेतु के रहनेपर साध्य का सद्भाव नियम से रहता है) और साध्य के न रहने पर साधन/हेतु का सद्भाव नहीं रहता है और इसका सुनिश्चित ज्ञान है' ऐसा हेतु का लक्षण है। ऐसे लक्षणवाले हेतु से ही साध्य का ज्ञान अर्थात् साध्य की सिद्धि होती है। 'जो साध्य का अविनाभावी है और इसका सुनिश्चित ज्ञान (निश्चयपथप्राप्ति) है' वह लक्षण असिद्ध हेत्वाभास (असिद्धादि हेत्वाभासों) में नहीं है। जैसे – शब्द की अनित्यता सिद्ध करने के लिये जो 'चाक्षुषत्व (नेत्रेंद्रिय का विषय) है' ऐसा हेतु दिया जाता है, वह शब्द का स्वरूप नहीं [अर्थात् शब्द/ध्वनि में नेत्र का विषय होने की योग्यता नहीं] है, इसलिये 'चाक्षुषत्व' इस हेतु में अन्यथानुपपत्तिमानपना से निश्चयपथप्राप्ति

नहीं है। इसलिये उस हेतु में अन्यथानुपपत्तिलक्षण न रहने से असिद्ध हेत्वाभास है, लेकिन पक्षधर्मत्व नहीं है, इसलिये चाक्षुषत्व हेतु में असिद्ध हेत्वाभास नहीं, क्योंकि पक्षधर्मत्व से रहित कृतिकादि हेतुओं को उस अन्यथानुपपत्तिलक्षण के सद्भाव से सम्यक् हेतु कहते हैं। विरुद्ध, व्यभिचारी, बाधितविषय तथा सत्प्रतिपक्ष इन हेत्वाभासों में अन्यथानुपपत्तिलक्षणसहित निश्चयपथप्राप्ति का अभाव है।

इसलिये 'जिस हेतु में अन्यथानुपपत्तिमानपना सहित योग्यदेशनिश्चयपथप्राप्ति है, वही सम्यक् हेतु है, उससे रहित वाले अन्य हेतु हेत्वाभास हैं' यह सिद्ध हो गया।

इसलिये '**स्वयं निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान**' करने पर अपने **सम्यग्दर्शन का सुनिश्चित निर्णय** हो जाता है; क्योंकि '**स्वयं निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान करना**' इस हेतु में '**अन्यथानुपपत्तिमानपना सहित निश्चयपथप्राप्ति**' यह लक्षण है।

भो आत्मन्! स्वयं यह निर्णय करने से मोक्षमार्ग का प्रारंभ हो जाता है। दूसरे से पूछने की आवश्यकता नहीं।

संस्कृत पृष्ठ नं. ९९, संस्कृत परिच्छेद नं. ४९ →



और भी देखिए–'गर्भस्थ मैत्रीतनय (मैत्री का पुत्र) श्याम (काला) होना चाहिए, क्योंकि मैत्रीतनयत्व है, जैसे- सम्प्रतिपन्न मैत्रीतनय हैं [अन्य मौजूद मैत्री के पुत्र हैं]। यहाँ बौद्धाभिमत त्रैरूप्य और नैयायिकाभिमत पाँचरूप्य हेतुलक्षणों की अतिव्याप्ति होने से अलक्षणत्व है। उसका स्पष्टीकरण- परिदृश्यमान पाँच मैत्री के पुत्रों में कालापन देखकर विवादापन्न (विवादग्रस्त) मैत्रीगर्भस्थ पुत्र को पक्ष करके मैत्रीगर्भस्थपुत्र भी काला है, यह सिद्ध करने के लिए 'प्रयुक्त किया हुआ मैत्रीतनयत्वाख्य हेतु हेत्वाभास है' ऐसा प्रसिद्ध है, क्योंकि अश्यामत्व [गोरेपन] की भी वहाँ सम्भावना है और वह सम्भावना 'श्यामत्व (कालेपन)' के साथ 'मैत्रीतनयत्व' की अन्यथानुपपत्ति (अविनाभाव) का अभाव होने से होती है; और उस अन्यथानुपपत्ति (अविनाभाव) का अभाव इसलिये है कि श्यामत्व (कालेपन) के साथ मैत्रीतनयत्व का (१) सहभावनियम नहीं और (२) क्रमभावनियम नहीं।



विशेषार्थ—हेतु के त्रैरूप्यलक्षण में और पाँचरूप्यलक्षण में अतिव्याप्ति दोष भी है। जैसे- 'मैत्री के गर्भ में जो पुत्र है वह पुत्र काला है, क्योंकि उस पुत्र में मैत्रीतनयत्व (मैत्री का पुत्रपना) है, जैसे अभी यहाँ गर्भ के बाहर ये जो मैत्री के पाँच पुत्र हैं और वे पाँचों पुत्र काले हैं।' यहाँ श्यामत्व (कालेपन) साध्य है और 'मैत्रीतनयत्व' हेतु है। यहाँ 'मैत्रीतनयत्व हेतु हेत्वाभास (झूठा हेतु) है' क्योंकि मैत्रीतनयत्व का सद्भाव होते हुए भी गोरेपन हो सकता है; क्योंकि मैत्रीतनयत्व हेतु में अन्यथानुपपत्ति (अविनाभाव) का अभाव है अर्थात् कालेपन के साथ मैत्रीतनयत्व का न सहभावनियम है और न क्रमभावनियम है।

अर्थात् साध्य के साथ हेतु का सहभावनियम अथवा क्रमभावनियम रहना आवश्यक है।

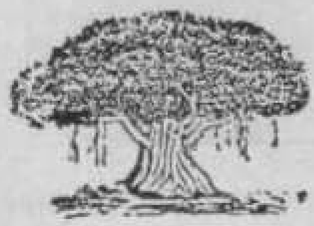
संस्कृत पृष्ठ नं. १९, संस्कृत परिच्छेद नं. ५० →

जिस धर्म का जिस धर्म के साथ सहभावनियम है, वह उसका गमक/ज्ञापक होता है। जैसे– शिंशपात्व का वृक्षत्व के साथ सहभावनियम होता है, इसलिये शिंशपात्व हेतु वृक्षत्व का गमक होता है; और जिसका जिसके साथ क्रमभावनियम होता है, वह उसका गमक/ज्ञापक होता है। जैसे–धूम का अग्नि के बाद होने का नियम है, इसलिये धूम अग्नि का गमक होता है। हेतुत्व से अभिमत मैत्रीतनयत्व का साध्यरूप से इष्ट श्यामत्व (कालेपन) के साथ सहभाव अथवा क्रमभाव नियम नहीं है, जिससे मैत्रीतनयत्व हेतु श्यामत्व साध्य का गमक होगा।

विशेषार्थ–हेतु का साध्य के साथ जो अविनाभाव होता है, वह दो प्रकार का अविनाभाव होता है– (१) सहभावनियम और (२) क्रमभावनियम। जैसे–

(१) सहभावनियमवाली अन्यथानुपपत्ति–जिस धर्म का जिस धर्म के साथ सहभावनियम है, वह उसका गमक/ज्ञापक/सूचक अथवा बोधक अथवा दिखानेवाला होता है। जैसे–(a) शिंशपात्व (शीशमपना) का वृक्षत्व के साथ सहभाव नियम होता है, इसलिये शिंशपात्व यह हेतु वृक्षत्व का गमक है।





(b) नारियलपना का वृक्षत्व के साथ सहभावनियम है, इसलिये नारियलपना यह हेतु वृक्षत्व का गमक होता है।

(c) बडत्व का वृक्षत्व के साथ सहभावनियम है, इसलिये बडत्व यह हेतु वृक्षत्व का गमक है।

आम का वृक्ष



बबूल का वृक्ष



(d) आम का वृक्षत्व के साथ सहभावनियम है, इसलिये आम यह हेतु वृक्षत्व का गमक होता है।

(e) बबूलत्व का वृक्षत्व के साथ सहभावनियम है, इसलिये बबूलत्व यह हेतु वृक्षत्व का गमक होता है।



(f) सास्नादिमानत्व का गोत्व के साथ सहभावनियम है, इसलिये सास्नादिमानत्व यह हेतु गाय/गो का गमक होता है।



(g) भावलिंग अथवा अप्रमत्तसंयत/सप्तमगुणस्थान का द्रव्यलिंग के साथ सहभावनियम होता है, इसलिये भावलिंग यह हेतु द्रव्यलिंग का गमक होता है।



(h) निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान अर्थात् निर्विकल्पज्ञान/शुद्धात्मानुभव का सम्यग्दर्शन के साथ सहभावनियम है, इसलिये 'निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान' यह हेतु सम्यग्दर्शन का गमक होता है। देखो- **प्रवचनसार**–गाथा-८० '**जो जाणदि अरहंतं**' इत्यादि की श्री जयसेनाचार्य-रचित तात्पर्यवृत्ति- "...**अविकल्पस्वरूपे प्राप्ते..... दर्शनमोहान्धकारः प्रलीयते।**"



अर्थ–जिस समय अविकल्पस्वरूप/निर्विकल्पज्ञान अर्थात् शुद्धात्मानुभव प्राप्त होता है, उसी समय दर्शनमोह का व्यय अर्थात् सम्यग्दर्शन का उत्पाद होता है।

(i) ज्ञानपर्याय/जानने की पर्याय का जीव के साथ सहभावनियम है, इसलिये ज्ञानपर्याय यह हेतु जीवत्व का गमक होता है।

(j) स्वसंवेदन/अहं की प्रतीति/मैं की प्रतीति का जीव के साथ सहभावनियम है, इसलिये ज्ञानपर्याय यह हेतु जीवत्व का गमक होता है।

(k) पर्याय का ध्रुवद्रव्य के साथ सहभावनियम है, इसलिये पर्याय यह हेतु ध्रुवद्रव्य का गमक होता है। देखो- **प्रवचनसार-गाथा नं. १०, ९३** इत्यादि। '**णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो**' इत्यादि। **अर्थ**–इस लोक में परिणाम/पर्याय के बिना अर्थ/पदार्थ नहीं और अर्थ/पदार्थ के बिना परिणाम नहीं है; अर्थ/पदार्थ द्रव्यगुणपर्यायस्वभाववाला और अस्तित्व से बना हुआ है।

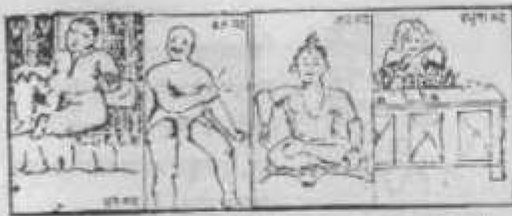
अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि।
तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया॥ प्रवचनसार-गाथा नं. ९३ ॥

अर्थ–अर्थ/पदार्थ द्रव्यमय है, द्रव्य अनंतगुणात्मक हैं, और द्रव्य तथा गुणों के द्वारा पर्यायें होती हैं और अकेला द्रव्य मानना पर्यायमूढ़ता है, अकेले गुण मानना पर्यायमूढ़ता है, अकेले पर्याय मानना पर्यायमूढ़ता है तथा पर्याय (अवस्था/परिणमन) में रत होना पर्यायमूढ़ता (मिथ्यात्व) है। [क्योंकि वस्तुस्वरूप जानकर निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान करते समय सम्यक् आनंद प्रकट होता है, इसलिये सहज ही इच्छा नष्ट होती है। मोह का व्यय होता है।]

क्रोधपर्याय



↑ (1) क्रोधपर्याय का 'ध्रुवशुद्धजीवद्रव्य' के साथ सहभावनियम है, इसलिये क्रोधपर्याय यह हेतु ध्रुवशुद्धजीवद्रव्य का गमक होता है।





मानपर्याय का 'ध्रुवशुद्धजीवद्रव्य' के साथ सहभावनियम है, इसलिये मानपर्याय यह हेतु ध्रुवशुद्धजीवद्रव्य का गमक होता है।

मायापर्याय का 'ध्रुवशुद्धजीवद्रव्य' के साथ सहभावनियम है, इसलिये मायापर्याय यह हेतु ध्रुवशुद्धजीवद्रव्य का गमक होता है।

लोभपर्याय का 'ध्रुवशुद्धजीवद्रव्य' के साथ सहभावनियम है, इसलिये लोभपर्याय यह हेतु ध्रुवशुद्धजीवद्रव्य का गमक होता है।



← दुःखपर्याय का 'ध्रुवशुद्धज्ञानानंदात्मा' के साथ सहभावनियम है, इसलिये दुःखपर्याय यह हेतु ध्रुवशुद्धज्ञानानंदात्मा का गमक होता है। (यह अव्रती भी जान सकता है।)



← सुखपर्याय का 'ध्रुवशुद्धज्ञानानंदात्मा' के साथ सहभावनियम है, इसलिये सुखपर्याय यह हेतु ध्रुवशुद्धज्ञानानंदात्मा का गमक होता है।



← भयपर्याय का 'ध्रुवशुद्धज्ञानानंदात्मा' के साथ सहभावनियम है, इसलिये भयपर्याय यह हेतु ध्रुवशुद्धज्ञानानंदात्मा का गमक होता है।



← समाधिपर्याय का 'ध्रुवशुद्धज्ञानानंदात्मा' के साथ सहभावनियम है, इसलिये समाधिपर्याय यह हेतु ध्रुवशुद्धज्ञानानंदात्मा का गमक होता है।



अशुद्धचेतनपर्याय/कलहपर्याय का 'ध्रुवशुद्धज्ञानानंदात्मा' के साथ सहभावनियम है, इसलिये कलहपर्याय/अशुद्धचेतनपर्याय यह हेतु ध्रुवशुद्धज्ञानानंदात्मा का गमक होता है।

देखो – योगिंदु आचार्यरचित-योगसार प्राभृत-गाथा नंबर ४०→

को सुसमाहि करउ को अंचउ छोपुअछोपु करिवि को वंचउ।
हलसहि कलहु केण समाणउ जहि कहि जोवउ तहि अप्पाणउ॥४०॥

भावार्थ – कोई तो सुसमाधि करता है, कोई अर्चन-पूजन करता है, कोई स्पर्शास्पर्श करके वंचना करता है, कोई किसी के साथ मैत्री करता है, कोई किसी के साथ कलह करता है; जहाँ कहीं (अर्थात् अशुद्धचेतनपर्याय अथवा शुद्धचेतनपर्याय जहाँ कहीं) देखो वहाँ ध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा ही जानने में आता है।



(m) नीबू के 'पीलापन' का 'रस' के साथ सहभावनियम है, इसलिये पीलापना यह हेतु रसवान का गमक होता है।

(n) 'ज्ञानगुण' का 'आनंदगुण' के साथ सहभावनियम है, इसलिये ज्ञानगुण यह हेतु आनंदगुण का गमक होता है।

(o) 'ज्ञानानंदगुणों' का 'ध्रुवशुद्धदर्शनात्मा' के साथ सहभावनियम हैं, इसलिये ज्ञानानंदगुण ध्रुवशुद्धदर्शनात्मा के गमक होते हैं। [यह व्रती अथवा अव्रती भी जान सकता है।] इत्यादि।



(२) क्रमभावनियमवाली अन्यथानुपपत्ति→ जिसका जिसके साथ क्रमभावनियम होता है, वह उसका गमक/ज्ञापक होता है। जैसे –

(I) धूम का अग्नि के बाद होने का नियम है, इसलिये धूम यह हेतु अग्नि का गमक होता है।

(II) कृत्तिका नक्षत्र का उदय होने के पश्चात् एक मुहूर्त के बाद शकट (रोहिणी) नक्षत्र का उदय होने का क्रमभावनियम है, इसलिये कृत्तिकोदय हेतु शकटोदय का गमक होता है।

(III) प्रथमोपशम सम्यग्दर्शनपर्याय प्रगट होने के पहले करणलब्धि होने का क्रमभावनियम है, इसलिये प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन यह हेतु करणलब्धि का गमक है।

(IV) प्रथम सिद्धपर्याय प्रगट होने के पहले चौदहवाँ गुणस्थान होने का क्रमभावनियम है। इसलिये 'प्रथम सिद्धपर्याय' यह हेतु १४ वें गुणस्थान का गमक है।

चौदहवाँ गुणस्थान होने के पहले तेरहवाँ गुणस्थान होने का क्रमभावनियम है । इसलिए 'चौदहवाँ गुणस्थान' यह हेतु तेरहवें गुणस्थान का गमक है ।

तेरहवें गुणस्थान के बाद चौदहवाँ गुणस्थान प्रगट होता है, यह क्रमभावनियम है। इसलिये तेरहवाँ गुणस्थान चौदहवें गुणस्थान का और कार्यसिद्ध परमात्मा का गमक है।

तेरहवाँ गुणस्थान प्रगट होने के पहले बारहवाँ क्षीणकषाय गुणस्थान होता है, ऐसा क्रमभावनियम है। इसलिये बारहवाँ गुणस्थान यह हेतु तेरहवें गुणस्थान का गमक होता है। अथवा तेरहवाँ गुणस्थान यह हेतु बारहवें क्षीणकषाय गुणस्थान का गमक होता है।

क्षीणकषाय गुणस्थान प्रगट होने के पहले सूक्ष्मसाम्परायक्षपक गुणस्थान होता है, ऐसा क्रमभावनियम है। इसलिये सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान यह हेतु क्षीणकषाय गुणस्थान का गमक होता है। अथवा क्षीणकषाय गुणस्थान यह हेतु सूक्ष्मसाम्परायक्षपक गुणस्थान का गमक होता है।

सूक्ष्मसाम्परायक्षपक गुणस्थान प्रगट होने के पहले अनिवृत्तिकरणक्षपक गुणस्थान होता है, ऐसा क्रमभावनियम है। इसलिये सूक्ष्मसाम्परायक्षपक गुणस्थान यह हेतु अनिवृत्तिकरणक्षपक गुणस्थान का गमक होता है। अथवा अनिवृत्तिकरणक्षपक गुणस्थान यह हेतु सूक्ष्मसाम्परायक्षपक गुणस्थान का गमक होता है।

अनिवृत्तिकरणक्षपक गुणस्थान प्रगट होने के पहले अपूर्वकरणक्षपक गुणस्थान होता है, ऐसा क्रमभावनियम है। इसलिये अनिवृत्तिकरणक्षपक गुणस्थान यह हेतु अपूर्वकरणक्षपक गुणस्थान का गमक होता है। अथवा अपूर्वकरणक्षपक गुणस्थान यह हेतु अनिवृत्तिकरणक्षपक गुणस्थान का गमक होता है।

अपूर्वकरणक्षपक गुणस्थान प्रगट होने के पहले सातिशय-अप्रमत्तसंयतक्षपक गुणस्थान होता है, ऐसा क्रमभावनियम है। इसलिये अपूर्वकरणक्षपक गुणस्थान यह हेतु सातिशय-अप्रमत्तसंयतक्षपक गुणस्थान का गमक होता है। अथवा सातिशय-अप्रमत्तसंयतक्षपक गुणस्थान यह हेतु अपूर्वकरणक्षपक गुणस्थान का गमक होता है।

सातिशय-अप्रमत्तसंयतक्षपक गुणस्थान प्रगट होने के पहले हजारों बार स्वस्थान अप्रमत्तसंयत-प्रमत्तसंयत, स्वस्थान अप्रमत्तसंयत- प्रमत्तसंयत, स्वस्थान-अप्रमत्तसंयत गुणस्थान इसतरह झूलता ही है। ऐसा क्रमभावनियम है। इसलिये सातिशय-अप्रमत्तसंयतक्षपक गुणस्थान यह हेतु स्वस्थान-अप्रमत्तसंयत गुणस्थान का गमक होता है।



जो भी प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है, वह 'जघन्य से अर्थात् कम से कम अन्तर्मुहूर्त में अथवा उत्कृष्ट से अर्धपुद्गलपरावर्तन के काल में' मोक्ष अर्थात् कार्यसिद्धपरमात्मा अवस्था प्राप्त करता है; ऐसा क्रमभावनियम है। इसलिये प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन यह हेतु कार्यसिद्धपरमात्मा का अर्थात् मोक्ष का गमक है।

और मोक्ष [कार्यसिद्धपरमात्मा] अवस्था प्राप्त होने के पहले अप्रमत्तसंयत गुणस्थान होता है, उस अप्रमत्तसंयत गुणस्थान के समय निर्ग्रंथ द्रव्यलिंग रहता ही है। ऐसा नियम (अविनाभाव) है।

← इसतरह हेतुत्व से अभिमत मैत्रीतनयत्व हेतु का साध्यरूप कालेपन के साथ सहभाव अथवा क्रमभाव नियम नहीं हैं, इसलिए मैत्रीतनयत्व हेतु कालेपनरूप साध्य का गमक नहीं होता है।

संस्कृत पृष्ठ नं. १००, संस्कृत परिच्छेद नं. ५१ →

यद्यपि सम्प्रतिपन्न मैत्रीपुत्रों में श्यामत्व और मैत्रीतनयत्व इन का सहभाव है तथापि वह नियत (नियम) नहीं है। 'मैत्रीतनयत्व विद्यमान रहे लेकिन श्यामत्व नहीं है' इस प्रकार के विपक्ष में बाधक का अभाव है। विपक्ष में बाधकप्रमाण के बल (सामर्थ्य) से हेतु और साध्य इनके व्याप्ति का निश्चय होता है। व्याप्ति के निश्चय से सहभावनियम अथवा क्रमभावनियम होता है। परीक्षामुखसूत्र ग्रन्थ-अध्याय ३ रा, सूत्र नं. १६ में कहा गया है कि 'सहभाव-क्रमभावनियम ही अविनाभाव है।' 'विवादाध्यासित पदार्थ वृक्ष होने योग्य है, क्योंकि शिंशपात्व (शीशमपना) है, जो-जो शिंशपा होता है वह-वह वृक्ष होता है' जैसे-ज्ञात (मालूम) शिंशपा वृक्ष। 'यहाँ हेतु रहे (हैं) और साध्य नहीं है' ऐसे विपक्ष में सामान्य-विशेष भावभंग प्रसंगवाला बाधक है। वृक्षत्व सामान्य है और शिंशपात्व उसका विशेष है। सामान्य का अभाव रहने पर विशेष नहीं रहता है। इसप्रकार 'मैत्रीतनयत्व है और श्यामत्व नहीं है' ऐसा कहने में कुछ बाधक नहीं है। इसलिये 'मैत्रीतनयत्व हेतु' हेत्वाभास ही है। 'मैत्रीतनयत्व हेतु' में पक्षधर्मत्व है क्योंकि पक्षीकृत गर्भस्थ में वह हेतु है। सपक्षरूप मौजूद (सम्प्रतिपन्न) मैत्रीपुत्रों में 'मैत्रीतनयत्व हेतु' विद्यमान रहने से मैत्रीतनयत्व हेतु में 'सपक्ष में सत्त्व' है; और विपक्षरूप गोरे मैत्री के पुत्रों से व्यावृत्त होने से मैत्रीतनयत्व हेतु में 'विपक्ष से व्यावृत्ति' है। श्यामत्व साध्यरूप विषय में बाधा न होने से मैत्रीतनयत्व हेतु में 'अबाधितविषयत्व' है। गर्भस्थ पुत्र का श्यामत्व किसी से बाधित नहीं किया जाता है। मैत्रीतनयत्व हेतु में 'असत्प्रतिपक्षत्व' भी है, क्योंकि प्रतिकूलसमबलप्रमाण का अभाव है। ऐसी पाँचरूप्यसम्पत्ति है। मैत्रीतनयत्व हेतु में त्रैरूप्य है क्योंकि सहस्रशतन्याय से वह सहज सिद्ध ही है।





विशेषार्थ – यद्यपि अभी मैत्री के गर्भ के बाहर विद्यमान रहनेवाले मैत्रीपुत्रों (मैत्री के पाँच पुत्रों) में कालेपन और मैत्रीतनयत्व का सहभाव है तथापि वह नियत यानी नियम नहीं है। 'मैत्रीतनयत्व अर्थात् मैत्री के पुत्रपना विद्यमान रहनेपर भी कालेपन नहीं है' इसप्रकार के विपक्ष में बाधा देनेवाले प्रमाण का अभाव है। विपक्ष में बाधक प्रमाण के बल से हेतु और साध्य इनके व्याप्ति का निश्चय होता है। व्याप्ति के निश्चय से सहभावनियम अथवा क्रमभाव नियम होता है। जैसे–(a) 'यह वस्तु वृक्ष है, क्योंकि शिंशपात्व (शीशमपना) है; जो-जो शिंशपा होता है, वह-वह वृक्ष होता है, जैसे– ज्ञात शिंशपा वृक्ष।'

मैत्री के बालक



(b) यह अव्रती रमेश मोक्षमार्गस्थ है, क्योंकि वह शुद्धात्मानुभव करता है; जो-जो अव्रती जीव शुद्धात्मानुभव करता है वह-वह मोक्षमार्गस्थ होता है, जैसे-श्रेणिक।

(c) वह जीव है, क्योंकि दुःखपर्याय है; जो-जो दुःखी है वह-वह जीव है, जैसे– यह दुःखी लड़का।



(d) यह वर्णवान (रंगीन) वस्तु है, क्योंकि लालपर्याय है, जो-जो लाल है वह-वह वर्ण (रंग/colour) है, जैसे– यह लाल गुलाब का फूल।

(f) यह वस्तु वृक्ष है, क्योंकि नारियलपना है; जो-जो नारियल होता है वह-वह वृक्ष होता है, जैसे- ज्ञात नारियल वृक्ष।

(g) यह वस्तु वृक्ष है, क्योंकि आम्रत्व है; जो-जो आम्र (आम) होता है वह-वह वृक्ष होता है, जैसे– ज्ञात आम का पेड़।

यदि कोई शंका करे कि 'हेतुरूप शिंशपा है लेकिन साध्यरूप वृक्षत्व नहीं है' तो सामान्य-विशेष के अविनाभाव का नाश होने का प्रसंगरूप [आपत्तिरूप] बाधक कारण विद्यमान है। अर्थात् उस व्यभिचाररूप

शंका को दूर करनेवाला अनुकूल तर्क विद्यमान है। यदि वृक्षत्व का अभाव है तो शिंशपा भी नहीं रहेगा; क्योंकि 'वृक्षत्व' यह सामान्य है और 'शिंशपा' यह उसका विशेष है, और सामान्य के बिना विशेष नहीं रहता है। इसलिये यहाँ सामान्य-विशेष के नाश होने का प्रसंगरूप बाधक कारण मौजूद (विद्यमान) है।

और भी देखिए–यदि कोई शंका करे कि 'नारियलपना यह हेतु है लेकिन वृक्षत्व साध्य नहीं है' तो सामान्य-विशेष के अविनाभाव का नाश होने का दोषरूप बाधक विद्यमान है। अर्थात् उस शंका को दूर करनेवाला अनुकूल तर्क विद्यमान है। यदि वृक्षत्व का अभाव है तो नारियलपना भी नहीं रहेगा; क्योंकि 'वृक्षत्व' यह सामान्य है और 'नारियल' यह उस वृक्ष का विशेष है।

वृक्षत्व
सामान्य



नारियल
विशेष

सामान्य के बिना विशेष नहीं रहता है।

यदि कोई शंका करे कि 'आम्रत्व यह हेतु है लेकिन वृक्षत्व साध्य नहीं है' तो सामान्य-विशेष के अविनाभाव का नाश होने का दोषरूप बाधक विद्यमान है। अर्थात् उस शंका को दूर करनेवाला अनुकूल तर्क विद्यमान है। यदि वृक्षत्व का अभाव है तो आम्रत्व भी नहीं रहेगा; क्योंकि 'वृक्षत्व' यह सामान्य है और 'आम्रत्व' यह उस वृक्ष का विशेष है।

वृक्षत्व
सामान्य

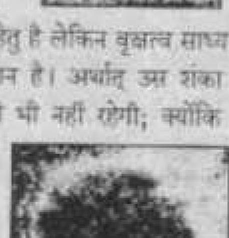


आम
विशेष

सामान्य के बिना विशेष नहीं रहता है।

यदि कोई शंका करे कि- 'इमली यह हेतु है लेकिन वृक्षत्व साध्य नहीं है' तो सामान्य-विशेष के अविनाभाव का नाश होने का दोषरूप बाधक विद्यमान है। अर्थात् उस शंका को दूर करनेवाला अनुकूल तर्क विद्यमान है। यदि वृक्षत्व का अभाव है तो इमली भी नहीं रहेगी; क्योंकि 'वृक्षत्व' यह सामान्य है और 'इमली' यह उस वृक्ष का विशेष है।

वृक्षत्व
सामान्य



इमली
विशेष

सामान्य के बिना विशेष नहीं रहता है।

यदि कोई शंका करे कि 'लालपर्याय यह हेतु विद्यमान है लेकिन रंग/वर्ण गुण साध्य नहीं है' तो सामान्य-विशेष के अविनाभाव का नाश होने का प्रसंगरूप (दोषरूप) बाधक विद्यमान है। अर्थात् उस शंका को दूर करनेवाला अनुकूल तर्क विद्यमान है। यदि वर्णगुण का अभाव है तो लालपर्याय भी नहीं रहेगी; क्योंकि 'वर्णगुण' यह सामान्य है और 'लालपर्याय' वह उस वर्णगुण की विशेष अवस्था है।

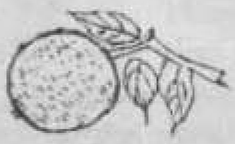
वर्णगुण
सामान्य



लालपर्याय
विशेष

सामान्य के बिना विशेष नहीं रहता है।

वर्णगुण
सामान्य



हरी पर्याय
विशेष

वर्णगुण
सामान्य



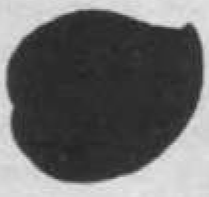
काली पर्याय
विशेष

वर्णगुण
सामान्य



सफेद (श्वेत) पर्याय
विशेष

रसगुण
सामान्य



खट्टी पर्याय
विशेष

रसगुण
सामान्य



मीठी पर्याय
विशेष

देखो चार्ट नं. २९, पृष्ठ नं. १९०

यदि कोई शंका करे कि 'मीठी पर्याय यह हेतु विद्यमान है लेकिन रसगुण साध्य विद्यमान नहीं है' तो सामान्य-विशेष के अविनाभाव का नाश होने का प्रसंगरूप बाधक विद्यमान है। यदि रसगुण का अभाव है तो मीठी पर्याय भी नहीं रहेगी; क्योंकि 'रसगुण' यह सामान्य है और मीठी पर्याय यह उस रसगुण की विशेष अवस्था है। सामान्य के बिना विशेष नहीं रहता है।

आम और आदमी का रंगीन चार्ट देखिए।

यदि कोई शंका करे कि 'सुगंधपर्याय यह हेतु विद्यमान है लेकिन गंधगुण साध्य विद्यमान नहीं है' तो सामान्य-विशेष के अविनाभाव का नाश होने का प्रसंगरूप बाधक विद्यमान है। यदि गंधगुण का अभाव है तो सुगंधपर्याय भी नहीं रहेगी; क्योंकि 'गंधगुण' यह सामान्य है और सुगंधपर्याय यह उस गंधगुण की विशेष अवस्था है। सामान्य के बिना विशेष नहीं रहता है।

यदि कोई शंका करे कि 'अल्पज्ञपर्याय यह हेतु विद्यमान है लेकिन ज्ञानगुण साध्य विद्यमान नहीं है' तो सामान्य-विशेष के अविनाभाव का नाश होने का प्रसंगरूप बाधक विद्यमान है। यदि ज्ञानगुण का अभाव है तो अल्पज्ञपर्याय भी नहीं रहेगी। [अर्थात् 'ज्ञानगुण अर्थात् शुद्धपारिणामिकभाव का अभाव है तो अल्पज्ञपर्याय भी नहीं रहेगी] क्योंकि 'ज्ञानगुण अर्थात् शुद्धपारिणामिकभाव' यह सामान्य है और अल्पज्ञपर्याय यह उस ज्ञानगुण की विशेष अवस्था है। सामान्य के बिना विशेष नहीं रहता है।

यदि कोई शंका करे कि 'मिथ्याज्ञानपर्याय यह हेतु अभी विद्यमान है लेकिन ज्ञानगुण अर्थात् शुद्धपारिणामिकभाव साध्य अभी विद्यमान नहीं है।' [शब्दनय से और शुद्धनिश्चयनय/अभेदवृत्तिनय से ज्ञानगुण अर्थात् शुद्धपारिणामिकभाव अभी नहीं है; भावी नैगमनय से ज्ञानगुण अर्थात् शुद्धपारिणामिकभाव अभी विद्यमान है; ऋजुसूत्रनय से और शब्दनय से ज्ञानगुण अर्थात् शुद्धपारिणामिकभाव सिद्ध अवस्था में प्रकट होगा] तो सामान्य-विशेष के अविनाभाव का नाश होने का प्रसंगरूप बाधक विद्यमान है। यदि 'ज्ञानगुण अर्थात् शुद्धपारिणामिकभाव' का अभी अभाव है तो मिथ्याज्ञानपर्याय भी अभी नहीं रहेगी; क्योंकि 'ज्ञानगुण अर्थात् शुद्धपारिणामिकभाव' यह सामान्य है और मिथ्याज्ञानपर्याय यह उस ज्ञानगुण की विशेष अवस्था है। सामान्य के बिना विशेष नहीं रहता है। देखो चार्ट नं. २, पृ. नं. ४९।

यदि कोई शंका करे कि 'दुःखपर्याय यह हेतु अभी विद्यमान है लेकिन आनंदगुण अर्थात् शुद्धपारिणामिकभाव साध्य अभी विद्यमान नहीं है' [शब्दनय से और शुद्धनिश्चयनय/अभेदवृत्तिनय से आनंदगुण अर्थात् शुद्धपारिणामिकभाव अभी नहीं है, भावी नैगमनय से आनंदगुण अर्थात् शुद्धपारिणामिकभाव अभी विद्यमान है, ऋजुसूत्रनय से और शब्दनय से आनंदगुण अर्थात् शुद्धपारिणामिकभाव सिद्ध अवस्था में प्रगट होगा] तो सामान्य-विशेष के अविनाभाव का नाश होने का प्रसंगरूप बाधक विद्यमान है। यदि 'आनंदगुण अर्थात् शुद्धपारिणामिकभाव' का अभी अभाव है तो दुःखपर्याय भी अभी नहीं रहेगी; क्योंकि 'आनंदगुण अर्थात् शुद्धपारिणामिकभाव' यह सामान्य है और दुःखपर्याय यह उस आनंदगुण की विशेष अवस्था है। सामान्य के बिना विशेष नहीं रहता है।

चार्ट नं. २७

शाश्वत
अविनाशी, ध्रुव

अवस्था
क्षणिक, पर्याय

निश्चयनय से और
शब्दनय से जीव अभी है।



ऋजुसूत्रनय से और शब्दनय से अभी इंजिनीयर है। भूतनैगमनय से इंजिनीयर नहीं।

निश्चयनय से और
शब्दनय से जीव अभी है।



ऋजुसूत्रनय से और शब्दनय से अभी बालक है। ऋजुसूत्रनय से और शब्दनय से अभी इंजिनीयर नहीं। भावी नैगमनय से इंजिनीयर है। शब्दनय से भविष्यकाल में यह इंजिनीयर होगा।

निश्चयदृष्टि



द्रव्यदृष्टि

व्यवहारदृष्टि



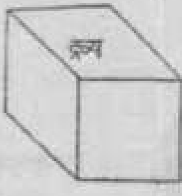
पर्यायदृष्टि

चार्ट नं. २८

शाश्वत
अविनाशी, ध्रुव

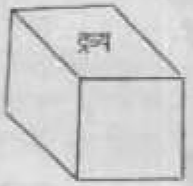
अवस्था
क्षणिक, पर्याय

निश्चयनय से और शब्दनय से ज्ञानदर्शनानंदवाला जीवत्व शाश्वत शुद्ध (अनादि-अनंत शुद्ध) है।



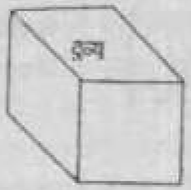
ऋजुसूत्रनय से और शब्दनय से आत्मा परमात्मा है । भावी नैगमनय से परमात्मा है । भूतनैगमनय से संसारी है ।

↑ निश्चयनय से और शब्दनय से ज्ञानदर्शनानंदवाला जीवत्व शाश्वत शुद्ध (अनादि-अनंत शुद्ध) है।



ऋजुसूत्रनय से और शब्दनय से आत्मा अन्तरात्मा है। ऋजुसूत्रनय से और शब्दनय से बहिरात्मा नहीं। ऋजुसूत्रनय से और शब्दनय से परमात्मा नहीं। भावी नैगमनय से परमात्मा है। शब्दनय से भविष्यकाल में परमात्मा होगा। भूतनैगमनय से बहिरात्मा है।

↑ निश्चयनय से और शब्दनय से ज्ञानदर्शनानंदवाला जीवत्व शाश्वत शुद्ध (अनादि-अनंत शुद्ध) है ।



ऋजुसूत्रनय से और शब्दनय से आत्मा बहिरात्मा है। ऋजुसूत्रनय से और शब्दनय से परमात्मा नहीं। ऋजुसूत्रनय से और शब्दनय से अंतरात्मा नहीं। भावी नैगमनय से परमात्मा है। शब्दनय से भविष्यकाल में परमात्मा होगा। भावी नैगमनय से अंतरात्मा है। शब्दनय से भविष्यकाल में अंतरात्मा होगा।

निश्चयदृष्टि



द्रव्यदृष्टि

व्यवहारदृष्टि



पर्यायदृष्टि

वस्तु के अविनाशी अंश और क्षणिक अंश जानकर "मेरा आत्मा शाश्वत ज्ञानानंदमय अनादि-अनन्त शुद्ध है" ऐसा विचार किया तो अभी सम्यक् आनंद प्राप्त होता है, समाधान, समता और शांति प्राप्त होती है और सब दुःख नष्ट होते हैं।

यदि कोई शंका करे कि 'क्रोधपर्याय यह हेतु अभी विद्यमान है लेकिन चारित्रगुण अर्थात् शुद्धपारिणामिकभाव साध्य अभी नहीं है' [शब्दनय से और शुद्धनिश्चयनय/अभेदवृत्तिनय से चारित्रगुण अर्थात् शुद्धपारिणामिकभाव अभी नहीं है, भावी नैगमनय से चारित्रगुण अर्थात् शुद्धपारिणामिकभाव अभी विद्यमान है, ऋजुसूत्रनय से और शब्दनय से चारित्रगुण अर्थात् शुद्धपारिणामकभाव सिद्ध अवस्था में प्रकट होगा] तो सामान्य-विशेष के अविनाभाव का नाश होने का प्रसंगरूप बाधक विद्यमान है। यदि 'चारित्रगुण अर्थात् शुद्धपारिणामिकभाव' का अभी अभाव है तो क्रोधपर्याय भी अभी नहीं रहेगी; क्योंकि 'चारित्रगुण अर्थात् शुद्धपारिणामिकभाव' यह सामान्य है और क्रोधपर्याय यह उस चारित्रगुण की विशेष अवस्था है। सामान्य के बिना विशेष नहीं रहता है।

यदि कोई शंका करे कि 'मिथ्यादर्शनपर्याय यह हेतु अभी विद्यमान है लेकिन श्रद्धागुण अर्थात् शुद्धपारिणामिकभाव साध्य अभी विद्यमान नहीं है' [शब्दनय से और शुद्धनिश्चयनय/अभेदवृत्तिनय से श्रद्धागुण अर्थात् शुद्धपारिणामिकभाव अभी नहीं है, भावी नैगमनय से श्रद्धागुण अर्थात् शुद्धपारिणामिकभाव अभी विद्यमान है, ऋजुसूत्रनय से और शब्दनय से श्रद्धागुण अर्थात् शुद्धपारिणामिकभाव सिद्ध अवस्था में प्रगट होगा] तो सामान्य-विशेष के अविनाभाव का नाश होने का प्रसंगरूप बाधक विद्यमान है। यदि 'श्रद्धागुण अर्थात् शुद्धपारिणामिकभाव' का अभी अभाव है तो मिथ्यादर्शनपर्याय भी अभी नहीं रहेगी; क्योंकि 'श्रद्धागुण अर्थात् शुद्धपारिणामिकभाव' यह सामान्य है और मिथ्यादर्शनपर्याय यह उस श्रद्धागुण की विशेष अवस्था है। सामान्य के बिना विशेष नहीं रहता है।

इस प्रकार का सहभावनियम 'मैत्रीतनयत्व और श्यामत्व' में नहीं है। इसलिये 'मैत्रीतनयत्व और श्यामत्व' में क्रमभावनियम तथा सहभावनियम न होने से 'मैत्रीतनयत्व है लेकिन श्यामत्व (कालेपना) नहीं है' ऐसा कहने में कुछ बाधक नहीं है। इसलिये 'मैत्रीतनयत्व हेतु' हेत्वाभास (झूठा हेतु) ही है।

अर्थात् (I) पक्षीकृत गर्भस्थ में मैत्रीतनयत्व हेतु रहने से मैत्रीतनयत्व हेतु में पक्षधर्मत्व है, (II) सपक्षरूप विद्यमान मैत्रीपुत्रों में मैत्रीतनयत्व हेतु रहने से मैत्रीतनयत्व हेतु में 'सपक्ष में सत्त्व' है, (III) विपक्षरूप 'गोरे मैत्री के पुत्रों में' मैत्रीतनयत्व हेतु न रहने से मैत्रीतनयत्व हेतु में 'विपक्ष से व्यावृत्ति' है, (IV) शामत्व-साध्यरूप विषय में बाधा न होने से मैत्रीतनयत्व हेतु में 'अबाधितविषयत्व (एक अपेक्षा से अबाधितविषयत्व)' है, और (V) एक अपेक्षा से गर्भस्थ पुत्र का कालेपना किसीसे बाधित न होने से अर्थात् प्रतिकूल-समबलप्रमाण न रहने से मैत्रीतनयत्व हेतु में 'असत्प्रतिपक्षत्व' भी है; ''यानी मैत्रीतनयत्व हेतु में सौगताभिमत त्रैरूप्य तथा नैयायिकाभिमत पाँचरूप्यसम्पत्तिलक्षण है'' तो भी मैत्रीतनयत्व हेतु में 'अन्यथानुपपत्तिलक्षण' न होने से मैत्रीतनयत्व हेतु 'श्यामत्व' का गमक नहीं है।

संस्कृत पृष्ठ नं. १००-१०१ संस्कृत परिच्छेद नं. ५२-५३ →

शंका – [नैयायिक तथा बौद्ध आदि] – उपर्युक्त विवेचन में यदि पाँचरूप्यमात्र हेतु का लक्षण नहीं है तो फिर अन्यथानुपपत्तिसहित पाँचरूपता को हेतु का लक्षण मानो?

समाधान [जैन] – तो फिर उस (हेतु) का वह ही एक अन्यथानुपपत्ति लक्षण रहे/मानो, क्योंकि अन्यथानुपपत्ति के अभाव में पाँचरूपता रहने पर भी मैत्रीतनयत्वादि हेतु में हेतुत्व नहीं है और अन्यथानुपपत्ति के सद्भाव में पाँचरूपता न होने पर भी 'कृत्तिकोदयादि' हेतु में हेतुत्व है।

बौद्धों के लिये ऐसा कहा गया है कि –

श्लोकार्थ – जहाँ अन्यथानुपपत्ति है वहाँ तीनरूपता (त्रैरूप्य) रहने पर भी कुछ लाभ नहीं है और जहाँ अन्यथानुपपत्ति नहीं वहाँ तीनरूपता (त्रैरूप्य) रहने पर भी कुछ लाभ नहीं है।

नैयायिकादि के लिये ऐसा कहा गया है कि –

श्लोकार्थ–**जहाँ अन्यथानुपपत्ति है वहाँ पाँचरूपता रहने पर भी कुछ लाभ नहीं है और जहाँ अन्यथानुपपत्ति नहीं वहाँ पाँचरूपता रहने पर भी कुछ लाभ नहीं है।**

इसलिये अन्यथानुपपत्ति ही हेतु का लक्षण है।

विशेषार्थ–**शंका**-पूर्व में किये हुए कथन से यदि (I) पक्षधर्मत्व, (II) सपक्ष में सत्त्व, (III) विपक्ष से व्यावृत्ति ये तीनरूपतामात्र हेतु का लक्षण नहीं है और यदि (i) पक्षधर्मत्व, (ii) सपक्ष में सत्त्व, (iii) विपक्ष से व्यावृत्ति, (iv) अबाधितविषयत्व, (v) असत्प्रतिपक्षत्व ये पाँचरूपतामात्र हेतु का लक्षण नहीं है तो फिर अन्यथानुपपत्तिसहित पाँचरूपता को हेतु का लक्षण मानेंगे तो ठीक है क्या?

समाधान–एक अन्यथानुपपत्ति को ही हेतु का लक्षण कहा है। अन्यथानुपपत्तिसहित (I) पक्षधर्मत्व, (II) सपक्ष में सत्त्व, (III) विपक्ष से व्यावृत्ति, (IV) अबाधितविषयत्व, (V) असत्प्रतिपक्षत्व ये पाँचरूप मानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि एक अन्यथानुपपत्ति के सद्भाव में पाँचरूपता न रहने पर भी कृत्तिकोदय हेतु में हेतुपना है और अन्यथानुपपत्ति के अभाव में पाँचरूपता का सद्भाव रहने पर भी मैत्रीतनयत्व हेतु में हेतुपना नहीं है। अर्थात् अन्यथानुपपत्तिरहित पाँचरूपतालक्षणवाला हेतु साध्य की सिद्धि नहीं कर सकता है।

इसलिये अन्यथानुपपत्ति ही हेतु का लक्षण है, क्योंकि अन्यथानुपपत्तिलक्षणवाले हेतु से साध्य की सुनिश्चित सिद्धि होती है।

शंका–इसका दैनंदिन जीवन में क्या लाभ है?

समाधान– (१) वस्तुस्वरूप का निर्णय करने के लिये अन्यथानुपपत्तिलक्षणवाले हेतु कार्यकारी हैं।
(२) सम्यग्दर्शन का निर्णय करने के लिये अन्यथानुपपत्तिलक्षणवाले हेतु कार्यकारी हैं।
(३) मोक्षमार्ग का निर्णय करने के लिये अन्यथानुपपत्तिलक्षणवाले हेतु कार्यकारी हैं।
(४) मोक्ष का निर्णय करने के लिये अन्यथानुपपत्तिलक्षणवाले हेतु कार्यकारी हैं।
(५) सम्यक्-आनंद का निर्णय करने के लिये अन्यथानुपपत्तिलक्षणवाले हेतु कार्यकारी हैं।
(६) बीमारी का निर्णय करने के लिये अन्यथानुपपत्तिलक्षणवाले हेतु कार्यकारी हैं।
(७) रसोई बनाते समय अन्यथानुपपत्तिलक्षणवाले हेतु कार्यकारी हैं।
(८) जलपर्यटन के लिये अन्यथानुपपत्तिलक्षणवाले हेतु कार्यकारी हैं।
(९) हवाई जहाज चलाने के लिये अन्यथानुपपत्तिलक्षणवाले हेतु कार्यकारी हैं।
(१०) निमित्तशास्त्र/भविष्य के लिये अन्यथानुपपत्तिलक्षणवाले हेतु कार्यकारी हैं।
(११) खेती करने के लिये अन्यथानुपपत्तिलक्षणवाले हेतु कार्यकारी हैं।
(१२) पदार्थविज्ञान, रसायनविज्ञान में अन्यथानुपपत्तिलक्षणवाले हेतु कार्यकारी हैं।
(१३) यंत्रादि में अन्यथानुपपत्तिलक्षणवाले हेतु कार्यकारी हैं।
(१४) न्यायाधीश, वकील इनको अन्यथानुपपत्तिलक्षणवाले हेतु कार्यकारी हैं।
(१५) पुलिस आदि को अन्यथानुपपत्तिलक्षणवाले हेतु कार्यकारी हैं।
(१६) राजकीय, सामाजिक कार्य के लिये अन्यथानुपपत्तिलक्षणवाले हेतु कार्यकारी हैं।
(१७) शिल्पकला के लिये अन्यथानुपपत्तिलक्षणवाले हेतु कार्यकारी हैं।
(१८) वाणिज्य/व्यापार के लिये अन्यथानुपपत्तिलक्षणवाले हेतु कार्यकारी हैं।

(१९) रेडिओ, टी.व्ही., व्ही.डी.ओ., सिनेमा, गायन, फोटो, कैमेरा के लिये अन्यथानुपपत्तिलक्षणवाले हेतु कार्यकारी हैं।

(२०) स्फुटनिक, रोबो, कॉम्प्युटर के लिये अन्यथानुपपत्तिलक्षणवाले हेतु कार्यकारी हैं।

(२१) इत्यादि ।

[हेतु के भेद]

संस्कृत पृष्ठ नं. १०१, संस्कृत परिच्छेद नं. ५४ →

वह इस अन्यथानुपपत्तिनिश्चय-एकलक्षणवाले हेतु के संक्षेप से दो प्रकार है–

(१) विधिरूप और

(२) प्रतिषेधरूप।

(१) विधिरूप हेतु के भी दो प्रकार है- (I) विधिसाधक और (II) प्रतिषेधसाधक। उसमें -

(I) विधिसाधक के अनेक प्रकार है। जैसे–

(A) कार्यरूप-कोई कार्यरूप है। जैसे– 'यह पर्वत अग्निमान है, क्योंकि धूमवानपना की अन्यथा-नुपपत्ति है' ऐसे यहाँ धूम यह हेतु विधिरूप-विधिसाधक कार्यरूप है; क्योंकि धूम अग्नि का कार्यभूत है, अग्नि के अभाव में धूम रहता नहीं, इसलिये धूम अग्नि का गमक है।

(B) कारणरूप- कोई कारणरूप है। जैसे- 'वृष्टि (बरसात) होगी, क्योंकि विशिष्ट मेघों (विशिष्ट बादलों) की अन्यथानुपपत्ति है' ऐसे यहाँ विशिष्ट मेघ यह हेतु विधिरूप-विधिसाधक कारणरूप है; क्योंकि विशिष्ट बादल बरसात के कारण है, इसलिये वे विशिष्ट बादल स्वकार्यभूत बरसात के गमक हैं।

विशेषार्थ– अन्यथानुपपत्तिनिश्चयरूप एक ही लक्षणवाले हेतु के संक्षेप से (१) विधिरूप और (२) प्रतिषेधरूप ऐसे दो भेद हैं।

(१) विधिरूप हेतु–साधन/हेतु/चिन्ह का विधि अर्थात् सद्भाव रहना। उसके भी दो भेद हैं– (I) विधिरूपविधिसाधक और (II) विधिरूपप्रतिषेधसाधक।

(I) विधिरूपविधिसाधक–साधन/हेतु का सद्भाव रहना और उससे सद्भावरूप साध्य की सिद्धि करना। उसके अनेक प्रकार हैं। जैसे–

(A) कार्यरूप– कोई हेतु कार्यरूप है। जैसे–'यह पर्वत अग्निमान है, क्योंकि धूमवानपना का सद्भाव है, यदि अग्नि न होती तो धूम का सद्भाव भी दिखाई न देता।' ऐसे यहाँ धूम यह हेतु सद्भावरूप अर्थात् विधिरूप है और उस विधिरूप हेतु का साध्य अग्नि है, उस अग्नि साध्य का भी सद्भाव है। अर्थात् सद्भावरूप/विधिरूप हेतु से सद्भावरूप/विधिरूप साध्य सिद्ध किया। इसलिये विधिरूप हेतु विधिरूप साध्य का साधक है। इसलिये हेतु विधिरूपविधिसाधक है; और यहाँ धूम यह हेतु विधिरूपविधिसाधक कार्यरूप है, क्योंकि धूम अग्नि का कार्य है, अग्नि के अभाव में धूम का सद्भाव नहीं रहता है। इसलिये धूम अग्नि का गमक है।

'इस कुएँ में जल है, क्योंकि कुएँ में बाल्टी छोड़कर बाल्टी ऊपर खींचकर देखा तो बाल्टी जल से पूर्ण भरी हुई है।' ऐसे यहाँ कुएँ में से खींची हुई बाल्टी 'जल से पूर्ण भरी हुई है' यह हेतु सद्भावरूप/विधिरूप है और उस विधिरूप हेतु का साध्य 'कुएँ में जल है।' यह साध्य भी सद्भावरूप/विधिरूप है। अर्थात् सद्भावरूप/विधिरूप हेतु से सद्भाव/विधिरूप साध्य सिद्ध किया। इसलिये विधिरूप हेतु विधिरूप साध्य

का साधक है। इसलिये हेतु विधिरूपविधिसाधक है; और 'जल बाहर आया है' यह कार्य है। यदि इस गहरे कुएँ में जल न होता तो इस बाल्टी में जल न आता। इसलिये 'उस बाल्टी में जल है' यह हेतु विधिरूपविधिसाधककार्यरूप है। यह हेतु 'उस गहरे कुएँ में जल है' इस साध्य का गमक है।

'इस देह में जीव है, क्योंकि जानने की क्रिया/कार्य हो रही है।' ऐसे यहाँ 'जानने की क्रिया है' यह हेतु सद्भावरूप अर्थात् विधिरूप है और उस विधिरूप हेतु का साध्य 'जीव' है, उस जीव-साध्य का सद्भाव है। अर्थात् सद्भावरूप/विधिरूप हेतु से सद्भावरूप/ विधिरूप साध्य सिद्ध किया। इसलिये विधिरूप हेतु विधिरूप साध्य का साधक है। इसलिये हेतु विधिरूपविधिसाधक है और यहाँ 'जानने की क्रिया' यह हेतु विधिरूपविधिसाधक कार्यरूप है, क्योंकि 'जानने की क्रिया' जीव का कार्य/पर्याय है, जीव के अभाव में 'जानने की क्रिया' का सद्भाव नहीं रहता है। इसलिये 'जानने की क्रिया' जीव का गमक है।

'मैं' लाल वस्तु को जानता हूँ। 'मैं' शीतवस्तु को जानता हूँ। 'मैं' मीठेरस को जानता हूँ, इत्यादि। इसतरह यहाँ मेरे में 'मैं' 'मैं' ऐसा स्वसंवेदन होता है, इसलिये मैं जीव हूँ। ऐसे यहाँ 'स्वसंवेदन होता है' यह विधिरूपकार्यहेतु है और उस हेतु का 'मैं जीव हूँ' यह सद्भावरूप साध्य है। इसलिये 'स्वसंवेदन होता है' यह हेतु विधिरूपविधिसाधक कार्यरूप हेतु है।

'अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंत अतींद्रिय आनंद और अनंतवीर्यवाला कार्यसमयसार है, इसलिये ज्ञानदर्शन-आनंदवीर्यवाला कारणसमयसार है।' ऐसे यहाँ 'अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंत अतींद्रिय आनंद और अनंतवीर्य वाला कार्यसमयसार है' यह विधिरूपकार्यहेतु है और उस हेतु का 'कारणसमयसार है' यह सद्भावरूप साध्य है। इसलिये 'अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंत अतींद्रिय आनंद और अनंतवीर्य वाला कार्यसमयसार है' यह हेतु विधिरूपविधिसाधक कार्यरूप हेतु है।

[इसलिये अनंतज्ञानादि चतुष्टय वाले कार्यसमयसार परमात्मा ही आदर्श हैं क्योंकि उससे उसके समान अपने कारणसमयसार में शक्ति है, इसका निर्णय होता है। इसलिये सरागदेव (जिनके पास अनंतज्ञानादि चतुष्टय नहीं है, ऐसे सरागदेव) आदर्श नहीं हैं; क्योंकि सरागदेव के पर्याय/कार्य को आदर्श रखने पर 'अपने कारणसमयसार में अल्प शक्ति है' ऐसा निर्णय होगा और वह निर्णय वस्तुस्वरूप के आधार से मिथ्या (गलत) है।]

[Low aim is a crime]

(B) कारणरूप-कोई हेतु कारणरूप है। जैसे–'वृष्टि/बरसात होगी, क्योंकि विशिष्ट मेघों/विशिष्ट बादलों का सद्भाव है।' अन्यथा विशिष्ट बादल दिखाई नहीं देते हैं। ऐसे यहाँ 'विशिष्ट बादल (विशिष्ट मेघ)' यह हेतु विधिरूपविधिसाधक कारणरूप है, क्योंकि विशिष्ट बादल बरसात के कारण है। इसलिये वे विशिष्ट बादल अपने कार्यरूप बरसात के गमक है।

'इस अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त होगा, क्योंकि वह अभी करणलब्धि में है। ऐसे यहाँ 'करणलब्धि है' यह हेतु विधिरूप है और उसका 'सम्यग्दर्शन प्राप्त होगा' वह साध्य भी विधिरूप है। इसलिये 'करणलब्धि है' यह हेतु विधिरूपविधिसाधक कारणरूप है।

'यह जीव चौदहवें गुणस्थान के चरम समयवाला है, इसलिये अब सिद्ध अवस्था प्राप्त करेगा।' ऐसे यहाँ 'चौदहवें गुणस्थान के चरम समयवाला है' यह हेतु विधिरूप है और उसका साध्य भी विधिरूप है। इसलिये 'चौदहवें गुणस्थान के चरम समयवाला है' यह हेतु विधिरूपविधिसाधक कारणरूप है।

संस्कृत पृष्ठ नं. १०१-१०२, संस्कृत परिच्छेद नं. ५५→

शंका (सौगतादि)–कार्य कारण का अनुमापक (गमक) रहो, क्योंकि कारण के अभाव में कार्य दिखाई नहीं देता है। लेकिन कार्य के अभाव में भी कारण का सद्भाव रहता है। जैसे–धूम के अभाव में भी अग्नि का सद्भाव दिखाई देता है, इसलिये ही अग्नि धूम का गमक नहीं है।

समाधान (जैन)–यह आपका कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उन्मीलितशक्तिवाले कारण का कार्य के साथ अव्यभिचारीपना होने से कार्य के प्रति हेतुत्व का अविरोध है।

विशेषार्थ-शंका– 'कार्य कारण का अनुमापक (गमक) है' यह ठीक है क्योंकि कारण के अभाव में कार्य दिखाई नहीं देता है। लेकिन कार्य के अभाव में भी कारण का सद्भाव रहता है। जैसे–धूम के अभाव में भी अंगार अवस्थापन्न अग्नि का सद्भाव दिखाई देता है, इसलिये ही अग्नि धूम का गमक नहीं है। ऐसा मानना ठीक है क्या?

समाधान– 'कारण कार्य का अनुमापक नहीं है अथवा कारणरूप हेतु से कार्यरूप साध्य की सिद्धि नहीं की जाती' यह आपका कथन ठीक नहीं है; क्योंकि उन्मीलितशक्तिवाले कारण का कार्य के साथ निर्दोष अविनाभाव संबंध होने से कार्य के प्रति हेतुत्व का विरोध नहीं है।

↑ वर्तमानपर्यायविशिष्टद्रव्य कार्य है।
[धूम कार्य है]

↑ पूर्वपर्यायविशिष्टद्रव्य कारण है।
[अग्नि कारण है]

[इससे क्रमनियमित पर्याय की सिद्धि होती है।]

शंका–

ध्रुव		पर्याय, अवस्था
कारणसिद्धपरमात्मा		कार्यसिद्धपरमात्मा
[अनादि-अनंतशुद्धध्रुव]		[सादि-अनंतशुद्धपर्याय]

यहाँ 'कार्यसिद्धपरमात्मा कारणसिद्धपरमात्मा का अनुमापक/गमक होता है, क्योंकि कारणसिद्धपरमात्मा (ध्रुव) के अभाव में कार्यसिद्धपरमात्मा दिखाई नहीं देता है' यह मान्य है। लेकिन कार्यसिद्धपरमात्म-अवस्था के अभाव में (अर्थात् संसार अवस्था के सद्भाव रहते हुए) भी कारणसिद्धपरमात्मा (ध्रुव) का सद्भाव रहता है। जैसे- कार्यसिद्धपरमात्म-अवस्था के अभाव में भी [अभव्यपर्याय रहते हुए (रहने पर) भी] कारणसिद्धपरमात्मा (ध्रुव) का सद्भाव दिखाई देता है, इसलिये ही कारणसिद्धपरमात्मा कार्यसिद्धपरमात्मा का अनुमापक नहीं है।

ध्रुव		पर्याय	ध्रुव		पर्याय	ध्रुव		पर्याय
कारण-↑ परमात्मा (अनादि-अनंतशुद्ध) भव्यत्व-रहित अभव्यत्व-रहित जीवत्व ↑	द्रव्य	कार्यसिद्ध कार्यपर-मात्मा (सादि-अनंतशुद्ध) भव्यत्व-रहित अभव्यत्व-रहित	कारण - परमात्मा (अनादि-अनंतशुद्ध) भव्यत्व-रहित अभव्यत्व-रहित जीवत्व ↑	द्रव्य	कार्यसिद्ध-रहित, संसार-अवस्था (अनादि-अनंत-अशुद्ध) भव्यत्व-सहित अभव्यत्व-रहित	कारण-परमात्मा (अनादि-अनंतशुद्ध) भव्यत्व-रहित अभव्यत्व-रहित, जीवत्व ↑	द्रव्य	कार्यसिद्ध-रहित, संसार-अवस्था (अनादि-अनंत-अशुद्ध) भव्यत्व-रहित, अभव्यत्व-सहित
↑ कारण-परमात्मा (अनादि-अनंतशुद्ध) भव्यत्व-रहित, अभव्यत्व-रहित जीवत्व	द्रव्य	कार्यसिद्ध-रहित संसार-अवस्था (अनादि-सान्त-अशुद्ध) भव्यत्व-सहित, अभव्यत्व-रहित	↑ कारण - परमात्मा (अनादि-अनंतशुद्ध) भव्यत्व-रहित, अभव्यत्व-रहित, जीवत्व	द्रव्य	कार्यसिद्ध-रहित संसार-अवस्था (अनादि-अनंत-अशुद्ध) भव्यत्व-सहित, अभव्यत्व-रहित	↑ कारण - परमात्मा (अनादि-अनंतशुद्ध) भव्यत्व-रहित, अभव्यत्व-रहित, जीवत्व	द्रव्य	कार्यसिद्ध-रहित संसार-अवस्था (अनादि-अनंत-अशुद्ध) भव्यत्व-रहित, अभव्यत्व-सहित

इसलिये ध्रुव/कारणपरमात्मा कार्यसिद्धपरमात्मा का गमक नहीं। इसलिये कारणरूप हेतु कार्य का अनुमापक मानना ठीक नहीं है।

समाधान– 'कारणरूप हेतु कार्य का अनुमापक नहीं है' यह आपका कथन ठीक नहीं है; क्योंकि आप जिस विवक्षा से (अपेक्षा से) कह रहे हैं, वह विवक्षा यहाँ इस प्रकरण में नहीं, अन्यत्र है। जो विवक्षा जहाँ है, वह विवक्षा (अपेक्षा) वहीं लेनी चाहिये, क्योंकि यहाँ उन्मीलितशक्तिरूप अर्थात् पूर्वपर्यायविशिष्टद्रव्यरूप कारण का कार्य के साथ निर्दोष अविनाभाव संबंध होने से कार्य के प्रति हेतुत्व (गमक होने) का विरोध नहीं है। जैसे–

ध्रुव		पर्याय
कारणपरमात्मा अनादि-अनंतशुद्ध		वर्तमान-प्रथमसमयवर्ती कार्यसिद्धपरमात्मा अर्थात् वर्तमानपर्यायविशिष्टद्रव्य कार्य है। ↑
कारणपरमात्मा अनादि-अनंतशुद्ध		पूर्वपर्याय चौदहवें गुणस्थान की चरमसमयपर्यायसहितविशिष्टद्रव्य कारण है (अर्थात् आगे की पर्याय का कारण है और इसके पूर्वपर्याय का यानी चौदहवें गुणस्थान की उपांत्य पर्याय का कार्य है)।

इसके लिए देखिए **श्लोकवार्तिक (गांधी नाथारंगजी प्रकाशन) अध्याय नं. १, सूत्र नं. १, पृष्ठ नं. ६५→**

(पं. माणिकचंद कौंदेयकृत हिंदी भाषांतर, आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमाला सोलापुर प्रकाशन, पृष्ठ नंबर ४८८-४८९)-

न च तेन विरुध्येत त्रैविध्यं मोक्षवर्त्मनः।
विशिष्टकालयुक्तस्य तत्त्रयस्यैव शक्तितः॥८६॥
तेनायोगिजिनस्यान्त्यक्षणवर्ति प्रकीर्तितम्।
रत्नत्रयमशेषाघविघातकरणं ध्रुवम्॥८७॥

अर्थ–और मोक्षमार्ग के त्रैविध्य को उससे विरोध नहीं आता है, क्योंकि विशिष्टकालयुक्त उस रत्नत्रय की ही शक्ति से मोक्षकार्य होता है।

और भी देखिए, **स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा-गाथा नं. २३० और शुभचंद्राचार्यरचित टीका→**

"पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्वं।
उत्तरपरिणामजुदं तं चिय कज्जं हवे णियमा॥२३०॥

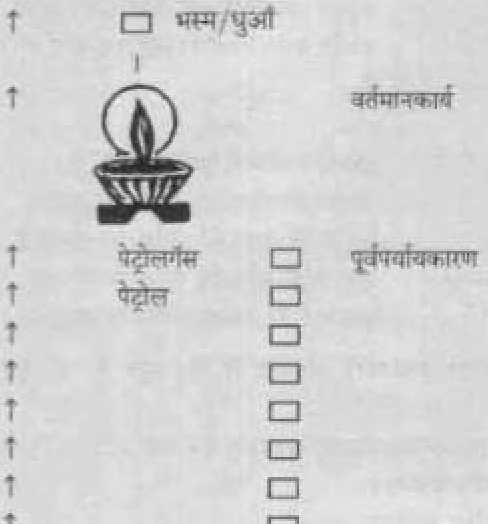
द्रव्यं जीवपुद्गलादिवस्तु, पूर्वपरिणामयुक्तं पूर्वपर्यायाविष्टं, कारणभावेन उत्तरभावकार्यस्य कारणभावेन उपादानकारणत्वेन वर्तते।.... उत्तरपरिणामयुक्तं उत्तरपर्यायसहितं नियमात् कार्यं भवेत्, साध्यं स्यात्।"

अर्थ–पूर्वपरिणाम से युक्त द्रव्य अर्थात् पूर्वपर्यायविशिष्ट द्रव्य नियम से कारणरूप होता है और उत्तरपरिणामयुक्त द्रव्य (वर्तमानपर्यायविशिष्ट द्रव्य) ही नियम से कार्य है।

और भी देखिए श्री आचार्य विद्यानंदिविरचित अष्टसहस्री [सतदानसमिति, श्री आदिनाथ दिगंबर जैन मंदिर, शुक्रवार पेठ, सोलापुर प्रकाशन] पृष्ठ नं. १०९ और १००→

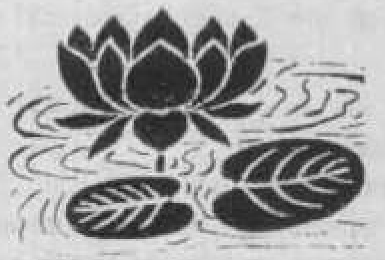
"यदभावे हि नियमतः कार्यस्य उत्पत्तिः सः प्रागभावः, यद्भावे च कार्यस्य नियता विपत्तिः स प्रध्वंसः। न च इतरेतराभावस्य अभावे भावे च कार्यस्य उत्पत्तिः विपत्तिः वा जलस्य अभावे अपि अनलस्य अनुत्पत्तेः क्वचित् तद्भावे च तस्य अविपत्तेः।"

अर्थ–[बाजूका चित्र नीचे से ऊपर देखिए।]



जिसके अभाव में नियम से कार्य की उत्पत्ति होती है वह प्रागभाव है और जिसके सद्भाव में कार्य की नियम से विपत्ति होती है वह प्रध्वंसाभाव है।

और इतरेतराभाव (अन्योन्याभाव) के अभाव में कार्य की उत्पत्ति अथवा विपत्ति नहीं होती है और इतरेतराभाव के सद्भाव में कार्य की उत्पत्ति अथवा विपत्ति नहीं होती है। जैसे–जल के अभाव में अनल/अग्नि की उत्पत्ति नहीं होती है और जल के सद्भाव में अग्नि की विपत्ति नहीं होती है क्योंकि अग्निपर्याय का व्यय होकर भस्म/धुआँ होता है, जल नहीं होता।



[अष्टसहस्री–पृष्ठ १००]–"ऋजुसूत्रनयार्पणात् हि प्रागभावः तावत् कार्यस्य उपादानपरिणामः एव पूर्वः अनन्तरात्मा। न च तस्मिन् पूर्वानादिपरिणामसन्तती कार्यसद्भावप्रसंगः, प्रागभावविनाशस्य कार्यरूपतोपगमात्, कार्योत्पादः क्षयः हेतोः.....।"

अर्थ–ऋजुसूत्रनय से प्रागभाव ही कार्य का उत्पादनपरिणाम ही पूर्व अनंतरात्मा है। और ऐसा रहने पर पूर्वानादिपरिणामसंतति में कार्यसद्भावप्रसंग नहीं आता है, क्योंकि प्रागभावविनाश को कार्यरूपता मानी है, क्योंकि हेतु (पूर्वपर्यायविशिष्ट द्रव्य) का व्यय होकर कार्य (वर्तमानपर्यायविशिष्ट द्रव्य) का उत्पाद होता है।

ध्रुव	पर्याय
कारणपरमात्मा अनादि-अनंतशुद्ध	वर्तमान – प्रथमसमयवर्ती सयोगिकेवली परमात्मा अर्थात् वर्तमानपर्यायविशिष्ट ↑ द्रव्य कार्य है
कारणपरमात्मा अनादि-अनंतशुद्ध	↑ पूर्वपर्याय – क्षीणकषाय गुणस्थान की चरमसमयपर्यायसहितविशिष्ट द्रव्य कारण है।

ध्रुव	पर्याय
कारणपरमात्मा अनादि-अनंतशुद्ध	वर्तमानपर्याय-क्षीणकषाय गुणस्थान की प्रथमसमयपर्यायसहितविशिष्ट द्रव्य ↑ कार्य है।
कारणपरमात्मा अनादि-अनंतशुद्ध	↑ पूर्वपर्याय-क्षपकश्रेणी सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान की चरमसमयपर्यायसहित-विशिष्ट द्रव्य कारण है।

ध्रुव	पर्याय
कारणपरमात्मा अनादि-अनंतशुद्ध	वर्तमानपर्याय-उपशान्तकषाय गुणस्थान की प्रथमसमयपर्यायसहितविशिष्ट द्रव्य ↑ कार्य है।
कारणपरमात्मा अनादि-अनंतशुद्ध	↑ पूर्वपर्याय-उपशमश्रेणी सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान की चरमपर्यायसहितविशिष्ट द्रव्य कारण है।

ध्रुव	पर्याय
कारणपरमात्मा अनादि-अनंतशुद्ध	वर्तमानपर्याय-उपशमश्रेणी से नीचे गिरनेवाली-उपशमसूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान की प्रथमसमयपर्यायसहितविशिष्ट द्रव्य ↑ कार्य है।
कारणपरमात्मा अनादि-अनंतशुद्ध	↑ पूर्वपर्याय-उपशमश्रेणी से नीचे गिरनेवाली-उपशान्तकषाय गुणस्थान की चरमसमय-पर्यायसहितविशिष्ट द्रव्य कारण है।

ध्रुव	पर्याय
कारणपरमात्मा अनादि-अनंतशुद्ध	वर्तमानपर्याय-प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन-अविरत सम्यग्दर्शन गुणस्थान का प्रथमसमय-पर्याय अर्थात् शुद्धोपयोगपर्यायसहित-विशिष्ट द्रव्य कार्य है। ↑
कारणपरमात्मा अनादि-अनंतशुद्ध	↑ पूर्वपर्याय-मिथ्यात्व गुणस्थान के अनिवृत्तिकरण की चरमसमयपर्यायसहित अर्थात् शुभोपयोगपर्यायसहितविशिष्ट द्रव्य कारण है।

ध्रुव	पर्याय
कारणपरमात्मा अनादि-अनंतशुद्ध	वर्तमानपर्याय-मिथ्यात्व गुणस्थान के सादि मिथ्यात्व की प्रथमसमयपर्यायसहित अर्थात् अशुभोपयोगसहितविशिष्ट द्रव्य कार्य है। ↑
कारणपरमात्मा अनादि-अनंतशुद्ध	↑ पूर्वपर्याय-प्रमत्तसंयत गुणस्थान के चरमसमयपर्यायसहित अर्थात् शुभोपयोग-सहितविशिष्ट द्रव्य कारण है।

ध्रुव	पर्याय
कारणपरमात्मा अनादि-अनंतशुद्ध	वर्तमानपर्याय-शुभोपयोगपर्याय का प्रथम-समय-शुभोपयोगसहितविशिष्ट द्रव्य कार्य है। ↑
कारणपरमात्मा अनादि-अनंतशुद्ध	↑ पूर्वपर्याय-अशुभोपयोगपर्याय का चरम-समय-अशुभोपयोगसहितविशिष्ट द्रव्य कारण है।

ध्रुव	पर्याय
कारणपरमात्मा अनादि-अनंतशुद्ध	वर्तमानपर्याय-निर्विकल्पज्ञानपर्याय का प्रथमसमयनिर्विकल्पज्ञानपर्यायसहित-विशिष्ट द्रव्य कार्य है। ↑
कारणपरमात्मा अनादि-अनंतशुद्ध	↑ पूर्वपर्याय-निराकारदर्शनोपयोगपर्याय का चरमसमयनिराकारदर्शनोपयोगपर्याय-सहितविशिष्ट द्रव्य कारण है।

[देखो जयधवल पुस्तक नंबर १२, पृ. नं. ३०४-३०५]

इसलिये उन्मीलित शक्ति अर्थात् पूर्वविशिष्टपर्यायसहितवस्तुवाला कारण वर्तमानविशिष्टपर्यायरूप कार्य का गमक/अनुमापक होता है।

शंका – शुद्धोपयोग को ही शुद्धोपयोग कार्य का कारण कहते हैं, यह कथन किस अपेक्षा से है?

समाधान – पृष्ठ नं. ३७३ पर जो चार्ट दिखाया है कि 'अशुभोपयोगरूप कारण से शुभोपयोगरूप कार्य होता है अथवा शुद्धोपयोगरूप कारण से शुभोपयोगरूप कार्य होता है' वह एक अपेक्षा से है अर्थात् पूर्व-अनंतरपर्याय को कारण और वर्तमानपर्याय को कार्य कहते हैं।

और दूसरी अपेक्षा से अर्थात् तत्समय की योग्यता की अपेक्षा से, जैसे उस समय के शुभोपयोगकार्य का उस समय का शुभोपयोग ही कारण है। उसी तरह उस समय के शुद्धोपयोग कार्य का उस समय का शुद्धोपयोग ही कारण है। कृपया देखिए पृष्ठ नं. ३१० पर पंक्ति नं. १४ से ९ तक।

देखिए समयसार-गाथा (आत्मख्याति-गाथा नं. १२८ से १३१)-

''णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायदे भावो।
जह्मा तह्मा णाणिस्स सव्वे भावा दु णाणमया॥१२८॥
अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायए भावो।
तह्मा सव्वे भावा अण्णाणमया अणाणिस्स॥१२९॥
कणयमया भावादो जायंते कुंडलादयो भावा।
अयमयया भावादो जह जायंते तु कडयादी॥१३०॥
अण्णाणमया भावा अणाणिणो बहुविहा वि जायंते॥
णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति॥१३१॥

भावार्थ – जिसकारण से ज्ञानमय भाव से ज्ञानमय ही भाव उत्पन्न होते हैं। इसकारण ज्ञानी के सब भाव ज्ञानमय हैं। लेकिन अज्ञानमय भाव से अज्ञानमय ही भाव होता है। इसकारण अज्ञानी के अज्ञानमय ही भाव होते हैं। जैसे–सुवर्णमय भाव से सुवर्णमय कुंडलादिक भाव होते हैं और लोहमय भाव से लोहमय कड़े इत्यादिक भाव होते हैं। उसी प्रकार अज्ञानी के अज्ञानमय भाव से अनेक तरह के अज्ञानमय भाव होते हैं और ज्ञानी के सभी ज्ञानमय भाव से ज्ञानमय ही भाव होते हैं।

और भी देखिए पंचास्तिकायसंग्रह-गाथा नं. ६२- 'कम्मं पि सगं कुव्वदि' इत्यादि की श्री जयसेनाचार्यरचित तात्पर्यवृत्ति–''तथा जीवः अपि आत्मा कर्ता आत्मानं कर्मतापन्नं आत्मना करणभूतेन आत्मने निमित्तं आत्मनः सकाशात् आत्मनि अधिकरणभूते करोति इति अभेदषट्कारकीरूपेण व्यवतिष्ठमानः कारकान्तरं न अपेक्षते। अयं अत्र भावार्थः। यथा एव अशुद्धषट्कारकीरूपेण परिणममानः सन् अशुद्धं आत्मानं करोति तथा एव शुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपेण अभेदषट्कारकीस्वभावेन परिणममानः शुद्धं आत्मानं करोति इति।''

अर्थ – उसी तरह जीव भी→

(१) आत्मा ही कर्ता है, यह कर्ताकारक है,
(२) आत्मा अपने को ही, यह कर्मकारक है,
(३) आत्मा के द्वारा ही, यह करणकारक है,
(४) आत्मा अपने लिये ही, यह संप्रदानकारक है,
(५) आत्मा अपने से ही, यह अपादानकारक है,

(६) आत्मा अपने में ही, यह अधिकरणकारक है।

इसतरह अभेद छः कारकीरूप से परिणममान व्यवतिष्ठमान है, इसलिये अन्य कारक की अपेक्षा नहीं है। इसका भावार्थ-जैसे अशुद्ध छः कारकीरूप से परिणममान रहनेवाला अशुद्ध आत्मा को करता है, वैसे शुद्ध छः कारकीरूप से परिणममान रहनेवाला शुद्ध आत्मा को करता है।

यह कथन उस समय की योग्यता की अपेक्षा से है। जो नय जहाँ है वह नय वहाँ जानना चाहिये।

तीसरी अपेक्षा यह है कि, शुद्धविषय और जानने का साधन-प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान रहे तो उसका फल शुद्धोपयोग होता है। देखिए **प्रवचनसार-गाथा १८१-'सुहपरिणामो पुण्णं' इत्यादि की श्री जयसेनाचार्यरचित तात्पर्यवृत्ति और बृहद्द्रव्यसंग्रह-गाथा ३४ की श्री ब्रह्मदेवरचित संस्कृत टीका-**

''शुद्धात्मावलम्बनत्वात् शुद्धध्येयत्वात् शुद्धसाधकत्वात् च शुद्धोपयोगपरिणामः लभ्यते'' [प्रवचनसार-तात्पर्यवृत्ति]

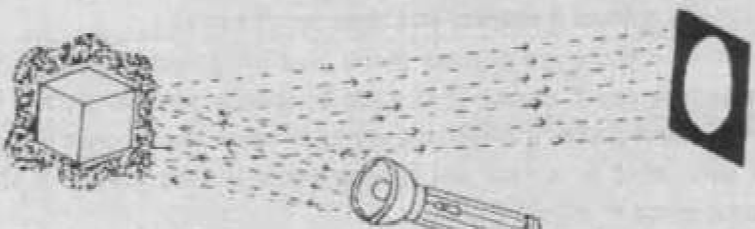
''शुद्धोपयोगे शुद्धबुद्धैकस्वभावः निजात्मा ध्येयः तिष्ठति तेन कारणेन शुद्धध्येयत्वात् शुद्धावलम्बनत्वात् शुद्धात्मस्वरूपसाधकत्वात् च शुद्धोपयोगः घटते।'' [बृहद्द्रव्यसंग्रह-गाथा नं. ३४ की टीका]

अर्थ – (१) शुद्धबुद्ध-एकस्वभाववाला निजात्मा शुद्धविषय है और

(२) प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञानसाधन से शुद्धात्मा को जानते हैं,

उससे सम्यक्-अतींद्रिय आनंद आता है, समता परिणाम आता है, इसलिये शुद्धोपयोग होता है।

जैसे-सफेद वस्तु (श्वेत प्रकाश्य वस्तु) पर सफेद प्रकाश डालने पर सफेद परावर्तन ही प्राप्त होता है।



विषय-श्वेत वस्तु　　श्वेत किरण-साधन　　श्वेत परावर्तन-फल

Pure object plus pure instrument gives pure effect.

इसलिये **भो आत्मन्!** वस्तुस्वरूप को जानकर परीक्षा कर अपने निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से एक क्षण जानो और इस जीवन में सम्यक् आनंदी जीवन जिओ।

'यह जीव नियम से मोक्ष प्राप्त करेगा, क्योंकि निश्चयरत्नत्रय से परिणत है।' ऐसे यहाँ 'निश्चयरत्नत्रय से परिणत है' यह हेतु विधिरूप है और उसका 'मोक्ष प्राप्त होगा' यह साध्य भी विधिरूप है। इसलिये 'निश्चयरत्नत्रय से परिणत है' यह हेतु विधिरूपविधिसाधककारणरूप है।

[अध्यात्मन्यायदीपिका-पृष्ठ नं. २९५, पंक्ति नंबर १२ से १९ तक]

'यह मेरा जीव नियम से अव्याबाध अनंत अतींद्रिय आनंद प्राप्त करेगा, क्योंकि निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से जानता हूँ।' ऐसे यहाँ 'निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से जानता हूँ' यह हेतु विधिरूप है और उसका 'अव्याबाध अनंत अतींद्रिय आनंद प्राप्त करेगा' यह

साध्य भी विधिरूप है। इसलिये 'निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से जानता हूँ' यह हेतु विधिरूपविधिसाधककारणरूप है।

'यह जीव नियम से मोक्ष प्राप्त करेगा, क्योंकि सम्यग्दर्शनपर्याय है।' ऐसे यहाँ 'सम्यग्दर्शनपर्याय है' यह हेतु विधिरूप है और उसका 'मोक्ष प्राप्त करेगा' यह साध्य भी विधिरूप है। इसलिये 'सम्यग्दर्शनपर्याय है' यह हेतु विधिरूपविधिसाधककारणरूप हेतु है।

[देखिए **समयसार-गाथा ३२० 'दिट्ठी सयं पि'** इत्यादि की **श्री जयसेनाचार्यरचित तात्पर्यवृत्ति** (श्री समयसार प्रकाशन समिति, श्री दिगम्बर जैन समाज, शुक्रवार पेठ, सोलापूर ४१३००२, प्रकाशन) पृष्ठ नंबर ३२२ से ३२५]

संस्कृत पृष्ठ नं. १०२, संस्कृत परिच्छेद नं. ५६→

(C) विशेषरूप हेतु–कोई हेतु विशेषरूप होता है। जैसे-यह वृक्ष है, क्योंकि शिंशपात्व की अन्यथानुपपत्ति है। ऐसे यहाँ शिंशपा यह हेतु विशेषरूप-हेतु है। शिंशपा यह वृक्ष का विशेष है, वह सामान्यरूप वृक्ष का गमक है। वृक्ष के अभाव में वृक्षविशेष नहीं रहता है।

(D) पूर्वचर हेतु–कोई हेतु पूर्वचर होता है। जैसे-शकट का उदय होगा, क्योंकि कृत्तिकोदय की अन्यथानुपपत्ति है। ऐसे यहाँ कृत्तिकोदय यह हेतु पूर्वचर हेतु है। कृत्तिका नक्षत्र के उदय के बाद मुहूर्त के अंत में नियम से शकटोदय हो जाएगा। ऐसे यहाँ पूर्वचर कृत्तिकोदय यह हेतु शकटोदय का गमक है।

(E) उत्तरचर हेतु–कोई हेतु उत्तरचर होता है। जैसे-भरणी का उदय पहले (पूर्व में) हो गया है, क्योंकि कृत्तिकोदय है। ऐसे यहाँ कृत्तिकोदय यह हेतु उत्तरचर हेतु है। भरणी के उदय के बाद कृत्तिकोदय होता है, वह उत्तरचरवाला कृत्तिकोदय हेतु भरणी के उदय का गमक है।

(F) सहचर हेतु–कोई हेतु सहचर हेतु होता है। जैसे-मातुलिंग अर्थात् बिजौरा नीबू रूपवान होने योग्य है, क्योंकि रसवानपना की अन्यथानुपपत्ति है। ऐसे यहाँ रस यह सहचर हेतु है। रस नियम से रूप का सहचर है क्योंकि रूप के अभाव में रस का अभाव होने से रसवान रूपवान का गमक है।

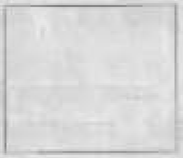
विशेषार्थ–**(C)** विशेषरूप हेतु-कोई हेतु विशेषरूप है। जैसे-'यह वृक्ष है; क्योंकि शिंशपात्व (शीशमपना) का सद्भाव है, वृक्ष न होता तो शिंशपात्व भी नहीं दिखाई देता है।' ऐसे यहाँ शिंशपात्व यह हेतु विशेषरूप हेतु है। शिंशपा यह वृक्ष का विशेष है, वृक्ष यह सामान्य है। वह शिंशपा सामान्यरूप वृक्ष का गमक है। वृक्ष के अभाव में वृक्षविशेष नहीं रहता है।



'यह वृक्ष है; क्योंकि नारियलत्व का सद्भाव है, वृक्ष न होता तो नारियलत्व भी नहीं दिखाई देता है।' ऐसे यहाँ 'नारियल' यह हेतु विधिरूपविधिसाधकविशेषरूप हेतु है। नारियल यह वृक्ष का विशेष है, वृक्ष यह सामान्य है। वह नारियल सामान्यरूप वृक्ष साध्य का गमक है। वृक्ष के अभाव में वृक्षविशेष नहीं रहता है।



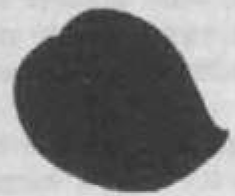
'यहाँ वर्णगुण है; क्योंकि कालीपर्याय है, वर्णगुण न होता तो कालीपर्याय भी नहीं दिखाई देती है।' ऐसे यहाँ 'कालीपर्याय' यह हेतु विधिरूपविधिसाधकविशेषरूप हेतु है। कालीपर्याय यह वर्णगुण का विशेष है, वर्णगुण यह सामान्य है। कालीपर्याय सामान्यरूप वर्णगुण साध्य का गमक है। वर्णगुण के अभाव में कालीपर्याय-विशेष नहीं रहती है।



'यहाँ वर्णगुण है; क्योंकि सफेद (श्वेत) पर्याय है, वर्णगुण न होता तो सफेदपर्याय भी नहीं दिखाई देती है।' ऐसे यहाँ 'सफेदपर्याय' यह हेतु विधिरूपविधिसाधकविशेषरूप हेतु है। सफेदपर्याय यह वर्णगुण का विशेष है, वर्णगुण यह सामान्य है। सफेदपर्याय सामान्यरूप वर्णगुण साध्य का गमक है। वर्णगुण के अभाव में सफेदपर्यायविशेष नहीं रहती है।



'यहाँ गंधगुण है; क्योंकि दुर्गंधपर्याय है, गंधगुण न होता तो दुर्गंधपर्याय भी नहीं रहती है।' ऐसे यहाँ 'दुर्गंधपर्याय' यह हेतु विधिरूपविधिसाधकविशेषरूप हेतु है। दुर्गंधपर्याय यह गंधगुण का विशेष है, गंधगुण यह सामान्य है। दुर्गंधपर्याय सामान्यरूप गंधगुण साध्य का गमक है। गंधगुण के अभाव में दुर्गंधपर्यायविशेष नहीं रहती है।



यहाँ 'गंधगुण है; क्योंकि सुगंधपर्याय है, गंधगुण न होता तो सुगंधपर्याय भी नहीं रहती है।' ऐसे यहाँ 'सुगंधपर्याय' यह हेतु विधिरूपविधिसाधकविशेषरूप हेतु है। सुगंधपर्याय यह गंधगुण का विशेष है, गंधगुण यह सामान्य है। सुगंधपर्याय सामान्यरूप गंधगुण साध्य का गमक है। गंधगुण के अभाव में सुगंधपर्यायविशेष नहीं रहती है।

'यहाँ रसगुण है; क्योंकि मीठीपर्याय है, रसगुण न होता तो मीठीपर्याय भी नहीं रहती है।' ऐसे यहाँ 'मीठीपर्याय' यह हेतु विधिरूपविधिसाधकविशेषरूप हेतु है। मीठीपर्याय यह रसगुण का विशेष है, रसगुण यह सामान्य है। मीठीपर्याय सामान्यरूप रसगुण साध्य का गमक है। रसगुण के अभाव में मीठीपर्यायविशेष नहीं रहती है।



'यहाँ रसगुण है; क्योंकि खट्टीपर्याय है, रसगुण न होता तो खट्टीपर्याय भी नहीं रहती है।' ऐसे यहाँ 'खट्टीपर्याय' यह हेतु विधिरूपविधिसाधकविशेषरूप हेतु है। खट्टीपर्याय यह रसगुण का विशेष है, रसगुण यह सामान्य है। खट्टीपर्याय सामान्यरूप रसगुण साध्य का गमक है। रसगुण के अभाव में खट्टीपर्यायविशेष नहीं रहती है।

ध्रुव		अवस्था
चारित्रगुण		क्रोधपर्याय
सामान्य		विशेष

'यहाँ चारित्रगुण है; क्योंकि क्रोधपर्याय है, चारित्रगुण न होता तो क्रोधपर्याय भी नहीं रहती है।' ऐसे यहाँ 'क्रोधपर्याय' यह हेतु विधिरूपविधिसाधकविशेषरूप हेतु है। क्रोधपर्याय यह चारित्रगुण का विशेष है, चारित्रगुण यह सामान्य है। क्रोधपर्याय सामान्यरूप चारित्रगुण साध्य का गमक है। चारित्रगुण के अभाव में क्रोधपर्यायविशेष नहीं रहती है।

ध्रुव
चारित्रगुण
सामान्य



अवस्था
मानपर्याय
विशेष

'यहाँ चारित्रगुण है; क्योंकि मानपर्याय है, चारित्रगुण न होता तो मानपर्याय भी नहीं रहती है।' ऐसे यहाँ 'मानपर्याय' यह हेतु विधिरूपविधिसाधकविशेषरूप हेतु है। मानपर्याय यह चारित्रगुण का विशेष है, चारित्रगुण यह सामान्य है। मानपर्याय सामान्यरूप चारित्रगुण साध्य का गमक है। चारित्रगुण के अभाव में मानपर्यायविशेष नहीं रहती है।

ध्रुव		पर्याय
चारित्रगुण		मायापर्याय
सामान्य		विशेष

'यहाँ चारित्रगुण है; क्योंकि मायापर्याय है, चारित्रगुण न होता तो मायापर्याय भी नहीं रहती है।' ऐसे यहाँ 'मायापर्याय' यह हेतु विधिरूपविधिसाधकविशेषरूप हेतु है। मायापर्याय यह चारित्रगुण का विशेष है, चारित्रगुण यह सामान्य है। मायापर्याय सामान्यरूप चारित्रगुण साध्य का गमक है। चारित्रगुण के अभाव में मायापर्यायविशेष नहीं रहती है।

ध्रुव		पर्याय
चारित्रगुण		लोभपर्याय
सामान्य		विशेष

'यहाँ चारित्रगुण है; क्योंकि लोभपर्याय है, चारित्रगुण न होता तो लोभपर्याय भी नहीं रहती है।' ऐसे यहाँ 'लोभपर्याय' यह हेतु विधिरूपविधिसाधकविशेषरूप हेतु है। लोभपर्याय यह चारित्रगुण का विशेष है, चारित्रगुण यह सामान्य है। लोभपर्याय सामान्यरूप चारित्रगुण साध्य का गमक है। चारित्रगुण के अभाव में लोभपर्यायविशेष नहीं रहती है।

ध्रुव
चारित्रगुण
सामान्य



पर्याय
हास्य
विशेष

'यहाँ चारित्रगुण है; क्योंकि हास्यपर्याय है, चारित्रगुण न होता तो हास्यपर्याय भी नहीं रहती है।' ऐसे यहाँ 'हास्यपर्याय' यह हेतु विधिरूपविधिसाधकविशेषरूप हेतु है। हास्यपर्याय यह चारित्रगुण का विशेष है, चारित्रगुण यह सामान्य है। हास्यपर्याय सामान्यरूप चारित्रगुण साध्य का गमक है। चारित्रगुण के अभाव में हास्यपर्यायविशेष नहीं रहती है।

ध्रुव
चारित्रगुण
सामान्य

पर्याय
रतिपर्याय
विशेष

'यहाँ चारित्रगुण है; क्योंकि रतिपर्याय है, चारित्रगुण न होता तो रतिपर्याय भी नहीं रहती है।' ऐसे यहाँ 'रतिपर्याय' यह हेतु विधिरूपविधिसाधकविशेषरूप हेतु है। रतिपर्याय यह चारित्रगुण का विशेष है, चारित्रगुण यह सामान्य है। रतिपर्याय सामान्यरूप चारित्रगुण साध्य का गमक है। चारित्रगुण के अभाव में रतिपर्यायविशेष नहीं रहती है।

ध्रुव
चारित्रगुण
सामान्य

पर्याय
अरतिपर्याय
विशेष

'यहाँ चारित्रगुण है; क्योंकि अरतिपर्याय है, चारित्रगुण न होता तो अरतिपर्याय भी नहीं रहती है।' ऐसे यहाँ 'अरतिपर्याय' यह हेतु विधिरूपविधिसाधकविशेषरूप हेतु है। अरतिपर्याय यह चारित्रगुण का विशेष है, चारित्रगुण यह सामान्य है। अरतिपर्याय सामान्यरूप चारित्रगुण साध्य का गमक है। चारित्रगुण के अभाव में अरतिपर्यायविशेष नहीं रहती है।

ध्रुव
चारित्रगुण
सामान्य



पर्याय
शोकपर्याय
विशेष

'यहाँ चारित्रगुण है; क्योंकि शोकपर्याय है, चारित्रगुण न होता तो शोकपर्याय भी नहीं रहती है।' ऐसे यहाँ 'शोकपर्याय' यह हेतु विधिरूपविधिसाधकविशेषरूप हेतु है। शोकपर्याय यह चारित्रगुण का विशेष है, चारित्रगुण यह सामान्य है। शोकपर्याय सामान्यरूप चारित्रगुण साध्य का गमक है। चारित्रगुण के अभाव में शोकपर्यायविशेष नहीं रहती है।

ध्रुव
चारित्रगुण/निर्भयगुण
सामान्य



पर्याय
भयपर्याय
विशेष

'यहाँ चारित्रगुण/निर्भयगुण है; क्योंकि भयपर्याय है, चारित्रगुण/निर्भयगुण न होता तो भयपर्याय भी नहीं रहती है।' ऐसे यहाँ 'भयपर्याय' यह हेतु विधिरूपविधिसाधकविशेषरूप हेतु है। भयपर्याय यह चारित्रगुण का विशेष है, चारित्रगुण/निर्भयगुण यह सामान्य है। भयपर्याय सामान्यरूप चारित्रगुण साध्य का गमक है। चारित्रगुण/निर्भयगुण के अभाव में भयपर्यायविशेष नहीं रहती है।

ध्रुव
चारित्रगुण/निर्वेदगुण
सामान्य



पर्याय
पुंवेदपर्याय
विशेष

'यहाँ चारित्रगुण/निर्वेदगुण है; क्योंकि पुंवेदपर्याय है, चारित्रगुण/निर्वेदगुण न होता तो पुंवेदपर्याय भी नहीं रहती है।' ऐसे यहाँ 'पुंवेदपर्याय' यह हेतु विधिरूपविधिसाधकविशेषरूप हेतु है। पुंवेदपर्याय यह चारित्रगुण/निर्वेदगुण का विशेष है, चारित्रगुण/निर्वेदगुण यह सामान्य है। पुंवेदपर्याय सामान्यरूप चारित्रगुण/निर्वेदगुण साध्य का गमक है। चारित्रगुण/निर्वेदगुण के अभाव में पुंवेदपर्यायविशेष नहीं रहती है।

ध्रुव
चारित्रगुण/निर्वेदगुण
सामान्य



पर्याय
स्त्रीवेदपर्याय
विशेष

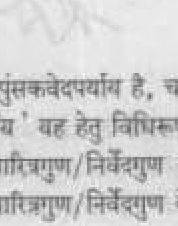
'यहाँ चारित्रगुण/निर्वेदगुण है; क्योंकि स्त्रीवेदपर्याय है, चारित्रगुण/निर्वेदगुण न होता तो स्त्रीवेदपर्याय भी नहीं रहती है।' ऐसे यहाँ 'स्त्रीवेदपर्याय' यह हेतु विधिरूपविधिसाधकविशेषरूप हेतु है। स्त्रीवेदपर्याय यह चारित्रगुण/निर्वेदगुण का विशेष है, चारित्रगुण/निर्वेदगुण यह सामान्य है। स्त्रीवेदपर्याय सामान्यरूप चारित्रगुण/निर्वेदगुण साध्य का गमक है। चारित्रगुण/निर्वेदगुण के अभाव में स्त्रीवेदपर्यायविशेष नहीं रहती है।

ध्रुव
चारित्रगुण/निर्वेदगुण
सामान्य

पर्याय
नपुंसकवेदपर्याय
विशेष

'यहाँ चारित्रगुण/निर्वेदगुण है; क्योंकि नपुंसकवेदपर्याय है, चारित्रगुण/निर्वेदगुण न होता तो नपुंसकवेदपर्याय भी नहीं रहती है।' ऐसे यहाँ 'नपुंसकवेदपर्याय' यह हेतु विधिरूपविधिसाधकविशेषरूप हेतु है। नपुंसकवेदपर्याय यह चारित्रगुण/निर्वेदगुण का विशेष है, चारित्रगुण/निर्वेदगुण यह सामान्य है। नपुंसकवेदपर्याय सामान्यरूप चारित्रगुण/निर्वेदगुण साध्य का गमक है। चारित्रगुण/निर्वेदगुण के अभाव में नपुंसकवेदपर्यायविशेष नहीं रहती है।

ध्रुव
आनंदगुण
सामान्य



पर्याय
दुःखपर्याय
विशेष

'यहाँ आनंदगुण है; क्योंकि दुःखपर्याय है, आनंदगुण न होता तो दुःखपर्याय भी नहीं रहती है।' ऐसे यहाँ 'दुःखपर्याय' यह हेतु विधिरूपविधिसाधकविशेषरूप हेतु है। दुःखपर्याय यह आनंदगुण का विशेष है, आनंदगुण यह सामान्य है। दुःखपर्याय सामान्यरूप आनंदगुण साध्य का गमक है। आनंदगुण के अभाव में दुःखपर्यायविशेष नहीं रहती है।

ध्रुव		पर्याय
आनंदगुण		सुखपर्याय
सामान्य		विशेष

'यहाँ आनंदगुण है; क्योंकि सुखपर्याय है, आनंदगुण न होता तो सुखपर्याय भी नहीं रहती है।' ऐसे यहाँ 'सुखपर्याय' यह हेतु विधिरूपविधिसाधकविशेषरूप हेतु है। सुखपर्याय यह आनंदगुण का विशेष है, आनंदगुण यह सामान्य है। सुखपर्याय सामान्यरूप आनंदगुण साध्य का गमक है। आनंदगुण के अभाव में सुखपर्यायविशेष नहीं रहती है।

ध्रुव		पर्याय
आनंदगुण		अतींद्रिय-आनंदपर्याय
सामान्य		विशेष

'यहाँ आनंदगुण है; क्योंकि अतींद्रिय-आनंदपर्याय है, आनंदगुण न होता तो अतींद्रिय-आनंदपर्याय भी नहीं रहती है।' ऐसे यहाँ 'अतींद्रिय-आनंदपर्याय' यह हेतु विधिरूपविधिसाधकविशेषरूप हेतु है। 'अतींद्रिय-आनंदपर्याय' यह आनंदगुण का विशेष है, आनंदगुण यह सामान्य है। 'अतींद्रिय-आनंदपर्याय' सामान्यरूप आनंदगुण साध्य का गमक है। आनंदगुण के अभाव में अतींद्रिय-आनंदपर्यायविशेष नहीं रहती है।

ध्रुव		पर्याय
निर्योगत्वगुण		मनोयोगपर्याय
सामान्य		विशेष
निर्योगत्वगुण		वचनयोगपर्याय
सामान्य		विशेष
निर्योगत्वगुण		काययोगपर्याय
सामान्य		विशेष
निर्योगत्वगुण		योगरहितपर्याय
सामान्य		विशेष

'यहाँ निर्योगत्वगुण है; क्योंकि मनोयोगपर्याय है, निर्योगत्वगुण न होता तो मनोयोगपर्याय भी नहीं रहती है।' ऐसे यहाँ 'मनोयोगपर्याय' यह हेतु विधिरूपविधिसाधकविशेषरूप हेतु है। मनोयोगपर्याय यह निर्योगत्वगुण का विशेष है, निर्योगत्वगुण यह सामान्य है। मनोयोगपर्याय सामान्यरूप निर्योगत्वगुण साध्य का गमक है। निर्योगत्वगुण के अभाव में मनोयोगपर्यायविशेष नहीं रहती है।

ध्रुव		पर्याय
ज्ञानगुण		सम्यग्ज्ञानपर्याय
सामान्य		विशेष

'यहाँ ज्ञानगुण है; क्योंकि सम्यग्ज्ञानपर्याय है, ज्ञानगुण न होता तो सम्यग्ज्ञानपर्याय भी नहीं रहती।' ऐसे यहाँ 'सम्यग्ज्ञानपर्याय' यह हेतु विधिरूपविधिसाधकविशेषरूप हेतु है। सम्यग्ज्ञानपर्याय यह ज्ञानगुण का विशेष है, ज्ञानगुण यह सामान्य है। सम्यग्ज्ञानपर्याय सामान्यरूप ज्ञानगुण साध्य का गमक है। ज्ञानगुण के अभाव में सम्यग्ज्ञानपर्यायविशेष नहीं रहती है।

ध्रुव		पर्याय
ज्ञानगुण		मिथ्याज्ञानपर्याय
सामान्य		विशेष

'यहाँ ज्ञानगुण है; क्योंकि मिथ्याज्ञानपर्याय है, ज्ञानगुण न होता तो मिथ्याज्ञानपर्याय भी नहीं रहती है।' ऐसे यहाँ 'मिथ्याज्ञानपर्याय' यह हेतु विधिरूपविधिसाधकविशेषरूप हेतु है। मिथ्याज्ञानपर्याय यह ज्ञानगुण का विशेष है, ज्ञानगुण यह सामान्य है। मिथ्याज्ञानपर्याय सामान्यरूप ज्ञानगुण साध्य का गमक है। ज्ञानगुण के अभाव में मिथ्याज्ञानपर्यायविशेष नहीं रहती है।

ध्रुव		पर्याय
दर्शनगुण		दर्शनोपयोगपर्याय (मैं की प्रतीति)
सामान्य		विशेष

'यहाँ दर्शनगुण है; क्योंकि दर्शनोपयोगपर्याय (मैं की प्रतीति) है, दर्शनगुण न होता तो दर्शनोपयोगपर्याय भी नहीं रहती है।' ऐसे यहाँ 'दर्शनोपयोगपर्याय' यह हेतु विधिरूपविधिसाधकविशेषरूप हेतु है। दर्शनोपयोगपर्याय यह दर्शनगुण का विशेष है, दर्शनगुण यह सामान्य है। दर्शनोपयोगपर्याय सामान्यरूप दर्शनगुण साध्य का गमक है। दर्शनगुण के अभाव में दर्शनोपयोगपर्यायविशेष नहीं रहती है।

ध्रुव		पर्याय
श्रद्धागुण		सम्यग्दर्शनपर्याय
सामान्य		विशेष

'यहाँ श्रद्धागुण है; क्योंकि सम्यग्दर्शनपर्याय (सम्यक्श्रद्धापर्याय) है, श्रद्धागुण न होता तो सम्यग्दर्शनपर्याय भी नहीं रहती है।' ऐसे यहाँ 'सम्यग्दर्शनपर्याय' यह हेतु विधिरूपविधिसाधकविशेषरूप हेतु है। सम्यग्दर्शनपर्याय यह श्रद्धागुण का विशेष है, श्रद्धागुण यह सामान्य है। सम्यग्दर्शनपर्याय सामान्यरूप श्रद्धागुण साध्य का गमक है। श्रद्धागुण के अभाव में सम्यग्दर्शनपर्यायविशेष नहीं रहती है।

ध्रुव		पर्याय
श्रद्धागुण		मिथ्यादर्शनपर्याय (मिथ्याश्रद्धा)
सामान्य		विशेष

'यहाँ श्रद्धागुण है; क्योंकि मिथ्यादर्शनपर्याय है, श्रद्धागुण न होता तो मिथ्यादर्शनपर्याय भी नहीं रहती है।' ऐसे यहाँ 'मिथ्यादर्शनपर्याय' यह हेतु विधिरूपविधिसाधकविशेषरूप हेतु है। मिथ्यादर्शनपर्याय यह श्रद्धागुण का विशेष है, श्रद्धागुण यह सामान्य है। मिथ्यादर्शनपर्याय सामान्यरूप श्रद्धागुण साध्य का गमक है। श्रद्धागुण के अभाव में मिथ्यादर्शनपर्यायविशेष नहीं रहती है।

ध्रुव		पर्याय
परमशुद्धपारिणामिकभाव अनादि-अनंत शुद्ध सामान्य		अशुद्धपर्याय विशेष

'यहाँ परमशुद्धपारिणामिकभाव है; क्योंकि अशुद्धपर्याय है।' ऐसे यहाँ 'अशुद्धपर्याय' यह हेतु

विधिरूपविधिसाधकविशेषरूप हेतु है। अशुद्धपर्याय यह परमशुद्धपारिणामिकभाव का विशेष है, परमशुद्धपारिणामिकभाव यह सामान्य है। अशुद्धपर्याय सामान्यरूप परमशुद्धपारिणामिकभाव साध्य का गमक है। परमशुद्धपारिणामिकभाव (अनादि-अनंत शुद्ध) के अभाव में अशुद्धपर्यायविशेष नहीं रहती है।

इत्यादि ।

(D) पूर्वचर हेतु-कोई हेतु पूर्वचर होता है । जैसे-'एक मुहूर्त के बाद शकट अर्थात् रोहिणी नक्षत्र का उदय होगा, क्योंकि अब कृत्तिका नक्षत्र का उदय हो रहा है।' ऐसे यहाँ 'कृत्तिका नक्षत्र का उदय' यह हेतु विधिरूपविधिसाधकपूर्वचर हेतु है। शकट नक्षत्र के उदय के एक मुहूर्त पहले कृत्तिका नक्षत्र का उदय होता है। इसलिये कृत्तिकोदय यह पूर्वचर हेतु है। ऐसे यहाँ पूर्वचर कृत्तिकोदय यह हेतु शकटोदय का गमक होता है।

'एक अन्तर्मूहुर्त में यह जीव प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन प्राप्त करेगा, क्योंकि अब मिथ्यात्व अवस्था-करणलब्धि में है।' ऐसे यहाँ 'करणलब्धि में है' यह हेतु विधिरूपविधिसाधकपूर्वचर हेतु है।

'उपार्धपुद्गलपरावर्तन में यह मैं मोक्ष प्राप्त करूँगा ही, क्योंकि मैं शुद्धात्मानुभव करता हूँ।' ऐसे यहाँ 'शुद्धात्मानुभव करता हूँ' यह हेतु विधिरूपविधिसाधकपूर्वचर हेतु है।

'उपार्धपुद्गलपरावर्तन में यह मैं मोक्षफल ही प्राप्त करूँगा ही, क्योंकि मैं सम्यग्दृष्टि हूँ।' ऐसे यहाँ 'सम्यग्दृष्टि हूँ' यह हेतु विधिरूपविधिसाधकपूर्वचर हेतु है।

'मैं पूर्ण-वीतराग पूर्ण-साम्यवाला हो जाऊँगा ही, क्योंकि मैं अविरत निश्चयसम्यग्दृष्टि हूँ।' ऐसे यहाँ 'अविरत निश्चयसम्यग्दृष्टि हूँ' यह हेतु विधिरूपविधिसाधकपूर्वचर हेतु है।

'यह जीव सिद्ध हो जायेगा, क्योंकि अभी इसकी अर्हंत अवस्था है।' ऐसे यहाँ 'अर्हंत अवस्था है' यह हेतु विधिरूपविधिसाधकपूर्वचर हेतु है।

'यह मैं जीव आगे परिषहजयी महाव्रती नग्नमुनि ही हो जाऊँगा; क्योंकि अभी मैं इस अव्रत अवस्था में निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से जानता हूँ।' ऐसे यहाँ 'अभी मैं अव्रत अवस्था में निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से जानता हूँ' यह अन्यथानुपपत्तिलक्षणवाला हेतु विधिरूपविधिसाधकपूर्वचर हेतु है।

देखिए धवल-पुस्तक नंबर ५, सूत्र नंबर ९, १०, ११, पृष्ठ नं. १३ से १५ →

"असंजदसम्मादिट्ठिप्पहुडि जाव अप्पमत्तसंजदा त्ति अंतरं केवचिरं कालादो होदि,..... ।९।
एगजीवं पडुच्च जहण्णेण अंतोमुहुत्तं ॥१०॥
उक्कस्सेण अद्धपोग्गलपरियट्टं देसूणं ॥११॥

अर्थ–असंयत सम्यग्दृष्टि (चतुर्थ गुणस्थान), संयतासंयत गुणस्थान, प्रमत्तसंयत गुणस्थान और अप्रमत्तसंयत गुणस्थान इनका अंतर काल कितना है?.....

एक जीव की अपेक्षा से जघन्य (अल्प) अंतरकाल अंतर्मुहूर्त है और उत्कृष्ट काल उपार्द्धपुद्गलपरिवर्तन है।

गुणट्ठाणपरिवाडीए उक्कस्संतरपरूवणा कीरदे-एक्केण अणादियमिच्छादिट्ठिणा तिण्णि करणाणि कादूण पढमसम्मत्तं गेह्णंतेण अणंतो संसारो छिंदिदूण गहिदसम्मत्तपढमसमए अद्धपोग्गलपरियट्टमेत्तो कदो। उवसमसम्मत्तेण अंतोमुहुत्तमच्छिय (१) छावलियावसेसाए उवसमसम्मत्तद्धाए आसाणं गंतूणंतरिदो। मिच्छत्तेणद्धपोग्गलपरियट्टं भमिय अपच्छिमे भवे संजमं संजमासंजमं वा गंतूण कदकरणिज्जो होदूण

अंतोमुहुत्तावसेसे संसारे परिणामपच्चएण असंजदसम्मादिट्ठी जादो। लद्धमंतरं (२) पुणो अप्पमत्तभावेण संजमं पडिवज्जिय (३) पमत्तापमत्तपरावत्तसहस्सं कादूण (४) खवगसेडीपाओग्गविसोहीए विसुज्झिय (५) अपुव्वो (६) अणियट्टी (७) सुहुमो (८) खीणो (९) सजोगी (१०) अजोगी (११) होदूण परिणिउदो । एवमेक्कारसेहि अंतोमुहुत्तेहि ऊणमद्धपोग्गलपरियट्टमसंजदसम्मादिट्ठीणमुक्कस्संतरं होदि।

अब गुणस्थान-परिपाटी से उत्कृष्ट अंतर की प्ररूपणा करते हैं–एक अनादि मिथ्यादृष्टि जीव ने तीनों करण करके प्रथमोपशम सम्यक्त्व को ग्रहण करते हुए अनंत संसार छेदकर सम्यक्त्व ग्रहण करने के प्रथम समय में वह संसार अर्धपुद्गलपरिवर्तनमात्र किया। पुनः उपशम सम्यक्त्व के साथ अंतर्मुहूर्तकाल रहकर (१) उपशमसम्यक्त्व के काल में छह आवलियां अवशेष रह जाने पर सासादन गुणस्थान को प्राप्त होकर अंतर को प्राप्त हुआ। पुनः मिथ्यात्व के साथ अर्धपुद्गलपरिवर्तन परिभ्रमण कर अन्तिम भव में संयम को अथवा संयमासंयम को प्राप्त होकर, कृतकृत्य वेदकसम्यक्त्वी होकर अंतर्मुहूर्तकाल प्रमाण संसार के अवशेष रह जाने पर परिणामों के निमित्त से असंयतसम्यग्दृष्टि हो गया। इस प्रकार सूत्रोक्त अंतरकाल प्राप्त हुआ (२) पुनः अप्रमत्तभाव के साथ संयम को प्राप्त होकर (३) प्रमत्त-अप्रमत्त गुणस्थानसंबंधी सहस्रों परावर्तनों को करके (४) क्षपकश्रेणी के प्रायोग्य विशुद्धि से विशुद्ध होकर (५) अपूर्वकरणसंयत (६) अनिवृत्तिकरण (७) सूक्ष्मसाम्परायसंयत (८) क्षीणकषाय वीतरागछद्मस्थ (९) सयोगकेवली (१०) और अयोगकेवली (११) होकर निर्वाण को प्राप्त हो गया । इस प्रकार से इन ग्यारह अंतर्मुहूर्तों से कम अर्धपुद्गलपरिवर्तनकाल असंयत सम्यग्दृष्टि जीवों का उत्कृष्ट अंतर होता है।

इससे यह सिद्ध होता है कि जो अव्रत अवस्था में क्षणमात्र के लिये शुद्धात्मानुभव/ सम्यग्ज्ञान प्राप्त करता है वह आगे त्यागी हो ही जाता है। इसलिये शुद्धात्मानुभव करनेवाला अव्रती स्वैराचारी (स्वच्छंदी) नहीं होता है।

और भी देखिए **समयसार-गाथा २७६ 'आयारादी णाणं जीवादी'** इत्यादि की **श्री जयसेनाचार्यरचित तात्पर्यवृत्ति–**

प्रतिज्ञा	हेतु	
	करणानुयोग पद्धति का हेतु	द्रव्यानुयोग पद्धति का हेतु
संस्कृत – निश्चयमोक्षमार्गे स्थितानां नियमेन मोक्षः भवति;	...मिथ्यात्वादि सप्तप्रकृत्युपशमक्षयोपशमक्षयात्	शुद्धात्मानं उपादेयं कृत्वा वर्तते.....
हिन्दी अर्थ – निश्चयमोक्षमार्ग में रहनेवालों को नियम से मोक्ष होता है;	क्योंकि मिथ्यात्वादि सात प्रकृति का उपशम है अथवा मिथ्यात्वादि सात प्रकृति का क्षयोपशम है अथवा मिथ्यात्वादि सात प्रकृति का क्षय है,	क्योंकि निजध्रुवशुद्धज्ञान-दर्शनानंदात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से जानता है।
	यह हेतु पूर्वचर हेतु है ।	

(E) उत्तरचर हेतु–कोई हेतु उत्तरचर होता है। जैसे–'भरणी नक्षत्र का उदय पहले (पूर्व में) हो गया है, क्योंकि कृत्तिका नक्षत्र का उदय अभी हो रहा है।' ऐसे यहाँ कृत्तिकोदय यह हेतु विधिरूपविधिसाधक

उत्तरचर हेतु है। भरणी नक्षत्र के उदय के बाद कृत्तिकोदय होता है, इसलिये कृत्तिकोदय भरणी का उत्तरचरवाला हेतु है। उत्तरचरवाला कृत्तिकोदय हेतु भरणी के उदय का गमक है।

'पूर्व में अर्हंतपर्याय हो गई, क्योंकि अभी उसकी मोक्षपर्याय है।' ऐसे यहाँ 'मोक्षपर्याय है' यह हेतु विधिरूपविधिसाधक उत्तरचर हेतु है।

'पूर्व में क्षीणकषाय बारहवाँ गुणस्थान हो गया, क्योंकि अभी इसका सयोगकेवली तेरहवाँ गुणस्थान है।' ऐसे यहाँ 'सयोगकेवली तेरहवाँ गुणस्थान है' यह हेतु विधिरूपविधिसाधक उत्तरचर हेतु है।

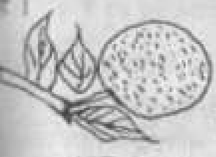
'पूर्व में परिषहविजयी महाव्रती नग्नमुनि था, क्योंकि अभी सिद्धपर्याय है।' ऐसे यहाँ 'सिद्धपर्याय है' यह हेतु विधिरूपविधिसाधक उत्तरचर हेतु है।

'पूर्व में प्रायोग्यलब्धि/युक्तियों द्वारा निजशुद्धात्मादि की परीक्षा हो गई, क्योंकि अभी शुद्धात्मानुभव तथा प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन है।' ऐसे यहाँ 'शुद्धात्मानुभव है' यह उत्तरचर हेतु है।

इत्यादि।

जितना जाना गया है वह सब कथन नहीं कर सकते हैं, जितना प्रवचन के द्वारा कहता हूँ उतना सब लिखना संभव नहीं है। क्षमा चाहता हूँ। ॐ।

(F) सहचर हेतु–कोई हेतु सहचर हेतु होता है। जैसे–मातुलिंग अर्थात् बिजौरा नीबू रूपवान है, क्योंकि रसवान है।' रूपवान और रसवान ये सहचर/सहभू हैं। ऐसे यहाँ 'रसवान' यह सहचर हेतु है। रस नियम से रूप का सहचर है, क्योंकि रूप के अभाव में रस का अभाव होनेसे 'रसवान' रूपवान/पीले का गमक है।



'यह नीबू रसवान है, क्योंकि पीला है।' ऐसे यहाँ 'पीला' यह सहचर हेतु है। 'पीला' नियम से रस का सहचर है, क्योंकि पीले के अभाव में (अर्थात् हरापना के सद्भाव में) नीबू में से रस प्राप्त नहीं होता। इसलिये पीला रस का गमक है।



'यह आम मीठा है, क्योंकि सुगंध है।' ऐसे यहाँ 'सुगंध यह सहचर हेतु है।'

'इस हवा/वायु में वर्णगुण है, क्योंकि स्पर्श है।' ऐसे यहाँ 'स्पर्श' यह सहचर हेतु है। स्पर्शगुण, रसगुण, गंधगुण और वर्णगुण सहभू होते हैं। इसलिये 'स्पर्श' वर्ण का गमक है।

'इस मेरे ध्रुवजीवद्रव्य में आनंदगुण है, क्योंकि ज्ञानगुण है।' ऐसे यहाँ 'ज्ञानगुण' यह सहचर हेतु है। क्योंकि ज्ञानगुण, दर्शनगुण, श्रद्धागुण, आनंदगुण आदि सहभू/सहचर हैं।

'इस अव्रती मेरे जीव में सम्यग्दर्शनपर्याय है, क्योंकि निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान है।' ऐसे यहाँ 'निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान है' यह सहचर हेतु है।

'यह मैं अव्रती गृहस्थ मोक्षमार्गस्थ हूँ, क्योंकि निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान है।' ऐसे यहाँ 'निजध्रुवशुद्धदर्शनानंदात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान है' यह सहचर हेतु है; क्योंकि चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और अव्रत सम्यक्चारित्र ये तीनों युगपत् होते हैं। श्रद्धागुण की सम्यग्दर्शनपर्याय और ज्ञानगुण की सम्यग्ज्ञानपर्याय और चारित्रगुण की सम अथवा सम्यक्चारित्रपर्याय सहभू/एकसाथ हैं।

संस्कृत पृष्ठ नंबर १०२, संस्कृत परिच्छेद नं. ५७ →

इन उदाहरणों में सद्भावरूप ही अग्नि आदिक साध्यों को सिद्ध करनेवाले धूमादिक साधन सद्भावरूप ही हैं । इसलिये ये सब विधिसाधकविधिरूप हेतु हैं । इनको अविरुद्धोपलब्धि ऐसा कहते हैं । इसप्रकार विधिरूप हेतु के प्रथम भेद-विधिसाधक का उदाहरणों के द्वारा निरूपण किया ।

विशेषार्थ– इन उदाहरणों में साध्य सद्भावरूप है और उस साध्य को सिद्ध करनेवाला हेतु/साधन/लिंग भी सद्भावरूप ही है । इसलिये उन हेतुओं को विधिसाधकविधिरूप हेतु कहते हैं । यहाँ साध्य भी सद्भावरूप और हेतु भी सद्भावरूप होने से उस हेतु को 'अविरुद्धोपलब्धि हेतु' ऐसा भी कहते हैं ।

'यह मैं जीव हूँ,	यह सद्भावरूप साध्य है ।	यहाँ साध्य जैसे सद्भावरूप है, उसीके समान साधन/हेतु भी सद्भावरूप है; इसलिये हेतु अविरुद्धोपलब्धि है ।
क्योंकि मुझ में अहं/मैं/स्व-संवेदन की प्रतीति होती है।'	यह सद्भावरूप हेतु/साधन है ।	

अर्थात् साध्य जैसे विधिरूप है, वैसे साधन/हेतु भी विधिरूप है । इसलिये विधिरूप साध्य को सिद्ध करनेवाला विधिरूप हेतु है । इसलिये हेतु विधिसाधकविधिरूप हेतु है ।

'मुझ में आनंदगुण है,	यह सद्भावरूप साध्य है ।	यहाँ साध्य जैसे सद्भावरूप है, उसीके समान साधन/हेतु भी सद्भावरूप है; इसलिये हेतु अविरुद्धोपलब्धि अर्थात् विधिसाधकविधिरूप हेतु है ।
क्योंकि मुझ में ज्ञानगुण है ।'	यह सद्भावरूप हेतु है ।	

'मैं अविरत सम्यग्दृष्टि हूँ,	यह सद्भावरूप साध्य है ।	यहाँ साध्य जैसे सद्भावरूप है, उसीके समान साधन/हेतु भी सद्भावरूप है; इसलिये हेतु अविरुद्धोपलब्धि अर्थात् विधिसाधकविधिरूप हेतु है ।
क्योंकि मैं अपने ध्रुवशुद्धज्ञान-दर्शनानंदात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से जानता हूँ ।'	यह सद्भावरूप हेतु है ।	

संस्कृत पृष्ठ नंबर १०३, संस्कृत परिच्छेद नंबर ५८ →

(II) दूसरा भेद निषेधसाधक नामक है। उसका दूसरा नाम विरुद्धोपलब्धि ऐसा है । उसके उदाहरण-

(A) 'इस जीव में मिथ्यात्व नहीं है, क्योंकि आस्तिक्य की अन्यथानुपपत्ति है।' ऐसे यहाँ 'आस्तिक्य' यह हेतु है । आस्तिक्य अर्थात् सर्वज्ञवीतरागप्रणीतजीवादितत्त्वार्थरुचिलक्षणरूप है । वह आस्तिक्य मिथ्यात्वधान में नहीं संभवता है । ऐसा वह आस्तिक्य मिथ्यात्व के अभाव की सिद्धि करता है ।

(B) 'वस्तु में सर्वथा एकान्त नहीं है, क्योंकि अनेकांतात्मकत्व की अन्यथानुपपत्ति है' ऐसे यहाँ 'अनेकांतात्मकत्व' यह हेतु है । अनेकांतात्मकत्व हेतु का वस्तु में अबाधितप्रतीतिविषयपना से प्रतिभासन होता है, वह अनेकान्तत्व सौगतादि परिकल्पित सर्वथा एकांत के अभाव की अवश्य सिद्धि करता है ।

विशेषार्थ– (II) दूसरा भेद निषेधरूप साध्य की सिद्धि करनेवाला है और वह हेतु सद्भावरूप है । इसलिये निषेध के विरुद्ध सद्भाव/विधि है । इसलिये ऐसे हेतु को निषेधसाधकविधिरूप अथवा विरुद्धोपलब्धि हेतु कहते हैं । जैसे–

(A) 'इस जीव में मिथ्यात्व नहीं,	यह निषेधरूप साध्य है।	यहाँ साध्य निषेधरूप है और साधन/हेतु सद्भावरूप है। इसलिये निषेधसाधकविधिरूप हेतु अर्थात् विरुद्धोपलब्धि हेतु है। निषेध के विरुद्ध विधि होने से विरुद्धोपलब्धि है।
क्योंकि सर्वज्ञवीतरागप्रणीत-जीवादितत्त्वार्थ में रुचि है अर्थात् निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान है।'	यह सद्भावरूप साधन/हेतु है।	

समयसार-गाथा (आत्मख्याति-गाथा नंबर १७७-१७८)- 'रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स' इत्यादि की श्री जयसेनाचार्यरचित तात्पर्यवृत्ति →

"रागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेः न भवन्ति सम्यग्दृष्टित्वान्यथानुपपत्तेः इति हेतुः। तथाहि-अनन्तानुबन्धि-क्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदयजनिताः रागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेः न सन्ति इति पक्षः। कस्मात्? इति चेत्, केवलज्ञानाद्यनन्तगुणसहितपरमात्मोपादेयत्वे सति वीतरागसर्वज्ञप्रणीतषट्द्रव्यपञ्चास्तिकाय-सप्ततत्त्वनवपदार्थरुचिरूपस्य मूढत्रयादिपञ्चविंशतिदोषरहितस्य...चतुर्थगुणस्थानवर्तिसरागसम्यक्त्वस्य अन्यथानुपपत्तेः इति हेतुः।...

अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरणसंज्ञाः क्रोधमानमायालोभोदयजनिताः रागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेः न सन्ति इति पक्षः। कस्मात्? इति चेत् निर्विकारपरमानंदैकसुखलक्षणपरमात्मोपादेयत्वे सति षट्द्रव्यपञ्चा-स्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थरुचिरूपस्य मूढत्रयादिपञ्चविंशतिदोषरहितस्य तदनुसारिप्रशमसंवेगानु-कम्पादेवधर्मादिविषयास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणस्य पञ्चमगुणस्थानयोग्यदेशचारित्राविनाभाविसराग-सम्यक्त्वस्य अन्यथानुपपत्तेः इति हेतुः।..."

'इस जीव में रागद्वेषमोह नहीं हैं,	यह निषेधरूप साध्य है।	यहाँ साध्य निषेधरूप है और साधन/हेतु सद्भावरूप है। इसलिये निषेधसाधकविधिरूप अर्थात् विरुद्धोपलब्धि हेतु है। निषेध के विरुद्ध विधि होने से विरुद्धोपलब्धि है।
क्योंकि सम्यग्दृष्टि है।'	यह सद्भावरूप हेतु है।	

'इस अविरतसम्यग्दृष्टि को अनन्तानुबंधी क्रोधमानमाया-लोभमिथ्यात्वोदयजनित रागद्वेषमोह नहीं हैं;	यह निषेधरूप साध्य है।	यहाँ साध्य निषेधरूप है और साधन/हेतु सद्भावरूप है। इसलिये निषेधसाधकविधिरूप अर्थात् विरुद्धोपलब्धि हेतु है। निषेध के विरुद्ध विधि होने से विरुद्धोपलब्धि है।
क्योंकि (a) ज्ञानादि अनंतगुणवाले निजध्रुवशुद्धात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान है,	यह अध्यात्मभाषा से सद्भावरूप हेतु है और	
(b) वीतरागसर्वज्ञप्रणीत ६ द्रव्य, ५ अस्तिकाय, ७ तत्त्व, ९ पदार्थ की रुचि और मूढत्रयादि २५ दोषरहित और प्रशमादि और ८ अंगसहितवाले चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यक्त्व की अन्यथानुपपत्ति है।'	यह आगमभाषा से सद्भावरूप हेतु है।	

'इस देशविरतसम्यक्त्वी अर्थात् पंचम गुणस्थानवर्ती को मिथ्यात्व-अनंतानुबन्धी-अप्रत्याख्यानावरण नामक क्रोधमानमाया-लोभजनित रागद्वेषमोह नहीं है;	वह निषेधरूप साध्य है।	यहाँ साध्य निषेधरूप है और साधन/हेतु सद्भावरूप है। इसलिये निषेधसाधकविधिरूप अर्थात् विरुद्धोपलब्धि हेतु है। निषेध के विरुद्ध विधि होने से विरुद्धोपलब्धि है।
क्योंकि (a) निर्विकारपरमानंदज्ञानादि अनंतगुणवाले निजध्रुवशुद्धात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान है,	वह अध्यात्मभाषा से सद्भावरूप हेतु है और	
(b) वीतरागसर्वज्ञप्रणीत ६ द्रव्य, ५ अस्तिकाय, ७ तत्त्व, ९ पदार्थ की रुचि और प्रशमादि और ८ अंगसहित और पंचम गुणस्थानयोग्य देशचारित्र (व्रत) वाले पंचमगुणस्थानवर्ती सम्यक्त्व की अन्यथानुपपत्ति है।'	वह आगमभाषा से सद्भावरूप हेतु है।	

भो प्रभो! ॐ! अपनी मोक्षमार्गस्थ पर्याय का निर्णय स्वयं कर सकते हैं, दूसरों से पूछने की आवश्यकता नहीं।

(B) 'इस वस्तु में सर्वथा एकान्त नहीं;	वह निषेधरूप साध्य है।	यहाँ साध्य निषेधरूप है और साधन/हेतु सद्भावरूप है। इसलिये निषेधसाधकविधिरूप अर्थात् विरुद्धोपलब्धि हेतु है।
क्योंकि अनेकांतपना है (अर्थात् परस्परविरोधी जैसे- नित्य-क्षणिक, दैव-पुरुषार्थ दो धर्म युगपत् यानी एकसाथ हैं)।'	वह विधि अर्थात् सद्भावरूप हेतु है।	

संस्कृत पृष्ठ नंबर १०२, संस्कृत परिच्छेद नंबर ५९→

शंका–यह अनेकांतपना क्या है, जिसके बल से वस्तु में सर्वथा एकांत का अभाव सिद्ध किया जाता है?

समाधान–'भाव-अभाव, एक-अनेक, नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष इत्यादि परस्पर विरुद्ध दो धर्म एक समय में एक ही वस्तु में विद्यमान रहना' इसे अनेकांतपना कहते हैं। ऐसा अनेकान्तपना जीवादि सभी वस्तु में है। इसप्रकार विधिरूप हेतु दिखाए हैं।

विशेषार्थ-शंका–'जिस अनेकांत के बल से वस्तु में सर्वथा एकांत नहीं है' ऐसा सिद्ध किया जाता है। वह अनेकांत क्या है?

समाधान–'भाव-अभाव, एक-नाना (बहु), नित्य-क्षणिक, ध्रुव-पर्याय, सामान्य-विशेष, सत्-असत्, दैव-पुरुषार्थ, क्रमनियमित-अक्रम, तत्-अतत्, क्रमनियमित-पुरुषार्थ, भेद-अभेद, अस्ति-नास्ति इत्यादि परस्पर विरुद्ध दो धर्म एक समय में एक ही वस्तु में विद्यमान रहना' इसको सम्यक् अनेकांत कहते हैं।

क्रमांक	आगमभाषा		फल	
क	स्यात् भाव	स्यात् अभाव	सम्यक् अनेकांत	सम्यक्त्व
ग	भाव	०	मिथ्या एकांत	मिथ्यात्व
घ	०	अभाव	मिथ्या एकांत	मिथ्यात्व
ट	अभावनिरपेक्ष भाव	भावनिरपेक्ष अभाव	मिथ्या अनेकांत	मिथ्यात्व

चार्ट नं. १५

समयसार-आत्मख्याति→

"तत्र यदेव तत् तदेव अतत्, यदेव एकं तदेव अनेकं, यदेव सत् तदेव असत्, यदेव नित्यं तदेव अनित्यं इति एकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनं अनेकान्तः।"

अर्थ–जो (वस्तु) ही तत् है-वह (वस्तु) ही अतत् है, जो (वस्तु) एक है-वह (वस्तु) ही अनेक है, जो (वस्तु) ही सत् है-वह (वस्तु) ही असत् है, जो (वस्तु) ही नित्य है-वह (वस्तु) ही अनित्य है। इसप्रकार →

"एक वस्तु में वस्तुत्व की उपजानेवाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशित होना अनेकांत है।"

समयसार-तात्पर्यवृत्ति→

"एकवस्तुनि वस्तुत्वनिष्पादकं-अस्तित्वनास्तित्वद्वयादिस्वरूपं परस्परविरुद्धसापेक्षशक्तिद्वयं यत् तस्य प्रतिपादनं स्यात् अनेकान्तः भण्यते।"

अर्थ–एक वस्तु में वस्तुत्व को निष्पन्न करनेवाली 'अस्तित्व और नास्तित्व' इसतरह परस्पर विरुद्ध सापेक्ष दोनों शक्तियों का जो प्रकाशन है; उसको अनेकांत कहते हैं।

और उसका कथन स्याद्वाद पद्धति से किया जाता है।

सम्यक् अनेकांत→

राजवार्तिक-अध्याय १, सूत्र ६, वार्तिक ७ →

"एकत्र सप्रतिपक्षानेकधर्मस्वरूपनिरूपणः युक्त्यागमाभ्यां अविरुद्धः सम्यगनेकान्तः।"

अर्थ–एक वस्तु में युक्ति और आगम से अविरुद्ध सप्रतिपक्ष अनेकधर्मस्वरूपनिरूपणवाला अनेकांत होता है।

सम्यक् एकांत→

राजवार्तिक-अध्याय १, सूत्र ६, वार्तिक ७→

"तत्र सम्यगेकांतः हेतुविशेषसामर्थ्यापेक्षः प्रमाणप्ररूपितार्थैकदेशादेशः।"

अर्थ–उसमें प्रमाणप्ररूपित अर्थ के एकदेश आदेशरूप हेतुविशेषसामर्थ्यापेक्षावाला सम्यक् एकांत होता है। (प्रमाणप्ररूपित अर्थ के एकदेश को हेतुविशेष सामर्थ्य की अपेक्षा से आदेशवाला सम्यक् एकांत होता है।)

मिथ्या एकांत→

राजवार्तिक-अध्याय १, सूत्र ६, वार्तिक ७ →

"एकात्मावधारणेन अन्याशेषनिराकरणप्रवणप्रणिधिः मिथ्यैकांतः।"

अर्थ–एक धर्म के अवधारण से अन्य अशेष का निराकरणप्रवणप्रणिधिवाला मिथ्या एकांत होता है। [अर्थात् एक धर्म का सर्वथा (एकांतरूप से) अवधारण (निश्चय) करके अन्य धर्मों का निराकरण करनेवाला मिथ्या एकांत है।]

मिथ्या अनेकांत→

राजवार्तिक-अध्याय १, सूत्र ६, वार्तिक ७→

"तदतत्स्वभाववस्तुशून्यं परिकल्पितानेकात्मकं केवलं वाग्विज्ञानं मिथ्याऽनेकांतः।"

अर्थ–वस्तुको 'तत्-अतत्' स्वभाव से शून्य कहकर उसमें अनेक धर्मों की मिथ्या कल्पना करनेवाला अर्थशून्य वचनविज्ञान मिथ्या अनेकांत है।

इसतरह से सम्यक्-एकांत और सम्यक्-अनेकांत सच्चे हैं। मिथ्या एकांत और मिथ्या अनेकांत असत्य है, क्योंकि यदि अनेकांत को अनेकांतरूप ही माना जाय और एकांत न माना जाय, तो सम्यक् एकांत के अभाव में, शाखादि के अभाव में वृक्ष के अभाव की तरह उसके समुदायरूप अनेकांत का भी अभाव होने

की आपत्ति आएगी। यदि एकांत ही माना जाए तो उसके अविनाभावी शेष धर्मों का निराकरण हो जाने से स्वयं का लोप (अभाव) होने से सब का लोप (अभाव) होने की आपत्ति आती है।

(देखो राजवार्तिक-अध्याय १, सूत्र ६, वार्तिक ७ →

''यदि अनेकांत: अनेकांत: एव स्यात्, न एकांत: भवेत्, एकांताभावात् तत्समूहात्मकस्य तस्य अपि अभाव: स्यात्, शाखाद्यभावे वृक्षाद्यभाववत्। यदि च एकांत: एव स्यात् तदविनाभाविशेषनिराकरणादात्मलोपे सर्वलोप: स्यात्।'')

[एक वस्तु में एक समय में परस्परविरुद्ध दो शक्तियों का (आगमादि से अविरुद्ध परस्परविरुद्ध दो शक्तियों का) प्रकाशित होना ही अनेकांत है।]

१. स्यात् (कथंचित्) द्रव्य 'नित्य' है। २. स्यात् (कथंचित्) द्रव्य 'क्षणिक' है। ३. स्यात् (कथंचित्) द्रव्य 'अवक्तव्य' है। ४. स्यात् (कथंचित्) द्रव्य 'नित्य-क्षणिक' है। ५. स्यात् (कथंचित्) द्रव्य 'नित्य-अवक्तव्य' है। ६. स्यात् (कथंचित्) द्रव्य 'क्षणिक-अवक्तव्य' है। ७. स्यात् (कथंचित्) द्रव्य 'नित्य-क्षणिक-अवक्तव्य' है।	१. स्यात् द्रव्य 'क्रमनियमितपर्याय' है। २. स्यात् द्रव्य 'पुरुषार्थ' है। ३. स्यात् द्रव्य 'अवक्तव्य' है। ४. स्यात् द्रव्य 'क्रमनियमितपर्याय-पुरुषार्थ' है। ५. स्यात् द्रव्य 'क्रमनियमित-अवक्तव्य' है। ६. स्यात् द्रव्य 'पुरुषार्थ-अवक्तव्य' है। ७. स्यात् द्रव्य 'क्रमनियमित-पुरुषार्थ-अवक्तव्य' है।
१. स्यात् नित्य 'है'। (अस्ति) २. स्यात् नित्य 'नहीं'। (नास्ति) (अर्थात् नित्य में अन्य कुछ नहीं।) ३. स्यात् नित्य 'अवक्तव्य' है। ४. स्यात् नित्य 'है-नहीं' (अस्ति-नास्ति) है। ५. स्यात् नित्य 'है (अस्ति)-अवक्तव्य' है। ६. स्यात् नित्य 'नहीं (नास्ति)-अवक्तव्य' है। ७. स्यात् नित्य 'है-नहीं (अस्ति-नास्ति)-अवक्तव्य' है।	१. स्यात् क्रमनियमित 'है' (अस्ति)। २. स्यात् क्रमनियमित 'नहीं' (नास्ति)। (अर्थात् क्रमनियमित में अन्य कुछ नहीं।) ३. स्यात् क्रमनियमित 'अवक्तव्य' है। ४. स्यात् क्रमनियमित 'है-नहीं' (अस्ति-नास्ति) है। ५. स्यात् क्रमनियमित 'है (अस्ति)-अवक्तव्य' है। ६. स्यात् क्रमनियमित 'नहीं (नास्ति)-अवक्तव्य' है। ७. स्यात् क्रमनियमित 'है-नहीं (अस्ति-नास्ति)-अवक्तव्य' है।
१. स्यात् क्षणिक 'है'। (अस्ति) २. स्यात् क्षणिक 'नहीं'। (नास्ति) (अर्थात् क्षणिक में अन्य कुछ नहीं।) ३. स्यात् क्षणिक 'अवक्तव्य' है। ४. स्यात् क्षणिक 'है-नहीं' (अस्ति-नास्ति) है। ५. स्यात् क्षणिक 'है (अस्ति)-अवक्तव्य' है। ६. स्यात् क्षणिक 'नहीं (नास्ति)-अवक्तव्य' है। ७. स्यात् क्षणिक 'है-नहीं (अस्ति-नास्ति)-अवक्तव्य' है।	१. स्यात् पुरुषार्थ 'है' (अस्ति)। २. स्यात् पुरुषार्थ 'नहीं' (नास्ति)। (अर्थात् पुरुषार्थ में अन्य कुछ नहीं।) ३. स्यात् पुरुषार्थ 'अवक्तव्य' है। ४. स्यात् पुरुषार्थ 'है-नहीं' (अस्ति-नास्ति) है। ५. स्यात् पुरुषार्थ 'है (अस्ति)-अवक्तव्य' है। ६. स्यात् पुरुषार्थ 'नहीं (नास्ति)-अवक्तव्य' है। ७. स्यात् पुरुषार्थ 'है-नहीं (अस्ति-नास्ति)-अवक्तव्य' है।

और भी चार्ट नं. १९ – प्रस्तावना पृष्ठ नं. ५० देखिए।

एक समय में एक द्रव्य की एक पर्याय होती है। एक समय में एक गुण की एक पर्याय (क्रमनियमित) होती है। एक समय में एक द्रव्य में अनंत गुणसमूह (अक्रम) होते हैं। इसलिये एक समय में अनंत गुणों की अनंत पर्यायों का समूह उत्पन्न होता है। एक समय में अनंत गुणों की अनंत पर्यायों का समूह नष्ट (व्यय) होता है।

क्र.	आगमभाषा		फल	
क	स्यात् 'अक्रम (सहभू)' है।	स्यात् 'क्रमनियमित' है।	समीचीन सम्यक् अनेकांत	सम्यक्त्व
ग	अक्रम (सहभू) है।	०	असमीचीन मिथ्या एकांत	मिथ्यात्व
घ	०	क्रमनियमित है।	असमीचीन मिथ्या एकांत	मिथ्यात्व
ट	क्रमनियमितनिरपेक्ष अक्रम (सहभू) है।	अक्रमनिरपेक्ष क्रमनियमित है।	असमीचीन मिथ्या अनेकांत	मिथ्यात्व

कोष्टक

क्र.	आगमभाषा		फल	
क	स्यात् क्रमनियमितपर्याय	स्यात् पुरुषार्थ	समीचीन सम्यक् अनेकांत	सम्यक्त्व
ग	क्रमनियमितपर्याय	०	असमीचीन मिथ्या एकांत	मिथ्यात्व
घ	०	पुरुषार्थ	असमीचीन मिथ्या एकांत	मिथ्यात्व
ट	पुरुषार्थनिरपेक्ष क्रमनियमितपर्याय	क्रमनियमितनिरपेक्ष पुरुषार्थ	असमीचीन मिथ्या अनेकांत	मिथ्यात्व

क्र.	आगमभाषा		फल	
क	स्यात् नित्य	स्यात् क्षणिक	समीचीन सम्यक् अनेकांत	सम्यक्त्व
ग	नित्य	०	असमीचीन मिथ्या एकांत	मिथ्यात्व
घ	०	क्षणिक	असमीचीन मिथ्या एकांत	मिथ्यात्व
ट	क्षणिकनिरपेक्ष नित्य	नित्यनिरपेक्ष क्षणिक	असमीचीन मिथ्या अनेकांत	मिथ्यात्व

क्र.	आगमभाषा		फल	
क	स्यात् अभेद	स्यात् भेद	सम्यक् अनेकांत	सम्यक्त्व
ग	अभेद	०	मिथ्या एकांत	मिथ्यात्व
घ	०	भेद	मिथ्या एकांत	मिथ्यात्व
ट	भेदनिरपेक्ष अभेद	अभेदनिरपेक्ष भेद	मिथ्या अनेकांत	मिथ्यात्व

क्र.	आगमभाषा		फल	
क	स्यात् तत्	स्यात् अतत्	सम्यक् अनेकांत	सम्यक्त्व
ग	तत्	०	मिथ्या एकांत	मिथ्यात्व
घ	०	अतत्	मिथ्या एकांत	मिथ्यात्व
ट	अतत्निरपेक्ष तत्	तत्निरपेक्ष अतत्	मिथ्या अनेकांत	मिथ्यात्व

क्र.	आगमभाषा		फल	
क	स्यात् अस्ति	स्यात् नास्ति	सम्यक् अनेकांत	सम्यक्त्व
ग	अस्ति	०	मिथ्या एकांत	मिथ्यात्व
घ	०	नास्ति	मिथ्या एकांत	मिथ्यात्व
ट	नास्तिनिरपेक्ष अस्ति	अस्तिनिरपेक्ष नास्ति	मिथ्या अनेकांत	मिथ्यात्व

इस तरह ऐसा अनेकांतपना जीवादि सभी वस्तुओं में है। इस प्रकार विधिरूप हेतु दिखाएँ हैं।

शंका–इस अनेकांत का जीवन में क्या लाभ है ?

समाधान–(१) 'जो लोग कहते हैं कि, सबेरे गृहस्थ अवस्था में व्यवहारनय/पर्यायनय था और अब दोपहर में मुनिदीक्षा हो गई। अब दोपहर में मुनि अवस्था में निश्चयनय/ध्रुवदृष्टि अथवा ध्रुव अथवा द्रव्यार्थिकनय आया है।'

उनका कथन ठीक नहीं है । यह समझ में आया ।

(२) 'जो लोग कहते हैं कि, इस भरतक्षेत्र में जब भोगभूमि थी तब दैव था और अब कर्मभूमि है, इसलिये पुरुषार्थ है ।' उनका कथन ठीक नहीं है । यह समझ में आया ।

(३) 'जो लोग कहते हैं कि, वस्तु बहु आयामी (Multidimentional or infinite aspects) है, इसलिये अनेकांत है' उनका कथन ठीक नहीं है । यह समझ में आया ।

(४) 'विपश्यना ध्यान' ठीक नहीं है । यह समझ में आया ।

(५) 'प्रेक्षा ध्यान' ठीक नहीं है । यह समझ में आया ।

(६) 'समीक्षण ध्यान' ठीक नहीं है । यह समझ में आया ।

(७) 'टी.व्ही.ध्यान' ठीक नहीं है । यह समझ में आया ।

(८) 'ब्रह्माकुमारी प्रजापति ध्यान' ठीक नहीं है । यह समझ में आया ।

(९) 'कन्याकुमारी' की ध्यान पद्धति ठीक नहीं है । यह समझ में आया ।

(१०) 'अरविंद ध्यान' ठीक नहीं है । यह समझ में आया ।

(११) 'रजनीश ध्यान' ठीक नहीं है । यह समझ में आया ।

(१२) 'जे. कृष्णमूर्ति ध्यान' ठीक नहीं है । यह समझ में आया ।

(१३) ध्रुव से पर्याय अतद् है, इसलिये ध्रुव में पर्याय नहीं है । मेरा ध्रुव अनादि-अनंत शुद्ध है । यह समझ में आया ।

(१४) इत्यादि ।

संस्कृत पृष्ठ नं. १०३, संस्कृत परिच्छेद नंबर ६०-६१→

(२) प्रतिषेधरूप हेतु भी दो प्रकार का है→ (I) विधिसाधक और (II) प्रतिषेधसाधक। उनमें से →

(I) विधिसाधकप्रतिषेधरूप हेतु →जैसे-यहाँ 'इस जीव में सम्यक्त्व है, क्योंकि विपरीत अभिनिवेश का अभाव है ।' ऐसे यहाँ 'विपरीत अभिनिवेश का अभाव है' यह हेतु प्रतिषेधरूप है, वह हेतु सम्यक्त्व के सद्भाव की सिद्धि करता है । इसलिये यह हेतु विधिसाधकप्रतिषेधरूप हेतु है ।

(II) प्रतिषेधसाधकप्रतिषेधरूप हेतु-जैसे 'यहाँ धूम नहीं है, क्योंकि यहाँ अग्नि नहीं है।' ऐसे यहाँ 'अग्नि नहीं' यह हेतु प्रतिषेधरूप है, वह हेतु धूम के अभाव की सिद्धि करता है । इसलिये यह हेतु प्रतिषेधसाधकप्रतिषेधरूप हेतु है ।

इस तरह विधिप्रतिषेधरूपता से द्विविध हेतु के कुछ अवांतर भेद उदाहरणों के द्वारा दिखाए हैं । लेकिन उनका विस्तार परीक्षामुखसूत्र ग्रन्थ से जानना योग्य है ।

अन्यथानुपपत्तिलक्षणवाले ही हेतु साध्य के गमक हैं, उससे अन्य लक्षणवाले हेतु साध्य के गमक नहीं हैं, क्योंकि उनमें हेत्वाभासपना है ।

विशेषार्थ–(२) प्रतिषेधरूप अर्थात् निषेधवाला हेतु भी दो प्रकार का है →
(I) विधिसाधक अर्थात् विधिरूप साध्य को सिद्ध करनेवाला
(II) प्रतिषेधसाधक अर्थात् निषेधरूप साध्य को सिद्ध करनेवाला । उनमें से→
(I) विधिसाधकप्रतिषेधरूप हेतु → जैसे →

'इस जीव में सम्यक्त्व है' } यह सद्भावरूप साध्य है।		यहाँ साध्य सद्भावरूप है और साधन/हेतु अभाववाला अर्थात् निषेधवाला अर्थात् प्रतिषेधवाला है। इसलिये विधिसाधकप्रतिषेधरूप हेतु है।
क्योंकि विपरीत अभिनिवेश का अभाव है।	यह निषेध अर्थात् अभावरूप साधन/हेतु है।	

समयसार-गाथा (आत्मख्याति-गाथा नं. २०१-२०२) 'परमाणुमित्तयं पि हु' इत्यादि की श्री जयसेनाचार्यरचित तात्पर्यवृत्ति→

"[चतुर्थगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टिः स्वसंवेदनज्ञानबलेन सहजानन्दस्वभावं शुद्धात्मानं अनुभवति] कथं इति चेत्, चतुर्थगुणस्थानवर्तिनां जीवानां अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदयजनितानां पाषाणरेखादिसमानानां रागादीनां अभावात्।"

"[पञ्चमगुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टिः स्वसंवेदनज्ञानबलेन सहजानन्दस्वभावं शुद्धात्मानं अनुभवति] कथं इति चेत्, पञ्चमगुणस्थानवर्तिनां पुनः जीवानां अप्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभोदयजनितानां भूमिरेखादिसमानानां रागादीनां अभावात्।"

'यह चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि जीव स्वसंवेदनज्ञानबल से सहजानन्दस्वभाववाले निजध्रुवशुद्धात्मा को अनुभवता है,	यह सद्भावरूप साध्य है।	यहाँ साध्य सद्भावरूप है और साधन/हेतु अभाववाला अर्थात् निषेधवाला अर्थात् प्रतिषेधवाला है। इसलिये विधिसाधकप्रतिषेधरूप हेतु है ।
क्योंकि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीवों को अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभ-मिथ्यात्वोदयजनित पाषाणरेखादि समान रागादिक का अभाव है।'	यह निषेध अर्थात् अभावरूप साधन/हेतु है।	
'यह पंचम गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि जीव स्वसंवेदनबल से सहजानंदस्वभाववाले निजध्रुवशुद्धात्मा को अनुभवता है,	यह सद्भावरूप साध्य है।	यहाँ साध्य सद्भावरूप है और साधन/हेतु अभाववाला अर्थात् निषेधवाला अर्थात् प्रतिषेधवाला है । इसलिये विधिसाधकप्रतिषेधरूप हेतु है ।
क्योंकि पंचम गुणस्थानवर्ती जीवों को [अनन्तानुबंधिमिथ्यात्व और] अप्रत्याख्यान क्रोधमानमाया-लोभोदयजनित पाषाणरेखा तथा भूमिरेखादि समान रागादिक का अभाव है।'	यह निषेध अर्थात् अभावरूप साधन/हेतु है ।	

'इस चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव को मोक्ष होगा,	यह सद्भावरूप साध्य है।	यहाँ साध्य सद्भावरूप है और साधन/हेतु अभाववाला अर्थात् निषेधवाला अर्थात् प्रतिषेधवाला है । इसलिये विधिसाधकप्रतिषेधरूप हेतु है। [कृपया देखिये **समयसार-गाथा** (आत्मख्याति गाथा नं. २७६-२७७) **'आयारादी णाणं'** इत्यादि की श्री जयसेन आचार्यरचित तात्पर्यवृत्ति] अध्यात्मन्यायदीपिका पृष्ठ नं. २९५
क्योंकि मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का अभाव अर्थात् उपशम है अथवा क्षयोपशम है अथवा क्षय है अर्थात् मिथ्यात्व नहीं है।'	यह निषेध अर्थात् अभावरूप साधन/ हेतु है ।	

(II) प्रतिषेधसाधकप्रतिषेधरूप हेतु - जैसे

'यहाँ धूम नहीं है,	यह निषेधरूप साध्य है।	यहाँ साध्य निषेधरूप है और साधन/हेतु भी निषेधरूप है। इसलिये प्रतिषेधसाधकप्रतिषेधरूप हेतु है।
क्योंकि यहाँ अग्नि नहीं है।'	यह निषेधरूप साधन/हेतु है।	
'इसमें जीव नहीं है,	यह निषेधरूप साध्य है।	यहाँ साध्य निषेधरूप है और साधन/हेतु भी निषेधरूप है। इसलिये प्रतिषेधसाधकप्रतिषेधरूप हेतु है।
क्योंकि यहाँ ज्ञान-दर्शन नहीं है।'	यह निषेधरूप साधन/हेतु है।	
'इस जीव को सम्यग्दर्शन नहीं है,	यह निषेधरूप साध्य है।	यहाँ साध्य निषेधरूप है और साधन/हेतु भी निषेधरूप है । इसलिये प्रतिषेधसाधकप्रतिषेधरूप हेतु है ।
क्योंकि इसको शुद्धात्मानुभव नहीं है।'	यह निषेधरूप साधन/हेतु है।	
'यह जीव मोक्षमार्गस्थ नहीं है,	यह निषेधरूप साध्य है ।	यहाँ साध्य निषेधरूप है और साधन/हेतु भी निषेधरूप है । इसलिये प्रतिषेधसाधकप्रतिषेधरूप हेतु है ।
क्योंकि इसको शुद्धात्मानुभव नहीं है।'	यह निषेधरूप साधन/हेतु है।	
'इसकी सच्ची समता नहीं है,	यह निषेधरूप साध्य है ।	यहाँ साध्य निषेधरूप है और साधन/हेतु भी निषेधरूप है । इसलिये प्रतिषेधसाधकप्रतिषेधरूप हेतु है ।
क्योंकि शुद्धात्मानुभव नहीं है।'	यह निषेधरूप साधन/हेतु है ।	
'इसको मोक्ष नहीं होगा,	यह निषेधरूप साध्य है ।	यहाँ साध्य निषेधरूप है और साधन/हेतु भी निषेधरूप है । इसलिये प्रतिषेधसाधकप्रतिषेधरूप हेतु है । [देखिए-**समयसार-गाथा** (आत्मख्याति गाथा नं. २७६-२७७) **'आयारादी णाणं'** इत्यादि की श्री जयसेनाचार्यविरचित तात्पर्यवृत्ति] अध्यात्मन्यायदीपिका पृष्ठ नं २९५
क्योंकि शुद्धात्मानुभव नहीं है, मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का अभाव अर्थात् उपशम अथवा क्षयोपशम अथवा क्षय नहीं है।'	यह निषेधरूप साधन/हेतु है ।	

इस तरह अन्यथानुपपत्ति लक्षणवाला ही हेतु साध्य का गमक है, उससे अन्य लक्षणवाला हेतु साध्य का गमक नहीं है क्योंकि उसमें हेत्वाभासपना है ।

अन्यथानुपपत्ति लक्षणवाले शुद्धात्मानुभव हेतु/साधन से अपने सम्यग्दर्शन का निर्णय होता है ।

अन्यथानुपपत्ति लक्षणवाले शुद्धात्मानुभव हेतु/साधन से अपने मोक्षमार्गस्थ का निर्णय होता है ।

अन्यथानुपपत्ति लक्षणवाले शुद्धात्मानुभव हेतु/साधन से अपने सम्यक् आनंद का निर्णय होता है ।

भो प्रभो! अन्यथानुपपत्ति लक्षणवाले हेतु जिनको मालूम नहीं है वे लोग झूठे हेतु (हेत्वाभास) में उलझकर स्वयं का जीवन दुःखी करते हैं।

[हेत्वाभास का लक्षण और उसके भेद]

संस्कृत पृष्ठ नं. १०३, संस्कृत परिच्छेद नं. ६२→

शंका – वे हेत्वाभास कौन से होते हैं?

समाधान – अन्यथानुपपत्ति लक्षण से रहितवाले, लेकिन हेतु जैसे अवभासमान होनेवाले हेत्वाभास होते हैं। वे चार प्रकार के होते हैं – (१) असिद्ध, (२) विरुद्ध, (३) अनैकांतिक, (४) अकिंचित्कर । उनमें से →

(१) असिद्ध हेत्वाभास – जिस की साध्य के साथ व्याप्ति अनिश्चित है ऐसा वह अनिश्चयपथप्राप्तवाला असिद्ध हेत्वाभास है । (A) हेतु के स्वरूपाभावनिश्चय से और (B) हेतु के स्वरूपसंशय से वह अनिश्चयपथप्राप्ति होती है। (A) स्वरूपाभावनिश्चय रहने पर स्वरूपासिद्ध होता है और (B) स्वरूपसंशय रहने पर सन्दिग्धासिद्ध होता है ।

(A) स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास – जैसे-' शब्द परिणामी है, क्योंकि वह नेत्रेंद्रिय का विषय है।' यहाँ 'नेत्रेंद्रिय का विषय' यह हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है, क्योंकि शब्द (ध्वनि) श्रोत्रेंद्रिय (कर्णेंद्रिय) का विषय है, नेत्रेंद्रिय का विषय नहीं है। इसलिये शब्द (ध्वनि) में नेत्रेंद्रिय के विषयपना का अभाव निश्चित है। इसलिये वह हेतु स्वरूपासिद्ध है।

(B) सन्दिग्धासिद्ध हेत्वाभास – जैसे-" धूम अथवा भाप (वाष्प) आदि का विवेक (भेद) अनिश्चय रहते हुए भी कोई कहता है कि 'यह प्रदेश अग्निमान है, क्योंकि यह धूमवान है'।" यहाँ 'धूम' हेतु संदिग्धासिद्ध है, क्योंकि कथन करनेवाले को धूम के स्वरूप के बारे में संदेह (संशय) है।

विशेषार्थ – शंका-लोग हेत्वाभास में उलझकर अपना स्वयं का जीवन दुःखी करते हैं। तो फिर हेत्वाभास किसे कहते हैं? और वे हेत्वाभास कौन से हैं?

समाधान – श्री अकलंकदेवरचित न्यायविनिश्चय- कारिका नं. ३४३ में लिखा है कि-

'अन्यथानुपपन्नत्वरहिता ये विडम्बिताः ।
हेतुत्वेन परैस्तेषां हेत्वाभासत्वमीक्ष्यते ॥ ३४३ ॥'

अर्थ – दूसरों के द्वारा अन्यथानुपपत्तिरहितवाले को जो हेतुत्व से विडम्बित किया है, उन अन्यथानुपपत्ति लक्षण से रहितवालों का हेत्वाभासत्व देखा जाता है ।

इसलिये जिस हेतु में अन्यथानुपपत्ति लक्षण नहीं, उस हेतु को हेत्वाभास अर्थात् झूठे हेतु (असत्य हेतु)

कहते हैं। (१) असिद्ध, (२) विरुद्ध, (३) अनैकांतिक और (४) अकिंचित्कर ये चार प्रकार के हेत्वाभास हैं।

(१) असिद्ध हेत्वाभास–हेतु के स्वरूप के अभाव का निश्चय होने से अथवा हेतु के स्वरूप के बारे में संशय होने से जिसकी साध्य के साथ व्याप्ति अनिश्चित है, वह हेतु असिद्ध हेत्वाभास है ।

(A) स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास–हेतु के स्वरूप के अभाव का निश्चय होने से जिसकी साध्य के साथ व्याप्ति अनिश्चित है, वह हेतु स्वरूप-असिद्ध हेत्वाभास है। जैसे-'शब्द परिणमनशील है, क्योंकि वह नेत्रेंद्रिय का विषय है।' यहाँ 'नेत्रेंद्रिय का विषय' यह हेतु स्वरूप-असिद्ध हेत्वाभास है, क्योंकि शब्द अर्थात् ध्वनि कर्णेंद्रिय का विषय है, नेत्रेंद्रिय का विषय नहीं है। इसलिये शब्द में नेत्रेंद्रिय के विषय होने का स्वरूप नहीं है। इसलिये शब्द में नेत्रेंद्रिय के विषयपना का अभाव निश्चित मालूम है। इसलिये शब्द में नेत्रेंद्रिय के विषयपना स्वरूपासिद्ध है । इसलिये 'शब्द नेत्रेंद्रिय का विषय है' यह हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है ।

'निश्चयनय से कार्यसिद्धपरमात्मा (मुक्त जीव) अमूर्तिक है, क्योंकि जीव में वर्णगुण है।' यहाँ 'जीव में वर्णगुण है' यह हेतु स्वरूपासिद्धहेत्वाभास है, क्योंकि संसारी अथवा मुक्त जीव में वर्णगुण नहीं है, पुद्गल में वर्णगुण है । वर्णगुण जीव का स्वरूप नहीं है। जीव में वर्णगुण का अभाव है, यह निश्चित मालूम है। जीव में वर्णगुण का स्वरूप असिद्ध है। इसलिये 'जीव में वर्णगुण है' यह हेतु स्वरूप-असिद्ध हेत्वाभास है।

'मुझे ध्रुवशुद्धज्ञानानंदात्मा अथवा शुद्धात्मा का अनुभव है, क्योंकि ध्यान में मैं सफेद प्रकाश (श्वेत वर्ण) को जानता हूँ।' यहाँ 'ध्यान में मैं सफेद प्रकाश को जानता हूँ' यह हेतु स्वरूप-असिद्ध हेत्वाभास है, क्योंकि सफेद प्रकाश अथवा वर्ण जीव का स्वरूप (द्रव्य अथवा गुण अथवा पर्याय) नहीं है ।

'मुझे सम्यक्-आनंद प्राप्त हो गया क्योंकि ध्यान में मैं लाल मूर्ति को जानता हूँ।' यहाँ 'ध्यान में मैं लाल मूर्ति को जानता हूँ' यह हेतु स्वरूप-असिद्ध हेत्वाभास है, क्योंकि अपने ध्रुवशुद्धज्ञानानंदात्मा में लाल वर्ण नहीं है; और वस्तुस्वरूप जानकर प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से अपने ध्रुवशुद्धज्ञानानंदात्मा को जानते समय सम्यक् आनंद प्राप्त होता है।

'मैं मिथ्यादृष्टि था लेकिन अभी सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया क्योंकि मैंने अभी निजशुद्धात्मचिंतन में केशरी वर्ण जाना।' यहाँ 'मैंने अभी निजशुद्धात्मचिंतन में केशरी वर्ण जाना' यह हेतु स्वरूप-असिद्ध हेत्वाभास है, क्योंकि निजध्रुवशुद्धात्मा में वर्णगुण अथवा वर्णगुण की पर्याय नहीं है।

शंका–धवल पुस्तक १३, महापुराण आदि में लिखा है कि धर्म्य-शुक्लध्यान के ध्येय सभी पदार्थ होते हैं, वह कैसे?

समाधान–धवलादि ग्रंथों में धर्म्य-शुक्लध्यान में जब सभी पदार्थ विषय होते हैं, ऐसा लिखा है; तब बुद्धिपूर्वक/मुख्य और अबुद्धिपूर्वक/गौण इन सभी को गिनती में लिया है, वहाँ बुद्धिपूर्वक/मुख्य और अबुद्धिपूर्वक (अनीहितपूर्वक/गौण) ऐसा भेद नहीं किया। लेकिन समयसार–श्री जयसेनाचार्यरचित तात्पर्यवृत्ति में और बृहद्द्रव्यसंग्रह की श्री ब्रह्मदेवविरचित संस्कृत टीका में धर्म्य-शुक्लध्यान के ध्येयों के (a) बुद्धिपूर्वक/मुख्य ध्येय (विषय) और (b) अबुद्धिपूर्वक/अनीहित/गौण ध्येय (विषय), ऐसा भेद किया है। क्योंकि सम्यक्-आनंद का प्रामाण्य (सच्चाई/सत्यता) धर्म्य-शुक्लध्यान के मुख्य ध्येय/विषय के साथ है, अबुद्धिपूर्वक अथवा अनीहित/गौण ध्येय/विषय के साथ नहीं ।

देखिए **समयसार-गाथा (आत्मख्याति-गाथा नं. २९१) 'जह बंधे चिंतंतो' इत्यादि की श्री जयसेनाचार्यरचित तात्पर्यवृत्ति →**

'किं च समस्तशुभाशुभबहिर्द्रव्यालम्बनरहितचिदानन्दैकशुद्धात्मावलम्बनस्वरूपवीतरागधर्म्यध्यान-शुक्लध्यानरहितः जीवः बन्धप्रपञ्चरचनाचिन्तारूपसरागधर्म्यध्यानशुभोपयोगेन स्वर्गादिसुखकारण-पुण्यबन्धं लभते न च मोक्षं इति भावार्थः ।'

अर्थ–इसका स्पष्टीकरण यह है कि, सभी शुभाशुभ बाह्य द्रव्य के अवलंबन से रहित (याने परिपूर्ण स्वतंत्र स्वभाव शुद्धात्मस्वरूप) चिदानंद एक शुद्धात्मा का आलंबन जिसमें है ऐसे वीतराग (स्वानुभवमय) धर्म्यध्यान-शुक्लध्यान से रहित जीव बंधप्रपंचरचना के चिंतनस्वरूप सरागधर्म्यध्यानरूप शुभोपयोग से स्वर्गादि सुख के कारणरूप पुण्यबंध को प्राप्त होता है, और मोक्ष को प्राप्त नहीं होता है। ऐसा भावार्थ है।

भावार्थ–जो कोई ऐसा मानते हैं कि "शास्त्र के पठन-पाठन, कर्मबंध के उदय, बंध, उदीरणा आदि और प्रकृतिबंध, स्थितिबंध आदि प्रकार की चिंता-चर्चा-मनन-चिंतन-चिंतवन आदि करके और बहिरंग क्रिया करने से सम्यग्दर्शन प्राप्त हुआ और मोक्षमार्ग शुरू हुआ," उनके प्रति संबोधन करते हुए श्री आचार्यदेव कहते हैं कि, बंध का चिंतन करने से शुभोपयोग होता है। वह चिंतवन बाह्य द्रव्य का आलंबन लेकर होता है, उससे विकल्प ही होते हैं, वह निर्विकल्प समाधि (स्वानुभूति-शुद्धोपयोग) नहीं है इसलिये मोक्षमार्ग शुरू नहीं होता है। इस बंधन के विकल्प करते रहने से सम्यग्दर्शन-स्वानुभव प्राप्त नहीं होता है। याने स्वानुभव लेने से ही चतुर्थादि गुणस्थान प्रगट होते हैं। स्वानुभव से ही मोक्ष प्राप्त होता है। स्वानुभव के समय अपने स्वभावशुद्ध, परिपूर्ण, स्वतंत्र, चिदानंदमय आत्मा का आलंबन होने से वहाँ शुभाशुभभाव नहीं है इसलिये कर्मबंध की संवरपूर्वक निर्जरा होती है–कर्मबंध छूटते हैं।

कृपया देखिए **समयसार-गाथा (आत्मख्याति गाथा-नं. २९२) 'जह बंधे मुत्तूण' इत्यादि की श्री जयसेनाचार्यरचित तात्पर्यवृत्ति→**

"तथापि स्वशुद्धात्मसंवित्तिरूपं वीतरागस्वसंवेदनज्ञानं अपि स्वसंवित्त्याकारैकविकल्पेन सविकल्पं अपि बहिर्विषयानीहितसूक्ष्मविकल्पानां सद्भावे अपि सति तेषां मुख्यत्वं नास्ति तेन कारणेन निर्विकल्पं अपि भण्यते।"

अर्थ–वैसे ही अपनी स्वभावशुद्धात्मा की संवित्ति (अनुभव) वाला वीतरागस्वसंवेदनज्ञान भी स्वसंवित्तिरूप (स्वशुद्धात्म) आकारवाला ज्ञान एक दृष्टि से सविकल्प भी है, वहाँ बाह्य विषयों के अनीहित/अबुद्धिपूर्वक सूक्ष्म विकल्पों का सद्भाव भी होते हुए उन विकल्पों की मुख्यता नहीं है, इस कारण से अपनी स्वभावशुद्धात्मा की अनुभूति निर्विकल्प कही गयी है। [कृपया देखिए बृहद्द्रव्यसंग्रह-गाथा नं. ४२ की श्री ब्रह्मदेवविरचित संस्कृत टीका।]

कृपया देखिए बृहद्द्रव्यसंग्रह-गाथा नं. ४८ की श्री ब्रह्मदेवविरचित संस्कृत टीका→

'अयं अत्र अर्थः–यद्यपि ध्याता पुरुषः स्वशुद्धात्मसंवेदनं विहाय बहिश्चिन्तां न करोति तथापि यावता अंशेन स्वरूपे स्थिरत्वं नास्ति तावता अंशेन अनीहितवृत्त्या विकल्पाः स्फुरन्ति, तेन कारणेन पृथक्त्ववितर्कवीचारं ध्यानं भण्यते।'

अर्थ–इसका अर्थ इस प्रकार है-यद्यपि ध्यान करनेवाला पुरुष निजशुद्धात्मा का संवेदन छोड़कर बाह्य पदार्थों

का चिंतन नहीं करता है, तो भी उसे जितने अंश में स्वरूप में स्थिरता नहीं है उतने अंश में अनीहित/अबुद्धिपूर्वक विकल्प उत्पन्न होते हैं, इस कारण से पृथक्त्ववितर्कविचार ध्यान कहते हैं।

इसलिये धर्म्यध्यान-शुक्लध्यान का निजध्रुवशुद्धज्ञानानंदात्मा ही मुख्य ध्येय/विषय है, अन्य विषय मुख्य ध्येय नहीं।

इसलिये निजध्रुवशुद्धज्ञानानंदात्मा ही धर्म्यध्यान का मुख्य विषय है। इसलिये निजध्रुवशुद्धज्ञानानंदात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से जानने से सम्यग्ज्ञान होता है, सम्यक् आनंद प्राप्त होता है। इससे ही सम्यग्दर्शन होता है, सम्यक्चारित्र होता है।

और भी देखिए- श्री कुंदकुंदाचार्यरचित प्रवचनसार-गाथा नं. १८१→

'सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावं त्ति भणियमण्णेसु।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये॥१८१॥'

अर्थ–दूसरों के बारे में शुभ परिणाम पुण्य है और दूसरों के बारे में अशुभ परिणाम पाप है; और जो परिणाम निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष जानता है, उसी समय दुःखक्षय का अर्थात् आनंद के उत्पाद का कारण है, ऐसा आगम में कहते हैं।

शंका–केवली भगवान सब को जानते हैं, तो फिर वे पर को जानकर भी प्रशांत चित्तवाले हैं। तो हम नीचली दशावाले छद्मस्थ जीव भी पर को जानकर शांत रह जाएँगे और सम्यक्-आनंदी बनेंगे इसमें क्या बाधा है?

समाधान–केवली भगवान सब को जानते हैं, यह सत्य है, लेकिन केवली भगवान अपने ध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा को अतिविशद प्रामाण्यसहित अतिविशद प्रत्यक्ष ज्ञान से जानते हैं। वहाँ निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा-विषय में अपना शाश्वत आनंदगुण है और जानने का साधन प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान है, वह साधन शुद्ध है। इसलिये सम्यक् आनंद फल मिलता है।

तो फिर आप नीचली दशावाले छद्मस्थ को वस्तुस्वरूप जानकर अपने ध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से जानने से ही सम्यक्-आनंद फल मिलेगा, पर को जानने से सम्यक्-आनंद नहीं मिलता है।

(B) संदिग्धासिद्ध हेत्वाभास–जैसे धूम अथवा भाप (बाष्प) आदि का भेद न जानते (निर्णय करते) हुए भी कहता है कि 'यह प्रदेश अग्निमान है, क्योंकि यह धूमवान है।' यहाँ 'धूम' हेतु संदिग्ध-असिद्ध है, क्योंकि कथन करनेवाले को धूम के स्वरूप के बारे में 'यह धूम है अथवा भाप है' ऐसा संशय है। इसलिये 'यह धूमवान है' यह हेतु संदिग्ध-असिद्ध हेत्वाभास है।

अपने सम्यग्दर्शनपर्याय का निर्णय किये बिना ही कोई कहता है कि 'मैं मोक्षमार्गस्थ हूँ, क्योंकि मुझे सम्यग्दर्शन है।' यहाँ 'मुझे सम्यग्दर्शन है' यह हेतु संदिग्ध-असिद्ध हेत्वाभास है, क्योंकि कथन करनेवाले को अपने सम्यग्दर्शनपर्याय के बारे में 'यह सम्यग्दर्शनपर्याय है अथवा मिथ्यादर्शनपर्याय है' ऐसा संशय है।

अपने शुद्धात्मानुभव का निर्णय किये बिना ही कोई कहता है कि 'मैं मोक्षमार्गस्थ हूँ क्योंकि मुझे शुद्धात्मानुभव है।' यहाँ 'मुझे शुद्धात्मानुभव है' यह हेतु संदिग्ध-असिद्ध हेत्वाभास है, क्योंकि कथन करनेवाले को 'अपने शुद्धात्मानुभव' के बारे में संशय है।

संस्कृत पृष्ठ नंबर १०४, संस्कृत परिच्छेद नं. ६३→

(२) विरुद्ध हेत्वाभास–साध्यविपरीतव्याप्तवाला हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है। जैसे-शब्द अपरिणामी है, क्योंकि कृतकपना है। यहाँ कृतकत्व हेतु अपरिणामी का विरोधी जो परिणामी है, उस परिणामीपना के साथ व्याप्त है। *

विशेषार्थ– विरुद्ध हेत्वाभास–साध्य से विपरीत (विपक्ष) के साथ जिस हेतु की व्याप्ति है, उस हेतु को विरुद्ध हेत्वाभास कहते हैं। जैसे→

शब्द ↓ यह पक्ष है	अपरिणामी है, ↓ यह साध्य है	क्योंकि कृतकपना है। ↓ यह हेतु है। यह कृतकत्व हेतु अपरिणामित्व के विरुद्ध परिणामी के साथ व्याप्त है। अर्थात् कृतकत्व हेतु से परिणमन सिद्ध होता है, नित्यत्व की सिद्धि नहीं होती है। इसलिये विरुद्ध हेत्वाभास है।

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव ↓ यह पक्ष है।	सरागी है ↓ यह साध्य है	क्योंकि अनन्तानुबंधिक्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदय-जनित पाषाणरेखादि समान रागादि का अभाव है। ↓ यह हेतु है। यह हेतु सरागसाध्य के विरुद्ध वीतरागता के साथ व्याप्त है। अर्थात् इस हेतु से वीतरागता सिद्ध होती है, सरागता की सिद्धि नहीं होती है। इसलिए यह हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है।

चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव ↓ यह पक्ष है।	वीतरागी है, ↓ यह साध्य है।	क्योंकि अनन्तानुबंधिक्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदय-जनित पाषाणरेखादि समान रागादि का अभाव है। ↓ यह हेतु है। यह हेतु सम्यक् हेतु है।

पंचम गुणस्थानवर्ती जीव ↓ यह पक्ष है।	सरागी है, ↓ यह साध्य है।	क्योंकि अप्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभोदय-जनित भूमिरेखादि समान रागादि का अभाव है। ↓ यह हेतु है। यह हेतु सरागसाध्य के विरुद्ध वीतरागता के साथ व्याप्त है। अर्थात् इस हेतु से वीतरागता सिद्ध होती है, सरागता की सिद्धि नहीं होती है। इसलिए यह हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है।

पंचम गुणस्थानवर्ती जीव ↓ यह पक्ष है।	वीतरागी है, ↓ यह साध्य है।	क्योंकि अप्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभोदय-जनित भूमिरेखादि समान रागादि का अभाव है। ↓ यह हेतु है। यह हेतु सम्यक् हेतु है।

मैं ↓ यह पक्ष है।	स्वतंत्र होऊँगा; ↓ यह साध्य है	क्योंकि पत्नी या लोगों को वश करने के लिये वशीकरणमंत्र का जाप करता हूँ। ↓ यह हेतु है। यह हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है, क्योंकि दूसरों को अपने आधीन करने के लिये उनका चिंतन करना ही परतंत्रता हो गयी, इससे स्वयं स्वतंत्र नहीं होता है। क्योंकि अपना अस्तित्व दूसरों में नहीं और दूसरों का अस्तित्व अपने में नहीं और 'दूसरों में अपना अस्तित्व है (दूसरों पर अपना अधिकार है)' ऐसा चिंतन करना विरुद्ध हो गया।

मैं ↓ यह पक्ष है।	संवरपूर्वक निर्जरा करता हूँ, ↓ यह साध्य है	क्योंकि मैं अशुभोपयोग करता हूँ। ↓ यह हेतु है। यह अशुभोपयोग हेतु संवरपूर्वक निर्जरा के विरुद्ध आस्रव-बंध के साथ व्याप्त है। इसलिये विरुद्ध हेत्वाभास है।

मैं ↓ यह पक्ष है।	संवरपूर्वक निर्जरा करता हूँ, ↓ यह साध्य है	क्योंकि मैं शुभोपयोग करता हूँ। ↓ यह हेतु है। यह शुभोपयोग हेतु संवरपूर्वक निर्जरा के विरुद्ध आस्रव-बंध के साथ व्याप्त है। इसलिये विरुद्ध हेत्वाभास है।

मैं ↓ यह पक्ष है।	आस्रव-बंध करता हूँ, ↓ यह साध्य है	क्योंकि शुद्धोपयोग करता हूँ। ↓ यह हेतु है। यह शुद्धोपयोग हेतु आस्रवबंध के विरुद्ध संवर-निर्जरा के साथ व्याप्त है। इसलिये विरुद्ध हेत्वाभास है।

शंका– जयधवल-पुस्तक १, गाथा नं. ५२, पृष्ठ नं. ९६ →

" पुण्णस्सासवभूदा अणुकंपासुद्धओ य उवजोओ।
विवरीओ पावस्स हु आसवहेउं वियाणाहि॥५२॥ "

इसमें 'सुद्धओ' शब्द है, उससे 'शुद्धोपयोग से पुण्य आस्रव होता है' ऐसा कहा है और आपके कथन से विरुद्ध है। तो फिर कैसे अर्थ करना?

समाधान– आप के द्वारा उस गाथा का पदच्छेद करने में भूल हो गयी है। उस गाथा में 'अणुकंपाऽसुद्धओ' ऐसे शब्द हैं। अर्थात् अनुकंपा और अशुभ ऐसे शब्द हैं। उस गाथा का अर्थ– **(पुण्णस्स आसवभूदा अणुकंपा असुद्धओ उवजोओ)** अनुकंपारूप अशुद्ध उपयोग पुण्य के आस्रवभूत है (य) और **(विवरीओ असुद्धओ उवजोओ पावस्स हु आसवहेउं वियाणाहि)** उसके विपरीत अशुभ उपयोग पाप का आस्रवहेतु (आस्रव का कारण) है, ऐसा जानो।

इस ही अर्थ को पुष्ट करनेवाली उस के आगे की **जयधवल-पुस्तक नंबर १, गाथा नंबर ५३, पृष्ठ ९६ देखिए–**

" णवकोडिकम्मसुद्धो पच्छा य संपदियकाले।
परसुहदुःखणिमित्तं जइ बंधइ णत्थि णिव्वाणं॥५३॥ "

अर्थ– जो पुरुष कर्म की नौ कोटि अर्थात् मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदना से शुद्ध (शुद्धोपयोग) है, उसे भूत, भविष्यत और वर्तमान-काल में यदि दूसरे के सुख और दुःख के निमित्त से बंध होने लगे तो किसी को भी निर्वाण प्राप्त नहीं हो सकेगा।

और भी देखिए-जयधवल-पुस्तक नं. १, गाथा नं. ५४, पृष्ठ नं. ९६→

" तित्थयरस्स विहारो लोअसुहो णेव तत्थ पुण्णफलो।
वयणं च दाणपूजारंभयरं तं ण लेवेइ॥५४॥ "

अर्थ– तीर्थंकर का विहार लोक को सुखकारी है, लेकिन उससे तीर्थंकर को पुण्यरूप फल प्राप्त नहीं होता है और दान, पूजा आदि आरंभ के करनेवाले वचन उनको कर्मबंध से लिप्त नहीं करते हैं। अर्थात् शुद्धोपयोग से बंध नहीं होता है।

और भी देखिए-जयधवल – पुस्तक नं. १, गाथा नं. ५६, पृष्ठ नं. ९६→

" जदि सुद्धस्स वि बंधो होहिदि बाहिरयवत्थुजोएण।
णत्थि हु अहिंसओ णाम कोई वाआदिवहहेऊ॥५६॥ "

अर्थ– यदि बाह्य वस्तु के संयोग से शुद्ध को (शुद्ध उपयोगवाले को) भी कर्मों का बंध होने लगे तो कोई भी जीव अहिंसक नहीं हो सकता है, क्योंकि श्वास आदि के द्वारा सभी से वायुकायिक आदि जीवों का वध होता है।

और भी देखिए- **जयधवल – पुस्तक नंबर १, गाथा नं. ६१, पृष्ठ नं. ९८→**

" परमरहस्समिसीणं समत्तगणिपिडयझरिदसाराणं।
परिणामियं पमाणं णिच्छयमवलंबमाणाणं॥६१॥ "

अर्थ– परमरहस्य अर्थात् परमतत्त्व, निश्चयनय के विषय को अवलंबन करनेवालों तथा समस्त-गणिपिटकझरिदसारवालों के, पारिणामिकभाव को धारण करनेवालों के शुद्ध परिणाम प्रमाण है। अर्थात् शुद्धोपयोग

से बंध नहीं होता है।

और भी देखिए– **जयधवल – पुस्तक नं. १, गाथा नं. ४२, पृष्ठ नं. ९४→**

''रागादिणमणुप्पा अहिंसकत्तं त्ति देसियं समए।
तेसिं चे उप्पत्ती हिंसेत्ति जिणेहि णिद्दिट्ठा॥४२॥''

अर्थ– 'रागादिक का नहीं उत्पन्न होना (अर्थात् शुभ और अशुभ का नहीं उत्पन्न होना) ही अहिंसकता है' ऐसा जिनागम में उपदेश दिया है। 'तथा उन्हीं रागादिक (शुभ और अशुभ) की उत्पत्ति ही हिंसा है' ऐसा जिनदेवों के द्वारा निर्देश किया है।

इसलिये अशुभोपयोग हिंसा है और शुभोपयोग भी हिंसा है। लेकिन शुद्धोपयोग अहिंसा है।

शंका–श्रेणी आरूढ जीव भी आठवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग में है, उस समय में संवरपूर्वक-निर्जरा है और उसी समय में आस्रव-बंध भी होता है। तो फिर ये कैसे हैं?

समाधान–आठवें गुणस्थान में जो बुद्धिपूर्वक शुद्धोपयोग है, उस शुद्धात्मानुभव/शुद्धोपयोग से संवरपूर्वक निर्जरा ही है, उस शुद्धोपयोग से आस्रव-बंध नहीं है, लेकिन उस शुद्धोपयोग के समय में उस जीव को अबुद्धिपूर्वक अशुद्धभाव है, उससे आस्रव-बंध है।

इसलिये शुद्धात्मानुभव/शुद्धोपयोग से संवरपूर्वक-निर्जरा है, आस्रव-बंध नहीं।

संस्कृत पृष्ठ नं. १०४, संस्कृत परिच्छेद नं. ६४→

(३) अनैकांतिक हेत्वाभास– जो हेतु पक्ष, सपक्ष और विपक्ष में रहता है ऐसा वह पक्षसपक्ष-विपक्षवृत्तिवाला हेतु अनैकांतिक हेत्वाभास है। उसके दो प्रकार है- (A) निश्चितविपक्षवृत्तिक और (B) शंकितविपक्षवृत्तिक।

(A) निश्चितविपक्षवृत्तिक-अनैकांतिक हेत्वाभास→

'यह प्रदेश धूमवान है, क्योंकि वह अग्निमान है।' यहाँ 'अग्नि' यह हेतु पक्षभूत संदिग्धमान धूम वाले पुरोवर्ती (सामने के) प्रदेश में हैं उसीतरह धुआँवाले सपक्ष रसोईघर में विद्यमान है और धुआँरहितवाले विपक्षरूप निश्चित अंगार स्वरूप अग्निवाले प्रदेश में भी है; ऐसा निश्चय (निर्णय) है। इसलिये 'अग्नि' यह हेतु निश्चितविपक्षवृत्तिक-अनैकांतिक हेत्वाभास है।

(B) शंकितविपक्षवृत्तिक-अनैकांतिक हेत्वाभास → (i) 'गर्भस्थ मैत्री का पुत्र श्याम (काला) होना चाहिए, क्योंकि मैत्रीतनयत्व (मैत्री का पुत्रपना) है, जैसे मैत्री के अन्य पुत्र श्याम हैं।' यहाँ 'मैत्रीतनयत्व (मैत्री का पुत्रपना)' यह हेतु पक्षभूत गर्भस्थ मैत्री के पुत्र में विद्यमान (सद्भाव) है, सपक्ष अन्य मैत्रीपुत्रों में विद्यमान है और विपक्ष अश्याम (गोरे) पुत्र में भी रह सकता है, इस शंका का निराकरण न होने से वह (मैत्रीतनयत्व) हेतु शंकितविपक्षवृत्तिक-अनैकांतिक हेत्वाभास है।

(ii) शंकितविपक्षवृत्तिक-अनैकांतिक हेत्वाभास का दूसरा उदाहरण→ 'अर्हंत सर्वज्ञ नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे वक्ता है, जैसे रथ्यापुरुष वक्ता है।' यहाँ 'वक्तृत्व' यह हेतु पक्षरूप अर्हंत में विद्यमान है, सपक्ष रथ्यापुरुष में है और विपक्ष सर्वज्ञ में भी है, क्योंकि वक्तृत्व और ज्ञातृत्व इन दोनों का एकसाथ एक में रहने का अविरोध है। जो जिसके साथ विरोधी है वह उस पक्षवाले में नहीं रहता है; और वचन तथा ज्ञान इनका लोक में विरोध नहीं है। लेकिन ज्ञानवान के ही वचनों में सौष्ठव/सुंदरता स्पष्ट देखने में आती है। इसलिये ज्ञानोत्कर्षवान सर्वज्ञ में वचनोत्कर्ष क्यों नहीं प्राप्त होगा? अर्थात् सर्वज्ञ में वचनोत्कर्ष रहता है।

विशेषार्थ–(३) अनैकांतिक हेत्वाभास→ जो हेतु पक्ष में (जहाँ साध्य सिद्ध करना है, वह पक्ष है, उसमें) और सपक्ष (अन्वय उदाहरण) में और विपक्ष (पक्ष का जो विरोधी है, उस) में रहता है, उस हेतु को अनैकांतिक हेत्वाभास कहते हैं। उसके दो प्रकार हैं–(A) निश्चितविपक्षवृत्तिक-अनैकांतिक हेत्वाभास और (B) शंकितविपक्षवृत्तिक-अनैकांतिक हेत्वाभास।

(A) निश्चितविपक्षवृत्तिक-अनैकांतिक हेत्वाभास का उदाहरण→

'यह प्रदेश धूमवान है, क्योंकि यहाँ अग्नि है।' इस अनुमान में 'अग्नि' यह हेतु है।

जहाँ 'धुआँ है' ऐसा सिद्ध करना है, ऐसा सामने का प्रदेश यह पक्ष है। इस पक्ष में 'अग्नि' यह हेतु विद्यमान है।	जहाँ 'धुआँ है' ऐसा वादी तथा प्रतिवादी को मालूम (ज्ञात) है, ऐसा रसोईघर यह सपक्ष है। इस सपक्ष में 'अग्नि' यह हेतु विद्यमान है।	जहाँ 'धुआँ नहीं है' ऐसा वादी तथा प्रतिवादी को मालूम (ज्ञात) है, ऐसा अंगारस्वरूप अग्निवाला प्रदेश यह विपक्ष है। इस विपक्ष में भी 'अग्नि' यह हेतु विद्यमान है।

इसलिये 'अग्नि' यह हेतु निश्चितविपक्षवृत्तिक है। इसलिये 'यहाँ धूम है, क्योंकि अग्नि है' इस अनुमान में 'अग्नि' यह हेतु निश्चितविपक्षवृत्तिक-अनैकांतिक हेत्वाभास है।

'इस वृक्ष के सभी फूलों में फल होंगे ही, क्योंकि फूल है।' इस अनुमान में 'फूल' यह हेतु है। 'फल होंगे ही' यह साध्य है।

जहाँ 'फल है' ऐसा सिद्ध करना है। यह पक्ष है। इस पक्ष में 'फूल' यह हेतु है।	फलसहित पेड़ (वृक्ष) सपक्ष है। इस सपक्ष में 'फूल' यह हेतु है।	फलरहित गुलाब का वृक्ष विपक्ष है। इस विपक्ष में भी 'फूल' यह हेतु है।

इसलिये 'फूल' यह हेतु निश्चितविपक्षवृत्तिक-अनैकांतिक हेत्वाभास है।

'यह जीव निश्चयसम्यग्दर्शनवाला याने मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का प्रथमोपशमवाला है, अथवा मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का क्षयोपशमवाला है, क्योंकि प्रशमसंवेगानुकंपास्तिक्य है।' इस अनुमान में 'प्रशमसंवेगानुकंपास्तिक्य है' यह हेतु है।

जहाँ 'निश्चयसम्यग्दर्शन याने मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का प्रथमोपशम अथवा क्षयोपशम है' ऐसा सिद्ध करना है, ऐसा वह पक्ष है। इस पक्ष में 'प्रशमसंवेगानुकंपास्तिक्य' यह हेतु विद्यमान है।	जहाँ 'मिथ्यादर्शन है याने मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का उपशम नहीं अथवा क्षयोपशम नहीं अथवा क्षय नहीं' ऐसा यह विपक्ष है। इस विपक्ष में भी 'प्रशमसंवेगानुकंपास्तिक्य' यह हेतु विद्यमान है।

इसलिये 'प्रशमसंवेगानुकंपास्तिक्य' यह हेतु निश्चितविपक्षवृत्तिक-अनैकांतिक हेत्वाभास है।

'यह जीव निश्चयसम्यग्दर्शनवाला याने मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का प्रथमोपशमवाला अथवा मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का क्षयोपशमवाला है, क्योंकि व्यवहारसम्यग्दर्शन है।' इस अनुमान में 'व्यवहारसम्यग्दर्शन है' यह हेतु है।

जहाँ ' निश्चयसम्यग्दर्शन याने मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का प्रथमोपशम अथवा क्षयोपशम है ' ऐसा सिद्ध करना है, ऐसा पक्ष है। इस पक्ष में ' व्यवहारसम्यग्दर्शन ' यह हेतु विद्यमान है।	जहाँ ' मिथ्यादर्शन है याने मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का उपशम नहीं अथवा क्षयोपशम नहीं अथवा क्षय नहीं ' ऐसा यह विपक्ष है। इस विपक्ष में भी ' व्यवहारसम्यग्दर्शन ' यह हेतु विद्यमान है।

इसलिये ' व्यवहारसम्यग्दर्शन ' यह हेतु निश्चितविपक्षवृत्तिक-अनैकांतिक हेत्वाभास है।

' यह जीव आगे निश्चयसम्यग्दर्शनवाला होगा, क्योंकि अभी व्यवहारसम्यग्दर्शनवाला है। इस अनुमान में ' अभी व्यवहारसम्यग्दर्शन है ' यह हेतु है।

जहाँ ' निश्चयसम्यग्दर्शन होगा ' ऐसा सिद्ध करना है, ऐसा यह पक्ष है। इस पक्ष में ' व्यवहारसम्यग्दर्शन ' यह हेतु विद्यमान है।	जहाँ ' मिथ्यादर्शन है और आगे भी मिथ्यादर्शन ही होगा ' ऐसा अभव्य जीव विपक्ष है। इस विपक्ष में भी ' व्यवहारसम्यग्दर्शन ' यह हेतु विद्यमान है।

इसलिये ' व्यवहारसम्यग्दर्शन ' यह हेतु निश्चितविपक्षवृत्तिक-अनैकांतिक हेत्वाभास है।

' यह जीव भावलिंगी मुनि है, क्योंकि द्रव्यलिंगी है। ' इस अनुमान में ' द्रव्यलिंगी ' यह हेतु है ।

जहाँ ' भावलिंगी है ' ऐसा सिद्ध करना है, ऐसा यह पक्ष है । इस पक्ष में ' द्रव्यलिंगी ' यह हेतु विद्यमान है ।	श्री कुंदकुंदाचार्य आदि भावलिंगी मुनि थे । यह सपक्ष है । इस में ' द्रव्यलिंगी ' यह हेतु विद्यमान है ।	भावलिंगरहितवाला मुनि है । यह विपक्ष है । इस विपक्ष में भी ' द्रव्यलिंगी ' यह हेतु विद्यमान है ।

इसलिये ' द्रव्यलिंगी ' यह हेतु निश्चितविपक्षवृत्तिक-अनैकांतिक हेत्वाभास है ।

संस्कृत पृष्ठ नं. १०४-१०५, संस्कृत परिच्छेद नं. ६५ →

(4) अकिंचित्कर हेत्वाभास–अप्रयोजकवाला हेतु अकिंचित्कर है । उसके दो भेद हैं– (A) सिद्धसाधन और (B) बाधितविषय ।

(A) सिद्धसाधन–जैसे ' शब्द श्रावण (श्रोत्रेंद्रिय का विषय) होना चाहिए क्योंकि शब्दपना है।' यहाँ श्रावणत्व साध्य का शब्दनिष्ठपना से सिद्धत्व होने से ' शब्दपना ' यह हेतु अकिंचित्कर है ।

(B) बाधितविषय के अनेक प्रकार है । (i) प्रत्यक्षबाधितविषय–जैसे ' अग्नि अनुष्ण (ठंडी) है, क्योंकि यह द्रव्य है। ' यहाँ ' द्रव्यत्व ' यह हेतु है । उसके विषयपना से अभिमत अनुष्णत्व उष्णत्वग्राहक स्पार्शन प्रत्यक्ष ज्ञान से बाधित है । इसलिये ' द्रव्यत्व ' हेतु कुछ भी करने के लिये शक्य न होने से अकिंचित्कर है ।

(ii) अनुमानबाधितविषय–जैसे ' शब्द अपरिणामी है, क्योंकि कृतकत्व है। ' यहाँ शब्द परिणामी है, क्योंकि प्रमेयपना है, इस अनुमान के द्वारा साध्य का विषय बाधित हो जाता है। इसलिये यहाँ अनुमानबाधितविषयत्व है ।

(iii) आगमबाधितविषय–जैसे ' धर्म परलोक में दुःख देनेवाला है, क्योंकि यह (धर्म) पुरुष के आश्रय से होता है, जैसे अधर्म पुरुष के आश्रय से होता है । ' यहाँ ' धर्म सुख देनेवाला है ' ऐसा आगम है । उससे हेतु में बाधा आती है, इसलिए यह हेतु आगमबाधितविषयत्व है ।

(iv) स्ववचनबाधितविषय – जैसे 'मेरी माता वंध्या है, क्योंकि पुरुषसंयोग में भी अगर्भपना है,' जैसे प्रसिद्ध वंध्या है ।

इस प्रकार अन्य भी अकिंचित्कर-विशेष (भेद) स्वयं विचार करने योग्य है । इस प्रकार हेतुप्रसंग से हेत्वाभास अवभासित (निरूपित) हो गये ।

विशेषार्थ – (4) अकिंचित्कर हेत्वाभास →जो हेतु साध्य की सिद्धि करने के लिये समर्थ नहीं है, उस हेतु को **अकिंचित्कर हेत्वाभास** कहते हैं । उसके दो भेद है – (A) **सिद्धसाधन और** (B) **बाधितविषय ।**

(A) **सिद्धसाधन**→जो साध्य अथवा विषय वादी और प्रतिवादी को मान्य है (मालूम/स्वीकार है), उसको सिद्ध कर दिखाना; उसको सिद्धसाधन कहते हैं । जैसे – 'शब्द श्रोत्रेंद्रिय का विषय है, क्योंकि शब्दपना/ध्वनिपना है।' यहाँ 'श्रोत्रेंद्रिय का विषय' इस साध्य का ध्वनिनिहपना से वादी और प्रतिवादी को मान्य है । इसलिये 'शब्दपना' यह अकिंचित्कर है (याने कुछ कार्यकारी नहीं) ।

जिस प्रतिवादी (बौद्ध या पर्यायवादी अथवा व्यवहाराभासी) को 'वस्तु क्षणिक अथवा परिणमनशील है' यह ज्ञात है, उसको ऐसा अनुमान बताना कि, 'यह घट (वस्तु) परिणमनशील (उत्पादव्ययवाला) है, क्योंकि कृतक है।' तब प्रतिवादी के लिये वह अनुमान का कथन निरर्थक याने सिद्धसाधन हो जाता है ।

जिस प्रतिवादी (सांख्य या निश्चयाभासी) को 'वस्तु नित्य है' यह ज्ञात है, उसको ऐसा अनुमान बताना कि, 'यह जीव नित्य है क्योंकि अकृतक है।' तब प्रतिवादी के लिये वह अनुमान का कथन सिद्धसाधन है (कुछ कार्यकारी नहीं) ।

जिस प्रतिवादी को 'वस्तु अनेकांतात्मक है' यह ज्ञात है, उसको ऐसा अनुमान बताना कि, 'यह वस्तु अनेकांतात्मक है, क्योंकि नित्य और क्षणिक ये परस्पर विरोधी दो धर्म एक समय में इस वस्तु में है।' तब प्रतिवादी के लिये वह अनुमान का कथन सिद्धसाधन याने अकिंचित्कर है ।

'अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों के उदय में जीव सराग ही है और चतुर्थ गुणस्थान में वीतरागता नहीं और शुद्धात्मानुभव नहीं है' ऐसा जो जीव मानता है । उस प्रतिवादी को ऐसा अनुमान बताना कि,'चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव सराग है, क्योंकि अप्रत्याख्यानावरणादि कषाय है।' तब प्रतिवादी के लिये वह अनुमान का कथन सिद्धसाधन है ।

[उस प्रतिवादी को ऐसा अनुमान बताना चाहिए कि, 'मूलवस्तुस्वरूप जानकर निजध्रुवशुद्धज्ञानानंदात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से जानने से चतुर्थ गुणस्थान प्रगट होता है तब वीतराग है, क्योंकि उस अव्रती जीव को अनंतानुबंधी-क्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदयजनित पाषाणरेखादि समान रागादि का अभाव है।' तब उस प्रतिवादी का समाधान होता है।]

'मैं अल्पज्ञ हूँ, क्योंकि सर्वज्ञपर्याय प्रकट नहीं है ।' यह सिद्धसाधन है ।

(B) **बाधितविषय हेत्वाभास** →जो साध्य सिद्ध करना है, उस साध्य को विषय कहते हैं । वह साध्य ही जब बाधित है, तब उस साध्य को बाधितविषय अकिंचित्कर हेत्वाभास कहते हैं । बाधितविषय के अनेक प्रकार हैं ।

(i) **प्रत्यक्षबाधितविषय** → जैसे 'अग्नि अनुष्ण (शीत/ठण्डी) है, क्योंकि वह द्रव्य है।' यहाँ 'द्रव्य' यह हेतु है। उस द्रव्य हेतु के द्वारा अग्नि 'अनुष्ण है' यह सिद्ध करना है । इसलिये अग्नि 'अनुष्ण/शीत है' यह साध्य है । याने 'अग्नि अनुष्ण/शीत है' यह विषय है । अग्नि को स्पर्शनेंद्रिय-प्रत्यक्ष ज्ञान से जानते ही 'अग्नि उष्ण है, शीत नहीं' ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है । इसलिये 'अग्नि अनुष्ण है' यह साध्य/विषय प्रत्यक्ष ज्ञान से बाधित है । इसलिये 'द्रव्य' यह हेतु 'अग्नि अनुष्ण है' यह सिद्ध करने के लिये असमर्थ याने अकिंचित्कर है ।

'मुझ में जानने की क्रिया नहीं होती, क्योंकि द्रव्य है।' यहाँ 'जानने की क्रिया नहीं होती', यह साध्य/विषय

प्रत्यक्ष ज्ञान से बाधित है । इसलिये यहाँ बाधितविषय हेत्वाभास है ।

'इस पंचमकाल में जन्म लेनेवाले जीव को सम्यग्दर्शन पर्याय उत्पन्न होते समय ४५ मिनिट अथवा बहुत देर तक निर्विकल्प-शुद्धात्मानुभव होता है, क्योंकि जीव है।' यह प्रत्यक्षबाधितविषय हेत्वाभास है, क्योंकि इस अनुमान में '४५ मिनिट अथवा बहुत देर तक निर्विकल्प-शुद्धात्मानुभव होता है' यह साध्य/विषय प्रत्यक्ष ज्ञान से बाधित है, क्योंकि निर्विकल्प-शुद्धात्मानुभव का काल छोटा अंतर्मुहूर्त है ।

(ii) **अनुमानबाधितविषय** → जैसे 'शब्द अपरिणामी है, क्योंकि कृतकत्व है।' इस अनुमान में 'कृतकत्व' यह हेतु है । 'कृतकत्व' इस हेतु के द्वारा 'शब्द परिणामी है' ऐसी अनुमान से प्रतीति होती है । 'अपरिणामी है' इस साध्य/विषय को 'शब्द परिणामी है, क्योंकि प्रमेयपना है' इस अनुमान से बाधा आती है । इसलिये अनुमानबाधितविषय हेत्वाभास है ।

'इस पंचमकाल में जन्म लेनेवाले जीव में अभी शब्दनय से शुद्धपारिणामिकभाव नहीं है, क्योंकि द्रव्य है ।' यह अनुमानबाधितविषय हेत्वाभास है, क्योंकि इस अनुमान में 'अभी शब्दनय से शुद्धपारिणामिकभाव नहीं' यह साध्य अनुमान से बाधित है ।

(iii) **आगमबाधितविषय** → जैसे 'पुण्य परलोक में (अन्य अवस्था में) दुःख अथवा नरक देनेवाला है, क्योंकि वह पुण्य जीव के द्वारा होता है, जैसे पाप जीव के द्वारा होता है ।' यहाँ 'पुण्य के द्वारा इंद्रियजनित-सुख अथवा स्वर्ग प्राप्त होता है' ऐसा आगम का कथन है; इस आगम से साध्य को ('पुण्य से नरक प्राप्त होता है' इसको) बाधा आती है । इसलिये आगमबाधितविषय हेत्वाभास है ।

'पाप से स्वर्ग अथवा सुख प्राप्त होता है, क्योंकि पाप जीव के द्वारा होता है।' लेकिन 'पाप से नरक जाता है' ऐसा आगम का कथन है । इस आगम से साध्य ('पाप से स्वर्ग प्राप्त होता है') बाधित होता है । इसलिये आगमबाधितविषय हेत्वाभास है।

'शुद्धोपयोग से आस्रवबंध होता है, क्योंकि अल्पज्ञ/छद्मस्थ जीव है।' इस अनुमान में 'शुद्धोपयोग से आस्रवबंध होता है', यह साध्य है । यह साध्य आगम से बाधित है, क्योंकि 'शुद्धोपयोग से संवरपूर्वक-निर्जरा होती है' ऐसा आगम का कथन है । इसलिये हेतु अकिंचित्कर हेत्वाभास है, क्योंकि आगमबाधितविषय हेत्वाभास है ।

'भरत क्षेत्र में इस पंचमकाल में जन्म लेनेवाला अव्रती गृहस्थ जीव निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा नहीं जानता, क्योंकि अनंतानुबंधी-क्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदयजनित पाषाणरेखादि समान रागादि का अभाव है।' इस अनुमान में 'अव्रती गृहस्थ जीव निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा नहीं जानता' यह साध्य है । यह साध्य (विषय) आगम से बाधित है, क्योंकि **श्री कुंदकुंदाचार्यरचित मोक्षपाहुड-गाथा ७६ में लिखा है कि →**

"भरहे दुस्समकाले धम्मज्झाणं हवेइ णाणिस्स ।
तं अप्पसहावठिए ण हु मण्णइ सो दु अण्णाणी ॥७६॥"

अर्थ – भरत क्षेत्र में दुःषम नामक पंचम काल में ज्ञानी जीव को आत्मस्वभाव यानी निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा का धर्मध्यान होता है । ऐसा जो मानता नहीं वह अज्ञानी/मिथ्याज्ञानी है ।

इसलिये 'भरत क्षेत्र में इस पंचमकाल में अव्रती गृहस्थ जीव निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से नहीं जानता, क्योंकि अनंतानुबंधी-क्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदयजनित पाषाणरेखादि समान रागादि का अभाव है' इसमें आगमबाधितविषय होने से हेतु अकिंचित्कर हेत्वाभास है ।

'पंचम गुणस्थानवर्ती जीव निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से नहीं जानता, क्योंकि अप्रत्याख्यानावरण तथा अनंतानुबंधी-क्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदयजनित भूमि तथा पाषाणरेखा समान रागादि का अभाव है।' इस अनुमान का साध्य भी श्री कुंदकुंदाचार्यरचित **मोक्षपाहुड-गाथा नं. ७६** से अर्थात् आगम

से बाधित है । इसलिये आगमबाधितविषय होने से हेतु अकिंचित्कर हेत्वाभास है ।

'अव्रती गृहस्थ और देशव्रती के द्वारा पिंडस्थ ध्यान नहीं होता, क्योंकि महाव्रती नहीं है।' इस अनुमान में साध्य आगम से बाधित है । देखिए **तत्त्वसार-गाथा नं. २** की संस्कृत टीका [श्री **देवसेनाचार्यरचित तत्त्वसार** और श्री सकलकीर्तिकृत संस्कृत टीका, श्री सत्श्रुतसेवासाधना केंद्र, अहमदाबाद प्रकाशन, पृष्ठ १६]

"...**आज्ञाविचयापायविचयविपाकविचयसंस्थानविचयलक्षणधर्म्यध्यानकृताभ्यासः । एवंविध-परिणामपरिणतः अविरतसम्यग्दृष्टिगुणस्थानवर्ती भवति ।**"

अर्थ– आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय लक्षण धर्म्यध्यान का अभ्यास करता है, इस प्रकार के परिणाम से परिणत अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानवर्ती होता है ।

शंका– अन्यत्र 'मुनि को संस्थानविचय धर्म्यध्यान होता है' ऐसा लिखा है, तो फिर वह कैसे ?

समाधान– मुनि को विस्ताररूप संस्थानविचय धर्म्यध्यान होता है और अव्रती गृहस्थ को जघन्यरूप संस्थानविचय धर्म्यध्यान होता है ।

(iv) **स्ववचनबाधितविषय** → जैसे 'मैं इस ही माता से पैदा हो गया हूँ लेकिन वह मेरी माता वंध्या है, क्योंकि पुरुषसंयोग होने पर भी गर्भ (बालक) नहीं है, जैसे प्रसिद्ध वंध्या है।' इस अनुमान में वक्ता स्वयं 'इस माता का पुत्र है' ऐसा कह रहा है तब उसकी माता से वह स्वयं पैदा हो गया है । इसलिए वह माता वंध्या (पुत्ररहित) नहीं है । वह स्वयं के वचन से सिद्ध है । उससे 'मेरी माता वंध्या है' इस साध्य को बाधा आती है । इसलिये स्ववचनबाधितविषय है । इसलिये हेतु अकिंचित्कर हेत्वाभास है ।

'मैं मेरे ध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा (निजशुद्धपारिणामिकभाव/निजशुद्धस्वभाव आत्मा) को जानकर ध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष जानते समय भी मेरी समझ में नहीं आएगा, क्योंकि मैं अव्रती गृहस्थ हूँ।' इस अनुमान में जो साध्य/विषय है, वह स्ववचनबाधितविषय है । इसलिये हेतु अकिंचित्कर हेत्वाभास है ।

[उदाहरण]

संस्कृत पृष्ठ नं. १०५-१०६, संस्कृत परिच्छेद नं. ६६-६७ →

यद्यपि व्युत्पन्न (ज्ञानी) के लिये प्रतिज्ञा और हेतु ये अनुमान के दो ही अवयव पर्याप्त है तथापि बालबोधार्थ उदाहरणादिक का भी आचार्यों द्वारा स्वीकार किया गया है ।

उदाहरण →**यथार्थ दृष्टांत के कथन को उदाहरण कहते हैं ।**

शंका– दृष्टांत यानी क्या ?

समाधान– व्याप्तिसम्प्रतिपत्तिप्रदेश को दृष्टांत कहते हैं । 'अग्नि आदि साध्य रहने पर ही धूमादि साधन का सद्भाव रहना (धूम के रहने पर नियम से अग्नि का सद्भाव दिखता है)। लेकिन साध्य के अभाव में साधन का भी अभाव रहना' ऐसी साध्यसाधननियतसाहचर्य लक्षणवाली व्याप्ति होती है । इसतरह साध्य के बिना साधन का अभाव रहने से इसी व्याप्ति को अविनाभाव ऐसा कहते हैं । उसकी सम्प्रतिपत्ति होना अर्थात् उस व्याप्ति के बारे में वादी और प्रतिवादियों का बुद्धिसाम्य होना, यह सम्प्रतिपत्ति (बुद्धिसाम्य) जहाँ संभवती है, वह प्रदेश सम्प्रतिपत्तिप्रदेश है । जैसे महानस (रसोईघर) और तालाब (हृद) । क्योंकि 'वहाँ ही धूम आदि रहने पर नियम से अग्नि आदि है, अग्नि आदि के अभाव में नियम से धूमादि नहीं है' ऐसी सम्प्रतिपत्ति संभव है । वहाँ महानसादि अन्वयदृष्टांत है । यहाँ साध्य और साधन इनकी सद्भावरूप अन्वयरूप सम्प्रतिपत्ति विद्यमान है । लेकिन तालाब आदि व्यतिरेकदृष्टांत है । यहाँ साध्य और साधन इनकी अभावरूप सम्प्रतिपत्ति विद्यमान है । ये दिखनेवाले धर्म (अंश) याने दृष्टांत हैं । (१) साध्य और (२) साधन रूप ये दो धर्म (अंश) जहाँ है, वह दृष्टांत है । ऐसी भावार्थ की अनुवृत्ति है ।

उक्त लक्षण के दृष्टांत का जो सम्यक्‌वचन है, वह उदाहरण है। केवल वचन को (वचनमात्र को) दृष्टांत ऐसा नहीं कहते हैं। किन्तु दृष्टांतपना से वचन है। जैसे-जो-जो धूमवान है, वह-वह अग्निमान है, जैसे-महानस। और जहाँ अग्नि नहीं वहाँ धूम भी नहीं, जैसे तालाव। इसप्रकार के ही वचन से दृष्टांत का दृष्टांतपना से प्रतिपादन संभवता है।

विशेषार्थ–यद्यपि व्युत्पन्न/ज्ञानी को समझाते समय (१) प्रतिज्ञा और (२) हेतु ये अनुमान के दो ही अवयव पर्याप्त है तथापि अव्युत्पन्न के लिये (बालबोधार्थ) उदाहरण आदि का भी उपयोग किया जाता है।

उदाहरण–यथार्थ दृष्टांत के कथन को **उदाहरण** कहते हैं।

शंका–दृष्टांत किसे कहते है?

समाधान–व्याप्तिसम्प्रतिपत्तिप्रदेश को दृष्टांत कहते हैं। यानी जहाँ साध्य और साधन की व्याप्ति दिखाई देती है, उसको दृष्टांत कहते हैं। अग्नि साध्य के रहने पर धूम साधन/हेतु का सद्भाव/विद्यमान रहना (धूम के रहने पर नियम से अग्नि का सद्भाव दिखता है) लेकिन अग्नि साध्य के अभाव में धूम साधन का भी अभाव रहता है।

जीव साध्य के रहने पर 'मैं/अहं/स्वसंवेदन' साधन का सद्भाव रहता है। लेकिन जीव साध्य के अभाव में 'मैं/अहं/स्वसंवेदन' साधन का अभाव रहता है।

जीव साध्य के रहने पर ज्ञान साधन का सद्भाव रहता है, लेकिन जीव साध्य के अभाव में ज्ञान साधन का अभाव रहता है।

ऐसी साध्यसाधननियतसाहचर्यलक्षणवाली व्याप्ति होती है। इसतरह साध्य के बिना साधन का अभाव रहने से इसीको 'अविनाभाव' कहते हैं। उस अविनाभाव/व्याप्ति की वादी और प्रतिवादी को समान सम्प्रतिपत्ति या जानकारी होती है। अर्थात् उस व्याप्ति के बारे में वादी और प्रतिवादी का बुद्धिसाम्य होता है। वह ऐसी यह जहाँ संभवती है, वह प्रदेश सम्प्रतिपत्तिप्रदेश है। जैसे 'रसोईगृह में अग्नि है और धूम है' ऐसा वादी जानता है। और 'रसोईगृह में अग्नि है और धूम है' ऐसा प्रतिवादी भी जानता है। वह वादी और प्रतिवादी का बुद्धिसाम्य है। यह 'अग्निधूमनियतसाहचर्यलक्षणवाली व्याप्ति रसोईगृह के प्रदेश में है' यह वादी और प्रतिवादी को ज्ञात/परिचित है। यह व्याप्तिसम्प्रतिपत्तिप्रदेश है। व्याप्तिसम्प्रतिपत्तिप्रदेश को दृष्टांत कहते हैं। 'रसोईगृह में धूम रहने पर नियम से अग्नि है' ऐसी सम्प्रतिपत्ति वादी और प्रतिवादी को होती है। वहाँ रसोईगृह अन्वयदृष्टांत है। यहाँ साध्य और साधन इनके सद्भावरूप, अन्वयरूप सम्प्रतिपत्ति विद्यमान है।

जहाँ साध्यव्याप्त साधन दिखाते हैं, वह अन्वयदृष्टांत है।

जैसे–







"तालाब में अग्नि नहीं तथा धूम भी नहीं। 'अग्नि के अभाव में नियम से धूम नहीं है'।" ऐसा व्यतिरेक संबंध वादी और प्रतिवादी को ज्ञात/परिचित है। यह व्याप्तिसम्प्रतिपत्तिप्रदेश है। यहाँ व्यतिरेक व्याप्तिसम्प्रतिपत्तिप्रदेश है। इस व्यतिरेक व्याप्तिसम्प्रतिपत्तिप्रदेश को व्यतिरेकदृष्टांत कहते हैं। 'साध्य के अभाव रहने पर साधन का भी अभाव रहता है' इस को व्यतिरेक कहते हैं। यहाँ साध्य और साधन इन दोनों के अभावरूप (व्यतिरेक) सम्प्रतिपत्ति विद्यमान है। यहाँ 'तालाब' यह व्यतिरेक दृष्टांत है। यहाँ (१) साध्य का अभाव और (२) साधन का अभाव ये दो धर्म (अंश) दिखाई देते हैं, इसलिये दृष्टांत है।

जहाँ साध्य के अभाव में साधन का अभाव दिखाते हैं, वह व्यतिरेकदृष्टांत है।

कोई दृष्टांत सम्पूर्ण दृष्टांत (सर्वदेश दृष्टांत) होता है और कोई एकदेश दृष्टांत होता है।

ऊपर कहे हुए लक्षण के दृष्टांत का जो सम्यक्वचन है, वह उदाहरण है। केवल (खालिस) वचन का नाम उदाहरण नहीं है, लेकिन दृष्टांतरूप से जो वचनप्रयोग है, वह उदाहरण है। जैसे-'जो-जो धूमवान होता है वह-वह अग्निमान होता है, जैसे-रसोईगृह।'

'जहाँ अग्नि नहीं है वहाँ धूम भी नहीं है, जैसे-तालाब।'

जो कृतक है वह अनित्य है, जैसे-घट। जो कृतक है वह अनित्य है, जैसे-वस्त्र।

भो प्रभो! श्रेणिक राजा ने यशोधर मुनि को उपसर्ग करते समय मिथ्यात्वसहित क्रोधपरिणाम से सप्तम नरक की उत्कृष्ट आयु और नरकगति का बंध किया था। उसीतरह इस पंचम काल में अभी सप्तम नरक का आयुबंध नहीं होता है। अर्थात् उसप्रकार का पापबन्ध अभी नहीं होता है। उत्कृष्ट पापबंध करनेवाले अव्रती श्रेणिक

ने मूलभूत वस्तुस्वरूप को जानकर 'निजध्रुवशुद्धज्ञानानंदात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान किया' उसी समय श्रेणिक को प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन हो गया। उसीतरह अभी यहाँ अव्रती गृहस्थ ने मूलभूत वस्तुस्वरूप को जानकर निजध्रुवशुद्धज्ञानानंदात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान किया तो सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है।

जो शुद्धात्मानुभव करता है वह सम्यग्दृष्टि होता है, जैसे-श्रेणिक।

जो भावलिंगी होता है वह द्रव्यलिंगी होता है, जैसे श्री कुंदकुंदाचार्य।

[उदाहरणाभास]

संस्कृत पृष्ठ नं. १०६, संस्कृत परिच्छेद नं. ६८ →

उदाहरणाभास– जो उदाहरण के लक्षण से रहित है, लेकिन उदाहरण के समान प्रतीत होता है, उसको उदाहरणाभास कहते हैं। उदाहरणलक्षणरहितपना दो प्रकार का है। (१) दृष्टांत का असम्यक्‌वचन और (२) जो अदृष्टांत है, उसका सम्यक् वचन होना ।

(१) दृष्टांत का असम्यक्‌वचन→

जैसे-जो-जो अग्निमान होता है, वह-वह धूमवान होता है, जैसे-रसोईगृह और जहाँ-जहाँ धूम नहीं है वहाँ-वहाँ अग्नि नहीं है, जैसे-तालाब। इसतरह व्याप्य और व्यापक का विपरीत कथन करना दृष्टांत का असम्यक्‌वचन है ।

विशेषार्थ– उदाहरणाभास याने झूठे उदाहरण। जिस उदाहरण में उदाहरण का लक्षण नहीं है, वह झूठा उदाहरण अर्थात् उदाहरणाभास है। उदाहरणाभास के दो प्रकार हैं- (१) दृष्टांत का असम्यक्‌वचन (दृष्टांत का सम्यक्‌वचन न होना) और (२) जो दृष्टांत नहीं है, उसका सम्यक्‌वचन होना।

(१) दृष्टांत का असम्यक्‌वचन–

जहाँ-जहाँ अग्नि है वहाँ-वहाँ धूम है, जैसे-रसोईगृह। और जहाँ-जहाँ धूम नहीं वहाँ-वहाँ अग्नि नहीं, जैसे-तालाब। इसतरह व्याप्य और व्यापक का उल्टा (विपरीत) कथन करना दृष्टांत का सम्यक्‌वचन नहीं है।

जो-जो द्रव्यलिंगी है वह-वह भावलिंगी है, जैसे-श्री कुंदकुंदाचार्य। इसतरह व्याप्य और व्यापक का उल्टा (विपरीत) कथन करना दृष्टांत का सम्यक्‌वचन नहीं है।

जो-जो द्रव्यलिंगी है वह-वह सम्यग्दृष्टि है, जैसे-श्री कुंदकुंदाचार्य। इसतरह व्याप्य और व्यापक का विपरीत कथन करना दृष्टांत का सम्यक्‌वचन नहीं है।

जो-जो व्यवहारव्रत धारण करता है वह-वह सम्यग्दृष्टि है, जैसे-श्री भद्रबाहु। इसतरह व्याप्य और व्यापक का विपरीत कथन करना दृष्टांत का सम्यक्‌वचन नहीं है।

जो-जो देवदर्शन करता है वह-वह सम्यग्दृष्टि है, जैसे-श्री कुंदकुदाचार्य। इसतरह व्याप्य और व्यापक का विपरीत कथन करना दृष्टांत का सम्यक्‌वचन नहीं है।

जो-जो शास्त्र-स्वाध्याय करता है वह-वह सम्यग्दृष्टि है, जैसे-श्री कुंदकुंदाचार्य। इसतरह व्याप्य और व्यापक का विपरीत कथन करना दृष्टांत का असम्यक्‌वचन है।

जो-जो दान देता है वह-वह सम्यग्दृष्टि है, जैसे-रामचंद्र। इसतरह व्याप्य और व्यापक का विपरीत कथन करना दृष्टांत का सम्यक्‌वचन नहीं है।

जो-जो वैयावृत्त्य/सेवा करता है वह-वह सम्यग्दृष्टि है, जैसे-रामचंद्र। इसतरह व्याप्य और व्यापक का विपरीत कथन करना दृष्टांत का सम्यक्‌वचन नहीं है।

जो-जो उपवास करता है वह-वह सम्यग्दृष्टि है, जैसे-बाहुबली। इसतरह व्याप्य और व्यापक का विपरीत कथन करना दृष्टांत का सम्यक्‌वचन नहीं है।

जो-जो कार्योत्सर्ग करता है वह-वह शुद्धात्मानुभव करता है, जैसे-आदिनाथ। इसतरह व्याप्य और व्यापक का विपरीत कथन करना दृष्टांत का सम्यक्वचन नहीं है।

संस्कृत पृष्ठ नंबर १०६-१०७, संस्कृत परिच्छेद नं. ६९→

शंका–यह व्याप्य और व्यापक क्या है?

समाधान–साहचर्य नियमरूप व्याप्ति क्रिया का जो कर्म है, उसको व्याप्य कहते हैं। क्योंकि 'वि' पूर्वक 'आप्' धातु (क्रियापद) से 'कर्म' अर्थ में 'ण्यत्' प्रत्यय करने पर 'व्याप्य' शब्द निष्पन्न होता है और वह धूमादि व्याप्य है।

इस ही व्याप्ति क्रिया का जो कर्ता है, उसको व्यापक कहते हैं। क्योंकि 'वि' पूर्वक 'आप्' धातु (क्रियापद) से कर्ता अर्थ में 'ण्वुल्' प्रत्यय करने पर 'व्यापक' शब्द निष्पन्न होता है। ऐसा रहने पर अग्नि धूम को व्यापता है। जहाँ धूम है, वहाँ नियम से अग्नि विद्यमान रहता है। इसतरह सभी धूमवान स्थानों में नियम से अग्नि दिखाई देता है। लेकिन धूम उसीतरह अग्नि को नहीं व्यापता है; क्योंकि धूम के बिना भी अंगार अवस्था को प्राप्त अग्नि रहता है। क्योंकि 'जहाँ अग्नि है वहाँ नियम से धूम रहेगा ही' ऐसा संभव नहीं है।

विशेषार्थ–शंका–यहाँ 'व्याप्य और व्यापक का जो विपरीत कथन करना दृष्टांत का सम्यक्वचन नहीं है' ऐसा कहा है। उसमें व्याप्य और व्यापक याने क्या हैं?

समाधान–व्याप्य-साहचर्य नियमरूप व्याप्ति क्रिया का जो कर्म है, उसको व्याप्य कहते हैं। 'वि' पूर्वक 'आप्' धातु (क्रियापद) से 'कर्म' अर्थ में 'ण्यत्' प्रत्यय करने पर 'व्याप्य' शब्द निष्पन्न होता है।

उपसर्ग + धातु + कर्म अर्थ में प्रत्यय
वि + आप् + ण्यत्
∴ वि + आप् + य
∴ व्य् + आप् + य = व्याप्य

'जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि है' इस व्याप्ति अथवा अविनाभाव संबंध में धूम व्याप्य है, क्योंकि धूम अग्नि के द्वारा व्याप्त किया जाता है।

व्यापक-व्याप्ति क्रिया का जो कर्ता है, उसको व्यापक कहते हैं। 'वि' पूर्वक 'आप्' धातु (क्रियापद) से 'कर्ता' अर्थ में 'ण्वुल्' प्रत्यय करने पर 'व्यापक' शब्द निष्पन्न होता है।

उपसर्ग + धातु + कर्ता अर्थ में प्रत्यय
वि + आप् + ण्वुल् = वि + आप् + अक = व्य् + आप् + अक = व्यापक

'जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि है' इस व्याप्ति अथवा अविनाभाव संबंध में अग्नि व्यापक है, क्योंकि अग्नि धूम को व्यापती है। जहाँ धूम है वहाँ नियम से अग्नि विद्यमान रहती है। इसतरह सभी धूमवान स्थानों में नियम से अग्नि दिखाई देती है। लेकिन धूम उसीतरह अग्नि को नहीं व्यापता है, क्योंकि धूम के बिना भी अंगार अवस्था को प्राप्त अग्नि अकेली रहती है। क्योंकि जहाँ 'अग्नि विद्यमान है वहाँ नियम से धूम रहेगा अथवा नहीं रहेगा।' संदृष्टि देखिए–

यहाँ धूम है	आर्द्र ईंधनवाला अग्नि है	अग्नि का सद्भाव है।
यहाँ धूम नहीं	अंगार अवस्था में और इलेक्ट्रिक सिगड़ी और इलेक्ट्रिक प्रदीप में अग्नि है	

सभी जगह धूम नहीं है इसलिये धूम व्याप्य है।	सभी जगह अग्नि का सद्भाव है, इसलिये अग्नि व्यापक है।

'जो-जो भावलिंगी है वह-वह द्रव्यलिंगी (बाह्य नग्नादि २८ मूलगुण पालन करनेवाला) है।' यहाँ इस व्याप्ति अथवा अविनाभाव संबंध में भावलिंग व्याप्य है और द्रव्यलिंग व्यापक है, क्योंकि द्रव्यलिंग भावलिंग को व्यापता है। जहाँ भावलिंग है वहाँ नियम से द्रव्यलिंग विद्यमान रहता है। इसतरह सभी भावलिंग स्थानों में नियम से द्रव्यलिंग दिखाई देता है। लेकिन भावलिंग उसी तरह द्रव्यलिंग को व्यापता नहीं है, क्योंकि भावलिंगरहित द्रव्यलिंग अकेला रह सकता है। क्योंकि जहाँ द्रव्यलिंग विद्यमान है वहाँ भावलिंग रहेगा अथवा नहीं रहेगा। संदृष्टि देखिए-

यहाँ भावलिंग है	छठवें-सातवें आदि गुणस्थानवर्तिओं में द्रव्यलिंग है।	द्रव्यलिंग का सद्भाव है।
यहाँ भावलिंग नहीं	मिथ्यात्वगुणस्थानवर्तिओं में भी द्रव्यलिंग हैं।	
सभी जगह भावलिंग नहीं है, इसलिये भावलिंग व्याप्य है।	सभी जगह द्रव्यलिंग का सद्भाव है, इसलिए द्रव्यलिंग व्यापक हैं।	

यहाँ निजध्रुवशुद्धात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान (शुद्धात्मानुभव) है।	यहाँ अभी इस पंचमकाल में मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का उपशमवाला निश्चयसम्यग्दर्शन अथवा मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का क्षयोपशमवाला निश्चयसम्यग्दर्शनसहित व्यवहारसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रवाला है।	व्यवहारसम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्र का सद्भाव है।
यहाँ निजध्रुवात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान (शुद्धात्मानुभव) नहीं है।	यहाँ मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का उपशमादि नहीं है, याने मिथ्यात्वसहित व्यवहारसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रवाला है।	

सभी जगह 'शुद्धात्मानुभव नहीं' है इसलिये शुद्धात्मानुभव व्याप्य है।	सभी जगह 'व्यवहारसम्यगदर्शनज्ञानचारित्र' है, इसलिये व्यवहारसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र व्यापक है।

[देखिए चार्ट नंबर १, अध्यात्मन्यायदीपिका पृष्ठ नं. २९५]

यहाँ निजध्रुवशुद्धात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान (शुद्धात्मानुभव) है।	यहाँ सम्यक्त्वी में प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य है।	प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य का सद्भाव है।
यहाँ निजध्रुवशुद्धात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान (शुद्धात्मानुभव) नहीं	यहाँ मिथ्यात्वी में प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य है।	

सभी जगह 'निजध्रुवशुद्धात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान' नहीं हैं, इसलिये निजध्रुवशुद्धात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान (शुद्धात्मानुभव) व्याप्य है।	सभी जगह 'प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य' है, इसलिये प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य व्यापक है।

[देखिए अध्यात्मन्यायदीपिका-पृष्ठ नंबर २९६ से २९९ तक]

शंका – इसका जीवन में क्या उपयोग है?

समाधान – सच्चे दृष्टांत योग्य है। लेकिन झूठे दृष्टांत (दृष्टांताभास) अयोग्य है। योग्य व्यवस्था समझने से सम्यक्-आनंद प्राप्त करने के लिये सुलभता होती है।

भो प्रभो! भो आत्मन्! आप भी निजध्रुवशुद्धात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान कीजिए और सम्यक्-आनंदी जीवन जिओ। भले ही आप अभी अव्रती है तो भी सम्यक् वस्तुविज्ञान जानकर निजध्रुवशुद्ध आत्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान करने में बाधा नहीं।

शंका – मैं तो क्रोधादिकषायों से, मोह से लिप्त हूँ, मलीमस (मलिन) हूँ, मुझे इसकी प्राप्ति संभव है क्या?

समाधान – भो आत्मन्! आप स्वयं को (अपने को) अवस्था/पर्याय की दृष्टि से जानते हैं। आप के जीव द्रव्य में जैसी पर्याय मौजूद है वैसे अन्वयरूप रहनेवाले श्रद्धा, ज्ञान, दर्शन, आनंद, चारित्र, अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशवत्त्व आदि गुण भी हरसमय आप के जीवद्रव्य में विद्यमान हैं। गुणपर्यायवाला, ध्रुवपर्यायवाला द्रव्य है। अभी आप मूलभूत वस्तुस्वरूप को जानने का प्रयत्न कीजिए। (जैसे अन्य टी.व्ही. आदि जानने का यत्न करते हैं।) और अभी आप निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शन आनंदमय आत्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान करते ही सम्यक् आनंद मिलता (प्राप्त होता) है। उसी समय मिथ्यादर्शन और अनंतानुबंधी क्रोधमानमायालोभ का उदय नहीं होता।

संस्कृत पृष्ठ नंबर १०७, संस्कृत परिच्छेद नंबर ७०→

शंका – धूम आर्द्र (गीले) ईंधनवाले अग्नि को व्याप्त करता ही है?

समाधान – 'ओम्' ऐसा हम कहते हैं। 'जहाँ-जहाँ अवच्छिन्नमूल धूम है वहाँ-वहाँ अग्नि है' ऐसा है, यह जैसा है वैसे ही 'जहाँ-जहाँ आर्द्र ईंधनवाला अग्नि है वहाँ-वहाँ धूम है' ऐसा भी संभव है। लेकिन अग्निमात्र का धूमविशेष के प्रति व्यापकपना ही है, क्योंकि अनुमान को उतने मात्र (तावन्मात्र) की अपेक्षा है। इससे 'जो-जो धूमवान है वह-वह अग्निमान है, जैसे-रसोईगृह' इसप्रकार से सम्यक् दृष्टांतवचन वक्तव्य है। लेकिन इससे विपरीत वचन बोलना दृष्टांताभास ही है, ऐसा यह असम्यक्वचनरूप अन्वयदृष्टांताभास है।

लेकिन व्यतिरेकव्याप्ति में व्यापकरूप अग्नि का अभाव व्याप्य है और व्याप्यरूप धूम का अभाव व्यापक है। ऐसा रहने पर 'जहाँ-जहाँ अग्नि का अभाव है वहाँ-वहाँ धूम का अभाव है, जैसे-तालाब' ऐसा वक्तव्य करना चाहिये। लेकिन इससे विपरीत कथन असम्यक्वचनपना होने से उदाहरणाभास ही है। लेकिन-

(२) अदृष्टांतवचन – अन्वयव्याप्ति में व्यतिरेकदृष्टांतवचन बोलना और व्यतिरेक व्याप्ति में अन्वयदृष्टांतवचन बोलना, दोनों उदाहरणाभास हैं। इसका उदाहरण स्पष्ट है।

विशेषार्थ – शंका-धूम आर्द्र ईंधनवाले अग्नि को व्याप्त करता ही है। अर्थात् धूम अग्नि का व्यापक है, तो फिर आप ऐसा कैसे कहते हैं कि 'धूम अग्नि का व्यापक नहीं है?'

समाधान – 'आर्द्र ईंधनवाले अग्नि' को धूम व्यापता है, इसलिये आर्द्र ईंधनवाले अग्नि के धूम को व्यापक मानना हम को इष्ट है; क्योंकि 'जहाँ-जहाँ अवच्छिन्नमूल (सहित) धूम विद्यमान हैं वहाँ-वहाँ अग्नि विद्यमान रहता है' जैसे यह शक्य है वैसे 'जहाँ-जहाँ आर्द्र ईंधनवान अग्नि है वहाँ-वहाँ धूम है' यह भी शक्य है।

लेकिन अग्निसामान्य (आर्द्रतासहित ईंधनवाले अग्नि का अग्नित्व और आर्द्रतारहित [शुष्क] ईंधनवाले अग्नि का अग्नित्व याने अग्निसामान्य) धूम विशेष का व्यापक ही है, अग्निसामान्य धूम का व्याप्य नहीं; क्योंकि 'पर्वत अग्निमान है, क्योंकि वह धूमवान है' इस अनुमान में अग्निसामान्य की अपेक्षा है अर्थात् आर्द्रेधनवान अग्नि अथवा तृणीय या रसोईगृहीय अथवा पर्वतीय आदि विशेष अग्नि की अपेक्षा नहीं। इसलिये धूम अग्नि का व्यापक नहीं है, लेकिन अग्नि ही धूम का व्यापक है। इसलिये 'जो-जो धूमवान है वह-वह अग्निमान है, जैसे-रसोईगृह।' इसतरह दृष्टांत के सम्यक्वचन का कथन करना चाहिये। लेकिन इससे विपरीत कथन करना ही दृष्टांताभास ही है। इसतरह यह असम्यक्वचनरूप अन्वयदृष्टांताभास (अन्वय-उदाहरणाभास) है।

लेकिन व्यतिरेकव्याप्ति में तो 'व्यापक का अभाव' व्याप्य होता है और 'व्याप्य का अभाव' व्यापक होता है। अर्थात् व्यतिरेकव्याप्ति में व्यापकरूप अग्नि के अभाव को व्याप्य कहते हैं और व्याप्यरूप धूम के अभाव को व्यापक कहते हैं। संदृष्टि देखिए→

यहाँ अग्नि का अभाव है।	(a) अनग्नि पदार्थ (तालाब, पत्थरादि) है, यहाँ धूम नहीं।	(a) और (b) में धूम का अभाव है।
यहाँ अग्नि का सद्भाव है।	(b) अंगार अवस्थावाले कोयले में, इलेक्ट्रिक शिगडी और इलेक्ट्रिक प्रदीप में धूम नहीं।	

सभी जगह 'अग्नि का अभाव है' ऐसा नहीं; इसलिये 'अग्नि का अभाव' व्याप्य है।	सभी जगह 'धूम नहीं है' इसलिये 'धूम का अभाव' व्यापक है।

इसलिये 'जहाँ-जहाँ अग्नि का अभाव है, वहाँ-वहाँ धूम का अभाव है, जैसे-तालाब' इसतरह दृष्टांत के सम्यक् वचन का कथन करना चाहिये। इससे विपरीत कथन करना असम्यक्-वचनरूप व्यतिरेक उदाहरणाभास है।

शंका–सौधर्म इंद्र अव्रती सम्यग्दृष्टि है। निश्चयसम्यग्दर्शन सौधर्म इंद्र के व्यवहारसम्यग्दर्शन [द्रव्यपूजा, पंचकल्याणिक उत्सव करना] को व्यापता है। अर्थात् जो-जो प्रथम स्वर्ग का सौधर्म इंद्र होता है वह-वह निश्चयसम्यग्दर्शनवाला होता है और वह सौधर्म इंद्र पंचकल्याणिक उत्सव अर्थात् द्रव्यपूजा करनेवाला भी है। इसलिये निश्चयसम्यग्दर्शन व्यवहारसम्यग्दर्शन/द्रव्यपूजा को व्यापता है। फिर आप ऐसा कैसे कहते हैं कि निश्चयसम्यग्दर्शन व्यवहारसम्यग्दर्शन/द्रव्यपूजा का व्यापक नहीं है?

समाधान–'प्रथम स्वर्ग के सौधर्म इंद्र के द्वारा की जानेवाली द्रव्यपूजा को निश्चयसम्यग्दर्शन व्यापता है' इसलिये 'जो-जो द्रव्यपूजा करता है वह-वह निश्चयसम्यग्दर्शनवाला याने मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का उपशम या क्षयोपशम या क्षयवाला होता है' ऐसी व्याप्ति नहीं है; क्योंकि मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती जीव भी द्रव्यपूजा करता है तो भी उसके मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का उपशम-क्षयोपशम-क्षय नहीं होता है, जैसे-द्रव्यपूजा करनेवाला अभव्य जीव।

'जो-जो भावलिंगवाला/अप्रमत्तसंयत है वह-वह द्रव्यलिंगसहित होता है, जैसे श्री कुंदकुंदाचार्य।' इसप्रकार से सम्यक्दृष्टांतवचन का कथन करना चाहिये।

इससे विपरीत याने 'जो-जो द्रव्यलिंगसहित होता है वह-वह भावलिंगवाला है, जैसे श्री कुंदकुंदाचार्य' ऐसा वचन दृष्टांताभास है। ऐसा यह असम्यक्वचनरूप अन्वयदृष्टांताभास है।

लेकिन व्यतिरेकव्याप्ति में 'व्यापकरूप सम्यग्दर्शन का अभाव' व्याप्य है और 'व्याप्यरूप उपयोगरूप

शुद्धात्मानुभव का अभाव ' व्यापक है। ऐसा रहने पर ' जहाँ-जहाँ सम्यग्दर्शन का अभाव है वहाँ-वहाँ शुद्धात्मानुभव का अभाव है, जैसे–अभव्य जीव ' ऐसा कथन करना चाहिये।

वहाँ सम्यग्दर्शन का अभाव है।	(a) मिथ्यादृष्टि अभव्य और मिथ्यादृष्टि भव्य को वहाँ उपयोगरूप शुद्धात्मानुभव नहीं।	(a) और (b) इन दोनों में उपयोगरूप शुद्धात्मानुभव का अभाव है।
वहाँ सम्यग्दर्शन का सद्भाव है।	(b) वहाँ सविकल्प अवस्था में उपयोगरूप शुद्धात्मानुभव नहीं।	

सभी जगह ' सम्यग्दर्शन का अभाव है ' ऐसा नहीं, इसलिए ' सम्यग्दर्शन का अभाव ' व्याप्य है।	सभी जगह ' उपयोगरूप शुद्धात्मानुभव का अभाव है।' इसलिए ' उपयोगरूप शुद्धात्मानुभव का अभाव ' व्यापक है।

इसलिए ' जहाँ-जहाँ सम्यग्दर्शन का अभाव है वहाँ-वहाँ उपयोगरूप शुद्धात्मानुभव (निजध्रुवशुद्धात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान) का अभाव है, जैसे अभव्य जीव ' इसतरह दृष्टांत के सम्यक्वचन का कथन करना चाहिए। इससे विपरीत कथन करना असम्यक्वचनरूप व्यतिरेक उदाहरणाभास है।

(२) अदृष्टांतवचनवाला उदाहरणाभास→

(a) अन्वयव्याप्ति में व्यतिरेकदृष्टांत का कथन करने को अदृष्टांतवचनवाला उदाहरणाभास कहते हैं।

जैसे–' जहाँ-जहाँ धूम विद्यमान रहता है वहाँ-वहाँ अग्नि विद्यमान रहता है, जैसे–तालाब।' यहाँ धूम और अग्नि के अन्वयव्याप्ति का कथन किया और जहाँ अग्नि तथा धूम नहीं हैं ऐसे तालाब का उदाहरण दिया। इसलिए उदाहरणाभास है।

' जहाँ-जहाँ भावलिंग विद्यमान है वहाँ-वहाँ द्रव्यलिंग विद्यमान है, जैसे नग्नतादि २८ मूलगुणों का पालन करनेवाला अभव्य।' यहाँ अन्वयव्याप्ति का कथन किया और व्यतिरेकदृष्टांत दिया है। इसलिए अदृष्टांतवचनवाला उदाहरणाभास है।

(b) व्यतिरेकव्याप्ति में अन्वयदृष्टांत का कथन करने को अदृष्टांतवचनवाला उदाहरणाभास कहते हैं। जैसे–

' जहाँ-जहाँ अग्नि का अभाव है वहाँ-वहाँ धूम का अभाव है, जैसे रसोईगृह।' यहाँ अग्नि के अभाव का और धूम के अभाव का कथन किया है अर्थात् व्यतिरेकव्याप्ति का कथन किया है और धूम तथा अग्नि के सद्भाववाले रसोईगृह का दृष्टांत दिया याने अन्वयदृष्टांत दिया है। इसलिए अदृष्टांतवचनवाला उदाहरणाभास हैं।

' जहाँ-जहाँ सम्यग्दर्शन का अभाव है वहाँ-वहाँ शुद्धात्मानुभव का अभाव है, जैसे–सर्वार्थसिद्धि स्वर्ग के देव, सौधर्म इंद्र।' यहाँ सम्यग्दर्शन के अभाव का और उपयोगरूप शुद्धात्मानुभव के अभाव का कथन किया है अर्थात् व्यतिरेकव्याप्ति का कथन किया है और सम्यग्दर्शन तथा शुद्धात्मानुभव के सद्भाववाले सौधर्म इंद्र का दृष्टांत दिया है याने अन्वयदृष्टांत दिया है। इसलिए अदृष्टांतवचनवाला उदाहरणाभास है।

संस्कृत पृष्ठ नंबर १०७-१०८ संस्कृत परिच्छेद नंबर ७१-७२→

शंका–' गर्भस्थ मैत्रीतनय श्याम है, क्योंकि मैत्रीतनयत्व है, जैसे साम्प्रत मैत्रीतनय ' इत्यादि अनुमानप्रयोग में अन्वयदृष्टांतवाले पाँच मैत्रीतनयों में ' जहाँ-जहाँ मैत्रीतनयत्व है वहाँ-वहाँ श्यामत्व है, ऐसी अन्वयव्याप्ति है; ' और व्यतिरेक दृष्टांतवाले गोरे अमैत्रीतनयों में सर्वत्र ' जहाँ-जहाँ श्यामत्व नहीं है वहाँ-वहाँ मैत्रीतनयत्व नहीं है, ऐसी व्यतिरेकव्याप्ति है ' इससे निश्चित साधन रहने पर गर्भस्थ मैत्रीतनय पक्ष में साध्यभूत श्यामत्व के संशय का गौणपना होने से सम्यक् अनुमान का प्रसंग (दोष) आयेगा अर्थात् इन अन्वयदृष्टांत और व्यतिरेकदृष्टांतों को योग्य मानने की आपत्ति आयेगी ?

समाधान– यह ठीक नहीं है, क्योंकि इन दृष्टांतों में दूसरे विचार से बाधा आती है। उसका स्पष्टीकरण- साध्यत्व से अभिमत यह श्यामत्वरूप विद्यमान कार्य अपनी सिद्धि के लिये कारण की अपेक्षा करता है। और वह मैत्रीतनयत्व हेतु (कारण) नहीं हो सकता, क्योंकि मैत्रीतनयत्व हेतु के बिना भी अमैत्रीतनयवाले पुरुष में (जो मैत्री के पुत्र नहीं है, ऐसे पुरुष में) श्यामत्व दिखाई देता है। जिस प्रकार कुम्हारादिक के बिना भी उत्पन्न होनेवाले पट (वस्त्र) का कुम्हारादिक कारण नहीं है। इसप्रकार श्यामत्व के प्रति मैत्रीतनयत्व का अकारणत्व निश्चित करने पर जहाँ-जहाँ मैत्रीतनयत्व है वहाँ-वहाँ श्यामत्व नहीं है, लेकिन 'जहाँ-जहाँ श्यामत्व का कारण विशिष्ट नामकर्म से अनुगृहीत (सहित) शाकादि आहारपरिणाम है वहाँ-वहाँ उसका कार्य श्यामत्व है' इसलिए यह सिद्ध हुआ कि सामग्री रूप विशिष्ट नामकर्म से अनुगृहीत शाकादि आहार के परिणाम का श्यामत्व के प्रति व्याप्यत्व है। लेकिन वह विशिष्ट नामकर्म से सहित शाकाद्याहारपरिणाम पक्ष (गर्भस्थ मैत्रीतनय) में निश्चय नहीं किया जाता है। इसलिए वह सन्दिग्ध-असिद्ध है। इसलिए मैत्रीतनयत्व हेतु में अकारणपना (अहेतुपना या असाधनपना) होने से ही मैत्रीतनयत्व हेतु श्यामत्व कार्य का गमक नहीं है। (इसलिए 'शंका में' कथन किया हुआ दोष नहीं आता है।)

विशेषार्थ-शंका– 'मैत्री के गर्भ में जो पुत्र है, वह पुत्र काला (श्याम) है, क्योंकि वह मैत्री का पुत्र है, जो-जो मैत्री का पुत्र है वह-वह काला है, जैसे उसके पाँच पुत्र।' इत्यादि अनुमानप्रयोग में अन्वयदृष्टांतरूप पाँच मैत्रीपुत्रों में 'जो-जो मैत्रीपुत्र है वह-वह श्याम (काला) है' ऐसी अन्वयव्याप्ति है और व्यतिरेकदृष्टांतरूप गौर वर्णवाले अमैत्रीपुत्रों में सर्वत्र 'जहाँ-जहाँ श्यामता (कालेपना) नहीं है वहाँ-वहाँ मैत्री का पुत्रपना नहीं है' ऐसी व्यतिरेकव्याप्ति संभव है। इसलिए मैत्री के गर्भ में जो पुत्र है उस पुत्र में मैत्रीपुत्रपना यह हेतु (साधन) निश्चित है। इसलिए साध्यरूप श्यामत्व (कालेपना) में संशय नहीं अर्थात् श्यामत्व सिद्ध होता है। इससे वह सम्यगनुमान होने का दोष आयेगा। अर्थात् 'वे अन्वयदृष्टांत और व्यतिरेकदृष्टांत भी सम्यक्-दृष्टांतवचनरूप है' ऐसे मानने का दोष आयेगा, तो फिर इस का क्या स्पष्टीकरण है?

समाधान– यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उन दृष्टांतों में अन्य विचार से बाधा आती है। उसका स्पष्टीकरण- मैत्री के गर्भ में जो पुत्र है, 'वह पुत्र काला है' यह सिद्ध करने के लिये हेतु/साधन की अपेक्षा है। शंकाकार ने श्यामत्व सिद्ध करने के लिये 'मैत्री का पुत्रपना (मैत्रीतनयत्व)' यह हेतु दिया है। श्यामत्व सिद्ध करने के लिये 'मैत्रीतनयत्व' हेतु सम्यक्हेतु नहीं है, क्योंकि जो पुरुष मैत्री का पुत्र नहीं है, वह पुरुष भी श्याम (काला) है। जिसप्रकार कुम्हारादिक के बिना भी उत्पन्न होनेवाले पट/वस्त्र का कुम्हारादिक कारण नहीं है। उसप्रकार से 'मैत्री का पुत्रपना श्यामत्व का कारण नहीं है' वह निश्चित करने पर जहाँ-जहाँ मैत्री का पुत्रपना है वहाँ-वहाँ श्यामत्व नहीं है, लेकिन 'जहाँ-जहाँ श्यामत्व का कारण विशिष्ट नामकर्मसहित शाकादि आहार का परिणाम है वहाँ-वहाँ उसका कार्य श्यामत्व है।' इसलिए सामग्रीरूप विशिष्ट नामकर्मसहित शाकादि आहार के परिणाम का श्यामत्व के प्रति व्याप्यत्व है। लेकिन उस विशिष्ट नामकर्मसहित शाकादि आहार परिणाम का गर्भस्थ मैत्रीपुत्र में निश्चय नहीं किया जाता है। इसलिए 'विशिष्ट नामकर्मानुगृहीत शाकाद्याहारपरिणाम' यह हेतु संदिग्ध-असिद्ध हेतु (हेत्वाभास) है। इसलिए मैत्रीतनयत्व (मैत्रीपुत्रपना) हेतु में अकारणपना से (कारण होने की योग्यता न होने से) ही मैत्रीतनयत्व हेतु श्यामत्व कार्य का गमक नहीं है। इसलिए 'जो-जो मैत्रीतनय है वह-वह श्याम है, जैसे वर्तमान पाँच मैत्रीपुत्र और जो-जो श्याम नहीं वह-वह मैत्रीतनय नहीं, जैसे-अमैत्रीतनय' यह अन्वयदृष्टांतवचन और व्यतिरेकदृष्टांतवचन सम्यक् दृष्टांत वचनरूप नहीं हैं। तथा सम्यक् अनुमान नहीं है।

'इसतरह विशिष्ट क्रोमोसोम्स्, जीन्स लेकर टेस्टट्यूबबेबी डॉक्टर होगी। अथवा विशिष्ट क्रोमोसोम्स्, जीन्स लेकर टेस्टट्यूबबेबी इंजीनियर होगी। अथवा विशिष्ट क्रोमोसोम्स्, जीन्स लेकर टेस्टट्यूबबेबी राजपुरुष/मंत्री बनेगी।' इत्यादि कथन ठीक नहीं है, क्योंकि जन्म लेनेवाले जीव के ज्ञानावरणादि आठ कर्म, आहार, जीन्स, क्रोमोसोम्स् आदि नोकर्म, उन कर्मों का उदय, उदीरणा, संक्रमण, अपकर्षण, उत्कर्षण, क्षयोपशम, उपशम आदि उस जीव के प्रत्येक समय में होनेवाले परिणाम और उस परिणाम से होनेवाले बंध आदि परिणाम कारण हैं।

समझिए कि कोई एक बालक पैदा हो गया। कुछ काल तक वह बालक विशिष्ट पद्धति से बड़ा हो गया। आठ साल तक वह उस तरह रहा। लेकिन सात साल की उम्र (आयु) में उस जीव के द्वारा ज्ञान के क्षयोपशम के बारे में (ज्ञान का) अहंकार (मान कषाय) किया था और उसको ज्ञानावरणादि का जो बंध हो गया था, उसका ९ साल की उम्र में उदय आया और उसके ज्ञान का क्षयोपशम (उघाड) कम होने लगा। उससे उसकी होशियारी कम हो गई।

किसी को विशिष्ट कषाय हो गया। अपघात (अॅक्सीडेन्ट) हो गया। उससे वह सुंदर (रूपवान) नहीं रहा। इत्यादि नाना प्रकार हो सकते हैं। इसलिए विशिष्ट क्रोमोसोम्स्, जीन्स लेकर टेस्टट्यूबबेबी/बालक बनायेंगे तो वह डॉक्टर ही होगा, ऐसा नहीं है।

संस्कृत पृष्ठ नंबर १०८-१०९, संस्कृत परिच्छेद नंबर ७३→

शंका (नैयायिकादि)–'जो निरुपाधिक संबंध है, वह व्याप्ति है' ऐसा अभिधान करके 'साधन का अव्यापकत्व रहने पर साध्यसमव्याप्ति उपाधि है' ऐसा कहते हैं।

समाधान (जैन)–वह यह अन्योन्याश्रय है। इस उपाधि के निराकरण का विस्तार से वर्णन 'कारुण्यकलिका' नामक ग्रंथ में किया गया है। इसलिए उसके निराकरण का वर्णन यहाँ नहीं किया जाता है।

विशेषार्थ-शंका–'मैत्रीतनयत्व हेतु में अकारणत्व होने से मैत्रीतनयत्व यह हेतु श्यामत्व का गमक नहीं है' ऐसा नहीं; लेकिन व्याप्ति का अभाव है, इसलिए मैत्रीतनयत्व यह हेतु श्यामत्व का गमक नहीं है। व्याप्ति याने निरुपाधिक संबंध; और वह यहाँ नहीं है; क्योंकि शाकपाकजत्व यह उपाधि है, उस शाकपाकजत्व उपाधि के सद्भाव से मैत्रीतनयत्व हेतु में निरुपाधिकत्व नहीं है।

प्रश्न–यह प्रतिबंध (व्याप्ति) याने क्या?

उत्तर–अनौपाधिक (निरुपाधिक) संबंध याने व्याप्ति है। अनौपाधिकत्व याने स्वव्यभिचारि-व्यभिचारिसाध्यसामानाधिकरण्य अथवा स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावप्रतियोगिप्रतियोगिकात्यंताभावसमानाधि-करणसाध्यसामानाधिकरण्य इन दोनों का निरुक्ति अर्थ ऐसा है कि 'साधन-अव्यापक-अव्याप्यसाध्यसामानाधिकरण्य है।'

साधन में सोपाधि है, साध्य में निरुपाधि ही उपाधि से निश्चय है, लेकिन साध्यव्यापकत्व रहने पर साधन-अव्यापकत्व है, यह उपाधि का लक्षण है।

प्रश्न–अनौपाधिकत्व याने उपाधिविरह है, तब उपाधि ही दुष्परिकलनीय होगी?

उत्तर–यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि साध्यव्यापक रहने पर साधनाव्यापकत्व का उपाधिपना है। ऐसा कहा है- साधन में सोपाधि, साध्य में निरुपाधि उपाधि है। साध्य-व्यापकत्व रहनेपर साधन-अव्यापकत्व उपाधि है।

साध्यसमानाधिकरण-अत्यंताभाव-अप्रतियोगित्व यह साध्यव्यापकत्व है। साधनवन्निष्ठ-अत्यंताभाव-

प्रतियोगित्व यह साधन-अव्यापकत्व है। जैसे-'पर्वत धूमवान है, क्योंकि अग्निमान है' ऐसे यहाँ आर्द्र ईंधन का संयोग उपाधि है। अर्थात् 'जहाँ धूम है, वहाँ आर्द्र ईंधन-संयोग है' ऐसा साध्यव्यापकत्व है और 'जहाँ अग्नि है, वहाँ आर्द्र ईंधन-संयोग नहीं, क्योंकि तप्त (उष्ण) लोहपिण्ड में आर्द्र ईंधनसंयोग का अभाव है' ऐसा साधन-अव्यापकत्व है। इसप्रकार साध्यव्यापकत्व रहने पर साधन-अव्यापकत्व होने से आर्द्र-ईंधन-संयोग उपाधि है। अर्थात् आर्द्र ईंधन का संयोग रहना, यह उपाधि है। इस उपाधि के चार प्रकार हैं–

(१) केवलसाध्यव्यापक- जैसे आर्द्र ईंधन का संयोग रहना;
(२) पक्षधर्म अवच्छिन्न (सहित) साध्यव्यापक–जैसे 'वायु प्रत्यक्ष है, क्योंकि प्रत्यक्ष-स्पर्शाश्रयत्व है' ऐसे यहाँ बहिर्द्रव्यत्वसहित प्रत्यक्षत्वव्यापक-उद्भूतरूपवानपना है;
(३) साधन अवच्छिन्न (सहित) साध्यव्यापक-जैसे 'प्रागभाव विनाशी है, क्योंकि जन्यत्व (उत्पन्न होनेपना) है' ऐसे यहाँ जन्यत्व सहित अनित्यत्वव्यापक भावत्व है; और
(४) उदासीन धर्म अवच्छिन्न (सहित) साध्यव्यापक–जैसे 'प्रागभाव विनाशी है, क्योंकि प्रमेयपना है' ऐसे यहाँ जन्यत्व सहित अनित्यत्व-व्यापकरूप भावत्व है।

ऐसा कथन होने से प्रकृत 'मैत्रीतनयत्व' हेतु में शाकपाकजत्व (अथवा विशिष्ट नामकर्मसहित शाकपाकादि आहारजन्यत्व) की उपाधि है। उससे 'मैत्रीतनयत्व' हेतु में निरुपाधि नहीं है। निरुपाधि न होनेसे व्याप्ति नहीं हैं। इसलिए मैत्रीतनयत्व इस हेतु से श्यामत्व की सिद्धि नहीं होती है।

अर्थात् 'जो उपाधिरहित संबंध है वह व्याप्ति है' और 'जो साधन का अव्यापक है तथा साध्य का व्यापक है, वह उपाधि है।' शाकपाकजादि अथवा विशिष्ट नामकर्मसहित–शाकाद्याहारपरिणाम मैत्रीतनयत्व हेतु का अव्यापक है तथा श्यामत्व साध्य का व्यापक है वह शाकपाकजादि अथवा विशिष्ट नामकर्मादि यह उपाधि है।

शंका–उपाधिरहित न होने से व्याप्ति नहीं है। व्याप्ति न होने से 'मैत्रीतनयत्व' यह हेतु श्यामत्व साध्य का गमक नहीं है।

समाधान (जैन)–यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि उसमें अन्योन्याश्रय दोष आता है। क्योंकि उपाधि का लक्षण व्याप्तिघटित है और व्याप्ति का लक्षण उपाधिघटित है। याने जब व्याप्ति की सिद्धि होगी तब उपाधि की सिद्धि होगी और जब उपाधि की सिद्धि होगी तब व्याप्ति की सिद्धि होगी।

और आप (शंकाकार) ने ऐसा कहा है कि 'निरुपाधिक संबंध भी नहीं है, क्योंकि उपाधि ही दुर्वचनीय है।' यदि उपाधि कथन करने योग्य है, ऐसा माना जाय तो भी समझना कठिन है और यदि उपाधि समझ में आयेगी ऐसा माना जाय तो भी अन्योन्याश्रय दोष आता ही है; क्योंकि साध्यव्यापकत्व रहने पर साधन के अव्यापकपना से व्याप्तिग्रहाधीनग्रहपना है। इस उपाधि के निराकरण का विस्तार रूप वर्णन 'कारुण्यकलिका' नामक ग्रंथ में है। वहाँ से देखिये। यहाँ उसका संक्षेप में वर्णन किया गया है।

[उपनय, निगमन और उनके आभास]

संस्कृत पृष्ठ नंबर १०९, संस्कृत परिच्छेद नंबर ७४→

उपनय–साधनवानपना से पक्ष के दृष्टांत के साम्यकथन को उपनय कहते हैं। जैसे–रसोईगृह जैसा धूमवान है वैसा यह पर्वत धूमवान है।

निगमन–साधनानुवादपुरस्सर साध्यनियमवचन को निगमन कहते हैं। जैसे-धूमवान होने से यह पर्वत

अग्निमान् ही है।

उपनयाभास–उपनय का कथन करने के समय निगमन का कथन करना उपनयाभास है।

निगमनाभास–निगमन का कथन करने के समय उपनय का कथन करना निगमनाभास है।

अनुमान प्रमाण का कथन समाप्त हो गया।

विशेषार्थ - उपनय–'दृष्टांत में जैसा साधन है वैसा पक्ष में भी साधन है' इसतरह दृष्टांत और पक्ष की साधन के बारे में समानता दिखाने को उपनय कहते हैं। जैसे–रसोईगृह में जैसा धूम है वैसा पर्वत पर भी धूम है।

जिसतरह अव्रती सम्यक्त्वी श्रेणिक शुद्धात्मानुभववाला है, वैसे ही यह मैं अव्रती होने पर भी शुद्धात्मानुभववाला हूँ।

जिसतरह श्री कुंदकुंदाचार्य शुद्धात्मानुभववाले थे वैसे ही मैं भी शुद्धात्मानुभववाला हूँ।

निगमन–'फिर से साधन के वचन का प्रथम कथन करके पश्चात् साध्य के निश्चय के वचन का कथन करना' इसको निगमन कहते हैं। जैसे–धूमवान होने से यह पर्वत अग्निमान है। अर्थात् धूम होने से इस पर्वत पर अग्नि है।

शुद्धात्मानुभववाला होने से मैं अव्रती सम्यक्त्वी हूँ।

शुद्धात्मानुभववाला होने से मैं मोक्षमार्गस्थ ही हूँ।

[परोक्षज्ञानरूप आगम प्रमाण का कथन]

संस्कृत पृष्ठ नंबर १०९-११०, संस्कृत परिच्छेद नंबर ७५ →

अब आगम का लक्षण कहते हैं–

आगम–आप्तवाक्यनिबंधनवाले अर्थज्ञान को आगम कहते हैं। यहाँ 'आगम' यह लक्ष्य है; और 'आप्तवाक्यनिबंधनवाला अर्थज्ञान' यह लक्षण है।

शंका–'अर्थज्ञान को आगम कहते हैं' ऐसी व्याख्या करने पर क्या बाधा आयेगी?

समाधान–'अर्थज्ञान को आगम कहते हैं' ऐसी व्याख्या करने पर प्रत्यक्ष ज्ञानादि में अतिव्याप्ति होती है, इसलिए 'वाक्यनिबंधन' ऐसा कहा गया है।

शंका–'वाक्यनिबंधनवाले अर्थज्ञान को आगम कहते हैं' ऐसी व्याख्या करने पर क्या बाधा आयेगी?

समाधान–'वाक्यनिबंधनवाले अर्थज्ञान को आगम कहते हैं' ऐसी व्याख्या करने पर भी यादृच्छिकसंवादिस्वरूप अथवा विप्रलंभवाक्यजन्यरूप अथवा सुप्तोन्मत्तादिवाक्यजन्यरूप नदीतीरफलसंसर्गादि ज्ञानों में अतिव्याप्ति होती है, इसलिए वह अतिव्याप्ति दोष दूर करने के लिये 'आप्त' यह विशेषण दिया है।

शंका–'आप्तवाक्यनिबंधनवाले ज्ञान को आगम ऐसा कहते हैं' ऐसी व्याख्या करने पर क्या बाधा आती है?

समाधान–'आप्तवाक्यनिबंधनवाले ज्ञान को आगम कहते हैं' ऐसी व्याख्या करने पर भी आप्तवाक्यकर्मक श्रावणप्रत्यक्षज्ञान में अतिव्याप्ति होती है, अतः 'अर्थ' ऐसा विशेषण दिया है। यहाँ 'अर्थ' पद तात्पर्य में रूढ है अथवा भावार्थ/प्रयोजन में रूढ है। क्योंकि 'अर्थ ही' याने 'वचन में तात्पर्य ही भरा हुआ है' ऐसा अभियुक्त वचन है। इसलिए 'आप्तवाक्यनिबंधनवाला अर्थज्ञान'

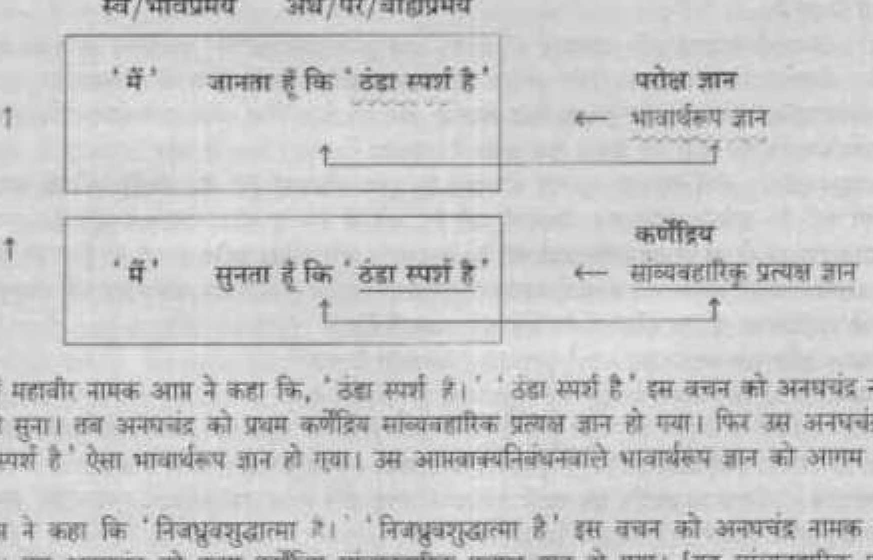
यह आगम का लक्षण निर्दोष ही है। जैसे- 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' अर्थात् 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों का मिलकर एक मोक्षमार्ग है' इत्यादि वाक्यार्थज्ञान आगम है। सम्यग्दर्शनादि संपूर्ण कर्मक्षयरूप मोक्ष का एक ही मार्ग याने उपाय है, लेकिन अनेक मार्ग नहीं हैं। इसलिए भिन्नलक्षणवाले दर्शनादि तीनों का एकसाथ मिलकर (समुदित) ही एक मोक्षमार्ग है। लेकिन ''अकेला सम्यग्दर्शन अथवा अकेला सम्यग्ज्ञान अथवा अकेला सम्यक्चारित्र अथवा सम्यग्दर्शनज्ञान अथवा सम्यग्दर्शनचारित्र अथवा सम्यग्ज्ञानचारित्र ऐसे मोक्षमार्ग नहीं हैं।'' ऐसा अर्थ 'मार्गः' इस एकवचन के प्रयोग के तात्पर्य से सिद्ध होता है। यह ही वाक्यार्थ है। इस ही अर्थ में प्रमाण से संशयादि की निवृत्तिरूप प्रमिति होती है, यह सिद्ध होता है।

विशेषार्थ– परोक्ष ज्ञान के जितने भेद हैं, उनमें 'आगमप्रमाण' नाम का एक भेद है। उस 'आगमज्ञानपर्याय' के बारे में वर्णन करते हैं।

आगम– आप्तवाक्यनिबंधनवाले अर्थज्ञान [भावार्थरूप ज्ञान] को आगम कहते हैं।

आप्त द्वारा कहे हुए वचन को सुनकर जो भावार्थरूप ज्ञान हो गया, उस ज्ञानपर्याय को आगम कहते हैं।

आप्त द्वारा कहा हुआ वचन सुना, फिर उसका प्रत्यभिज्ञान से भावार्थरूप ज्ञान हो गया, उस भावार्थरूप ज्ञान को आगम कहते हैं। संदृष्टि देखिए–



यहाँ महावीर नामक आप्त ने कहा कि, 'ठंडा स्पर्श है।' 'ठंडा स्पर्श है' इस वचन को अनघचंद्र नामक श्रोता ने सुना। तब अनघचंद्र को प्रथम कर्णेंद्रिय सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ज्ञान हो गया। फिर उस अनघचंद्र को 'ठंडा स्पर्श है' ऐसा भावार्थरूप ज्ञान हो गया। उस आप्तवाक्यनिबंधनवाले भावार्थरूप ज्ञान को आगम कहते हैं।

आप्त ने कहा कि 'निजध्रुवशुद्धात्मा है।' 'निजध्रुवशुद्धात्मा है' इस वचन को अनघचंद्र नामक श्रोता ने सुना। तब अनघचंद्र को प्रथम कर्णेंद्रिय सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ज्ञान हो गया। [यह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ज्ञान (आ १) प्रमाण याने सकलादेशी ज्ञान है, वह (आ ५) प्रमाण याने शुद्धात्मानुभव नहीं है।] फिर उस अनघचंद्र को 'निजध्रुवशुद्धात्मा है' ऐसा भावार्थरूप ज्ञान हो गया। उस आप्तवाक्यनिबंधनवाले भावार्थरूप ज्ञान को आगम कहते हैं, शुद्धात्मानुभव (शुद्ध ध्यान) नहीं कहते। उस आप्तवाक्यनिबंधनवाले भावार्थरूप ज्ञान को (आगमज्ञान को) परोक्ष ज्ञान कहते हैं।

शंका– 'आगम' की व्याख्या करते समय 'आप्तवाक्यनिबंधनवाले' यह न कहकर केवल 'अर्थज्ञान को आगम कहते हैं' ऐसी व्याख्या करने पर क्या बाधा आती है?

समाधान– 'अर्थज्ञान को आगम कहते हैं' ऐसी व्याख्या करनेपर प्रत्यक्षज्ञानादि में भी वह व्याख्या/लक्षण

जाने से अतिव्याप्ति नाम का दोष आता है। अर्थात् सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष, स्मरणज्ञान, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगम, नयज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान पर्यायों में 'अर्थज्ञान' है; इसलिए अतिव्याप्ति नाम का दोष आता है। इसलिए इस दोष का निराकरण करने के लिये 'वाक्यनिबंधन' यह विशेषण/शब्द दिया है।

शंका–'आगम' की व्याख्या करते समय 'आप्त' यह विशेषण न देकर केवल 'वाक्यनिबंधनवाले अर्थज्ञान को आगम कहते हैं' ऐसी व्याख्या करने पर क्या बाधा आती है?

समाधान–'वाक्यनिबंधनवाले अर्थज्ञान को आगम कहते हैं' ऐसी व्याख्या करने पर भी स्वेच्छापूर्वक भ्रमजनक वचनद्वारा अथवा निद्रायुक्त जीव के वचन द्वारा अथवा उन्मत्त अथवा अज्ञानी अथवा मिथ्याज्ञानी जीव के द्वारा होनेवाले 'नदी के किनारे फल हैं' इत्यादि ज्ञानों में भी वह लक्षण जाता है; इसलिए अतिव्याप्ति नाम का दोष आता है। इस दोष का निराकरण करने के लिये 'आप्त' यह विशेषण दिया है।

शंका–'आगम' की व्याख्या करते समय 'अर्थ' यह विशेषण छोड़कर केवल 'आप्तवाक्यनिबंधनवाले ज्ञान को आगम कहते हैं' ऐसी व्याख्या करने पर क्या बाधा आती है?

समाधान–'आप्तवाक्यनिबंधनवाले ज्ञान को आगम कहते हैं' ऐसी व्याख्या करने पर भी 'आप्तवाक्य' सुनकर जो कर्णेंद्रिय सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उसमें भी वह लक्षण जाता है; इसलिए अतिव्याप्ति नाम का दोष आता है। इस दोष का निराकरण करने के लिये 'अर्थ' यह विशेषण दिया है। अर्थ याने भावार्थ/तात्पर्य/प्रयोजन है इसलिए 'आप्तवाक्यनिबंधनवाले अर्थ (भावार्थ) ज्ञान को आगम कहते हैं' यह व्याख्या निर्दोष है।

जैसे 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।' इसमें 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि' इस शब्द का वचन बहुवचन है और 'मोक्षमार्गः' इस शब्द का वचन एकवचन है। इसका अर्थ/भावार्थ यह है कि 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र' इन तीनों का लक्षण भिन्न-भिन्न है और ऐसे भिन्न-भिन्न लक्षणवाले सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों का उत्पाद एक समय में एकसाथ (युगपत्) होता है और 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र' तीनों मिलकर एक ही मोक्षमार्ग है; नाना मोक्षमार्ग नहीं है। अर्थात् अकेला सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग नहीं है। अकेला सम्यग्ज्ञान मोक्षमार्ग नहीं है। अकेला सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग नहीं है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान इन दो का मिलकर मोक्षमार्ग नहीं है। सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र इन दो का मिलकर मोक्षमार्ग नहीं है। सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन दो का मिलकर मोक्षमार्ग नहीं है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों का मिलकर ही एक मोक्षमार्ग है। ऐसा यह वाक्यार्थ है।

शंका–अविरतसम्यग्दर्शन इस चतुर्थ गुणस्थान में मोक्षमार्ग है क्या?

समाधान–अविरत सम्यग्दर्शन इस चतुर्थ गुणस्थान में मोक्षमार्ग है।

शंका–अविरत सम्यग्दर्शन इस चतुर्थ गुणस्थान में मोक्षमार्ग है तो फिर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनों भी अविरत सम्यग्दर्शन इस चतुर्थ गुणस्थान में एकसाथ (युगपत्) एक समय में हैं क्या?

समाधान–अविरत सम्यग्दर्शन यह चतुर्थ गुणस्थान उत्पन्न होते समय एक समय में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र एकसाथ (युगपत्) उत्पन्न होते हैं।

शंका–अविरत सम्यग्दर्शन नामक चतुर्थ गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय होने से अव्रती सम्यग्दृष्टि को व्रत नहीं है, तो फिर अविरत सम्यग्दर्शन नामक चतुर्थ गुणस्थान में सम्यक्चारित्र कैसे माना जाय?

समाधान–कृपया देखिए- **श्री विद्यानंदी आचार्य विरचित श्लोकवार्तिक [गांधी नाथारंगजी- जैन ग्रंथमाला द्वारा सन् १९१८ में प्रकाशित पृष्ठ ७३] अध्याय नंबर १, सूत्र नंबर १, श्लोक नंबर १०५ की वृत्ति-**

''न हि चारित्रमोहोदयमात्रात् भवत् चारित्रं दर्शनचारित्रमोहोदयजनितात् अचारित्रात् अभिन्नं एव इति

साधयितुं शक्यं, सर्वत्र कारणभेदस्य फलाभेदकत्वप्रसक्तेः।''

अर्थ–'अविरत सम्यग्दर्शन नामक चतुर्थ गुणस्थान में दर्शनमोहनीय से रहित केवल चारित्रमोहनीय मात्र (अप्रत्याख्यानादि चारित्रमोह) के उदय से होनेवाला जो चारित्र है, वह प्रथम गुणस्थान (मिथ्यात्व गुणस्थान) में दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय के उदय से होनेवाले मिथ्याचारित्र से अभिन्न ही है' ऐसा सिद्ध करना शक्य नहीं है। शक्य न हो तो भी मान लिया तो सर्वत्र कारणभेद होने पर भी कार्यफल में अभेद मानने का दोष आयेगा।

इससे सुस्पष्ट है कि 'अव्रती सम्यग्दृष्टि को कुछ भी व्रत नहीं है, तो भी सम्यक्चारित्र है।' अर्थात् अव्रती सम्यग्दृष्टि में 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र' ये तीनों हैं, मोक्षमार्ग है।

अविरत सम्यग्दर्शन इस चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हैं और अनंतानुबंधि-क्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदयजनित पाषाणरेखादि समान रागादि का अभाव हैं इसलिए वीतराग होने से सम्यक्चारित्र है। इसलिए अविरत सम्यग्दर्शन इस चतुर्थ गुणस्थान में व्रत न होते हुए भी सम्यक्चारित्र है; और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान हैं। इसलिए अव्रती सम्यग्दृष्टि के पास सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनों मिलकर एक ही मोक्षमार्ग है।

श्री समंतभद्राचार्यरचित रत्नकरंड श्रावकाचार–सम्यग्दर्शन नामक पहले अध्याय में श्लोक नं. ३३–

''गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥३३॥''

अर्थ–निजध्रुवशुद्धात्मा में निर्मोहत्वगुण है, इसलिए निजध्रुवशुद्धात्मा निर्मोहवाला है। 'निजध्रुवशुद्धनिर्मोहात्मा' को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से जाननेवाला गृहस्थ अव्रती जीव दर्शनमोहरहित है और मोक्षमार्गस्थ (अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र युक्त मोक्षमार्गस्थ) है, लेकिन 'निजध्रुवशुद्धनिर्मोहात्मा' को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से न जाननेवाला मुनि दर्शनमोहसहित है, इसलिए वह व्रतधारी मुनि मोक्षमार्गस्थ नहीं है। इसलिए शुद्धात्मानुभूतिवाला अव्रती गृहस्थ शुद्धात्मानुभूतिरहित महाव्रती मुनि से श्रेष्ठ है।

और भी देखिए **धवल-पुस्तक नंबर १, सूत्र नंबर १२ और उसकी टीका- पृष्ठ नंबर १७२-**

''असंजदसम्माइट्ठी ॥१२॥''

समीची दृष्टिः श्रद्धा यस्यासौ सम्यग्दृष्टिः, असंयतश्चासौ सम्यग्दृष्टिश्च असंयतसम्यग्दृष्टिः। सो वि सम्माइट्ठी तिविहो-खइयसम्माइट्ठी वेदयसम्माइट्ठी उवसमसम्माइट्ठी चेदि। दंसण-चरण-गुण-घाइ-चत्तारि-अणंताणुबंधि-पयडीओ, मिच्छत्त-सम्मत्त-सम्मामिच्छत्तमिदि तिण्णि दंसणमोह-पयडीओ च एदासिं सत्तण्हं णिरवसेस-क्खएण खइयसम्माइट्ठी उच्चइ। एदासिं सत्तण्हं पयडीणमुवसमेण उवसमसम्माइट्ठी होइ। सम्मत्त-सण्णिद-दंसणमोहणीय-भेय-कम्मस्स उदएण वेदय-सम्माइट्ठी णाम।

अर्थ–सामान्य से असंयत सम्यग्दृष्टि जीव है।

जिसकी दृष्टि अर्थात् श्रद्धा समीचीन होती है उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं, और संयमरहित सम्यग्दृष्टि को असंयत सम्यग्दृष्टि कहते हैं। वे सम्यग्दृष्टि जीव तीन प्रकारके हैं, क्षायिक सम्यग्दृष्टि, वेदक सम्यग्दृष्टि और औपशमिक सम्यग्दृष्टि। सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र गुण का घात करनेवाली चार अनंतानुबंधी प्रकृतियाँ और मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व तथा सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व ये तीन दर्शनमोहनीय की प्रकृतियाँ, इसप्रकार इन सात प्रकृतियों के सर्वथा विनाश से जीव क्षायिक सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। तथा इन्हीं सात प्रकृतियों के उपशम से जीव उपशम सम्यग्दृष्टि होता है। तथा जिसकी सम्यक्त्व संज्ञा है ऐसी दर्शनमोहनीय कर्म की भेदरूप प्रकृति के उदय से यह जीव वेदक सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

इसलिए अविरत सम्यग्दर्शन नामक चतुर्थ गुणस्थान में अनंतानुबंधिक्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदयजनित पाषाणरेखा समान रागादि का अभाव होने से चतुर्थ गुणस्थानवर्ती वीतरागी है/सम्यक्चारित्र है।

शंका–सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्र) नामक तीसरे गुणस्थान में सम्यक्प्रकृति, मिथ्यात्व और

अनंतानुबंधिक्रोधमानमायालोभ नहीं है, तो फिर सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती वीतरागी है, ऐसा मानने में क्या दोष आवेगा ?

समाधान – अनादि मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व नामक प्रथम गुणस्थान से सीधा सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्र) गुणस्थान में नहीं जाता। अनादि मिथ्यादृष्टि अव्रती जीव जिस समय 'निजध्रुवशुद्धात्मा' को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से जानता है, उसी समय मिथ्यात्व गुणस्थान का व्यय और अविरत सम्यग्दर्शन गुणस्थान का उत्पाद होता है, फिर सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय होता है तो सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान में जाता है। फिर कोई मिथ्यात्व गुणस्थान में जाता है अथवा अविरत सम्यग्दर्शन गुणस्थान में जाता है, क्योंकि सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्र) गुणस्थान का काल अंतर्मुहूर्त ही है। इसकी संदृष्टि देखिए–[नीचे से ऊपर देखना चाहिये क्योंकि पर्यायें ऊर्ध्वप्रचय होती है।]

↑ ☐ अविरत क्षयोपशम सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान है।

↑ ☐ सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्र) गुणस्थान है।

↑ ☐ अविरत प्रथमोपशम सम्यग्दर्शनवाला चतुर्थ गुणस्थान है।

↑ ☐ अनादि मिथ्यात्वी अव्रती-मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी आदि २६ मोहनीय प्रकृतिवाला है। प्रथम गुणस्थान है।

↑ ☐ अविरत क्षयोपशम सम्यग्दर्शनवाला चतुर्थ गुणस्थान है।

↑ ☐ सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्र) गुणस्थान याने तीसरा गुणस्थान है।

↑ ☐ अविरत प्रथमोपशम सम्यग्दर्शनवाला चतुर्थ गुणस्थान है ।

↑ ☐ सादि मिथ्यात्व प्रथम गुणस्थान है। मिथ्यात्व, अनंतानुबंधी आदि २६ मोहनीय की प्रकृतियाँ हैं।

↑ ०

↑ ०

↑ ०

↑ ☐ सादि मिथ्यात्व प्रथम गुणस्थान है। मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति, अनंतानुबंधी आदि २८ मोहनीय की प्रकृतियाँ हैं।

↑ ☐ सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्र) गुणस्थान याने तीसरा गुणस्थान है।

↑ ☐ सादि मिथ्यात्व प्रथम गुणस्थान है। मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति, अनंतानुबंधी आदि २८ मोहनीय प्रकृतियाँ है।

↑ ☐ सम्यग्मिथ्यात्व (मिश्र) गुणस्थान याने तीसरा गुणस्थान है।

↑ ☐ अविरत प्रथमोपशम सम्यग्दर्शनवाला चतुर्थ गुणस्थान है।

↑ ☐ अनादि मिथ्यात्व प्रथम गुणस्थान है। मिथ्यात्व १, अनंतानुबंधी ४, अप्रत्याख्यानावरण ४, प्रत्याख्यानावरण ४, संज्वलन ४, नोकषाय ९, ऐसी २६ मोहनीय प्रकृतियाँ हैं ।

इसलिये सम्यगमिथ्यात्व (मिश्र) गुणस्थान में 'सम्यगमिथ्यात्व' प्रकृति का उदय है अर्थात् श्रद्धागुण की पर्याय अशुद्ध है। इसलिये बहिरात्मा है। इसलिये वह मोक्षमार्गस्थ नहीं है। इसलिये मिश्र गुणस्थानवर्ती वीतरागी नहीं है।

शंका – यदि सम्यगमिथ्यात्व/तीसरे गुणस्थान में मोक्षमार्ग/वीतरागता नहीं है तो फिर **प्रवचनसार** में '**एवं पणमिय सिद्धे**' इत्यादि की श्री **जयसेनाचार्यरचित तात्पर्यवृत्ति** में '**सासादनादिक्षीणकषायान्ता: एकदेशजिना: उच्यन्ते**' अर्थात् सासादन गुणस्थान से क्षीणकषाय गुणस्थान तक को एकदेश जिन कहते हैं। याने सासादन नामक दूसरे गुणस्थान को और सम्यगमिथ्यात्व नामक तीसरे गुणस्थान को एकदेश जिन क्यों कहा गया है?

समाधान – पृष्ठ नंबर ४२५ पर संदृष्टि दिखाई है कि 'अनादि मिथ्यात्वी अव्रती सीधा सम्यगमिथ्यात्व गुणस्थान में नहीं जाता लेकिन अव्रती सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से (नीचे गिरते समय) सम्यगमिथ्यात्व (मिश्र) गुणस्थान याने तीसरे गुणस्थान में जाता है। अर्थात् सम्यगमिथ्यात्व गुणस्थान में आ जाने के पूर्व में अव्रती सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में था।' इसलिये दृष्टमार्ग/मोक्षमार्गस्थ था, उसका उपचार करके सम्यगमिथ्यात्व याने तीसरे गुणस्थानवर्ती को एकदेश जिन कहा गया है।

अब सासादन नामक दूसरे गुणस्थान को भी उपचार से एकदेश जिन कहा गया है, क्योंकि अविरत प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन/चतुर्थ गुणस्थान से सासादन गुणस्थान में आता है। अर्थात् अनादि मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्व नामक प्रथम गुणस्थान से सीधा सासादन नामक दूसरे गुणस्थान में नहीं जाता। अनादि मिथ्यादृष्टि अव्रती जीव जिस समय 'निजध्रुवशुद्धात्मा' को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से जानता है, उसी समय मिथ्यात्व गुणस्थान का व्यय होता है और अविरत प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन-चतुर्थ गुणस्थान का उत्पाद होता है, फिर अनंतानुबंधी कषाय का उदय होता है, तो सासादन गुणस्थान में जाता है। फिर नियम से मिथ्यात्व गुणस्थान में जाता है। क्योंकि सासादन गुणस्थान का काल एक समय से लेकर छह आवली तक ही है। इसकी संदृष्टि देखिए-

[नीचे से ऊपर देखना चाहिये क्योंकि पर्यायें ऊर्ध्वप्रचय होती हैं।]

↑ ☐ सादि मिथ्यात्व है। प्रथम गुणस्थान-मिथ्यात्व गुणस्थान है।

↑ ☐ सासादन (दूसरा) गुणस्थान है। मिथ्यात्व, सम्यगमिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृतियों का उदय नहीं है। अनंतानुबंधी कषाय का उदय है।

↑ ☐ अविरत प्रथमोपशम सम्यग्दर्शनवाला चतुर्थ गुणस्थान है।

↑ ☐ अनादि मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व नामक प्रथम गुणस्थान है।

गुणस्थानों की कुछ संदृष्टियाँ–

↑ अविरत क्षयोपशम सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान है।

↑ सादि मिथ्यात्व प्रथम गुणस्थान है।

↑ अविरत क्षयोपशम सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान है।

↑ अविरत प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान है।

↑ अनादि मिथ्यात्व प्रथम गुणस्थान है ।

↑ अविरत क्षायिक सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान है।

↑ अविरत क्षयोपशम सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान है।

↑ अविरत प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान है।

↑ अनादि मिथ्यात्व प्रथम गुणस्थान है।

↑ अविरत क्षायिक सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान है।

↑ अविरत क्षयोपशम सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान है।

↑ सादि मिथ्यात्व प्रथम गुणस्थान है।

↑ अविरत प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान है।

↑ अनादि मिथ्यात्व प्रथम गुणस्थान है।

↑ सादि मिथ्यात्व प्रथम गुणस्थान है।

↑ प्रथमोपशम सम्यग्दृष्टि संयतासंयत पंचम गुणस्थान है।

↑ अनादि मिथ्यात्व है और ५ अणुव्रतों का पालन करता है। प्रथम गुणस्थान है।

↑ अनादि मिथ्यात्व है और अव्रती है। प्रथम गुणस्थान है।

↑ ☐ क्षयोपशम सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान है।

↑ ☐ क्षयोपशम सम्यग्दर्शन संयतासंयत पंचम गुणस्थान है।

↑ ☐ प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन संयतासंयत गुणस्थान है।

↑ ☐ अनादि मिथ्यात्व है और ५ अणुव्रतों का पालन करता है। प्रथम गुणस्थान है।

↑ ☐ अनादि मिथ्यात्व है, अव्रती है, प्रथम गुणस्थान है।

↑ ☐ क्षायिक सम्यग्दर्शन संयतासंयत पंचम गुणस्थान है।

↑ ☐ क्षयोपशम सम्यग्दर्शन संयतासंयत पंचम गुणस्थान है।

↑ ☐ प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन संयतासंयत पंचम गुणस्थान है।

↑ ☐ अनादि मिथ्यात्व है और ५ अणुव्रतों का पालन करता है, प्रथम गुणस्थान है।

↑ ☐ अनादि मिथ्यात्व है, अव्रती है, प्रथम गुणस्थान है।

↑ ☐ सादि मिथ्यात्व प्रथम गुणस्थान है।

↑ ☐ प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन प्रमत्तसंयत, छठवाँ गुणस्थान है।

↑ ☐ प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन अप्रमत्तसंयत, सातवाँ गुणस्थान है।

↑ ☐ अनादि मिथ्यात्व है और २८ मूलगुणों (अर्थात् नग्न आदि) का पालन करता है, प्रथम गुणस्थान है।

↑ ☐ अनादि मिथ्यात्व है और अव्रती है, प्रथम गुणस्थान है।



↑ ☐ क्षयोपशम सम्यग्दर्शन अव्रती चतुर्थ गुणस्थान है।

↑ ☐ क्षयोपशम सम्यग्दर्शन प्रमत्तसंयत छठवाँ गुणस्थान है।

↑ ☐ क्षयोपशम सम्यग्दर्शन अप्रमत्तसंयत सातवाँ गुणस्थान है।

↑ ○
○
↑ ○
○
↑ ○ अनेकों बार सातवीं और छठवीं गुणस्थान होते हैं।
○
↑ ○
○
↑ ○
○

↑ ☐ क्षयोपशम सम्यग्दर्शन प्रमत्तसंयत छठवाँ गुणस्थान है।

↑ ☐ क्षयोपशम सम्यग्दर्शन अप्रमत्तसंयत सातवाँ गुणस्थान है।

↑ ☐ क्षयोपशम सम्यग्दर्शन प्रमत्तसंयत छठवाँ गुणस्थान है।

↑ ☐ प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन प्रमत्तसंयत छठवाँ गुणस्थान है।

↑ ☐ प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन अप्रमत्तसंयत सातवाँ गुणस्थान है।

↑ ☐ अनादि मिथ्यात्व है और २८ मूलगुणों (नग्न आदि) का पालन करता है। प्रथम गुणस्थान है।

↑ ☐ अनादि मिथ्यात्व है, अव्रती है, प्रथम गुणस्थान है।

↑ ☐ क्षयोपशम सम्यग्दर्शन अव्रती चतुर्थ गुणस्थान है।

↑ ☐ क्षयोपशम सम्यग्दर्शन है, अणुव्रतों का पालन करता है, संयतासंयत पंचम गुणस्थान है।

↑ ☐ क्षयोपशम सम्यग्दर्शन है, अव्रती है, चतुर्थ गुणस्थान है।

↑ ☐ प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन है, अव्रती है, चतुर्थ गुणस्थान है।

↑ ☐ अनादि मिथ्यात्व है, अव्रती है, प्रथम गुणस्थान है।

↑ क्षयोपशम सम्यग्दर्शन अव्रती चतुर्थ गुणस्थान है।

↑ क्षयोपशम सम्यग्दर्शन प्रमत्तसंयत छठवाँ गुणस्थान है। २८ मूलगुणों का पालन करता है।

↑ क्षयोपशम सम्यग्दर्शन अप्रमत्तसंयत सातवाँ गुणस्थान है। २८ मूलगुणों का पालन करनेवाला है।

↑

↑ अनेकों बार सातवाँ और छठवाँ गुणस्थान होते हैं।

↑

↑ क्षयोपशम सम्यग्दर्शन प्रमत्तसंयत छठवाँ गुणस्थान है। २८ मूलगुणों का पालन करता है।

↑ क्षयोपशम सम्यग्दर्शन अप्रमत्तसंयत सातवाँ गुणस्थान है। २८ मूलगुणों का पालन करता है।

↑ क्षयोपशम सम्यग्दर्शन संयतासंयत पंचम गुणस्थान है। अणुव्रतों का पालन करता है।

↑ क्षयोपशम सम्यग्दर्शन अव्रती चतुर्थ गुणस्थान है।

↑ क्षयोपशम सम्यग्दर्शन अव्रती चतुर्थ गुणस्थान है।

↑ क्षयोपशम सम्यग्दर्शन प्रमत्तसंयत छठवाँ गुणस्थान है।

↑ क्षयोपशम सम्यग्दर्शन अप्रमत्तसंयत सातवाँ गुणस्थान है।

↑

↑ अनेकों बार सातवाँ और छठवाँ गुणस्थान होते हैं।

↑

↑ क्षयोपशम सम्यग्दर्शन प्रमत्तसंयत, छठवाँ गुणस्थान है। २८ मूलगुणों (नग्नत्व आदि) का पालन करता है।

↑ क्षयोपशम सम्यग्दर्शन अप्रमत्तसंयत सातवाँ गुणस्थान है। २८ मूलगुणों (नग्नत्व आदि) का पालन करता है।

↑ क्षयोपशम सम्यग्दर्शन है, अव्रती है, चतुर्थ गुणस्थान है।

क्षपकश्रेणी

↑ सिद्ध परमात्मा [सादि-अनंत] है।

↑ अयोगकेवली १४ वाँ गुणस्थान है।

↑ सयोगकेवली १३ वाँ गुणस्थान है।

↑ क्षीणकषाय १२ वाँ गुणस्थान है।

↑ सूक्ष्मसांपराय क्षपक १० वाँ गुणस्थान है।

↑ अनिवृत्तिकरण क्षपक ९ वाँ गुणस्थान है।

↑ अपूर्वकरण क्षपक ८ वाँ गुणस्थान है।

↑ क्षायिक सम्यग्दर्शन अप्रमत्तसंयत सातिशय ७ वाँ गुणस्थान है। क्षपक है।

↑ ○
↑ ○
↑ ○
○ } अनेकों बार ७ वाँ गुणस्थान और ६ वाँ गुणस्थान होते हैं।

↑ क्षायिक सम्यग्दर्शन प्रमत्तसंयत ६ वाँ गुणस्थान है। २८ मूलगुणों (नग्नत्व आदि) का पालन करता है।

↑ क्षायिक सम्यग्दर्शन अप्रमत्तसंयत ७ वाँ गुणस्थान है। २८ मूलगुणों (नग्नत्व आदि) का पालन करता है।

↑ अविरत क्षायिक सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान है।

↑ अविरत क्षयोपशम सम्यग्दर्शन चतुर्थ गुणस्थान है।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि उपशमश्रेणी

↑ ☐ क्षायिक सम्यग्दर्शन प्रमत्तसंयत ६ वाँ गुणस्थान है।

↑ ☐ क्षायिक सम्यग्दर्शन अप्रमत्तसंयत ७ वाँ गुणस्थान है।

↑ ☐ क्षायिक सम्यग्दर्शन अपूर्वकरण-उपशमक ८ वाँ गुणस्थान है, उपशमश्रेणी से नीचे उतरनेवाला है।

↑ ☐ क्षायिक सम्यग्दर्शन अनिवृत्तिकरण-उपशमक ९ वाँ गुणस्थान है, उपशमश्रेणी से नीचे उतरनेवाला है।

↑ ☐ क्षायिक सम्यग्दर्शन सूक्ष्मसांपराय-उपशमक १० वाँ गुणस्थान है, उपशमश्रेणी से नीचे उतरनेवाला है।

↑ ☐ क्षायिक सम्यग्दर्शन उपशांतकषाय ११ वाँ गुणस्थान है।

↑ ☐ क्षायिक सम्यग्दर्शन सूक्ष्मसांपराय-उपशमक १० वाँ गुणस्थान है, उपशमश्रेणी पर चढ़नेवाला है।

↑ ☐ क्षायिक सम्यग्दृष्टि अनिवृत्तिकरण-उपशमक ९ वाँ गुणस्थान है, उपशमश्रेणी पर चढ़नेवाला है।

↑ ☐ क्षायिक सम्यग्दृष्टि अपूर्वकरण-उपशमक ८ वाँ गुणस्थान है, उपशमश्रेणी पर चढ़नेवाला है

↑ ☐ क्षायिक सम्यग्दृष्टि सातिशय अप्रमत्तसंयत ७ वाँ गुणस्थान है, उपशमश्रेणी पर चढ़नेवाला है।

↑ ○
○
↑ ○
○
○
○ अनेकों बार ७ वाँ गुणस्थान और ६ वाँ गुणस्थान होते हैं।

↑ ☐ क्षायिक सम्यग्दर्शन प्रमत्तसंयत ६ वाँ गुणस्थान है।

↑ ☐ क्षायिक सम्यग्दर्शन अप्रमत्तसंयत ७ वाँ गुणस्थान है।

द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि उपशमश्रेणी

↑ ☐ द्वितीयोपशम-सम्यग्दर्शन प्रमत्तसंयत ६ वाँ गुणस्थान है।

↑ ☐ द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन अप्रमत्तसंयत ७ वाँ गुणस्थान है, उपशमश्रेणी से नीचे उतरनेवाला है।

↑ ☐ द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन अपूर्वकरण-उपशमक ८ वाँ गुणस्थान है, उपशमश्रेणी से नीचे उतरनेवाला है।

↑ ☐ द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन अनिवृत्तिकरण-उपशमक ९ वाँ गुणस्थान है, उपशमश्रेणी से नीचे उतरनेवाला है।

↑ ☐ द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन सूक्ष्मसांपराय-उपशमक १० वाँ गुणस्थान है, उपशमश्रेणी से नीचे उतरनेवाला है।

↑ ☐ द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन-उपशांतकषाय ११ वाँ गुणस्थान है।

↑ ☐ द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन सूक्ष्मसांपराय-उपशमक १० वाँ गुणस्थान है, उपशमश्रेणी पर चढ़नेवाला है।

↑ ☐ द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन अनिवृत्तिकरण-उपशमक ९ वाँ गुणस्थान है, उपशमश्रेणी पर चढ़नेवाला है।

↑ ☐ द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन अपूर्वकरण-उपशमक ८ वाँ गुणस्थान है, उपशमश्रेणी पर चढ़नेवाला है।

↑ ☐ द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन सातिशय अप्रमत्तसंयत ७ वाँ गुणस्थान है, उपशमश्रेणी पर चढ़नेवाला है।

↑ ↑ ↑ ○ ○ ○ ○ ○ ○ } अनेकों बार क्षयोपशम सम्यग्दर्शनसहित ७ वाँ और ६ वाँ गुणस्थान होते हैं।

↑ ☐ क्षयोपशम सम्यग्दर्शन प्रमत्तसंयत ६ वाँ गुणस्थान है।

↑ ☐ क्षयोपशम सम्यग्दर्शन अप्रमत्तसंयत ७ वाँ गुणस्थान है।

यहाँ गुणस्थानों की सभी संदृष्टियाँ नहीं हैं। यहाँ गुणस्थानों की कुछ ही संदृष्टियाँ दिखायी हैं, उनका विशेष वर्णन सर्वार्थसिद्धि, गोम्मटसार-जीवकाण्ड, गोम्मटसार-कर्मकाण्ड, धवल, महाधवल, जयधवल, लब्धिसार, क्षपणासार आदि ग्रंथों में देखिए।

अनंतानुबंधी कषाय से मिथ्यादर्शन बहुत घात करता है, क्योंकि द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन सूक्ष्मसांपराय उपशमक उपशमश्रेणी से नीचे उतरते समय यदि मिथ्यात्व का उदय हो जावे और एक आवली तक अनंतानुबंधी कषाय का उदय नहीं है तो भी मिथ्यात्व प्रथम गुणस्थान में आता है लेकिन अविरत प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन-चतुर्थ गुणस्थान से नीचे उतरते समय मिथ्यात्व का उदय नहीं है और अनंतानुबंधी कषाय का उदय है तो वह सासादन दूसरे गुणस्थान में आता है। देखिए संदृष्टि →

सादि मिथ्यात्व प्रथम गुणस्थान है। मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषाय का उदय है।	सादि मिथ्यात्व प्रथम गुणस्थान है। मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी कषाय का उदय है।
↑	↑
सादि मिथ्यात्व प्रथम गुणस्थान, मिथ्यात्व का उदय है, लेकिन अनंतानुबंधी कषाय का उदय नहीं।	सासादन दूसरा गुणस्थान अनंतानुबंधी कषाय का उदय है; लेकिन मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति इन तीनों का उदय नहीं हैं।
↑	↑
द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन, अनंतानुबंधी कषाय की विसंयोजना करनेवाला, उपशमश्रेणी से नीचे उतरनेवाला है।	प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन अव्रती चतुर्थ गुणस्थान है।

ऐसे बहुत दुःखदायी मिथ्यादर्शन का व्यय करने के लिये 'निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा' को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से जानो और सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति कीजिये।

और 'निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा' को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से जानते समय अतींद्रिय-आनंद आता है और समतारूप चारित्रपर्याय प्रकट होती है अर्थात् वीतरागपर्याय प्रकट होती है।

भो आत्मन्! आपको अभी व्रत पालन करने की क्षमता नहीं है तो भी आप अभी वस्तुस्वरूप को पढ़कर, सुनकर, युक्तियों से परीक्षा कर और अभी इसी अव्रती अवस्था में 'निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा' का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान कर सकते हैं, उस शुद्धात्मानुभव के समय 'सम्यग्ज्ञान-सम्यग्दर्शन-सम्यक्-अव्रतचारित्र' प्रकट होता है। आगे कुछ काल पश्चात् व्रत पालन करने की क्षमता अपने आप आ ही जाती है।

शंका – श्री पंडित टोडरमलजी ने '**मोक्षमार्ग प्रकाशक**' ग्रंथ [मुसद्दीलाल जैन चेरीटेबल ट्रस्ट-२/४ दरियागंज, नई दिल्ली-२ प्रकाशन] **अध्याय-९, पृष्ठ ३८२** पर लिखा है कि,

''यहाँ **प्रश्न–** जो असंयत सम्यग्दृष्टिकै तो चारित्र नाहीं, वाकै मोक्षमार्ग भया कि न भया है।

ताका **समाधान–** मोक्षमार्ग वाकै होसी, यह तो नियम भया।''

इसका स्पष्टीकरण कीजिए?

समाधान – प्रश्न करनेवाला कहता है कि 'असंयत सम्यग्दृष्टि/चतुर्थ-गुणस्थानवर्ती को व्रत, चारित्र नहीं है, इसलिये असंयत सम्यग्दृष्टि को चारित्र नहीं तो फिर असंयत सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्गस्थ है अथवा नहीं?

पंडित टोडरमलजी ने उसके समाधान में कहा है कि, 'असंयत सम्यग्दृष्टि जीव मोक्षमार्गस्थ है ही, यह नियम है। लेकिन उस असंयत सम्यग्दृष्टि को बाह्य व्रतरूप चारित्र नहीं है, असंयत सम्यग्दृष्टि को भविष्यकाल में बाह्य व्रतरूप चारित्र भी होगा।'

क्योंकि पं. टोडरमलजी ने

(a) मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रंथ में अध्याय नंबर २, पृष्ठ नंबर ४८, पंक्ति नंबर ५ और ६ →

"तहाँ जिनका उदयतै आत्माकै सम्यक्त्व न होय, स्वरूपाचरण चारित्र न होय सकै ते अनंतानुबंधी कषाय है।" अर्थात् असंयत सम्यग्दृष्टि को मिथ्यादर्शन नहीं और अनंतानुबंधी कषाय नहीं, इसलिये असंयत सम्यग्दृष्टि को स्वरूपाचरण चारित्र है याने असंयत सम्यग्दृष्टि को सम्यक्चारित्र है, सम्यग्दर्शन है और सम्यग्ज्ञान है।

(b) मोक्षमार्ग प्रकाशक-अध्याय नंबर ४, पृष्ठ नंबर १११, पंक्ति नंबर ४ से ८ →

"या प्रकार इस संसारी जीवकै मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्ररूप परिणमन अनादितैं पाइए है। बहुरि संज्ञी पंचेंद्रियनिविषैं सम्यग्दृष्टि बिना अन्य सर्वजीवनिकै ऐसा ही परिणमन पाइए है।"

(c) पृष्ठ नंबर ११०, पंक्ति नंबर २१-

"इस मिथ्याचारित्रविषै स्वरूपाचरणचारित्र का अभाव है...।"

अर्थात् असंयत सम्यग्दृष्टि को मिथ्याचारित्र नहीं और असंयत सम्यग्दृष्टि को स्वरूपाचरणचारित्र है।

और भी देखिए- **श्लोकवार्तिक-अध्याय नंबर १, सूत्र नंबर १, कारिका नंबर १०५** की टीका →

"**न हि चारित्रमोहोदयमात्रात् भवत् चारित्रं दर्शनचारित्रमोहोदयजनितात् अचारित्रात् अभिन्नं एव इति साधयितुं शक्यं, सर्वत्र कारणभेदस्य फलाभेदकत्वप्रसक्तेः।**"

याने 'चारित्रमोहोदयमात्र से होनेवाले अव्रती सम्यक्त्वी के चारित्र को दर्शनमोह-चारित्रमोहोदयजनित अचारित्र से अभिन्न ही है' ऐसा सिद्ध करना शक्य नहीं, क्योंकि सर्वत्र भिन्न-भिन्न कारणों से होनेवाले कार्यों को अभेद कहने का दोष आता है।

इसलिये असंयत सम्यग्दृष्टि को अव्रतस्वरूपी सम्यक्चारित्र है अर्थात् असंयत सम्यग्दृष्टि को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ये तीनों एक साथ हैं। याने असंयत सम्यग्दृष्टि मोक्षमार्गस्थ है।

शंका–प्रवचनसार–'एसा पसत्थभूदा' इत्यादि गाथा नं.-२५४ की श्री अमृतचंद्राचार्यरचित तत्त्वप्रदीपिका की टीका में लिखा है कि–

"... **गृहिणां तु समस्तविरतेः अभावेन शुद्धात्मप्रकाशनस्य अभावात्**" याने अविरत सम्यग्दृष्टि को शुद्धात्मानुभव नहीं है, तो फिर कैसे?

समाधान–उस टीका का आशय आपकी समझ में नहीं आया है। क्योंकि उस आगम वाक्य का भावार्थ ऐसा है कि 'नग्नमुनि के दृढ़ता/स्थिरतावाले शुद्धोपयोग के समान गृहस्थ को दृढ़ता/स्थिरतावाला शुद्धोपयोग नहीं है, लेकिन गृहस्थ को अल्प शुद्धोपयोग याने अल्प शुद्धात्मानुभव है।' क्योंकि उस ही वाक्य का स्पष्टीकरण श्री जयसेनाचार्यरचित तात्पर्यवृत्ति में इसप्रकार है कि–

"**निर्विकारचिच्चमत्कारभावनाप्रतिपक्षभूतेन विषयकषायनिमित्तोत्पन्नेन आर्तरौद्रदुर्ध्यानद्वयेन परिणतानां गृहस्थानां आत्माश्रितनिश्चयधर्मस्य अवकाशः नास्ति, वैयावृत्त्यादिधर्मेण दुर्ध्यानवञ्चना भवति, तपोधनसंसर्गेण निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गोपदेशलाभः भवति। ततः च परम्परया निर्वाणं लभन्ते इति अभिप्रायः।**"

याने जब एवंभूतनय से जो अव्रती गृहस्थ जीव जिस समय उपयोगरूप से रौद्रध्यान से परिणत है तब उसी समय उपयोगरूप से आर्तध्यान नहीं और उपयोगरूपसे धर्म्यध्यान भी नहीं।

और जब एवंभूतनय से जो अव्रती गृहस्थ जीव जिस समय उपयोगरूप से आर्तध्यान से परिणत है उसी

समय उपयोगरूप से रौद्रध्यान नहीं और उपयोगरूप से धर्म्यध्यान भी नहीं।

और जब एवंभूतनय से जो अव्रती गृहस्थ जीव जिस समय उपयोगरूप से धर्म्यध्यान से परिणत है उसी समय उपयोगरूप से आर्तध्यान नहीं और उपयोगरूप से रौद्रध्यान भी नहीं।

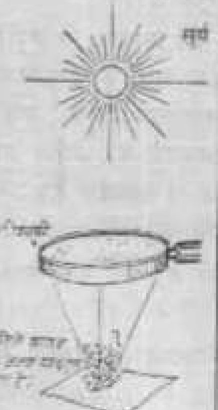
वैयावृत्यादि धर्म से दुर्ध्यानरहित होता है और उस समय तपोधन के संसर्ग से निश्चय-व्यवहार-मोक्षमार्ग के उपदेश का लाभ होता है। अर्थात् शुद्धात्मानुभववाले तपोधन के संसर्ग से उसको आगमभाषा और अध्यात्मभाषा का ज्ञान होता है और वह अव्रती गृहस्थ शुद्धात्मानुभव करता है, उसी समय सम्यक्-आनंद की प्राप्ति होती है और वह अव्रती गृहस्थ मोक्षमार्गस्थ होता है, उसी समय शुद्धात्मानुभव से कर्मदहन (संवरपूर्वक निर्जरा) होता है। उस मोक्षमार्ग से उसको भविष्यकाल में मोक्ष प्राप्त हो जायेगा। इसलिये वैयावृत्यपर उपचार करके उसको वह परंपरा से मोक्ष का कारण है, ऐसा कहा गया। इस ही बात को **श्री अमृतचंद्राचार्यजी उदाहरण द्वारा कथन करते हैं-**

"गृहिणां तु समस्तविरतेः अभावेन शुद्धात्मप्रकाशनस्य अभावात् कषायसद्भावात् प्रवर्तमानः अपि, स्फटिकसंपर्केण अर्कतेजसः इव एधसां, रागसंयोगेन शुद्धात्मनः अनुभवात् क्रमतः परमनिर्वाण-सौख्यकारणत्वात् च मुख्यः।"

याने गृहस्थों को संपूर्ण विरति के अभाव से अर्थात् गृहस्थ के परिग्रह रहने से परिग्रह के बारे में रक्षणादि के विचार से एवंभूतनय से जिस समय उपयोगरूप रौद्रध्यान परिणाम है उसी समय उपयोगरूप आर्तध्यान नहीं और उपयोगरूप धर्म्यध्यान नहीं है।

और उसी गृहस्थ का जिस समय एवंभूतनय से उपयोगरूप आर्तध्यान परिणाम है उसी समय उपयोगरूप रौद्रध्यान नहीं और उपयोगरूप धर्म्यध्यान नहीं।

और जब शुद्धात्मानुभव करनेवाले जीव के संपर्क में (वैयावृत्य करने के लिए) वही अव्रती गृहस्थ आता है तब शुद्धात्मानुभव संबंधी उपदेश प्राप्त करता है और युक्तियों से परीक्षा करता है और वही अव्रती गृहस्थ शुद्धात्मानुभव (सम्यक्-आनंद) करता है उस शुद्धात्मानुभव से कर्मदहन (संवरपूर्वक निर्जरा) करता है। वह शुद्धात्मानुभव क्रम से परम निर्वाणसुख का कारण है। उस गृहस्थ अवस्था में शुद्धात्मानुभव (निर्विकल्पज्ञान) का काल अल्प है और सविकल्प का काल बहुत है। अर्थात् उसी अव्रती गृहस्थ का जिस समय एवंभूतनय से उपयोगरूप धर्म्यध्यान याने निजध्रुवशुद्धात्मा का प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान है उसी समय उपयोगरूप आर्तध्यान नहीं और उपयोगरूप रौद्रध्यान नहीं है।



(दृष्टान्त)



(दार्ष्टांत)

इसलिये अविरत सम्यग्दृष्टि (चतुर्थ गुणस्थानवर्ती) को शुद्धात्मानुभव है।

और भी देखिए **प्रवचनसार-८० नंबर की गाथा - 'जो जाणदि अरहंतं' की श्री जयसेनाचार्यरचित** तात्पर्यवृत्ति-

"..... अविकल्पस्वरूपे प्राप्ते..... दर्शनमोहान्धकारः प्रलीयते।"

याने निर्विकल्पज्ञान/शुद्धात्मानुभव प्राप्त होता है उसी समय दर्शनमोह का व्यय होता है।

इसलिये अविरत सम्यग्दृष्टि को शुद्धात्मानुभव होता है।

धवल-पुस्तक नंबर ३, सूत्र नंबर ४३ की टीका-पृष्ठ नंबर २५१-

"(मणुसगईए मणुस्सेसु) सत्तसयकोडिमेत्ता असंजदसम्माइट्ठिणो हवंति॥"

याने असंयत सम्यग्दृष्टि मनुष्य सात सौ करोड़ प्रमाण हैं।

[आप्त का लक्षण]

संस्कृत पृष्ठ नंबर ११०, संस्कृत परिच्छेद नंबर ७६→

शंका - आप्त किसे कहते हैं?

समाधान - जो प्रत्यक्षप्रमितसकलार्थत्व (सर्वज्ञत्व) रहने पर परमहितोपदेशक है, वह आप्त है।

शंका - 'जो प्रमितसकलार्थत्व रहने पर परमहितोपदेशक है, वह आप्त है' ऐसी व्याख्या करने पर क्या बाधा आयेगी?

समाधान - 'जो प्रमितसकलार्थत्व रहने पर परमहितोपदेशक है, वह आप्त है' ऐसी आप्त की व्याख्या करने पर श्रुतकेवली में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि श्रुतकेवली में आगमप्रमितसकलार्थत्व है लेकिन प्रत्यक्षप्रमितसकलार्थत्व नहीं है। इसलिये 'प्रत्यक्ष' ऐसा कहा गया है।

शंका - 'जो प्रत्यक्षप्रमितसकलार्थ है, वह आप्त है' ऐसी आप्त की व्याख्या करने पर क्या बाधा आती है?

समाधान - 'जो प्रत्यक्षप्रमितसकलार्थ है, वह आप्त है' ऐसी व्याख्या करने पर सिद्धों में अतिव्याप्ति होती है। उसके निराकरण के लिये 'परमहितोपदेशक' ऐसा शब्द रखा है।

परमहित याने निःश्रेयस। निःश्रेयस संबंधी उपदेश में ही अर्हतों की प्रमुखता से प्रवृत्ति है। लेकिन अन्य विषय में प्रश्न के अनुरोध से गौणपना से प्रवृत्ति है, ऐसा भाव (भावार्थ) है। इसप्रकार सिद्धपरमेष्ठी नहीं है, क्योंकि सिद्धपरमेष्ठी में अनुपदेशकपना है। इसलिये 'परमहितोपदेशक' इस विशेषण से सिद्धों में अतिव्याप्ति नहीं होती है। आप्त के सद्भाव में (द्वितीय अध्याय में) प्रमाण उपन्यस्त किया है। नैयायिकादियों के द्वारा माने गये आप्त आप्ताभास हैं, क्योंकि वे असर्वज्ञ हैं। उन आप्ताभासों का 'प्रत्यक्षप्रमिसकलार्थवाला परमहितोपदेशक' इन विशेषणों से निराकरण किया है।

विशेषार्थ-शंका - 'आप्तवाक्यनिबंधनवाले अर्थज्ञान को आगम कहते हैं' ऐसा कहा गया था। तो फिर 'आप्त' किसे कहते है?

समाधान - जो वीतरागी सभी द्रव्य, सभी गुण, सभी पर्यायों को युगपत् (एक साथ, एक समय में) प्रत्यक्ष ज्ञान से जानता है और परमहितोपदेशक है, वह आप्त है।

शंका–आप्त की व्याख्या करते समय 'प्रत्यक्ष' यह शब्द न लेकर 'जो प्रमितसकलार्थत्व रहने पर परमहितोपदेशक है, वह आप्त है' ऐसी व्याख्या करने पर क्या बाधा आवेगी?

समाधान–'जो प्रमितसकलार्थत्व रहने पर परमहितोपदेशक है, वह आप्त है' ऐसी आप्त की व्याख्या करने पर वह व्याख्या श्रुतकेवली में भी जाती है, इसलिये अतिव्याप्ति नाम का दोष आता है, क्योंकि श्रुतकेवली में आगमप्रमितसकलार्थत्व है लेकिन प्रत्यक्षप्रमितसकलार्थत्व नहीं है। इसलिये 'प्रत्यक्ष' यह शब्द व्याख्या में रखा है।

शंका–आप्त की व्याख्या करते समय 'परमहितोपदेशक' यह शब्द न लेकर 'जो प्रत्यक्षप्रमितसकलार्थवाला है, वह आप्त है' ऐसी व्याख्या करने पर क्या बाधा आती है?

समाधान–'जो प्रत्यक्षप्रमितसकलार्थवाला है, वह आप्त है' ऐसी व्याख्या करने पर वह व्याख्या सिद्धों में भी जाती है, इसलिये अतिव्याप्ति नाम का दोष आता है। उस दोष का निराकरण करने के लिये 'परमहितोपदेशक' ऐसा शब्द व्याख्या में रखा है। सिद्ध परमहितोपदेश नहीं करते हैं।

परमहित याने निःश्रेयस याने अव्याबाध अनंत अतींद्रिय आनंद है। अव्याबाध अनंत अतींद्रिय आनंद के संबंधी उपदेश में ही अर्हंत की प्रमुखता से प्रवृत्ति है, लेकिन अन्य विषय में प्रश्न के अनुरोध से गौणपना में प्रवृत्ति है। सिद्ध में अनुपदेशकपना है। इसलिये 'जो प्रत्यक्षप्रमितसकलार्थत्व (सर्वज्ञ) रहने पर परमहितोपदेशक है, वह आप्त है' ऐसी व्याख्या निर्दोष है।

द्वितीय अध्याय में आप्त के सद्भाव के बारे में वर्णन किया है। नैयायिक आदि के द्वारा माने गये 'आप्त' आप्ताभास हैं क्योंकि वे सर्वज्ञ नहीं हैं। उन आप्ताभासों का निराकरण करने के लिये 'प्रत्यक्षप्रमितसकलार्थवाला परमहितोपदेशक' ऐसे शब्द रखे हैं।

इसलिये सच्चे आनंद (शुद्ध ध्यान) के लिये मिथ्याज्ञानी का उपदेश कार्यकारी (लाभवाला) नहीं है।

संस्कृत पृष्ठ नंबर ११०-१११, संस्कृत परिच्छेद नंबर ७७→

शंका–नैयायिकाभिमत आप्त सर्वज्ञ क्यों नहीं है?

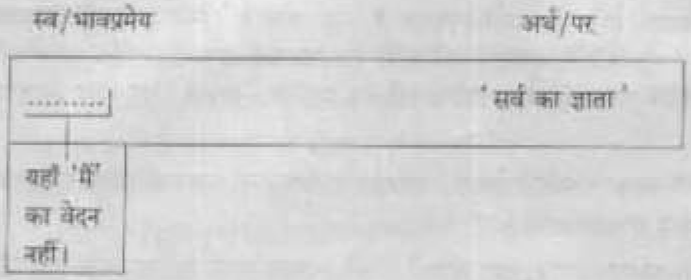
समाधान–उस (नैयायिक अभिमत) ज्ञान का अस्वप्रकाशकत्व और एकपना होने से विशेषणभूत स्वकीय ज्ञान को ही नहीं जानता है। इससे तद्विशिष्ट आत्मा को 'मैं सर्वज्ञ हूँ' ऐसा कैसे जानेगा (प्रतीति करेगा)? इसप्रकार वह अनात्मज्ञ भी असर्वज्ञ ही है; और सुगतादिक भी सत्य आप्त नहीं हैं। इसका विस्तृत वर्णन आप्तमीमांसाविवरण-अष्टशती में श्री अकलंकदेव आचार्य ने और अष्टसहस्री में श्री विद्यानंद आचार्य ने किया है। इसलिये यहाँ अधिक विस्तार नहीं किया है।

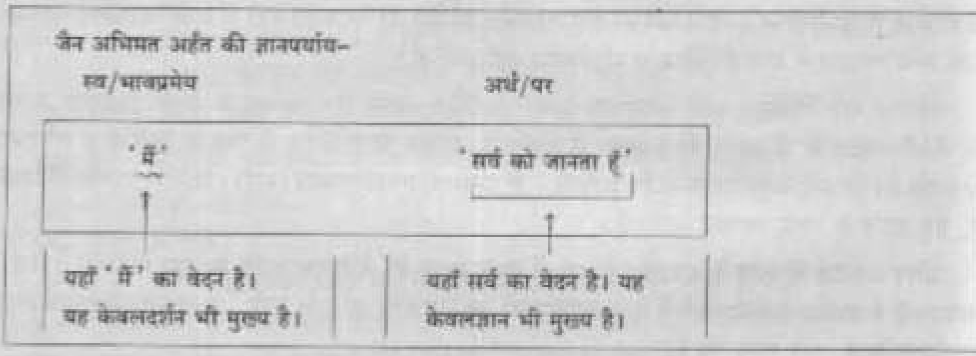
और वाक्य का लक्षण भी अन्य शास्त्रों में प्रसिद्ध है, इसलिये उसका भी लक्षण यहाँ नहीं किया है।

विशेषार्थ-शंका–नैयायिक द्वारा माना गया 'आप्त' सर्वज्ञ क्यों नहीं है?

समाधान–नैयायिक आदि दर्शनगुण नहीं मानते हैं। इसलिये 'मैं याने स्व याने भावप्रमेय' का वेदन नहीं है। इसलिये उनके मत में ज्ञान को अस्वसंवेदी माना है। इसलिये उनके द्वारा माना गया जो आप्त है, वह आप्त अपने ज्ञान का ज्ञाता नहीं है। अर्थात् उसकी संदृष्टि –

नैयायिक अभिमत आप्त की ज्ञानपर्याय →

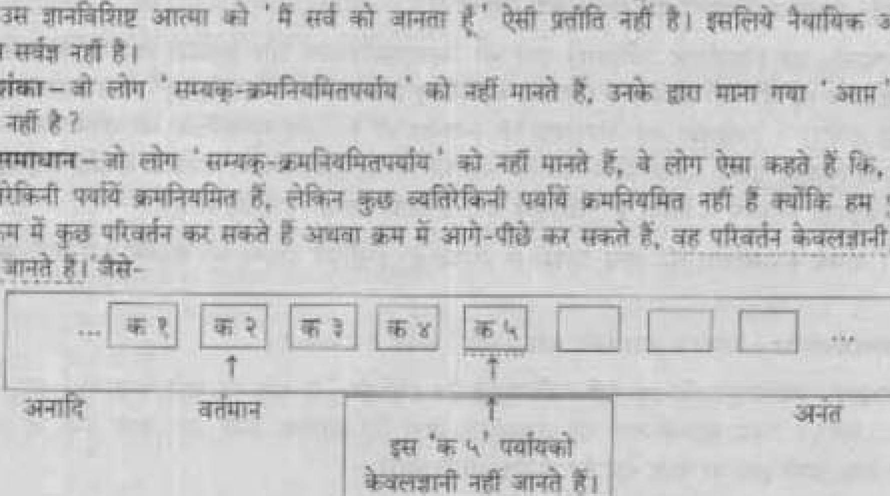




नैयायिक अभिमत आप्त को एक ही ज्ञान है। उस ज्ञान को जाननेवाला ज्ञानांतर (दूसरा ज्ञान) भी नहीं है। अन्यथा नैयायिक अभिमत आप्त में दो ज्ञानों का सद्भाव मानने का दोष आयेगा; और दो ज्ञान युगपत् नहीं रहते हैं, ऐसा नियम है। इसलिये नैयायिक अभिमत आप्त विशेषणभूत अपने ज्ञान को ही नहीं जानता है, उस ज्ञानविशिष्ट आत्मा को 'मैं सर्व को जानता हूँ' ऐसी प्रतीति नहीं है। इसलिये नैयायिक अभिमत आप्त सर्वज्ञ नहीं है।

शंका– जो लोग 'सम्यक्-क्रमनियमितपर्याय' को नहीं मानते हैं, उनके द्वारा माना गया 'आप्त' सर्वज्ञ क्यों नहीं है?

समाधान– जो लोग 'सम्यक्-क्रमनियमितपर्याय' को नहीं मानते हैं, वे लोग ऐसा कहते हैं कि, 'कुछ व्यतिरेकिनी पर्यायें क्रमनियमित हैं, लेकिन कुछ व्यतिरेकिनी पर्यायें क्रमनियमित नहीं हैं क्योंकि हम पुरुषार्थ से क्रम में कुछ परिवर्तन कर सकते हैं अथवा क्रम में आगे-पीछे कर सकते हैं, वह परिवर्तन केवलज्ञानी/सर्वज्ञ नहीं जानते हैं।' जैसे-



इसलिये जो लोग 'सम्यक् क्रमनियमितपर्याय' नहीं मानते हैं उनके द्वारा माना गया आप्त 'कुछ पर्यायों को नहीं जानता है।' इसलिये वह सर्वज्ञ नहीं है।

सुगत भी सत्य आप्त नहीं है, क्योंकि सुगत के मत में आगमभाषा में भूल है और अध्यात्मभाषा में भी भूल है।

सांख्य के अभिमत आप्त सत्य नहीं हैं। वैशेषिक के अभिमत आप्त सत्य नहीं हैं। मीमांसक के अभिमत आप्त सत्य नहीं हैं। वेदांती/अद्वैतब्रह्म के आप्त सत्य नहीं हैं। मुस्लिम के अभिमत आप्त सत्य नहीं है। ख्रिश्चन के अभिमत आप्त सत्य नहीं हैं। यहूदी के अभिमत आप्त सत्य नहीं हैं। पारसी के अभिमत आप्त सत्य नहीं है। श्वेतांबर के अभिमत आप्त सत्य नहीं है। 'सत्य आप्त कौन है' इस के बारे में अष्टसहस्री आदि ग्रंथों में विस्तार से वर्णन है। कृपया उन ग्रंथों का अध्ययन कीजिए।

शंका–वाक्य किसे कहते हैं?

समाधान–परस्परापेक्ष पदों का जो निरपेक्ष (दूसरे वाक्य में रहनेवाले पदों से निरपेक्ष) समुदाय है, उसे वाक्य कहते हैं (वह वाक्य 'स्यात्' पद से मुद्रित होता है)। अर्थात् जिस प्रतिपत्ता (जाननेवाले जीव) को जितने परस्परापेक्ष समुदित पदों में निराकांक्षत्व है, उसको उतने में वाक्यत्व की सिद्धि है।

इसका विशेष वर्णन अष्टसहस्री आदि ग्रंथों में है।

[अर्थ का लक्षण]

संस्कृत पृष्ठ नंबर १११ से ११३ तक, संस्कृत परिच्छेद नंबर ७८→

शंका–अर्थ याने क्या?

समाधान–अनेकांतस्वरूपी अर्थ होता है। यहाँ 'अर्थ' यह लक्ष्यनिर्देश है याने अभिधेय है। 'अनेकांत' यह उसके लक्षण का कथन है।

जिसमें '(१) सामान्य-विशेष, (२) गुण-पर्याय, [(३) नित्य-क्षणिक, (४) दैव-पुरुषार्थ, (५) तत्-अतत्, (६) एक-अनेक]' इत्यादि परस्परविरुद्ध दो शक्तियों (आगमादि से अबाधित परस्परविरुद्ध दो शक्तियों) वाले अनेक अंत/धर्म/भाग/अंश सिद्ध हैं, उसको अनेकांत [अनेक याने दो या दो से अधिक अंत याने धर्म अथवा अंश] कहते हैं।

ऐसी अनेकांतात्मक वस्तु अर्थ है।

उसमें सामान्य अनुवृत्तिस्वरूप है।

जैसे–(१) सभी घटों में पृथुबुध्नोदराकाररूप घटत्व सामान्य है। (२) सभी गायों में सास्नादि-मानपनारूप गोत्व सामान्य है। इससे व्यक्ति (विशेष) से अत्यंत अन्य, नित्य, एक-अनेकवृत्तिवाला ऐसा सामान्य नहीं है। अन्यथा (नहीं तो) 'न याति' इत्यादि श्लोकद्वारा कथित याने "जाता नहीं, और वहाँ नहीं और पश्चात् नहीं और अंशवान नहीं और पूर्व (पहले) का आधार छोड़ता नहीं, ऐसी यह व्यसनसंतति/दोषपरंपरा आती है" ऐसा दिग्मागदर्शित दूषणों का समूह आयेगा। [अर्थात् दोष आते हैं], क्योंकि पृथुबुध्नोदराकारादि के दर्शन के अनंतर ही 'यह घट है, यह घट है' (अथवा सास्नादिमानादि के दर्शन के अनंतर ही) 'यह गाय है, यह गाय है' इत्यादि अनुवृत्त प्रतीति होती है; और उसी वस्तु में 'यह स्थूल घट है, यह सूक्ष्म घट है' इत्यादि व्यावृत्तप्रत्ययालंबनरूप विशेष

भी घटादिस्वरूप ही है। और ऐसा ही वर्णन भगवान माणिक्यनंदि भट्टारक के द्वारा रचित परीक्षामुखसूत्र-अध्याय नंबर ४, सूत्र नंबर १ में किया है कि,-

'उस प्रमाण (ज्ञान) का सामान्यविशेषस्वरूपवाला विषय है।'

विशेषार्थ-शंका–आप्तवाक्यनिबंधनवाले अर्थज्ञान को आगम कहते हैं, ऐसा कहा गया था और ज्ञान का विषय अर्थ है, ऐसा कथन किया था, तो फिर वह 'अर्थ' किसे कहते हैं?

समाधान–अनेकांतात्मक वस्तु को 'अर्थ' कहते हैं। यहाँ 'अर्थ' यह लक्ष्य (जिसका लक्षण करते हैं उसे लक्ष्य कहते हैं ऐसा लक्ष्य) है; और 'अनेकांत' यह उस अर्थ का लक्षण है।

जिसमें '(१) सामान्य-विशेष, (२) गुण-पर्याय, (३) नित्य-क्षणिक, (४) दैव-पुरुषार्थ, (५) तत्-अतत्, (६) सत्-असत्, (७) एक-अनेक, (८) क्रम-अक्रम (सहभू) इत्यादि परस्परविरुद्ध दो शक्तियों (आगमादि से अबाधित परस्परविरुद्ध दो शक्तियों) वाले अनेक अंत याने धर्म अथवा अंश अथवा भाग हैं, उसको अनेकांत कहते हैं। अनेक याने परस्परविरुद्ध दो शक्तियाँ। अंत याने धर्म/भाग/अंश। ऐसी अनेकांतात्मक वस्तु अर्थ है।

उसमें सामान्य अनुवृत्तिस्वरूप है। जैसे–



इन सभी घटों में पृथुबुध्नोदराकाररूप घटपना अनुवृत्तिस्वरूप/अन्वयस्वरूप सामान्य है।



इन सभी गायों में सास्नादिमानपनारूप गोत्व/गायपना अनुवृत्तिस्वरूप सामान्य है।



इन सभी पशुओं में पशुपना अन्वयरूप याने अनुवृत्तिरूप सामान्य है।

इन सभी जीवों में जीवत्व अनुवृत्तिरूप याने अन्वयरूप सामान्य है। इसलिये व्यक्ति/अवस्था/पर्याय/विशेष से अत्यंत भिन्न, नित्य, एक-अनेकवृत्तिवाला; ऐसा सामान्य नहीं है। नहीं तो (अन्यथा) 'न याति' इत्यादि श्लोकद्वारा कथित अनेक दोष आते हैं। याने-

"वह गोत्वादि सामान्य शाबलेयादि पर्याय से यदि सर्वथा भिन्न, नित्य, एक-अनेकवृत्तिवाला है तो फिर जब एक गाय पैदा हो गई तब उसमें गोत्व कहाँ से आ गया? अन्य गाय से वह गोत्व नहीं आता है, क्योंकि गोत्व-सामान्य को निष्क्रिय माना है। गाय उत्पन्न होने के पहले गोत्व वहाँ रहता नहीं, क्योंकि गोत्व-सामान्य गाय में रहता है। अन्यथा देश भी गोत्व के संबंध से गो (गाय) हो जाएगा। गोत्व गोपिंड के साथ उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि सामान्य को नित्य माना है अन्यथा सामान्य को अनित्य मानने का दोष आयेगा। सामान्य अंशवान नहीं है, क्योंकि सामान्य को निरंश माना हैं। अन्यथा सामान्य को सांश मानने का दोष आयेगा। 'वह सामान्य पूर्व पिंड का त्याग करके नूतन गो (गाय) में आता हैं' ऐसा कथन नहीं कर सकते, क्योंकि पूर्व पिंड का त्याग नहीं करता है। अन्यथा पूर्व गोपिंड (गाय) अगो (गोत्वरहित) हो जायेगा; और वैसा हो जाये तो पूर्व के गाय में गोत्व का व्यवहार नहीं हो सकेगा। इसलिये गोत्वादि सामान्य को व्यक्ति/पर्याय से सर्वथा भिन्न, नित्य, एक-अनेकवृत्तिवाला मानने में अनेक दोष आते हैं।" पृथुबुध्नोदराकाररूप घटपना देखकर ही 'यह घट है', 'यह घट है' ऐसी अनुवृत्त प्रतीति होती है। उसी तरह सास्नादिमानरूप गोत्व देखकर ही 'यह गाय है', 'यह गाय है' ऐसी अनुवृत्त प्रतीति होती है। उसी तरह जीवत्व को देखकर ही 'यह जीव है', 'यह जीव है' ऐसी अनुवृत्त प्रतीति होती है। इसलिये समानपना ही सामान्य है। यह सामान्य कथंचित् भिन्न-अभिन्न, नित्य-अनित्य और एक-अनेक रूप है। इसतरह सामान्य को मानने से ऊपर कथन किये गए कोई दोष नहीं आते हैं। अभी अपने जीव में भी सामान्य है। यह सामान्य दूसरों में से लाना नहीं और यह सामान्य हर क्षण में विद्यमान है। 'यह सामान्य मुनि होने के बाद आता है' ऐसा नहीं है तो वह सामान्य अव्रती गृहस्थ के जीवद्रव्य में अभी विद्यमान है और अभी जानने/प्रतीति में आता है।

वस्तु में 'यह स्थूल घट है', 'यह सूक्ष्म घट है' इत्यादि व्यावृत्तप्रत्यय का आलंबनरूप विशेष भी घटादिस्वरूप ही है। जीव में 'यह क्रोधी जीव है', 'यह मानी जीव है', 'यह मायावी जीव है', 'यह लोभी जीव है', 'यह वीतरागी जीव है', 'यह अल्पज्ञ है', 'यह विशेषज्ञ है' इत्यादि विशेष/पर्याय भी है।

और माणिक्यनंदि आचार्य के द्वारा रचित **परीक्षामुखसूत्र**-अध्याय नंबर ४, सूत्र नं १ में लिखा है कि,

"उस प्रमाण (मतिज्ञान आदि) का सामान्यविशेषस्वरूपवाला विषय है।"

स्पर्शनेंद्रिय के सांनिध्य में (आ १) सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मतिज्ञान के द्वारा ठंडवाली (शीतवाली) वस्तु जानी।

यहाँ 'ठंडी' यह अवस्था याने पर्याय है; और 'वस्तु' यह धर्मी है। अर्थात् 'ठंडी' यह विशेष है और 'वस्तु' यह सामान्य है। अन्य नहीं।

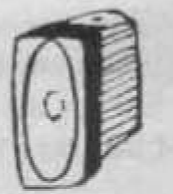
अर्थात् (आ १) प्रमाण-सकलादेशी-मतिज्ञान-स्पर्शनेंद्रियसांव्यवहारिकप्रत्यक्षमतिज्ञानपर्याय ने 'ठंडी वस्तु' जानी याने

ठंडी —— वस्तु

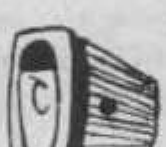
∴	विशेष	सामान्य	को जाना।
∴	धर्म	धर्मी	को जाना ।
	↓	↓	
∴	कतिपयपर्याय	द्रव्य	को जाना।
∴	कतिपयपर्यायात्मक	द्रव्य	को जाना।

इसको जाननेवाला सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मतिज्ञान (आ १) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान है, क्योंकि (आ) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान साधन के द्वारा 'भाव और अभाव' युगपत् प्रकाशित होते हैं। याने 'ठंडी वस्तु है, अन्य नहीं' ऐसा युगपत् प्रकाशित हो गया। [कृपया चार्ट नं. ७ और २० देखिए।]

यह (आ १) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान-मतिज्ञान '(ब) नय-विकलादेशी ज्ञान' से अन्य ज्ञानपर्याय है; क्योंकि '(ब) नय-विकलादेशी–ज्ञान श्रुतनयज्ञान साधन' के द्वारा 'भाव' प्रकाशित हो गया तो 'अभाव' गौण हो गया और यदि 'अभाव' प्रकाशित किया तो 'भाव' गौण हो जाता है। अर्थात् (ब) नय-श्रुतनयज्ञान में भाव या अभाव प्रकाशित करने में क्रम पड़ता है।



(आ १)



[(ब)–(क)]



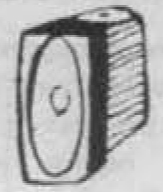
[(ब)–(ख)]

स्पर्शनेंद्रिय के सांनिध्य में (आ १) सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मतिज्ञान के द्वारा 'उष्ण जल है' ऐसा जाना।

यहाँ 'उष्ण' यह अवस्था/पर्याय/विशेष है और 'जल वस्तु' यह धर्मी/द्रव्य/सामान्य है; अन्य नहीं।

अर्थात् (आ १) प्रमाण-सकलादेशी-मतिज्ञान-स्पर्शनेंद्रियसांव्यवहारिक प्रत्यक्षमतिज्ञानपर्याय ने 'उष्ण जल है' यह जाना। याने

	उष्ण	जल	
	↓	↓	
∴	विशेष	सामान्य	को जाना।
∴	धर्म	धर्मी	को जाना।
∴	कतिपयपर्याय	द्रव्य	को जाना।
∴	कतिपयपर्यायात्मक	द्रव्य	को जाना।

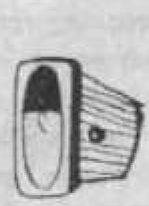


(आ)

इसको जाननेवाला सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मतिज्ञान (आ १) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान है, क्योंकि (आ) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान साधन के द्वारा 'भाव और अभाव' युगपत् प्रकाशित होते हैं। याने 'उष्ण जल है, अन्य नहीं' ऐसा युगपत् जाना गया। [कृपया चार्ट नं. ७ और २० देखिए।]



[(ब)-(क)]



[(ब)-(ख)]

यह (आ १) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान-मतिज्ञान '(ब) नय-विकलादेशी ज्ञान' से अन्य ज्ञानपर्याय है; क्योंकि '(ब) नय-विकलादेशी ज्ञान- श्रुतनयज्ञान साधन' के द्वारा 'भाव' प्रकाशित हो गया तो 'अभाव' गौण हो गया और यदि 'अभाव' प्रकाशित किया तो 'भाव' गौण हो जाता है। अर्थात् (ब) श्रुतनयज्ञान में भाव या अभाव प्रकाशित करने में क्रम पड़ता है।

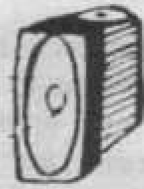
रसनेंद्रिय के सांनिध्य में (आ १) सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मतिज्ञान के द्वारा 'मीठा पदार्थ है' ऐसा जाना।

यहाँ 'मीठा' यह व्यतिरेक पर्याय/विशेष है और 'पदार्थ' यह धर्मी/द्रव्य/सामान्य है; अन्य नहीं।

अर्थात् (आ १) प्रमाण-सकलादेशी-मतिज्ञान-रसनेंद्रियसांव्यवहारिकप्रत्यक्षमतिज्ञानपर्याय ने 'मीठा पदार्थ है' ऐसा जाना । याने

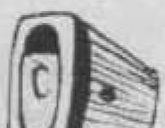
	मीठा	पदार्थ है	
	↓	↓	
∴	व्यतिरेक पर्याय/विशेष	सामान्य	को जाना।
∴	धर्म	धर्मी/अंशी	को जाना ।
∴	कतिपयपर्याय	द्रव्य	को जाना।
∴	कतिपयपर्यायात्मक	द्रव्य	को जाना।

इसको जाननेवाला सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मतिज्ञान (आ १) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान है, क्योंकि (आ) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान साधन के द्वारा 'भाव और अभाव' युगपत् प्रकाशित होते हैं। याने 'मीठा पदार्थ है, खट्टादि नहीं, वर्णादि नहीं, अन्य नहीं' ऐसा युगपत् (एकसाथ) प्रकाशित हो गया। [कृपया चार्ट नं. ७ और २० देखिए।]



(आ)

यह (आ १) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान-मतिज्ञान '(ब) नय-विकलादेशी ज्ञान' से अन्य ज्ञानपर्याय है; क्योंकि '(ब) नय-विकलादेशी ज्ञान-श्रुतनयज्ञान साधन' के द्वारा 'भाव' प्रकाशित हो गया तो 'अभाव' गौण हो गया और यदि 'अभाव' प्रकाशित किया तो 'भाव' गौण हो जाता है। अर्थात् (ब) नय-श्रुतनयज्ञान में भाव या अभाव प्रकाशित करने में क्रम है।



[(ब)-(क)]



[(ब)-(ख)]

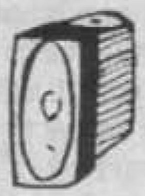
रसनेंद्रिय के सांनिध्य में (आ १) सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मतिज्ञान के द्वारा 'खट्टा आम है' ऐसा जाना।

यहाँ 'खट्टा' यह व्यतिरेक पर्याय/विशेष है और 'आम है' यह धर्मी/द्रव्य/सामान्य है, अन्य नहीं।

अर्थात् (आ १) प्रमाण-सकलादेशी-मतिज्ञान-रसनेंद्रियसांव्यवहारिकप्रत्यक्षमतिज्ञानपर्याय ने 'खट्टा आम है' ऐसा जाना। याने

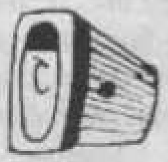
	खट्टा	आम है	
	↓	↓	
∴	व्यतिरेक पर्याय/विशेष	सामान्य	को जाना।
∴	धर्म	धर्मी	को जाना।
∴	कतिपयपर्याय	द्रव्य	को जाना।
∴	कतिपयपर्यायात्मकः	द्रव्य	को जाना।

इसको जाननेवाला सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मतिज्ञान (आ १) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान है, क्योंकि (आ) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान साधन के द्वारा 'भाव और अभाव' युगपत् (एकसाथ) प्रकाशित होते हैं। याने 'खट्टा आम है, मीठा नहीं, वर्णादि नहीं, अन्य इमली आदि नहीं' ऐसा युगपत् प्रकाशित हो गया। [कृपया चार्ट नं. ७ और २० देखिए।]

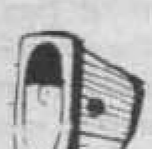


(आ)

यह (आ १) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान-मतिज्ञान '(ब) नय-विकलादेशी ज्ञान' से अन्य ज्ञानपर्याय है; क्योंकि '(ब) नय-विकलादेशी ज्ञान-श्रुतनयज्ञान साधन' के द्वारा 'भाव/भाववान' प्रकाशित हो गया तो 'अभाव/अभाववान' गौण हो गया और यदि 'अभाव/अभाववान' प्रकाशित किया तो 'भाव/भाववान' गौण हो जाता है। अर्थात् (ब) नय-श्रुतनयज्ञान में 'भाव/भाववान या अभाव/अभाववान' प्रकाशित करने में क्रम है।



[(ब)-(क)]



[(ब)-(ख)]

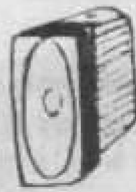
रसनेंद्रिय के सांनिध्य में (आ १) सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मतिज्ञान के द्वारा 'मीठा रसवाला आम है' ऐसा जाना।

यहाँ 'मीठा' यह व्यतिरेक पर्याय/विशेष है और 'रस' यह अन्वय गुण है और 'आम' यह धर्मी/द्रव्य/सामान्य है, अन्य नहीं।

अर्थात् (आ १) प्रमाण-सकलादेशी-मतिज्ञान-रसनेंद्रियसांव्यवहारिकप्रत्यक्षमतिज्ञानपर्याय ने 'मीठा रसवाला आम है' ऐसा जाना याने

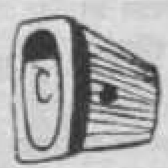
	मीठा	रस	वाला आम है	
	↓	↓	↓	
∴	पर्याय विशेष	गुण	सामान्य	को जाना।
∴	धर्म/अंश		धर्मी/अंशी	को जाना।
∴	कतिपय अंशात्मक		अंशी	को जाना।
∴	कतिपयपर्यायात्मक		द्रव्य	को जाना।

इसको जाननेवाला सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मतिज्ञान (आ १) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान है, क्योंकि (आ) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान साधन के द्वारा 'भाव और अभाव' युगपत् (एकसाथ) प्रकाशित होते हैं। याने 'मीठा रसवाला आम है, खट्टा नहीं, वर्णादि नहीं, इमली आदि नहीं' ऐसा युगपत् प्रकाशित हो गया। [कृपया चार्ट नं. ७ और २० देखिए।]



(आ)

यह (आ १) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान-मतिज्ञान '(ब) नय-विकलादेशी ज्ञान' से अन्य ज्ञानपर्याय है; क्योंकि '(ब) नय-विकलादेशी ज्ञान-श्रुतनयज्ञान साधन' के द्वारा 'भाव/भाववान' प्रकाशित हो गया तो 'अभाव/अभाववान' गौण हो गया और यदि 'अभाव/अभाववान' प्रकाशित किया तो 'भाव/भाववान' गौण हो जाता है। अर्थात् (ब) नय-श्रुतनयज्ञान में भाव या भाववान या अभाव या अभाववान या अवक्तव्य या अवक्तव्यवान या भावाभाव या भावाभाववान या भाव-अवक्तव्य या भाव-अवक्तव्यवान या अभाव-अवक्तव्य या अभाव-अवक्तव्यवान या भाव-अभाव-अवक्तव्य या भाव-अभाव—अवक्तव्यवान प्रकाशित करने में क्रम है।



[(ब)-(क)]



[(ब)-(ख)]

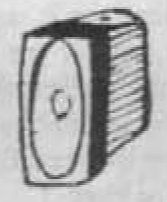
रसनेंद्रिय के सांनिध्य में (आ १) सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मतिज्ञान के द्वारा 'रसवान वस्तु है' (याने रसवाला/रसवस्तु है) ऐसा जाना।

यहाँ 'रस' यह अन्वय गुण/विशेष है और 'वस्तु' यह धर्मी/द्रव्य/सामान्य है, अन्य नहीं।

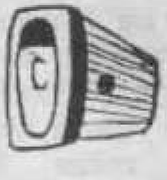
अर्थात् (आ १) प्रमाण-सकलादेशी-मतिज्ञान-रसनेंद्रियसांव्यवहारिकप्रत्यक्षमतिज्ञानपर्याय ने 'रसवान वस्तु है' ऐसा जाना याने

	रसवान	वस्तु है	
	↓	↓	
∴	अन्वय गुण	सामान्य	को जाना।
∴	गुण	गुणी/द्रव्य/धर्मी	को जाना।
∴	कतिपयगुण	द्रव्य	को जाना।
∴	कतिपयपर्यायात्मक	द्रव्य	को जाना।

इसको जाननेवाला सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मतिज्ञान (आ १) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान है, क्योंकि (आ) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान साधन के द्वारा 'भाव और अभाव' युगपत् (एकसाथ) प्रकाशित होते हैं। याने 'रसवान वस्तु है, खट्टा-मीठादि नहीं, आकाशादि अन्य नहीं' ऐसा युगपत् प्रकाशित हो गया। [कृपया चार्ट नं. ७ और २० देखिए।]



(आ)



[(ब)-(क)]



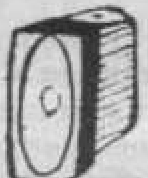
[(ब)-(ख)]

यह (आ १) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान-मतिज्ञान '(ब) नय-विकलादेशी ज्ञान' से अन्य ज्ञानपर्याय है; क्योंकि '(ब) नय-विकलादेशी ज्ञान-श्रुतनयज्ञान साधन' के द्वारा 'भाव/भाववान' प्रकाशित हो गया तो 'अभाव/अभाववान' गौण हो गया और यदि 'अभाव/अभाववान' प्रकाशित किया तो 'भाव/भाववान' गौण हो जाता है। अर्थात् (ब) नय-श्रुतनयज्ञान में भाव या भाववान या अभाव या अभाववान या अवक्तव्य या अवक्तव्यवान या भावाभाव या भावाभाववान या भाव-अवक्तव्य या भाव-अवक्तव्यवान या अभाव-अवक्तव्य या अभाव-अवक्तव्यवान या भाव-अभाव-अवक्तव्य या भाव-अभाव-अवक्तव्यवान प्रकाशित करने में क्रम है। अथवा जब (क) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा जानता है तब (ख) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा नहीं जानता है अथवा (ख) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा जानता है तब (क) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा नहीं जानता है।

घ्राणेंद्रिय के सांनिध्य में (आ १) सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मतिज्ञान के द्वारा सुगंधवाली वस्तु जानी।
यहाँ 'सुगंध' यह व्यतिरेक-पर्याय/विशेष है और 'वस्तु' यह धर्मी/द्रव्य/सामान्य है, अन्य नहीं।
अर्थात् (आ १) प्रमाण-सकलादेशी-मतिज्ञान-घ्राणेंद्रियसांव्यवहारिकप्रत्यक्षमतिज्ञानपर्याय ने 'सुगंधवाली वस्तु है' ऐसा जाना याने

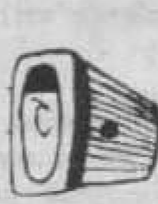
	सुगंध ↓	वाली वस्तु है ↓	
∴	व्यतिरेक पर्याय/विशेष	सामान्य	को जाना।
∴	धर्म	धर्मी/अंशी	को जाना।
∴	कतिपयपर्याय	द्रव्य	को जाना।
∴	कतिपयपर्यायात्मक	द्रव्य	को जाना।

इसको जाननेवाला सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मतिज्ञान (आ १) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान है, क्योंकि (आ) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान साधन के द्वारा 'भाव और अभाव' युगपत् (एकसाथ) प्रकाशित होते हैं। याने 'सुगंधवाली वस्तु है, दुर्गंध नहीं, स्पर्श-रस-वर्ण नहीं, आकाशादि अन्य नहीं' ऐसा युगपत् प्रकाशित हो गया। [कृपया चार्ट नं. ७ और २० देखिए।]



(आ)

यह (आ १) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान-मतिज्ञान '(ब) नय-विकलादेशी ज्ञान' से अन्य ज्ञानपर्याय है; क्योंकि '(ब) नय-विकलादेशी ज्ञान-श्रुतनयज्ञान साधन' के द्वारा 'भाव/भाववान' प्रकाशित हो गया तो 'अभाव/अभाववान' गौण हो गया और यदि 'अभाव/अभाववान' प्रकाशित किया तो 'भाव/भाववान' गौण हो जाता है। अर्थात् (ब) नय-श्रुतनयज्ञान में भाव या भाववान या अभाव या अभाववान या अवक्तव्य या अवक्तव्यवान या भावाभाव या भावाभाववान या भाव-अवक्तव्य या भाव-अवक्तव्यवान या अभाव-अवक्तव्य या अभाव-अवक्तव्यवान या भाव-अभाव-अवक्तव्य या भाव-अभाव-अवक्तव्यवान प्रकाशित करने में क्रम है। अथवा जब (क) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा जानता है तब (ख) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा नहीं जानता है अथवा (ख) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा जानता है तब (क) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा नहीं जानता है।



[(ब)-(क)]



[(ब)-(ख)]

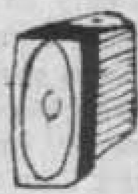
घ्राणेंद्रिय के सांनिध्य में (आ १) सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा दुर्गंधवाली वस्तु जानी।

यहाँ 'दुर्गंध' यह व्यतिरेक पर्याय/विशेष है और 'वस्तु' यह धर्मी/द्रव्य/सामान्य है, अन्य नहीं।

अर्थात् (आ १) प्रमाण-सकलादेशी-मतिज्ञान-घ्राणेंद्रियसांव्यवहारिकप्रत्यक्षमतिज्ञानपर्याय ने 'दुर्गंधवाली वस्तु है' ऐसा जाना याने

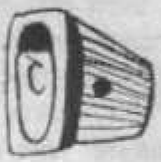
	दुर्गंध	वाली वस्तु है	
	↓	↓	
∴	व्यतिरेक पर्याय/विशेष	सामान्य	को जाना।
∴	धर्म	धर्मी/अंशी	को जाना।
∴	कतिपयपर्याय	द्रव्य	को जाना।
∴	कतिपयपर्यायात्मक	द्रव्य	को जाना।

इसको जाननेवाला सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मतिज्ञान (आ १) प्रमाण- सकलादेशी ज्ञान है, क्योंकि (आ) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान साधन के द्वारा 'भाव और अभाव' युगपत् (एकसाथ) प्रकाशित होते हैं। याने 'दुर्गंधवाली वस्तु है, सुगंधादि नहीं, आकाशादि अन्य नहीं' ऐसा युगपत् प्रकाशित हो गया। [कृपया चार्ट नं. ७ और २० देखिए।]



(आ)

यह (आ १) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान-मतिज्ञान '(ब) नय-विकलादेशी ज्ञान' से अन्य ज्ञानपर्याय है; क्योंकि '(ब) नय-विकलादेशी ज्ञान-श्रुतनयज्ञान साधन' के द्वारा 'भाव/भाववान' प्रकाशित हो गया तो 'अभाव/अभाववान' गौण हो गया और यदि 'अभाव/अभाववान' प्रकाशित किया तो 'भाव/भाववान' गौण हो जाता है। अर्थात् (ब) नय-श्रुतनयज्ञान में भाव या भाववान या अभाव या अभाववान या अवक्तव्य या अवक्तव्यवान या भावाभाव या भावाभाववान या भाव-अवक्तव्य या भाव-अवक्तव्यवान या अभाव-अवक्तव्य या अभाव-अवक्तव्यवान या भाव-अभाव-अवक्तव्य या भाव-अभाव-अवक्तव्यवान प्रकाशित करने में क्रम है। अथवा जब (क) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा जानता है तब (ख) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा नहीं जानता है। अथवा जब (ख) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा जानता है तब (क) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा नहीं जानता है।



[(ब)–(क)]



[(ब)–(ख)]

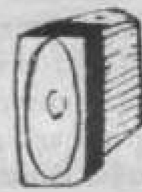
घ्राणेंद्रिय के सांनिध्य में (आ १) सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मतिज्ञान द्वारा 'गंधवान वस्तु है' (गंधवाला/गंधद्रव्य है) ऐसा जाना।

यहाँ 'गंध' यह अन्वय गुण/विशेष है और 'वस्तु' यह धर्मी/द्रव्य/सामान्य है, अन्य नहीं।

अर्थात् (आ १) प्रमाण-सकलादेशी-मतिज्ञान-घ्राणेंद्रियसांव्यवहारिकप्रत्यक्षमतिज्ञानपर्याय ने 'गंधवान वस्तु है' ऐसा जाना याने

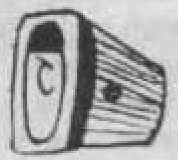
	गंध	वान वस्तु है	
	↓	↓	
∵	अन्वय गुण/विशेष	सामान्य	को जाना।
∵	गुण	गुणी/द्रव्य/धर्मी	को जाना।
∵	कतिपयगुण	द्रव्य	को जाना।
∵	कतिपयपर्यायात्मक	द्रव्य	को जाना।

इसको जाननेवाला सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मतिज्ञान (आ १) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान है, क्योंकि (आ) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान साधन के द्वारा 'भाव और अभाव' युगपत् (एकसाथ) प्रकाशित होते हैं। याने 'गंधवान वस्तु है, सुगंध नहीं, दुर्गंध नहीं, स्पर्श-रस-वर्ण नहीं, आकाशादि अन्य नहीं' ऐसा युगपत् प्रकाशित हो गया। [कृपया चार्ट नं. ७ और २० देखिए।]



(आ)

यह (आ १) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान-मतिज्ञान '(ब) नय-विकलादेशी ज्ञान' से अन्य ज्ञानपर्याय है; क्योंकि '(ब) नय-विकलादेशी ज्ञान-श्रुतनयज्ञान साधन' के द्वारा 'भाव/भाववान' प्रकाशित हो गया तो 'अभाव/अभाववान' गौण हो गया और यदि 'अभाव/अभाववान' प्रकाशित किया तो 'भाव/भाववान' गौण हो जाता है। अर्थात् (ब) नय-श्रुतनयज्ञान में भाव या भाववान या अभाव या अभाववान या अवक्तव्य या अवक्तव्यवान या भावाभाव या भावाभाववान या भाव-अवक्तव्य या भाव-अवक्तव्यवान या अभाव-अवक्तव्य या अभाव-अवक्तव्यवान या भाव-अभाव-अवक्तव्य या भाव-अभाव-अवक्तव्यवान प्रकाशित करने में क्रम है। अथवा जब (क) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा जानता है तब (ख) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा नहीं जानता है। अथवा जब (ख) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा जानता है तब (क) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा नहीं जानता है।



[(ब)-(क)]



[(ब)-(ख)]

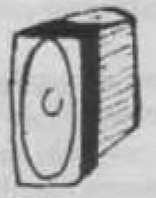
नेत्रेंद्रिय के सांनिध्य में (आ १) सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मतिज्ञान के द्वारा 'पीला आम' जाना।

यहाँ 'पीला' यह व्यतिरेक पर्याय/विशेष है और 'आम' यह धर्मी/द्रव्य/सामान्य है, अन्य नहीं।

अर्थात् (आ १) प्रमाण-सकलादेशी-मतिज्ञान-नेत्रेंद्रियसांव्यवहारिकप्रत्यक्ष मतिज्ञानपर्याय ने 'पीला आम' जाना याने

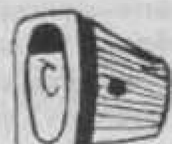
	पीला ———————	आम है	
	↓	↓	
∴	व्यतिरेक पर्याय/विशेष	सामान्य	को जाना।
∴	धर्म	धर्मी/अंशी/द्रव्य	को जाना।
∴	कतिपयपर्याय	द्रव्य	को जाना।
∴	कतिपयपर्यायात्मक	द्रव्य	को जाना।

इसको जाननेवाला सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मतिज्ञान (आ १) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान है, क्योंकि (आ) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान साधन के द्वारा 'भाव और अभाव' युगपत् (एकसाथ) प्रकाशित होते हैं। याने 'पीला आम है, हरा नहीं, काला नहीं, स्पर्श-रस-गंध नहीं, आकाशादि अन्य नहीं' ऐसा युगपत् प्रकाशित हो गया। [कृपया चार्ट नं. ७ और २० देखिए।]

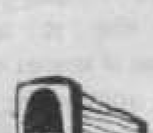


(आ)

यह (आ १) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान-मतिज्ञान '(ब) नय-विकलादेशी ज्ञान' से अन्य ज्ञानपर्याय है; क्योंकि '(ब) नय-विकलादेशी ज्ञान-श्रुतनयज्ञान' साधन के द्वारा 'भाव/भाववान' प्रकाशित हो गया तो 'अभाव/अभाववान' गौण हो गया और यदि 'अभाव/अभाववान' प्रकाशित किया तो 'भाव/भाववान' गौण हो जाता है। अर्थात् (ब) नय-श्रुतनयज्ञान में भाव या भाववान या अभाव या अभाववान या अवक्तव्य या अवक्तव्यवान या भावाभाव या भावाभाववान या भाव-अवक्तव्य या भाव-अवक्तव्यवान या अभाव-अवक्तव्य या अभाव-अवक्तव्यवान या भाव-अभाव-अवक्तव्य या भाव-अभाव-अवक्तव्यवान प्रकाशित करने में क्रम है। अथवा जब (क) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा जानता है तब (ख) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा नहीं जानता है। अथवा जब (ख) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा जानता है तब (क) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा नहीं जानता है।



[(ब)-(क)]



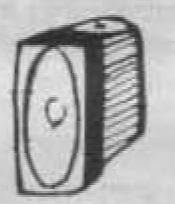
[(ब)-(ख)]

नेत्रेंद्रिय के सांनिध्य में (आ १) सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मतिज्ञान के द्वारा 'लाल-नीलवाली वस्तु' जानी।

यहाँ 'लाल-नील' ये व्यतिरेकपर्यायें/विशेष है और 'वस्तु' यह धर्मी/द्रव्य/सामान्य है, अन्य नहीं।

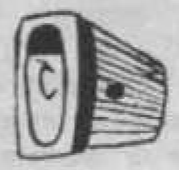
अर्थात् (आ १) प्रमाण-सकलादेशी-मतिज्ञान-नेत्रेंद्रियसांव्यवहारिकप्रत्यक्ष मतिज्ञानपर्याय ने 'लाल-नीलवाली वस्तु है' ऐसा जाना याने

	लालनील	वाली वस्तु है	
	↓	↓	
∴	व्यतिरेक पर्याय/विशेष	सामान्य	को जाना।
∴	धर्मसमूह	धर्मी/अंशी/द्रव्य	को जाना।
∴	कतिपयपर्यायसमूह	द्रव्य	को जाना।
∴	कतिपयपर्यायात्मक	द्रव्य	को जाना।



(आ)

इसको जाननेवाला सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मतिज्ञान (आ १) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान है, क्योंकि (आ) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान साधन के द्वारा 'भाव और अभाव' युगपत् (एकसाथ) प्रकाशित होते हैं। याने 'लाल-नीली वस्तु है, सफेदादि नहीं, स्पर्श-रस-गंध नहीं, आकाशादि अन्य नहीं' ऐसा युगपत् प्रकाशित हो गया। [कृपया चार्ट नं. ७ और २० देखिए।]



[(ब)-(क)]

यह (आ १) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान-मतिज्ञान '(ब) नय-विकलादेशी ज्ञान' से अन्य ज्ञानपर्याय है; क्योंकि '(ब) नय-विकलादेशी ज्ञान-श्रुतनयज्ञान' साधन के द्वारा 'भाव/भाववान' प्रकाशित हो गया तो 'अभाव/अभाववान' गौण हो गया और यदि 'अभाव/अभाववान' प्रकाशित किया तो 'भाव/भाववान' गौण हो जाता है। अर्थात् (ब) नय-श्रुतनयज्ञान में भाव या भाववान या अभाव या अभाववान या अवक्तव्य या अवक्तव्यवान या भावाभाव या भावाभाववान या भाव-अवक्तव्य या भाव-अवक्तव्यवान या अभाव-अवक्तव्य या अभाव-अवक्तव्यवान या भाव-अभाव-अवक्तव्य या भाव-अभाव-अवक्तव्यवान प्रकाशित करने में क्रम है। अथवा जब (क) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा जानता है तब (ख) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा नहीं जानता है। अथवा जब (ख) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा जानता है तब (क) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा नहीं जानता है।



[(ब)-(ख)]

नेत्रेंद्रिय के सांनिध्य में (आ १) सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मतिज्ञान के द्वारा 'लाल-वर्णवाली वस्तु' जानी।

यहाँ 'लाल' यह व्यतिरेकपर्यायें/विशेष है और 'वर्ण' यह अन्वयगुण है और 'वस्तु' यह धर्मी/द्रव्य/सामान्य है, अन्य नहीं।

अर्थात् (आ १) प्रमाण-सकलादेशी-मतिज्ञान-नेत्रेंद्रियसांव्यवहारिकप्रत्यक्ष मतिज्ञानपर्याय ने 'लालवर्णवाली वस्तु है' ऐसा जाना याने

'लाल —— वर्ण —— वाली वस्तु है'

↓ ↓

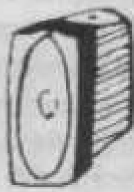
∴ व्यतिरेक पर्याय/विशेष, अन्वयगुण, सामान्य को जाना।

↓ ↓

∴ कतिपय अंशसमूह धर्मी/द्रव्य को जाना।

∴ कतिपयधर्मसमूह धर्मी को जाना।

इसको जाननेवाला सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मतिज्ञान (आ १) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान है, क्योंकि (आ) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान साधन के द्वारा 'भाव और अभाव' युगपत् (एकसाथ) प्रकाशित होते हैं। याने 'लालवर्णवाली वस्तु है, सफेदादि नहीं, स्पर्श-रस-गंध नहीं, आकाशादि अन्य नहीं' ऐसा युगपत् प्रकाशित हो गया। [कृपया चार्ट नं. ७ और २० देखिए।]

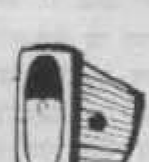


(आ)

यह (आ १) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान-मतिज्ञान '(ब) नय-विकलादेशी ज्ञान' से अन्य ज्ञानपर्याय है; क्योंकि '(ब) नय-विकलादेशी ज्ञान-श्रुतनयज्ञान' साधन के द्वारा 'भाव/भाववान' प्रकाशित हो गया तो 'अभाव/अभाववान' गौण हो गया और यदि 'अभाव/अभाववान' प्रकाशित हो गया तो 'भाव/भाववान' गौण हो जाता है। अर्थात् (ब) नय-श्रुतनयज्ञान में भाव या भाववान या अभाव या अभाववान या अवक्तव्य या अवक्तव्यवान या भावाभाव या भावाभाववान या भाव-अवक्तव्य या भाव-अवक्तव्यवान या अभाव-अवक्तव्य या अभाव-अवक्तव्यवान या भाव-अभाव-अवक्तव्य या भाव-अभाव-अवक्तव्यवान प्रकाशित करने में क्रम है। अथवा जब (क) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा जानता है तब (ख) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा नहीं जानता है। अथवा जब (ख) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा जानता है तब (क) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा नहीं जानता है।



[(ब)-(क)]



[(ब)-(ख)]

नेत्रेंद्रिय के सांनिध्य में (आ १) सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मतिज्ञान के द्वारा 'रंगीन वस्तु/वर्णवाली वस्तु' जानी।

यहाँ 'रंगीन याने रंग याने वर्ण' यह अन्वयगुण/विशेष है और 'वस्तु' यह धर्मी/द्रव्य/सामान्य है, अन्य नहीं।

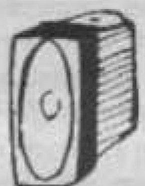
अर्थात् (आ १) प्रमाण-सकलादेशी-मतिज्ञान-नेत्रेंद्रियसांव्यवहारिकप्रत्यक्ष मतिज्ञानपर्याय ने 'वर्णवाली वस्तु है' ऐसा जाना याने

'वर्ण ——————— वाली वस्तु है'

↓ ↓

∴	अन्वय गुण/विशेष	सामान्य	को जाना।
∴	गुण	गुणी/द्रव्य/धर्मी	को जाना।
∴	कतिपयगुण	द्रव्य	को जाना।
∴	कतिपयपर्यायात्मक	द्रव्य	को जाना।

इसको जाननेवाला सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष मतिज्ञान (आ १) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान है, क्योंकि (आ) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान साधन के द्वारा 'भाव और अभाव' युगपत् (एकसाथ) प्रकाशित होते हैं। याने 'वर्णवाली वस्तु है, स्पर्श-रस-गंध नहीं, काली-हरी—लालादि पर्याय नहीं, आकाशादि अन्य नहीं' ऐसा युगपत् प्रकाशित हो गया। [कृपया चार्ट नं. ७ और २० देखिए।]



(आ)

यह (आ १) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान-मतिज्ञान '(ब) नय-विकलादेशी ज्ञान' से अन्य ज्ञानपर्याय है; क्योंकि '(ब) नय-विकलादेशी ज्ञान-श्रुतनयज्ञान साधन' के द्वारा 'भाव/भाववान' प्रकाशित हो गया तो 'अभाव/अभाववान' गौण हो गया और यदि 'अभाव/अभाववान' प्रकाशित हो गया तो 'भाव/भाववान' गौण हो जाता है। अर्थात् (ब) नय-श्रुतनयज्ञान में भाव या भाववान या अभाव या अभाववान या अवक्तव्य या अवक्तव्यवान या भावाभाव या भावाभाववान या भाव-अवक्तव्य या भाव-अवक्तव्यवान या अभाव-अवक्तव्य या अभाव-अवक्तव्यवान या भाव-अभाव-अवक्तव्य या भाव-अभाव-अवक्तव्यवान प्रकाशित करने में क्रम है। अथवा जब (क) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा जानता है तब (ख) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा नहीं जानता है। अथवा जब (ख) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा जानता है तब (क) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा नहीं जानता है।



[(ब)–(क)]



[(ब)–(ख)]

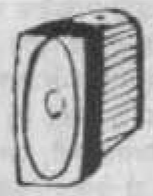
इसीतरह (आ १) सांव्यवहारिक मानसप्रत्यक्ष मतिज्ञान के द्वारा 'स्वयं दुःखमय जीव हूँ' ऐसा जाना।

यहाँ 'स्वयं' यह तिर्यक्‌विशेष है और 'दुःख' यह व्यतिरेक पर्याय/विशेष है और 'जीव हूँ' यह धर्मी/द्रव्य/सामान्य है, अन्य नहीं।

अर्थात् (आ १) प्रमाण-सकलादेशी-मतिज्ञान-सांव्यवहारिकमानसप्रत्यक्ष मतिज्ञानपर्याय ने 'स्वयं दुःखमय जीव हूँ' ऐसा जाना याने

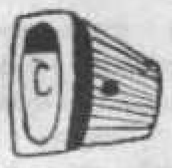
'स्वयं	दुःखमय	जीव हूँ'	
↓	↓	↓	
∴ तिर्यक्‌विशेष	व्यतिरेक/ऊर्ध्वताविशेष	सामान्य	को जाना।
↓		↓	
∴ कतिपयधर्मसमूह		धर्मी/द्रव्य	को जाना।
∴ कतिपयपर्यायात्मक		द्रव्य	को जाना।

इसको जाननेवाला सांव्यवहारिक मानसप्रत्यक्ष–मतिज्ञान (आ १) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान है, क्योंकि (आ) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान साधन के द्वारा 'भाव और अभाव' युगपत् (एकसाथ) प्रकाशित होते हैं। याने 'स्वयं दुःखमय जीव हूँ, सुख नहीं, वीतराग नहीं, आकाशादि अन्य नहीं' ऐसा युगपत् प्रकाशित हो गया। [कृपया चार्ट नं. ७ और २० देखिए।]



(आ)

यह (आ १) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान-मतिज्ञान '(ब) नय-विकलादेशी ज्ञान' से अन्य ज्ञानपर्याय है; क्योंकि '(ब) नय-विकलादेशी ज्ञान-श्रुतनयज्ञान साधन' के द्वारा 'भाव/भाववान' प्रकाशित हो गया तो 'अभाव/अभाववान' गौण हो गया और यदि 'अभाव/अभाववान' प्रकाशित हो गया तो 'भाव/भाववान' गौण हो जाता है। अर्थात् (ब) नय-श्रुतनयज्ञान में भाव या भाववान या अभाव या अभाववान या अवक्तव्य या अवक्तव्यवान या भावाभाव या भावाभाववान या भाव-अवक्तव्य या भाव-अवक्तव्यवान या अभाव-अवक्तव्य या अभाव-अवक्तव्यवान या भाव-अभाव-अवक्तव्य या भाव-अभाव-अवक्तव्यवान प्रकाशित करने में क्रम है। अथवा जब (क) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा जानता है तब (ख) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा नहीं जानता है। अथवा जब (ख) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा जानता है तब (क) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा नहीं जानता है।



[(ब)–(क)]



[(ब)–(ख)]

इसीतरह (आ १) सांव्यवहारिक मानसप्रत्यक्ष मतिज्ञान के द्वारा 'स्वयं सुखमय जीव हूँ' ऐसा जाना।

यहाँ 'स्वयं' यह तिर्यक्‌विशेष है और 'सुख' यह व्यतिरेक/उर्ध्वताविशेष है और 'जीव हूँ' यह धर्मी/द्रव्य/सामान्य है, अन्य नहीं।

अर्थात् (आ १) प्रमाण-सकलादेशी-मतिज्ञान-सांव्यवहारिकमानसप्रत्यक्ष मतिज्ञानपर्याय ने 'स्वयं सुखमय जीव हूँ' ऐसा जाना याने

'स्वयं —— सुखमय —— जीव हूँ'

↓ ↓ ↓

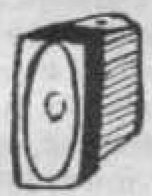
∴ तिर्यक्‌विशेष व्यतिरेक/ऊर्ध्वताविशेष सामान्य को जाना।

↓ ↓

∴ कतिपयधर्मसमूह धर्मी/द्रव्य को जाना।

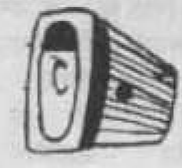
∴ कतिपयपर्यायात्मक द्रव्य को जाना।

इसको जाननेवाला सांव्यवहारिक मानसप्रत्यक्ष-मतिज्ञान (आ १) प्रमाण—सकलादेशी ज्ञान है, क्योंकि (आ) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान साधन के द्वारा 'भाव और अभाव' युगपत् (एकसाथ) प्रकाशित होते हैं। याने 'स्वयं सुखमय जीव हूँ, दुःख नहीं, वीतराग नहीं, आकाशादि अन्य नहीं' ऐसा युगपत् प्रकाशित हो गया। [कृपया चार्ट नं. ७ और २० देखिए।]



(आ)

यह (आ १) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान-मतिज्ञान '(ब) नय-विकलादेशी ज्ञान' से अन्य ज्ञानपर्याय है; क्योंकि '(ब) नय-विकलादेशी ज्ञान-श्रुतनयज्ञान साधन' के द्वारा 'भाव/भाववान' प्रकाशित हो गया तो 'अभाव/अभाववान' गौण हो गया और यदि 'अभाव/अभाववान' प्रकाशित हो गया तो 'भाव/भाववान' गौण हो जाता है। अर्थात् (ब) नय-श्रुतनयज्ञान में भाव या भाववान या अभाव या अभाववान या अवक्तव्य या अवक्तव्यवान या भावाभाव या भावाभाववान या भाव-अवक्तव्य या भाव-अवक्तव्यवान या अभाव-अवक्तव्य या अभाव-अवक्तव्यवान या भाव-अभाव-अवक्तव्य या भाव-अभाव-अवक्तव्यवान प्रकाशित करने में क्रम है। अथवा जब (क) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा जानता है तब (ख) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा नहीं जानता है। अथवा जब (ख) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा जानता है तब (क) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा नहीं जानता है।



[(ब)–(क)]



[(ब)–(ख)]

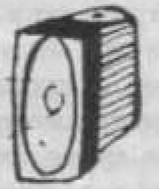
इसीतरह (आ १) सांव्यवहारिक मानसप्रत्यक्ष मतिज्ञान के द्वारा 'स्वयं अशुद्धपर्यायज्ञानादिगुणवाला जीव हूँ' ऐसा जाना।

यहाँ 'स्वयं' यह तिर्यक्‌विशेष है और 'अशुद्धपर्याय' यह व्यतिरेक/उर्ध्वताविशेष है और 'ज्ञानादिगुण' यह अन्वयगुण है और 'जीव' यह धर्मी/द्रव्य/सामान्य है, अन्य नहीं।

अर्थात् (आ १) प्रमाण-सकलादेशी-मतिज्ञान-सांव्यवहारिकमानसप्रत्यक्ष मतिज्ञानपर्याय ने 'स्वयं अशुद्धपर्याय-ज्ञानादिगुणवाला जीव हूँ' ऐसा जाना। याने

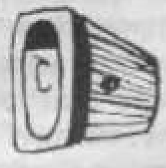
	'स्वयं	अशुद्धपर्याय	ज्ञानादिगुण	वाला जीव हूँ'	
	↓	↓	↓	↓	
∴	तिर्यक्‌विशेष	व्यतिरेक/ऊर्ध्वताविशेष	अन्वय गुण/विशेष	सामान्य	को जाना।
∴	कतिपयधर्मसमूह			धर्मी/द्रव्य	को जाना।

इसको जाननेवाला सांव्यवहारिक-मानसप्रत्यक्ष- मतिज्ञान '(आ १) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान' है, क्योंकि (आ) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान साधन के द्वारा 'भाव और अभाव' युगपत् (एकसाथ) प्रकाशित होते हैं। याने 'स्वयं अशुद्धपर्याय ज्ञानादिगुणवाला जीव हूँ, वीतराग नहीं, आकाशादि अन्य नहीं' ऐसा युगपत् प्रकाशित हो गया। [कृपया चार्ट नं. ७ और २० देखिए।]



(आ)

यह (आ १) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान-मतिज्ञान '(ब) नय-विकलादेशी ज्ञान' से अन्य ज्ञानपर्याय है; क्योंकि '(ब) नय-विकलादेशी ज्ञान-श्रुतनयज्ञान साधन' के द्वारा 'भाव/भाववान' प्रकाशित हो गया तो 'अभाव/अभाववान' गौण हो गया और यदि 'अभाव/अभाववान' प्रकाशित हो गया तो 'भाव/भाववान' गौण हो जाता है। अर्थात् '(ब) नय-श्रुतनयज्ञान' में भाव या भाववान या अभाव या अभाववान या अवक्तव्य या अवक्तव्यवान या भावाभाव या भावाभाववान या भाव-अवक्तव्य या भाव-अवक्तव्यवान या अभाव-अवक्तव्य या अभाव-अवक्तव्यवान या भाव-अभाव-अवक्तव्य या भाव-अभाव-अवक्तव्यवान प्रकाशित करने में क्रम है। अथवा जब (क) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा जानता है तब (ख) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा नहीं जानता है। अथवा जब (ख) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा जानता है तब (क) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा नहीं जानता है।



[(ब)-(क)]



[(ब)-(ख)]

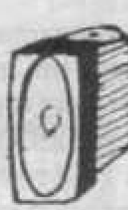
इसीतरह (आ ५) अतींद्रियप्रत्यक्ष मतिज्ञान के द्वारा 'निजध्रुवशुद्धचिदानंदात्मा' को जाना।

यहाँ 'निज' यह तिर्यक्‌विशेष है और 'ध्रुवशुद्धचिदानंदात्मा' यह धर्मी/द्रव्य/सामान्य है, अन्य नहीं।

अर्थात् (आ ५) प्रमाण-सकलादेशी-मतिज्ञान-अतींद्रियप्रत्यक्ष मतिज्ञानपर्याय ने 'निजध्रुवशुद्धचिदानंदात्मा' को जाना। याने

	'निज	ध्रुवशुद्धचिदानंदात्मा'	
	↓	↓	
∴	तिर्यक्‌विशेष	सामान्य	को जाना।
∴	कतिपयधर्मसमूह	धर्मी/द्रव्य	को जाना।
∴	कतिपयपर्यायात्मक	द्रव्य	को जाना।

इसको जाननेवाला अतींद्रिय प्रत्यक्ष मतिज्ञान (आ ५) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान है, क्योंकि (आ) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान साधन के द्वारा 'भाव और अभाव' युगपत् (एकसाथ) प्रकाशित होते हैं। याने 'निजध्रुवशुद्धचिदानंदात्मा का सद्भाव है, पर्याय नहीं, आकाशादि अन्य नहीं' ऐसा युगपत् प्रकाशित हो गया। (समयसार-आ.ख्या. गाथा नं. ३८ देखिए) [कृपया चार्ट नं. ७ और चार्ट नं. २० देखिए।]



(आ)

यह (आ ५) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान '(आ १) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान से' अन्य ज्ञानपर्याय है। [चार्ट नं. ७ और चार्ट नं. १४ देखिए।] और यह (आ ५) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान-मतिज्ञान '(ब) नय- विकलादेशी ज्ञान' से अन्य ज्ञानपर्याय है; क्योंकि '(ब) नय-विकलादेशी ज्ञान-श्रुतनयज्ञान साधन' के द्वारा 'भाव/भाववान' प्रकाशित हो गया तो 'अभाव/अभाववान' गौण हो गया और यदि 'अभाव/अभाववान' प्रकाशित किया तो 'भाव/भाववान' गौण हो जाता है। अर्थात् '(ब) नय-श्रुतनयज्ञान' में भाव या भाववान या अभाव या अभाववान या अवक्तव्य या अवक्तव्यवान या भावाभाव या भावाभाववान या भाव-अवक्तव्य या भाव-अवक्तव्यवान या अभाव-अवक्तव्य या अभाव-अवक्तव्यवान या भाव-अभाव-अवक्तव्य या भाव-अभाव-अवक्तव्यवान प्रकाशित करने में क्रम है। अथवा जब (क) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा जानता है तब (ख) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा नहीं जानता है। अथवा जब (ख) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा जानता है तब (क) श्रुतनयज्ञान साधन के द्वारा नहीं जानता है। [अध्यात्मन्यायदीपिका के पृष्ठ नं. १२४ से १३० तक कृपया पढ़िए।]



[(ब)-(क)]



[(ब)-(ख)]

इसीतरह (आ ५) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान-अतींद्रियप्रत्यक्ष श्रुतज्ञान के द्वारा 'निजध्रुवशुद्धचिदानंदात्मा है, प्रमत्तपर्याय नहीं, अप्रमत्तपर्याय नहीं, आकाशादि अन्य नहीं' ऐसा युगपत् प्रकाशित होता है। अर्थात् (आ ५) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान-अतींद्रियप्रत्यक्षश्रुतज्ञान के द्वारा 'निजध्रुवशुद्धचिदानंदात्मा है, प्रमत्तपर्याय नहीं, अप्रमत्तपर्याय नहीं, आकाशादि अन्य नहीं' ऐसे 'भाव और अभाव' युगपत् प्रकाशित होते हैं।

(आ ४) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान-अवधिज्ञान के द्वारा 'पुद्गल है, अन्य नहीं' ऐसे 'भाव और अभाव' युगपत् प्रकाशित होते हैं।

(आ ३) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान-मन:पर्ययज्ञान के द्वारा 'पुद्गल है, अन्य नहीं' ऐसे 'भाव और अभाव' युगपत् प्रकाशित होते हैं।

(आ २) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान-मतिज्ञान के द्वारा 'भाव और अभाव' युगपत् प्रकाशित होते हैं।

(आ १) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान-श्रुतज्ञान के द्वारा 'भाव और अभाव' युगपत् प्रकाशित होते हैं।

ज्ञान का प्रमेय बननेवाला प्रत्येक द्रव्य सामान्यविशेषात्मकरूप अनेकांतवाला है। द्रव्य यह गुणपर्यायवान है। अथवा द्रव्य ध्रुवपर्यायवान/ध्रुव-उत्पादव्ययवान है।

संस्कृत पृष्ठ नंबर ११३, संस्कृत परिच्छेद नंबर ७९→

पर्याय के दो प्रकार हैं (१) अर्थपर्याय और (२) व्यंजनपर्याय। उनमें →

(१) अर्थपर्याय – भूतत्वभविष्यत्वसंस्पर्शरहित शुद्ध वर्तमानकाल अवच्छिन्न (एकसमयवर्ती) वस्तुस्वरूप को (वस्तु की अवस्था को) अर्थपर्याय कहते हैं। [अर्थात् वस्तु में प्रत्येक समयवर्ती होनेवाली अवस्था को अर्थपर्याय कहते हैं।] सम्यग्ज्ञानी जीव उसको ऋजुसूत्रनय का विषय मानते हैं। उसके एकदेश को माननेवाले बौद्ध (सौगत) क्षणिकवादी हैं।

(२) व्यंजनपर्याय – व्यंजन याने व्यक्ति। प्रवृत्तिनिवृत्तिनिबंधनरूप 'जल लाना' इत्यादि जो अर्थक्रियाकारित्व है, वह व्यक्तरूप (स्थूलरूप अथवा अनेक द्रव्यों का संयोगरूप) व्यंजन है। उस व्यंजन से उपलक्षित जो पर्याय है, वह व्यंजनपर्याय है। जैसे- मिट्टी की पिंडपर्याय (शिवकपर्याय), छत्रक अवस्था, स्थास अवस्था, कोश अवस्था, कुशूल अवस्था, घट अवस्था, कपाल अवस्था इत्यादि स्थूल अवस्था (स्थूल पर्याय) व्यंजनपर्याय हैं।

विशेषार्थ – पर्याय के दो प्रकार हैं – (१) अर्थपर्याय और (२) व्यंजनपर्याय।

(१) अर्थपर्याय – वस्तु में प्रत्येक समयवर्ती होनेवाली अवस्था को अर्थपर्याय कहते हैं। जैसे – आकाशद्रव्य की एक समय में जो अवस्था हो गयी, वह आकाश की अर्थपर्याय है। धर्मद्रव्य की एक समय में जो अवस्था हो गयी, वह धर्मद्रव्य की अर्थपर्याय है। अधर्मद्रव्य की एक समय में जो अवस्था हो गयी, वह अधर्मद्रव्य की अर्थपर्याय है। कालाणुद्रव्य की एक समय में जो अवस्था हो गयी, वह कालाणुद्रव्य की अर्थपर्याय है। पुद्गल-परमाणु की एक समय में जो अवस्था हो गयी, वह पुद्गल-परमाणु की अर्थपर्याय है। जीव की एक समय में जो अवस्था हो गयी, वह जीव की अर्थपर्याय है। एक गुण की एक समय में जो अवस्था हो गयी, वह अर्थपर्याय है। स्पर्शगुण की एक समय में शीतरूक्ष या शीतस्निग्ध या उष्णरूक्ष या उष्णस्निग्ध जो अवस्था हो गयी, वह अर्थपर्याय है। रसगुण की एक समय में खट्टी या मीठी या कड़वी या कषायला या क्षार या चरपरा जो अवस्था हो गयी, वह अर्थपर्याय है। गंधगुण की एक समय में सुगंध या दुर्गंध जो अवस्था हो गयी, वह अर्थपर्याय है। वर्णगुण की एक समय में सफेद या पीला या हरा या लाल या काली जो अवस्था हो गयी, वह अर्थपर्याय है। ज्ञानगुण की एक समय में जो अवस्था हो गयी, वह अर्थपर्याय है। दर्शनगुण की एक समय में जो अवस्था हो गयी, वह अर्थपर्याय है। श्रद्धागुण की एक समय में जो अवस्था हो गयी, वह अर्थपर्याय है। आनंदगुण की एक समय में जो अवस्था हो गयी, वह अर्थपर्याय है। चारित्रगुण की एक समय में जो अवस्था हो गयी, वह अर्थपर्याय है। निर्गतित्वगुण की एक समय में जो अवस्था हो गयी, वह अर्थपर्याय है। निष्कायत्वगुण

[पृष्ठ नं. ४६४ पर देखिए]

चार्ट नंबर ३०

ॐ



ध्रुव (CONSTANT)	पर्याय/अवस्था (CHANGES)
मिट्टीद्रव्य और स्पर्शरसगंधवर्णादिगुण	घट अवस्था
मिट्टीद्रव्य और स्पर्शरसगंधवर्णादिगुण	कुशूल अवस्था
मिट्टीद्रव्य और स्पर्शरसगंधवर्णादिगुण	कोश अवस्था
↑ मिट्टीद्रव्य और स्पर्शरसगंधवर्णादिगुण	स्थास अवस्था
↑ मिट्टीद्रव्य और स्पर्शरसगंधवर्णादिगुण	छत्रक अवस्था
↑ मिट्टी वह पुद्गलद्रव्य और स्पर्शरसगंधवर्णादिगुण	मिट्टी का पिंड याने शिवक



निश्चयदृष्टि



व्यवहारदृष्टि

की एक समय में जो अवस्था हो गयी, वह अर्थपर्याय है। निर्भोगत्वगुण की जो एक समय में अवस्था हो गयी, वह अर्थपर्याय है। निर्वेदत्वगुण की एक समय में जो अवस्था हो गयी, वह अर्थपर्याय है। निर्नामत्वगुण (सूक्ष्मत्वगुण) की एक समय में जो अवस्था हो गयी, वह अर्थपर्याय है। निर्गोत्रत्वगुण (अगुरुलघुत्वगुण) की एक समय में जो अवस्था हो गयी, वह अर्थपर्याय है। निरायुष्यत्वगुण (अवगाहनत्वगुण) की एक समय में जो अवस्था हो गयी, वह अर्थपर्याय है। अस्तित्वगुण की एक समय में जो अस्तिरूप अवस्था हो गयी वह अर्थपर्याय है। वस्तुत्वगुण की एक समय में जो अवस्था हो गयी, वह अर्थपर्याय है, इत्यादि।

(२) **व्यंजनपर्याय**–स्थूलपर्याय को व्यंजनपर्याय कहते हैं अथवा अनेक द्रव्यों के संयोग से होनेवाली पर्याय को व्यंजनपर्याय कहते हैं। जैसे-मिट्टी का पिंड याने शिवक वह अनेक पुद्गल-परमाणुओं का स्कंध है, यह शिवक अवस्था व्यंजनपर्याय है। छत्रक, स्थास, कोश, कुशूल, घट ये व्यंजनपर्यायें हैं। जीव की नारकी, मनुष्य, तिर्यंच और देव अवस्थायें व्यंजनपर्यायें हैं।

संस्कृत पृष्ठ नं. ११४, संस्कृत परिच्छेद नंबर ८०→

जो द्रव्य के संपूर्ण क्षेत्र (प्रदेश) में व्याप्त होकर रहते हैं और उस द्रव्य की सभी अवस्थाओं/पर्यायों में अनुवर्ती (अन्वयरूप) रहते हैं; उनको गुण कहते हैं। जैसे- वस्तुत्व, रूप, रस, गंध, स्पर्श इत्यादि। मिट्टी द्रव्यसंबंधी वस्तुत्वादि गुण पिंडादि पर्यायों के साथ अनुवर्तन करते हैं, लेकिन पिंडादि पर्याय 'स्थासादि पर्यायों' के साथ अनुवर्तन नहीं करती हैं। उस ही कारण से पर्यायों का 'गुणों से' भेद है। यद्यपि वे सामान्यपर्याय और विशेषपर्याय ऐसे दो हैं तथापि संकेतग्रहणनिबंधनपना से और शब्दव्यवहारविषयपना से आगम में उन दोनों का पृथक् निर्देश हैं। वे गुण और पर्याय दोनों 'द्रव्य' के आश्रय से रहते हैं, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथ में अध्याय ५ वाँ, सूत्र नं. ३८ में आचार्यदेव ने कहा है कि 'गुणपर्यायवाला द्रव्य होता हैं' [गुणपर्ययवत् द्रव्यम्।] वह भी 'सत्त्व ही है [सत्त्वं द्रव्यम्]' ऐसा अकलंकीय वचन है।

विशेषार्थ–गुण-जो द्रव्य के संपूर्ण क्षेत्र (प्रदेश) में और उसी द्रव्य के सभी अवस्थाओं (पर्यायों) में अनुवर्ती (अन्वयरूप) रहते हैं, उनको गुण कहते हैं। गुणों को सहभावी विशेष कहते हैं। गुणों का द्रव्य के साथ नित्यतादात्म्य संबंध है। गुण सहभू/अक्रम हैं। जैसे- मिट्टी/पुद्गलद्रव्य के अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशवत्त्व, स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि गुण हैं। मिट्टी द्रव्य संबंधी वस्तुत्वादि गुण 'शिवक, छत्रक, स्थास, कोश, कुशूल, घट आदि पर्यायों के साथ' अनुवर्तन करते हैं; लेकिन शिवकपर्याय 'स्थासादि पर्यायों के साथ' अनुवर्तन नहीं करती है। स्थासपर्याय 'शिवक या कोशादि पर्यायों के साथ' अनुवर्तन नहीं करती है। कोशपर्याय 'शिवकपर्याय के साथ या स्थासपर्याय के साथ या कुशूलादि पर्यायों के साथ' अनुवर्तन नहीं करती है। कुशूलपर्याय 'शिवकपर्याय के साथ या स्थासपर्याय के साथ या कोशपर्याय के साथ या घटादि पर्यायों के साथ' अनुवर्तन नहीं करती है। घटपर्याय 'शिवकपर्याय के साथ या छत्रकपर्याय के साथ या स्थासपर्याय के साथ या कोशपर्याय के साथ या कुशूलपर्याय के साथ' अनुवर्तन नहीं करती है। कृपया पृष्ठ नंबर... ४६३ पर चार्ट नंबर ३० देखिए। इसलिए पर्यायों का 'गुणों से' भेद/अतद्भाव/अन्य है। उसीतरह ध्रुव भी 'पर्यायों से' अन्य है। उसीतरह ध्रुववान भी 'पर्यायों से' अन्य है।

उसीतरह स्पर्शगुण 'शीतस्निग्धादि पर्यायों के साथ' (द्रव्य में) अनुवर्तन करता है, लेकिन शीतपर्याय 'उष्णपर्याय के साथ' अनुवर्तन नहीं करती है। देखो चार्ट नंबर ३१ →

चार्ट नंबर ३१

ॐ

	गुण		पर्याय/अवस्था
	स्पर्शगुण		शीत-स्निग्ध पर्याय
	स्पर्शगुण		शीत-रूक्ष पर्याय
	स्पर्शगुण		उष्ण-स्निग्ध पर्याय
	स्पर्शगुण		उष्ण-रूक्ष पर्याय
	स्पर्शगुण		कठोर (कड़ा) पर्याय
↑	स्पर्शगुण		कोमल (नरम) पर्याय
↑	स्पर्शगुण		भारी (ज्यादा वजन) पर्याय
↑	स्पर्शगुण		हलकी (कम वजन) पर्याय

(च) गुणदृष्टि



(च) भेदोपचारनय

(छ) पर्यायदृष्टि



(छ) भेदवृत्तिनय

यहाँ गुण अन्वयरूप है और पर्याय व्यतिरेकवाली है, इसलिये 'गुण' पर्यायों से अन्य है।

उसीतरह रसगुण 'मीठादि पर्यायों के साथ' अनुवर्तन करता है, लेकिन खट्टी पर्याय 'मीठादि पर्यायों के साथ' अनुवर्तन नहीं करती है। देखो **चार्ट नंबर ३२→**

चार्ट नंबर ३२

ॐ

	गुण		पर्याय
	रसगुण	☐	तिक्त (चरपरी) पर्याय
	रसगुण	☐	कड़वी पर्याय
↑	रसगुण	☐	कषायवाली पर्याय
↑	रसगुण	☐	मीठी पर्याय
↑	रसगुण	☐	खट्टी पर्याय

(च) गुणदृष्टि

(च) भेदोपचारनय





(छ) पर्यायदृष्टि

(छ) भेदवृत्तिनय

यहाँ गुण अन्वयरूप है और पर्याय व्यतिरेकवाली है, इसलिये 'गुण' पर्यायों से **अन्य/अतद्भाव** है।

उसीतरह 'गंधगुण' सुगंधादि पर्यायों के साथ अनुवर्तन करता है, लेकिन 'सुगंधपर्याय' दुर्गंधादि पर्यायों के साथ अनुवर्तन नहीं करती है। देखो **चार्ट नंबर ३३→**

चार्ट नंबर ३३

ॐ

	गुण		पर्याय
	गंधगुण	☐	दुर्गंधपर्याय
↑	गंधगुण	☐	सुगंधपर्याय

(च) गुणदृष्टि

(च) भेदोपचारनय





(छ) पर्यायदृष्टि

(छ) भेदवृत्तिनय

यहाँ गुण अन्वयरूप है और पर्याय व्यतिरेकवाली है, इसलिये 'गुण' पर्यायों से अन्य/अतद्भाव है। इसलिये गुणसंज्ञा अलग है और पर्यायसंज्ञा अलग है।

उसीतरह 'वर्णगुण' पीलादि पर्यायों के साथ अनुवर्तन करता है, लेकिन 'सफेद (श्वेत) पर्याय' पीलादि पर्यायों के साथ अनुवर्तन नहीं करती है। देखो **चार्ट नंबर ३४** →

चार्ट नंबर ३४

ॐ

	गुण		पर्याय
	वर्णगुण	☐	सफेद (श्वेत) पर्याय
	वर्णगुण	☐	पीली पर्याय
	वर्णगुण	☐	हरी पर्याय
↑	वर्णगुण	☐	नीली पर्याय
↑	वर्णगुण	☐	लाल पर्याय
↑	वर्णगुण	☐	काली पर्याय

(च) गुणदृष्टि

(च) भेदोपचारनय





(छ) पर्यायदृष्टि

(छ) भेदवृत्तिनय

यहाँ गुण अन्वयरूप है और पर्याय व्यतिरेकवाली है, इसलिये 'गुण' पर्यायों से **अन्य/अतद्भाव** है।

उसीतरह 'स्पर्शरसगंधवर्णादि गुणों का पिंडरूप ध्रुव' व्यतिरेकरूप पर्यायों से **अन्य/अतद्भाव** है।

उसीतरह 'ज्ञानगुण' मतिज्ञानादि पर्यायों के साथ अनुवर्तन करता है, लेकिन 'मतिज्ञानपर्याय' सर्वज्ञतादि पर्यायों के साथ अनुवर्तन नहीं करती है। देखो चार्ट नंबर ३५→

चार्ट नंबर ३५

ॐ

	गुण		पर्याय
	ज्ञानगुण	☐	सर्वज्ञ (केवलज्ञान) पर्याय (आ २)
	ज्ञानगुण	☐	विपुलमतिमनःपर्ययज्ञानपर्याय (आ ३)
	ज्ञानगुण	☐	ऋजुमतिमनःपर्ययज्ञानपर्याय (आ ३)
	ज्ञानगुण	☐	परमावधिज्ञानपर्याय (आ ४)
	ज्ञानगुण	☐	सर्वावधिज्ञानपर्याय (आ ४)
	ज्ञानगुण	☐	देशावधिज्ञानपर्याय (आ ४)
	ज्ञानगुण	☐	(क) श्रुतनयज्ञानपर्याय
	ज्ञानगुण	☐	(ख) श्रुतनयज्ञानपर्याय
	ज्ञानगुण	☐	(आ ५) श्रुतप्रमाणज्ञानपर्याय
	ज्ञानगुण	☐	(आ ५) मतिज्ञानपर्याय
	ज्ञानगुण	☐	(आ १) श्रुतप्रमाणज्ञानपर्याय
	ज्ञानगुण	☐	(आ १) मानसमतिज्ञानपर्याय
	ज्ञानगुण	☐	(आ १) अनुमानमतिज्ञानपर्याय
	ज्ञानगुण	☐	(आ १) तर्कमतिज्ञानपर्याय
	ज्ञानगुण	☐	(आ १) प्रत्यभिज्ञानमतिज्ञानपर्याय
	ज्ञानगुण	☐	(आ १) स्मरणमतिज्ञानपर्याय
	ज्ञानगुण	☐	(आ १) इंद्रियजमतिज्ञानपर्याय
↑	ज्ञानगुण	☐	(आ १) कुमतिज्ञानपर्याय
↑	ज्ञानगुण	☐	(आ १) कुश्रुतज्ञानपर्याय
↑	ज्ञानगुण	☐	कुअवधिज्ञानपर्याय (आ ४)

(च) गुणदृष्टि
(च) भेदोपचारनय





(छ) पर्यायदृष्टि
(छ) भेदवृत्तिनय

यहाँ गुण अन्वयरूप है और पर्याय व्यतिरेकवाली है, इसलिये 'गुण' पर्यायों से अन्य/अतद्भाव है।

इसीतरह 'दर्शन गुण' चक्षुदर्शनादि पर्यायों के साथ अनुवर्तन करता है, लेकिन 'चक्षुदर्शनपर्याय' केवलदर्शनादि पर्यायों के साथ अनुवर्तन नहीं करती है। देखो चार्ट नंबर ३६→

चार्ट नं. ३६

ॐ

गुण		पर्याय
दर्शन गुण		केवलदर्शन पर्याय
दर्शन गुण		अवधिदर्शन पर्याय
दर्शन गुण		चक्षुदर्शन पर्याय
दर्शन गुण		अचक्षुदर्शन पर्याय
दर्शन गुण		निद्रा पर्याय
दर्शन गुण		प्रचला पर्याय
↑ दर्शन गुण		निद्रानिद्रा पर्याय
↑ दर्शन गुण		प्रचलाप्रचला पर्याय
↑ दर्शन गुण		स्त्यानगृद्धि पर्याय

(च) गुणदृष्टि

(च) भेदोपचारनय





(छ) पर्यायदृष्टि

(छ) भेदवृत्तिनय

यहाँ गुण अन्वयरूप है और पर्याय व्यतिरेकरूप है, इसलिये 'गुण' पर्यायों से अन्य/अतद्भाव है।

इसीतरह '**श्रद्धा गुण**' मिथ्यादर्शनादि पर्यायों के साथ अनुवर्तन करता है, लेकिन 'मिथ्यादर्शन पर्याय' सम्यग्दर्शनादि पर्यायों के साथ अनुवर्तन नहीं करती है। देखो चार्ट नंबर ३७→

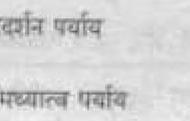
चार्ट नं. ३७

ॐ

	गुण		पर्याय
	श्रद्धा गुण		क्षायिक सम्यग्दर्शन पर्याय
	श्रद्धा गुण		कृतकृत्यवेदक क्षयोपशम सम्यग्दर्शन पर्याय
	श्रद्धा गुण		द्वितीयोपशम सम्यग्दर्शन पर्याय
	श्रद्धा गुण		क्षयोपशम सम्यग्दर्शन पर्याय
	श्रद्धा गुण		प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन पर्याय
	श्रद्धा गुण		मिथ्यादर्शन पर्याय
	श्रद्धा गुण		सम्यग्मिथ्यात्व पर्याय
	श्रद्धा गुण		प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन पर्याय
	श्रद्धा गुण		मिथ्यादर्शन पर्याय
↑	श्रद्धा गुण		सासादन पर्याय
↑	श्रद्धा गुण		प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन पर्याय
↑	श्रद्धा गुण		मिथ्यादर्शन पर्याय

(च) गुणदृष्टि
(च) भेदोपचारनय





(छ) पर्यायदृष्टि
(छ) भेदवृत्तिनय

यहाँ गुण अन्वयरूप है और पर्याय व्यतिरेकरूप है, इसलिये 'गुण' पर्यायों से अन्य/अनद्भाव है।

उसीतरह '**चारित्र गुण**' क्रोधादि पर्यायों के साथ अनुवर्तन करता है, लेकिन 'आविर्भूत क्रोध पर्याय' लोभादि पर्यायों के साथ अनुवर्तन नहीं करती है। देखो चार्ट नंबर ३८ →

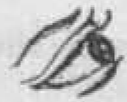
चार्ट नं. ३८

ॐ

	गुण		पर्याय
	चारित्र गुण	☐	वीतराग पर्याय
	चारित्र गुण	☐	लोभ पर्याय
↑	चारित्र गुण	☐	माया पर्याय
↑	चारित्र गुण	☐	मान पर्याय
↑	चारित्र गुण	☐	क्रोध पर्याय

(च) गुणदृष्टि

(च) भेदोपचारनय





(छ) पर्यायदृष्टि

(छ) भेदवृत्तिनय

यहाँ गुण अन्वयरूप है और पर्याय व्यतिरेकरूप है, इसलिये 'गुण' पर्यायों से **अन्य/अतद्भाव** है।

उसीतरह '**आनंद गुण**' दुःखादि पर्यायों के साथ अनुवर्तन करता है, लेकिन 'अव्याबाध अतींद्रिय आनंद पर्याय' दुःखादि पर्यायों के साथ अनुवर्तन नहीं करती है। देखो चार्ट नंबर ३९ →

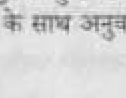
चार्ट नं. ३९

ॐ

	गुण		पर्याय
	आनंद गुण	☐	अव्याबाध-अनंत-अतींद्रिय-आनंद पर्याय
	आनंद गुण	☐	अनंत-अतींद्रिय-आनंद पर्याय
↑	आनंद गुण	☐	अतींद्रिय-आनंद पर्याय
↑	आनंद गुण	☐	इंद्रियजनित सुख पर्याय
↑	आनंद गुण	☐	दुःख पर्याय

(च) गुणदृष्टि

(च) भेदोपचारनय





(छ) पर्यायदृष्टि

(छ) भेदवृत्तिनय

यहाँ गुण अन्वयरूप है और पर्याय व्यतिरेकरूप है, इसलिये 'गुण' पर्यायों से **अन्य/अतद्भाव** है।

उसीतरह **'निर्गतित्व गुण'** नरकगति इत्यादि पर्यायों के साथ अनुवर्तन करता है, लेकिन 'नरकगति पर्याय' तिर्यंचादि पर्यायों के साथ अनुवर्तन नहीं करती है। देखो चार्ट नंबर ४० →

चार्ट नं. ४०

ॐ

	गुण		पर्याय
	निर्गतित्व गुण	☐	सिद्ध पर्याय/गतिरहित पर्याय
	निर्गतित्व गुण	☐	मनुष्यगति पर्याय
	निर्गतित्व गुण	☐	देवगति पर्याय
↑	निर्गतित्व गुण	☐	मनुष्यगति पर्याय
↑	निर्गतित्व गुण	☐	तिर्यंचगति पर्याय
↑	निर्गतित्व गुण	☐	नरकगति पर्याय

(च) गुणदृष्टि
(च) भेदोपचारनय





(छ) पर्यायदृष्टि
(छ) भेदवृत्तिनय

यहाँ गुण अन्वयरूप है और पर्याय व्यतिरेकरूप है, इसलिये 'गुण' पर्यायों से **अन्य/अतद्भाव** है।

उसीतरह **'निर्योगत्व गुण'** काययोगादि पर्यायों के साथ अनुवर्तन करता है, लेकिन 'काययोग पर्याय' सिद्ध पर्याय/योगरहित पर्याय के साथ अनुवर्तन नहीं करती है। देखो चार्ट नंबर ४१ →

चार्ट नं. ४१

ॐ

	गुण		पर्याय
	निर्योगत्व गुण	☐	सिद्ध पर्याय/योगरहित पर्याय/ मनोयोगरहित, वचनयोगरहित, काययोगरहित है।
	निर्योगत्व गुण	☐	काययोग
	निर्योगत्व गुण	☐	वचनयोग
↑	निर्योगत्व गुण	☐	मनोयोग
↑	निर्योगत्व गुण	☐	वचनयोग
↑	निर्योगत्व गुण	☐	काययोग

(च) गुणदृष्टि
(च) भेदोपचारनय





(छ) पर्यायदृष्टि
(छ) भेदवृत्तिनय

यहाँ गुण अन्वयरूप है और पर्याय व्यतिरेकरूप है, इसलिये 'गुण' पर्यायों से **अन्य/अतद्भाव** है।

उसीतरह '**निर्वेदत्व गुण**' भावनपुंसकवेदादि पर्यायों के साथ अनुवर्तन करता है, लेकिन 'भावनपुंसकवेद' वेदरहितादि पर्यायों के साथ अनुवर्तन नहीं करता है। देखो चार्ट नंबर ४२ →

चार्ट नं. ४२

ॐ

	गुण		पर्याय
	निर्वेदत्व गुण	☐	सिद्धपर्याय/वेदरहितपर्याय पुंवेदरहित, स्त्रीवेदरहित, नपुंसकवेदरहित है।
↑	निर्वेदत्व गुण	☐	भावपुंवेद पर्याय
↑	निर्वेदत्व गुण	☐	भावस्त्रीवेद पर्याय
↑	निर्वेदत्व गुण	☐	भावनपुंसकवेद पर्याय

(च) गुणदृष्टि

(च) भेदोपचारनय





(छ) पर्यायदृष्टि

(छ) भेदवृत्तिनय

यहाँ गुण अन्वयरूप है और पर्याय व्यतिरेकरूप है, इसलिये 'गुण' पर्यायों से **अन्य/अतद्भाव** है।

उसीतरह '**निरायुष्यत्व गुण**' नरकायुष्यादि पर्यायों के साथ अनुवर्तन करता है, लेकिन 'नरकायु पर्याय' आयुरहित सिद्ध पर्याय के साथ अनुवर्तन नहीं करती है। देखो चार्ट नं. ४३ →

चार्ट नं. ४३

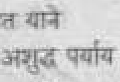
ॐ

	गुण		पर्याय
	निरायुष्यत्व गुण याने अवगाहनत्व गुण	☐	सिद्धपर्याय/आयुष्यरहितपर्याय अवगाहन-शुद्ध पर्याय, नरकायुरहित, तिर्यंचायुरहित, मनुष्यायुरहित, देवायुरहित
	निरायुष्यत्व गुण याने अवगाहनत्व गुण	☐	मनुष्यायुसहित याने अवगाहन-अशुद्ध पर्याय
↑	निरायुष्यत्व गुण याने अवगाहनत्व गुण	☐	देवायुसहित याने अवगाहन-अशुद्ध पर्याय
↑	निरायुष्यत्व गुण याने अवगाहनत्व गुण	☐	तिर्यंचायुसहित याने अवगाहन-अशुद्ध पर्याय
↑	निरायुष्यत्व गुण याने अवगाहनत्व गुण	☐	नरकायुसहित याने अवगाहन-अशुद्ध पर्याय

(च) गुणदृष्टि

(च) भेदोपचारनय





(छ) पर्यायदृष्टि

(छ) भेदवृत्तिनय

यहाँ गुण अन्वयरूप है और पर्याय व्यतिरेकरूप है, इसलिये 'गुण' पर्यायों से **अन्य/अतद्भाव** है।

उसीतरह '**निर्गोत्रत्व गुण**' नीचगोत्रादि पर्यायों के साथ अनुवर्तन करता है, लेकिन 'नीचगोत्र पर्याय' गोत्ररहित पर्याय याने अगुरुलघु-शुद्ध पर्याय/सिद्ध पर्याय के साथ अनुवर्तन नहीं करती है।
देखो चार्ट नंबर ४४ →

चार्ट नं. ४४

ॐ

	गुण		पर्याय
	निर्गोत्रत्व गुण याने अगुरुलघुत्व गुण	▭	सिद्ध पर्याय/अगुरुलघु-शुद्ध पर्याय उच्चगोत्ररहित, नीचगोत्ररहित
↑	निर्गोत्रत्व गुण याने अगुरुलघुत्व गुण	▭	उच्चगोत्र पर्याय याने अगुरुलघु-अशुद्ध पर्याय
↑	निर्गोत्रत्व गुण याने अगुरुलघुत्व गुण	▭	नीचगोत्र पर्याय याने अगुरुलघु-अशुद्ध पर्याय

(च) गुणदृष्टि
(च) भेदोपचारनय





(छ) पर्यायदृष्टि
(छ) भेदवृत्तिनय

यहाँ गुण अन्वयरूप है और पर्याय व्यतिरिकरूप है, इसलिये 'गुण' पर्यायों से **अन्य/अतद्भाव** है।

उसीतरह '**वीर्यत्व गुण**' अनंतवीर्यादि पर्यायों के साथ अनुवर्तन करता है, लेकिन 'अनंतवीर्य पर्याय' अल्पवीर्य पर्याय के साथ अनुवर्तन नहीं करती है। देखो चार्ट नं. ४५ →

चार्ट नं. ४५

ॐ

	गुण		पर्याय
	वीर्यत्व गुण	▭	सिद्ध पर्याय अनंतवीर्य-शुद्ध अवस्था
↑	वीर्यत्व गुण	▭	अल्पवीर्य अवस्था

(च) गुणदृष्टि
(च) भेदोपचारनय





(छ) पर्यायदृष्टि
(छ) भेदवृत्तिनय

यहाँ गुण अन्वयरूप है और पर्याय व्यतिरिकरूप है, इसलिये 'गुण' पर्यायों से **अन्य/अतद्भाव** है।

उसीतरह '**निरंतरायत्व गुण**' अंतरायादि पर्यायों के साथ अनुवर्तन करता है, लेकिन 'लाभांतराय पर्याय' अंतरायरहित पर्याय के साथ अनुवर्तन नहीं करती है। देखो चार्ट नं. ४६ →

चार्ट नं. ४६

ॐ

गुण		पर्याय
निरंतरायत्व गुण	☐	सिद्ध पर्याय अंतरायरहित
↑ निरंतरायत्व गुण	☐	अंतरायसहित

(च) गुणदृष्टि

(च) भेदोपचारनय





(छ) पर्यायदृष्टि

(छ) भेदवृत्तिनय

यहाँ गुण अन्वयरूप है और पर्याय व्यतिरेकरूप है, इसलिये 'गुण' पर्यायों से **अन्य/अतद्भाव** है।

उसीतरह '**निर्नामत्व गुण**' सूक्ष्मत्वादि पर्यायों के साथ अनुवर्तन करता है, लेकिन 'सूक्ष्मत्व-शुद्ध पर्याय/सिद्ध पर्याय' नामकर्मसहित याने अशुद्ध पर्याय के साथ अनुवर्तन नहीं करती है। देखो चार्ट नंबर ४७ →

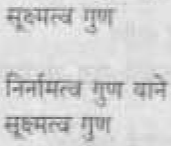
चार्ट नं. ४७

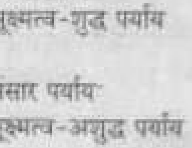
ॐ

गुण		पर्याय
निर्नामत्व गुण याने सूक्ष्मत्व गुण	☐	सिद्ध पर्याय सूक्ष्मत्व-शुद्ध पर्याय
↑ निर्नामत्व गुण याने सूक्ष्मत्व गुण	☐	संसार पर्याय सूक्ष्मत्व-अशुद्ध पर्याय

(च) गुणदृष्टि

(च) भेदोपचारनय





(छ) पर्यायदृष्टि

(छ) भेदवृत्तिनय

यहाँ गुण अन्वयरूप है और पर्याय व्यतिरेकरूप है, इसलिये 'गुण' पर्यायों से **अन्य/अतद्भाव** है।

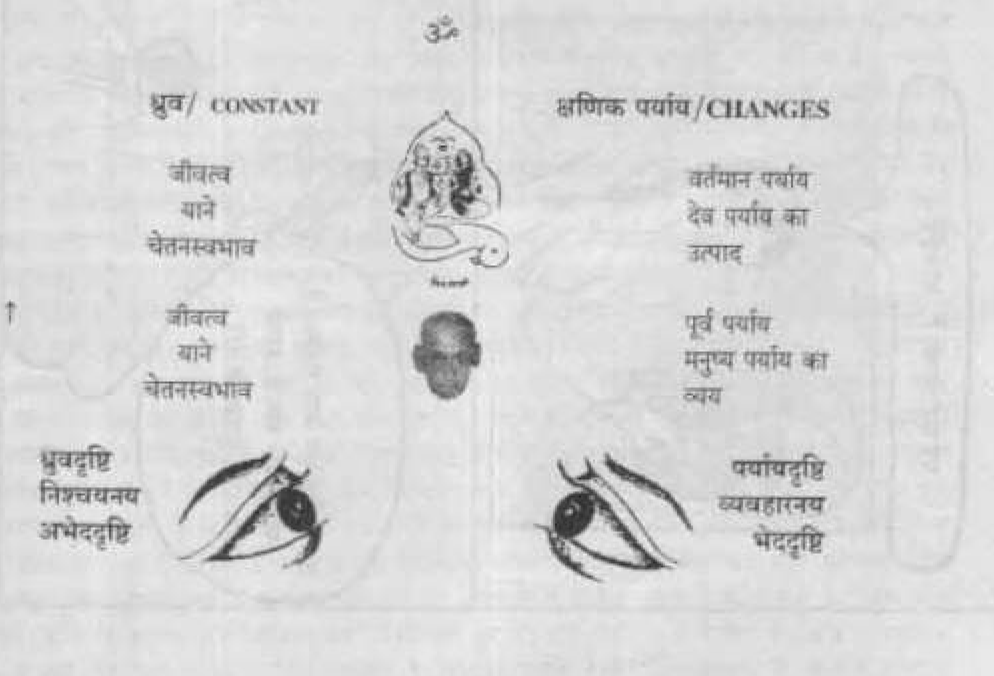
उसीतरह 'ज्ञानदर्शनश्रद्धानंदचारित्रवीर्यादि अनंतगुणों का पिंडरूप ध्रुव' उत्पाद-व्ययरूप व्यतिरेकवाली पर्यायों से अन्य/अतद्भाव है। उसीतरह 'निजध्रुवशुद्धात्मा' भी पर्यायों से अन्य है। 'गुणवत् द्रव्यं, पर्यायवत् द्रव्यं, गुणपर्यायवत् द्रव्यं, [श्लोकवार्तिक-अध्याय ५ वाँ, सूत्र नं ३८, श्लोक नं.२] उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' [तत्त्वार्थ. अध्याय-५ वाँ, सूत्र नं. ३०] इत्यादि आगम के वचन हैं।

[सत्त्व को दो प्रकारों में विभाजित करके दोनों के भी अनेकांतात्मक का कथन]

संस्कृत पृष्ठ नंबर ११४-११५, संस्कृत परिच्छेद नंबर ८१→

वह भी जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य इस प्रकार से संक्षेप से दो प्रकार का है। वे दोनों भी उत्पत्ति-विनाश-स्थितियोगी है, क्योंकि 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' है ऐसा तत्त्वार्थसूत्र-अध्याय ५ वाँ, सूत्र ३० में लिखा है। जैसे-जीवद्रव्य का स्वर्गप्रापक पुण्योदय रहने पर मनुष्य पर्याय का व्यय, देव पर्याय का उत्पाद और चेतनस्वभाव ध्रौव्य रहता है। यदि जीवद्रव्य का सर्वथा एकरूपत्व माना जाय, तो पुण्योदयवैफल्य होने का प्रसंग (दोष) आयेगा। यदि जीवद्रव्य को सर्वथा भेद माना जाय, तो पुण्यवान अन्य होगा और फलवान अन्य होगा; तब पुण्यसंपादन करना व्यर्थ होने का प्रसंग (दोष) आयेगा, क्योंकि परोपकार में भी आत्मसुकृत के लिये ही प्रवर्तन होता है। इससे जीव द्रव्यरूप से अभेद है और मनुष्य-देव पर्यायरूप से भेद है; इसतरह से प्रतिनियतनयनिरस्तविरोधरूप भेद और अभेद प्रामाणिक ही है।

विशेषार्थ – वह सत् भी जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य (आकाशद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य और पुद्गलद्रव्य) इसप्रकार संक्षेप से दो प्रकार का है। जीवद्रव्य, आकाशद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य और पुद्गलद्रव्य उत्पत्तिविनाशस्थितियुक्त हैं। क्योंकि 'सत् उत्पादव्ययध्रुवयुक्त है' ऐसा आगमवचन है। जैसे→





घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोकप्रमोदमाध्यस्थं जनो याति सहेतुकम् ॥

श्री स्वामी समंतभद्राचार्यरचित-आप्तमीमांसा श्लोक नं. ५९→

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थं जनो याति सहेतुकम्॥५९॥

अर्थ – सुवर्णघटार्थी, सुवर्णमुकुटार्थी और सुवर्णार्थी क्रमशः सुवर्णघट का नाश/व्यय होने पर शोक को, सुवर्णमुकुट के उत्पन्न होने पर हर्ष को और दोनों ही अवस्थाओं (पर्यायों) में सुवर्ण की स्थिति होने से माध्यस्थ भाव को प्राप्त होता है और यह सब सहेतुक होता है।

एक सुवर्ण का घट था। उस घट को तोडकर मुकुट बनाया। कोई तीन अव्रती जीव थे। लड़की को सुवर्ण का घट चाहिये था, लड़के को मुकुट चाहिए था। जब लड़की ने घट का व्यय/नाश देखा तो उसको दुःख हुआ। लड़के ने मुकुट का उत्पाद देखा तो लड़के को सुख/प्रमोद हुआ। पिताजी ने सुवर्णद्रव्य (ध्रुव) देखा तो पिताजी माध्यस्थ (दुःख और सुख से रहित) रहे।

घटार्थी जीव ने व्यय की दृष्टि से वह अशेषधर्मात्मक द्रव्य देखा, तो उसको दुःख हो गया। मुकुटार्थी जीव ने उत्पाद की दृष्टि से वही अशेषधर्मात्मक द्रव्य देखा, तो उसको सुख हो गया। सुवर्णद्रव्यार्थी जीव ने ध्रुव की दृष्टि से उसी अशेषधर्मात्मक द्रव्य को देखा, तो उसको माध्यस्थभाव हो गया।

पर्याय की दृष्टि से अपने आत्मद्रव्य को मैं मनुष्य, स्त्री, पुरुष, संसारी, छद्मस्थ, रागी, मोही, मुनि, अल्पज्ञ, इत्यादि पर्यायरूप देखने से सुख-दुःख होते हैं, आकुलता होती है, परमानंद नहीं होता है; और ध्रुव की दृष्टि से अपने आत्मद्रव्य को अर्थात् निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा को प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष ज्ञान से जानते समय निराकुल परमानंद होता है, समता/वीतरागता आती है, मोह-राग-द्वेष नहीं होते हैं।

संस्कृत पृष्ठ नंबर ११५, संस्कृत परिच्छेद नंबर ८२→

उसीतरह अजीवद्रव्य में भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सिद्ध है। जैसे- मिट्टी द्रव्य में भी मिट्टी के पिंडाकार का व्यय, पृथुबुध्नोदराकार का उत्पाद और मिट्टी के स्पर्श-रस-गंध-वर्णादि का ध्रुवत्व है। स्वामी समंतभद्राचार्य के अभिमतानुसारी वामन के भी सदुपदेश से पूर्व-अज्ञानस्वभाव का व्यय (नाश) करने के लिये और उपरितन अर्थज्ञानस्वभाव को स्वीकार करने के लिये जो आत्मा समर्थ है वह ही शास्त्राधिकारी है। वे वामन कहते हैं कि 'न शास्त्रमसद्द्रव्येष्वर्थवत्' याने शास्त्र असत् द्रव्यों में अर्थवान नहीं है। वह ही अनेकांतात्मक वस्तु है; क्योंकि प्रमाणवाक्य का विषय होने से अर्थपना से रहती है; और उसका अनुमानप्रयोग करते हैं कि, 'सर्व द्रव्यें अनेकांतात्मक हैं, क्योंकि सत्पना है। जो अनेकांतात्मक (साध्यरूप) नहीं, वह सत् (साधनरूप) नहीं; जैसे- आकाश का कमल।'

विशेषार्थ – उसीतरह पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन सभी अजीव द्रव्यों में भी उत्पादव्ययध्रौव्य है। चार्ट नंबर ३०, पृष्ठ नंबर ४६३ देखिए। पूर्व कुशूल पर्याय का व्यय और वर्तमान घट पर्याय का उत्पाद और स्पर्शरसगंधवर्णादि ध्रुव है। चार्ट नं. १९, चार्ट नं. २१ देखिए। प्रत्येक समय में पूर्व पर्याय का व्यय और वर्तमान पर्याय का उत्पाद और द्रव्य तथा गुण ध्रुव रहते हैं। इसतरह आकाशद्रव्य में प्रत्येक समय में पूर्व पर्याय का व्यय और वर्तमान पर्याय का उत्पाद और आकाशद्रव्य तथा उसके गुण ध्रुव हैं। इसतरह धर्मद्रव्य में प्रत्येक समय में पूर्व पर्याय का व्यय और वर्तमान पर्याय का उत्पाद और धर्मद्रव्य तथा उसके गुण ध्रुव हैं। इसतरह अधर्मद्रव्य में प्रत्येक समय में पूर्व पर्याय का व्यय और वर्तमान पर्याय का उत्पाद और अधर्मद्रव्य तथा उसके गुण ध्रुव है। इसतरह कालाणुद्रव्य में प्रत्येक समय में पूर्व पर्याय का व्यय और वर्तमान पर्याय का उत्पाद और कालाणुद्रव्य तथा उसके गुण ध्रुव हैं। जीवद्रव्य में प्रत्येक समय में पूर्व पर्याय का व्यय और वर्तमान पर्याय का उत्पाद और जीवद्रव्य तथा उसके गुण ध्रुव हैं। चार्ट नंबर २, चार्ट नंबर १९ देखिए। इसतरह द्रव्य में एक अंश ध्रुव और एक अंश क्षणिक हैं। इसीतरह सभी द्रव्यें अनेकांतात्मक हैं, क्योंकि सत्पना है। जो अनेकांतात्मक नहीं, वह सत् नहीं; जैसे- आकाश का कमल/पुष्प/फूल। वंध्या का पुत्र भी सत् नहीं,

खरगोश के सिंग भी सत् नहीं, गधे का सिंग भी सत् नहीं।

संस्कृत पृष्ठ नंबर ११५-११६, संस्कृत परिच्छेद नंबर ८३→

शंका – यद्यपि आकाश में कमल नहीं है, तथापि तालाब में कमल है। इस कारण से कमल से 'सत्त्व' इस हेतु की व्यावृत्ति नहीं होती है?

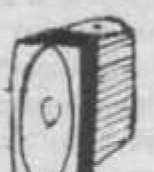
समाधान – तो फिर इस कमल में अधिकरणविशेष की अपेक्षा से सत्-असत्रूप अनेकांत के अन्वयदृष्टांत का वर्णन आपके द्वारा ही प्रतिपादन किया गया। इसतरह से आपके द्वारा संतोष मानना योग्य है।

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।' इस उदाहृत वाक्य से भी 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों के ऐक्य में मोक्षकारणपना ही है; संसारकारणपना नहीं' ऐसा विषयविभाग से 'कारणत्व है और कारणत्व नहीं' ऐसा प्रतिपादन किया गया है, क्योंकि सभी वाक्य सावधारण (एवकार अथवा ही से सहित) होते हैं, ऐसा न्याय है। इसतरह वस्तु अनेकांतात्मक है, यह प्रमाणसिद्ध है।

विशेषार्थ-शंका – यद्यपि आकाशद्रव्य द्वारा उत्पन्न किया हुआ कमल आकाश में नहीं तथापि तालाब में कमल है। इसलिये कमल में सत्पना है, कमल में सत्पना का अभाव नहीं। अर्थात् कमल से सत्त्व की व्यावृत्ति नहीं। तो फिर 'जो सत् है वह अनेकांतात्मक है' इस कथन के साथ सुसंवाद कैसे होगा?

समाधान – यद्यपि 'आकाश का कमल नहीं तथापि तालाब में कमल है' इसतरह कमल के अधिकरणविशेष की अपेक्षा से 'सत् (अस्ति/है/विद्यमान/सद्भाव) और असत् (नास्ति/नहीं/अविद्यमान/अभाव)' परस्पर विरुद्ध दो या अनेक धर्मों/अंशों का होने से अनेकांतस्वरूप की सिद्धि हो गयी।

इसतरह "(आ १) प्रमाण-मतिज्ञान अथवा (आ १) प्रमाण-श्रुतज्ञान अथवा (आ २) प्रमाण-केवलज्ञान अथवा (आ ३) प्रमाण–मनःपर्ययज्ञान अथवा (आ ४) प्रमाण-अवधिज्ञान अथवा (आ ५) प्रमाण-मतिज्ञान अथवा (आ ५) प्रमाण-श्रुतज्ञान साधन के द्वारा 'अस्ति और नास्ति' अर्थात् 'भाव और अभाव' रूप अनेकांत युगपत् प्रकाशित होते हैं" यह सिद्ध हो गया।

←  **(आ)**

प्रमाण-सकल

इसलिये 'निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा' को जाननेवाले (आ ५) प्रमाण-मतिज्ञान-अतींद्रिय प्रत्यक्षमतिज्ञान से 'भाव और अभाव' युगपत् प्रकाशित होते हैं। और

'निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा' को जाननेवाले (आ ५) प्रमाण-श्रुतज्ञान-अतींद्रिय प्रत्यक्षश्रुतज्ञान से 'भाव और अभाव' युगपत् प्रकाशित होते हैं।

यह ही बात **श्री कुंदकुंदाचार्यरचित समयपाहुड/समयसार गाथा नंबर ३८ में** कही है→

"अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तं पि॥३८॥"

अर्थ – मैं एक शुद्ध दर्शनज्ञानमय सदा अमूर्तिक हूँ; किंचित्मात्र भी अन्य परमाणुमात्र भी मेरा नहीं।

इसतरह (आ ५) प्रमाण-मतिज्ञान से अथवा (आ ५) प्रमाण-श्रुतज्ञान से 'भाव/अस्ति और अभाव/नास्ति' युगपत् प्रकाशित होते हैं।

जब '**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।' इस वाक्य को देखा तब 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता में मोक्षकारणपना ही है, संसारकारणपना नहीं' ऐसी 'अस्ति/भाव और नास्ति/अभाव' की प्रतीति हो गयी, क्योंकि सभी वाक्य एवकार/ही से सहित होते हैं।**

इसतरह 'वस्तु अनेकांतात्मक है' यह प्रमाणसिद्ध है।

[नय]

संस्कृत नंबर ११६-११७, संस्कृत परिच्छेद नंबर ८४→

[नय का स्वरूप और प्रकार रूप से निरूपण कर के सप्तभंगी का प्रतिपादन करते हैं।]

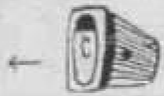
अब '(ब) नयों' का वर्णन करते हैं।

शंका – '(ब) नय' किसे कहते हैं?

समाधान – (आ) प्रमाण के द्वारा जाने हुए विषय (अर्थ) के एकदेश को जाननेवाले (ग्रहण करनेवाले) प्रमाता/ज्ञाता के अभिप्रायविशेषरूप ज्ञान पर्याय को नय कहते हैं।



(आ)
प्रमाण-सकल



(ब)
नय-विकल

नय-लघीयस्त्रय कारिका नंबर ५२ में कहा है कि 'ज्ञाता का अभिप्राय (ही) नय है।' वह नय संक्षेप से दो प्रकार के है– (१) द्रव्यार्थिकनय और (२) पर्यायार्थिकनय। उनमें→

(१) द्रव्यार्थिकनय→ (आ) प्रमाण साधन के द्वारा प्रतिपन्न जो 'द्रव्य-पर्यायरूप, एक-नानात्मक अनेकांतरूप' अर्थ (विषय) है; उसका विभाग करके उसमें से भेदरूप पर्यायार्थिकनय के विषय का गौणभाव से अवस्थानमात्र अभ्यनुजाननेवाला अपने विषयरूप द्रव्य के अभेद को ही जानता है, क्योंकि आगम में कहा है कि 'नयांतरसापेक्ष सत् नय होता है।' जैसे- 'सुवर्ण को लाओ।' यहाँ द्रव्यार्थिकनय के अभिप्राय से 'सुवर्णद्रव्य लाओ' ऐसे कथन (जानने) में कटक, कुंडल और केयूर को लानेवाला (गौण करनेवाला) '[(ब)→(क)] श्रुतनयज्ञान पर्याय/(ग) अभेदवृत्तिनयज्ञान पर्याय' साधन सुवर्णद्रव्य का 'अभेदद्रव्य/अभेद' का ग्रहण करने में कृतकृत्य होता है, क्योंकि सुवर्णरूप से कटकादिओं के भेद का अभाव है।

(२) पर्यायार्थिकनय → द्रव्यार्थिकनय को गौण करके प्रवर्तमान पर्यायार्थिकनय का अवलंबन करके 'कुंडल लाओ' ऐसे कथन (जानने) में 'कटकादि में' प्रवर्तन नहीं करता है; क्योंकि कटकादि पर्यायों से कुंडल पर्याय भिन्न हैं।

इसलिये

(१) द्रव्यार्थिकनय के अभिप्राय से सुवर्ण स्यात् एक ही है।

(२) पर्यायार्थिकनय के अभिप्राय से स्यात् अनेक (नाना) ही है।

(३) क्रम से उभयनय के अभिप्राय से स्यात् एक-नाना ही है।

(४) युगपत् उभयनय के अभिप्राय से स्यात् अवक्तव्य ही है; क्योंकि युगपत् प्राप्त दोनों नयों से विविक्तस्वरूप एकत्व और नानात्व इनमें विमर्श (विचार या कथन) असंभव है। जैसे- युगपत् उपनत (प्राप्त) दो शब्दों के द्वारा घट के प्रधानभूत विविक्तस्वरूप रूपवानपना और रसवानपना इन दो धर्मों का प्रतिपादन शक्य नहीं है।

यह इस अवक्तव्यस्वरूप का उन-उन अभिप्रायों के द्वारा उपनत (प्राप्त) एकत्वादिओं से समुचित है –

(५) स्यात् एक-अवक्तव्य है।

(६) स्यात् नाना-अव्यक्तव्य है।

(७) स्यात् एक-नाना-अवक्तव्य है।

वह यह नयविभागपरिपाटी ही सप्तभंगी कही जाती है; क्योंकि 'भंग शब्द में वस्तुस्वरूपभेदवाचकपना

होने से सात भंगों का समूह ही सप्तभंगी है ' ऐसा सिद्ध है।

विशेषार्थ – शंका→ ' (ब) नय ' साधन किसे कहते हैं ?

समाधान– आ→  (आ) प्रमाण श्रुतज्ञान के द्वारा जाने हुए विषय/अर्थ के

ब→  एकदेश को जाननेवाले/ज्ञान पर्याय को (ब) नय श्रुतनयज्ञान कहते हैं।

देखिए– **भावलिंगी श्री पूज्यपादाचार्यरचित सर्वार्थसिद्धि-अध्याय १ ला, सूत्र ६ की टीका→**

संस्कृत

'' अभ्यर्हितत्वात् प्रमाणस्य पूर्वनिपातः।

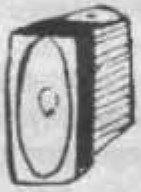
....

कुतः अभ्यर्हितत्वम् ?

नयप्ररूपणप्रभवयोनित्वात्। एवं ही उक्तं ' प्रगृह्य प्रमाणतः परिणतिविशेषात् अर्थावधारणं नयः ' इति। ''

हिंदी

अभ्यर्हितत्व (पूज्यपना) होने से प्रमाण शब्द (सूत्र में) पहले रखा है।

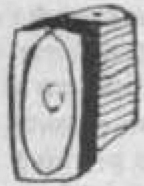


शंका – (आ) प्रमाणज्ञानपर्याय साधन में अभ्यर्हितपना/पूज्यपना क्यों है ?

→ समाधान–क्योंकि (आ) प्रमाण ज्ञानसाधन से ही



→ (ब) नय-श्रुतनयज्ञान की उत्पत्ति होती है। आगम में ऐसा कहा है कि→



→ ' (आ) प्रमाण से जानकर '



→ परिणतिविशेष से अर्थावधारण को ' (ब) नय ' कहते हैं।

और भी देखिए **भावलिंगी श्री अकलंकदेव आचार्यरचित तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक) – अध्याय १, सूत्र ६ की टीका→**

संस्कृत	हिंदी
"प्रमाणप्रकाशितेषु अर्थेषु नयप्रवृत्तेः व्यवहारहेतुत्वात् अभ्यर्हः ॥२॥ यतः प्रमाणप्रकाशितेषु अर्थेषु नयप्रवृत्तिः व्यवहारहेतुः भवति न अन्येषु अतः अस्य अभ्यर्हितत्वम्।	चार्ट नंबर २० देखिए। (आ) प्रमाण के द्वारा प्रकाशित अर्थों में नयप्रवृत्तिरूप व्यवहार-हेतुपना होने से (आ) प्रमाण पूज्य हैं। जिस कारण से (आ) प्रमाण के द्वारा प्रकाशित अर्थों में
	 ← '(ब)→ (क) नय अथवा
	 ← (ब)→(ख) नय 'श्रुतनयज्ञान की प्रवृत्ति व्यवहारहेतु होती है, अन्यों में व्यवहारहेतु नहीं होती है।
.... अथवा	अथवा
समुदायविषयं प्रमाणम् अवयवविषयाः नयाः इति प्रमाणस्य अभ्यर्हितत्वम्।"	समुदायविषय को प्रमाण कहते हैं। और उसके अवयव रूप विषय को नय कहते हैं। इसतरह प्रमाण का पूज्यपना है।

[यहाँ अध्यात्मन्यायदीपिका के पृष्ठ १२४ से १३० तक पढ़िए, चार्ट नंबर २० और चार्ट नं. ७ देखिए।]

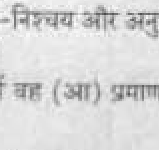
शंका – "**श्रुतभवनदीपकनयचक्र** में ऐसा लिखा है कि→

'**ननु प्रमाणलक्षणः यः असौ व्यवहारः सः व्यवहारनिश्चयमनुभयं च गृह्णन् अपि अधिकविषयत्वात् कथं न पूज्यतमः ? न एवं नयपक्षातीतं आत्मानं कर्तुमशक्यत्वात्।**'

अर्थ–प्रश्न– (आ) प्रमाणलक्षणरूप जो यह व्यवहार है वह व्यवहार-निश्चय और अनुभय को ग्रहण करनेवाला भी अधिक विषयपना होने से (ब) नय साधन से कैसे पूज्यतम नहीं ?

उत्तर – इसप्रकार नहीं है, क्योंकि आत्मा को नयपक्षातीत करने में वह (आ) प्रमाण समर्थ नहीं है।

तो फिर आप (आ५) प्रमाण मतिज्ञान साधन से अथवा (आ५) प्रमाण श्रुतज्ञान साधन से 'निजध्रुवशुद्धात्मा' को जाननेवाली ज्ञान पर्याय को शुद्धात्मानुभववाली ज्ञान पर्याय कैसे कहते हैं ? नयपक्षातीत कहकर 'निजध्रुवशुद्धात्मा' को जाननेवाला (क) नय श्रुतज्ञान साधन को शुद्धात्मानुभव ज्ञान पर्याय कहनी चाहिये ?"



(ब) नय-विकल्प

समाधान – आपने जो श्रुतभवनदीपकनयचक्र का उद्धरण दिया है उसका अर्थ और भावार्थ करने में भूल (चूक) की है। क्योंकि उसका योग्य अर्थ इस प्रकार है→

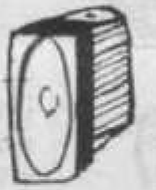
संस्कृत

[श्रुतभवनदीपकनयचक्र] ननु प्रमाणलक्षणः यः असौ व्यवहारः सः व्यवहार-निश्चयमनुभयं च गृह्णन् अपि अधिकविषयत्वात् कथं न पूज्यतमः ?

हिंदी

चार्ट नं. १९ और ७ देखिए

प्रश्न – (जि) प्रमाण लक्षण याने (जि) प्रमाण/निक्षेप/विषयवाला/ ज्ञेयवाला/ ध्येयवाला/अनुभाव्यवाला जो यह व्यवहार है वह 'व्यवहार-निश्चय और अनुभय' को ग्रहण करनेवाला भी अधिक विषय याने निक्षेप याने प्रमेय/ज्ञेय/ध्येय/ अनुभाव्यपना होने से कैसे पूज्यतम नहीं है ? [अर्थात् यहाँ विषय याने निक्षेप की चर्चा है, चार्ट नंबर १९ की चर्चा है, चार्ट नंबर २० के



→ '(आ) प्रमाण

अथवा



→ (ब) नय ज्ञान पर्याय ' साधन की चर्चा नहीं है।]

संस्कृत

न एवं,
नयपक्षातीतं आत्मानं कर्तुमशक्यत्वात्।

हिंदी

क्योंकि ' विषय ' यह शब्द संस्कृत में है।

उत्तर→

(जि) प्रमाण याने विषयवाला/निक्षेपवाला

[(जि) प्रमाण] = [निश्चयनय + व्यवहारनय + अनुभय]

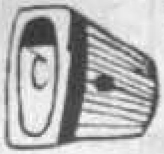
अथवा

(जि) प्रमाण विषय	=	निश्चयनय + व्यवहारनय विषय

यहाँ (आ) प्रमाण नहीं है।

इसतरह शुद्धात्मानुभूति में (जि) प्रमाणवाला विषय लेना ठीक नहीं है, क्योंकि (जि) प्रमाण याने निश्चयव्यवहार का संकलनवाला विषय लेने पर आत्मा को नयपक्षातीत (शुद्धात्मानुभव) करना शक्य नहीं।

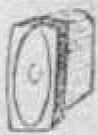
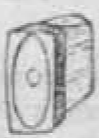
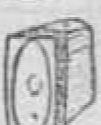
ऐसा ही अर्थ योग्य अर्थ है, क्योंकि उस श्रुतभवनदीपकनयचक्र के उद्धरण के पूर्व में उसी **श्रुतभवनदीपकनयचक्र (प्रथम अध्याय)** में ऐसा लिखा है कि→

संस्कृत		हिंदी
एवं आत्मा यावत् <u>व्यवहारनिश्चयाभ्यां</u> <u>तत्त्वं</u> अनुभवति तावत् परोक्षानुभूतिः।		इसप्रकार आत्मा जब तक → (अ) नय व्यवहारनयज्ञान साधन के द्वारा अथवा (ब) नय निश्चयनयज्ञान साधन के द्वारा 'तत्त्व/निजध्रुवशुद्धात्मा' का अनुभव करता है तब तक वह <u>परोक्ष</u> ही अनुभव है (अर्थात् प्रत्यक्ष नहीं)।
प्रत्यक्षानुभूतिः नयपक्षातीता।		नयपक्षातीत होना याने प्रत्यक्ष अनुभव करना याने प्रत्यक्ष जानना।

परोक्ष ज्ञान और प्रत्यक्ष ज्ञान ये ज्ञान के पर्यायधर्म हैं।

परोक्ष ज्ञान और प्रत्यक्ष ज्ञान ये ज्ञेय/विषय/निक्षेप के भेद अथवा धर्म नहीं। क्योंकि '**प्रमाणनयैः अधिगमः**' यह सूत्र [तत्त्वार्थसूत्र-अध्याय १, सूत्र नं. ६] **ज्ञानसाधनों का वर्णन** करता है। और '**नामस्थापना-द्रव्यभावतस्तन्न्यासः**' यह सूत्र [तत्त्वार्थसूत्र-अध्याय १, सूत्र नं. ५] **निक्षेप/विषय/ज्ञेय का वर्णन** करता है।

'शुद्धनिश्चय याने निजध्रुवशुद्धात्मा' को जानने का साधन जब '(आ ५) प्रमाण-मतिज्ञान अथवा (आ ५) प्रमाण-श्रुतज्ञान है, तब शुद्धात्मानुभव होता है।'

विषय	साधन		
शुद्धनिश्चयनय याने निजध्रुवशुद्धात्मा याने (ग) अभेदवृत्तिनय		(क) श्रुतनयज्ञान यह परोक्ष ज्ञान ही होता है, यह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं।	} यह परोक्ष ज्ञान है, यह शुद्धात्मानुभव नहीं।
शुद्धनिश्चयनय याने निजध्रुवशुद्धात्मा याने (ग) अभेदवृत्तिनय		(आ १) प्रमाण-मतिज्ञान-परोक्ष ज्ञान है।	} यह शुद्धात्मानुभव नहीं।
शुद्धनिश्चयनय याने निजध्रुवशुद्धात्मा याने (ग) अभेदवृत्तिनय		(आ १) प्रमाण-श्रुतज्ञान-परोक्ष ज्ञान है।	} यह शुद्धात्मानुभव नहीं।
शुद्धनिश्चयनय याने निजध्रुवशुद्धात्मा याने (ग) अभेदवृत्तिनय		(आ ५) प्रमाण मतिज्ञान-अतींद्रिय प्रत्यक्ष है, प्रामाण्यसहित है।	} यह शुद्धात्मानुभव है।
शुद्धनिश्चयनय याने निजध्रुवशुद्धात्मा याने (ग) अभेदवृत्तिनय		(आ ५) प्रमाण-श्रुतज्ञान-अतींद्रिय प्रत्यक्ष है, प्रामाण्यसहित है।	} यह शुद्धात्मानुभव है।

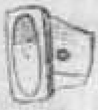
शुद्धनिश्चयनय याने
निजध्रुवशुद्धात्मा याने
(ग) अभेदवृत्तिनय

←इस विषय को



(ख) श्रुतनय ज्ञान साधन के द्वारा जानने में नहीं आता; क्योंकि इस साधन का विषय (च) भेदोपचार अथवा (छ) भेदवृत्ति है। यह (ख) श्रुतनय ज्ञान साधन परोक्ष ज्ञान ही है, प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं।

इसतरह (च) श्रुतनयज्ञान साधन के



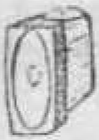
(क') श्रुतनयज्ञान साधन याने नय/प्रमाणवाक्यज्ञान साधन और



(ख') श्रुतनयज्ञान साधन याने धर्म/नयवाक्यज्ञान साधन ये दो भेद हैं। ये दोनों परोक्ष ज्ञान ही हैं, प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं।

शंका – 'निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा' को जानते समय नयपक्षातीत होकर कैसे जाने? अथवा कल्पातीत कैसे हो जावे?

समाधान – छद्मस्थ जीव का दर्शनोपयोग (निराकारोपयोग) पूर्वक ही ज्ञानोपयोग होता है। और दर्शनोपयोग के पश्चात् मतिज्ञान होता है। (पृष्ठ ४८५ पर देखिए)।



(आ) मतिज्ञानपूर्वक



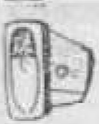
(आ) श्रुतज्ञान होता है। और



(आ) श्रुतज्ञानपूर्वक



(क) श्रुतनयज्ञान अथवा



(ख) श्रुतनयज्ञान होता है।

छद्मस्थ जीव में चेतनोपयोग एक विषय को छोड़कर अन्य विषय के तरफ जब जाता है तब प्रथम निराकारोपयोग याने दर्शनोपयोग होता है। इसलिये यहाँ चार्ट नं. ४८ देखिए। चार्ट नीचे से ऊपर देखिए।

टीप – (१) (क) श्रुतनयज्ञान के विषय (ग) अभेदवृत्ति अथवा अभेदोपचार हैं।
(२) (ख) श्रुतनयज्ञान के विषय (छ) भेदोपचार अथवा भेदवृत्ति हैं।

चार्ट नंबर ४८

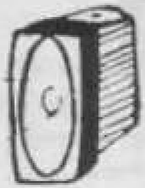
	स्व	अर्थ	
(ब) ज्ञानोपयोग-श्रुतनयज्ञान	मैं	अल्पज्ञ हूं।	जल्प
(आ १) ज्ञानोपयोग-श्रुतज्ञान	मैं	यह अल्पज्ञ हूं।	↑
(आ १) ज्ञानोपयोग-मतिज्ञान	मैं	यह अल्पज्ञ हूं।	↑
दर्शनोपयोग	मैं		↑
ज्ञानोपयोग	मैं	यह भूमि जानता हूं।	↑
दर्शनोपयोग	मैं		↑

	स्व	अर्थ		
(ब) ज्ञानोपयोग-श्रुतनयज्ञान	मैं	निजध्रुवज्ञानानंद हूं।	जल्प	
(आ ५) ज्ञानोपयोग स्वानुभव प्रत्यक्ष श्रुतज्ञान	मैं	यह निजध्रुवज्ञानानंद हूं।	↑	नयपक्षातीत
(आ ५) ज्ञानोपयोग स्वानुभव प्रत्यक्ष मतिज्ञान	मैं	यह निजध्रुवज्ञानानंद हूं।	↑	
दर्शनोपयोग	मैं		↑	
ज्ञानोपयोग	मैं	यह भूमि जानता हूं।	↑	
दर्शनोपयोग	मैं		↑	

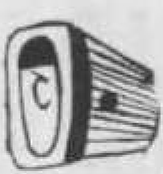
इसतरह जब 'मैं निजध्रुवशुद्धात्मा हूँ' जला होता था तब उस विषय को छोड़कर 'भूमि' जानने के लिये उपयोग बदल दिया। फिर 'निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा याने निजसत्शुद्धचिदात्मा' की तरफ चेतनोपयोग लगाया तो प्रथम दर्शनोपयोग/निराकारोपयोग हो गया। पश्चात् 'निजध्रुवशुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा याने निजसत्शुद्धचिदात्मा' को जाना तब (आ ५) प्रमाण-मतिज्ञान पर्याय हो गई। यह मतिज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है, नयातीत है, क्योंकि मतिज्ञान में 'नय' नहीं; और उस समय स्मृति या प्रत्यभिज्ञान या तर्कज्ञान या अनुमान ज्ञानपर्याय नहीं है, क्योंकि 'यह' (इदंता) उल्लेखीरूप से जाना है; इसलिये पक्षातीत है। अर्थात्



"मैंने मतिज्ञान-अतींद्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान (आ ५) के द्वारा 'निजध्रुव-शुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा' को जाना और यह मेरा जानना सत्यज्ञान ही है" ऐसा जाना याने प्रामाण्यसहित प्रत्यक्ष जाना। चार्ट नंबर ४८ देखिए और स्वयं प्रयोग करके देखिए।

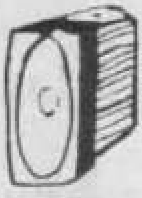


मैंने श्रुतज्ञान-अतींद्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान (आ ५) के द्वारा 'निजध्रुव-शुद्धज्ञानदर्शनानंदात्मा' को जाना। उसके पश्चात्



श्रुतनयज्ञान (ब)-(क) हो गया, यह श्रुतनयज्ञानसाधन (ब) शुद्धात्मानुभव नहीं; उसके पहले वाले (आ ५) मतिज्ञान शुद्धात्मानुभव है और (आ ५) श्रुतज्ञान शुद्धात्मानुभव है।

शंका – 'निजध्रुवशुद्धात्मा' का



'(आ ५) मतिज्ञान' के द्वारा शुद्धात्मानुभव होता नहीं, ऐसा मानेंगे तो क्या बाधा आती है?

समाधान – भावलिंगी श्री गुणभद्राचार्यरचित-कसायपाहुड ग्रंथ के साथ और भावलिंगी श्री यतिवृषभाचार्य-रचितचूर्णिसूत्र के साथ और जयधवल-टीका के साथ विरोध आएगा, श्री अमृतचंद्राचार्य, श्री जयसेनाचार्यादि रचित अध्यात्म ग्रंथों के साथ विरोध आएगा। जैसे-

कसायपाहुड-जयधवल-पुस्तक १२, पृष्ठ ३०४-३०५→

''सागारे पट्ठवगो निट्ठवगो मज्झिमो य भजियव्वो।
जोगे अण्णदरह्मि य जहण्णगो तेउलेस्साए॥९८॥''

इत्यादि [अध्यात्मन्यायदीपिका पृष्ठ १३६ - १३७ पर उद्धरण और अर्थ दिया है, वहाँ देखिए।]
यहाँ चार्ट नंबर ४९ देखिए। चार्ट नीचे से ऊपर देखिए।

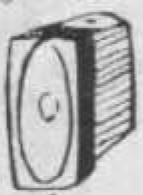
चार्ट नंबर ४९

प्रथमोपशम सम्यग्दर्शन प्रथम समय	☐	↑	साकार ज्ञानोपयोग-मतिज्ञान (आ ५)
मिथ्यात्व, अनिवृत्तिकरणलब्धि निष्ठापक-अंत्यसमय	☐	↑	दर्शनोपयोग/निराकारोपयोग
मिथ्यात्व, अनिवृत्तिकरणलब्धि	☐	↑	
मिथ्यात्व, अपूर्वकरणलब्धि	☐	↑	
मिथ्यात्व, अपूर्वकरणलब्धि	☐	↑	
मिथ्यात्व, अपूर्वकरणलब्धि	☐	↑	
मिथ्यात्व, अधःकरणलब्धि	☐	↑	
मिथ्यात्व, अधःकरणलब्धि	☐	↑	
मिथ्यात्व, अधःकरणलब्धि	☐	↑	
मिथ्यात्व, अधःकरणलब्धि प्रस्थापक	☐	↑	साकार ज्ञानोपयोग

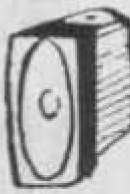
इसतरह **कसायपाहुड-जयधवला** के आधार से शुद्धात्मानुभव के समय में '(आ ५)-मतिज्ञान' की सिद्धि हो गयी।

इसी तरह अध्यात्मन्यायदीपिका पृष्ठ नंबर १३१ से १३८ तक अनेकों उद्धरण देकर सिद्ध किया है कि '(आ ५)-मतिज्ञान' इस ज्ञान साधन के द्वारा 'निजध्रुवशुद्धात्मा' का शुद्धात्मानुभव होता है। उनको न मानने से शुद्धात्मानुभव नहीं होगा और निश्चयसम्यग्दर्शन नहीं होगा और मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का उपशम भी नहीं होगा, फिर मिथ्यात्वादि सात प्रकृतियों का क्षयोपशम भी नहीं होगा। इत्यादि। शुद्धात्मानुभव नहीं होने से सम्यक्-अतींद्रिय-आनंद भी नहीं होगा। **दुराग्रह करने से मोक्षमार्ग नहीं होगा।** मोक्ष की प्राप्ति भी नहीं होगी।

(१) द्रव्यार्थिकनय-(आ) प्रमाण साधन के द्वारा प्रतिपन्न जो 'द्रव्य-पर्यायरूप, एक-नाना, अनेकांतवाला' अर्थ (विषय) है; उसका विभाग करके उसमें से भेदरूप पर्यायार्थिकनय के विषय का गौणभाव/तिरोभाव [लोप न करते हुए गौण] करके अपने विषयरूप द्रव्य के अभेद को जानता है। अर्थात् समझ लीजिए→



(आ ५) प्रमाण-मतिज्ञान-अतींद्रिय प्रत्यक्ष मतिज्ञान के द्वारा 'निजध्रुवशुद्धात्मा' को 'भाव और अभाव' रूप से युगपत् जाना। उसके पश्चात्

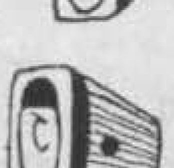


(आ ५) प्रमाण-श्रुतज्ञान-अतींद्रिय प्रत्यक्ष श्रुतज्ञान के द्वारा 'निजध्रुवशुद्ध-ज्ञानदर्शनानंदात्मा' को 'भाव और अभाव' रूप से युगपत् जाना [पृष्ठ नंबर ४४०] उसके पश्चात्

उस जीव ने कथन किया कि 'निजध्रुवशुद्धात्मा है।' अर्थात् इस समय

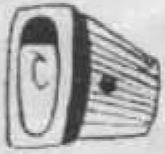


(आ ५) प्रमाण श्रुतज्ञान के द्वारा प्रकाशित किये हुए ['निजध्रुवशुद्धात्मा है, अन्य नहीं' इस] अर्थ के 'द्रव्य (ध्रुवात्मा) तथा पर्याय (याने निज-तिर्यक्‌विशेष)' इत्यादि में से "ध्रुववान अस्ति (ध्रुववान है)" इस एक ही भंग को जाना याने



(क) श्रुतनयज्ञान साधन से जाना और कथन/वचन हो गया; अन्य भंगों (अन्य सापेक्ष भंगों) को गौण किया। इसतरह द्रव्य के अभेद (अभेदवृत्ति) को जानता है। [क्योंकि देखिए **आलापपद्धति और श्लोकवार्तिक**-अध्याय १ ला, सूत्र ६ की टीका में-श्लोक नंबर १८ से २० तक और गद्य टीका उद्धरण अध्यात्मन्यायदीपिका पृष्ठ १२४ से १२६ तक देखिए।]

जैसे- 'सुवर्ण को लाओ।' यहाँ द्रव्यार्थिकनय के अभिप्राय से 'सुवर्णद्रव्य लाओ' ऐसे जानने में कटक, कुंडल और केयूर को गौण करनेवाला



'(क) श्रुतनयज्ञानपर्याय/(ग) अभेदवृत्तिनयज्ञानपर्याय' साधन सुवर्णद्रव्य को 'अभेदद्रव्य/अभेद' रूप का ग्रहण करने में कृतकृत्य होता है; क्योंकि सुवर्णरूप से कटकादिक के भेद का अभाव है।

(२) पर्यायार्थिकनय – द्रव्यार्थिकनय को गौण करके प्रवर्तमान पर्यायार्थिकनय का अवलंबन करके 'कुंडल लाओ' ऐसा जानने पर 'कटक, केयूर आदि' को नहीं जानता; क्योंकि कटकादि पर्यायों से कुंडलपर्याय भिन्न है। जैसे- 'मनुष्यपर्यायवाला' ऐसा पर्यायार्थिकनय से

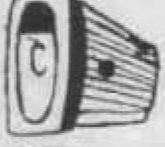


'(क) श्रुतनयज्ञानपर्याय/(घ) अभेदोपचारनयज्ञानपर्याय' साधन जीव को 'अभेदोपचार/पर्यायवान' रूप का ग्रहण करने में कृतकृत्य होता है; क्योंकि 'देवपर्याय, तिर्यंचपर्याय, नरकपर्यायों' से मनुष्यपर्याय भिन्न है।

इसलिये  (क) श्रुतनयज्ञानपर्याय साधन के प्रकार→



क – (१) स्यात् अस्तिवान।



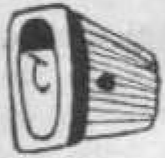
क – (२) स्यात् नास्तिवान।



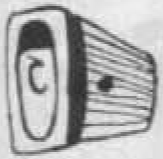
क – (३) स्यात् अवक्तव्यवान।



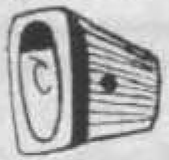
क – (४) स्यात् अस्तिनास्तिवान।



क – (५) स्यात् अस्ति-अवक्तव्यवान।



क – (६) स्यात् नास्ति-अवक्तव्यवान।



क – (७) स्यात् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्यवान।

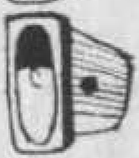
इसीतरह  (ख) श्रुतनयज्ञानपर्याय साधन के प्रकार→



ख – (१) स्यात् अस्ति।



ख – (२) स्यात् नास्ति।



ख – (३) स्यात् अवक्तव्य।



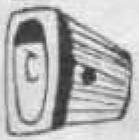
ख – (४) स्यात् अस्तिनास्ति।



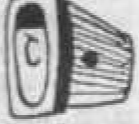
ख – (५) स्यात् अस्ति-अवक्तव्य।



ख – (६) स्यात् नास्ति-अवक्तव्य।

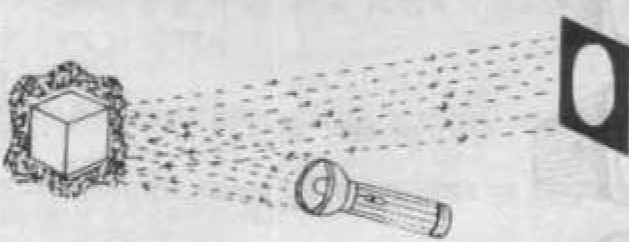


ख – (७) स्यात् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य।

ऐसे ये  '(क) श्रुतनयज्ञानपर्याय/प्रमाणवाक्य साधन' और



'(ख) श्रुतनयज्ञानपर्याय/नयवाक्य साधन' नयज्ञानपर्यायें हैं। ये निक्षेप/विषय नहीं हैं। [निक्षेप के वर्णन में साधन का वर्णन न मिलाना और साधन के वर्णन में निक्षेप का वर्णन न मिलाना, क्योंकि निक्षेप अन्य/अलग है और साधन अन्य/अलग है। प्रमेय अलग है, प्रमाण अलग है। ज्ञेय अलग है, ज्ञान अलग है।]



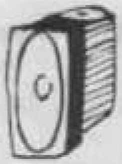
संस्कृत पृष्ठ नंबर ११७, संस्कृत परिच्छेद नंबर ८५ →

शंका – एक वस्तु में सात भंग कैसे संभव (शक्य) हैं? [अर्थात् एक (आ) प्रमाण साधन के द्वारा जाने हुए अर्थ (विषय) में सात भंग कैसे हैं?]

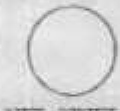
समाधान – जिस तरह एक ही घट में 'रूपवान घट है, रसवान घट है, गंधवान घट है, स्पर्शवान घट है' ऐसा पृथक्व्यवहारनिबंधनरूप रूपवानपना आदि स्वरूपभेद रहते हैं। उसी तरह

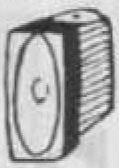
'(आ) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञानसाधन  **' में युगपत् 'भाव, अभाव, अवक्तव्य,**

भावाभाव, भाव-अवक्तव्य, अभाव-अवक्तव्य और भाव-अभाव-अवक्तव्य' ये सात भंग संभव (शक्य) है, ऐसा आपके द्वारा संतोष मानना योग्य है।

विशेषार्थ→ शंका– एक  '(आ) प्रमाण-श्रुतज्ञान साधन' के द्वारा जाने हुए (प्रकाशित हुए) अर्थ (विषय) में सात भंग कैसे हैं?

समाधान– जिस तरह एक ही घट में 'रूपवान घट है, रसवान घट है, गंधवान घट है, स्पर्शवान घट है' ऐसा पृथक्व्यवहारनिबंधनरूप रूपवानपना आदि स्वरूपभेद रहते हैं।

उसी तरह '(आ) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान साधन'  में युगपत् 'भाव, अभाव, अवक्तव्य, भावाभाव, भाव-अवक्तव्य, अभाव-अवक्तव्य और भाव-अभाव-अवक्तव्य' ये संभव (शक्य) है; क्योंकि श्री पूज्यपाद आचार्यरचित **सर्वार्थसिद्धि**-अध्याय १, सूत्र ६ की टीका में कहा है कि, '**नयप्ररूपण-प्रभवयोनित्वात्**' याने



'(आ) प्रमाण श्रुतज्ञान' से



'(क) श्रुतनयज्ञान' और



'(ख) श्रुतनयज्ञान' उत्पन्न होते हैं।

ये ज्ञानपर्याय साधन के प्रकार हैं, विषय/निक्षेप के प्रकार नहीं है। निक्षेप/विषय के प्रकार अलग हैं। [कृपया देखिए- **न्यायकुमुदचंद्र भाग नं. २, श्लोक नंबर ५२ की टीका, पृष्ठ ६५७** →

'......प्रदीपार्थयोः प्रकाश्यप्रकाशकभाववत् ज्ञानार्थयोः विषयविषयिभावस्य समर्थितत्वात्।' याने विषय को प्रकाश्य/अर्थ कहा है और ज्ञान को प्रकाशक/प्रदीप कहा है।]

निक्षेप/ज्ञेय वस्तु में भी

(१) स्यात् अस्ति (भाव) है।

(२) स्यात् नास्ति (अभाव) है।

(३) स्यात् अवक्तव्य है।

(४) स्यात् अस्ति-नास्ति (भावाभाव) है।

(५) स्यात् अस्ति-अवक्तव्य (भाव-अवक्तव्य) है।
(६) स्यात् नास्ति-अवक्तव्य (अभाव-अवक्तव्य) है।
(७) स्यात् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य (भावाभाव-अवक्तव्य) है; ये सात धर्म हैं। ये सात ' निक्षेप/ज्ञेय/प्रकाश्य हैं, ' ज्ञानसाधन (प्रकाशनसाधन) नहीं।

संस्कृत पृष्ठ नंबर ११७, संस्कृत परिच्छेद नंबर ८६ →

इसप्रकार से ही परमद्रव्यार्थिकनय (शुद्धसंग्रहनय) के अभिप्राय का विषय परमद्रव्य-सत्ता (महासामान्य-सत्ता) है। उस की अपेक्षा से '' एक ही अद्वितीय ब्रह्म है, यहाँ नाना कुछ नहीं '' ऐसा है; क्योंकि सत् रूप से चेतन और अचेतन में भेद का अभाव है। यदि भेद माना जाय तो सत्पना से भिन्न हो जाने से उन चेतन और अचेतन का असत्पना होने का दोष आयेगा।

विशेषार्थ– आगमभाषा के शुद्धसंग्रहनय के अभिप्राय का विषय महासामान्य सत्ता है। उसकी अपेक्षा से ' एक ही महासत्ता है, नाना कुछ नहीं। ' क्योंकि सत्-सत्-सत्-सत्-सत्-सत् रूप से जीव सत् है, वैसे पुद्गल सत् है, वैसे धर्मद्रव्य सत् है, अधर्मद्रव्य सत् है, कालद्रव्य सत् है, आकाशद्रव्य सत् है। इसतरह जीव और अजीव इनमें भेद का अभाव है। यदि सत् से सर्वथा भेद मानेंगे तो सत्पना से भिन्न हो जाने से उन चेतन और अचेतन द्रव्यों का अभाव होने का दोष आयेगा। लेकिन ऐसा नहीं है। ये द्रव्य सत् हैं। वह महासत्ता है। यह आगमभाषा का द्रव्यार्थिकनय है लेकिन यह नय अध्यात्मभाषा में व्यवहारनय है।

संस्कृत पृष्ठ नंबर ११७-११८, संस्कृत परिच्छेद नंबर ८७→

लेकिन ऋजुसूत्रनय परमपर्यायार्थिक है। वह भूतत्व से और भविष्यत्व से अपरामृष्ट शुद्ध वर्तमानकाल अवच्छिन्न/व्याप्त वस्तुस्वरूप को परामर्श करता है। उस नय के अभिप्राय से बौद्धाभिमत क्षणिकत्व की सिद्धि होती है। [चार्ट नंबर ७ और २० देखिए।]

क और ख

  ये नयाभिप्राय सकल-स्वविषय-अंशात्मक अनेकांतरूप से

 (आ) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञानसाधन से जाने हुए विषय का विभाग कर जानते हैं। जैसे→

(१) द्रव्यरूप से वस्तु स्यात् एक ही है याने नाना नहीं और
(२) पर्यायरूप से वस्तु स्यात् नाना ही है याने एक नहीं है।

वह ही श्री आचार्य समंतभद्र स्वामी के द्वारा रचित बृहद्स्वयंभूस्तोत्र श्लोक नंबर १०३ में इस-तरह प्रतिपादन किया है कि '' भो जिन! आपके मत में अनेकान्त भी →

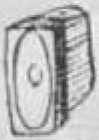
'  (आ) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञानपर्याय साधन और

'  (ब) नय-विकलादेशी ज्ञानपर्याय साधन इन दो साधनों' के द्वारा अनेकांतमय है; क्योंकि

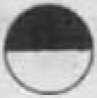
'  (आ) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञानपर्याय साधन से ' अनेकांत है और

 [(ब)–(क)] अथवा  [(ब)–(ख)]

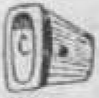
अर्पितनयज्ञान/श्रुतनयज्ञानपर्याय साधन से एकांत (सप्तभंगी में से एक ही भंग) है।''



(आ) प्रमाण-सकलादेशी याने (आ १) प्रमाण अथवा (आ २) प्रमाण अथवा (आ ३) प्रमाण अथवा (आ ४) प्रमाण अथवा (आ ५) प्रमाण के सकलादेशी ज्ञान-साधन में अनियतानेकधर्मवान वस्तु का विषयपना है।
[ऐसा कहा है कि 'अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं.....'] और



(ब) नय-विकलादेशी याने



[(ब)-(क)] (क) प्रमाणवाक्य-श्रुतनयज्ञान

अथवा



[(ब)-(ख)] (ख) नयवाक्य-श्रुतनयज्ञान साधन में नियत एक धर्मवान वस्तुविषयपना है।

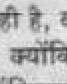
[ऐसा कहा है कि '...... तदंशधीः।
नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्नयस्तन्निराकृतिः।']

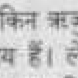
यदि इस आर्हती मत को उल्लंघन/छोड़कर सर्वथा एक ही अद्वितीय ब्रह्म है, यहाँ नाना कुछ नहीं, कथंचित् भी नाना कुछ नहीं, ऐसा आग्रह हो तो यह अर्थाभास है और इसका प्रतिपादक वचन भी आगमाभास है; क्योंकि प्रत्यक्ष से बाधितविषयपना है और 'सत्य भिन्न है, तत्त्व भिन्न है' इत्यादि आगमवचन से बाधितविषयपना है।

'सर्वथा भेद ही है, कथंचित् भी अभेद नहीं' इस मान्यता में भी वैसा ही अर्थाभास और आगमाभास जानने योग्य है; क्योंकि सद्रूप से भी (द्रव्य का) भेद मानेंगे तो असत् का प्रसंग (दोष) आता है और उसमें अर्थक्रियाकारित्व शक्य नहीं है।

विशेषार्थ– लेकिन ऋजुसूत्रनय एक समयवर्ती पर्याय का वर्णन करता है।

ये निक्षेप में नय हैं। लेकिन इस न्यायदीपिका/अध्यात्मन्यायदीपिका में '(आ) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान-साधन', और (ब) नय-विकलादेशी ज्ञान-साधन की चर्चा मुख्यरूप से कही है, क्योंकि पीठिका में 'प्रमाणनयैः अधिगमः' इसकी चर्चा का उल्लेख है।

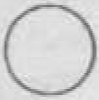
'  (आ) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान-श्रुतज्ञानपर्याय साधन योनि है' और उससे

'  (क) श्रुतनयज्ञान' और

'  (ख) श्रुतनयज्ञान' उत्पन्न होते हैं। ऐसा सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक और आलापपद्धति आदि ग्रंथों में लिखा है।

वही श्री समंतभद्राचार्य के द्वारा रचित-बृहत्स्वयंभूस्तोत्र, श्लोक १०३ में इसतरह प्रतिपादन किया है कि→

"भो जिन! आपके मत में अनेकांत भी→


(आ) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञानपर्याय साधन और

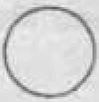

(ब) नय-विकलादेशी ज्ञानपर्याय साधन इन दो साधनों' के द्वारा अनेकांतमय है; क्योंकि


(आ) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञानपर्याय साधन से अनेकांत है और


[(ब)-(क)] अथवा

[(ब)-(ख)]

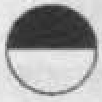
अर्पितनयज्ञान/श्रुतनयज्ञान साधन से एकांत [सप्तभंगी में से एक ही भंग] है'।" कृपया पृष्ठ नं ४८८ से ४९१ तक देखिए।


(आ) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान याने
(आ १) प्रमाण-मतिज्ञान अथवा
(आ १) प्रमाण-श्रुतज्ञान अथवा
(आ २) प्रमाण-केवलज्ञान अथवा
(आ ३) प्रमाण-मन:पर्ययज्ञान अथवा
(आ ४) प्रमाण-अवधिज्ञान अथवा
(आ ५) प्रमाण-मतिज्ञान अथवा
(आ ५) प्रमाण-श्रुतज्ञान

साधन में 'अनियत अनेक धर्मवान वस्तुविषयपना' है। क्योंकि आगम में ऐसा कहा है कि, '**अर्थस्य अनेकरूपस्य धी: प्रमाणं....**' याने अर्थ के अनेकरूप को जाननेवाली बुद्धि/ज्ञानपर्याय

को प्रमाण याने '

(आ) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञान ' कहते हैं। और


(ब) नय-विकलादेशी ज्ञान याने


[(ब)-(क)] (क) प्रमाणवाक्य-श्रुतनयज्ञान
और

[(ब)-(ख)] (ख) नयवाक्य-श्रुतनयज्ञान

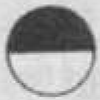
साधन में 'नियत एक धर्मवान वस्तुविषयपना' है।

क्योंकि ऐसा कहा है कि –

'.......... .... **तदंशधी:।**
नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्नयस्तन्निराकृति:॥ ' याने उस



'(आ) प्रमाण-सकलादेशी' के अंश को जाननेवाली बुद्धि/ज्ञानपर्याय को नय याने



'(ब) नय-विकलादेशी ज्ञान' कहते हैं।

ऐसा अर्थ किया है। उसके लिये आधार/संदर्भ→

बृहद्स्वयंभूस्तोत्र की श्री **प्रभाचंद्राचार्य** रचित टीका में [श्लोक नंबर १०३ की टीका में] '**प्रमाणनयसाधनः**' **इस पद (शब्द) का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है कि→**

"प्रमाणनयसाधनः प्रमाणे च नयाः च साधनं यस्य।"

यहाँ 'प्रमाणे' यह प्रमाण शब्द के प्रथमा विभक्ति का द्विवचन है। इसलिये 'प्रमाण' का '(अ) प्रमाण-प्रत्यक्ष ज्ञान और (आ) प्रमाण-परोक्ष ज्ञान' ऐसा अर्थ होता है। और 'नयाः' यह शब्द नयशब्द के प्रथमा विभक्ति का बहुवचन है।

उस अर्थ का उपसंहार (संकोच) करते हुए **बृहद्स्वयंभूस्तोत्र के श्लोक नंबर १०४ की टीका में श्री प्रभाचंद्राचार्य** लिखते हैं कि→

"..... प्रत्यक्षादिलक्षणा..." याने प्रत्यक्ष ज्ञान और परोक्ष ज्ञान है इसलिये 'प्रत्यक्ष और परोक्ष' ये ज्ञानपर्याय हैं। ज्ञेय/प्रमेय/विषय/निक्षेप के पर्याय नहीं।

ज्ञेय/प्रमेय/विषय/निक्षेप को " [**(जि) प्रमाण** विषय] = [**निश्चयनय + व्यवहारनय** (↓ विषय ↓ विषय)]

और (ब) नय विषय याने

(क) प्रमाणवाक्यविषय अर्थात् (ग) अभेदवृत्तिनयविषय और (घ) अभेदोपचारनयविषय और (ख) नयवाक्यविषय अर्थात् (च) भेदोपचारनयविषय और (छ) भेदवृत्तिनयविषय" इसतरह रखते हैं। [चार्ट नंबर १३, १९ और २१ देखिए।]

श्री अकलंकदेवाचार्यविरचित-तत्त्वार्थवार्तिक/राजवार्तिक-अध्याय-१, सूत्र-७, वार्तिक नंबर ५→

'तदुभयसंग्रहः प्रमाणम्।'

[**(जि) प्रमाण विषय**] = **[द्रव्यार्थिक नयविषय + पर्यायार्थिक नयविषय]**

और भी देखिए श्रुतभवनदीपकनयचक्र→

'... **प्रमाणलक्षणः यः असौ व्यवहारः सः व्यवहारनिश्चयमनुभयं च गृह्णन्...**' याने

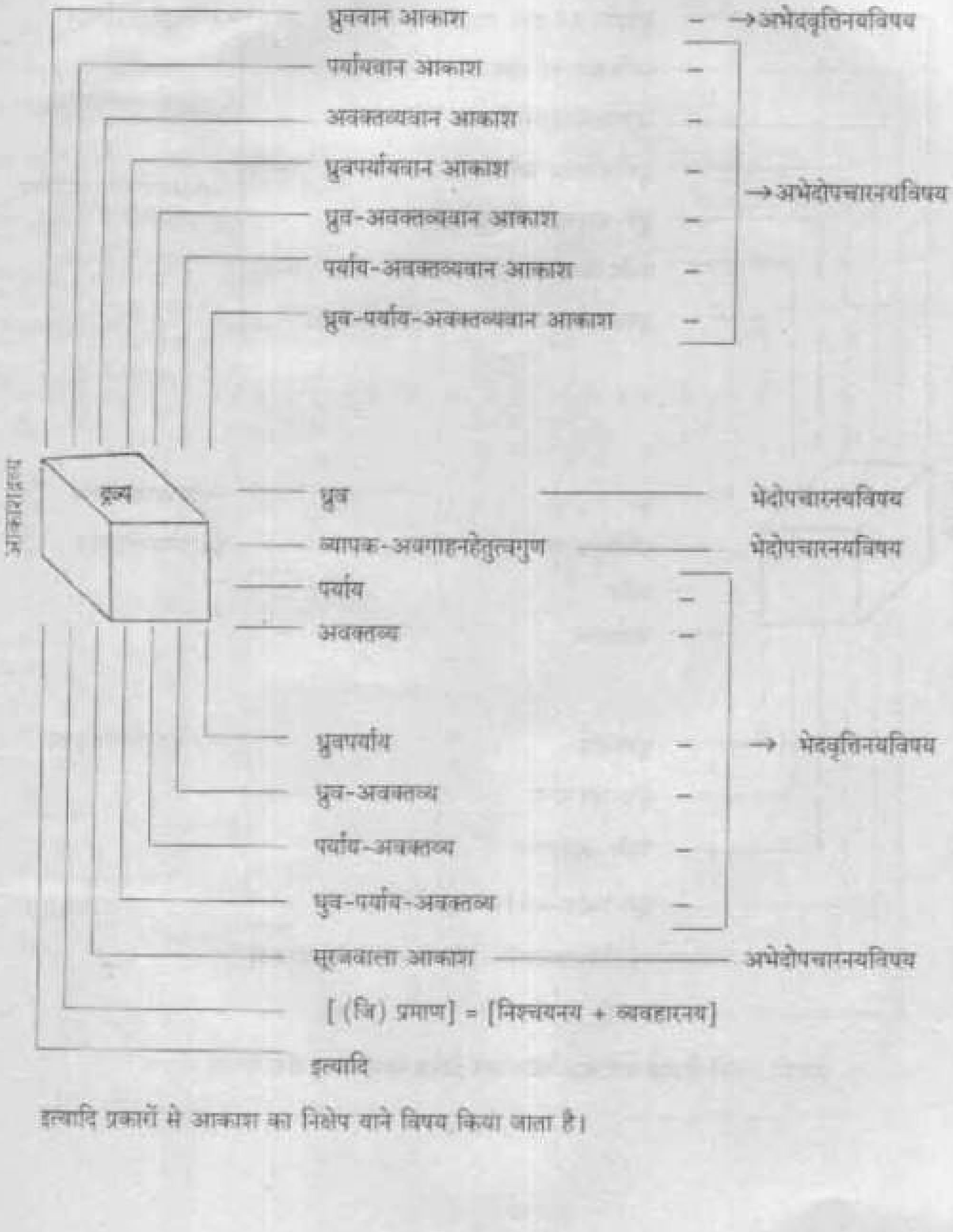
[(जि) प्रमाण] = [व्यवहारनयविषय + निश्चयनयविषय + अनुभय]

ये विषय/ज्ञेय/प्रमेय/निक्षेप हैं।

कृपया देखिए अध्यात्मन्यायदीपिका पृष्ठ नंबर ४९७ से ५०२ तक–वहाँ कुछ निक्षेप दिखाए हैं और भी देखिए चार्ट नंबर ५७ पृष्ठ नं. ५०६।

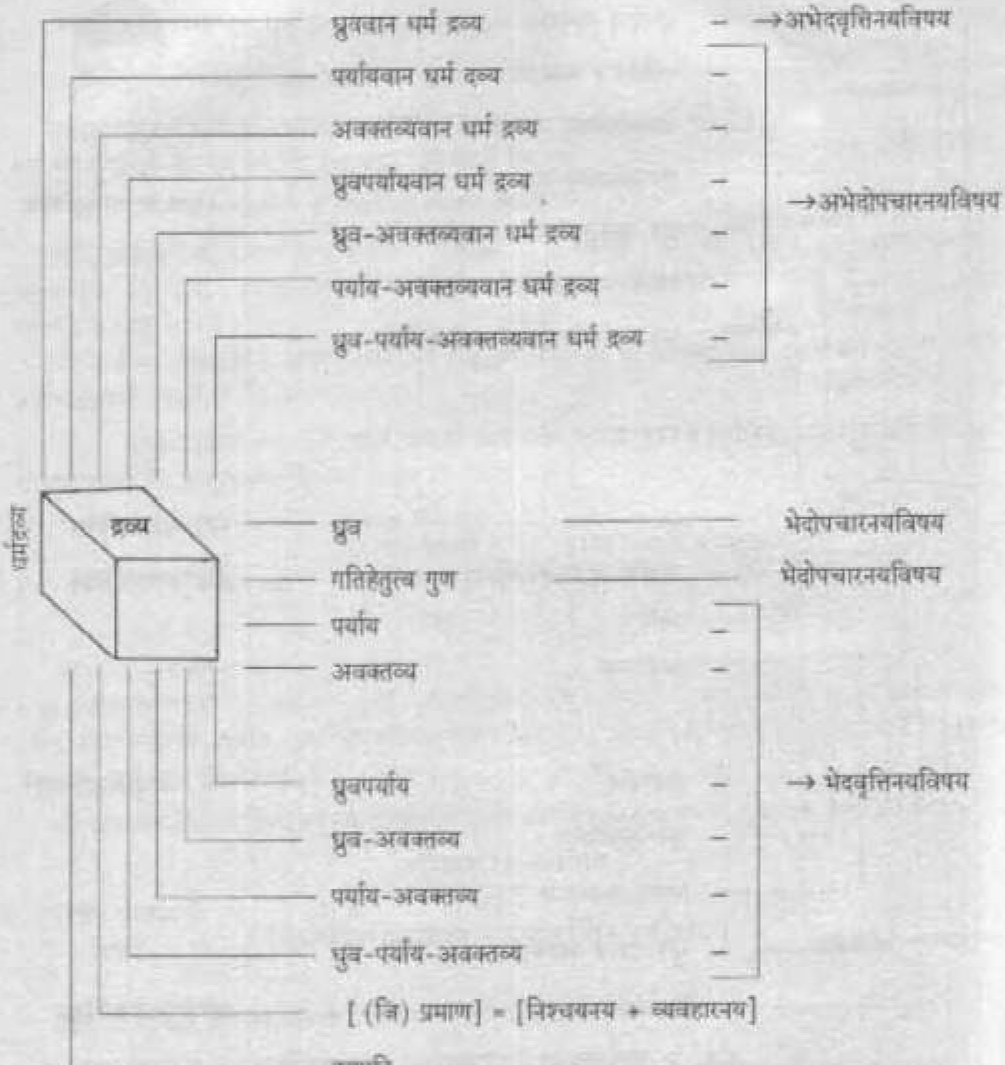
चार्ट नंबर ५०

निक्षेप



इत्यादि प्रकारों से आकाश का निक्षेप याने विषय किया जाता है।

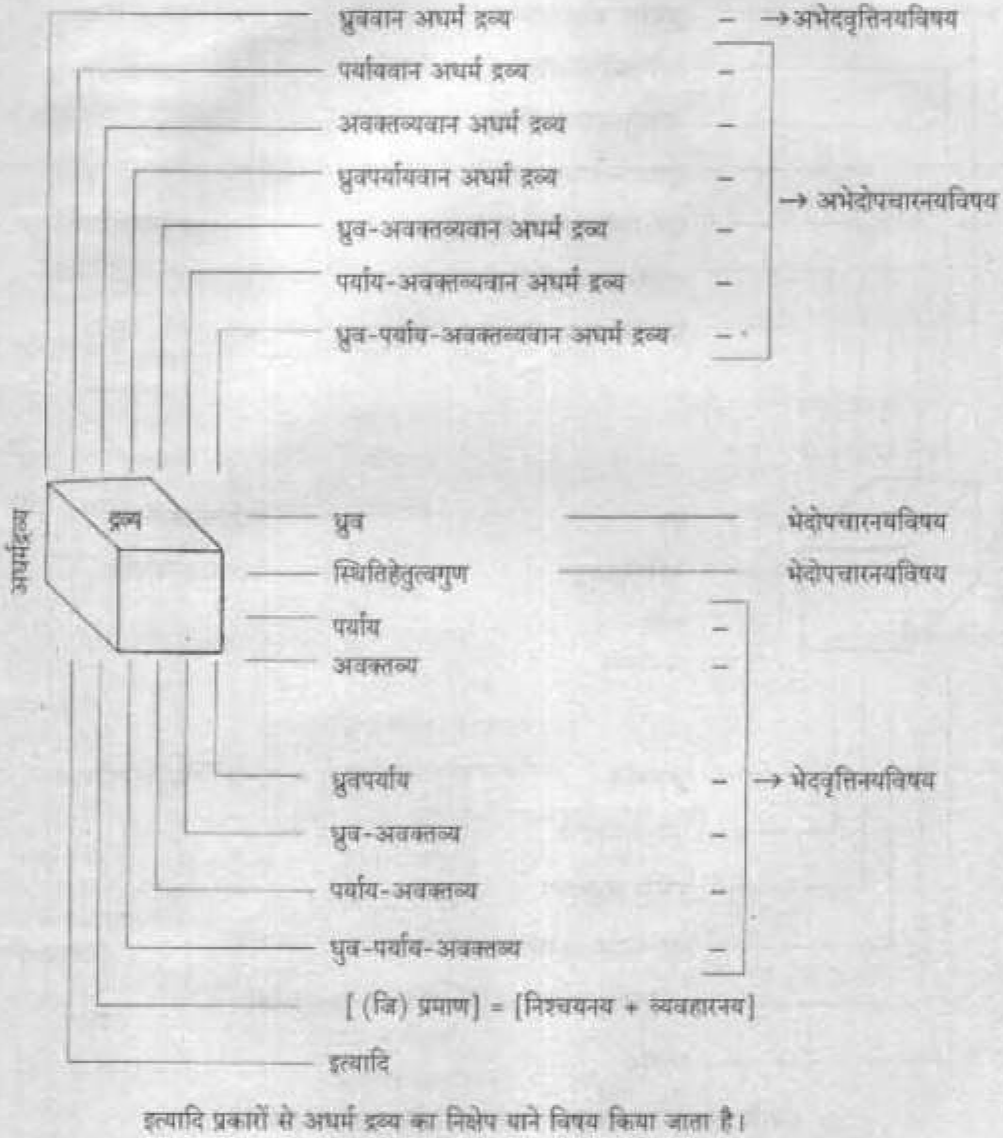
चार्ट नंबर ५१
निक्षेप



इत्यादि प्रकारों से धर्म द्रव्य का निक्षेप याने विषय किया जाता है।

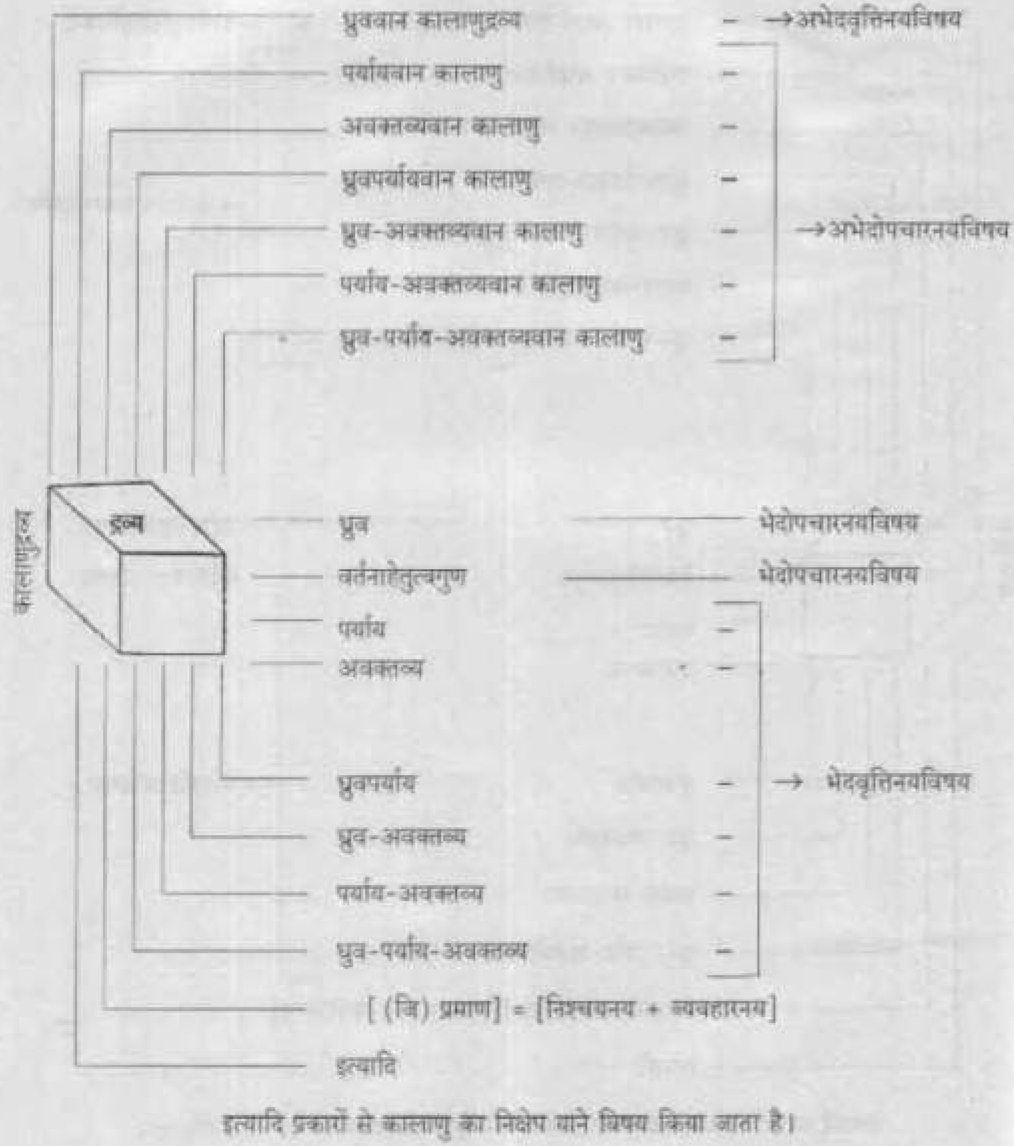
चार्ट नंबर ५२

निक्षेप



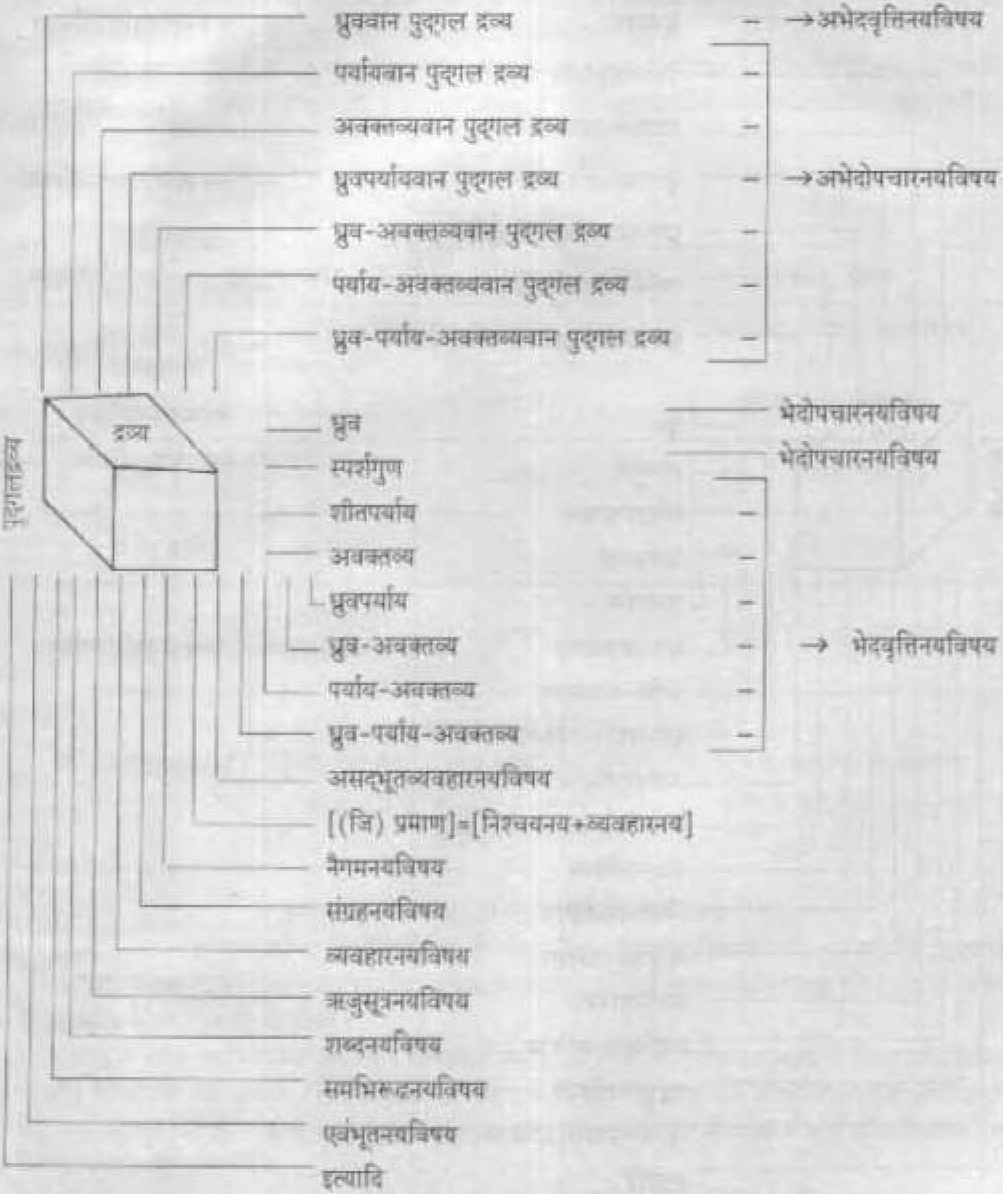
इत्यादि प्रकारों से अधर्म द्रव्य का निक्षेप याने विषय किया जाता है।

चार्ट नंबर ५३
निक्षेप



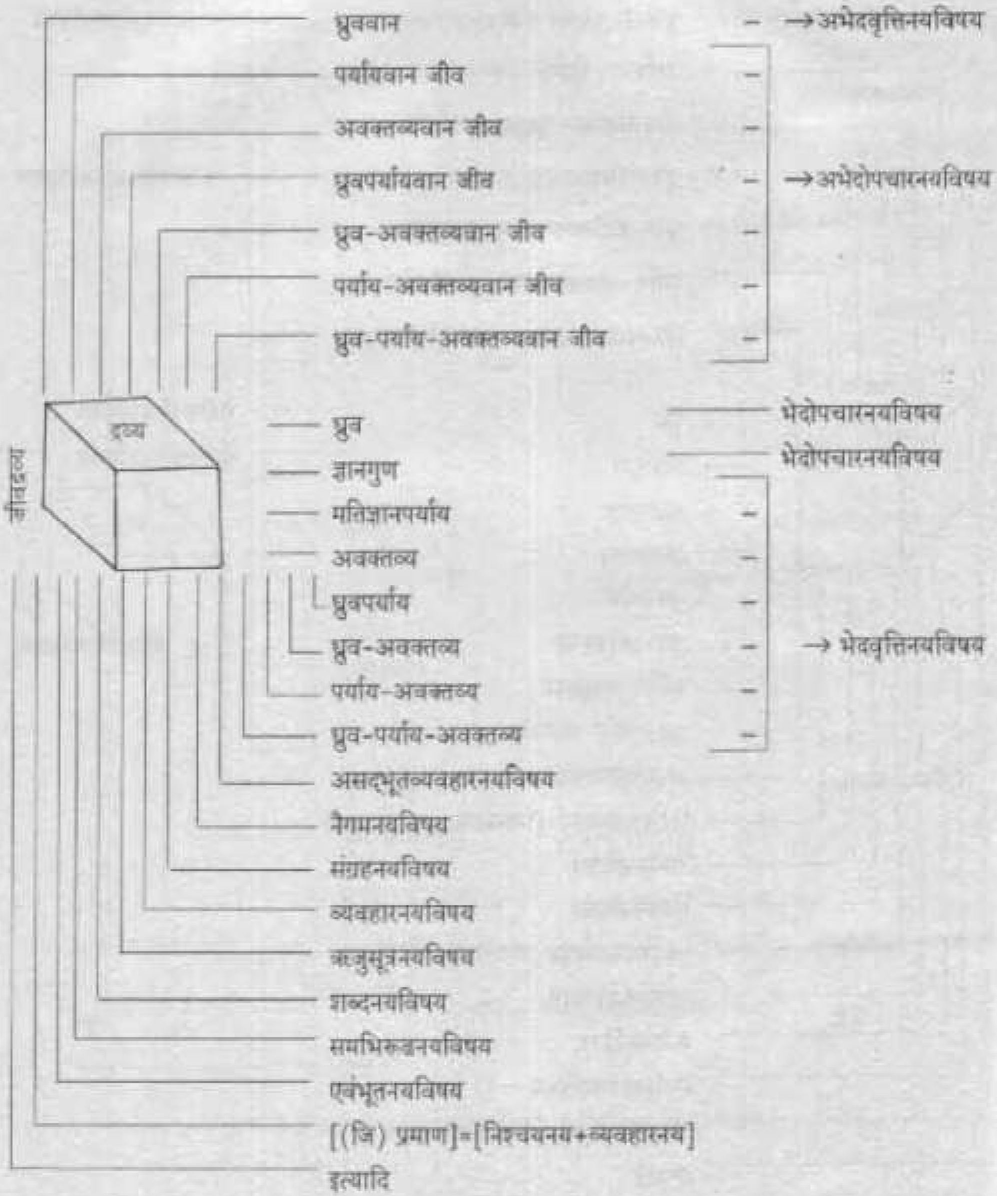
इत्यादि प्रकारों से कालाणु का निक्षेप याने विषय किया जाता है।

चार्ट नंबर ५४
निक्षेप



इत्यादि प्रकारों से पुद्गल द्रव्य का निक्षेप याने विषय किया जाता है।

चार्ट नंबर ५५
निक्षेप



इत्यादि प्रकारों से जीव द्रव्य का निक्षेप याने विषय किया जाता है।

यदि इस आर्हती मत को छोड़कर 'संग्रहनय से एक ही अद्वितीय ब्रह्म है और व्यवहारनय से भी एक ही अद्वितीय ब्रह्म है, भेदनय से भी यहाँ नाना नहीं है' ऐसा आग्रह हो तो यह अर्थाभास है और इसका प्रतिपादन करनेवाला वचन भी आगमाभास (असत्य आगम) है; क्योंकि प्रत्यक्ष से बाधितविषयपना है और 'सत्व भिन्न है, तत्त्व भिन्न है' इस आगमवचन से बाधितविषयपना है।

'सर्वथा भेद ही है, कथंचित् भी अभेद नहीं' इस मान्यता में भी अर्थाभास है और आगमाभास है; क्योंकि सत्पना से भी भेद मानेंगे तो असत् का प्रसंग/दोष आता है और उस पदार्थ में अर्थक्रियाकारित्व शक्य नहीं।

चार्ट नंबर ५६

संदृष्टि/कोष्टक

क्रमांक	आगमभाषा		अध्यात्मभाषा	फल
क	स्यात् अभेद है।	स्यात् भेद है।	निश्चयनय का विषय-'निजध्रुवशुद्धात्मा' आश्रय करने योग्य है।	योग्य है; क्योंकि आगमभाषा योग्य है और अध्यात्मभाषा योग्य है।
ग	अभेद है।	भेद नहीं।	अभेद	भूल है (मिथ्या एकांत)
घ	अभेद नहीं।	भेद है।	भेद	भूल है (मिथ्या एकांत)
ट	भेदनिरपेक्ष अभेद है।	अभेदनिरपेक्ष भेद है।	अभेद	भूल है (मिथ्या अनेकांत)
ख	स्यात् अभेद है।	स्यात् भेद है।	निश्चयनय का विषय आश्रय करने योग्य नहीं। व्यवहारनय का विषय आश्रय करने योग्य है।	भूल है, क्योंकि अध्यात्म-भाषा में भूल है।

संस्कृत पृष्ठ नंबर ११८, संस्कृत परिच्छेद नंबर ८८ →

शंका – एक-एक अभिप्राय के विषयपना से भिन्न-भिन्न सिद्ध होनेवाले और परस्पर में साहचर्य की अपेक्षा न रखनेवाले मिथ्याभूत एकत्व-अनेकत्व आदि धर्मों का साहचर्यरूप समूह भी (जो अनेकांत है वह भी) मिथ्या ही है; तो कैसे ?

समाधान – वह हम स्वीकार करते हैं। जिसतरह परस्पर के उपकार्य-उपकारकभाव के बिना स्वतंत्रपना से और निरपेक्षता की अपेक्षा (विवक्षा) से वस्त्रस्वभाव विमुख तंतुसमूह की शीतनिवारणादि अर्थक्रिया की तरह परस्पर निरपेक्ष एकत्व-अनेकत्व आदि धर्मसमूह की अर्थक्रिया में सामर्थ्य नहीं होने से कथंचित् मिथ्यात्व का भी संभव है।

आप्तमीमांसा-श्लोक नं. १०८ में स्वामी समन्तभद्राचार्यजी कहते हैं कि- 'मिथ्यास्वरूप एकांतों का समूह यदि मिथ्या है तो वह मिथ्या एकान्तता (परस्पर निरपेक्षता) हमारे अर्हतमत में नहीं, क्योंकि जो नय निरपेक्ष हैं वे सम्यक् नहीं और जो नय सापेक्ष हैं वे वस्तु (सम्यक्नय) हैं और वे अर्थक्रियाकारी हैं।

विशेषार्थ-शंका–एक-एक अभिप्राय के विषयपना से भिन्न-भिन्न सिद्ध होनेवाले और परस्पर में साहचर्य की अपेक्षा न रखनेवाले (निरपेक्षवाले) मिथ्यास्वरूप (असत्य) एकत्व-अनेकत्व आदि धर्मों का साहचर्यरूप समूह भी मिथ्या ही हैं, तो फिर कैसे?

समाधान–'निरपेक्ष मिथ्या धर्मों/अंशों का समूह मिथ्या ही है' यह मान्य है। अर्थात्

क्रमांक	आगमभाषा		अध्यात्मभाषा	फल
ट	पर्यायनिरपेक्ष द्रव्य	द्रव्यनिरपेक्ष पर्याय	परमानंद और शांति के लिये 'निजध्रुवात्मा' विषय लेना चाहिये।	असमीचीन है; क्योंकि आगमभाषा में भूल है। आगमभाषा में मिथ्या अनेकांत है।
क	स्यात् द्रव्य	स्यात् पर्याय	परमानंद और शांति के लिये 'निजध्रुवात्मा' विषय लेना चाहिये।	समीचीन है; क्योंकि आगमभाषा भी ठीक है और अध्यात्मभाषा भी ठीक है।

जैसे–यथा उपाय विनिवेश्यमान (परस्पर सापेक्ष) तंतु आदि पट/वस्त्र इस नाम को प्राप्त होते हैं और उस वस्त्र के द्वारा शीत निवारण करने में समर्थ होते हैं। स्वतंत्र/निरपेक्ष तंतुओं का समूह पट/वस्त्र बनने में समर्थ नहीं और शीतादि निवारण करने में समर्थ नहीं होते हैं।

आगमभाषा को अध्यात्मभाषा की अपेक्षा है और अध्यात्मभाषा को आगमभाषा की अपेक्षा है।

अध्यात्मभाषा निरपेक्ष (अकेली) आगमभाषा लाभकारक/कार्यकारी नहीं है।

आगमभाषा निरपेक्ष ...ली अध्यात्मभाषा लाभकारक/कार्यकारी नहीं है। इसके लिये अध्यात्मन्यायदीपिका-पृष्ठ नंबर २२३, चार्ट नं. ८ देखिए।

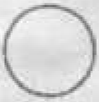
आगमभाषा में भी पर्यायनिरपेक्ष द्रव्य मानना, भूल है। आगमभाषा में द्रव्यनिरपेक्ष पर्याय मानना भूल है। आगमभाषा में क्षणिकनिरपेक्ष शाश्वत/ध्रुव मानना भूल है। आगमभाषा में ध्रुवनिरपेक्ष क्षणिक मानना भूल है। आगमभाषा में नानात्वनिरपेक्ष एकत्व मानना भूल है। आगमभाषा में एकत्वनिरपेक्ष नाना मानना भूल है। आगमभाषा में तत्निरपेक्ष अतत् मानना भूल है। आगमभाषा में अतत्निरपेक्ष तत् मानना भूल हैं। आगमभाषा में दैवनिरपेक्ष पुरुषार्थ मानना भूल है। आगमभाषा में पुरुषार्थनिरपेक्ष दैव मानना भूल है। आगमभाषा में क्रमनियमितनिरपेक्ष अक्रम/सहभू मानना भूल है। आगमभाषा में अक्रम/सहभूनिरपेक्ष क्रमनियमित मानना भूल है।

'आदिनाथ का जीव जब भोगभूमि में पैदा हो गया तब दैव के कारण और आदिनाथ का जीव जब कर्मभूमि में पैदा हो गया तब पुरुषार्थ के कारण पैदा हुआ' ऐसी मान्यता में पुरुषार्थनिरपेक्ष दैव मानता है और दैवनिरपेक्ष पुरुषार्थ मानता है; इसलिये भूल है। आदिनाथ का जीव जब भोगभूमि में पैदा हो गया उसी समय उस जीव का दैव (स्वचतुष्टय से) १००% था और उसी समय उस जीव का पुरुषार्थ भी (स्वचतुष्टय से) १००% था। जीवद्रव्य का 'दैव' यह एक अंश था और उसी जीवद्रव्य का 'पुरुषार्थ' यह एक अंश था। इसको विस्तार से समझने के लिये अष्टसहस्री आदि न्यायग्रंथ पढ़ना आवश्यक है।

आप्तमीमांसा/देवागम स्तोत्र-श्लोक नंबर १०८ में भी समंतभद्राचार्यजी जो कहते हैं, उसको जानो।

मिथ्यास्वरूप एकांतों का समूह यदि मिथ्या है तो वह मिथ्या एकांतता (परस्पर निरपेक्षता) 'सम्यक्-अनेकांत नहीं और सम्यक्-एकांत भी नहीं है।' क्योंकि जो नय निरपेक्ष हैं वे सम्यक् नहीं और जो नय सापेक्ष हैं वे सम्यक्नय हैं और वे अर्थक्रियाकारी हैं।

संस्कृत पृष्ठ नंबर ११९, संस्कृत परिच्छेद नंबर ८९→

इसलिए इन  **(आ) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञानपर्याय साधन से और**

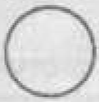
 **(ब) नय-विकलादेशी ज्ञानपर्याय साधन से वस्तुसिद्धि होती है;**

इसतरह सिद्धांत सिद्ध हो गया। आगमप्रमाण समाप्त हो गया।

श्री अभिनवधर्मभूषणयति का अंतिम निवेदन–

'ये वर्द्धमानेश हैं। मेरे गुरु वर्द्धमानदयानिधि के श्री पादस्नेह संबंध से यह न्यायदीपिका सिद्ध हो गई।'

इसतरह श्री वर्द्धमान-भट्टारक-आचार्यगुरुकारुण्यसिद्धसारस्वतोदय-श्रीमत् अभिनवधर्मभूषण आचार्य विरचित परोक्षप्रकाश नामक तृतीय अध्याय समाप्त हुआ।

विशेषार्थ– इसतरह  (आ) प्रमाण-सकलादेशी ज्ञानपर्याय साधन और

 (ब) नय-विकलादेशी ज्ञानपर्याय याने

 (क) नय-प्रमाणवाक्य-श्रुतनयज्ञानपर्याय साधन और

 (ख) नय-नयवाक्य-श्रुतनयज्ञानपर्याय साधन'

ये जानने के साधन हैं।

इसतरह पीठिका में ग्रंथकार के द्वारा '**प्रमाणनयैः अधिगमः**' का उल्लेख किया था, उसके बारे में संक्षेप में वर्णन हो गया।

चार्ट नं. ५७

विषय/निक्षेप

(१) ध्रुव→	अशेषधर्मात्मकवस्तु अथवा द्रव्यगुणपर्यायात्मकवस्तु अथवा ध्रुवपर्यायात्मकवस्तु अथवा गुणपर्यायात्मकवस्तु है।	= ध्रुववान – अभेदवृत्ति– (ग) निश्चयनय का विषय
(२) पर्याय→	अशेषधर्मात्मकवस्तु अथवा द्रव्यगुणपर्यायात्मकवस्तु अथवा ध्रुवपर्यायात्मकवस्तु अथवा गुणपर्यायात्मकवस्तु है।	= पर्यायवान – अभेदोपचार – (ज) अशुद्धनिश्चयनय का विषय
(३) ध्रुवपर्याय→	अशेषधर्मात्मकवस्तु अथवा द्रव्यगुणपर्यायात्मकवस्तु अथवा ध्रुवपर्यायात्मकवस्तु अथवा गुणपर्यायात्मकवस्तु है।	= ध्रुवपर्यायवान – अभेदोपचार – (ज-य) अशुद्धनिश्चयनय का विषय
(४) ध्रुव→	ध्रुव है, पर्याय नहीं।	= ध्रुव – (च) भेदोपचार – सद्भूतव्यवहारनय का विषय
(५) गुण→	गुण है, पर्याय नहीं।	= गुण – (च) भेदोपचार – सद्भूतव्यवहासनय का विषय
(६) पर्याय→	पर्याय है, गुण नहीं।	= पर्याय – (छ) भेदवृत्ति का विषय
(७) ध्रुवपर्याय→	ध्रुवपर्याय है, धर्मी/द्रव्य नहीं।	= ध्रुवपर्याय – (छ) भेदवृत्ति का विषय

इत्यादि प्रकारों से निक्षेप करते हैं।

अध्यात्मन्यायदीपिका समाप्त ।

जो भी भूल हो गयी हो,
उसके लिये क्षमा कीजिए ।
विशेष विज्ञ जन समझकर-सुधारकर पढ़े ।

''अध्यात्मन्यायदीपिका'' के पुनः प्रकाशन के लिए सहयोग

श्री. रविंद्रकुमार हरकचंद फडे, पंढरपूर
स्व. सरोज पोपटलाल गांधी, पंढरपूर
सौ. कमल विलास गांधी, पंढरपूर
श्री. निलेश सुभाष गांधी, पंढरपूर
श्री. सुरेश छगनलाल चंकेश्वरा, पंढरपूर
श्री. प्रताप हिराचंद गांधी, पंढरपूर
श्री. ताराचंद भाईचंद फडे, पंढरपूर
श्री. रायचंद भाईचंद फडे, पंढरपूर
श्री. स्वप्निल सुनील गांधी, पंढरपूर
श्री. राजकुमार फुलचंद चंकेश्वरा, पंढरपूर
श्री. अजित सुभाष गांधी, पंढरपूर
श्री. जंबुकुमार जिवराज दोशी, अकलूज
श्री. राजकुमार तलकचंद दोशी, अकलूज
श्रीमती सुशिलाबाई पवनलाल दोशी, अकलूज
श्री. शांतिलाल तलकचंद दोशी, अकलूज
श्रीमती मनोरमा श्रीपाल दोशी, अकलूज
श्री. माणिकलाल तलकचंद दोशी, अकलूज
श्री. धन्यकुमार नेमचंद फडे, अकलूज
श्री. डॉ. वैभव हिराचंद गांधी, अकलूज
श्री. विलास श्रीपाल दोशी, अकलूज
डॉ. अमिता जंबुकुमार दोशी, अकलूज
श्रीमती चंदनबाई मलुकचंद दोशी, अकलूज
सौ. जयश्री कांतीलाल चंकेश्वरा, अकलूज
श्री. विजयकुमार हिराचंद दोशी, अकलूज
श्री. दिलीप छगनलाल चंकेश्वरा, (माळीनगर)
सौ. कुसुम गांधी, श्रीपूर
श्री. नितीन अशोक गांधी, श्रीपूर
श्री. पंकज प्रकाश व्होरा, नातेपुते
सौ. नयनतारा प्रकाश व्होरा, नातेपुते
श्री. भारतलाल तलकचंद गांधी, नातेपुते
श्री. विलास नेमचंद दोशी, नातेपुते
श्री. जितेंद्र धन्यकुमार दोशी, नातेपुते
सौ. सुप्रभा बाहुबली चंकेश्वरा, नातेपुते
श्री. चंद्रशेखर नेमचंद चंकेश्वरा, नातेपुते
स्व. हेमचंद हिराचंद कुडु-ह. रत्नशेखर, नातेपुते
श्री. श्रेणिक भाईचंद दोशी, करमाळा
स्व. माणिकलाल हिरालाल दोशी, फलटण
सौ. सुरेखा विजयकुमार दोशी, फलटण
डॉ. अशोक रायचंद व्होरा, फलटण
श्री. दिलीपकुमार हिरचंद दोशी, फलटण
श्री. चंद्रशेखर पवनलाल दोशी, फलटण
सौ. चंचलाबाई मगनलाल चंकेश्वरा, फलटण
सौ. कमल तलकचंद दोशी, फलटण
श्री. राजकुमार मोहनलाल व्होरा, फलटण
श्री. जाधव, फलटण
श्री. मनोज विजयकुमार दोशी, फलटण
सौ. रंजना अजितकुमार दोशी, फलटण
श्रीमती वीणा अरविंद शहा, फलटण
सौ. प्रगति रमेश शहा, फलटण
श्री. राजकुमार चंदुलाल दोशी, फलटण
श्री. सतीश रतनलाल दोशी, फलटण
सौ. गुणसुंदरी हुकुमचंद दोभाडा, फलटण
श्री. सुशील हिरालाल दोशी, पुणे
श्री. संजय पटवा, पुणे
सौ. अरुणा हिरालाल दोशी, पुणे
श्री. रतनलाल आर शहा, तुळे पार्क, पुणे
श्री. शशांक सुभाषचंद्र शहा, पुणे
सौ. पुष्पाबेन जैन, खोंडवा, पुणे
सौ. शालनताई शांतिलाल शहा वालहेकर, पुणे
श्री. एम. जी. शहा, मुंबई
श्री. सुदर्शन रामचंद गांधी, मुंबई
श्री. दीपक शहा, मुंबई
सौ. प्रभा पूनमचंद लोहाडे, पुणे
श्री. मल्लिनाथ अण्णा काळे, पुणे
श्री. हिरालाल ताराचंद व्होरा, पुणे
पं. विजयलक्ष्मी पढील, पुणे
श्री. महेन्द्रकुमार शहा, मुंबई
श्री. मोतीलाल लालचंद दोशी, लासुर्णे
श्री. महावीर माणिकचंद गांधी, लासुर्णे
श्री. विजयकुमार जीवराज गांधी, लासुर्णे
स्व. श्री. शांतीलाल गौतमचंद गांधी, लासुर्णे
डॉ. सुभाष छगनलाल दोशी, लासुर्णे
सौ. विजया पवनलाल गांधी, लासुर्णे
श्री. शैलेश सुभाष दोशी, लासुर्णे
सौ. सुरेखा अजितकुमार शहा, सोलापूर
श्री. विशाल सुभाष गांधी, लासुर्णे
श्री. बकुळाबाई खिमचंद मेहता, सोलापूर
सौ. गुणमाला विजयकुमार शहा, सोलापूर
सौ. अश्विनी अरविंद शहा, सोलापूर
सौ. अनंतमती मोतिचंद शहा, सोलापूर
श्री. किरण जिवराज शहा, सोलापूर
सौ. मंजुषा अनिल दोशी, भिगवण
सौ. उज्वला उदयकुमार सोनाज, भिगवण
श्री. अनिलकुमार मोतिलाल दोशी, भिगवण
श्री. संतोष पाटनी, वाशिम
श्री. दि. जैन मुमुक्षु मंडल, भोपाल
श्री. सुमतप्रकाश जैन, भोपाल
सौ. रत्नमाला विवेकराव लोखंडे, नांदेड
श्री. अजय अमृतलाल चंकेश्वरा, बारामती
सौ. विमला रिखबलाल शहा, वडगाव निंबाळकर
श्री. अरविंद मोतीलाल दोशी, जवळा
श्री. शुद्धोह स्वप्निल मेहता, (ह.स्मिता मेहता) गुलबर्गा
श्री. पवनलाल केवलचंद गांधी, जवळा
श्री. सुनिलकुमार मोहनलाल दोशी
सौ. पुष्पा मोतिलाल दोशी
श्री. विजय राऊत, रिठद
सौ. सुनंदा चिवटे, बेळगाव
श्री. कस्तुरबाई छगनलाल चंकेश्वरा
श्री. कांतिलाल रामचंद चंकेश्वरा

अध्यात्मन्यायदीपिका

